



दृष्टिम्

[illegible]

23

क्षेमराज-श्रीकृष्णदामश्रेष्ठिना  
मम्बरया

स्वकीये "श्रीविद्येश्वर" श्रीम मुद्रपाय-बालये

CONFIDENTIAL

$$= \frac{1}{2} \left( \frac{1}{2} + \frac{1}{2} \right) = \frac{1}{2}$$

16. What is the purpose of the study?

6. 1. 4. 1. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840. 84





श्रीहरीप्रसाद १०/१०

# माधवनिदानम् ।

भियग्वरश्रीमाधवकविचितम् ।

द्विद्वर-श्रीविजयशक्ति-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां  
प्रणीतया मधुकोशाख्यव्याख्यया, वैद्य-  
श्रीवाचस्पतिकृतया आतङ्कदर्पणा-  
ख्यव्याख्यया च समुपेतम् ।

वदिदम्

शेखावादीप्रान्तान्तर्गत-“त्रिसाळ” नगरनिवासिनां पण्डित-  
श्रीशिवलालजीशर्मशास्त्रिणां तनूजेन, भियगाचार्य-  
वैद्य-श्रीव्रजवल्लभशर्मणा, आयुर्वेदविशारदेन  
संशोध्य, संस्कृत्य, लिप्यण्यादिना परिवर्ष्य  
च नवीनयोजनया सम्पादितम् ।

वयं


क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना  
मुम्बय्यां

स्वकीये “श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम मुद्रणयन्त्रालये  
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

मूल्य १५८८, शकः १८८५.

अस्य सर्वेऽधिकारा राजनियमानुसारेण प्रकाशकेन  
स्वायत्तीकृताः सन्ति ।






---

इस पुस्तकको खैमराज श्रीकृष्णदासने बम्बई खेतवाडी ७ र्थी गली खन्नाट, रोना  
निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें अपने लिये छापकर यहीं प्रकाशित किया ।

---



श्रीगोपालकृष्णाय नमो नमः ।

## ❀ प्रस्तावना. ❀




सुविदितमेवैतन्निखिलमहामहिममेदिनोमण्डलमण्डनायमानभव्यमिषवसान्तर्थाणिब्रजानाम्, यत्  
किल धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरस्कारचतुष्टयस्य मुख्यं साधनं शरीरारोग्यमेव, रूग्णस्य च जपतपोनि-  
यमादिसाधनाऽसामर्थ्यादकिञ्चित्करत्वंमेवेति । आरोग्यसाधनं चायुर्वेदः । स चायुर्वेदान्तर्गतः—

“विधाताऽश्वर्यसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन् । स्वनाद्या गंहितां चक्रे लक्षश्लोकमथीमृजुम् ॥”  
इत्युक्तेः । मतान्तरे तु सृज्यष्टौ वेदचतुष्टयीपथ्यालोचनसंगुलज्योत्स्नानुमवेनायुर्वेदं प्रादुर्मान्य  
भास्कराय प्रयच्छत्, स च गृहीत्वा स्वतन्त्रगंहितां निर्माय षोडश स्वशिष्यानध्यजीगपत् ।  
तन्निष्ठैरपि पृथक्पृथक्स्वस्वगंहिताः णिष्ठिर । तथाहि—

“ऋग्यजुःसामार्थाख्यान्दष्टा वेदान्प्रजापतिः । भिचिन्त्य तेषामर्थेष्वेवायुर्वेदं चकार सः ॥  
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः । स्वतन्त्रगंहितां तस्माद्भास्करश्च चकार सः ॥  
भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेदं स्वगंहिताम् । प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः ॥”  
इति । ते च धन्वन्तरि—दिवोदास—काशीराज—आश्विनेय नकुल—सहदेव—यम—व्यवन—जनक-  
बुध—जाबाल—जात्रलि—पैल—करथा—ऽगस्त्य—नामानः । एभिश्चैवं तन्त्राणि विनिर्मितानि—  
“धन्वन्तरिश्च भगवांश्चकार प्रथमं सनि । चिकित्सादाणं नाम दिवोदासश्चकार सः ॥  
चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशीराजश्चकार सः । चिकित्सासारतन्त्रं च भ्रमरं चाश्विनीसुतौ ॥  
तन्त्रं वैद्यकसर्वस्वं नकुलश्च चकारसः । चकार सहदेवश्च व्याधिसिन्धुविमर्दनम् ॥  
ज्ञानार्णवं महातन्त्रं यमराजश्चकार सः । व्यवनो जीवदानश्च चकार भगवानृषिः ॥  
चकार जनको योगी वैद्यमन्दहमञ्जनम् । सर्वसारं चन्द्रमुतो जाबालस्तन्त्रसारकम् ॥  
वेदाङ्गसारतन्त्रं च चकार जात्रलिर्गुनिः । पैलो निदानं करथस्तन्त्रं सर्वधरं परम् ॥  
द्वैधनिर्णयतन्त्रं च चकार कुम्भसम्भवः । चिकित्साशास्त्रवीजानि तन्त्राण्येतानि षोडश ॥”


इति । आयुर्वेदलक्षणं तु “आयुर्वेदाद्विदं व्याधिनिदानं शमनं तथा । विद्यन्ते यत्र विद्वद्भिः स  
आयुर्वेद उच्यते ॥” इति । अनेनैव वैद्या आयुर्वेदन्तीत्यायुर्वेदनिर्धेयम् “अनेन पुरुषो यस्मा-  
दायुर्विन्दति वेति च । तस्मान्मुनिवरेरेव आयुर्वेद इति स्मृतः ॥” इत्याद्युक्तेः । अत्र च सूत्रम् १,  
शारीरम् २, ऐन्द्रियम् ३, चिकित्सा ४, निदानम् ५, विमानम् ६, कल्पम् ७, प्रसिद्धिः ८,  
इत्यष्टौ स्थानानि । तत्र निदानमन्तरा चिकित्साऽसम्भवान्निदानस्यैव मुख्यत्वम् । यद्यपि चर-  
कादिसंहितासु तत्र तत्र निदानोपादानमस्ति तथापि सर्वेषां रोगाणामेकत्र सरलतया कापि नास्तीत्य-  
दभ्रदर्भाप्रपञ्चप्राज्ञेनेन्दुकरात्मजेनागदङ्कारमाधवकरशर्मणा चरक-सुश्रुत-निमि-वाग्भटप्रभृतिप्रथिता-  
चार्याणां वचनानि संगृह्य रोगविनिश्चयाख्यो माधवनिदानं नामाद्यं ग्रन्थो निरमायि । वैद्य-  
यादिनिखिलगुणसम्पन्नतयाऽयमखिलवैद्यानां सादरमुपादेयतामुपगतोऽस्तीति सुप्रसिद्धमेव । अत्र च  
प्रायो निखिलरोगाणां निदानपूर्ववरूपरूपोऽशयसम्प्राप्त्युपद्रवसाध्यासाध्यप्रभृतिविषयाः स्फुटतयो-



---

इस पुस्तकको खैमराज श्रीकृष्णदासने बम्बई खेतवाडी ७ री गली खन्नाट रोड  
निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेसमें अपने लिये छापकर यहीं प्रकाशित किया ।

---



श्रीगोपालकृष्णाय नमो नमः ।

## ❀ प्रस्तावना. ❀



सुविदितमेवैतन्निखिलमहामहिममेदिनोमण्डलमण्डनायमानभव्यमिषयवसान्तर्थाणिब्रजानाम्, यत्  
किल धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरस्कारचतुष्टयस्य मुख्यं साधनं शरीरारोग्यमेव, स्रग्णस्य च जपतपोनि-  
यमादिसाधनाऽसामर्थ्यादकिञ्चित्करत्वंमेवेति । आरोग्यसाधनं चायुर्वेदः । स चायुर्वेदान्तर्गतः—

“विधाताऽश्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन् । स्वनाद्या संहितां चक्रे लक्षश्लोकमथीमृजुम् ॥”  
इत्युक्तेः । मतान्तरे तु सृज्यष्टौ वेदचतुष्टयीपथ्यालोचनसंगुलज्योत्स्नानुमवेनायुर्वेदं प्रादुर्मान्य  
भास्कराय प्रयच्छत्, स च गृहीत्वा स्वतन्त्रसंहितां निर्माय षोडश स्वशिष्यान्ध्वजीगपत् ।  
तन्निष्पैरपि पृथक्पृथक्स्वस्वसंहिताः ऽणिन्यैः । तथाहि—

“ऋग्यजुःसामार्थाख्यान्दष्टा वेदान्प्रजापतिः । भिचिन्त्य तेषामर्थेष्वेवायुर्वेदं चकार सः ॥  
कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः । स्वतन्त्रसंहितां तस्माद्भास्करश्च चकार सः ॥  
भास्करश्च स्वशिष्येभ्य आयुर्वेदं स्वसंहिताम् । प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः ॥”  
इति । ते च धन्वन्तरि—दिवोदास—काशीराज—आश्विनेय—नकुल—सहदेव—यम—व्यवन—जनक-  
बुध—जाबाल—जात्रलि—पैल—करथा—ऽगस्त्य—नामानः । एभिश्चैवं तन्त्राणि विनिर्मितानि—  
“धन्वन्तरिश्च भगवांश्चकार प्रथमं सनि । चिकित्सादाणं नाम दिवोदासश्चकार सः ॥  
चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशीराजश्चकार सः । चिकित्सासारतन्त्रं च भ्रमरं चाश्विनीसुतौ ॥  
तन्त्रं वैद्यकसर्वस्वं नकुलश्च चकारसः । चकार सहदेवश्च व्याधिसिन्धुविमर्दनम् ॥  
ज्ञानार्णवं महातन्त्रं यमराजश्चकार सः । व्यवनो जीवदानश्च चकार भगवानृषिः ॥  
चकार जनको योगी वैद्यमन्दहमञ्जनम् । सर्वसारं चन्द्रमुतो जाबालस्तन्त्रसारकम् ॥  
वेदाङ्गसारतन्त्रं च चकार जात्रलिर्गुनिः । पैलो निदानं करथस्तन्त्रं सर्वधरं परम् ॥  
द्वैधनिर्णयतन्त्रं च चकार कुम्भसम्भवः । चिकित्साशास्त्रवीजानि तन्त्राण्येतानि षोडश ॥”

इति । आयुर्वेदलक्षणं तु “आयुर्वेदाद्विदं व्याधिनिदानं शमनं तथा । विद्यन्ते यत्र विद्वद्भिः स  
आयुर्वेद उच्यते ॥” इति । अनेनैव वैद्या आयुर्वेदन्तीत्यायुर्वेदनिर्धेचनम् “अनेन पुरुषो यस्मा-  
दायुर्विन्दति वेति च । तस्मान्मुनिवरेरेव आयुर्वेद इति स्मृतः ॥” इत्याद्युक्तेः । अत्र च सूत्रम् १,  
शारीरम् २, ऐन्द्रियम् ३, चिकित्सा ४, निदानम् ५, विमानम् ६, कल्पम् ७, प्रसिद्धिः ८,  
इत्यष्टौ स्थानानि । तत्र निदानमन्तरा चिकित्साऽसम्भवान्निदानस्यैव मुख्यत्वम् । यद्यपि चर-  
कादिसंहितासु तत्र तत्र निदानोपादानमस्ति तथापि सर्वेषां रोगाणामेकत्र सरलतया कापि नास्तीत्य-  
दभ्रदर्भाप्रपञ्चप्राज्ञेनेन्दुकरात्मजेनागदङ्कारमाधवकरशर्मणा चरक-सुश्रुत-निमि-वाग्भटप्रभृतिप्रथिता-  
चार्याणां वचनानि संगृह्य रोगविनिश्चयाख्यो माधवनिदानं नामाद्यं ग्रन्थो निरमायि । वैद्य-  
यादिनिखिलगुणसम्पन्नतयाऽयमखिलवैद्यानां सादरमुपादेयतामुपगतोऽस्तीति सुप्रसिद्धमेव । अत्र च  
प्रायो निखिलरोगाणां निदानपूर्वकरूपोऽपश्यसम्प्राप्युपद्रवसाध्यासाध्यप्रभृतिविषयाः स्फुटतयो-

पदार्थिता अत एवोच्यतेऽनुमविमिषग्वरैः—“निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु बाग्भटः । शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तश्चरकस्तु चिकित्सिते ॥” इति । निदानादिलक्षणं चोक्तमत्रैव, तथाहि—

“निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः । निदानमाहुः पर्यायैः प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥

उत्पित्तपुरामयो दोषविशेषणानधिष्ठितः । लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्वाधीनां तद्यथायथम् ॥

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते । संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् । औषधानविहाराणामुपयोगं सुखायहम् ॥

विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्त्विकमिति स्मृतः । विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्त्व्याभिसंज्ञितः ॥

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥”

इति । एतद्व्युत्पत्त्युपयोगितयैव महानुभावैरनेकैरनेकाष्टीका विनिर्मिताः, परमधुना कालमहिम्न मधुकोशा—ऽऽतङ्कदर्पणाख्ये एव सम्प्राप्यते । तत्र च मधुकोशनाम्नी यावदशमरीनिदानं भिषग्भरुश्रीविजयरक्षितेन विहिता, ततः प्रमेहनिदानमारभ्य यावदन्तं तच्छिष्येण श्रीकण्ठदत्तेन विहिता । अस्याश्चातीव सर्वत्र प्रचारादियं कीदृशी कथं च मूलशयमभिवर्णयतीत्यादिविशेष-प्रशंसानुपयोगः ।

वैद्यवाचस्पतिशर्मविनिर्मिता चेयमातङ्कदर्पणाख्या मूलशयविशदीकरणे परमोपयुक्ता, अत्र च चरक-सुश्रुत-बाग्भट-जेज्जट-गदाधर-विदेह-गयदासादीनामनेकाचार्याणां वाक्यानि प्रमाणत्वेनोप-न्यस्तानि । इयं चातीव सरलतया पदार्थबोधने प्रवृत्त्या सरलधियामपि परमसुखदत्वाद्दुपादेयतामु-यगतेति नात्र शङ्काःसरः । उभे अपि माधवकराभिप्रायबोधने परमोत्तमे इति द्वयोरप्यत्र निवेशः । मधुकोशस्य मुख्यतया तदनुसारेणैव मूले पाठनिवेशः कृतः, यत्र यत्र चातङ्कदर्पणकृता पाठभेदो-ऽङ्गीकृतस्तत्र तत्र तद्वोदिकाष्टिप्पण्यः प्रक्ताः सन्ति ।

तदेतन्मधुकोशा—ऽऽतङ्कदर्पणाख्यव्याख्याद्वयसमेतं माधवनिदानं मिर्जापुरमण्डला-न्तर्गतकोंडाख्यग्रामनिवासि—पण्डित—श्रीछोटूपतिशर्म—शास्त्रिद्वारा संशोध्य पूर्वं यन्मया प्रकाशितं तदेवाधुनास्यामभिनवावृत्तौ जयपुरराज्यस्थ—शेखाबाटी-मण्डलान्तर्गत “विसाऊ” नगर—निवासि—ज्योतिषायुर्वेद—कर्मकाण्डाचार्य—पण्डित—श्रीशिवलालजीशर्मशास्त्रिणां तनूजेन भिषगाचार्य—वैद्यश्रीब्रजवल्लभशर्मायुर्वेदविशारदेन मूलटीकयोः पुनः परिशोधनपुर-स्सरमाङ्गलभाषानामसहितं तत्तद्रोगाणां निदान-पूर्वरूप-रूपोपशय-सम्प्राप्त्युपद्रव-साध्यासाध्य-लक्षणानामपि पृथक् पृथक् शीर्षिकाणि दापयित्वा तदधो मधुकोशीयावतरणम्, तदधो मूलम्, तदधस्तन्मूलस्थाननिर्देशम्, तदधस्तमत्वादिबोधकचिह्नविशिष्टं टीकाद्वयम्, तत्राप्यातङ्कदर्प-णगतानुपूर्वमधुकोशपाठस्य सूक्ष्माक्षरैरभिव्यञ्जनम्, ततः सूक्ष्मविचारगमसन्दर्भरूपाः प्रत्या नूतनाश्च टिप्पणीः कारयित्वान्तेवासिजनसुगमया सहृदयहृदयङ्गमया पूर्वतोऽप्युत्तमयाऽपूर्वया सर्वातिशायि-योजनया योजयित्वाविष्कृतमिदमिति स्वयमेव साक्षात्कारिष्यन्ति सुधियः । तदेतद्ग्रहणपठनपाठ-ननिदानज्ञानादिभिः सफल्यन्तु मे मनोरथमनुग्राहका ग्राहका वैद्यकोविदा इति भ्रमभयर्थयते—

क्षेमराज—श्रीकृष्णदास,

“श्रीवेङ्कटेश्वर” मुद्रणयन्त्रालयाध्यक्षो मुम्बयी—स्थः ।



श्रीः ।

# अथ माधवनिदानस्य विषयानुक्रमणिका ।

| विषयाः  | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                           | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|----------------------------------|-------------|
| <b>अथ पारिभाषिकं पञ्चनिदान-<br/>लक्षणम् ।</b> |             | वातकफज्वरलक्षणम् ...             | ४५          |
| अथ ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ...               | १           | पित्तकफज्वरलक्षणम् ...           | ४६          |
| टीकाकर्तुर्मङ्गलम् ...                        | १           | सन्निपातिकज्वरलक्षणम् ...        | ४७          |
| ग्रन्थस्याभिधेयादि ...                        | २           | त्रयोदश सन्निपातभेदाः ...        | ५४          |
| ग्रन्थस्यास्योत्कृष्टत्वम् ...                | ४           | सर्वेषां सन्निपातानां निदानानि   |             |
| रोगविज्ञाने पञ्चोपायाः ...                    | ५           | कोपकालश्च ...                    | ५५          |
| निदानपर्यायास्तल्लक्षणञ्च ...                 | ५           | सन्निपातानां नामानि ...          | ५४          |
| पूर्वरूपलक्षणम् ...                           | १४          | ” दिनमर्यादा ...                 | ५५          |
| रूपस्य लक्षणम् ...                            | १७          | ” साध्यासाध्यत्वम् ...           | ५५          |
| उपशयानुपशयौ ...                               | १९          | सन्धिकसन्निपातलक्षणम् ...        | ५५          |
| सम्प्राप्तिलक्षणम् ...                        | २४          | अन्तकसन्निपातलक्षणम् ...         | ५५          |
| सम्प्राप्तिभेदास्तद्विवरणं च ...              | २५          | रूग्दाहसन्निपातलक्षणम् ...       | ५५          |
| सर्वरोगाणां सामान्यं कारणम् ...               | २९          | चित्तभ्रमसन्निपातलक्षणम् ...     | ५५          |
| रोगाणामपि कादाचित्कं निदानत्वम् ...           | ३१          | शीताङ्गसन्निपातलक्षणम् ...       | ५६          |
| अत्रोदाहरणानि ...                             | ३१          | तन्द्रिकसन्निपातलक्षणम् ...      | ५६          |
| रोगसाङ्कर्यम् ...                             | ३३          | कण्ठकुब्जसन्निपातलक्षणम् ...     | ५६          |
| उक्तनिदानपञ्चकस्यावश्यज्ञेयत्वम् ...          | ३३          | कर्णकसन्निपातलक्षणम् ...         | ५६          |
| <b>अथ ज्वरनिदानम् ।</b>                       |             | कर्णकसन्निपातोपद्रवाः ...        | ५७          |
| ज्वरस्योत्पत्तिर्भेदाश्च ...                  | ३४          | मुग्रनेत्रसन्निपातलक्षणम् ...    | ५७          |
| ज्वरस्य सम्प्राप्तिः ...                      | ३६          | रक्तटीविसन्निपातलक्षणम् ...      | ५७          |
| ” सामान्यलक्षणम् ...                          | ३७          | प्रलापकसन्निपातलक्षणम् ...       | ५८          |
| ” सामान्यं पूर्वरूपम् ...                     | ३८          | जिह्वकसन्निपातलक्षणम् ...        | ५८          |
| विशिष्टम् ...                                 | ३९          | अभिन्याससन्निपातलक्षणम् ...      | ५८          |
| द्वि-त्रि-दोषज-ज्वरलक्षणम् ...                | ४०          | हारिद्रकसन्निपातलक्षणम् ...      | ५८          |
| वातज्वरलक्षणम् ...                            | ४०          | सन्निपातावधिः ...                | ५८          |
| पित्तज्वरलक्षणम् ...                          | ४१          | सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणम् ... | ५९          |
| कफज्वरलक्षणम् ...                             | ४३          | सन्निपातोपद्रवाः ...             | ६०          |
| वातपित्तज्वरलक्षणम् ...                       | ४४          | अभिन्यासज्वरलक्षणम् ...          | ६०          |
|   |             | आगन्तुज्वरलक्षणम् ...            | ६०          |
|   |             | विषजन्यागन्तुज्वरलक्षणम् ...     | ६१          |

| विषयाः                                     | पृष्ठाङ्काः | विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|--|-------------|
| औषधगन्धज्वरलक्षणम् ...                     | ६१          | कालकृतं ज्वरलक्षणम् ...                        | ८४          |
| काभज्वरलक्षणम् ...                         | ६२          | उपशयानुपशयाभ्यां व्याधिज्ञानम्...              | ८५          |
| भयशोकक्रोधज्वरलक्षणम् ...                  | "           | अन्तर्वेगज्वरस्य लक्षणम् ...                   | "           |
| अभिचाराभिघातज्वरलक्षणम् ...                | ६३          | बहिर्वेगज्वरस्य लक्षणम् ...                    | "           |
| भूताभिषङ्गज्वरलक्षणम् ...                  | "           | आमज्वरलक्षणम् ...                              | ८६          |
| विषमज्वरस्य संप्राप्तिः ...                | ६४          | पच्यमानज्वरलक्षणम् ...                         | ८७          |
| विषमज्वरभेदाः ...                          | ६५          | परिपक्वज्वरलक्षणम् ...                         | "           |
| विषमज्वराणां दूष्यधातवः ...                | "           | साध्यज्वरलक्षणम् ...                           | ९०          |
| ,, लक्षणानि ...                            | ६६          | असाध्यज्वरलक्षणम् ...                          | "           |
| सन्ततज्वरलक्षणम् ...                       | "           | प्रकारान्तरेणासाध्यज्वरलक्षणम् ...             | ९१          |
| सततान्येद्युष्मज्वरलक्षणम् ...             | ६७          | गम्भीरज्वरलक्षणम् ...                          | ९२          |
| तृतीयकचतुर्थकज्वरलक्षणम् ...               | ६८          | अपरमसाध्यज्वरलक्षणम् ...                       | "           |
| तृतीयकचतुर्थकयोरुत्पत्तिबीजम् ...          | "           | असाध्यज्वरलक्षणान्तरम् ...                     | "           |
| विषमज्वरस्य भूताभिषङ्गत्वम् ...            | ६९          | अपरमप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ...                    | "           |
| तृतीयचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरम् ...           | "           | अन्यदप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ...                   | "           |
| चातुर्थकविपर्ययः ...                       | ७२          | ज्वरमुक्तेः पूर्वरूपम् ...                     | ९६          |
| वातबलासकज्वरलक्षणम् ...                    | ७३          | विज्वरपुरुषलक्षणम् ...                         | ९७          |
| प्रलेपकज्वरलक्षणम् ....                    | ७४          | ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ...                       | "           |
| देहार्द्रजातज्वरलक्षणम्...                 | ७५          | अथातिसारनिदानम् ।                              |             |
| शीतपाणिपादज्वरलक्षणम् ...                  | "           |  |             |
| उष्णपाणिपादज्वरलक्षणम् ...                 | "           | अतिसारस्य हेतवः ...                            | ९८          |
| शीतदाहपूर्वज्वरयोर्लक्षणम् ...             | "           | ,, सम्प्राप्तिः ...                            | १००         |
| इत्ययोः ...                                | ७६          | सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाणि ...              | १०१         |
| सौश्रुतानि सप्तधातुगतज्वराणां लक्षणानि ... | ७८          | वातातिसारलक्षणम् ...                           | १०२         |
| तत्रादौ रसधातुगतज्वरलक्षणम् ...            | ७९          | पित्तातिसारलक्षणम् ...                         | "           |
| रक्तधातुगतज्वरलक्षणम् ...                  | "           | कफातिसारलक्षणम् ...                            | १०३         |
| मेदोधातुगतज्वरलक्षणम् ...                  | "           | त्रिदोषजातिसारलक्षणम् ...                      | "           |
| अस्थिधातुगतज्वरलक्षणम् ...                 | ८०          | शोकजातिसारलक्षणम् ...                          | "           |
| मज्जधातुगतज्वरलक्षणम् ...                  | "           | आमातिसारलक्षणम् ...                            | १०४         |
| शुक्रधातुगतज्वरलक्षणम् ...                 | "           | आमपक्वपुरीषयोर्लक्षणम् ...                     | १०५         |
| अथैषां साध्यासाध्यत्वम् ...                | ८१          | असाध्यातिसारलक्षणम् ...                        | १०६         |
| प्राकृतवैकृतज्वरलक्षणम् ...                | ८२          | रक्तातिसारलक्षणम् ...                          | १०८         |
| प्राकृतज्वराणामुत्पत्तिक्रमः ...           | "           | प्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिः ...                  | १०९         |
|  |             | सर्वासां प्रवाहिकानां पृथक् पृथक् लक्षणानि ... | "           |
|  |             | मुक्तातिसारलक्षणम् ...                         | ११०         |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| अथ ग्रहणीरोगनिदानम् ।                                  |             |
| ग्रहण्याः संप्राप्तिः ...                              | १११         |
| संग्रहण्याः सामान्यलक्षणम् ...                         | "           |
| ग्रहणीरोगस्य पूर्वरूपम् ...                            | ११२         |
| वातिकग्रहण्याः निदानपूर्विकासंप्राप्तिः ...            | ११३         |
| ,, लक्षणानि ...  | "           |
| पैत्तिकग्रहण्या हेतवो लक्षणानि च ...                   | ११४         |
| श्लैष्मिकसंग्रहण्याः" ...                              | ११५         |
| सान्निपातिकसंग्रहणीलक्षणम् ...                         | ११६         |
| संग्रहग्रहणीलक्षणम् ...                                | ११७         |
| घटीयन्त्राख्यग्रहणीरोगस्य-<br>लक्षणम् ...              | "           |
| ग्रहण्यामामपक्वे दोषपरिज्ञानम् ...                     | "           |
| असाध्यग्रहणीरोगलक्षणम् ...                             | "           |
| वयोभेदेन ग्रहण्याः साध्यासाध्यत्वादि-<br>विज्ञानम् ... | ११८         |

अथार्शोनिदानम् ।

|   |     |
|---|-----|
| अर्शसां स्वरूपम् ...                        | ११९ |
| वातार्शसां हेतवः ...                        | १२० |
| पैत्तिकार्शोनिदानानि ...                    | "   |
| कफार्शसां हेतवः ...                         | १२१ |
| द्वन्द्वजार्शोविज्ञानम् ...                 | १२१ |
| त्रिदोषजार्शोनिदानम् ...                    | १२२ |
| वातार्शसां लक्षणानि ...                     | १२३ |
| पित्तार्शसां ,, ...                         | १२४ |
| कफजार्शोलक्षणानि ...                        | १२५ |
| सान्निपातिकानां सहजार्शसां च<br>लक्षणम् ... | १२७ |
| रक्तार्शसां लक्षणानि ...                    | "   |
| रक्तार्शसि वातानुबन्धलक्षणम् ...            | १२८ |
| श्लेष्मानुबन्धरक्तार्शोलक्षणम् ...          | १२९ |
| अर्शसां पूर्वरूपाणि ...                     | "   |
| अर्शसामुत्पत्तौ सर्वदोषप्रकोपः ...          | १३० |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| सुखसाध्यार्शसां लक्षणानि ...                             | १३२         |
| कृच्छ्रसाध्यार्शसाम् " ...                               | "           |
| असाध्यार्शोलक्षणानि ...                                  | "           |
| असाध्येष्वपि याप्यप्रत्याख्येयभेदः ...                   | १३३         |
| एषामुपद्रवादसाध्यत्वम् ...                               | "           |
| मेढ्रजादीनां लक्षणम् ...                                 | १३४         |
| चर्मकीलस्य संप्राप्तिः ...                               | "           |
| वातादिभेदेन तल्लक्षणम् ...                               | १३५         |
| अथाग्निमान्द्यजीर्ण-विसूचिकाऽलसक-<br>विलम्बिका-निदानम् । |             |
| मन्दाग्निनिदानम् ...                                     | १३६         |
| समाग्न्यादीनां लक्षणानि ...                              | "           |
| अजीर्णनिदानम् ...  | १३८         |
| अजीर्णस्य हेतवः ...                                      | १४०         |
| आमाजीर्णस्य लक्षणानि ...                                 | "           |
| विदग्धाजीर्णलक्षणानि ...                                 | "           |
| विष्टग्धाजीर्णलक्षणम् ...                                | १४१         |
| रसशोषाजीर्णलक्षणम् ...                                   | "           |
| अजीर्णोपद्रवाः ...                                       | "           |
| अतिमात्रभोजनस्य विशेषकार-<br>णत्वम् ...                  | १४२         |
| अजीर्णावस्थायां क्षुद्भ्रान्तेः कारणम् ...               | "           |
| अजीर्णोद्भवा विसूच्यादयो रोगाः ...                       | "           |
| विसूच्या निरुक्तिः ...                                   | १४३         |
| ,, सामान्यलक्षणम् ...                                    | १४४         |
| विसूच्यामुपद्रवाः ...                                    | "           |
| अलसकरोगलक्षणम् ...                                       | "           |
| विलम्बिकालक्षणम् ...                                     | १४५         |
| आमस्य कार्यान्तरम् ...                                   | १४६         |
| विसूच्यलसकयोरसाध्यलक्षणानि ...                           | १४७         |
| जीर्णाहारस्य लक्षणम् ...                                 | "           |
| सामान्याजीर्णस्य लक्षणम् ...                             | "           |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                                   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|--|-------------|
| अथ क्रिमिनिदानम् ।                                   |             | शैष्मिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...          | १६५         |
| क्रिमिभेदाः ...                                      | १४८         | वातिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...            | "           |
| बाह्याः क्रिमयः ...                                  | १४९         | पैत्तिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...          | "           |
| आभ्यन्तरक्रिमीणां निदानानि ...                       | "           | द्वित्रिदोषजरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...     | १६७         |
| निदानभेदात् क्रिमिभेदाः ...                          | १५०         | ऊर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य द्वैवि- |             |
| आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणम् ...                            | "           | ध्यम् ...                                | "           |
| कफजक्रिमिलक्षणम् ...                                 | "           | अस्य साध्यासाध्ययाध्यत्वम् ...           | "           |
| रक्तजातक्रिमिलक्षणम् ...                             | १५१         | " सुखसाध्यलक्षणम् ...                    | १६८         |
| शकृज्जातक्रिमिलक्षणम् ...                            | १५२         | " दोषभेदात् साध्यासाध्यत्वम् ...         | "           |
| अथ पाण्डुरोग-कामला-कुम्भकाम-<br>ला-हलीमकरोगनिदानम् । |             | रक्तपित्तस्योपद्रवाः ...                 | "           |
| पाण्डुरोगस्य भेदाः ...                               | १५३         | रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणम् ...            | १६९         |
| "हेतवः सम्प्राप्तिश्च ...                            | १५४         | अथ राजयक्ष्म-क्षत-क्षीण-निदानम् ।        |             |
| " पूर्वरूपाणि ...                                    | "           | राजयक्ष्मणो निदानानि ...                 | १७१         |
| वातिकपाण्डुरोगलक्षणम् ...                            | १५५         | क्षयरोगस्य सम्प्राप्तिः ...              | १७२         |
| पैत्तिकपाण्डुरोगलक्षणम् ...                          | "           | यक्ष्मणः पूर्वरूपाणि ...                 | १७३         |
| कफजपाण्डुरोगलक्षणम् ...                              | "           | क्षयस्य त्रीणि मुख्यलक्षणानि ...         | १७५         |
| असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ...                           | १५६         | " षड् लक्षणानि चरकीयाणि ...              | "           |
| मृत्तिकभक्ष्णजातपाण्डुरोगस्य<br>संप्राप्तिः ...      | "           | तान्येव सौश्रुतानि ...                   | "           |
| मृदोत्पन्नपाण्डुरोगलक्षणम् ...                       | १५७         | क्षयस्यैकादश रूपाणि ...                  | १७६         |
| असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ...                           | "           | असाध्यक्षयलक्षणम् ...                    | "           |
| अपराण्यसाध्यलक्षणानि ...                             | १५८         | अपरमसाध्यलक्षणम् ...                     | १७७         |
| अन्याभ्यपि कतिचिदसाध्यलक्षणानि ...                   | १५९         | अपराणि कतिचिदसाध्यलक्षणानि ...           | १७८         |
| पाण्डुभेदकामलारोगस्य लक्षणम् ...                     | १६०         | अथास्य चिकित्स्यत्वम् ...                | "           |
| कुम्भकामलारोगलक्षणम् ...                             | १६१         | क्षयस्यान्ये प्रकाराः ...                | १७९         |
| कामलाया असाध्यलक्षणानि ...                           | "           | व्यवायशोषिणो लक्षणम् ...                 | "           |
| कुम्भकामलायाः ...                                    | १६२         | शोकशोषिणो लक्षणम् ...                    | १८०         |
| हलीमकरोगलक्षणम् ...                                  | "           | जराशोषिणो लक्षणम् ...                    | "           |
| पानकीरोगलक्षणम् ...                                  | "           | मार्गशोषिणो लक्षणम् ...                  | १८१         |
| अथ रक्तपित्तनिदानम् ।                                |             | व्यायामशोषिणो लक्षणम् ...                | "           |
| रक्तपित्तस्य निदानं संप्राप्तिश्च ...                | १६३         | व्रणशोषिणो लक्षणम् ...                   | १८२         |
| " पूर्वरूपाणि ...                                    | १६५         | उरःक्षतस्य हेतवो लक्षणानि च ...          | १८३         |
|  |             | " पूर्वरूपम् ...                         | १८५         |
|  |             | उरःक्षत-क्षीणयोर्मुख्यलक्षणानि ...       | "           |
|  |             | अनयोः साध्यासाध्यत्वाविचारः ...          | १८६         |

| विषयाः                                  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| <b>अथ कसानिदानम् ।</b>                  |             |
| कासस्य हेतु-सम्प्राप्ति-पूर्वकं लक्षणम् | १८६         |
| कासभेदाः ...                            | १८७         |
| कासस्य पूर्वरूपम् ...                   | १८८         |
| वातकासलक्षणम् ...                       | "           |
| पित्तकासस्य लक्षणम् ...                 | "           |
| कफजकासस्य लक्षणम् ...                   | १८९         |
| क्षतजकासलक्षणम् ...                     | "           |
| क्षयजकासलक्षणम् ...                     | १९०         |
| अथैषां साध्यासाध्यत्वाविचारः ...        | १९१         |
| <b>अथ हिका-श्वास-निदानम् ।</b>          |             |
| हिकाश्वासयोर्निदानानि ...               | १९२         |
| हिककानां स्वरूपं निरुक्तिश्च ...        | १९३         |
| " भेदाः सम्प्राप्तिश्च ...              | १९४         |
| " पूर्वरूपाणि ...                       | "           |
| अन्नजाया लक्षणम् ...                    | "           |
| यमलाया लक्षणम् ...                      | १९५         |
| क्षुद्राया लक्षणानि ...                 | "           |
| गम्भीराया लक्षणम् ...                   | "           |
| महत्या लक्षणम् ...                      | १९६         |
| हिककानामसाध्यलक्षणानि ...               | "           |
| प्रकारान्तरेण, ...                      | "           |
| अथ श्वासरोगनिदानम् ...                  | १९७         |
| श्वासरोगस्य भेदाः ...                   | "           |
| अथैषु वातादीनां सम्बन्धः ...            | १९८         |
| श्वासरोगस्य पूर्वरूपम् ...              | "           |
| सम्प्राप्तिः, ...                       | "           |
| महाश्वासस्य लक्षणानि ...                | १९९         |
| ऊर्ध्वश्वासस्य लक्षणम् ...              | २००         |
| ऊर्ध्वश्वासे निश्वासानागमने हेतुः ...   | "           |
| छिन्नश्वासस्य लक्षणम् ...               | २०१         |
| तमकश्वासस्य लक्षणम् ...                 | "           |
| प्रतमकश्वासलक्षणम् ...                  | २०३         |
| प्रतमकस्य हेतवो लक्षणानि च ...          | "           |

| विषयाः                                    | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| क्षुद्रश्वासस्य लक्षणानि ...              | २०४         |
| अथैषां साध्यासाध्यविचारः ...              | "           |
| अथैषां मारकत्वम् ...                      | २०५         |
| <b>अथ स्वरभेदनिदानम् ।</b>                |             |
| स्वरभेदस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ... | २०५         |
| वातिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ...               | २०६         |
| पैत्तिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ...             | "           |
| कफजस्वरभेदस्य लक्षणम् ...                 | २०७         |
| सान्निपातिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ...         | "           |
| क्षयजस्वरभेदस्य लक्षणम् ...               | "           |
| मेदोजस्वरभेदस्य लक्षणम् ...               | २०८         |
| स्वरभेदस्यासाध्यलक्षणानि ...              | "           |
| <b>अथारोचकनिदानम् ।</b>                   |             |
| अरोचकरोगस्य निदानानि ...                  | २०९         |
| वातिकारोचकस्य लक्षणम् ...                 | २१०         |
| पैत्तिकारोचकलक्षणम् ...                   | "           |
| श्लैष्मिकारोचकलक्षणम् ...                 | "           |
| आगन्तुजारोचकस्य लक्षणम् ...               | २११         |
| सान्निपातिकारोचकस्य लक्षणम् ...           | "           |
| अरोचकस्य लक्षणान्तराणि ...                | "           |
| <b>अथ छर्द्दिरोगनिदानम् ।</b>             |             |
| छर्द्दिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम् ...       | २१३         |
| छर्द्देः पूर्वरूपाणि ...                  | २१४         |
| वातिकच्छर्द्देलक्षणानि ...                | "           |
| पैत्तिकच्छर्द्देलक्षणानि ...              | २१५         |
| कफजच्छर्द्देलक्षणानि ...                  | "           |
| सान्निपातिकच्छर्द्देलक्षणानि ...          | "           |
| छर्द्देलसाध्यलक्षणानि ...                 | २१६         |
| आगन्तुजच्छर्द्देलक्षणानि ...              | "           |
| क्रिमिजच्छर्द्देलक्षणानि ...              | २१७         |
| छर्द्देः साध्यासाध्यविवेकः ...            | "           |
| छर्द्दिरोगस्योपद्रवाः ...                 | २१८         |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| अथ क्रिमिनिदानम् ।                                   |             |
| क्रिमिभेदाः ...                                      | १४८         |
| बाह्याः क्रिमयः ...                                  | १४९         |
| आभ्यन्तरक्रिमिणां निदानानि ...                       | "           |
| निदानभेदात् क्रिमिभेदाः ...                          | १५०         |
| आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणम् ...                            | "           |
| कफजक्रिमिलक्षणम् ...                                 | "           |
| रक्तजातक्रिमिलक्षणम् ...                             | १५१         |
| शकृज्जातक्रिमिलक्षणम् ...                            | १५२         |
| अथ पाण्डुरोग-कामला-कुम्भकाम-<br>ला-हलीमकरोगनिदानम् । |             |
| पाण्डुरोगस्य भेदाः ...                               | १५३         |
| "हेतवः सम्प्राप्तिश्च ...                            | १५४         |
| " पूर्वरूपाणि ...                                    | "           |
| वातिकपाण्डुरोगलक्षणम् ...                            | १५५         |
| पैत्तिकपाण्डुरोगलक्षणम् ...                          | "           |
| कफजपाण्डुरोगलक्षणम् ...                              | "           |
| असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ...                           | १५६         |
| मृत्तिकाभक्षणजातपाण्डुरोगस्य<br>संप्राप्तिः ...      | "           |
| मृदोत्पन्नपाण्डुरोगलक्षणम् ...                       | १५७         |
| असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ...                           | "           |
| अपराण्यसाध्यलक्षणानि ...                             | १५८         |
| अन्याम्यपि कतिचिदसाध्यलक्षणानि ...                   | १५९         |
| पाण्डुभेदकामलारोगस्य लक्षणम् ...                     | १६०         |
| कुम्भकामलारोगलक्षणम् ...                             | १६१         |
| कामलाया असाध्यलक्षणानि ...                           | "           |
| कुम्भकामलायाः ...                                    | १६२         |
| हलीमकरोगलक्षणम् ...                                  | "           |
| पानकीरोगलक्षणम् ...                                  | "           |
| अथ रक्तपित्तनिदानम् ।                                |             |
| रक्तपित्तस्य निदानं संप्राप्तिश्च ...                | १६३         |
| " पूर्वरूपाणि ...                                    | १६५         |

| विषयाः  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| श्लैष्मिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...                     | १६५         |
| वातिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...                         | "           |
| पैत्तिकरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...                       | "           |
| द्वित्रिदोषजरक्तपित्तस्य लक्षणम् ...                  | १६७         |
| ऊर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य द्वैवि-<br>ध्यम् ... | "           |
| अस्य साध्यासाध्यव्याप्यत्वम् ...                      | "           |
| " सुखसाध्यलक्षणम् ...                                 | १६८         |
| " दोषभेदात् साध्यासाध्यत्वम् ...                      | "           |
| रक्तपित्तस्योपद्रवाः ...                              | "           |
| रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणम् ...                         | १६९         |
| अथ राजयक्ष्म-क्षत-क्षीण-निदानम् ।                     |             |
| राजयक्ष्मणो निदानानि ...                              | १७१         |
| क्षयरोगस्य सम्प्राप्तिः ...                           | १७२         |
| यक्ष्मणः पूर्वरूपाणि ...                              | १७३         |
| क्षयस्य त्रीणि मुख्यलक्षणानि ...                      | १७५         |
| " षड् लक्षणानि चरकीयाणि ...                           | "           |
| तान्येव सौश्रुतानि ...                                | "           |
| क्षयस्यैकादश रूपाणि ...                               | १७६         |
| असाध्यक्षयलक्षणम् ...                                 | "           |
| अपरमसाध्यलक्षणम् ...                                  | १७७         |
| अपराणि कतिचिदसाध्यलक्षणानि ...                        | १७८         |
| अथास्य चिकित्स्यत्वम् ...                             | "           |
| क्षयस्यान्ये प्रकाराः ...                             | १७९         |
| व्यवायशोषिणो लक्षणम् ...                              | "           |
| शोकशोषिणो लक्षणम् ...                                 | १८०         |
| जराशोषिणो लक्षणम् ...                                 | "           |
| मार्गशोषिणो लक्षणम् ...                               | १८१         |
| व्यायामशोषिणो लक्षणम् ...                             | "           |
| व्रणशोषिणो लक्षणम् ...                                | १८२         |
| उरःक्षतस्य हेतवो लक्षणानि च ...                       | १८३         |
| " पूर्वरूपम् ...                                      | १८५         |
| उरःक्षत-क्षीणयोर्मुख्यलक्षणानि ...                    | "           |
| अनयोः साध्यासाध्यत्वविचारः ...                        | १८६         |

| विषयाः                                  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| <b>अथ कसानिदानम् ।</b>                  |             |
| कासस्य हेतु-सम्प्राप्ति-पूर्वकं लक्षणम् | १८६         |
| कासभेदाः ...                            | १८७         |
| कासस्य पूर्वरूपम्                       | १८८         |
| वातकासलक्षणम्                           | "           |
| पित्तकासस्य लक्षणम्                     | "           |
| कफजकासस्य लक्षणम्                       | १८९         |
| क्षतजकासलक्षणम्                         | "           |
| क्षयजकासलक्षणम्                         | १९०         |
| अथैषां साध्यासाध्यत्वविचारः             | १९१         |
| <b>अथ हिक्का-श्वास-निदानम् ।</b>        |             |
| हिक्काश्वासयोर्निदानानि                 | १९२         |
| हिक्कानां स्वरूपं निराकृतिश्च           | १९३         |
| " भेदाः सम्प्राप्तिश्च                  | १९४         |
| " पूर्वरूपाणि                           | "           |
| अन्नजाया लक्षणम्                        | "           |
| यमलाया लक्षणम्                          | १९५         |
| क्षुद्राया लक्षणानि                     | "           |
| गम्भीराया लक्षणम्                       | "           |
| महत्या लक्षणम्                          | १९६         |
| हिक्कानामसाध्यलक्षणानि                  | "           |
| प्रकारान्तरेण,,                         | "           |
| अथ श्वासरोगनिदानम्                      | १९७         |
| श्वासरोगस्य भेदाः                       | "           |
| अथैषु वातादीनां सम्बन्धः                | १९८         |
| श्वासरोगस्य पूर्वरूपम्                  | "           |
| सम्प्राप्तिः,,                          | "           |
| महाश्वासस्य लक्षणानि                    | १९९         |
| ऊर्ध्वश्वासस्य लक्षणम्                  | २००         |
| ऊर्ध्वश्वासे निश्वासानागमने हेतुः       | "           |
| छिन्नश्वासस्य लक्षणम्                   | २०१         |
| तमकश्वासस्य लक्षणम्                     | "           |
| प्रतमकश्वासलक्षणम्                      | २०३         |
| प्रतमकस्य हेतवो लक्षणानि च              | "           |

| विषयाः                               | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------------------|-------------|
| क्षुद्रश्वासस्य लक्षणानि             | २०४         |
| अथैषां साध्यासाध्यविचारः             | "           |
| अथैषां मारकत्वम्                     | २०५         |
| <b>अथ स्वरभेदनिदानम् ।</b>           |             |
| स्वरभेदस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः | २०५         |
| वातिकस्वरभेदस्य लक्षणम्              | २०६         |
| पैत्तिकस्वरभेदस्य लक्षणम्            | "           |
| कफजस्वरभेदस्य लक्षणम्                | २०७         |
| सान्निपातिकस्वरभेदस्य लक्षणम्        | "           |
| क्षयजस्वरभेदस्य लक्षणम्              | "           |
| मेदोजस्वरभेदस्य लक्षणम्              | २०८         |
| स्वरभेदस्यासाध्यलक्षणानि             | "           |
| <b>अथारोचकनिदानम् ।</b>              |             |
| अरोचकरोगस्य निदानानि                 | २०९         |
| वातिकारोचकस्य लक्षणम्                | २१०         |
| पैत्तिकारोचकलक्षणम्                  | "           |
| श्लैष्मिकारोचकलक्षणम्                | "           |
| आगन्तुजारोचकस्य लक्षणम्              | २११         |
| सान्निपातिकारोचकस्य लक्षणम्          | "           |
| अरोचकस्य लक्षणान्तराणि               | "           |
| <b>अथ छर्द्दिरोगनिदानम् ।</b>        |             |
| छर्द्दिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम्      | २१३         |
| छर्द्देः पूर्वरूपाणि                 | २१४         |
| वातिकच्छर्द्देलक्षणानि               | "           |
| पैत्तिकच्छर्द्देलक्षणानि             | २१५         |
| कफजच्छर्द्देलक्षणानि                 | "           |
| सान्निपातिकच्छर्द्देलक्षणानि         | "           |
| छर्द्देः साध्यलक्षणानि               | २१६         |
| आगन्तुजच्छर्द्देलक्षणानि             | "           |
| क्रिमिजच्छर्द्देलक्षणानि             | २१७         |
| छर्द्देः साध्यासाध्यविवेकः           | "           |
| छर्द्दिरोगस्योपद्रवाः                | २१८         |

| विषयाः  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| अथ तृष्णानिदानम् ।                                      |             |
| तृष्णारोगस्य सम्प्राप्तिः...                            | २१८         |
| अन्न-कफामजानां सम्प्राप्तिः                             | २१९         |
| अथासां भेदाः ...  | "           |
| वातिकतृषाया लक्षणानि                                    | २२०         |
| पैक्तिकतृषाया लक्षणानि                                  | "           |
| श्लैष्मिकतृष्णाया लक्षणानि                              | २२१         |
| क्षतजन्यतृष्णाया लक्षणम्                                | २२२         |
| क्षयजन्यतृष्णाया लक्षणानि                               | "           |
| आमजाततृष्णाया लक्षणानि                                  | २२३         |
| अन्नजतृष्णाया लक्षणानि                                  | "           |
| उपसर्गजतृष्णाया लक्षणानि                                | "           |
| तृषोपसर्गाः ...   | २२४         |
| आसामसाध्यलक्षणानि                                       | "           |
| अथ मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रा-<br>संन्यास-निदानानि ।  |             |
| मूर्च्छारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः               | २२५         |
| मूर्च्छायाः पूर्वरूपाणि                                 | २२६         |
| वातजमूर्च्छाया लक्षणम्                                  | २२७         |
| पित्तजमूर्च्छाया लक्षणम्                                | "           |
| कैफजमूर्च्छाया लक्षणम्                                  | २२८         |
| साल्निपातिकमूर्च्छाया लक्षणम्                           | "           |
| रक्तजमूर्च्छायाः सम्प्राप्तिः                           | २२९         |
| अत्रापरमतम् ...   | २३०         |
| विषमद्यजातमूर्च्छाया लक्षणम्                            | "           |
| रक्तजाया लक्षणम्  | २३१         |
| मद्यजमूर्च्छाया लक्षणम्                                 | "           |
| विषजातमूर्च्छाया लक्षणम्                                | २३२         |
| मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासु दोषगुण-<br>विशेषाद् भेदाः । | "           |
| अमरोगस्य लक्षणम्  | २३३         |
| निद्राया लक्षणम्  | "           |
| तन्द्राया लक्षणम्                                       | "           |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| कुमस्य लक्षणम् ...   | २३३         |
| संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदः ...                         | २३४         |
| संन्यासरोगस्य लक्षणम् ...                                  | "           |
| अथ पानात्यय-परमद-पानाजीर्ण-<br>पानविभ्रमरोगाणां निदानानि । |             |
| मदात्ययनिदानम् ...   | २३५         |
| मद्यस्य स्वभाववर्णनम्                                      | २३६         |
| विधिनोपयुक्तस्य मद्यस्य गुणाः                              | "           |
| प्रथममदस्य लक्षणम्   | २३८         |
| द्वितीयमदस्य लक्षणम्                                       | २३९         |
| तृतीयमदस्य लक्षणम्   | "           |
| चतुर्थमदस्य लक्षणम्  | २४०         |
| अवैधमद्यपानस्य विकारान्तरकर्तृत्वम्                        | २४१         |
| कीदृशानां जनानां मद्यपाने रोगो-<br>त्पादकम् ...            | २४२         |
| मद्यविकाराणां नामतो विवरणम्                                | "           |
| वातिकमदात्ययस्य लक्षणम्                                    | "           |
| पैक्तिकमदात्ययस्य लक्षणम्                                  | २४३         |
| श्लैष्मिकमदात्ययस्य लक्षणम्                                | "           |
| सान्निपातिकमदात्ययस्य लक्षणम्                              | "           |
| परमदस्य लक्षणानि   | "           |
| पानाजीर्णस्य लक्षणानि                                      | २४४         |
| पानविभ्रमस्य लक्षणानि                                      | "           |
| मदात्ययस्यासाध्यलक्षणानि                                   | २४५         |
| मदात्ययरोगस्योपद्रवाः                                      | "           |
| अथ दाहरोगनिदानम् ।   |             |
| मद्यजदाहस्य लक्षणम्  | २४६         |
| रक्तजदाहस्य लक्षणम्  | २४७         |
| पित्तजदाहस्य लक्षणम्                                       | "           |
| तृषानिरोधजदाहस्य लक्षणम्                                   | "           |
| शस्त्राघातजदाहस्य लक्षणम्                                  | २४८         |
| धातुक्षयजदाहस्य लक्षणम्                                    | "           |
| सर्माभिघातजदाहस्य लक्षणम्                                  | २४९         |



| विषयाः                                    | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                                    | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|---|-------------|
| <b>अथोन्मादनिदानम् ।</b>                  |             | अपस्मारस्य वेगकालाः ... .. २६८            |             |
| उन्मादस्य प्रकारभेदाः ... .. २५०          |             | अपस्मारस्य सर्वदा वेगाकरणे सोदाहरणः       |             |
| ” सामान्यहेतवः ... .. २५१                 |             | प्रभावः ... .. ”                          |             |
| ” सम्प्राप्तिः ... .. ”                   |             | <b>अथ वातव्याधिनिदानम् !</b>              |             |
| ” सामान्यरूपाणि ... .. २५२                |             | वातव्याधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं निदानम् २६९ |             |
| वातिकोन्मादस्य विशेषलक्षणानि ... .. ”     |             | ” पूर्वरूपाणि ... .. २७१                  |             |
| पैत्तिकोन्मादस्य हेतवो लक्षणानि च २५३     |             | वातप्रकोपेण संभवन्तो रोगाः ... .. २७२     |             |
| श्लेष्मिकोन्मादस्य ” ” ... .. २५४         |             | कोष्ठाश्रितकुपितवातलक्षणम् ... .. २७३     |             |
| सन्निपातिकोन्मादस्य लक्षणानि ... .. २५५   |             | सर्वाङ्गकुपितवातलक्षणम् ... .. २७४        |             |
| शोकजोन्मादस्य सम्प्राप्तिः ... .. ”       |             | गुदस्थितवातस्य लक्षणम् ... .. ”           |             |
| ” लक्षणानि ... .. २५६                     |             | आमाशयगतकुपितवातस्य लक्षणम् ... .. ”       |             |
| विषजोन्मादस्य लक्षणम् ... .. ”            |             | पकाशयस्थवातस्य लक्षणम् ... .. ”           |             |
| उन्मादस्यासाध्यलक्षणानि ... .. ”          |             | श्रात्रादगतवातलक्षणम् ... .. २७५          |             |
| भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणानि २५७        |             | त्वग्गतवातस्य लक्षणानि ... .. ”           |             |
| देवग्रहगृहीतस्य लक्षणानि ... .. ”         |             | रक्तगतवातस्य लक्षणानि ... .. ”            |             |
| असुरग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. २५८       |             | मांसमेदोगतवातस्य लक्षणानि ... .. २७६      |             |
| गन्धर्वग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. ”      |             | शुक्रधातुगतवातस्य लक्षणानि ... .. ”       |             |
| यक्षग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. २५९       |             | सिरागतवातस्य लक्षणम् ... .. २७७           |             |
| पितृग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. ”         |             | स्नायुगतवातस्य लक्षणम् ... .. ”           |             |
| सर्पग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. २६०       |             | सन्धिगतवातस्य लक्षणम् ... .. ”            |             |
| राक्षसग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. ”       |             | पित्तकफावृतानां प्राणादिवायूनां           |             |
| पिशाचग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ... .. २६१      |             | लक्षणानि ... .. २७८                       |             |
| ग्रहगृहीतस्यासाध्यलक्षणानि ... .. ”       |             | आक्षेपकस्य वायोर्लक्षणम् ... .. २७९       |             |
| देवादीनां ग्रहणकालाः ... .. २६२           |             | अपतन्त्रापतानकयोर्लक्षणानि ... .. २८०     |             |
| ग्रहवेशानुपलब्धवायुदाहरणानि ... .. २६३    |             | दण्डापतानकस्य लक्षणम् ... .. २८१          |             |
| ग्रहाणां प्रभावः ... .. २६४               |             | धनुर्वातस्य लक्षणम् ... .. ”              |             |
| ग्रहाणां पुम्भिस्त्वयमसम्बन्धः ... .. ”   |             | आभ्यन्तरवाह्यायामयोर्लक्षणम् ... .. २८२   |             |
| ग्रहभृत्यानां पुंस्त्वावेशः ... .. ”      |             | आक्षेपकस्य लक्षणान्तरम् ... .. ”          |             |
| <b>अथापस्मारनिदानम् ।</b>                 |             | असाध्यापतानकस्य लक्षणम् ... .. २८३        |             |
| अपस्मारस्य निरुक्तिसम्प्राप्ती ... .. २६५ |             | पक्षवधस्य लक्षणानि ... .. ”               |             |
| ” सामान्यलक्षणम् ... .. ”                 |             | पक्षाघातस्य साध्यासाध्यत्वम् ... .. २८४   |             |
| ” पूवरूपाणि ... .. २६६                    |             | अर्दितरोगस्य लक्षणम् ... .. २८५           |             |
| वातिकापस्मारस्य लक्षणम् ... .. ”          |             | ” असाध्यलक्षणम् ... .. २८६                |             |
| पैत्तिकापस्मारस्य लक्षणम् ... .. २६७      |             | आक्षेपकादिवातरोगाणां वेगित्वम् ... .. ”   |             |
| श्लेष्मिकापस्मारस्य लक्षणम् ... .. ”      |             | हन्तग्रहस्य लक्षणम् ... .. ”              |             |
| सन्निपातिकापस्मारस्य लक्षणम् ... .. ”     |             |   |             |

| विषयाः                              | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------------|-------------|
| मन्यास्तम्भस्य लक्षणम् ...          | २८७         |
| जिह्वास्तम्भस्य लक्षणम् ...         | "           |
| सिराग्रहस्य लक्षणम् ...             | २८८         |
| गृध्रसीरोगस्य लक्षणम् ...           | "           |
| गृध्रस्या विशेषलक्षणानि ...         | २८९         |
| विश्वाचीरोगस्य लक्षणम् ...          | "           |
| क्रोष्टुकशीर्षस्य लक्षणम् ...       | २९०         |
| खारुज्यपाङ्गुल्ययोर्लक्षणम् ...     | "           |
| कलायखञ्जस्य लक्षणम् ...             | २९१         |
| वातकण्टकरोगस्य लक्षणम् ...          | "           |
| पाददाहस्य लक्षणम् ...               | २९२         |
| पादहर्षस्य लक्षणम् ...              | "           |
| अंशशोषस्य लक्षणम् ...               | "           |
| अवबाहुकस्य लक्षणम् ...              | २९३         |
| मूकादीनां लक्षणानि ...              | "           |
| तूनीरोगस्य लक्षणम् ...              | २९४         |
| प्रतितूनीरोगस्य लक्षणम् ...         | "           |
| आध्मानरोगस्य लक्षणम् ...            | २९५         |
| प्रत्याध्मानस्य लक्षणम् ...         | "           |
| वाताष्टीलारोगस्य लक्षणम् ...        | "           |
| प्रत्यष्टीलाया लक्षणम् ...          | २९६         |
| मूत्रावराधस्य लक्षणम् ...           | "           |
| बेपथुरोगस्य लक्षणम् ...             | २९७         |
| खलीरोगस्य लक्षणम् ...               | "           |
| ऊर्ध्ववातस्य लक्षणम् ...            | "           |
| अनुक्तानां वातरोगाणां सूचनम् ...    | "           |
| वातरोगाणां साध्यासाध्यत्वविचारः ... | २९८         |
| वातोपद्रवाः ...                     | "           |
| वातव्याधेरसाध्यत्वम् ...            | "           |
| प्रकृतिस्थस्य वायोर्लक्षणम् ...     | २९९         |
| <b>अथ वातरक्तस्य निदानम् ।</b>      |             |
| वातरक्तस्य कारणानि ...              | २९९         |
| वातरक्तस्य सम्प्राप्तिः ...         | ३०१         |
| " पूर्वरूपाणि ...                   | "           |
| वाताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ...       | ३०२         |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| रक्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ...                   | ३०२         |
| पित्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ...                  | ३०३         |
| कफाधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| द्वि-त्रि-दोषजवातरक्तस्य लक्षणम् ...             | "           |
| वातरक्तस्य प्रसारः ...                           | "           |
| वातरक्तस्यासाध्यलक्षणानि ...                     | ३०४         |
| वातरक्तस्योपद्रवाः ...                           | "           |
| वातरक्तस्य साध्यासाध्यत्वम् ...                  | ३०५         |
| <b>अथोरुस्तम्भनिदानम् ।</b>                      |             |
| ऊरुस्तम्भस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ...      | ३०५         |
| " पूर्वरूपाणि ...                                | ३०६         |
| " लक्षणानि ...                                   | ३०७         |
| " असाध्यलक्षणानि ...                             | ३०८         |
| <b>अथामवातनिदानम् ।</b>                          |             |
| आमवातरोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ...       | ३०८         |
| " पूर्वरूपाणि ...                                | ३०९         |
| आमवातस्य सामान्यलक्षणानि ...                     | ३१०         |
| अतिवृद्धस्यामवातस्य लक्षणानि ...                 | "           |
| आमवातस्योपद्रवाः ...                             | "           |
| पित्तादियुक्तस्य विशेषलक्षणानि ...               | ३११         |
| अथास्य साध्यासाध्यत्वादिविचारः ...               | "           |
| <b>अथ शूलपरिणामशूलान्नद्वयशूल-<br/>निदानम् ।</b> |             |
| शूलरोगस्योत्पात्तिक्रमः ...                      | ३११         |
| वातशूलस्य निदानानि ...                           | ३१२         |
| पैत्तिकशूलस्य निदानानि ...                       | ३१३         |
| श्लैष्मिकशूलस्य निदानानि ...                     | ३१४         |
| सान्निपातिकशूलस्य लक्षणानि ...                   | ३१५         |
| आमशूलस्य लक्षणानि ...                            | "           |
| त्रिदोषोत्पन्नशूलस्य लक्षणानि ...                | "           |
| शूलरोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ...                   | ३१६         |
| परिणामशूलस्य सम्प्राप्तिः ...                    | "           |
| " सामान्यलक्षणानि ...                            | ३१७         |
| वातिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ...                    | "           |

| विषयाः                            | पृष्ठाङ्काः |
|-----------------------------------|-------------|
| पैत्तिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ...   | ३१७         |
| श्लैष्मिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ... | ३१८         |
| द्वन्द्वजपरिणामशूलस्य लक्षणम् ... | "           |
| त्रिदोषजपरिणामशूलस्य लक्षणम् ...  | "           |
| अन्नद्रवाख्यशूलस्य लक्षणानि ...   | "           |

**अथोदावर्तानाहनिदानम् ।**

|                                  |     |
|----------------------------------|-----|
| उदावर्तरोगस्य कारणानि ...        | ३१९ |
| वातोदावर्तरोगस्य लक्षणम् ...     | ३२० |
| मलावरोधजस्य लक्षणम् ...          | "   |
| मूत्ररोधजस्य लक्षणम् ...         | "   |
| जृम्भोपघातजस्य लक्षणम् ...       | "   |
| अश्रुदावर्तस्य लक्षणम् ...       | ३२१ |
| छिक्कोदावर्तस्य लक्षणम् ...      | "   |
| उद्गारोदावर्तस्य लक्षणम् ...     | "   |
| छर्द्युदावर्तस्य लक्षणम् ...     | "   |
| शुक्रोदावर्तस्य लक्षणम् ...      | ३२२ |
| क्षुदुदावर्तस्य लक्षणम् ...      | "   |
| तृष्णोदावर्तस्य लक्षणम् ...      | "   |
| श्वसोदावर्तस्य लक्षणम् ...       | "   |
| निद्रोदावर्तस्य लक्षणम् ...      | "   |
| कुपितवातजोदावर्तस्य निदानानि ... | ३२३ |
| अथास्य सम्प्राप्तिः ...          | "   |
| आनाह्रोगस्य लक्षणानि ...         | ३२४ |
| आमजानाहस्य लक्षणम् ...           | "   |
| पुरीषरोधजानाहस्य लक्षणम् ...     | "   |

**अथ गुल्मरोगनिदानम् ।**

|                                  |     |
|----------------------------------|-----|
| गुल्मरोगस्य सम्प्राप्तिः ...     | ३२५ |
| " सामान्यं लक्षणम् ...           | "   |
| " संख्यारूपा सम्प्राप्तिः ...    | ३२६ |
| " पूर्वरूपाणि ...                | ३२८ |
| गुल्मस्य साधारणं रूपम् ...       | "   |
| वातगुल्मस्य हेतवो लक्षणानि च ... | "   |
| पैत्तिकगुल्मस्य निदानानि ...     | ३२९ |
| " लक्षणानि ...                   | ३३० |

| विषयाः                           | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------------|-------------|
| श्लैष्मिकगुल्मस्य निदानानि ...   | ३३०         |
| सान्निपातिकगुल्मस्य हेतवः ...    | "           |
| श्लैष्मिकगुल्मस्य लक्षणानि ...   | "           |
| द्वन्द्वजगुल्मस्य लक्षणानि ...   | ३३१         |
| सान्निपातिकगुल्मस्य लक्षणानि ... | "           |
| रक्तगुल्मस्य सम्प्राप्तिः ...    | ३३२         |
| " लक्षणानि ...                   | "           |
| गुल्मस्यासाध्यलक्षणानि ...       | ३३३         |

**अथ हृद्रोगनिदानम् ।**

|   |     |
|---|-----|
| हृद्रोगस्य निदानानि ...                   | ३३६ |
| "संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणम् ...            | "   |
| वातिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ...               | "   |
| पैत्तिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ...             | ३३७ |
| श्लैष्मिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ...           | "   |
| सक्रिमिजसान्निपातिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ... | "   |
| अथात्र क्रिमीणामुत्पत्तिबीजम् ...         | ३३९ |
| अथैषामुपद्रवाः ...                        | "   |

**अथ मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।**

|  |     |
|--|-----|
| मूत्रकृच्छ्रस्य हेतवः ...              | ३३९ |
| " सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम् ...       | ३४० |
| वातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...       | "   |
| पैत्तिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...     | ३४१ |
| कफजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...         | "   |
| सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ... | "   |
| शल्यजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...       | "   |
| पुरीषजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...      | "   |
| अश्मरीजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...     | ३४२ |
| शुक्रजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ...      | "   |
| अश्मरीशर्करयोर्भेदः ...                | "   |
| मूत्रकृच्छ्रस्योपद्रवाः ...            | ३४३ |

**अथ मूत्राघातनिदानम् ।**

|                                    |     |
|------------------------------------|-----|
| मूत्राघातस्य सम्प्राप्तिः ...      | ३४४ |
| वातकुण्डलिकायाः सम्प्राप्तिपूर्वकं |     |

| विषयाः  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| निदानम्...  | ... ३४४     |
| अष्टीलारोगस्य लक्षणम्...                          | ... ३४५     |
| वातवास्तिरोगस्य लक्षणम्                           | ... "       |
| मूत्रातीतरोगस्य लक्षणम्                           | ... ३४६     |
| मूत्रजठररोगस्य लक्षणम्                            | ... "       |
| मूत्रोत्संगरोगस्य लक्षणम्                         | ... ३४७     |
| मूत्रक्षयरोगस्य लक्षणम्...                        | ... "       |
| मूत्रग्रन्थिरोगस्य लक्षणम्                        | ... "       |
| मूत्रशुक्ररोगस्य लक्षणम्                          | ... ३४८     |
| उष्णवातस्य लक्षणम् ...                            | ... "       |
| मूत्रसादरोगस्य लक्षणम्                            | ... ३४९     |
| विड्विघातरोगस्य लक्षणम्                           | ... "       |
| वास्तिकुण्डलरोगस्य लक्षणम्                        | ... ३५०     |
| वातस्य दोषान्तरानुबन्धवशाद् विशेष-<br>लक्षणानि... | ... "       |
| अथैतस्य साध्यासाध्यत्वम्                          | ... ३५१     |
| कुण्डलीभूतस्यास्य लक्षणम्                         | ... "       |
| <b>अथाश्मरीरोगनिदानम् ।</b>                       |             |
| अश्मरीरोगस्य विवरणम्                              | ... ३५१     |
| " सम्प्राप्तिः                                    | ... ३५२     |
| अश्मर्यामनेकदोषाश्रयत्वम्                         | ... "       |
| अश्मरीरोगस्य पूर्वरूपम्                           | ... "       |
| " सामान्यलक्षणम्                                  | ... ३५३     |
| पुनः स्वलक्षणान्तरम् ...                          | ... "       |
| वातजाश्मरीरोगस्य लक्षणम्                          | ... "       |
| पैत्तिकाश्मरीरोगस्य लक्षणम्                       | ... ३५४     |
| कफजाश्मरीरोगस्य लक्षणम्                           | ... "       |
| अथासां बालेषु प्रायिकत्वम्                        | ... ३५५     |
| शुक्राश्मर्याः सम्प्राप्तिः ...                   | ... "       |
| " लक्षणम् ...                                     | ... ३५६     |
| शर्करारोगस्य लक्षणम् ...                          | ... "       |
| " सम्प्राप्तिः                                    | ... ३५७     |
| अश्मरीशर्करयोरुपद्रवाः                            | ... "       |
| अतयोरसाध्यलक्षणम् ...                             | ... "       |
| ( इति माधवनिदानस्य पूर्वार्धम् )                  |             |

विषयाः पृष्ठाङ्काः  
अथोत्तरार्धम् ।

### प्रमेहपिडकानिदानम् ।

|                                      |         |
|--------------------------------------|---------|
| प्रमेहरोगस्य हेतवः सम्प्राप्तिश्च    | ... ३५८ |
| त्रिदोषजमहानां क्रमेण सम्प्राप्तयः   | ... ३५९ |
| सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहः          | ... ३६० |
| प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि                | ... ३६१ |
| " सामान्यलक्षणम्                     | ... ३६२ |
| श्लेष्मिकाणां दशमेहानां लक्षणानि     | ... ३६३ |
| पैत्तिकमहानां पण्णां लक्षणानि        | ... ३६५ |
| वातिकमेहानां चतुर्णां लक्षणानि       | ... "   |
| त्रिदोषमेहानामुपद्रवाः               | ... ३६६ |
| प्रमेहस्यासाध्यलक्षणम्               | ... ३६७ |
| प्रकारान्तरेणासाध्यलक्षणम्           | ... "   |
| मधुमेहस्य लक्षणम्                    | ... ३६९ |
| प्रमेहपिडकानिदानम्                   | ... ३७० |
| सर्वासां प्रमेहोपिडकानां लक्षणानि    | ... ३७१ |
| पिडकानामुत्पत्तौ कारणानि             | ... ३७२ |
| असाध्यपिडकानां लक्षणानि              | ... ३७३ |
| <b>अथ मेदोरोग-निदानम् ।</b>          |         |
| मेदोरोगस्य हेतुसम्प्राप्तिः लक्षणानि | ... ३७४ |
| <b>अथोदररोगनिदानम् ।</b>             |         |
| उदररोगस्य मुख्यं कारणम्              | ... ३७६ |
| " सम्प्राप्तिः                       | ... ३७७ |
| " सामान्यलक्षणानि                    | ... ३७८ |
| वातोदरस्य लक्षणानि                   | ... "   |
| पित्तोदरस्य लक्षणानि                 | ... ३७९ |
| कफोदरस्य लक्षणानि                    | ... ३८० |
| सन्निपातोदरस्य लक्षणानि              | ... "   |
| प्लीहोदरस्य लक्षणानि                 | ... ३८१ |
| अत्र दोषाणां सम्बन्धः                | ... ३८२ |
| बद्धगुदोदरस्य लक्षणम्...             | ... "   |
| परिस्त्राव्युदरस्य लक्षणम्           | ... ३८३ |
| जलोदरस्य लक्षणानि                    | ... ३८४ |

| विषयाः                         | पृष्ठाङ्काः |
|--------------------------------|-------------|
| उदररोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ... | ३८५         |
| साध्यानामप्यवस्थाविशेषेण       |             |
| साध्यत्वम् ...                 | ३८६         |

अथ शोथनिदानम् ।

|                                   |     |
|-----------------------------------|-----|
| शोथस्य सम्प्राप्तिः ...           | ३८७ |
| शोथरोगस्य पूर्वरूपाणि ...         | ३८८ |
| „ कारणानि ...                     | ”   |
| „ सामान्यलक्षणानि ...             | ३८९ |
| वातजशोथस्य लक्षणानि ...           | ”   |
| पित्तजशोथस्य लक्षणानि ...         | ३९० |
| कफजशोथस्य लक्षणानि ...            | ”   |
| द्वि-त्रि-दोषजशोथस्य लक्षणानि ... | ”   |
| अभिघातजशोथस्य लक्षणम् ...         | ३९१ |
| विषजशोथस्य लक्षणम् ...            | ”   |
| शोथस्य स्थानानि ...               | ३९२ |
| „ साध्यासाध्यत्वम् ...            | ”   |

अथ वृद्धिरोगस्य निदानम् ।

|                                   |     |
|-----------------------------------|-----|
| वृद्धिरोगस्य सम्प्राप्तिः ...     | ३९४ |
| वातजादिमूत्रजान्तवृद्धीनां क्रमेण |     |
| लक्षणानि ...                      | ३९५ |
| अन्तर्वृद्धेर्लक्षणानि ...        | ३९६ |

गलगण्ड-गण्डमाला-अपचीग्रन्थ-

बुदरोगाणां निदानम् ।

|                             |     |
|-----------------------------|-----|
| गलगण्डरोगस्य निदानम् ...    | ३९८ |
| „ सम्प्राप्तिः ...          | ”   |
| वातिकगलगण्डस्य लक्षणम् ...  | ३९९ |
| कफजगलगण्डस्य लक्षणम् ...    | ”   |
| मेदोजगलगण्डस्य लक्षणम् ...  | ४०० |
| गलगण्डस्यासाध्यलक्षणानि ... | ”   |
| गण्डमालारोगस्य लक्षणानि ... | ”   |
| अपचीरोगस्य लक्षणम् ...      | ४०१ |
| ग्रन्थिरोगस्य निदानम् ...   | ४०२ |
| वातजग्रन्थेर्लक्षणानि ...   | ४०३ |
| पित्तजग्रन्थेर्लक्षणानि ... | ”   |

| विषयाः                             | पृष्ठाङ्काः |
|------------------------------------|-------------|
| कफजग्रन्थेर्लक्षणानि ...           | ४०३         |
| मेदोजग्रन्थेर्लक्षणानि ...         | ४०४         |
| सिराजग्रन्थेर्लक्षणानि ...         | ”           |
| अर्बुदरोगस्य सम्प्राप्तिः ...      | ४०५         |
| रक्तार्बुदस्य लक्षणानि ...         | ४०६         |
| मांसार्वुदस्य सम्प्राप्तिः ...     | ४०७         |
| अर्बुदरोगस्य साध्यासाध्यविचारः ... | ”           |
| अध्यर्बुदरोगस्य लक्षणम् ...        | ४०८         |
| अर्बुदस्यापाके कारणानि ...         | ”           |

अथ श्लीपदरोगनिदानम् ।

|                                     |     |
|-------------------------------------|-----|
| श्लीपदस्य सम्प्राप्तिः ...          | ४०९ |
| वातजश्लीपदस्य लक्षणम् ...           | ”   |
| पित्तजश्लीपदस्य लक्षणम् ...         | ४१० |
| कफजश्लीपदस्य लक्षणम् ...            | ”   |
| अथैषामसाध्यत्वम् ...                | ”   |
| श्लीपदेषु कफस्य प्राधान्यम् ...     | ”   |
| श्लीपदरोगस्योत्पत्तौ देशविशेषाः ... | ४११ |
| श्लीपदरोगस्य पुनरप्यसाध्यत्वम् ...  | ”   |

अथ विद्रधिनिदानम् ।

|                                  |     |
|----------------------------------|-----|
| विद्रधिरोगस्य सम्प्राप्तिः ...   | ४१२ |
| वातजविद्रधेर्लक्षणानि ...        | ४१३ |
| पित्तजविद्रधेर्लक्षणानि ...      | ”   |
| कफजविद्रधेर्लक्षणानि ...         | ”   |
| पाकानन्तरं संजातास्त्रावस्य      |     |
| लक्षणम् ...                      | ४१४ |
| साम्निपातिकविद्रधेर्लक्षणानि ... | ”   |
| अभिघातजविद्रधेर्लक्षणानि ...     | ४१५ |
| रक्तजविद्रधेर्लक्षणम् ...        | ”   |
| अन्तर्विद्रधेर्लक्षणानि ...      | ४१६ |
| विद्रधीनां स्त्रावमार्गाः ...    | ४१७ |
| „ साध्यासाध्यत्वम् ...           | ४१८ |

अथ व्रणशोथनिदानम् ।

|                        |     |
|------------------------|-----|
| व्रणशोथस्य लक्षणम् ... | ४१९ |
|------------------------|-----|

| विषयाः                                 | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                               | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|--------------------------------------|-------------|
| ॥ वातादिभेदेन विशेषलक्षणानि            | ४२०         | अथैषां मर्मविद्वानां लक्षणातिदेशः... | ४३७         |
| आमव्रणशोथस्य लक्षणानि                  | ...         | मांसक्षतस्य लक्षणम्                  | ...         |
| पच्यमानव्रणशोथस्य लक्षणानि             | ...         | सर्वेषां व्रणानां सामान्योपद्रवाः    | ४३८         |
| परिपक्वव्रणशोथस्य लक्षणानि             | ४२१         | अथ भग्ननिदानम् ।                     |             |
| पाककाले दोषाणां सम्बन्धः               | ४२२         | भग्नस्य भेदाः                        | ...         |
| निःशेषानिःसृतस्य पूयस्य दोषः           | ४२३         | सन्धिभग्नस्य लक्षणानि                | ...         |
| व्रणस्यामपक्वाद्विज्ञानाज्ञाने गुणदोषौ | ॥           | उत्पिष्टादीनां लक्षणानि              | ...         |
| अथ शारीरव्रणनिदानम् ।                  |             | काण्डे भग्नस्य भेदा लक्षणानि च       | ...         |
| व्रणस्य भेदाः                          | ...         | ॥ ॥ नामानुसारि लक्षणम्               | ४४२         |
| रक्तजव्रणे दाषाणां सम्बन्धः            | ४२५         | ॥ ॥ कष्टसाध्यत्वम्                   | ...         |
| व्रणानां साध्यासाध्यत्वम्              | ...         | ॥ ॥ असाध्यत्वम्                      | ४४३         |
| दुष्टव्रणस्य लक्षणम्                   | ४२६         | सर्वेषां भग्नानामनवधानादसाध्यत्वम्   | ४४४         |
| शुद्धव्रणस्य लक्षणानि                  | ...         | अस्थिविशेषेण भग्नविशेषः              | ...         |
| रुद्धमाणव्रणस्य लक्षणानि               | ४२७         | अथ नाडीव्रणनिदानम् ।                 |             |
| सम्यगुरुढस्य लक्षणम्...                | ...         | नाडीव्रणस्य संप्राप्तिः              | ...         |
| व्रणानां कृच्छ्रसाध्यत्वम्             | ४२८         | नाडीशब्दस्य निरुक्तिः                | ...         |
| व्रणानां गन्धविशेषेणासाध्यत्वम्        | ...         | नाडीव्रणस्य संख्याः                  | ...         |
| व्रणानामसाध्यलक्षणानि                  | ४२९         | वातजनाड्या लक्षणम्                   | ...         |
| अथ सद्योव्रणनिदानम् ।                  |             | पित्तजनाड्या लक्षणम्                 | ...         |
| आगन्तुव्रणानां लक्षणानि                | ४३०         | कफजनाड्या लक्षणम्                    | ...         |
| छिन्नव्रणस्य लक्षणम्                   | ...         | त्रिदोषजनाड्या लक्षणम्               | ...         |
| भिन्नव्रणस्य लक्षणम्                   | ४३१         | शल्यजनाड्या लक्षणम्                  | ४४८         |
| अवयवविशेषाणां कोष्ठसंज्ञा तत्र गता     |             | नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वम्         | ...         |
| विकाराश्च                              | ...         | अथ भगन्दरनिदानम् ।                   |             |
| विद्वव्रणस्य लक्षणम्                   | ४३२         | भगन्दरस्य पूर्वरूपम्                 | ...         |
| क्षतव्रणस्य लक्षणम्                    | ४३३         | शतपोनकभगन्दरस्य लक्षणम्              | ४५०         |
| पिप्पित्तव्रणस्य लक्षणम्               | ...         | उष्ट्रशिरोधरस्य लक्षणम्              | ...         |
| घृष्टव्रणस्य लक्षणम्                   | ४३४         | परिस्राविणो लक्षणम्                  | ४५१         |
| सशल्यव्रणस्य लक्षणम्                   | ...         | शम्बूकावर्तस्य लक्षणानि              | ...         |
| कोष्ठभेदस्य लक्षणम्                    | ...         | उन्मार्गिणो लक्षणानि                 | ...         |
| असाध्यकोष्ठभेदस्य लक्षणम्              | ४३५         | भगन्दरस्य साध्यासाध्यत्वम्           | ४५२         |
| मांसशिरास्नाय्वस्थिसन्धिर्ममसु जातानां |             | ॥ असाध्यलक्षणानि                     | ...         |
| क्षतानां सामान्यलक्षणानि               | ...         | अथोपदंशनिदानम् ।                     |             |
| मर्मरहितानां सिरादीनां विद्वलक्षणानि   | ४३६         | उपदंशस्य कारणानि                     | ४५३         |

| विषयाः                           | पृष्ठाङ्काः |
|----------------------------------|-------------|
| वातिकोपदंशस्य लक्षणानि           | ... ४५३     |
| पैत्तिकोपदंशस्य लक्षणानि         | ... "       |
| रौधरोपदंशस्य लक्षणानि            | ... ४५४     |
| सान्निपातिकोपदंशस्य लक्षणानि     | ... "       |
| असाध्योपदंशस्य लक्षणानि          | ... "       |
| लिङ्गवर्त्यारोगस्य लक्षणानि      | ... ४५५     |
| अथ शूकदोषनिदानम् ।               |             |
| शूकरोगस्योत्पत्तिक्रमः           | ... ४५६     |
| सार्षपिकाया लक्षणम्              | ... ४५७     |
| अष्टीलिकाया लक्षणम्              | ... ४५७     |
| ग्रथितस्य लक्षणम्                | ... ४५८     |
| कुम्भिकाया लक्षणम्               | ... "       |
| अलज्या लक्षणम्                   | ... "       |
| मृदितस्य लक्षणम्                 | ... ४५९     |
| संमूढपिडकाया लक्षणम्             | ... "       |
| अधिमन्थस्य लक्षणम्               | ... "       |
| पुष्कारिकाया लक्षणम्             | ... ४६०     |
| स्पर्शहान्याख्यशूकरोगस्य लक्षणम् | ... "       |
| उत्तमाया लक्षणम्                 | ... "       |
| शतपोनकस्य लक्षणम्                | ... ४६१     |
| त्वक्पाकस्य लक्षणानि             | ... "       |
| शोणितार्बुदस्य लक्षणम्           | ... "       |
| मांसार्बुदस्य लक्षणम्            | ... ४६२     |
| मांसपाकस्य लक्षणम्               | ... "       |
| विद्रव्याख्यशूकरोगस्य लक्षणम्    | ... "       |
| तिलकालकस्य लक्षणम्               | ... ४६३     |
| अथैष्वसाध्यरोगाणां नामानि        | ... "       |
| अथ कुष्ठरोगनिदानम् ।             |             |
| कुष्ठोत्पत्तौ हेतवः              | ... ४६४     |
| कुष्ठरोगे दोषदूष्याणां संग्रहः   | ... ४६५     |
| महाकुष्ठानां सप्त भेदाः          | ... ४६६     |
| कुष्ठस्य पूर्वरूपम्              | ... ४६७     |
| सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणानि        | ... "       |
| एकादशक्षुद्रकुष्ठानां लक्षणानि   | ... ४६९     |
| वातजादिकुष्ठानां लक्षणानि        | ... ४७१     |

| विषयाः                                | पृष्ठाङ्काः |
|---------------------------------------|-------------|
| रसादिसप्तधातुगतकुष्ठानां लक्षणानि     | ४७२         |
| कुष्ठस्य साध्यादिभेदाः                | ... ४७४     |
| कुष्ठेषु दोषाणां सम्बन्धः             | ... "       |
| किलासकुष्ठस्य लक्षणम्                 | ... ४७५     |
| अस्य साध्यासाध्यत्वम्                 | ... ४७७     |
| संक्रामकरोगाणामुपसंख्यानम्            | ... ४७८     |
| अथ शीतपित्तोदरकाठनिदानम् ।            |             |
| शीतपित्तरोगस्य संप्राप्तिः            | ... ४७९     |
| " पूर्वरूपाणि                         | ... "       |
| उदररोगस्य लक्षणानि                    | ... "       |
| " लक्षणान्तरम्                        | ... ४८०     |
| कोठरोगस्य लक्षणानि                    | ... "       |
| अथाम्लपित्तनिदानम् ।                  |             |
| अम्लपित्तस्य सहेतुकं स्वरूपम्         | ... ४८१     |
| " लक्षणानि                            | ... ४८२     |
| अधोगताम्लपित्तस्य लक्षणानि            | ... "       |
| ऊर्ध्वगामिनोऽम्लपित्तस्य लक्षणानि     | ४८३         |
| अम्लपित्तरोगस्य साध्या-               |             |
| साध्यत्वम्                            | ... "       |
| अत्र वातश्लेष्मणोः सम्बन्धः           | ... ४८४     |
| अथ विसर्परोगनिदानम् ।                 |             |
| विसर्परोगस्य हेतवो भेदाश्च            | ... ४८५     |
| विसर्पाणां समुत्पत्तौ दोषदूष्यसंबन्ध- |             |
| स्तललक्षणानि च                        | ... ४८६     |
| अग्निविसर्पस्य लक्षणानि               | ... ४८७     |
| ग्रन्थिविसर्पस्य लक्षणानि             | ... ४८८     |
| कर्दमविसर्पस्य लक्षणानि               | ... "       |
| क्षतविसर्पस्य लक्षणानि                | ... ४८९     |
| विसर्पस्य साध्यासाध्यलक्षणानि         | ... ४९०     |
| अथ विस्फोटनिदानम् ।                   |             |
| विस्फोटकरोगस्य हेतवः                  | ... ४९१     |
| विस्फोटकानां लक्षणानि                 | ... "       |
| सान्निपातिकविस्फोटकस्य लक्षणानि       | ४९२         |
| रक्तजीविस्फोटकस्य लक्षणानि            | ... ४९३     |

| विषयाः                                      | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                         | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|--------------------------------|-------------|
| <b>अथ मसूरिकानिदानम् ।</b>                  |             | कदरस्य लक्षणम् ...             | ५०९         |
| मसूरिकारोगस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः ४९३ |             | अलसस्य लक्षणम् ...             | ५१०         |
| मसूरिकायाः पूर्वरूपाणि ... ४९४              |             | इन्द्रलुप्तस्य लक्षणम् ...     | ५११         |
| वातजमसूरिकाया लक्षणानि ... "                |             | दारुणकस्य लक्षणम् ...          | ५११         |
| पित्तजमसूरिकाया लक्षणानि ... "              |             | अरुंधिकाया लक्षणम् ...         | ५११         |
| रक्तजमसूरिकाया लक्षणानि ... ४९५             |             | पालितस्य लक्षणम् ...           | ५१२         |
| कफजमसूरिकाया लक्षणानि ... "                 |             | युवानपिडकाया लक्षणम् ...       | ५१४         |
| सन्निपातिकमसूरिकाया लक्षणानि ... "          |             | पद्मिनीकिण्टकस्य लक्षणम् ...   | ५१४         |
| रोमान्तिकाया लक्षणानि ... ४९६               |             | जतुमणेलक्षणम् ...              | ५१५         |
| रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लक्षणानि ... "    |             | मषकस्य लक्षणम् ...             | ५१५         |
| मुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः ... ४९७         |             | तिलकालकस्य लक्षणम् ...         | ५१६         |
| असाध्यमसूरिकाणां लक्षणानि ... ४९८           |             | न्यच्छस्य लक्षणम् ...          | ५१७         |
| सर्वासां मसूरिकाणामावस्थिकलक्षणानि ... "    |             | व्यङ्गस्य लक्षणम् ...          | ५१७         |
| मसूरिकायाः सामान्यासाध्यलक्षणम् ४९९         |             | नीलिकाया लक्षणम् ...           | ५१७         |
| " उपद्रवाः ... "                            |             | परिवातकाया लक्षणम् ...         | ५१८         |
| <b>अथ क्षुद्ररोगनिदानम् ।</b>               |             | अवपाटिकाया लक्षणम् ...         | ५१९         |
| अजगल्लिकारोगस्य लक्षणम् ... ५००             |             | निरुद्धप्रकशस्य लक्षणम् ...    | ५१९         |
| यवप्रख्याया लक्षणम् ... "                   |             | सन्निरुद्धगुदस्य लक्षणम् ...   | ५२०         |
| अन्त्रालज्या लक्षणम् ... ५०१                |             | अहिपूतनस्य लक्षणम् ...         | ५२१         |
| विवृताया लक्षणम् ... "                      |             | वृषणकच्छा लक्षणम् ...          | ५२१         |
| कच्छपिकाया लक्षणम् ... "                    |             | गुदभ्रंशस्य लक्षणम् ...        | ५२२         |
| वल्मीकस्य लक्षणम् ... ५०२                   |             | शूकरदंष्ट्रकस्य लक्षणम् ...    | ५२२         |
| इन्द्रविद्धाया लक्षणम् ... "                |             | <b>अथ मुखरोगनिदानम् ।</b>      |             |
| गर्दभिकाया लक्षणम् ... "                    |             | मुखरोगस्य हेतवः ...            | ५२३         |
| पाषाणगर्दभस्य लक्षणम् ... ५०३               |             | वातजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...     | ५२३         |
| पनसिकाया लक्षणम् ... "                      |             | पैत्तिकौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...  | ५२३         |
| जालगर्दभस्य लक्षणम् ... "                   |             | कफजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...      | ५२४         |
| इरिवेल्लिकाया लक्षणम् ... ५०४               |             | त्रिदोषजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ... | ५२४         |
| कक्ष्याया लक्षणम् ... "                     |             | रक्तजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...    | ५२४         |
| गन्धमालाया लक्षणम् ... ५०५                  |             | मांसजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...    | ५२५         |
| अग्निरोहिणीरोगस्य लक्षणम् ... "             |             | मेदोजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...    | ५२५         |
| चिप्पाख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम् ... ५०६      |             | अभिघातजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ...  | ५२५         |
| अनुशयीरोगस्य लक्षणम् ... "                  |             | शीतादस्य लक्षणम् ...           | ५२६         |
| विदारोरोगस्य लक्षणम् ... "                  |             | दन्तपुष्पकस्य लक्षणम् ...      | ५२६         |
| शर्कराख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम् ... ५०८      |             | दन्तवेष्टस्य लक्षणम् ...       | ५२७         |
| वाददार्ढ्या लक्षणम् ... ५०९                 |             |                                |             |



| विषयाः                        | पृष्ठाङ्काः । | विषयाः                                     | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------|---------------|--|-------------|
| शौषिरस्य लक्षणम् ...          | ५२७           | गलौघस्य लक्षणम् ...                        | ५४४         |
| महाशौषिरस्य लक्षणम् ...       | "             | स्वरन्नस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| परिदरस्य लक्षणम् ...          | ५२८           | मांसतानस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| उपकुशस्य लक्षणम् ...          | "             | विदार्या लक्षणम् ...                       | ५४५         |
| वैदर्भस्य लक्षणम् ...         | ५२९           | सर्वसरस्य लक्षणम् ...                      | "           |
| खलिवर्द्धनस्य लक्षणम् ...     | "             | असाध्यमुखरोगाणां लक्षणानि ...              | ५४६         |
| करालस्य लक्षणम् ...           | "             | <b>अथ कर्णगतारोगनिदानम् ।</b>              |             |
| अधिमांसकस्य लक्षणम् ...       | ५३०           | कर्णशूलस्य लक्षणम् ...                     | ५४७         |
| दन्तनाडीनां लक्षणानि ...      | "             | कर्णनादस्य लक्षणम् ...                     | ५४८         |
| दालनस्य लक्षणम् ...           | "             | बाधिर्यस्य लक्षणम् ...                     | ५४९         |
| क्रिमिदन्तकस्य लक्षणम् ...    | ५३१           | कर्णक्षेत्रेडस्य लक्षणम् ...               | "           |
| भञ्जनकस्य लक्षणम् ...         | "             | कर्णस्त्रावस्य लक्षणम् ...                 | "           |
| दन्तहर्षस्य लक्षणम् ...       | ५३२           | कर्णकण्डूदिरोगाणां लक्षणानि ...            | ५५०         |
| दन्तशर्कराया लक्षणम् ...      | "             | क्रिमिकर्णकस्य लक्षणानि ...                | ५५१         |
| कपालिकाया लक्षणम् ...         | ५३३           | कर्णप्रविष्टकीटानां लक्षणानि ...           | "           |
| श्यावदन्तस्य लक्षणम् ...      | "             | कर्णविद्र्वलक्षणानि ...                    | ५५२         |
| दन्तविद्र्वलक्षणम् ...        | ५३४           | कर्णपाकस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| जिह्वारोगाणां लक्षणानि ...    | "             | पूतिकर्णस्य लक्षणम् ...                    | ५५३         |
| अलासरोगस्य लक्षणम् ...        | ५३५           | कर्णशोथ-कर्णवृद्ध-कर्णार्शसां लक्षणानि ... | "           |
| उपजिह्वाया लक्षणम् ...        | "             | चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयस्य लक्षणानि ...      | ५५४         |
| कण्ठशुण्ड्या लक्षणम् ...      | "             | परिपोटकस्य लक्षणम् ...                     | ५५५         |
| तुण्डिकेया लक्षणम् ...        | ५३६           | उत्पातस्य लक्षणम् ...                      | "           |
| अधुषस्य लक्षणम् ...           | "             | उन्मन्थक-दुःखवर्धनयोर्लक्षणानि ...         | "           |
| कच्छपस्य लक्षणम् ...          | "             | परिलेहिनो लक्षणम् ...                      | ५५६         |
| तालवर्बुदस्य लक्षणम् ...      | ५३७           | <b>अथ नासारोगनिदानम् ।</b>                 |             |
| तालुपुण्ड्रस्य लक्षणम् ...    | "             | पीनसारोगस्य लक्षणम् ...                    | ५५७         |
| रोहिणीरोगस्य संप्राप्तिः...   | ५३८           | पूतिनस्यस्य लक्षणम् ...                    | ५५८         |
| वातजादिरोहिणीनां लक्षणानि ... | ५३९           | नासापाकस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| कण्ठशालूकस्य लक्षणम् ...      | ५४०           | पूयरक्तस्य लक्षणम् ...                     | ५५९         |
| अधिजिह्वकस्य लक्षणम् ...      | "             | क्षवथुरोगस्य लक्षणम् ...                   | "           |
| बलयस्य लक्षणम् ...            | ५४१           | आगन्तुजक्षवथोर्लक्षणम् ...                 | "           |
| बलाशस्य लक्षणम् ...           | "             | भ्रंशथुरोगस्य लक्षणम् ...                  | ५६०         |
| एकवृन्दस्य लक्षणम् ...        | "             | दीप्तस्य लक्षणम् ...                       | "           |
| वृन्दस्य लक्षणम् ...          | ५४२           | प्रतीनाहस्य लक्षणम् ...                    | ५६१         |
| शतघ्नीरोगस्य लक्षणम् ...      | ५४३           | नासास्त्रावस्य लक्षणम् ...                 | "           |
| बलायुरोगस्य लक्षणम् ...       | "             | नासाशोषस्य लक्षणम् ...                     | "           |
| गलविद्र्वलक्षणम् ...          | ५४३           | आमपक्वपीनस्योर्लक्षणम् ...                 | ५६३         |

| विषयाः   | पृष्ठाङ्काः | विषयाः  | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|---|-------------|
| प्रतिश्यायरोगस्य संप्राप्तिः ...                     | ५६२         | तृतीयपटलगतदोषस्य लक्षणम् ...                            | ५८५         |
| “ पूर्वरूपणि ...                                     | ५६४         | अथान्येऽपि दृष्टिविकाराः ...                            | ५८६         |
| वातजादिप्रतिश्यायानां लक्षणानि ...                   | “           | चतुर्थपटलगतदोषस्य लक्षणानि ...                          | ५८७         |
| साम्निपातिकप्रतिश्यायस्य लक्षणम्                     | ५६५         | तस्यैव लिङ्गनाशस्य नामान्तरम् ...                       | “           |
| बुधप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ...                         | ५६६         | दोषभेदाद् विचित्ररूपदर्शनम् ...                         | ५८८         |
| रक्तजप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ...                       | ५६७         | परिम्लायिसंज्ञकतिमिरस्य लक्षणम्                         | ५९०         |
| असाध्यप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ...                      | “           | तिमिरस्य षाड्विध्यम् ...                                | ५९१         |
| प्रवृद्धप्रतिश्यायानां विकारान्तरकर्तृ-<br>त्वम् ... | ५६८         | वातादिरागोद्देशः ...                                    | “           |
| अन्येऽपि नासारोगाः ...                               | “           | अथात्र वातिकरागस्यैव वैशिष्ट्यम् ...                    | ५९२         |
| <b>अथ नेत्ररोगाणां निदानम् ।</b>                     |             | परिम्लायितिमिरस्य विशेषलक्षणानि                         | “           |
| नेत्ररोगस्य हेतवः ...                                | ५६९         | लिङ्गनाशस्य विशिष्टलक्षणानि ...                         | ५९३         |
| अभिभ्यन्दरोगस्य प्रकाराः ...                         | ५७१         | नेत्ररोगाणां परिगणनम् ...                               | ५९४         |
| वाताभिष्यन्दस्य लक्षणम् ...                          | “           | पित्तविदग्धदृष्टेलक्षणानि ...                           | “           |
| पौत्तिकभिष्यन्दस्य लक्षणम् ...                       | ५७२         | श्लेष्माविदग्धदृष्टेलक्षणानि ...                        | ५९५         |
| श्लैष्मिकाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ...                    | “           | धूमदर्शिनो लक्षणानि ...                                 | “           |
| रक्तजाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ...                        | “           | ह्रस्वजाड्यरोगस्य लक्षणम् ...                           | ५९६         |
| अधिमन्थस्य लक्षणम् ...                               | ५७३         | नकुलान्ध्यरोगस्य लक्षणम् ...                            | “           |
| अथात्रदोषभेदेन कालावधिः ...                          | “           | गम्भीरिकाया लक्षणम् ...                                 | ५९७         |
| सामनेत्ररोगस्य लक्षणम् ...                           | ५७४         | आगन्तुजलिङ्गनाशस्य लक्षणानि ...                         | “           |
| निरामनेत्ररोगस्य लक्षणम् ...                         | “           | अर्मरोगस्य पञ्चभेदास्तत्र प्रस्ताय-<br>मणो लक्षणानि ... | ५९९         |
| सशोथाक्षिपाकस्य लक्षणम् ...                          | “           | शुक्लार्मणो लक्षणम् ...                                 | “           |
| अधिमन्थस्य लक्षणम् ...                               | ५७५         | रक्तार्मणो लक्षणम् ...                                  | “           |
| वातपर्यायस्य लक्षणम् ...                             | ५७६         | अधिमांसार्मणो लक्षणम् ...                               | ६००         |
| शुष्काक्षिपाकस्य लक्षणम् ...                         | “           | स्नाय्वर्मणो लक्षणम् ...                                | “           |
| अन्यतो वातस्य लक्षणम् ...                            | ५७७         | शुक्तिरोगस्य लक्षणम् ...                                | “           |
| अम्लाव्युषितस्य लक्षणम् ...                          | “           | अर्जुनस्य लक्षणम् ...                                   | ६०१         |
| सिरोत्पातस्य लक्षणम् ...                             | “           | पिष्टकस्य लक्षणम् ...                                   | “           |
| सिराप्रहर्षस्य लक्षणम् ...                           | ५७८         | जालाख्यनेत्ररोगस्य लक्षणम् ...                          | ६०२         |
| सत्रणशुक्लस्य लक्षणम् ...                            | “           | सिराजपिडकाया लक्षणम् ...                                | “           |
| “ साध्यासाध्यत्वम् ...                               | ५७९         | बलासप्रथितस्य लक्षणम् ...                               | ६०३         |
| अत्रणशुक्लस्य लक्षणम् ...                            | “           | पूयालसस्य लक्षणम् ...                                   | “           |
| “ कृच्छ्रसाध्यत्वम् ...                              | ५८०         | श्लेष्मोनाहस्य लक्षणम् ...                              | ६०४         |
| अथास्यासाध्यलक्षणानि ...                             | ५८१         | चतुर्णां स्रावणां लक्षणानि ...                          | ६०५         |
| अक्षिपाकात्ययस्य लक्षणम् ...                         | ५८२         | पूयास्रावस्य लक्षणम् ...                                | ६०६         |
| अजकाजातस्य लक्षणम् ...                               | “           | कफस्रावस्य लक्षणम् ...                                  | “           |
| प्रथमपटलस्यदोषाणां लक्षणानि ...                      | ५८३         | रक्तस्रावस्य लक्षणम् ...                                | “           |
| द्वितीयपटलस्यदोषस्य लक्षणम् ...                      | ५८४         |   |             |

| विषयाः                              | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                                | पृष्ठाङ्काः |
|-------------------------------------|-------------|---------------------------------------|-------------|
| जलस्रावस्य पित्तस्रावस्य वा लक्षणम् | ६०७         | अर्धावभेदकस्य लक्षणम् ... ..          | ६२८         |
| पर्वणीरोगस्य लक्षणम् ... ..         | "           | शङ्खकस्य लक्षणानि ... ..              | ६२९         |
| अलजीरोगस्य लक्षणम् ... ..           | ६०८         | अथासृग्दरनिदानम् ।                    |             |
| क्रिमिग्रन्थैर्लक्षणम् ... ..       | "           | प्रदररोगस्य सम्प्राप्तिः ... ..       | ६३०         |
| उत्सङ्गपिडकाया लक्षणम् ... ..       | ६०९         | " सामान्यलक्षणम् ... ..               | ६३१         |
| कुम्भीकाया लक्षणम् ... ..           | ६१०         | अतिप्रवृत्तस्यार्तवस्योपद्रवाः ... .. | "           |
| पोथकीनां लक्षणम् ... ..             | ६११         | प्रदरस्य विशेषलक्षणानि ... ..         | "           |
| वर्त्मशर्कराया लक्षणम् ... ..       | "           | विशुद्धार्तवस्य लक्षणम् ... ..        | ६३२         |
| अशौवर्त्मनो लक्षणम् ... ..          | "           | अथ योनिव्यापन्निदानम् ।               |             |
| शुष्काशौलक्षणम् ... ..              | ६१२         | योनिव्यापद्रोरोगस्य हेतवः ... ..      | ६३३         |
| अञ्जननामिकाया लक्षणम् ... ..        | "           | वातिकानामुदावर्तादियोनि-              |             |
| बहुलवर्त्मनो लक्षणम् ... ..         | ६१३         | व्यापत्तीनां लक्षणानि ... ..          | ६३४         |
| वर्त्मबन्धनस्य लक्षणम् ... ..       | "           | रक्तक्षयादीनां पैत्तिकव्यापत्तीनां    |             |
| क्लिष्टवर्त्मनो लक्षणम् ... ..      | "           | लक्षणानि ... ..                       | ६३५         |
| वर्त्मकर्मस्य लक्षणम् ... ..        | ६१४         | अत्यानन्दादिश्लैष्मिकयोनिव्यापदां     |             |
| श्याववर्त्मनो लक्षणम् ... ..        | "           | लक्षणानि ... ..                       | ६३६         |
| प्रक्लिष्टवर्त्मनो लक्षणम् ... ..   | ६१५         | अथ योनिकन्दनिदानम् ।                  |             |
| अपरिक्लिष्टवर्त्मनो लक्षणम् ... ..  | ६१६         | योनिकन्दस्य सम्प्राप्तिः ... ..       | ६३७         |
| घातहतवर्त्मनो लक्षणम् ... ..        | ६१७         | वातजादिभेदेनास्य लक्षणानि ... ..      | ६३८         |
| अर्बुदस्य लक्षणम् ... ..            | "           | अथ मूढगर्भनिदानम् ।                   |             |
| निमेषस्य लक्षणम् ... ..             | ६१८         | गर्भपातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः | ६३९         |
| शोणितार्शसो लक्षणम् ... ..          | "           | गर्भविद्रवपातयोः कालभेदाद्भेदः        | "           |
| लग्नकस्य लक्षणम् ... ..             | "           | गर्भस्याकालपाते सहेतुकं निदर्शनम्     | ६४०         |
| विसवर्त्मनो लक्षणम् ... ..          | ६१९         | मूढगर्भस्य निदानम् ... ..             | "           |
| कुञ्चनस्य लक्षणम् ... ..            | "           | मूढगर्भस्याष्टौ गतयः ... ..           | "           |
| पक्ष्मकोपस्य लक्षणम् ... ..         | ६२०         | संकीलकादीनां लक्षणानि ... ..          | ६४१         |
| पक्ष्मशातस्य लक्षणम् ... ..         | ६२१         | असाध्य-मूढगर्भ-गर्भिण्योर्लक्षणम्     | ६४३         |
| अथ शिरोरोगनिदानम् ।                 |             | मृतगर्भस्य लक्षणम् ... ..             | "           |
| शिरोरोगस्य भेदाः ... ..             | ६२२         | गर्भस्य मरणकारणानि ... ..             | "           |
| वातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..      | ६२३         | गर्भिण्या अपराण्यप्यसाध्यलक्षणानि     | ६४४         |
| पैत्तिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..    | "           | मक्कलरोगस्य लक्षणम् ... ..            | "           |
| श्लैष्मिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..  | ६२३         | अथ सूतिकारोगनिदानम् ।                 |             |
| सांनिपातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ... .. | ६२४         | सूतिकारोगस्य लक्षणम् ... ..           | ६४५         |
| रक्तजशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..      | "           | " हेतवः ... ..                        | "           |
| क्षयजशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..      | "           | अथ स्तनरोगनिदानम् ।                   |             |
| क्रिमिजशिरोरोगस्य लक्षणम् ... ..    | ६२६         | स्तनरोगस्य सम्प्राप्तिः ... ..        | ६४६         |
| सूर्यावर्तारोगस्य लक्षणम् ... ..    | "           |                                       |             |
| अनन्तवातरोगस्य लक्षणम् ... ..       | ६२७         |                                       |             |

| विषयाः                                   | पृष्ठाङ्काः | विषयाः                               | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|--------------------------------------|-------------|
| अस्यातिदैर्घिकं लक्षणम् ...              | ६४७         | किञ्चिदवस्थान्तरगतस्यास्यैव विषयस्य  |             |
| अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम् ।                 |             | दूषीविषसंज्ञा ...                    | ६६५         |
| स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः ...           | ६४८         | दूषीविषस्य लक्षणानि ...              | ६६६         |
| ” लक्षणानि ...                           | ”           | अथैतस्य स्थानविशेषास्थित्या          |             |
| विशुद्धस्तन्यस्य लक्षणानि ...            | ६४९         | विशिष्टलक्षणानि ...                  | ”           |
| अथ बालरोगनिदानम् ।                       |             | रसादिधातुगतदूषीविषस्य लक्षणानि       | ६६७         |
| बातादिदुष्टस्तन्यपानाज्जातानां बाल-      |             | नानाविधविषस्थानेकविकारकर्तृत्वम्     | ६६८         |
| रोगाणां लक्षणानि ...                     | ६५०         | दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिः ...         | ”           |
| वक्तुमक्षमशिशोरान्तरीयवेदनाविज्ञानम्     | ”           | कृत्रिमविषस्य लक्षणानि ...           | ६६९         |
| कुक्कूणकरोरुस्य लक्षणम् ...              | ६५१         | लूताविषस्योत्पत्तिः ...              | ६७०         |
| पारिगर्भिकस्य लक्षणानि ...               | ६५२         | लूतादशस्य सामान्यलक्षणानि ...        | ६७१         |
| तालुकण्टकस्य लक्षणानि ...                | ”           | दूषीविषाख्यलूतानां दशलक्षणानि-       | ”           |
| महापद्माविषस्य लक्षणानि ...              | ६५३         | प्राणहरलूतानां दशलक्षणानि ...        | ६७२         |
| अजगल्ल्यहिपूतनयोर्बालकेषु प्रभाववत्त्वम् | ”           | आखुदूषीविषस्य लक्षणानि ...           | ”           |
| अन्येषामपि रोगाणां बालकेष्वतिदेशः        | ”           | प्राणहरमूषकविषस्य लक्षणानि ...       | ”           |
| स्कन्दादिबालप्रहृहीतानां शिशूनां         |             | कृकलासदृष्टस्य लक्षणम् ...           | ६७३         |
| सामान्यलक्षणानि ...                      | ६५४         | वृश्चिकविषस्य लक्षणानि ...           | ”           |
| अथैषां विशेषलक्षणानि ...                 | ६५५         | कणभदृष्टस्य लक्षणानि ...             | ६७४         |
| स्कन्दापस्मारस्य लक्षणानि ...            | ”           | उच्चैटिङ्गदृष्टस्य लक्षणम् ...       | ”           |
| शकुनीग्रहं गृहीतस्य शिशोर्लक्षणानि       | ”           | सविषमण्डकदृष्टस्य लक्षणम् ...        | ”           |
| रेवत्यादिबालप्रहृहीतानां शिशूनां         |             | गृहगोषिकादृष्टस्य लक्षणम् ...        | ”           |
| लक्षणानि ...                             | ५५६         | शतपदीदृष्टस्य लक्षणम् ...            | ६७५         |
| अथ विषरोगनिदानम् ।                       |             | मशकदृष्टस्य लक्षणम् ...              | ”           |
| विषस्य द्वैविध्यम् ...                   | ६५७         | सविषमाक्षिकादृष्टस्य लक्षणम् ...     | ”           |
| जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणम् ...           | ६५९         | नखदन्तयोः सामान्यविषलक्षणम्          | ६७६         |
| स्थावरविषस्य सामान्यलक्षणम् ...          | ”           | व्याघ्रादिहिंस्रजन्तूनां विषलक्षणानि | ”           |
| विषदातुः पुरुषस्य लक्षणम् ...            | ”           | आलर्कादिदृष्टस्य मरणचिह्नानि ...     | ६७७         |
| मूलादिविषाणां लक्षणानि ...               | ६६०         | निर्विषमनुष्यस्य लक्षणानि ...        | ”           |
| विषाक्तशस्त्राघातस्य विषपीतस्य च         |             | विषयानुक्रमणिका ...                  | ६७९         |
| लक्षणानि ...                             | ६६१         | ग्रन्थकारस्यान्तिमं निवेदनम् ...     | ६८०         |
| सर्पाणां कतिचिद्भेदाः ...                | ६६२         | माधवनिदानस्य परिशिष्टम् ।            |             |
| सर्पदंशेषु बातादीनां लक्षणानि ...        | ६६३         | शीतलानिदानम् ...                     | ६८१         |
| विशिष्टदेशादिषु दृष्टस्यासाध्यलक्षणानि   | ”           | फिरङ्गनिदानम् ...                    | ६८२         |
| फणिविषस्य कालवशादाशुघातित्वम्            | ”           | क्लैव्यनिदानम् ...                   | ”           |
| अपराण्यप्यसाध्यलक्षणानि ...              | ६६४         | सोमरोगस्य निदानम् ...                | ६८५         |
| सर्पदृष्टस्य सर्वथा वर्जनीयलक्षणानि      | ”           | स्नायुकनिदानम् ...                   | ६८६         |

श्रीहरिश्शरणम् ।

## मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् माधवनिदानम् ।

तत्र पारिभाषिकं पञ्चनिदानलक्षणम् ।

अथ ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ।

प्रणम्य जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारणम् ।  
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

मधुकोशः ।

अथ टीकाकर्तुर्मङ्गलम् ।

शशिरुचिरहरार्धव्यक्तसत्तार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।  
त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्यभ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥ १ ॥  
भट्टार-जेज्जट-गदाधर-वाप्यचन्द्र-श्रीचक्रपाणि-बकुलेश्वरसेन-भोजैः ।  
ईशान-कार्तिक-सुकीर-सुधीर-वैद्यैर्मैत्रेय-माधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥ २ ॥  
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्रः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः ।  
मत्पैरसर्वविदुरैर्विहिते क नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥ ३ ॥

तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।

अमरेणैव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥ ४ ॥

उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।

ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥ ५ ॥

अथ प्रथितसर्वायुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादित-  
त्त्वबुधुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्तितग्रन्थसंदर्भारम्भे तत्प्रत्यूहव्यू-  
हव्यपोहहेतुं परमात्ताचारपरम्परापरिमाणं स्वेष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत्; ग्रन्थ-  
श्रोतृणामपि विश्वेश्वरमहेश्वरस्य प्रणामानुवादमात्रादपि विन्नोपशमो भवतीत्यभिप्रा-

| विषयाः  | पृष्ठाङ्काः |
|---|-------------|
| अस्यातिदैशिकं लक्षणम्                                   | ... ६४७     |
| <b>अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम् ।</b>                         |             |
| स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः                              | ... ६४८     |
| ” लक्षणानि  | ... ”       |
| विशुद्धस्तन्यस्य लक्षणानि                               | ... ६४९     |
| <b>अथ बालरोगनिदानम् ।</b>                               |             |
| वातादिदुष्टस्तन्यपानाज्जातानां बाल-<br>रोगाणां लक्षणानि | ... ६५०     |
| वक्तुमक्षमशिशोरान्तरीयवेदनाविज्ञानम्                    | ”           |
| कुकूणरोगस्य लक्षणम्                                     | ... ६५१     |
| पारिगर्भिकस्य लक्षणानि                                  | ... ६५२     |
| तालुकण्ठकस्य लक्षणानि                                   | ... ”       |
| महापद्माविषस्य लक्षणानि                                 | ... ६५३     |
| अजगल्ल्यहिपूतनयोर्बालकेषु प्रभाववत्त्वम्                | ”           |
| अन्येषामपि रोगाणां बालकष्वतिदेशः                        | ”           |
| स्कन्दादिबालग्रहगृहीतानां शिशूनां<br>सामान्यलक्षणानि    | ... ६५४     |
| अथैषां विशेषलक्षणानि                                    | ... ६५५     |
| स्कन्दापस्मरस्य लक्षणानि                                | ... ”       |
| शकुनीग्रहगृहीतस्य शिशोर्लक्षणानि                        | ”           |
| रेवत्यादिबालग्रहगृहीतानां शिशूनां<br>लक्षणानि...        | ... ५५६     |
| <b>अथ विषरोगनिदानम् ।</b>                               |             |
| विषस्य द्वैविध्यम्                                      | ... ६५७     |
| जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणम्                              | ... ६५९     |
| स्थावरविषस्य सामान्यलक्षणम्                             | ... ”       |
| विषदातुः पुरुषस्य लक्षणम्                               | ... ”       |
| मूलादिविषाणां लक्षणानि                                  | ... ६६०     |
| विषाक्तशस्त्राघातस्य विषपीतस्य च<br>लक्षणानि            | ... ६६१     |
| सर्पाणां कतिचिद्भेदाः                                   | ... ६६२     |
| सर्पदेशेषु वातादीनां लक्षणानि                           | ... ६६३     |
| विशिष्टदेशादिषु दृष्टस्यासाध्यलक्षणानि                  | ”           |
| फणिविषस्य कालवशादाशुघातित्वम्                           | ”           |
| अपराण्यप्यसाध्यलक्षणानि                                 | ... ६६४     |
| सर्पदृष्टस्य सर्वथा वर्जनीयलक्षणानि                     | ”           |

| विषयाः                                       | पृष्ठाङ्काः |
|--|-------------|
| किञ्चिदवस्थान्तरगतस्याथैव विषस्य             |             |
| दूषीविषसंज्ञा                                | ... ६६५     |
| दूषीविषस्य लक्षणानि                          | ... ६६६     |
| अथैतस्य स्थानविशेषाभिर्या<br>विशिष्टलक्षणानि | ... ”       |
| रसादिधातुगतदूषीविषस्य लक्षणानि               | ... ६६७     |
| नानाविधविषस्थानेकविकारकर्तृत्वम्             | ... ६६८     |
| दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिः                     | ... ”       |
| कृत्रिमविषस्य लक्षणानि                       | ... ६६९     |
| लूताविषस्योत्पत्तिः                          | ... ६७०     |
| लूतादशस्य सामान्यलक्षणानि                    | ... ६७१     |
| दूषीविषाख्यलूतानां देशलक्षणानि-              | ”           |
| प्राणहरलूतानां देशलक्षणानि                   | ... ६७२     |
| आयुर्दूषीविषस्य लक्षणानि                     | ... ”       |
| प्राणहरमूपकविषस्य लक्षणानि                   | ... ”       |
| कृकलासदृष्टस्य लक्षणम्                       | ... ६७३     |
| वृश्चिकविषस्य लक्षणानि                       | ... ”       |
| कणभदृष्टस्य लक्षणानि                         | ... ६७४     |
| उच्चैटिङ्गदृष्टस्य लक्षणम्                   | ... ”       |
| सविषमण्डूकदृष्टस्य लक्षणम्                   | ... ”       |
| गृहगोधिकदृष्टस्य लक्षणम्                     | ... ”       |
| शतपदीदृष्टस्य लक्षणम्                        | ... ६७५     |
| मशकदृष्टस्य लक्षणम्                          | ... ”       |
| सविषमक्षिकादृष्टस्य लक्षणम्                  | ... ”       |
| नखदन्तयोः सामान्यविषलक्षणम्                  | ... ६७६     |
| व्याघ्रादिहिंस्रजन्तूनां विषलक्षणानि         | ... ”       |
| आलकादिदृष्टस्य मरणाचिह्नानि                  | ... ६७७     |
| निर्विषमनुष्यस्य लक्षणानि                    | ... ”       |
| विषयानुक्रमणिका                              | ... ६७९     |
| ग्रन्थकारस्यान्तिमं निवेदनम्                 | ... ६८०     |
| <b>माधवनिदानस्य परिशिष्टम् ।</b>             |             |
| शीतलानिदानम्                                 | ... ६८१     |
| फिरङ्गनिदानम्                                | ... ६८२     |
| कलैव्यनिदानम्                                | ... ”       |
| सोमरोगस्य निदानम्                            | ... ६८५     |
| स्नायुकनिदानम्                               | ... ६८६     |

श्रीहरिस्मरणम् ।

## मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् माधवनिदानम् ।

तत्र पारिभाषिकं पञ्चनिदानलक्षणम् ।

अथ ग्रन्थकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ।

प्रणम्य जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारणम् ।  
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

मधुकोशः ।

अथ टीकाकर्तुर्मङ्गलम् ।

शशिरुचिरहर्गार्धव्यक्तसत्तार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।  
त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्यभ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥ १ ॥  
भट्टार-जेज्जट-गदाधर-वाप्यचन्द्र-श्रीचक्रपाणि-चकुलेश्वरसेन-भोजेः ।  
ईशान-कार्तिक-सुकीर-सुधीर-वैद्यैर्मैत्रेय-माधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥ २ ॥  
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैव यतः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः ।  
मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥ ३ ॥

तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।

भ्रमरेणैव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥ ४ ॥

उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।

ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥ ५ ॥

अथ प्रथितसर्वार्थुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादित-  
त्त्वबुभुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्सितग्रन्थसंदर्भारम्भे तत्प्रत्युद्भव्य-  
हव्यपोहहेतुं परमाप्ताचारपरम्परापरिप्राप्तं स्वष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत्; ग्रन्थ-  
श्रोतृणामपि विश्वेश्वरमहेश्वरस्य प्रणामानुवादमात्रादपि विज्ञोपशमो भवतीत्यभिप्रा-

येण तं ग्रन्थादौ निबद्धवान्-प्रणम्येत्यादि । अत्र प्रशब्दो भक्त्यतिशयरूपा-  
 पकः । निबन्धनक्रियापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालभावित्वात् प्रणमेः क्त्वाप्रत्ययः ।  
 जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः क्षित्यादयोऽभिधीयन्ते; तेषामुत्पत्तौ=स्वकारणममवाये,  
 स्थितौ=कृतिचित्कालावस्थाने, संहारे=प्रध्वंसे, कारणम्=कर्तागम् । स्वर्गः=  
 सुखम्, अपवर्गो=मोक्षः, आत्यन्तिकदुःखानिवृत्तिलक्षणः, तयोर्द्वारमुपायम्=प्रधा-  
 नकारणम् । एतेन सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं, सुखावाप्तिदुःखहानिव्यातिरिक्तस्य पुरु-  
 षार्थस्याभावात् । अत एव त्रैलोक्यशरणं=त्रैलोक्यरक्षितारम् । न चोक्तजगत्स्थि-  
 तिकारणत्वेन पौनरुक्त्यं, जगच्छब्देनोत्पत्तिमतामेवाभिधानात् । अत्र तु त्रैलोक्य-  
 शब्दो भुवनत्रयवर्तिचेतनाचेतनसमूहवाची, लोकशब्दस्य भुवनजनयोरभिधायक-  
 त्वात् । तथा चामरः, “लोकस्तु भुवने जने”-इति । त्रैलोक्यमिति  
 स्वार्थे ष्यञ्, चातुर्वर्ण्यवत् । हरादिपर्यायान् परित्यज्य शिवपदनिर्देशेन ग्रन्थस्य  
 तदध्येतृणां च सकलकल्याणमभिलषन् शिवपदं निबद्धवान्; शिवकारित्वेनैव महे-  
 श्वरस्य शिवपदाभिधानमिति ॥ १ ॥

### आतङ्कदर्पणः ।

तुलसीकुसुमं दधत्तमालप्रातिमं वल्लविगोपबालसक्तम् ।  
 किमपि त्रिभुवैकमूलकन्दं परमानन्दमहं महः स्मरामि ॥ १ ॥  
 श्रीहृम्मीरनरेश्वरः समभवत्प्रीतिप्रतापानल,-  
 ज्वालाजालकरालदग्धपवनप्राग्भारशुष्केन्धनः ।  
 यस्य प्रौढसभाङ्गणेष्वपि यद्यः स्वर्लोककल्लोलिनी,-  
 कल्लोलमलमङ्गनाः सुमनसां गायन्ति रोमाञ्चिताः ॥ २ ॥  
 प्रत्यर्थिक्षितिनाथसार्थवनिताविधव्यदीक्षागुरोः,  
 शौर्यं यस्य रणाङ्गणे सुरगणैः पश्यन् सुराणां पतिः ।  
 लब्ध्वा नेत्रसहस्रजं फलमलं स्मृत्वा निजाम्यर्थितं,  
 रामं रावणवातिनं च समभूत्तुष्टो विलक्षः पुनः ॥ ३ ॥  
 तस्याभवद्द्वैधवरः प्रभूतविश्वासपात्रं विदितश्चरित्रैः ।  
 प्रमोदनामा सकलप्रमोदी कलाविलासैकनिधिर्द्विजेन्द्रः ॥ ४ ॥  
 ज्येष्ठोऽभवत्तस्य सुतः प्रशस्तशाल्मार्यवेत्ता शिवसक्तचेताः ।  
 रैशर्मनामा प्रथितः कलाभिर्महम्मदक्षोणिपतेः सभायाम् ॥ ५ ॥  
 अन्यश्च तस्यास्ति सुतः कनीयान् वाचस्पतिः सत्त्वगुणैकसङ्गः ॥  
 सहोदरप्रीतितमः समस्ता यो वैद्यविद्याः स्वयमध्यजीगपत् ॥ ६ ॥

१ “चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्” इति कस्मिंश्चित् पुस्तकेऽधिकः पाठः । २ “वीरप्रतापानल-”  
 इति पाठान्तरम् । ३ “सौशर्मनामा” इति पाठान्तरम् ।



भृगुवचनविचारैश्चारुचञ्चरित्रश्ररकचतुरचेताः सुश्रुते सुश्रुतो यः ।

कपिलमतवयस्ये ब्रह्मविद्यारहस्ये प्रकटितपटुबुद्धिर्बुद्धकाणादसिद्धिः ॥ ७ ॥

तेनोज्ज्वला विवृतिरल्पधियां हिताय संबध्यते विबुधमाधवसंग्रहस्य ।

विज्ञाय तार्किकवरैकविचारवेद्यं वैषम्यगुम्फनवशान्मधुकोपबन्धम् ॥ ८ ॥

तत्र ग्रन्थारम्भे प्रारब्धग्रन्थपरिसमाप्त्यर्थं ग्रन्थश्रोतृणामपि प्रत्यूहव्यूहव्युदासार्थं, शिष्टाचारपरिपालनार्थं, ग्रन्थकारः प्राग्विशिष्टेष्टदेवताप्रणामं निबद्धवान्—प्रणम्येत्यादि युगम् । मया रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यत इति संबन्धः । किं कृत्वा ? प्रणम्य । अत्र प्रकर्षार्थद्योतकेन प्रशब्देन ग्रन्थकृद्भक्त्यतिशयं ख्यापयति । कम् ? शिवम् । सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य नामवाहुल्येऽपि तदध्यापकाध्येतृणां कल्याणमभिलषन् ग्रन्थकारः शिवपदं निबद्धवान् । कीदृशं शिवम् ? जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारणम् । जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः पृथिव्यादयोऽभिधीयन्ते, तेषामुत्पत्तिः = स्वकारणसमवाये, स्थितौ = कतिचित्कालावस्थाने, संहारे = संहरणे, कारणम् = हेतुम् । पुनः कीदृशम् ? स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम् ; स्वर्गः = सुखम्, अपवर्गः = मोक्षः, तयोर्द्वारम् = उपायः = प्रधानकारणम् । पुनः कीदृशं ? त्रैलोक्यशरणम् = भुवनत्रयस्य रक्षितारम् ॥ १ ॥

अभिधेय-संबन्ध-प्रयोजनोपदेशमन्तरेण प्रेक्षावतां न प्रवृत्तिः स्यात्, इत्यतस्तदभिधानार्थमाह—

**नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात् ।**

**सोपद्रवारिष्ट-निदान-लिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम् ॥२॥**

म०—नानेत्यादि । रोगाणां विशेषेण=सौतजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादिरूपेण निश्चयो=ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यतेऽभिधीयते, 'अस्माभिः' इति शेषः । तस्य विशेषणं—सोपद्रवेत्यादि ।—सह उपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा । एतेन विशेषणद्वारेण उपद्रवारिष्ट-निदान-लिङ्ग-स्वरूपमभिधेयमुक्तं भवति, एतद्व्यतिरिक्तस्याभिधेयस्याभावात् । तथा सति उपद्रवादिभिरभिधेयैः सह ग्रन्थस्य वाच्य-वाचकलक्षणः संबन्धोऽप्यभिहितः । तत्र, उपद्रवो=रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्य-विकारः, उक्तं च चरके—“व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते”—इति । नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टं; निदानम्=रोगोत्पादको हेतुः; लिङ्गं=रोगख्यापको हेतुः । तेन 'लिङ्गच्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन' इति व्युत्पत्त्या पूर्वरूप रूपोपशय सम्प्राप्तयोऽभिधीयन्ते । यद्यपि निदानमपि रोगविशेषं बोधयति, तथाऽप्युत्पत्ति-ज्ञप्ति-हेतुत्वेन कारणद्विविध्यप्रतिपादनार्थं तस्य पृथगभिधानम् । एषां

१ “गुरुवचन” इति पाठान्तरम् । २ “वासादिजत्व” इति पाठान्तरम् । ३ “एतेनास्य विशेषणद्वारा” इति पाठान्तरम् । ४ “एतद्व्यतिरेकेणास्य ग्रन्थस्य” इति पाठान्तरम्, “एतद्व्यतिरेकेणाभिधेयाभावात्” इत्यपि पाठान्तरम् । ५ ‘सति’ इति पाठः कुत्रचित्पुस्तके न विद्यते ।

चोपद्रवादीनां विस्तराभिधानं यथावसरं करिष्यते । ननु, रोगनिदानादितत्त्वमति-  
सूक्ष्मत्वेनासर्वज्ञस्य न ज्ञानविषयः, तत्कथं तदुपदेशे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरित्यत  
आह—नानामुनीनामित्यादि । एतेन ग्रन्थस्य प्रामाण्यं प्रवृत्त्यङ्गत्वमुक्तं  
भवति; मुनयो हि तपोयोगार्धिवलाच्चैकालिकनिखिलज्ञानशालिनः पुरुषातिशया  
उच्यन्ते । ननु, यद्येवंभूतः कस्यचिद् ग्रन्थोऽन्योऽप्यास्ते तेनैव व्यवहारसिद्धेः कृत-  
कार्यत्वेनास्य निष्प्रयोजनता स्यादित्यत आह—इदानीमित्यादि ।—इदानीम-  
स्माभिरेव प्राथम्येन नानामुनीनां वचनैरेवंविधो निबन्धः क्रियते । समासत इति  
संक्षेपतः । एतेनाल्पबुद्धीनामतिविस्तरत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गतादोषः परिहृतो भवति । ननु,  
कृतेऽपि ग्रन्थेऽनुपादेयपुरुषप्रणीतत्वेन न कश्चिद्विषयः प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य  
वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—सद्विषयां नियोगादिति । नियोगो=नियोजनम्  
“अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियताम्” इत्येवं प्रार्थनेत्यर्थः; । अथवा नियोग=आज्ञा,  
एतेनात्मनः सविनयत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

आ०—नानामुनीनामित्यादि । अयं रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यते = विधीयते, रोगाणां  
विनिश्चयो = ज्ञानं यस्मात्स तथा किंविशिष्टः ? सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गः; सहोपद्रवादभिर्वर्तित  
इति सोपद्रवः, उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्यो विकारः । उक्तं च चरके—“व्याधेरुपरि यो  
व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते ॥”—इति; नियतमरणख्यापकं लिङ्गम-  
रिष्टं निदानं रोगोत्पादको हेतुः, निश्चीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानं; लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः,  
त्तेन लिङ्गयते ज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या पूर्वरूपरूपोपशयसंप्राप्तयो विशयन्त इति । ननु, सर्वज्ञज्ञानविषये  
परमसूक्ष्मनिदानादितत्त्वज्ञानेऽसर्वज्ञपुरुषार्थः कथं बुद्धिमतां प्रवृत्तिरित्यत आह—नानामुनीनां  
वचनैरिति । योगार्धिवलाच्चैकालिकज्ञानदर्शी पुरुषातिशयो मुनिरुच्यते । इदानीमिति—अस्माभिरेव  
प्राधान्येन नानामुनीनां वचनैरेवंविधो ग्रन्थः क्रियते; अन्यैराचार्यैरेवंविधो ग्रन्थो न कृत इत्यर्थः ।  
समासत इति संक्षेपात् । ननु, कृतेऽपि ग्रन्थे न कश्चिद्विषयः प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य वैयर्थ्यं  
स्यादित्यत आह—सद्विषयां नियोगादिति ।—नियोगो नियोजनं, अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियतामेवं-  
भूता प्रार्थनेत्यर्थः ॥ २ ॥

ग्रन्थस्योत्कृष्टत्वम् ।

ननु नानामुनिवचनबाहुल्यादल्पमेधसां कथं प्रवृत्तिरित्यत आह—

नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम् ।

मुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

म०—नानातन्त्रेत्यादि । मुखं यथा भवति तथा आतङ्कं=रोगं विज्ञातुमय-  
मेव ग्रन्थो भविष्यति, “कारणम्” इति शेषः । एतेन रोगज्ञानं प्रयोजनमित्युक्तं

फलं चास्य चिकित्सितमिति मन्तव्यम् । यदुक्तं चरके—“ रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ”—इति (च. सू. स्था. अ. २०) । ननु, नानामुनीनां वचनैरेव रोगज्ञानं भविष्यति, किमनेन तदुपजीविना ग्रन्थेनेत्यत आह—अल्पमेधसामिति । अल्पमेधसाम्=अल्पबुद्धिनाम् । महाबुद्धयो हि अतिविस्तर—दुरधिगम—नानातन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति न त्वल्पबुद्धय इति । महाधियामप्यालस्यानासादितदुरूपपादाशेषसंहितानामयमेव रोगज्ञानाय भविष्यतीत्याह—नानातन्त्रेत्यादि ॥ ३ ॥

आ०—ग्रन्थस्यास्योत्कृष्टत्वमाह—नानेत्यादि । महाबुद्धयो हि दुरधिगमतन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति, अतो नानातन्त्रविहीनानामल्पबुद्धीनां भिषजां सुखं यथा भवति तथा आतङ्कं रोगं विज्ञातुमयमेव ग्रन्थो भविष्यति; ‘कारणम्’ इति शेषः । उक्तं च,—“रोगज्ञानार्थमेवादौ यत्नः कार्यो भिषग्वरैः । सति तस्मिन् क्रियारम्भः पुण्याय यशसे श्रियै ॥ रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्” इति ॥ ३ ॥

अथ रोगविज्ञाने पञ्चोपायाः ।

व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।

संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥४॥

( बा० नि० अ० १ श्लो० २ )

म०—निदानमित्यादि । एते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः । न च समस्तपक्षे कृतकरणत्वं वाच्यं, प्रमाणसंभ्रवस्यापि दृष्टत्वात् । ( अनुमितवद्बो प्रत्यक्षोपमानशब्दानामपि स्थितिसत्त्वात्, यतः प्रमातुः प्रमातव्य एकस्मिन्नर्थे चतुर्णां प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाख्यप्रमाणानां सम्भ्रवः समूहो=दृष्टः, अतः समस्तपक्षे कृतकरणत्वं न वाच्यम् ) । न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते । ( अत्र नञ्द्वयं प्रकृतमर्थं दृढयति, तद्यथा—अनुमानेन प्रतीतो यो वह्निः स किं प्रत्यक्ष-शब्दाभ्यां नोपलभ्यते ? इति नहि, अपि तु स ताभ्यामुपलभ्यत एवेत्यर्थः ) । न वा निदानादीनि प्रेक्षावन्तो ये नैवमालोचयेयुः । ( अत्रापि पूर्ववत्प्रकृतार्थबोधकं नञ्द्वयम्, यथा—अथवा ये प्रेक्षावन्तः । ( समालोचकाः ) ते निदानादीनि न सन्तीत्येवं कदाचिदालोचयेयुः ? इति न कदापि, किन्तु सन्ति निदानादीनीत्यालोचयेयुरेवेति सरलार्थः ) एकैर्नैव प्रतिपादितो व्याधिरिति वयमिहोदास्महे । ( एतेषां निदानादीनां पञ्चानां मध्ये केनचिदेकैर्नैव प्रतिपादितो व्याधिरिति केषांचिन्मतं, किन्तु वयमिहोदास्महे=न श्रद्धमहे न मन्यामहे तदित्यर्थः ) । किंच

एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः, भिन्नप्रयोजनत्वात् । तथाहि—  
यदि निदानं नोच्यते तदा तत्परिवर्जनं कथं लभ्येत ? उक्तं हि सुश्रुते,—“संक्षेपतः  
क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्”—इति ( सु. उ. तं. अ. १ ) । किंच यथा मृद्भ-  
क्षणात्पाण्डुरोगः, मक्षिकाभक्षणाच्च छर्दिरवसीयते; न च तथा निदानेन सर्वत्र  
नियतरोगाध्यवसायः, ज्वरगुल्मादीनामेकारणत्वात् । यदाह चरकः,—“एको  
हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि । व्याधेरैकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा”—इति  
( च. नि. स्था. अ. ८ ) । अपि च कदाचित्प्रत्यासन्नं निदानं बाधित्वा विप्रकृष्ट-  
निदानकृतो दोषसंचयो व्याधिं कुर्यात्, तस्मात्केवलान्निदानान्न व्याधिज्ञानं भव-  
तीति पूर्वरूपादीनामुपादानमिति वाप्यचन्द्रः । असति पूर्वरूपाभिधाने तत्रोक्तः  
क्रियाविशेषो न संगच्छते । उक्तं हि चरके,—“ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं  
वा”—इति ( च. नि. स्था. अ. १ ) । तथा च सुश्रुते, वातिकज्वरपूर्वरूपे घृत-  
पानमिति । तथाऽसाध्यत्वं च नोपलभ्येत । उक्तं च चरके,—“पूर्वरूपाणि सर्वाणि  
ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ अन्यस्यापि च  
रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्”—इति  
( च. इ. स्था. अ. ५ ) । तथा रक्तपित्त-प्रमेहयोर्विशेषज्ञानं च न जायते । उक्तं च  
चरके,—“हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः । यो मूत्रयेत्तन्न  
वेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः” इति ( च. चि. स्था. अ. ६ ) । असति  
रूपाभिधाने व्याधेरशेषेण स्वरूपमेव न व्यवच्छिद्यते; किंच साध्यासाध्यत्वं च न  
ज्ञायते । तथा हि—सुखसाध्यलक्षणे चरकः,—“हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य  
वै । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्”—इति ( च. सू. स्था. अ. १० ) ;

१ ‘चानेको बहूनां बहवोऽपि च’ इति चरके पाठः । २ ‘तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं  
लघ्वशनमपतर्पणं वा’ इति चरके पाठः । ३ “ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान् । पाययेत् घृतं  
स्वच्छं ततः स लभते सुखम्”—इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) सुश्रुतः । ४ ‘अशेषविशेषेण’ इति पाठान्तरम् ।

५ ‘पचामिदमिस्थं व्याचक्षते, निखिलभारतायुर्वेदविद्यापीठस्य सभापतिपदमलङ्कुर्वाणाः, भारत-  
साम्राज्यतः ससम्मानं सँलुब्ध—“वैद्यरत्न”—पदवीकाः, कविराजश्रीयोगीन्द्रनाथसेनमहोदयाः  
स्वीये चरकोपस्कारनामकेऽभिनवे चरकसंहिताव्याख्याने, तद्यथा—यस्य रोगस्य । हेतवो  
निदानानि । पूर्वरूपाणि प्रागुत्पत्तिलक्षणानि । रूपाणि प्रादुर्भूतलक्षणानि च । अल्पानि । दूष्यः  
रसरक्ततादिः । न च मुख्यगुणः दोषेण सदृशगुणः । यथा श्लेष्मणा दूषितं रक्तम् । श्लेष्मा शीतः ।  
रक्तमुष्णम् । तथा च—“ते दश प्रमेहाः साध्याः, समानगुणमेदःस्थानकत्वात्, कफस्य प्राधान्यात्,  
समक्रियत्वाच्च ।” इति ( चरक, निदान, अध्याय, ४ पाठ १० ) श्लेष्मप्रमेहेषु यत् तुल्यदूष्यत्वं सुख-  
साध्यतायाः हेतुं वक्ष्यति तत् व्याधिप्रभावात् । दोषः तद्व्याध्यात्मकः न प्रकृतिः भवेत् । यथा  
पित्तस्य श्लेष्मजो व्याधिः । ते दशेति—ते श्लेष्मिका दश प्रमेहाः उदकमेहादयः दश साध्याः ।  
कसात् ? समानगुणमेदःस्थानकत्वात् । कफस्य प्राधान्यात् । समक्रियत्वाच्च । समानो दोषेण तुल्यो-

कष्टसाध्यलक्षणे चरकः,—“निमित्त-पूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले”—इति ( च. सू. स्था. अ. १० ); तथा,—“सर्वसंपूर्णलक्षणः । सन्निपातज्वरोऽसाध्यः”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । असत्युपशयाभिधाने संकीर्णलक्षणेऽनभिव्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात् । तदुक्तं चरके,—“गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम्” ( परीक्षेत ) इति ( च. वि. स्था. अ. ४ ) । असत्यां च संप्राप्तौ पूर्व-रूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनींऽशांशविकल्पना-बल-कालादेरप्रती-तेश्चिकित्साविशेषो न स्यात् । तस्मात्पञ्चापि निदानादयो वक्तव्याः । पञ्चविधमप्ये-वद्व्याधयुत्पत्ति-ज्ञप्ति-हेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते । यदाह सुश्रुतः,—“हेतुलक्षणानि-र्देशान्निदानानि”—इति ( सु. सू. स्था. अ. ३ ) । तत्रैवं निदानशब्दनिरुक्तिः—“निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्”; “दिशेः पृषोदरादित्वाडूपसिद्धिः”—इति गदाधरः; “निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्”—इति जेज्जटः । भट्टारहरिचन्द्रेणापि तन्त्रयुक्त्या निदानादिविवरणप्रस्तावे एषैव निरुक्तिरुक्ता । निशब्दो निश्चये । तथा च वररुचेरुपसर्गसूत्रम्,—“नि निश्चयनिषेधयोः”—इति । लोकेऽपि “अद्य ते निदानं करिष्यामि” इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवग-म्यते । निदानमिति करणे ल्युट्; तेन ‘व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्’ इति निदा-नादिपञ्चकसामान्यलक्षणम् । निदानशब्दोऽयं निदानविशेषे जातौ च वर्तते; यथा-तृणशब्दः तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते । यत्तु, भट्टारहरिचन्द्रेण निदानस्थाने—“या गौः सुदोहा भवति न तां निददीत”—इति व्यासप्रयोगमुपन्यस्य निबन्धार्यो निदानशब्दो व्याख्यातः । “निदीयते निबध्यते हेत्वादिसंबद्धो व्याधिरनेन” इति कृत्वा, तत्तु निदानस्थानरूपग्रन्थाभिप्रायेण, नहि हेत्वादयो हेत्वादिसंबद्धं व्याधिं प्रतिपादयन्ति । ( स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यर्थः ) ॥ ४ ॥

आ०—तस्य च व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्ति तानाह—निदानमित्यादि । निदानं पूर्वरूपं रूपमुपशयः संप्राप्तिश्चैते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिवोधकाः । रोगाणां—गुणो यस्य तत् । दोष इह श्लेष्मा । तथाभूतं मेदः स्थानम् = आश्रयो येषां, तेषां भावः । तस्मात् । यद्यपि सुखसाध्यलक्षणे—“न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्” इत्युक्तं, तथापि इह व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता सुखसाध्यतायाः हेतुः । यदुक्तम्—“ज्वरे तुल्यतुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्” इति ॥ ननु श्लेष्मिकप्रमेहेषु पश्चात् पित्तं वातश्चापि प्रकोपमापद्यते । तथात्वे कथं दोष-दूष्ययोः समानगुणत्वं, समक्रियत्वं वा स्यात् इति ? अत आह—कफस्य प्राधान्या-दिति । पित्त-वातयोः प्राधान्ये तु याप्यत्वासाध्यत्वे । तदा पित्तज-वातजत्वेन व्यपदेशः । समक्रिय-त्वात् इति । दोषदूष्याणां तुल्यक्रियत्वात् । दोषः श्लेष्मा । दूष्यो मेदः प्रभृतिः । एकया अपतर्पणरू-पक्रियया तयोः साध्यत्वम् । तस्मात् श्लेष्मप्रमेहाः दश साध्याः । चिकित्सिते च—“साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः पङ्क याप्या न साध्यः पवनान्नतुष्कः । समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वान्महा-त्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते” इति ( चरक, चिकित्सा, अध्याय, ६ ) ॥

विज्ञानं = विशिष्टज्ञानं, पञ्चधा = पञ्चप्रकारेण, स्मृतं = कथितं, 'मुनीन्द्रैः' इति शेषः। उपशय-  
स्तथेति तथाश्चद्वस्तुत्यकृत्यतां द्योतयति, एवं संप्राप्तिश्चेत्यत्र चकारोऽपि । इति परिसमाप्तौ  
तच्च निदानं सन्निकृष्टविप्रकृष्टभेदेन द्विधा भवति । सन्निकृष्टं यथा—वातादयः  
कुपिताः ज्वरादिरोगमुत्पादयन्ति । विप्रकृष्टं यथा—हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते च प्रकु-  
प्यति; तथाऽऽहारादिरपि, तत्र कटुकाम्लदध्यादिकं पित्तज्वरस्य । पूर्वरूपं यथा—ज्वरस्यै-  
वालस्यादयः । रूपं यथा—स्वेदावरोध इत्यादि; “आगमापगम-क्षोभ-काठिन्य-मृदुतोष्मणाम् ।  
वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलात्”-इत्यादि च । उपशयो यथा—वातः स्नेहन-  
मर्दनादिनोपशान्त उपलभ्यते स उपशय इत्युच्यते । संप्राप्तिर्यथा—यथा दुष्टेनेत्यादिलक्ष-  
णात् । नन्वेकेनैव रोगनिश्चयेऽन्येषामुपादानं व्यर्थम्? उच्यते—भिन्नप्रयोजनत्वान्नान्यतरवै-  
यर्थ्यम् । तच्च यथा—निदानेनाधिगतस्य व्याधेस्तत्परिवर्जनम्; उक्तं च सुश्रुते—“संक्षेपतः  
क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्”—इति । पूर्वरूपेण व्याधेर्विशेषज्ञानं जायते । यथा  
चरके,—“हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य च पूर्वरूपः । यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं  
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः”—इति, तथाऽधिगतस्य व्याधेस्तत्रोक्तक्रियाक्रमश्च लक्ष्यते;  
उक्तं च चरके—“ज्वरस्य पूर्वरूपे लव्वशनमपतर्पणं वा”—इति; तथा च सुश्रुते,—“वातिक-  
ज्वरपूर्वरूपे घृतपानम्”—इति । तथा च साध्यासाध्यत्वमपि ज्ञायते । उक्तं च  
चरके—“पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरः-  
सरः ॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं  
ध्रुवम्”—इति । रूपेणापि च व्याधेः सुखसाध्यत्वं कष्टसाध्यत्वमसाध्यत्वं च ज्ञायते; यतोऽ-  
ल्परूपः सुखसाध्यो व्याधिः, मध्यरूपः कष्टसाध्यः, संपूर्णरूपस्त्वसाध्य इति । तथा च सुख-  
साध्यलक्षणे चरकः,—“हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च । न च तुल्यगुणो दूष्यो  
न दोषः प्रकृतिर्भवेत्”—इति, कष्टसाध्यलक्षणे चरकः,—“निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे  
बले” इति; तथा “सर्वसंपूर्णलक्षणः संनिपातज्वरोऽसाध्यः”—इति । उपशयेन विन्तु प्रती-  
तस्य व्याधेः संकीर्णलक्षणेऽनभिष्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषावबोधो न स्यात्, उक्तं हि  
चरके,—“गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां बुध्येत”—इति । तथा च सुश्रुते,—“अभ्यङ्ग-  
स्नेह-स्वेदाद्यैर्वातरोगो न शाम्यति । विकारस्तत्र विज्ञेयो दुष्टमत्रास्ति शोणितम्” इति । शोणि-  
तसेकस्तत्रोपशम इति । असत्यां च संप्राप्तौ पूर्वरूपादिभिः प्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सितो-  
पयोग्यशांशविकल्प-बल-कालादीनामज्ञाने चिकित्साविशेषो न स्यात्, तस्मान्निदानादिपञ्चक-  
विज्ञानेन सर्वे रोगा विशेषेणावबुध्यन्त इति ॥ ४ ॥

१ यथा निदान-पूर्वरूप-रूपाणि रोगाणां विज्ञानाय तथोपशयोऽपीति । २ 'मृदुता वेदनोष्मणाम्'  
इति पाठान्तरम् ।



अथ निदानपर्यायाः ।

एषां निदानादीनां मध्ये समानासमानजातीयव्यावर्तकं कारणरूपनिदानस्य लक्षणमाह—

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।

निदानमाहुः पर्यायैः

( वा० नि० अ० १ श्लो० ३ )

म०—निमित्तेत्यादिना पर्यायैरित्यन्तेन । एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तन्निदानम्; यथा—“बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्” ( न्या. द. प्र. आ. सू. १९ ) । ननु, किं मिलितैरेकैकशो वा ? नाद्यः, एकार्थाभिधायिनां शब्दानां मिलितानामप्रयोगात्; द्वितीयश्चेत्तदा सव्यभिचारः, निमित्तस्य शकुनादौ, हेतोः प्रयोजके कर्तरि, आयतनस्य स्थाने, प्रत्ययस्य लडादौ, उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात् । नैवम्, शकुनादीनां निमित्तादिभिः सर्वैरभिधानात् । अत एवाह—पर्यायैरिति । नहि तेषां ते पर्यायाः, यतः क्रमेणैकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते । तस्मान्निमित्तादिशब्दैः पर्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम् । एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम् । इदं तु संक्षेपतो लक्षणम्—‘सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्’ इति । यन्मते दोषेतिकर्तव्यतारूपा संप्राप्तिरिष्यते तन्मते संप्राप्तिव्युदासार्थं ‘सेतिकर्तव्यताकः’ इति पदं, तस्या दोषेतिकर्तव्यतारूपाया इतिकर्तव्यतान्तराभावात् । यन्मते व्याधिजन्म संप्राप्तिस्तन्मते ‘व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्’ इति लक्षणम् । उभयत्रापि ‘उत्पत्ति’ पदं ज्ञप्तिहेतु-पूर्वरूपादिव्यवच्छेदार्थम् । स च हेतुरनेकधा । तत्र प्रथमं चतुर्विधः, यदाह उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः, “सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट-व्यभिचारि-प्राधानिक-भेदाच्चतुर्धा” —इति । सन्निकृष्टो यथानक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते । विप्रकृष्टो यथा—“हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्”; किंवा सन्निकृष्टो ज्वरस्य रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः । व्यभिचारी यथा—यो दुर्बलत्वाद्व्याधिकरणासमर्थः । यदाह चरकः,—“(निदानादि विशेषा) अवलीयांसोऽथवानुबध्नन्ति, न तदाविकाराभिनिर्वृतिः” इति ( च. नि. स्था. अ. ४ ) । प्राधानिको यथा—विषादिः; त्रिविधो वा,

१ ‘धूमवत्त्वादित्यादिवचने’ इति पाठान्तरम् । २ ‘उद्गमनोत्सवयोः’ इति पाठान्तरम् । ३ ‘पर्यायेण’ इति पाठान्तरम् । ४ ‘तस्यां दोषेतिकर्तव्यतारूपायाम्’ इति पाठान्तरम् । ५ इतिकर्तव्यतान्तराभावादिति इतिकर्तव्यता=व्यापारः, इतिकर्तव्यतान्तरस्य = व्यापारान्तरस्याभावात्, व्यापारे व्यापारान्तरं न तिष्ठतीति भावः ।

असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणाम-भेदात् । तत्र, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽयोगा-ऽतियोग-मिथ्यायोग-युक्ता रूपरसादयः, प्रज्ञापराधोः मिथ्याज्ञानादिः, परिणामो अयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः । “अधर्मस्य च रोगहेतो-  
रत्रैवान्तर्भावः”-इति भट्टारहरिचन्द्रः, तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःख-  
कर्तृत्वात् । चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह; मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्म-  
नोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलम्; बलबलं त्वत्र न निरूप्यते, रोगकारणत्वेनाधर्मस्य  
सर्वथा सिद्धत्वादिति । दोष-व्याध्युभय-हेतुभेदाच्च स त्रिविधः । दोषहेतवो  
यथा-चय-प्रकोप-प्रशम-निमित्ताः यथर्तृत्पन्ना मधुरादयः । व्याधिहेतवो  
यथा-मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम् । यद्यपि मृदपि दोषं प्रकोपयत्येव; यदुक्तं  
चरके, -“कषाया मारुतं पित्तमुषरा मधुरा कफम्”-इति ( च. चि. स्था. १६ );  
तथापि तज्जैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति ।  
उभयहेतुर्यथा-वातरक्ते, -“हस्त्यश्वोष्ठैर्गच्छतश्चाश्रतश्च”-इत्यादि ( सु-  
नि. स्था. अ. १ ) । तत्र यद्यपि दोषप्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजननम्, तथापि दोष-  
वद्व्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति । तेन तत्र न व्याधिहरमात्रं भेषजं  
प्रयोज्यं किंतूभयप्रत्यनीकम् । न च वाच्यं कारणभूतदोषनिवृत्त्यैव कार्यभूतस्य  
व्याधेर्निवृत्तिरिति; यतः प्रतिनियतशक्तिकानि भेषजद्रव्याणि भवन्ति; कथमन्यथा  
श्लेष्मिकतिमिरे श्लेष्महरमेव वमनं न प्रयुज्यते । यदुक्तं सुश्रुते, -“न वामयेत्तैमि-  
रिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्”- इति ( सु. चि. स्था. ३३ ) ।  
स एवोत्पादक-व्यञ्जक-भेदाच्च द्विधा । तत्रोत्पादको यथा-हेमन्तजो मधुर-  
रसः कफस्य । व्यञ्जको यथा-तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः-इति  
भट्टारहरिचन्द्रः । तत्र व्यञ्जकः प्रेरक इत्यर्थः । बाह्या-ऽऽभ्यन्तर-भेदाच्च द्विधा ।  
तत्र बाह्या आहारा-ऽऽचार-कालादयः । एतदभिप्रायेण तीसटाचार्यः -“व्याया-  
मादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागराद्वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रा-  
सतः । रुक्ष-क्षोभ-कषाय-तिक्त-कटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणते  
चान्नेऽपराद्धेऽपि च ॥ कटुम्लोष्ण-विदाहि-तीक्ष्ण-लवण-क्रोधोषवासा-ऽऽतप-  
स्त्रीसंपर्क-तिलातसी-दधि-सुरा-शुक्ता-ऽऽरनालादिभिः । भुक्ते जीर्यति  
भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं  
व्रजेत् ॥ गुरु-मधुर-रसातिस्निग्ध-दुग्धेक्षु-भक्ष्य-द्रव-दधि-दिननिद्रा-ऽपूप-  
सर्पिष्प्रपूरैः । तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते’  
( चि. क. श्लो. २९-३१ )-इति । आभ्यन्तरा यथा-दोषा दूष्याश्च । तत्र

१ ‘बलबलत्वं तत्र’ इति पाठान्तरम् । २ ‘कफचयस्य’ इति पाठान्तरम् । ३ ‘अभिव्यक्तिकारकः’  
इति पाठान्तरम् । ४ त्रिसटाचार्यः, त्रिजटाचार्य इति वा केचित् ।



दोषोऽपि प्रकुपितः प्राकृतादिभेदादनेकधा । प्राकृतो यथा—वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं, प्रावृषि वायुः । वैकृतस्तु यथा—वसन्ते पित्तं वायुर्वा, वर्षासु कफः पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा । अस्य प्रयोजनं सुखसाध्यत्वादि । यदुक्तं चरके,—“ प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः ”—इत्यादि ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा । अनुबन्ध्यः प्रधानम् अनुबन्धोऽप्रधानम् । यदाह चरकः, “ स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः ” इति—( च. वि. स्था. अ. ६ ) । अस्य प्रयोजनं संसर्गजं व्याधावनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधिन । तदुक्तं चरके,—“ तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधानप्रशमात्प्रशमः ”—इति ( च. चि. स्था. अ. २१ ) । उपद्रवोऽनुबन्धः । प्रकृतिविकृतितो यथा—वातप्रकृतेर्वातरोगः कष्टसाध्यो भवति, कफपित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्यः । यदाह सुखसाध्यलक्षणे चरकः,—“ न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्—” इति ( च. सू. स्था. अ. १० ) । आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति तदा स्वमानस्थोऽपि स विकारं जनयति । यदाह चरकः,—“ प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च —” इति ( च. सू. स्था. अ. १७ ) । अस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानानयनं कार्यं, न तु पित्तस्य हासनम्; “ ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विदन्ति, ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः पित्तं ह्वासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादयन्त आतुरमतिपातयन्ति ” इति भट्टारहरिचन्द्रः । अन्ये त्वाहुः—भ्राजकादिभेदेन सर्वदेहस्थिते पित्ते यदा स्वाशयाऽऽकृष्टं पित्तमवयवान्तरमनिलेन प्रापितं तदा तदवयवान्तरस्थं पित्तमागन्तुपित्तसंबन्धेनाधिकमेव जातं, ततश्च ( पित्त ) वृद्धिलक्षणैवेयं दुष्टिर्न दुष्टचन्तरम्, अन्यथा दाह एव न स्यात्; नहि स्वमानस्थो दोषो विकारं जनयतीति । भट्टारहरिचन्द्रस्य त्वयमभिप्रायः—यद्यप्येवं तथापि चिकित्साभेदार्थं वृद्धि-क्षय-व्यतिरिक्तस्थानान्तरगतिरूपो दुष्टिविशेषोऽवश्यमेवैष्टव्यः, अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनं पित्तहासनं वा कार्यं, न च तत्तत्र योग्यम्, किंतु स्वस्थानानयनम् । यच्चोक्तं चरकेण,—“ क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च विज्ञेया त्रिविधा गतिः ”—( च. सू. स्था. अ. १७ ) इत्यादि तत्प्रायिकमिति । गतितो यथा—गतिर्दोषाणां क्षीण-वृद्धत्वादयः । यदुक्तं चरके

१ ‘स्थानस्थितमेव’ इति पाठान्तरम् । २ ‘स्वमानस्थोऽपि’ इति पाठान्तरम् । ३ न, तु पित्तस्य हासनेन स्वाशयापकर्षणम् इति पाठान्तरम् । ४ ‘स्वमानस्थः’ इति पाठान्तरम् ।

“ क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः । ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधा परा ॥ त्रिविधा चापरा कोष्ठ-शाखा-मर्मास्थि-सन्धिषु ” इति ( च. सू. स्था. अ. १७ ) । अत्र स्थानमिति समत्वम् । तत्र क्षयादिलक्षणं यथा, — “ दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् । क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ” — इति ( च. सू. स्था. अ. १७ ) । स्वं लिङ्गमिति कुपितस्य वायो रौक्ष्यादयो धर्माः, कर्माणि च स्वंसंशूलादीनि । यदाह चरकपाठसंवादी सुदान्तसेनः, — “ आध्मान-स्तम्भ-रौक्ष्य-स्फुटन-विमथन-क्षोभ-कम्प-प्रतोदाः, कण्ठध्वंसावसादौ श्रमक-विलपनं स्वंस-शूल-प्रभेदाः । पारुष्यं कर्णनादौ विषमपरिणति-भ्रंश-दृष्टिप्रमोहा, विस्पन्दोद्धटनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥ नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपैतनं जृम्भणं रोमहर्षो, विक्षेपा-ऽऽक्षेप-शोष-ग्रहण-शुषिरता-च्छेदनं वेष्टनं च । वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वाप-विक्षेप-सङ्गा, विद्यात्कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात्कषायो रसश्च ॥ विस्फोटा-म्लक-धूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं दौर्गन्ध्यं दरुणं मदो विसंरणं पाको-ऽरतिस्तृड-भ्रमौ । उष्माऽतृप्ति-तमः प्रवेश-दहनं कट्वम्ल-तिक्ता रसा, वर्णः पाण्डु-विवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥ तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् । स्नेहापक्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च । चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसो पटु-स्वादू । वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ द्विदोषलिङ्गः संसर्गः सन्निपातखिलिङ्गकः ” — इति । लिङ्गज्ञानप्रयोजनं च चिकित्सा-भेदार्थम् । यदाह सुश्रुतः — “ क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा हासयितव्याः, समाः पालयितव्याः ” — इति ( सु. चि. स्था. अ. ३३ ) । ऊर्ध्वादिगतिर्यथा-ऊर्ध्वगं रक्तपित्तमित्यादि । अस्य प्रयोजनं रक्तपित्तस्योर्ध्वगस्य विरेचनम्, अधोगस्य वमनम् । यथोक्तं चरके, — “ प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते ” — इति ( च. नि. स्था. अ. २. ) । यस्तु गतिभेदानभिज्ञः स “ विरेकः पित्तहराणाम् ” — इति ( च. सू. स्था. अ. २९ ) वचनादधोगे रक्तपित्ते विरेकं प्रयुञ्जान आतुरस्यानर्थमेवोत्पादयति; ज्वरादिषु तिर्यग्दोषगतिषु यथोक्तं चिकित्सितमिति । वृद्धा दोषाः कदाचित्कोष्ठं कदाचिच्छाखाः कदाचिन्मर्मास्थिसन्धीनाश्रित्य रुजन्ति; मर्मास्थिसन्धिषु गतिः कृच्छ्राध्यत्वापादेकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा । कोष्ठ = आमाशयादिः, शाखा = रक्ता-दयो धातवस्त्वक्चेति, चरककृतैवेयं संज्ञा । कोष्ठाद्यभिधानप्रयोजनं चिकित्साभेदा-

१ ‘सुदक्षेनः’ इति पाठान्तरम् । २ तक्रमविलपनम् इति पाठान्तरम् । ३ ‘भ्रमपरिसदनम्’ इति पाठान्तरम् । ४ ‘विशरणम्’ ।

र्थम् । यथोक्तं चरके,—“आमाशयगते वाते कफे पकाशयाश्रिते । रुक्षपूर्वा हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च” ( च. सू. स्था. अ. १४ ); तथा,—“सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः”—( सु. उ. तं. अ. ३९ ) इत्यादि; तथा,—“नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायु-मर्म-व्रणेषु च”—इति । एते च दोषाः सामत्वनिरामत्वाभ्यामपि ज्ञातव्याः । यदुक्तम्,—“ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः । सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ स्रोतोरोध-बलभ्रंश-गौरवानिलमूढताः । आलस्या-पाक्त-निष्ठीव-मलभेदारुचि-कृमाः ॥ लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ( वा. सू. स्था. अ. १३ ) । वायुः सामो विबन्धाग्निसाद-तन्द्रा-ऽन्त्रकूजनैः ॥ वेदना-शोथ-निस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् । विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् ॥ स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्य-मेघोदये निशि । निरामो विशदो रुक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः ॥ विपरितगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः । दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु ॥ अम्लिका-कण्ट-हृद्-दाह-करं सामं विनिर्दिशेत् । आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ॥ पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचि-पक्व-बल-प्रदम् । आविलस्तन्तुलः स्यान्ः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते । सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुद्रद्वारविघातकृत् ॥ फेनवान्पिण्डितः पाण्डुरनिःसारोऽगन्ध एव च । पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान्वक्रशुद्धिकृत्”—इति । अस्य प्रयोजनं सामे पाचनं निरामे शमनमिति । एते च दोषाः परस्परसंबद्धास्तरतमादिभेदेन द्विषष्टिधा भवन्ति । तदुदाहरणानि विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिख्यन्ते, सौश्रुतदोषभेदविकल्पाध्याये द्रष्टव्यानि । उक्तहेतुदोष-भेदयोः संग्रहश्लोकौ—“चत्वारो व्यभिचारि-दूर-निकट-प्राधानिकत्वात्पुनस्तेऽसात्म्येन्द्रियकार्ययुक् -- परिणति-प्रज्ञापराधात्रिधा । रुग्णोभयकारणादपि तथा द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ, बाह्याऽऽभ्यन्तर-भेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी ॥ दोषस्य च प्राकृत-वैकृताभ्यां, भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात् । तथा प्रकृत्य-प्रकृतित्वयोगात्तथाशया-ऽऽकर्षवशाद्गतेश्च” ।

इति निदानम् ॥

आ०--निदानस्य पर्यायशब्दानाह-निमित्तेत्यादि । पर्यायैरिति निमित्तादिभिः पङ्क्तिरेव पर्यायैर्निदानमाहुः । ‘मुनयः’ इति शेषः । एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहाराय, तत्र तत्र शास्त्रप्रदेशे निदानमेतैः पर्यायैर्बोद्धव्यमिति । एकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते ॥

अथ पूर्वरूपम् । ( Prodromal Symptoms )

निदानानन्तरियकत्वात्पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्वाधीनां तद्यथायर्थम् ॥ ६ ॥

( वा० नि० अ० १ श्लो० ४ )

म०--प्राग्रूपमित्यादि । द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च । तत्र सामान्यं यथा येन=दोष-दूष्य-संमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः । यथा,—‘श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्’-इत्यादि ( मा. ज्व. नि. श्लो. ४. ); तथा देव-गुरु-विप्र-द्वेषादि । सामान्याभिप्रायेणैव तन्त्रान्तरम्,—“व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते । भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि ”-इति । तथाऽऽह पराशरः,—“पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः”-इति । विशिष्टं यथा-उरक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि । यदुक्तं तत्रैव—“अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्”-इति । तथा सुश्रुतः,—“सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा”-इति ( सु. उ. त. अ. ३९ ) । हारीतेऽप्युक्तम्,—“इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाऽङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्देशि वातजम्”-इत्यादि । ननु, चात्यर्थं व्यक्तत्वं ततश्च जृम्भादेरापि रूपत्वं प्रसज्येत; यद्वक्ष्यति,—“तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते”-इति । उच्यते, यथा श्रमादय इतररोगव्यतिरिक्तं भाविज्वरमात्रं बोधयन्ति न तु वातजत्वादिविशेषमित्यतस्तेषामव्यक्तत्वम्, तथा पित्तादिज्वरव्यतिरिक्तं भविष्यद्वातज्वरमात्रं बोधयन्ति; जृम्भादयः, न तु वातस्य रूक्ष-शीत-धातुक्षया-ऽऽवरणादिजन्यत्वरूपविशेषं बोधयन्ति; इत्यतोऽव्यक्तवातज्वरबोधकत्वादव्यक्तत्वमेव जृम्भादीनामिति जेज्जट-षाप्यचन्द्र-माधवकर-कार्तिक-कुण्डादयो व्याचक्षते । अन्ये त्वाहुः—प्रभूताव्यक्तपूर्वरूपसहचरितव्यक्तस्यापि जृम्भादेः पूर्वरूपव्यपदेशः; यथा-मापराशिः;

१ “यथायर्थं यद्यस्य व्याधेर्ज्वराद्यन्यतमस्य आत्मीयमात्मीयम्, ततश्च प्राग्रूपं त्रिधा दृश्यते—किञ्चिच्छारीरं, किञ्चिन्मानसं, किञ्चिच्छारीरमानसं चेति । तत्र शारीरं यथा-ज्वरस्या-ऽऽलस्या-ऽऽस्यधैरस्य-गात्रगौरव-जृम्भा-साक्षा-ऽऽकुलाक्षतेत्येवंप्रायम् ; मानसं च-अरतिर्हिंसापदेशेष्वक्षान्तिरित्येवंप्रायम् ; किञ्चिच्छारीरमानसं यथा-प्रीतिरम्भे पदूषणे, द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येष्विवेत्येवंप्रायम्, शारीरमानसदोषजनितत्वात्” इति वाग्भटटीकायामरुणदत्तः ( वा. नि. स्था. अ. १ ) ।

छत्रिणो गच्छन्त्येवमादि । न च व्यक्तत्वेन रूपादभेदः, नियमेन पूर्वरूप-रूपयोर्भावि-  
वर्तमान-व्याधिवोधकत्वादिति । तत्र विशिष्टपूर्वरूपं रूपावस्थायामनुवर्तत एव,  
तस्यैवाभिव्यक्तस्य रूपत्वात्; न तु दोष-दूष्य-संमूर्च्छनावस्थाजनितं रोमहर्ष-बाल-  
प्रद्वेषादिकं नियमेनानुवर्तते, यद्यनुवर्तत तदा सर्वज्वराणामसाध्यत्वं प्रसज्येत ।  
एतदभिप्रायेण, “पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं  
मृत्युर्ज्वरपुरःसरः”-इति ( च. इ. स्था. अ. ५ ) चरकवचनमित्याहुः ।  
तदेवं द्विविधे पूर्वरूपे व्यवस्थिते सामान्यपूर्वरूपमाह-प्राग्रूपमित्यादि ।  
येन=श्रमादिना, उत्पित्सुः=सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः, आमयो=रोगः, दोषविशे-  
षेण=वातादिजन्यासाधारणवेपथ्वादिना, अनधिष्ठितोऽसंबद्धो, लक्ष्यते=ज्ञायते,  
तत्प्राग्रूपमिति । विशिष्टप्राग्रूपमाह-लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वादचाधीनां तद्यथायथ-  
मिति । प्राग्रूपमित्यनेन पूर्वोक्तेन संबन्धः; लिङ्गं = लक्षणम्, अव्यक्तं=नात्यभिव्यक्तम्  
अत्र हेतुरल्पत्वादणुत्वात्, नत्वावरणादियोगादव्यक्तमित्यर्थः; यथायथं = यस्य  
व्याधेर्यद्रूपं तदेवाव्यक्तं तस्य पूर्वरूपमित्यर्थः । अन्ये तु पूर्वरूपलक्षणमाहुः-“स्थान-  
संश्रयिणः क्रुद्धा भावि-व्याधिप्रबोधकम् । दोषाः कुर्वन्ति यलिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते”-  
इति । तन्नातियुक्तम्, राजयक्ष्मणः पूर्वरूपस्य तृण-केश-निपातादेरदृष्टजन्यस्या-  
व्यापकत्वात् । यदाह चरकः,-“यक्षिणां घृणकेशानां तृणानां पतनानि च ।  
प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम्”-इति ( च. चि. स्था. अ.  
८ ) । न च तदपि दोषजम्, दोषाणां तृणादिभिरसंबन्धात्; असंबद्धस्य च भावस्य  
कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु संबन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात्, सर्वं सर्वस्य कारणं  
स्यात् । एतदोषपरिजिहीर्षयैव परमकुशलेन वाग्भटेन अदृष्ट-दोष ज-सर्व-पूर्व-  
रूपोपसंग्राहकं येनेति पदं निबद्धमिति मत्वा तदीयपूर्वरूपलक्षणमेव माधवकरो  
लिखितवान् । संक्षेपतस्तु लक्षणम्-“भावि-व्याधि-बोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्”,  
इति । एवकारेण निदानोपशययोः संप्राप्तेश्च दोषैतिकर्तव्यतारूपाया व्यवच्छेदः,  
तेषां तज्जातीयानामुत्पन्नानुत्पन्न-व्याधिवोधकत्वात् । तथा हि निदानं मृद्-  
क्षणरूपं भाविपाण्डुरोगमनुपशयरूपं च वर्तमानविशिष्टव्याधिं बोधयति, उपश-  
योऽपि पूर्वरूपावस्थाप्रयुक्तो भाविविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति, रूपावस्थाप्रयुक्तश्च वर्त-  
मानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; संप्राप्तिश्च पूर्वरूपस्य मध्याह्नादानुत्पत्ति-प्रकोषाभ्यां  
भविष्यद्विशिष्टव्याधिं, रूपस्य च मध्याह्नप्रकोषादिना वर्तमानविशिष्टव्याधिं  
ज्ञापयति; इत्येषामुत्पन्नानुत्पन्न-व्याधिवोधकत्वम् । ननु, यदा पूर्व-

रूपविशेषं स्मृत्योत्पन्नव्याधेर्विशेषावधारणं तदा पूर्वरूपमपि वर्तमानव्याधिवोधकम् । यथोक्तं रक्तपित्त-प्रमेह-रूप-संदेहे चरकेण—“हारिद्रवर्णं राधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः” ( च. चि. स्था. अ. ६ )—इत्यादि । अत्रोच्यते, किं व्याधिजन्यः पूर्व पूर्वरूपं गृहीतं न वा ? आद्ये भाविव्याधिवोधकत्वमेव; द्वितीये स्मरणोत्पत्तिरेव न स्यात्, अनुभवाभावात् । अथोच्यते—पूर्वरूपं दन्तादीनां मलाढ्यत्वादि-रूपं स्वरूपेणानुभूतमेव, किंतु प्रमेहपूर्वरूपतया न प्रतिभातम् ; उत्पन्ने तु पूर्वरूपम् तत्स्मृतं प्रमेहविशेषमवधारयति । एवं तर्हि पूर्वरूपस्मरणं कारणम्; न तु व्याधौ रूपावस्थायां तस्य व्यपगतत्वात् । स्मरणं न प्रमाणमिति चेत्, सत्यं; किंतु ( पूर्व-नुभवजनितसंस्कारोपस्थित ) स्मरणसहकृतं पूर्वरूपं व्याधिविशेषबोधकम्, न तु केवलं स्मरणम्; यथा संस्कारोपस्थापितस्मरणसहकृतं चक्षुःप्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टघटावबोधकं—सोऽयं घट इति, एवं स्मरणवदाप्तोपदेशेऽपि वाच्यम् । तस्य च लिङ्गपदेन व्युदासः; भाविपदेन रूपस्य, लिङ्गपदेन चक्षुरादेः, तस्य घटज्ञानादि-साधारणत्वेनालिङ्गत्वात्, असाधारणं हि लिङ्गं भवति । एतच्च पूर्वरूपमविद्यमानस्यापि व्याधेरलिङ्गं भवत्येव; यथा—विशिष्टमेघोदयो वृष्टेः । इति पूर्वरूपम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

आ०—प्राग्रूपलक्षणमाह—प्राग्रूपमित्यादि । येन=जम्भाऽऽलस्याऽरुच्यादिना उत्पित्सुरुदुभू-चुरामयो = ज्वरादिलक्ष्यते = ज्ञायते तत् प्राग्रूपं भाविव्याधिवोधकलिङ्गमित्यर्थः । किंभूत आमयः ? दोषविशेषेण वातादिनाऽनधिष्ठित = अनासादितः । तर्हि वातादिदोषेणानधिष्ठितस्य व्याधेरुत्पत्त्युक्तैव न घटते, कारणाभावात्; नहि वातादीन् विहाय व्याधेः प्रायेणान्यतः संभवः संभाव्यते; तथाहि—“सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता सलाः” इति; तस्माद्दोषविशेषेणानधिष्ठितत्वमुत्पित्सोरामयस्य यदुच्यते, तदव्यक्तरूपदोषापेक्षयाऽवगन्तव्यमिति । तत्प्राग्रूपम् । उत्पित्सूनां ज्वरादीनामल्पत्वाद्नासादितवत्वत्वादव्यक्तलिङ्गमल्पलक्षणं यथायथमिति । यथा येन यस्यव्याधेः ज्वराद्यन्यतमस्यास्मीयात्मीयमवगन्तव्यम् । तच्च प्राग्रूपं द्विविधम्—सामान्यं विशिष्टं च । येन दोषदूष्यधातुसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः, तत्सामान्यम्, यथा ज्वरस्य ‘श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्’ इत्यादि; येन भावि-व्याध्यारम्भकदोषचिह्नप्रदेशमात्रं प्रतीयते तद्विशिष्टम्, यथा—“जम्भाऽत्यर्थं समीरणान् । पित्ता-त्रयनयोर्दार्ढ्यः कफान्नान्नाभिनन्दनम्”—इति । अत्र तु विशिष्टे प्राग्रूपे जम्भादिरूपं दृष्ट्वा रूपत्वमेव न वक्तव्यम्, व्याध्यारम्भकदोषमात्रसूक्ष्मचिह्नरूपत्वात्; तथाहि वृणादिचये पतिते-ऽमिकणे सूक्ष्मत्वात् धूममात्रव्यक्तिं ज्ञात्वा करवस्त्रादिताडनप्रतीकारैस्तदुपशमः कर्तुं शक्यते न तु प्रज्वलिते वह्नौ; तथा—भविष्यद्रोगारम्भकदोषलक्षणैकमात्रं व्यक्तं विशिष्टं प्राग्रूपं ज्ञात्वा भाविव्याधेरुपशमः कर्तुं पार्यत इति । अतस्तु पूर्वरूप-रूपयोर्भेद एव । तद् द्वयमपि क्वचि-



च्छारीरं दृश्यते, कचिन्मानसं च । तत्र शारीरं यथा—‘ज्वरस्याऽऽलस्य—वैरस्य—गात्रगौरव—सास्त्राऽऽकुलेक्षणम्’ इत्यादिकम् । मानसं यथा—‘अरतिर्हितोपदेशेष्वक्षान्तिः’ इत्यादिकम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

अथ रूपम् । ( Symptoms )

यद्यपि पूर्वरूपानन्तरं संप्राप्तिर्भवति, तथाऽपि व्याधिस्वरूपज्ञानार्थं रूपमाह—

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।

संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥ ७ ॥

( वा० नि० अ० १ श्लो० ५ )

तदेवेत्यादि । तदेव पूर्वरूपमेव; व्यक्ततामुद्भूततामिति । ननु व्यक्तत्वं पूर्वरूपस्य किं कात्स्न्येन, एकदेशेन वा? आद्ये सर्वज्वराणामसाध्यत्वं स्यात्, यदुक्तं चरकै—“पूर्वरूपाणि सर्वाणि” ( च. इ. स्था. अ. ५ )—इत्यादि; द्वितीये हि “जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः” ( मा. ज्व. नि. श्लो. ६ )—इत्यादेरपि पूर्वरूपस्य रूपत्वप्रसङ्गः । नैवम्, अनभ्युपगमान्न कृत्स्नस्य नाप्येकदेशस्य, किंत्वनिर्धारितैकत्वानेकत्वविशेषस्य पूर्वरूपमात्रस्य व्यक्तस्य व्याधिलिङ्गत्वम्; यथा—तार्ण-पाणादिविशेषविरहेण धूममात्रस्य वह्निबोधकत्वम् । एवं व्यवस्थिते यदा सर्वस्याभिव्यक्तिस्तदा न साध्यत्वम्, अन्यथा तु साध्यत्वम् । न च जृम्भादेरूपत्वप्रसङ्गः; तस्य प्रागेव व्यक्तत्वात्; अव्यक्तं सद्व्यक्ततां यातं तस्य रूपत्वेनाभिधानात्, अपरप्रभूताव्यक्तलिङ्गसहचरित्वेन पूर्वरूप-रूपयोरसमानकालत्वेन च रूपत्वायोगादिति । ईश्वरसेनस्त्वाह,—“व्याधेः स्वरूपं यद्व्यक्तं तद्रूपम्”—इति । तन्न, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—स्वरूपमिति किं स्वं रूपं स्वरूपम् ? आहोस्वित्स्वीयं रूपम् ? स्वीयोऽपि धर्मः, स्वीयं कार्यं वा ? । न तावत्स्वरूपम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । रूपं हि व्याधिप्रतिपत्तिनिमित्तमुक्तम्, तच्चेत् व्याधिस्वभाव एव तर्हि व्याधिस्वभावादेव व्याधिस्वभावः प्रतीयत इति व्यक्तः स्वात्मनि क्रियाविरोधः । नापि धर्मः चरकोक्तकृष्ण-त्वङ्-नख-विण्-मूत्रत्वादेरशौरूपत्वानुपपत्तेः । नहि कृष्ण-त्वङ्-नखादिकमशौर्धर्मः, अतन्निष्ठत्वात्;

१ तदेवेत्येवशब्देनैतत् द्योतयति—“यदेव शारीरं प्राग्रूपं पूर्वोपवर्णितं तदेवेह ग्रहीतव्यं स्थायित्वात्; तद्व्यामयानुबन्धि । मानसं शारीरमानसं वाऽस्थायित्वान्न ग्रहीतव्यम्, तद्धि द्वयमुपित्सुव्याधिसमनन्तरं प्रायेण नश्यतीति तद्व्यक्ततां न याति । अतः शारीरमेवोपित्सुव्याधिप्राग्रूपमिह तदा पराश्रयं युक्तम्”—इति वाग्भटटीकायामरुणदत्तः । ( वा. नि. स्था. अ. १ ) २ ‘रूपाभिधानत्वाभ्युपगमात्’ इति पाठान्तरम् । ३ व्याधेः स्वरूपमव्यक्तं पूर्वरूपं, यद्व्यक्तं तद्रूपमिति पाठान्तरम् ।

धर्माणां च धर्भिनिष्ठत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । नापि कार्यम्, उपद्रवादेरपि रूपत्वप्रसङ्गात् । तदपि कृच्छ्रसाध्यासाध्यव्याधेरलिङ्गमिति चेत् । नैवम्, असाध्यत्वादेरेव तल्लिङ्गं, न तु व्याधेः; तस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वाद्देहेनोपादानाच्च । तदुक्तम्,—“सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्”—इति । ननु उपद्रवो न व्याधेः कार्यं किंतु व्याध्यारम्भकदोषस्य । यदुक्तं सुश्रुते—“म तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः”—इति ( सु. सू. स्था. अ. ३५ ) । व्याचक्षते च टीकाकृतः,—“तन्मूलं तस्य व्याधेरूलं दोषरूपं मूलं यस्य स तन्मूलमूलः”—इति । नैवम्, अपचारेण मूलभूतदोषोपवृंहणलब्धवलश्चेद्रथाधिरुपद्रवं करोति तेन ‘तन्मूलमूल’ इत्युक्तवान् । अत एवाह चरकः—“कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति” ( च. नि. स्था. अ. ८ ) इत्यादि । सर्वमेवैतत्स्वरूपशब्दस्य वाच्यं क्वचित्किंचिदिति; तथा च सति न व्यभिचार इति केचित् । तथाऽपि व्यवस्थाभात्रं स्यान्न तु लक्षणम्, एकस्य सकलरूपसंग्राहकस्य धर्मस्याभावादुपद्रवस्यापि व्याधिस्वरूपत्वापत्तेश्चेति । “तस्मात् उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम्” इति लक्षणम् । ‘उत्पन्न’ इति पदं पूर्वरूपव्यवच्छेदार्थम्; एवकारेण निदानसंप्राप्त्युपशया व्यवच्छिद्यन्ते, तेषामुत्पन्नानुत्पन्न-व्याधिबोधकत्वात्; तच्च दर्शितमेव; लिङ्गपदेन चक्षुरादेर्व्युदासः; यन्मते व्याधिजन्मरूपा संप्राप्तिस्तन्मते तस्या लिङ्गपदेन व्यवच्छेदः, नहि सा व्याधिज्ञाने लिङ्गम्, किंतु कारणमात्रम् । शास्त्रे व्यवहारार्थं निदानवल्लक्षणार्थं च रूपपर्यायानाह—संस्थानमित्यादि । ननु, रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, न च रूपव्यतिरेकेण व्याधिरूपलभ्यते; यतो मिलिता अरुच्यादय एव ज्वरः, कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा ।—उच्यते नैवम्, तथाविधदोष-दूष्य-संमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्याश्चारुच्यादयः; किंवा ( किंच ) अरुच्यादय एव प्रत्येकशो रूपाणि तत्समुदायो व्याधिः, यतः समुदायिभ्योऽन्य एव समुदायः, यथा—खदिरतरूपां वनमिति । अन्ये तु राहोः शिरः, शिलापुत्रस्य शरीरमिति वदसत्यपि भेदे भेदविवक्षया समर्थयन्ति; नैयायिकास्तु तत्रापि भेदमापादयन्ति । ननु, “विकारो दुःखमेव च”—इति ( च. सू. स्था. अ. ९ ) चरकवचनादुःख-

१ ‘तस्य कृच्छ्रसाध्यासाध्यत्वस्य पूर्वरूपेणैव ज्ञातत्वात्’ इति पाठान्तरम् । २ ‘स्वरूपशब्दवाच्यं कार्यं क्वचिदाश्रीयते’ इति पाठान्तरम् । ३ ‘तदपि’ इति पाठान्तरम् । ४ ‘धर्मस्याभावात्; धर्मस्यान्वयव्यतिरेकेण तन्निष्ठत्वात्; उपद्रवस्य च’ इति पाठान्तरम् । ‘ननु रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, यदि रूपव्यतिरेकेणान्यो व्याधिरूपलभ्येत’ इति पाठान्तरम् । ५ अस्याग्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके “एवं कासादिरुषातिरेकेणैव यक्ष्मा, तत्कार्याणि कासादय इति” इति अधिकः पाठ उपलभ्यते ।



स्यात्मगुणस्य कथमरुच्यादिसमुदायत्वम् ? नैवम्, दुःखयतीति दुःखमिति व्युत्पत्त्या दुःखहेतोर्धातुवैषम्यादेर्व्याधित्वस्वीकारात् । अरुच्यादयस्तु स्वरूपेण विकारा एव, यदाऽन्यप्रतिपादकास्तदा लिङ्गान्युच्यन्ते । यदाह चरकः,—  
“ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे । व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गा-  
नीष्टानि नामयाः”—इति ( च. नि. स्था. अ. ८ ) । इति रूपलक्षणम् ॥ ७ ॥

आ०--इदानीं रूपं लक्षयितुमाह—तदेवेत्यादि । तदेव प्राग्रूपं व्यक्ततां यातं रूपमिति कथ्यते अनिर्धारितैकत्वानेकत्वविशेषस्य पूर्वरूपमात्रस्य व्यक्तस्य व्याधेल्लिङ्गत्वम्, यथा तार्णपार्णादिविशेषविर-  
हेण धूममात्रस्य वह्निबोधकत्वमिति । संस्थानमित्यादि । संस्थानाद्याकृत्यन्ताः पङ्कुरूपस्य पर्याय-  
वाचकाः; तथा पूर्वरूपस्यापि, यथा—पूर्वसंस्थानं, पूर्वव्यञ्जनमित्याद्यपरेऽपि ॥ ७ ॥

### अथोपशयानुपशयो ।

उपशयमाह—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।

औषधान्नविहारणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ८ ॥

विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ९ ॥

( वा० नि० अ० १ श्लो० ६-७ )

हेतुव्याधीत्यादि । हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, व्याधिर्ज्वरादिः, एतयोर्हेतु-  
व्याध्योर्व्यस्त-समस्तयोर्विपर्यस्ता=विपरीताः, एतयोरेव व्यस्त-समस्तयोर्विपर्य-  
स्तार्थकारिणो=निदानसमानधर्मिणोऽपि प्रभावाद्दोगप्रशमकारिणः, एवंविधा ये  
औषधान्नविहारा भेषजाहाराचारास्तेषामुपयोगमाचरणं सुखावहं सुखकरमुप-  
शयं विद्यादुपशयाख्यं जानीयाद्याधेः । तस्य पर्यायमाह—स हि सात्म्यमिति  
स्मृत इति । चरकेऽप्युक्तम्,—“सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः” इति ( च. नि.  
स्था. अ. १ ) । हिशब्दः पादपूरणे । सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणम् ;  
यथा व्यपदिशन्ति लोके—भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इति, तत्सुखमाव-  
हति सम्यगायत्याऽनुबन्धेन च करोतीति सुखावहम् । एतेन सदाहृतृष्ण- नव-  
ज्वरिणः शीतलजलपानं तत्कालसुखकरमपि नोपशय ( करम् ) इति तात्प-  
र्यार्थः । अत्र, औषधान्नविहारणामित्युपलक्षणम् ; तेन देश-कालावपि  
बोद्धव्यौ । अत एव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय “एतेन देश-  
कालावपि व्याख्यातौ”—( वृ. वा. नि. स्था. अ. १ ) इत्याख्यातम् ।

सुदान्तसेनोऽप्याह, -“सुखानुबन्धो यो हेतुव्याध्यादिविपरीतकः। देशादिकश्चो-  
पशयो ज्ञेयोऽनुपशयोऽन्यथा”-इति । संक्षेपतस्तु लक्षणम्-“औषधादिजनितः  
सुखानुबन्ध उपशयः” इति । सूक्-चन्दन-वनिताद्युपभोगजनित-सुखनि-  
वृत्त्यर्थमौषधादिपदम्, अनुबन्धशब्दश्च अपथ्यजनिततदात्वसुखनिवृत्त्यर्थः । एत-  
दप्युदाहरणदर्शनपरं, न तु लक्षणम्; औषधादीनां हेत्वादिविपरीतानां परस्पर-  
व्यभिचारेण लक्षणत्वायोगात् । तस्मात् ‘सम्यग्व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुप-  
शयः’ ‘सात्म्यमुपशयः’ इति वा लक्षणम्; ‘औषधजनितः सुखानुबन्ध  
उपशयः’ इति वा लक्षणम्; चरके-आहाराचार-देश-काल-लङ्घनादीनां  
द्रव्याद्रव्यभूतानामौषधत्वेनाभिधानात् । अथैषामुदाहरणानि । तत्र ( हेतु-  
विपरीतानि ) औषधं यथा-शीत ( कफ ) ज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम् ।  
यदुक्तम्, -“शीतेनोष्णकृतात्रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः । ये च शीतकृता  
रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्”-इति ( च. वि. स्था. अ. ३ ) । अन्नं यथा-  
श्रमानिलजे ज्वरे रसौदनः । विहारो यथा-दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जाग-  
रणमिति । ( अथ व्याधिविपरीतानि ) । औषधं यथा-अतिसारे स्तम्भनं  
पाठादि, तथा शिरीषो विषं हन्ति, खदिरः कुष्ठम्, हरिद्रा प्रमेहमिति; नैते  
दोषमपेक्षन्ते प्रभावाद्रोगप्रशमकारिण इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह, -“ज्वरादि-  
व्याधिहरं यद्व्यं तदपि दोषप्रत्यनीकम्, किंतु दोषप्रत्यनीकादस्यायं भेदः-  
यदोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरम्; यथा-वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं  
हरतः । उक्तं हि-“कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः । तुल्येऽपि देश-  
कालादौ लङ्घनं न च संमतम्”-इति । तथा-“न वामयेतैभिरिकं न गुल्मिनं  
न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्”-इति ( सु. चि. स्था. अ. ३३ ) । “यत्तु  
व्याधिहरं तदवश्यं दोषहरम्, तद्व्याधिं शमयत्तदारम्भकदोषमपि शमयतीति ।  
अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणतादवस्थ्यात्” इति । तन्ना-  
तिसङ्गतम्, इत्यन्ये; यतो दोषस्तत्र समवायी निमित्तं वा ? न च समवायि-  
निमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः, किंत्वसमवायिनिमित्ताभावप्रयु-  
क्तोऽपि, यथा-कपालमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य विनाशादपि घटाभावः ।  
तथा-रोगेऽपि संप्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य विनाशाद्रोगस्यापि विनाशः, दोषस्तु  
स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते; किंच यदि व्याधिप्रत्यनीकमवश्यं दोषं निव-  
र्तयेदिति स्वीक्रियते, तदोभयप्रत्यनीकाद्भेदो दुरूपपादः स्यादिति । ननु, यदि  
निमित्तकारणं दोषास्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते ?

नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति । उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्था-  
यिकार्यं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा-वर्तितैलनाशादपि  
प्रदीपनाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायश इति । अन्नं यथा-अतिसारे स्तम्भनं  
मसूरादि । विहारो यथा-उदावर्तं प्रवाहणम्; मन्त्रौषधिधारण-बल्युपहार-  
नियम-प्रायश्चित्त-होम-गुरु-देव-शुश्रूषादयोऽपि व्याधिविपरीता विहारा इति  
वाप्यचन्द्रः । ( अथ हेतुव्याधिविपरीताश्रितानि ) । औषधं यथा-वात-  
शोथे दशमूलं वातहरं शोथहरं च । यदुक्तं चरके षाड्विरेचनशताश्रितीये-  
ऽध्याये “पाटला” इत्यादि यावत्-“दशेमानि शोथहराणि” इति ( च. सू. स्था.  
अ. ४ ) । अन्नं यथा-वात-कफ-प्रहण्यां तक्रम्, शीतवातोत्थे ज्वरे पेया, सा ह्युष्ण-  
वीर्यत्वाद्वातं हन्ति प्रभावाज्ज्वरं च । यदुक्तं चरके, “ज्वरद्वयो ज्वरसात्म्य-  
त्वात्” इति ( च. चि. स्था. अ. ३. ) सुश्रुते च, “ज्वरे चैवातिसारे च यवाग्नौः  
सर्वदा हिताः”-इति ( सु. उ. त. अ. ४० ) । विहारो यथा-स्निग्धदिवा-  
स्वप्नप्रजातायां तन्द्रायां रूक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणमिति । ( अथ हेतु-  
विपरीतार्थकारीणि ) । औषधं यथा-पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण  
उपनाहः । अन्नं यथा-पच्यमाने व्रणशोथेऽन्नं विदाहि । विहारो यथा-वातो-  
न्मादे त्रासनमिति । ( अथ व्याधिविपरीतार्थकारीणि ) । औषधं यथा-  
छर्द्या वमनकारकं मदनफलादि । अन्नं यथा-अतिसारे ( विरेचनार्थं ) विरे-  
चनं क्षीरम् । विहारो यथा-छर्द्या वमनार्थं प्रवाहणमिति । ( अथ हेतुव्या-  
धिविपरीतार्थकारीणि ) । औषधं यथा-अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः; विषे  
वा विषम् । अन्नं यथा-मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम् । विहारो  
यथा-व्यायामजनितसंमूढवाते जलप्रतरणरूपव्यायाम इति । ननु, छर्द्या बहु-  
श्लेष्मजायां वमनयोग्यायां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो  
वा स्यात्, ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति । यदुक्तं सुश्रुते,—  
“छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते”—इति । एवमग्निप्लुष्टेऽप्युष्णक्रियया  
रक्तस्य विलयनेन स्थानान्तरगमनाद्देतुप्रत्यनीकतैव । अन्यथा, “रक्तं दाहप्रकुपितं  
तत्रस्थं पाकमारभेत्” । यदुक्तं, सुश्रुते—“अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः  
प्रकुप्यति । ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते”—इति ( सु. सू. स्था. अ. १२ )

१ उक्तं हि—“बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति । पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा च विरे-  
चयेत्”—इति ( च. चि. स्था. अ. १९ ) । २ ‘वमनयोग्यायाम्’ इति पाठान्तरम् । ३ “विका-  
रानुवृत्तिः, रोगानुच्छेदो वा स्यात्”—इति, “विकारानुवर्ती दोषो रोगानुच्छेदो वा” इति च पाठ-  
ान्तरम् । ४ अस्याग्नेः कस्मिंश्चित् पुस्तके ‘तथा आमातिसारे क्षीरस्य विरेकिवेनामनिःसर्णाद्देतु-  
प्रत्यनीकमेव भवति’ इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

शीतक्रिया च तत्र निषिद्धा, रक्तस्य स्त्यानत्वहेतुत्वात् । यदाह सुश्रुतः—  
 “प्रकृत्या हृदकं शीतिं स्कन्दयत्यतिशोणितम् । तस्मात्सुखयाति ह्युष्णं न तु शीतिं  
 कथंचन”—इति ( सु. सू. स्था. अ. १२ ) । स्कन्दयति=स्त्यानीकरोति ।  
 तथा जङ्गमविषे ऊर्ध्वगस्वरूपे मौलविषमधोगस्वरूपं हेतुविपरीतमेव । यदुक्तं  
 चरके—“विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम् । ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्र-  
 भावप्रभावितम्”—इति ( च. सू. स्था. अ. २६ ) । अस्यायमर्थः—विपत्वा-  
 विशेषेऽपि कुतो गतिभेद इत्यत उक्तं प्रभावप्रभावितमिति । तथा मद्यकृते  
 मदात्यये यन्मद्यं तदपि मातुलुङ्ग-चुक्रादियुतं सुश्रुतादिभिर्विहितं केवलाच्च  
 द्रव्यान्तरसंयुक्तमन्यदेव, अथवा वातमदात्यये रूक्षमाध्वीकादिना जनिते  
 स्निग्धपैष्टिकादिमद्यं प्रयुज्यमानं हेतुविपरीतमेव । यच्चोक्तं सुश्रुते—“यथा  
 नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः । ध्रुवं तथा मद्यहतस्य  
 देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः”—इति ( सु. उ. त. अ. ४७ ) तन्मद्य-  
 जातीयाभिप्रायेणैव । यच्चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं, तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिर-  
 निर्गच्छन् देहोष्मा ( लिप्त ) कुम्भकारपवनन्यायेनान्तःपिण्डितौ भेदःश्ले-  
 ष्माणौ विलाययति व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः  
 स्वमार्गप्रतिपन्नो भवतीति हेतुप्रत्यनीकतैव । अनेन न्यायेन सर्वमेव तदर्थकारि,  
 यथासंभवं हेतुप्रत्यनीकादावेवान्तर्भवतीति । उच्यते, यद्यप्येवं तथाऽप्यवान्त-  
 रवैधर्म्यप्रतिपादनार्थमाचार्यैः पृथग्दर्शितम् । तथा चरकेऽप्युक्तम्—“उपशयः  
 पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः  
 सुखानुबन्धः” इति (च. नि. स्था. अ. १) । वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोग-  
 शमकत्वमिति । विपरीतोऽनुपशय इति औषधादीनां दुःखकर उपयोगोऽनुपशय  
 इत्यर्थः । तत्पर्यायमाह—व्याध्यसात्म्य इति । व्याधिग्रहणेन दोषोऽपि  
 बोध्यः । ननु, अनुपशयः किं व्याधिविशेषं बोधयति, नो वा ? नेति चेत्,  
 निदाने तदुपन्यासो व्यर्थः, प्रतिपादयतीति चेत्, “विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा  
 स्मृतम्”—इति व्याहन्यते, तस्य षष्ठत्वापत्तेः । नैवम्, प्रतिपादयत्येव ।  
 यदाह चरकः—“गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत” । इति  
 ( च. वि. स्था. अ. ४ ) । किंतु निदाने तस्यान्तर्भावो, दोषस्य रोगस्य वा

१ पवनम् = कुम्भकारस्य आमवटादिपाकस्थानम् । पूयते अग्निसंयोगेन यत्रेति व्युत्पत्तौ, “पूङ् =  
 पवने” इत्यस्माद् धातोः “करणाधिकरणयोश्च” इति पाणिनीयशास्त्रेणात्राधारे ल्युट् । शिष्टप्रयो-  
 गश्चापि यथा—“यः कुम्भकारपवनोपरि पङ्कलेपस्तापाय केवलमसौ न तु तापशान्त्यै ॥” इत्युद्ग-  
 टसागरे ॥ इदमेवास्माकं मारवारप्रदेशे “नेहायी, आवा” इत्यादिनाम्ना प्रसिद्धम् ॥ २ अस्याग्रे  
 ‘यथा शाल्यर्थं प्रवृत्तया कुल्यया कियमाणं बीजान्तराधानं तन्मान्तररीयकं, तदुभयहेतुत्वं साधर्म्यो-  
 दाहरणवत्’ इति कस्मिंश्चित् पुस्तके अधिकः पाठः ।

वर्धकत्वात् । इत्यनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावात् षष्ठत्वापत्तिः । वक्ष्यति च—  
“ निदानोक्तानुपशयः ” इति । इत्युपशयलक्षणम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—अथोपशयलक्षणमाह—हेतुव्याधिविपर्यस्तस्यादि । युग्मम् । उपयुज्यत इत्युप-  
योगः । सुखावहति सम्यगनुबन्धेन सुखमुत्पादयतीति सुखावहः । एतेन दाह-वृष्णान्वितस्य  
नवज्वरिणः शीतजलपानं तदात्वसुखकरमपि नोपशय इति तात्पर्यार्थः । ईदृशो य उपयोगः  
सुखावहस्तमुपशयं विद्यात् जानीयात् । केपामुपयोगः ? औषधा-न्नविहाराणाम् । औषधं  
हरीतक्यादि, अन्नं रक्तशाल्यादि, विहारो-वाग्-देह-मनो-निर्वर्तितश्चेष्टाविशेषो व्यायाम-  
जागरणा-ऽध्ययनादि-रूपः, औषधं च अन्नं च विहारश्च औषधान्नविहारास्तेषाम् । किंभूतानाम् ?  
हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् । हेतुश्च व्याधिश्च हेतु-व्याधी, तयोर्व्यस्त-समस्तयो-  
र्विपर्यस्ता निदान-रोगयोर्विपरीताः; तथा विपर्यस्तानामर्थो विपर्यस्तार्थः, तयोर्व्यस्तसमस्तयोरेव  
विपरीतमर्थं कुर्वन्तीति विपर्यस्तार्थकारिणः, हेतुव्याधिविपर्यस्ताश्च विपर्यस्तार्थकारिणश्च हेतुव्या-  
धिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणस्तेषाम् । तेषां विपर्यस्तानामर्थं कुर्वन्तीति प्रकृतत्वात् हेतु-  
व्याधिविपर्यस्तानाम् । तदाऽयमर्थः—निदान-रोगयोर्व्यस्त-समस्तयोर्विपरीता अपि कारणरूपा  
इव भासमाना व्याधिरूपा इव भासमाना हेतुव्याधिविपरीतानामर्थं व्याध्युपशमलक्षणं  
कुर्वन्तीति । यथा-हेतुविपरीतैरौषधान्नविहारैर्व्याध्युपशमः क्रियते प्रतिपक्षत्वात्, एवं विप-  
र्यस्तार्थकारिभिरपीत्यर्थः । तथा च हेतुविपरीतानां, व्याधिविपरीतानां, हेतुव्याधिविपरी-  
तानां, हेतुविपरीतार्थकारिणां, व्याधिविपरीतार्थकारिणां, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारिणाम्,  
औषधान्नविहाराणां यः सुखावह उपयोगः स उपशय इति पिण्डार्थः ( अथ क्रमेणोदाह-  
रणानि ) । हेतुविपरीतमौषधं यथा— शीतहेतुके कफज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम् ।  
वटुकम्—“ शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ्छमयन्ति भिषग्विदः । ये तु शीतकृता रोगा-  
स्तेषामुष्णं हि भेषजम् ” इति । हेतुविपरीतमन्नं यथा—श्रमानिलजे ( ज्वरे ) रसौदनम् । हेतुविप-  
रीतो विहारो यथा—दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जागरणम् । अथ व्याधिविपरीतमौषधं यथा—  
अतीसारे स्तम्भनं पाठादि । व्याधिविपरीतमन्नं यथा— अतीसारे स्तम्भनं मसूरादि ।  
व्याधिविपरीतो विहारो यथा—उदावर्ते प्रवाहणम् । सशब्दं हृत्कण्ठबलेन वायोरधोऽधो-  
नयनं प्रवाहणम् । ‘मन्त्रीपधधारणवत्युपहारादिनियमप्रायश्चित्ताचरणहोमदेवगुरुशुश्रूषादयो व्याधि-  
विपरीता विहाराः’ इति व्योमचन्द्रः । अथ हेतुव्याधिविपरीतमौषधं यथा—वातशोथे दश-  
मूलं वातहरं शोथहरं च । हेतुव्याधिविपरीतमन्नं यथा— वातकफग्रहण्यां तक्रं वातकफहरं  
ग्रहणीहरं च । हेतुव्याधिविपरीतो विहारो यथा—स्निग्धायां दिवास्वप्नजायां तन्द्रायां तन्द्रा-  
विपरीतं स्निग्धताहरं च रात्रौ जागरणमिति । अथ हेतुविपरीतार्थकार्यौषधं यथा—पित्तप्रधाने  
पच्यमाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः । हेतुविपरीतार्थकार्यन्नं यथा—पित्तशोथेऽन्नं विदाहि ।  
हेतुविपरीतार्थकारी विहारो यथा—वातान्मादे त्रासनमिति । अथ व्याधिविपरीतार्थकार्यौ-  
षधं यथा— कफे वमनकारकं मदनफलादि । व्याधिविपरीतार्थकार्यन्नं यथा—अतीसारे विरे-  
ककृत्स्नीरम् । व्याधिविपरीतार्थकारी विहारो यथा—छर्द्यामङ्गुष्ठोत्पलनालादिना वमनम् ।  
वमनविरेकाभ्यां छर्द्यतीसारयोर्द्विरेव कर्तुं युक्ता, इह तु शमनकरणाद्विपरीतार्थकारित्वम् । अथ  
हेतुव्याधिविपरीतार्थकार्यौषधं यथा—अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः, विषे वा विषम् ।

हेतुव्याधिविपरीतार्थकार्यन्नं यथा— मद्यपानोत्थे मदत्पये मदकरं मद्यम् । हेतुव्याधिवि-  
परीतार्थकारी विहारो यथा— व्यायामजनिते समूढवाते जलप्रतरणरूपो व्यायाम इति ।  
एवमपरेऽपि बोद्धव्याः । औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणम्, तेन देशकालावपि बोद्धव्यौ ।  
हिशब्दः पादपूरणे । स उपशयो व्याधेरामयस्य सात्म्यमिति स्मृतः । एवंविधगुणविपरीतो  
य आहारो विहारश्च प्रायेण निदानविपरीतः स व्याधिसात्म्यः । उक्तं च चरके—“देशा-  
नामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः । सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च”  
इति । उपशयकथनप्रस्तावादन्युपशयोऽपि वाच्य इत्याह—विपरीत इत्यादि । अतो यथानि-  
र्दिष्टलक्षणादुपशयाख्याद्यो विपरीतलक्षण औषधान्नविहाराणामुपयोगोऽसुखावहः सोऽनु-  
पशय इत्युच्यते, स एव व्याधेरसात्म्यमिति संज्ञितः आभिमुख्येन संकेतित इति ॥ ८ ॥ ९ ॥

### सम्प्राप्तिलक्षणम् ।

संप्राप्तिमाह—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।

निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ १० ॥

( वा० नि० अ० १ श्लो० ९ )

यथेत्यादि । नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनु-  
बन्धरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा रूक्षादिभिः  
समस्तैर्भावैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य=रोगस्य  
निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा संप्राप्तिरुच्यते । यथा चानुविसर्पतेति अनेकधा दोषाणां  
विसर्पणं=गतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन तथा विसर्पता=संसर्पता । संप्राप्तिपर्या-  
यावाह शास्त्रे व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च—जातिरागतिरिति ।—जात्यादिभिः  
शब्दैर्योऽभिधीयते सा संप्राप्तिरित्यर्थः; जातिरागतिरिति जन्माऽपि ज्ञानका-  
रणम्, अजातस्य ज्ञानाभावात्—इत्याह भट्टारहरिचन्द्रः । एतेनैतदुक्तं

१ “अत्रैके व्याधिजन्ममात्रमन्यकारणव्यापारजन्यं संप्राप्तिमाहुः । इयं च संप्राप्तिर्यद्यपि निदा-  
नादिवद्व्याधिबोधिका न भवति, तथाऽपि नानुत्पन्नस्य व्याधेरुल्लङ्घनं भवतीति कृत्वा उत्पत्तेर्व्याधु-  
पलम्भकत्वं वर्णयन्ति । एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते; यतः नैवं साते संप्राप्तिः कश्चिद्विशेषो व्याधेर-  
धिगम्यते । न चायं नियमः—यदुत्पन्न एव परं व्याधिरुपलभ्यते, यतो निदानपूर्वरूपाभ्यामनुत्पन्नो  
व्याधिर्भावित्वेनोपलभ्यते; तस्माद्व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः । इयं च  
संप्राप्तिर्व्याधिविशेषं बोधयत्येव, यथा ऊवरे “स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्”—इत्यारभ्य  
“तदा ऊवरमभिनर्वर्तयति”—इत्यन्तेन या संप्राप्तिरुच्यते; तथा ऊवरस्यामाशयदूषकत्वाऽग्न्युपधा-  
तकत्व—रसदूषकत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते । न च वाच्यम्—दोषाणामयमामाशयदूषकत्वादिधर्मः,  
ततश्च कारणधर्माणां निदानप्रज्ञेनैव ग्रहणं भवतीति; यतः कारणधर्मोऽप्ययं व्याधिजनकदोषव्या-  
पाररूपः संप्राप्तिशब्देन विशेषबोधनार्थं पृथक्कृतव्योच्यते; यथा—लिङ्गत्वाविशेषेऽपि भाविव्याधिबो-



भवति—नहि निदानादिवद्बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, किंतु बोधविषयत्वेन । तन्न—इत्यन्ये, आलोकचक्षुरादेरिव एवंविधसंप्राप्तेश्चिकित्सायामनुपयोगात् । न चास्ति नियमः जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात् । अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यजन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव । तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः, जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः, तैरपि विना ज्ञानाभावात् । तस्माद्दोषेति-कर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः, नतु केवलं जन्म । वाग्भटेन हि 'यथादुष्टेन'—( वा. नि. स्था. अ. १ ) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता; तथा सति क्रियाविशेषोऽपि लभ्यते । यथा—ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिवोधे लङ्घन-पाचन-स्वेदादिकरणमिति । संप्राप्तिश्चैवंविधा यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते, तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते; यथा—व्याधेर्ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात्पृथङिति ॥ १० ॥

आ०—अथ संप्राप्तिलक्षणमाह—यथेत्यादि । येन प्रकारेण दुष्टः कुपितो वाताद्यन्यतमो दोषो यथादुष्टस्तेन यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता = देहमनुधावता सन्निवेशविशेषेण गच्छता प्रत्यामयं या निर्वृत्तिरूपत्तिर्निर्दिष्टा सा संप्राप्तिः । सा च जातिरागतिश्च कथ्यते पर्यायशब्दत्वेन । व्याधिजन्म संप्राप्तिरित्येके यथा—ज्वरस्य मलानामामाशयप्रवेशनेन, तथा चामानुगमनेन, तथा स्रोतोनिरोधेन, तथा च पक्तिस्थानाज्ज्वलननिरसनेन तथा च तनैव जाठरेण वह्निना तथाऽभिसरणेन सकलदेहतापेन सकलं गात्रमुष्णं कुर्वता एवंविधया संप्राप्त्या ज्वरोऽयमिति निश्चीयते । एवमतीसारादिष्वप्येवंविधैव चिन्त्या संप्राप्तिः ॥ १० ॥

अथ संप्राप्तिभेदास्तद्विवरणं च ।

तस्या औपाधिकभेदमाह—

संख्या—विकल्प—प्राधान्य—बल—काल—विशेषतः ।

सा भिद्यते, यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ११ ॥

—धकत्वविशेषात्पूर्वरूपं पृथगुच्यते । अत एव वाग्भटेऽप्येवमेव संप्राप्तिलक्षणमुक्तम्,—“यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः”—इति चरकटीकायां निदानस्थाने संप्राप्तिविवरणे चक्रः ॥ १ ‘तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः’ इत्यत्र ‘न’ इत्येव कश्चित् पाठः । २ ‘वाध्यत्वापत्तेः’ इति पाठान्तरम् । ३ ‘जातमिति विज्ञानाभावात्’ इति पाठान्तरम् । ४ अस्याग्रे ‘इति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः’ इति कुत्रचित्पुस्तकेऽधिकम् । ५ अस्याग्रे ‘तस्माद्दोषेति कर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिरित्येव लक्षणम्’ इत्यधिकं दृश्यते कस्मिंश्चित्पुस्तके ।

दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽंशांशकल्पना ।

स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ १२ ॥

हेत्वादिकात्स्नर्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।

नक्तं दिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ १३ ॥

( वा० नि० अ० श्लो० ९, १०, ११ )

म०—संख्येत्यादिना सा भिद्यत इत्यन्तेन । अत्र च प्राधान्योपादानादप्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यम्, अत एव विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति । एवं बलेऽपि व्याख्येयम् । संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि । अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम् । अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात्; एकजास्त्रयः, द्वन्द्वजास्त्रयः, सन्निपातज एकः, आगन्तुजश्चैक इति । यद्यपि वृद्धेदोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरके,—“द्वयुल्वणैकोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् । समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश”—( च. सू. स्था. अ. १७ ) इति; तथाऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात्सन्निपातिक एकत्वेन गणितः । एवं काम-शोक-भयाद्यनेककारणजोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति । विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि ।—दोषाणां समवेतानां परस्परसंबद्धानाम्; तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम् । अंशांशकल्पनेति अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः, तैरेक-द्वि-त्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं विकल्पना । यदुक्तं सुश्रुते—“सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः । संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुवावति—” इति ( सु. सू. स्था. अ. २१ ) । एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति । तद्यथा—वातस्य रौक्ष्य-शैत्य-लाघव-वैशद्यादि-गुणस्य एवंगुणः कषाय-रसः कलायश्च सर्वैर्भावैर्वर्धकः, रौक्ष्य-शैत्य-लाघवैस्तण्डुलीयकः, रौक्ष्य-शैत्याभ्यां काण्डेक्षुः, रौक्ष्येण सीधुः, पित्तस्य सर्वैर्भावैर्वर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटु-तीक्ष्णोष्णत्वैः, दीप्यकस्तैक्ष्ण्यौष्ण्याभ्याम्, औष्ण्येन तिलाः; तथा श्लेष्मणः सर्वैर्भावैर्वर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेह-गौरव-माधुर्यै राजादनफलम्, कशेरुः शैत्य-गौरवाभ्याम्, शैत्येन क्षीरिणां फलानीति । अपरगुणोदाहरणप्रकारा जेज्जट्ट-गदाधर-वाप्यचन्द्र-व्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः । प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्या-

१ जेज्जटादीनां ग्रन्थे ज्ञातव्याः । “सर्वैरंशैः कषायश्च कलायो वातवर्धनः । पित्तस्य कटुको दीप्यः श्लेष्मणो माहिषं पयः” । विस्तरेण ग्रन्थस्य विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः । इति पाठान्तरम् ।



मिति ।—अनुबन्ध्यानुबन्धभावेनेत्यर्थः । अत्रापि दोषाणां समवेतानामित्यनुवर्तनीयम् । ‘अप्राधान्यं च’ इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपदर्शितम् । तेन स्वातन्त्र्यात्प्राधान्यम्, पारतन्त्र्यादप्रधान्यमिति सिध्यति । बलं विवृणोति—हेत्वादीत्यादि ।—हेतु-पूर्वरूप-रूपाणां साकल्याद्याधेर्बलवत्त्वम्, तेषामवयवैर्नैकदेशेनावलवत्त्वम् । कालं विवृणोति—नक्तमित्यादि ।—नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरेकदेशैः, व्याधिकालो व्याधिवृद्धि-हानि-हेतुकालः । अत्र, ऋतोरंशाः कतिपयान्यहोरात्राणि, यदाह वाग्भटः,—“ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः”—इति ( वा. सू. स्था. अ. ३ ); अथवा संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोऽंश ऋत्वंश इत्येवमपि योज्यम्, न त्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशाः, ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात् । यथामलं=यथादोषम्; तद्यथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तम्, शेषे वायुः; एवं दिनस्य, वसन्ते कफस्य, शरादि पित्तस्य, वर्षासु वायोः कोपः; एवं भुक्तादौ=भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये=पच्यमानावस्थायामपित्तस्य, अन्ते=सम्यक्परिणते वायोरिति । तदुक्तं वाग्भटेनैव,—“ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्—” इति ( वा. सू. स्था. अ. १ ) । अत्र ते इति क्रमेण वात-पित्त-श्लेष्माणः । ननु, संप्राप्तिभेदे चरकेण संख्यादिवद्विधिरप्युक्तः; यथा—“द्विविधा व्याधयो निजा-ऽऽगन्तुभेदेन”; “द्विविधं रक्तपित्तम्” ( च. नि. स्था. अ. १ )—इत्यादि; तत्कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः? उच्यते, संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात् । विधि-संख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्भ्रमान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽपि ऊर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा—चत्वारो घटा, अष्टौ ज्वरा इति । अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते । तथा च न्यायविदो ब्रुवते—“समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रम्” इति ।

१ ‘ननु ऋतुरूपकालस्यांशाः व्याधुत्पादका न भवन्ति, विशिष्टस्य व्याधिहेतुत्वात्; ततोऽंशशब्दस्य कथम् ऋतुशब्दप्रयोगः? उच्यते—तत्र, संवत्सररूपकालस्य ऋतुरूपोऽंश इति योज्यम्, न त्वेकस्य ऋतोर्दिनानि मध्यान्ताद्यंशाः’ इति पाठान्तरम् । ‘ऋत्वोरंशा’ इति च । २ तानि च त्रीणि ( दोषस्थानानि ) हृन्नाभ्योरधो वायोः स्थानम्, मध्ये पित्तस्य, ऊर्ध्वं कफस्य, सर्वदेहव्यापित्वेऽपि यो यस्मिन्नितरामाधिक्येन वर्तते तत् तस्य स्थानम्; हृन्नाभिः शब्दाभ्यां तदुभयावधिः ( तयोरन्तराऽस्थः ) । प्रदेशो लक्ष्यते, अन्यथा ह्रदोऽप्यधो वायुः, नाभेरप्यूर्ध्वं कफस्तिष्ठेत् । इति वाग्भट्टटीकायां हेमाद्रिः ॥

वैयाकरणा अपि व्याचक्षते, “अन्वयवान् प्रकारो निरन्वयो भेदः” इति वाप्यचन्द्रो लिखितवान् । ननु, यथाऽंशशविकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्याया । उच्यते, संख्याभेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः ? इति । तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परम्परया कारणत्वं संख्यायाः । तत्र यदुत्पन्न एवासौ दोषभेदाद्भिन्नो जातस्ततो युक्तमस्य पर्येषणं कतमोऽयमिति । कुतः ? चिकित्साविशेषार्थम् । इति संप्राप्तिलक्षणम् ॥ ११-१३ ॥

आ०—अथ संप्राप्तेर्भेदानाह—संख्येत्यादि । सा च संप्राप्तिः संख्यादिविशेषेण भिद्यते । संख्या च विकल्पश्च प्राधान्यं च बलं च कालश्च त एवम्, तेषां विशेषः संख्या-विकल्प-प्राधान्य-बल-काल-विशेषस्तस्मात्संप्राप्तिर्बहुधा संपद्यते । तत्र संख्याविशेषो यथा—इहैवास्मिन् ग्रन्थे वक्ष्यते अष्टौ ज्वरा इति; एवमपि पञ्च कासा इति, पञ्च गुल्मा इत्यादि, एवमादयः संख्याविशेषाः संप्राप्तिभेदाः । संख्यानन्तरं विकल्पं विवृणोति—दोषाणां वातादीनां समवेतानामेकस्मिन् व्याधौ संघट्टितानां या अंशशविभागेन कार्यानुमेयेनानुमानेन । यथा—पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वादितिवन्निरूपणं स विकल्पः। अंशश्च अंशश्च अंशांशौ ताभ्यां कल्पना अनेकविधो विशेषो वातादिगतरीक्ष्यादिकः, यथा—किमयं वातः सर्वैर्गुणैः कुपितः, किं त्रिभिः, किं द्वाभ्यां, किंवैकेन; किमिदं पित्तं सर्वैर्गुणैः कुपितं, किं त्रिभिः, किं द्वाभ्यां, किमेकेन; किमयं श्लेष्मा सर्वैर्भावैः कुपितः, किं त्रिभिः, किं द्वाभ्यां, किमेकेनेत्यादिका कल्पना । तद्यथा—वायो रौक्ष्य-क्षीत्य-लाघव-वैशद्यदिगुणस्यैवंगुणः कषायो रसः कलायश्च सर्वैरंशैर्वर्धकः, रौक्ष्य-क्षीत्य-लाघवैस्त्रिभिस्तण्डुलीयकः, रौक्ष्य-क्षीत्याभ्यां काण्डेशुः, रौक्ष्येणैकेन गुणेन सीधुः; तथा सर्वैरंशैः कटुम्लतीक्ष्णोष्णगुणस्य पित्तस्य कटुको रसो मद्यं च, कटूष्णतीक्ष्णैर्हिङ्गु, दीप्यकं तीक्ष्णोष्णाम्बाम्, उष्णैकेन तिलाः; एवं सर्वैरंशैः स्नेह-गौरव-प्राधुर्यैस्त्यगुणस्य श्लेष्मणो मधुरो रसो माहिषं पयश्च, स्नेह-गौरव-प्राधुर्यै राजादनफलम्, कसेरुकाः शैत्य-गौरवाभ्याम्, शैत्येनैकेन मृणालं श्लेष्मवर्धकम् । एवमपरेऽपि ज्ञेयाः । दोषाणामिति बहुत्वे पृथग्ग्रहणम् । समवेतानामिति द्वन्द्व-सन्निपातयोर्ग्रहणम् । उक्तं हि सुश्रुते,—“सर्वैरंशैस्त्रिभिर्वापि द्वाभ्योमेकेन वा पुनः । सर्वैर्गुणैः कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ”—इति । अथ प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्यं च, ताभ्यां प्राधान्यं व्याधेरादिशेत् । अप्राधान्यं चेति शेषः । तत्र स्वातन्त्र्यस्य व्याधेः स्वनिर्दिष्टोपक्रमसाध्यत्वात्प्राधान्यम्, यथा ज्वरस्य । अथ बलाबलं विवृणोति—कृत्स्नस्य भावः कात्स्न्यम्, कात्स्न्यं च अवयवाश्च कात्स्न्यावयवाः तैः, बलं च अबलं च बलाबले व्याधिसंबन्धिनी, तयोर्विशेषणं=विशिष्टता बलाबलविशेषणम् । तद्यथासंख्येन कात्स्न्यावयवैरादिशेत् । आदिशब्देन प्राप्नोपादयो गृह्यन्ते । तेषां साकल्याद् व्याधेर्बलत्वम्, तेषामेवावयवैकदेशेनावलत्वम् । तत्र प्रतिरोगं यन्निदानमुद्दिष्टं तर्हि कात्स्न्येनास्य व्याधेरुत्पादकमुतैकदेशेन ? एवं प्राप्नोपमपि किं समस्तव्याधेरलक्ष्यते उतावयवैरेकेन च ? उपशयोऽप्यस्य व्याधेस्तर्पणातर्पणरूपः । स किं कात्स्न्येन सुखानुबन्धं करोति उतावयवेन ? तत्र कात्स्न्येन यथा—रक्तशाल्यादि-मांस-घृत-क्षीर-इधि-वसा-मज्जा-तैलादिना, अवयवेन यथा—रक्तशालिना मांसाद्यन्यतमैकेन वा; एवमन्यदपि चिन्त्यम् । कालं विवृणोति—नक्तमि-

त्यादि ।—नक्तं=रात्रिः; दिनमहः, ऋतवो=वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरादिमध्यान्तलक्षणैरेकदेशैर्वा । यथामलं=यथादोषं, व्याधिकालः=व्याधिवृद्धिहानिहेतुकालः । यथा—रात्रिमुखे श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः । एवं दिनस्यापि पूर्वाह्ने श्लेष्मा, मध्याह्ने पित्तं, अपराह्ने वायुः; एवम् ऋतुषु वसन्ते श्लेष्मा, ग्रीष्मे पित्तं, वर्षासु वायुः कुप्यति; एवं भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये=पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, सम्यक्परिणतौ वायोः कोपः । अत्र संवत्सररूपस्य काऽप्य ऋतुरूपा अंशा ऋत्वंशा इति योज्यम्, न त्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवत् । केचन ऋत्वंशाः कतिपयाहोरात्राणि कथयन्ति । यदुक्तं वाग्भटे,—“ ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसंधिरिति स्मृतः ”—इति ॥ ११—१३ ॥

उक्तनिदानपञ्चकमुपसंहरति—

इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते ।

म०—इतीत्यादि । इतिशब्दः समाप्तौ । निदानशब्दोऽत्र सामान्यवचनः, अर्थोऽभिधेयः । तन्निदानं संक्षेपेण स्वरूपलक्षणमात्रेणोक्तम्, अधुना व्यासेन विस्तरेणोपदेक्ष्यते कथयिष्यते; सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तत्तद्विशेषैर्वक्तव्या इत्यर्थः ॥—

आ०—उक्तनिदानपञ्चकमुपसंहरति—इतीत्यादि इतिशब्दः प्रकारे अनेन संक्षेपाख्येन प्रकारेण यथार्निर्दिष्टो निदानार्थो निदानाभिधेयः समासतः संक्षेपतः कथितः । निदानशब्दोऽत्र सामान्यः प्राप्नोति । य एव निदानार्थः समासेन प्रोक्तस् एव व्यासेन = विस्तरेण उपदेक्ष्यते = कथयिष्यते । तेन सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तत्तद्विशेषैर्वक्तव्या इत्यर्थः ।

अथ सर्वरोगाणां सामान्यं कारणम् ।

द्विविधं हि रोगस्य कारणं विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च; तत्र विप्रकृष्टं विरुद्धाहारादि, सन्निकृष्टं वातादि, तस्य वातादेः सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ।

तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ॥ १४ ॥

( वा० नि० अ० १ श्लो० १२ )

म० सर्वेषामित्यादि । यदाह सुश्रुतः,—“ नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः । अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ ”—इति ( सु. सू. स्था. अ. ३५ ) । आगन्तुव्याधिषु यद्यप्युत्पत्तौ दोषकोपो नास्ति, तथाऽप्युत्पत्त्यनन्तरमवश्यंभावी; उत्पन्नद्रव्ये गुणयोगवत् । यदुक्तं चरके,—“ आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वात-पित्त-श्लेष्मणां वैषम्यमापादयति ”—इति ( च. सू. स्था. अ. २० ) । निदानं=कारणम् । मला=दोषाः, मलिनीकरणात् । ननु, वातादीनां किमिदं दोषत्वम्; ? अत्राहुरेके—स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम् इति;

रसादिदूष्यव्यवच्छेदार्थं 'स्वातन्त्र्येण' इति पदम्, ते हि वातादिदुष्टाः सन्तो दूष्यान्तरदूषकाः। अत्राहुरन्ये—किमिदं स्वातन्त्र्यम्? किं दोषान्तरनिरपेक्षत्वम्? हेत्वन्तरनिरपेक्षत्वं वा? आद्ये वातस्यैव दोषत्वं स्यात्, न तु वातसापेक्षयोः कफ-पित्तयोः। यदुक्तम्,—“पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति भेषवत्॥”—इति । द्वितीये वातस्यापि न दोषत्वम्, कफपित्तयोरिव निदानसापेक्षस्यैव तस्य दूषकत्वात् । तस्मात् “प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दृष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्” इति लक्षणम् । रसरक्तादिनिवृत्त्यर्थं 'प्रकृत्यारम्भकत्वम्' इति विशेषणम् । नहि वातादिप्रकृतिवच्छास्त्रे रस-रक्तादिप्रकृतिरुक्ताः वातादिप्रकृतित्वं च शरीरस्य वातादिदूषित-शुक्रशोणितारब्धत्वंम् । अदाह चरकः,—“दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ।”—तथा,—“वातलाघ्याः सदाऽऽतुराः”—इति ( च. सू. स्था. अ. ७ ) । सुश्रुतेनापि प्रकृतिलक्षणे—“वातप्रकृतिः स्फुटितचरणो जागरूकोऽनवस्थितचित्तः” ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) इत्यादि पठितम् । प्रकृति-रोगयोश्चायं विशेषः—प्रकृतिरपथ्यसेवया नात्यन्तं बाध्यते, यदुक्तम्,—“विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते । तद्वत्प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वात् न बाध्यते ।” ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) इति संक्षेपः । विस्तरस्तु सुश्रुतश्लोकवार्तिके प्रश्नविधानाख्ये टीकासु च द्रष्टव्यः । ननु, 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' इत्येवास्तु । सत्यम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिर्भवत्येव, किन्तु दोष-स्वरूपं नोक्तं स्यादिति । सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकाल-प्रकोपण-निर्हरण-स्थानविशेष-रोगविशेष-लिङ्गविशेष-चिकित्साविशेषाणां विधानादक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैराषाढ-धर्मदासादिभिः स्वीकृतं तदप्येतेन व्यवच्छिन्नम्, अधुनातनैरस्वीक्रियमाणत्वात् । ननु, दोषाश्चेत्कारणं तर्हि तेषां सर्वदेहे सद्भावात्सर्वदा रोगोत्पादकत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—कुपिता इति, विकृतिषु पन्नाः। ननु तत्प्रकोपः स्वभावात्, कारणान्तराद्वा? नाद्यः, पूर्ववत्प्रसङ्गात् ; ;

१ 'दृष्टिकारणत्वम्' इति पाठान्तरम् । २ 'रसरक्तप्रकृतिरुक्तः पुरुषः, रक्तदूषितशुक्रोदरसाध्यत्वेन देहप्रकृत्यारम्भकत्वं नास्ति, रक्तस्य देहप्रकृत्यारम्भकत्वे सत्यपि प्रकृत्यारम्भकत्वं नास्ति, अनभिधानात्; शास्त्रे न रक्तप्रकृतिरुक्तः पुरुषः' इति पाठान्तरम् । ३ अस्याग्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके 'तत्र वातादिदूषितत्वं नाम शुक्रशोणितसंयोगकाले शुक्रशोणितयोरधिकतरदोषाधिकरणत्वम्, अन्यथा दुष्टयोस्तयोर्देहप्रकृत्यारम्भकत्वमेव न स्यात् । उक्तं च,—“वातादिदुष्टरेतसः प्रजोत्पादने न समर्थाः” इति । तत्रोभयोरैकाधिकरणत्वेन एकदोषजा प्रकृतिः, भिन्नाधिकरणत्वेन द्वन्द्वजा त्रिदोषजा वा । वातादिप्रकृतिरुक्तं शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वात्' इत्यधिकः पाठः । ४ 'प्रश्नसहस्रनिदानाख्ये' इति पाठान्तरम् । ५ 'धर्मस्वामिदासादिभिः' इति पाठान्तरम् ।

कारणान्तरादिति किं तदित्याह—विविधाहितसेवनमिति ।—विविधस्य, नानाविधस्य, अहितस्यासात्त्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणाम-लक्षणस्य सेवनमिति ॥ १४ ॥

आ०—सन्निकृष्टकारणत्वेन वातादीनां सर्वरोगेष्वन्यभिचरितकारणत्वमाह-सर्वेषामित्यादि । कुपितत्वेन हि धातूनां मलिनीकरणादोषा एव मल्य इत्युच्यन्ते । कुपिता = विकृतिमापन्ना वात-पित्त-कफाः सर्वेषामपि रोगाणां निदानं = कारणम् । तत्प्रकोपस्येति तदित्यनेन वातादयः परामृश्यन्ते; तस्य तु वातादिप्रकोपस्य निदानं = कारणं विविधं = नानाप्रकारमहितसेवनमहिता-नुष्ठानं प्रोक्तं = कथितमिति ॥ १४ ॥

रोगाणामपि कादाचित्कं निदानत्वम् ।

ननु, किमेतदेव निदानम्, उतान्यदप्यस्तीत्यतश्चरकवचनमुपन्यस्यति—

**निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १५ ॥**

( वा० नि० स्था० अ० १ श्लो० १३ )

म०—निदानार्थकर इत्यादि । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमे । रोगोऽपि निदानार्थकरो रोगस्य । अस्यायमर्थः—निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याध्याख्यः, स रोगेणापीति । रोगोऽपि रोगकर इति वाच्ये यन्निदानार्थकर इत्यकरोत्, तेनैवं गमयति—रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोति; एवं रोगो रोगस्य निदानमुपजायत इत्येव योजना ॥ १५ ॥

आ०—ननु किमेतदेव निदानमन्यदप्यस्तीत्याह-निदानार्थकर इत्यादि । रोगस्य व्याधेः रोगोऽपि निदानार्थकर उपजायते । निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याध्याख्यः स रोगेणापीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अत्रोदाहणानि

अत्रैव दृष्टान्तमाह—

तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।

रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥

प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च ।

अशोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥

( दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते । )

प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।

क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ १८ ॥

( वा० नि० स्था० अ० १ श्लो० १५, १६, १७ )

म०—तद्यथेत्यादि । ताभ्यामिति रक्तपित्तात् ज्वराच्च । दुःखमिति दुःख-यतीति दुःखं पीडाकरम् । अयं च दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरा-

दिषु योज्य इति वाप्यचन्द्रः । गुल्मश्चाप्युपजायत इति अशोभ्य एव । कासा-  
त्संजायते क्षय इति 'ओजःप्रभृतीनाम्' इति शेषः । स च क्षयो रोगस्य हेतुत्वे  
उपजायते । कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति, राजयक्ष्मणः । अत्र केचित्  
हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति,—“क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोष-  
श्चाप्युपजायते”—इति । अस्यार्थः—क्षयो=राजयक्ष्मा, उरोग=उरःक्षतम्, समाहार-  
द्वन्द्वेनैकवचनं, तस्य हेतुत्वे शोषो धातुक्षय उपजायत इति । ननु, चरके, सर्व निदानं  
त्रैविध्येन संगृहीतम् “असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग”—इत्यादिना, ततश्च रोगस्यापि  
निदानत्वमाचक्षाणः स्वोक्तं निदानत्रैविध्यसंग्रहं कथं न विरुणद्धि ?; अत्रैके  
समाधिमभिदधति—त्रिविधं यन्निदानमुक्तं तत्सर्वव्याधिविषयम्, इदं तु प्रतिनिय-  
तविषयं, यतो न सर्वे रोगा रोगाज्जायन्ते किं तर्हि कश्चिदेव व्याधिः कुतश्चिदो-  
गादिति चतुर्थमेवैतन्निदानं रोगाख्यमिति । अन्ये त्वाहुः—रोगस्य रोगोऽपि  
निदानं भवन् त्रिविधनिदानव्यतिरेकेण न भवत्येव; यतो यावदयं ज्वरोऽसा-  
त्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभिरुपबृंहितबलो न भवति न तावदक्तपित्तमारभते तस्मात्  
व्याध्युत्पादे त्रिविध एव हेतुः साक्षात्पारम्पर्येण वेति ॥ १६—१८ ॥

आ०—अत्रैव दृष्टान्तमाह—तद्यथेत्यादि । कारणभूतात्, ज्वरसन्तापात् रक्तपित्तमुदीर्यते उत्पा-  
द्यते; कारणभूताद्रक्तपित्ताज्ज्वरः समुपजायते, ताभ्यां रक्तपित्तज्वराभ्यां शोषश्च उपजायते,  
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरमुदरविकारः, तस्मात् जठरात् शोथः, अशोभ्य एव जठरं गुल्मश्चाप्युपजायते ।  
दुःखमिति, दुःखं पीडाकरम् । दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरादिषु योज्यः, अथ प्रति-  
श्यायात् कासो जायते कासात् क्षयः संजायते, “ओजःप्रभृतीनाम् ” इति शेषः; स च क्षयः रोगस्य  
हेतुत्वे उपजायते, कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति ॥ १६—१८ ॥

ननु, य इमे रोगा रोगान्तरस्य निदानत्वेनोक्तास्ते किमुत्पन्नमात्रा एव रोगं  
जनयन्ति, उतानन्तरकालमित्यत आह—

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेतुत्वकारिणः ।

( च० नि० अ० ८ श्लो० १८ )

म०—ते पूर्वमित्यादि । ते व्याधय उपबृंहकहेत्वलाभात् प्राक् केवलाः  
स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव रुजाकर्तृत्वात्, पश्चादुपबृंहकहेतुलाभात् हेतोर्निदा-  
नस्य योऽर्थो=यत्प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत्कुर्वन्ति । यथा—ज्वरो रक्त-  
पित्तमिति ॥—

आ०—ते व्याधयः प्राक् केवलाः स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव, रुजाकर्तृत्वात्; ऊर्ध्वमुपबृंहकहेतुला-  
भाद्धेतोर्निदानस्य योऽर्थः प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत् कुर्वन्ति, यथा ज्वरो रक्तपित्तमिति ॥—



## रोगसाङ्ख्यम् ।

तस्यैव रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ १९ ॥

न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ।

एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥ २० ॥

( च० नि० अ० ८ श्लो० १९, २०. )

म०—कश्चिदित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण व्याधिसंकरा व्याधिभेदकाः दृश्यन्ते । यथा—प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्च जायते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ स्यातामिति । कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखजनकत्वात्, प्रायो विरुद्धोपक्रमश्चेति ॥ १९ ॥ २० ॥

आ०—तस्यैव रोगजनकव्याधेर्वैचित्र्यमाह—कश्चिदित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण, व्याधिसंकराः व्याधिभेदकाः, कृच्छ्रतमाः दृश्यन्ते; एवं कश्चिद्रोगो रोगान्तरस्य कारणं भूत्वा स्वयं प्रशाम्यति, अन्यश्च न प्रशाम्यति; यथा प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्चोत्पद्यते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ स्याताम् । कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखजनकत्वात्प्रायो विरुद्धोपक्रमत्वाच्च ॥ १९ ॥ २० ॥

उक्तनिदानपञ्चकस्य रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्धिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यतामाह—

तस्माद्यत्नेन सद्रैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम् ।

ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥ २१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ।

म०—तस्मादित्यादि । उद्धतां बहुविषयत्वेन महतीम् । विनिश्चयो निदानमिति । अथ वक्ष्यमाणविकारेषु प्रकृतिसमसमवाय-विकृतिविषमसमवायादिज्ञानार्थं चरकोक्ता वातादिगुणा लिख्यन्ते,—“रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ गुरु-शीत-मृदु-स्निग्ध-मधुर-स्थिर-पिच्छिलाः । श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः”—इति ( च. सू. स्था. अ. १ ) ॥ २१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ।

आ०—उक्तनिदानपञ्चकं रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्ध्यादिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यमाह—तस्मादित्यादि । तस्मात्कारणम् उक्तमां बहुविषयत्वेन महतीं सिद्धिमिच्छद्भिर्वैद्यैर्योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयो वक्ष्यते कथ्यते स यत्नेन ज्ञातव्यः ॥ २१ ॥

इति श्रीवैद्यनाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे रुग्णविनिश्चयव्याख्याने

सर्वरोगनिदानादिपञ्चककथनम् ॥ १ ॥

## अथ ज्वरनिदानम् । ( FEVER )

अथ ज्वरस्योत्पत्तिर्भेदाश्च ।

अथ सर्वरोगप्राधान्यात्प्रथमं ज्वरो वाच्यः । प्राधान्यं च तस्य शारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात्, बलवत्त्वात्, देहेन्द्रियमनस्तापित्वात्, जन्मनिधनयोरवश्यंभावित्वात्, स्थावरजङ्गमरूपसर्वभूतव्यापित्वाच्च, नैवमन्ये विकाराः । यदुक्तं चरके—“देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा । तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ॥”—( च. चि. स्था. अ. ३ ) इत्यादि यावद् “भगवन् ! वक्तुमर्हसि”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । तथा—“ज्वरेणाविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते”—इत्यादि ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । उक्तं च पालकाप्ये,—“पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करमे चालसो भवेत् । हारिद्रो महिषाणां तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणांमभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वाक्षिकसंज्ञकः ॥”—इत्यादि । तथाऽन्यत्र—“जलस्य नीलिका भूमेरूपरो वृक्षस्य कोटरः”—इत्यादि । तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—

दक्षापमानसंकुद्धरुद्रनिःश्वाससंभवः ।

ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ १ ॥

म०—दक्षापमानेत्यादि ।—दक्षापमानेन दक्षप्रयुक्तपरिभवेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य, निःश्वासात् संभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । निःश्वासोऽत्र क्रोधलिङ्गत्वेन निर्दिष्टः, अत एव सुश्रुतेन “रुद्रकोपाग्निसंभूतः” ( सु. उ. तं. अ. ३९ )—इत्युक्तम् । क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तृतीयमाग्नेयं चक्षुः सृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मितः । यदाह चरकः,—“सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः । बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत्सत्रनाशनम्”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अत्र सत्रनाशनं यज्ञनाशनम् । एषा ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या । एतेन रुद्रकोपस्य विप्रकृष्टकारणत्वमुक्तम्; यदि हि ततो ज्वरो नोदपत्स्यत अधुनाप्यपचारान्नोदपत्स्यत इति भट्टारहरिचन्द्रः । एतदभि-

१ पालकाप्यविरचिते हस्त्यायुर्वेदे महारोगस्थाने नवमाध्यायेऽयं विषयः गद्येन पठ्यते । २ इतो-  
अत्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके “उप-पन्नश्च तस्मात्, ततो रुद्रसंतोषार्थं जप-होम-पूजा-शिववचनादिकं  
कार्यम्, तेन स न पीडयिष्यति” इत्यधिकः पाठः ।



धानस्य चिकित्सानुपयोगित्वेन अन्ये टोकाकृतोऽन्यथा व्याचक्षते—  
 कोपोद्भवत्वेन तैजसत्वं प्रकाश्यते; क्रोधो ह्याग्नेयः; यदाह चरकः—  
 “क्रोधात्पित्तम्” इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । तेन सर्वज्वरे  
 पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति । यदुक्तं वाग्भटेनैव,—“ऊष्मा  
 पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना । तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ता-  
 धिकेऽधिकम्”—इति ( वा. चि. स्था. अ. १ ) । अत एव चरके—कट्वम्ललव-  
 णान् पाचनान् परित्यज्य तरुणज्वरे पाचकत्वेन तिक्तको रसः पित्तघ्नो निर्दिष्टः ।  
 यदाह,—“लङ्घनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः । पाचनान्यविपकानां  
 दोषाणां तरुणज्वरे”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । कालोऽत्राष्टाह इति ।  
 अन्ये त्वाहुः,—रुद्रकोपसंभवत्वेन देवतात्मकत्वात् पूजार्हत्वमुपदर्शितम् । यदाह  
 विदेहः,—ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति”—इति । हरिवंशेऽपि,—  
 “ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः । भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तक-  
 यमोपमः”—इति मूर्तिमानेवोक्तः । बहुविधमपि ज्वरं संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्ट-  
 धेति । अष्टत्वं विवृणोति—पृथगित्यादि । तच्च संप्राप्तौ विवृतम् ॥ १ ॥

आ०—अथ सर्वरोगप्राधान्यात्प्रथमं ज्वरो वाच्यः । प्राधान्यं चास्य शरीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात्  
 बलवत्त्वाद्देहेन्द्रियमनस्तापित्वाच्च जन्मनिधनयोरवश्यंभावित्वाच्च स्थावरजङ्गमभूतव्यापित्वाच्च, नैवमन्ये  
 विकाराः । उक्तं च चरके,—“देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भग-  
 बता पुरा”—इति । तथा,—“ज्वरेणाविशता भूतं नहि किञ्चिन्न तप्यते”—इति । उक्तं च गजवैद्यके—  
 “पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंज्ञस्तु मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजा-  
 वीनां प्रलापाख्यः करभेष्वलसो भवेत् । हरिद्रो महिषाणां तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु  
 मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षघातः पतङ्गानां ब्यालेष्वाक्षिकसंज्ञकः”—इत्यादि । तथा तन्त्रान्तरेऽपि—“जल-  
 स्य नीलिका, भूमेरूपरः, वृक्षस्य कोटरः” इत्यादि । तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—दक्षेत्यादि । दक्षापमानेन  
 दक्षप्रयुक्तपरिभवेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य निःश्वासात्संभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । निःश्वासेऽत्र क्रोधलिङ्ग-  
 त्वेन निर्दिष्टः । यथा सुश्रुते—“रुद्रकोपाग्निसंभूतः सर्वभूतप्रतापनः”—इति । क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तार्त्ति-  
 यिकमाग्नेयं चक्षुः स्पृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मितः । उक्तं च चरके—“सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा  
 तानसुरान् प्रभुः । बाणं क्रोधाग्निसंतप्तमसृजच्छत्रुतापनम्”—इति । एतावता क्रोधोद्भवत्वेन तस्य तैज-  
 सत्वं प्रकाश्यते । तदुक्तं चरके—“क्रोधात्पित्तम्” इति । तेन सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति  
 सिध्यति । यदुक्तं वाग्भटे—“ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना । तस्मात्पित्ताविरुद्धानि  
 त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम्”—इति । अन्ये त्वाहुः—रुद्रसंभवत्वेन देवतात्मकत्वात्पूजार्हत्वमुपदर्शितम् ।  
 यदाह विदेहः—“ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति”—इति । उक्तं च हरिवंशेऽपि—“ज्वरस्त्रिपाद-  
 स्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः । भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः”—इति मूर्तिमानेवोक्तः ।

१ ‘मूर्तिमान् हरजो ज्ञेयः पापिनां नाशकारकः’ इति पाठान्तरम् । २ ‘सर्वमांसात्पशू व्यालौ  
 इत्यमरः ।

बहुविधमपि संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्टधेति । अष्टधात्वं विवृणाति पृथक्—वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकः, एवं त्रयः; वातपैत्तिकः, वातश्लैष्मिकः, पित्तश्लैष्मिकः, एवं द्वन्द्वजास्त्रयः; सांवातिकः सांश्लैष्मिकः एकः; आगन्तुज एकः एवमष्टौ ज्वरा इति ॥ १ ॥

अथ ज्वरस्य सम्प्राप्तिः ।

संप्राप्तिमाह—

मिथ्याहार—विहारभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः ।

बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥ २ ॥

म०—मिथ्येत्यादि । आहारस्य मिथ्यात्वं प्रकृत्यादीनामाहारोपयोगहेतूनां विरुद्धत्वेनोपयोगः । यदाह चरकः,—“ तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा,—प्रकृति—करण—संयोग—राशि—देश—कालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टेभ्योऽङ्गानि ”—इति ( च. वि. स्था. अ. १ ) । अत्र प्रकृतिर्द्रव्याणां स्वाभाविकगुरुत्वलघुत्वादिगुणयोगः, यथा—माषमुद्गयोः; करणं=संस्कारः, यथा—व्रीहेर्गुरोर्लघवो लाजाः; संयोगः=संहतीभावः, यथा—क्षीरमत्स्ययोः; राशिराहारस्य द्रवाद्वस्यावयवेन समुदायेन वा परिमाणम्; देशो=द्रव्योत्पत्तिप्रचारादिस्थानम्; कालो=नित्यगश्चावस्थिकश्च; उपयोगसंस्था=उपयोगनियमः यथा—जीर्णान्न एव भुञ्जीत, उपयोक्ता=स्वयं निरूपितात्मप्रकृत्यादिकः पुरुष इति । विहारस्य मिथ्यात्वमयथाबलमारम्भादि । आमाशयाश्रया इत्यनेनामाशयप्राप्तिव्यतिरेकेण दोषा ज्वरं नारभन्त इति प्रतिपादयति । आमाशयश्च “ नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः ”—इति ( च. वि. स्था. अ. २ ) चरकेणोक्तः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निमिति कोष्ठाग्निरेवं दोषोत्क्षिप्तो बहिर्निर्गत ऊष्मतया प्रतिभाति । कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम् । ज्वरदा ज्वरकारिणः । रसानुगा रससंबद्धाः, अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति । एषा च संप्राप्तिः शारीराणामेव नत्वागन्तूनाम्, तेषां व्यथापूर्वकत्वं ततो वाताद्यनुबन्धः, इति जैज्जटः । अत एव सुश्रुते आगन्तुसंप्राप्तिः पृथगेव पठ्यते । यथा,—“ श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः । पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद्भृशम् ”—इति । ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) । अत्र न आमाशयगत एव वायुः किंतूर्ध्वाधस्तिर्यग्प्रसवाहिस्रोतश्चरः । चरकेऽप्युक्तम्—“ तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् । सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ” इति ( च. वि. स्था. अ. ३ ) । ननु, आगन्तुज्वरेऽप्युष्मोपलभ्यते “ ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ” ( वा. वि. स्था. अ. १ )—इत्युक्तम्, अत आगन्तुरपि शरीरः

स्यात् । नैवम्, उत्तरकालं तदुत्पत्तेः । यदुक्तम्,—“आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति; स किञ्चित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चादौषैरनुबध्यते ” (च. नि. स्था. अ. १); तथा,—“आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः”—इति (च. सू. स्था. अ. १९) । ननु, मिथ्याहारेत्यादिना एकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तं, यतः संप्राप्तिः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगभेदनिबन्धनः, संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तेरपि नानात्वं स्यात्; नहि वातपित्तयोर्यः संयोगः स एव कफपित्तयोरिति । उच्यते, अनेकैव संप्राप्तिः किंत्वेकजातीया, आशयदुष्ट्यादेः सर्वत्राविशेषेणाभिधानात् । एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद्भिन्नेति ॥ २ ॥

आ०—ज्वरस्य संप्राप्तिमाह—मिथ्याहारेत्यादि । “अकाले चातिमात्रं च असात्म्यं यच्च भोजनम् । विषमं चापि यदुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते”—इति । मिथ्याहारो देश—काल—प्रकृत्यादि—विरुद्धः, संयोगविरुद्धश्च क्षीरमत्स्ययोरिव । मिथ्याविहारोऽयथावलमारम्भः । “अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमान्न करोति यः । मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा तं परिवर्जयेत्”—इति । ईदृशस्य पुरुषस्य आमाशयाश्रया दोषा वात-पित्त-श्लेष्माणः कोष्ठाग्निं वह्निर्निरस्य ज्वरदाः स्युः ज्वरकारिणो भवेयुः । आशयस्थानमुक्तं चरके—“नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः” इति । किंविशिष्टाः ? रसानुगाः रससंबद्धाः रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति । कोष्ठाग्निमिति धात्वग्निनिरासार्थम् । एषा च संप्राप्तिः शरीराणामेव न त्वागन्तुनाम् । तेषां तु व्यथापूर्वको वाताद्यनुबन्धः । उक्तं च सुश्रुते, यथा—“श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनः कुपितोऽनिलः । पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद्भृशम्”—इति । उक्तं च चरके—“तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् । सन्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति स्रक्जं ज्वरम्”—इति । नन्वागन्तुरपि शरीरः स्यात्, यत आगन्तुज्वरेऽप्युष्मोपलभ्यते, ऊष्मा च पित्तादृते नास्तीत्युक्तम् । मैवम्, आगन्तुज्वर उत्तरकाले तदुत्पत्तिः । यदुक्तम्,—“आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते पश्चादौषैरनुबध्यते” इति । तथा—“आगन्तुरभ्येति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः” इति ॥ २ ॥

अथ ज्वरसामान्यलक्षणम् ।

ज्वरलक्षणमाह—

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।

युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥३॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ६ )

म०—स्वेदावरोध इत्यादि । स्वेदावरोधो=वर्मानिर्गमः । ताप इति वक्तव्ये संतापग्रहणाद्देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति । तदुक्तं चरके—“देहेन्द्रियमनस्तप्तापी”—इति (च. चि. स्था. अ. ३) तथा—“वैचित्यमरतिग्लानिर्भनः

सन्तापलक्षणम् ।” इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । सर्वाङ्गग्रहणं=सर्वाङ्गवेदना । युगपदिति मिलितमेतल्लक्षणम्, प्रत्येकशो व्यभिचारात् । स्वेदावरोधो हि कुष्ठपूर्वरूपे<sup>१</sup> तथा संतापो दाहाख्ये रोगे, सर्वाङ्गग्रहणं वातरोगे, इति । ननु पैत्तिके स्वेदागमात्, वातिके विषमारम्भविसर्गित्वात् सर्वाङ्गग्रहणाव्यवस्थितेश्चाव्यापकं लक्षणमिति । अत्र जेज्जट-कार्त्तिक-कुण्डादयः समादधुः—उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितिरिति । तत्र संगतमित्यन्ये; विधौ ह्युत्सर्गापवादभावो न तु लक्षणे, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्लक्षणदोषात् । तस्मात् स्वेदोऽग्निः । स्विद्यतेऽनेन इति व्युत्पत्त्या तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः । वातज्वरे यद्यपि वायोश्चलत्वेनारम्भविसर्गयोर्वैषम्यं, तथाऽपि सर्वदेहगतज्वरारम्भकदोषदुष्टचैनिवृत्तेरनुद्भूतसर्वाङ्गग्रहणस्य विद्यमानतैवेति न व्यभिचारः । चरके तु ज्वरलक्षणम् “ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः।” इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । ननु “शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि, मानसः” इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । चरकवचनादेहमनसोरन्योन्यव्यभिचारादलक्षणमिति चेत्; तत्र, सूक्ष्मतरकालव्यवहितस्यान्यतररूपस्यावश्यंभावित्वात् । यथा—गुणवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमिति ॥ ३ ॥

आ०—ज्वरलक्षणमाह—यत्र यस्मिन् रोगे युगपदेककाले ईदृशलक्षणं दृश्यते स ज्वरः कथ्यते । स्वेदावरोधः स्वेदानिर्गमः, अन्ये पैत्तिके स्वेदावगमालक्षणे व्यभिचारः, तेन स्वेदोऽग्निः ‘स्विद्यतेऽनेन’ इति व्युत्पत्त्या, तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः । संतापेत्यत्र संशब्दो देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति । सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवेदनेत्याहुः । स्वेदावरोध इत्यत्र ‘वेगोपरोध’ इत्यन्ये पठन्ति । तत्र वेगोपरोधो वातमूत्रपुरीषादीनामनिर्गमनं तदयुक्तम्, पित्तज्वरे पुरीषादीनां निर्गमनेन, तत्राव्याप्तेः ॥ ३ ॥

अथ ज्वरस्य सामान्यं पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपमाह—

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।

इच्छाद्रेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥

जृम्भाऽङ्गमदौ गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।

अग्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥

<sup>१</sup> ‘दाहाख्यो रोगः’ इति पाठान्तरम् । <sup>२</sup> ‘दोषद्वयानुवृत्तेः’ इति पाठान्तरम् । <sup>३</sup> ‘ज्वरप्रत्यात्मकम्’ इति ‘ज्वरप्रत्यात्मकम्’ इति च पाठान्तरम् ।

ज्वरस्य विशिष्टं पूर्वरूपम् ।

सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।

पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥

द्वि-त्रि-दोषज-ज्वरलक्षणम् ।

रूपैरन्यतराभ्यां तु संस्पृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ।

सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ११, १२, १३, )

म०--श्रम इत्यादि । श्रमः श्रान्तत्वमिव । अरतिरनवस्थितचित्तत्वं, क्रीडा-  
भावोऽरतिरिति कार्तिकः । विवर्णत्वं म्लानगात्रत्वम् । यत्तु “दुष्टाः स्वहे-  
तुभिर्दोषाः”-इत्यारभ्य “स्वकालेषु ज्वरागमम् । जनयन्त्यथ वृद्धिं च  
स्ववर्णं च त्वगादिषु” इति ( सु. चि. स्था. अ. ३९ ) संप्राप्तौ वृद्धसु-  
श्रुतवचनं, तदत्यर्थजृम्भादिवद्विशिष्टपूर्वरूपाभिप्रायेण, संप्राप्त्यवस्थापन्नदो-  
षजन्यत्वात्पूर्वरूपस्येति । वैरस्यमिति मुखस्य विरुद्धरसता । नयनप्लवोऽश्रुपू-  
र्णनेत्रत्वम् । यदुक्तं चरके-“आलस्यं नयने सास्त्रे”-इत्यादि ( च. चि.  
स्था. अ. ३ ) । आदिशब्दादम्बुज्वलनयोरप्यनिश्चितेच्छाद्वेषयोर्ग्रहणम् ।  
उक्तं हि चरके-“ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ”-इति ( च. चि.  
स्था. अ. ३. ) । अन्ये तु शैत्यौष्ण्यसाधर्म्याज्जलानलौ ग्राहयन्ति, आदि-  
शब्देन तु शयनासनादिकम् । तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येवासंविद्धिः अप्रहर्षः प्रीत्य-  
भावः । ज्वलनेच्छया शीते लब्धे शीतं चेति वचनं विशेषेण शीतबोधना-  
र्थम् । चकारेण बालप्रद्वेषादिग्रहणमित्याहुः । उत्पत्स्यतीति भविष्यति ज्वरे ।  
उत्पत्स्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वेन; तच्च चक्षिड इकारेणानुदात्तेनात्मनेपदे  
सिद्धे तदर्थं छित्करणेन ज्ञापितमिति शाब्दिकाः । गदाधरस्तु-“उत्पि-  
त्सति” इति पठित्वा ‘पद गतौ’ इत्यस्यैव सन्नन्तस्य “सनि-मी-मा-बु-र-भ-लभ  
शक्र-पत-पदाम् ( अ. ७ पा. ४ सू. ५४ )”-इत्यादिना इसि कृते ‘पूर्ववत्सन,  
( अ. १ पा. ३. सू. ६२ ) इत्यत्र भिन्नवाक्यतया परस्मैपदमिति  
व्याचष्टे इति ॥ ४-७ ॥

आ०-पूर्वरूपमाह-श्रम इत्यादि । श्रान्तत्वमिव श्रमः । अरतिरनवस्थितचित्तत्वम्, अरतिः  
क्रीडाभाव इत्यपरे । विवर्णत्वं मलिनगात्रता । वैरस्यं मुखस्य विरसता विरुद्धरसता । नयनप्लव

अश्रुपूर्णनेत्रत्वम् । शीतवातातपादिषु विषयेषु इच्छाद्वेषौ=अभिलाषविद्वेषौ । आदिशब्दादम्बु-  
ज्वलनयोर्ग्रहणम् । उक्तं हि चरके—“ज्वलनातपवारम्बुमक्तिद्वेषावनिश्चितौ”—इति अन्ये तु  
शैत्यौष्ण्यसाधर्म्योजलानलौ गृह्णन्ति । ते त्वादिशब्देन शयनादिकं मन्यन्ते ॥ जृम्भेति जृम्भा=  
जृम्भणम् । अङ्गमर्दोऽङ्गमोटनम् । गुरुता=गौरवम्=गात्राणाम् । रोमेहर्षो=रोमाञ्चः  
अरुचिर्भोज्ये । तमः अन्धकारप्रविष्टस्येवार्थासंविद्धिः । अप्रहर्षः आनन्दाभावः । शी-  
तमिति शीतादौ मुहुरिच्छाद्वेषाविति सिद्धे पुनरपि शीतवचनं विशेषेण शीतप्रादुर्भावंदर्श-  
नार्थम् । उत्पत्स्यति=भाविनि ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति । अत्र तु माधवेन सामान्य-  
पूर्वलक्षणं सुश्रुतोक्तं लिखितम्, न तु विशिष्टं पूर्वरूपलक्षणं; तच्चास्माभिरिहैव लिख्यते सामान्यत  
इत्यादि । सामान्यत इति पूर्वपद्येन संबध्यते । भाविनि वातिके ज्वरेऽत्यर्थं जृम्भा, पित्तिके  
नयनयोर्दोहः, कफजे नान्नाभिनन्दनमिति न अन्नाभिलाषः ॥ ४-७ ॥

अथ वातज्वरलक्षणम् ।

वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन प्राधान्यम्; यदुक्तं  
चरके,—“अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकाराः”—  
इति (च. सू. स्था. अ. २०); तथा दारुणाश्च वातविकारा आक्षेपक-  
पक्षाघातादयः; अतः प्राधान्यात् प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह—

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।

निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ ८ ॥

शिरोहृद्गात्ररुग्णवक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।

शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलज ज्वरे ॥ ९ ॥

सु० उ० अ० ३९ श्लो० ४१

म०—वेपथुरित्यादि । एवमन्यत्रापि वातादिक्रमनिर्देशे बोद्धव्यम् । विषमो वेग  
इति वेगो ज्वरस्य प्रवृत्तिर्वृद्धिर्वा, तस्य वैषम्यमनियतकालत्वम्, अङ्गेषु चो-  
ष्ण्याद्यनियतत्वम् । क्षवश्छिक्का, स्तम्भो गात्राणां जडिमा, रौक्ष्यमपि गात्रा-  
णाभेवेति गदाधरादयो व्याचक्षते । तच्चानवधानाद्याख्यातमिति लक्ष्यते;  
क्षवस्य स्तम्भः क्षवस्तम्भ इत्येकपदताऽत्र युज्यते । यदाह वाग्भटः—  
“हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विलाप-  
श्चानिलज्वरे”—इति (वा. नि. स्था. अ. २) । चरकेऽपि निदाने “क्षव-

१ ‘शिरोरुक् गात्ररुक्’ इति पाठान्तरम् ; “शिरसः पृथगुपादानमत्यर्थं शिरसि सा  
भवतीति ज्ञापनार्थम्, अन्यथा गात्ररुमित्यनेनैव तत्प्राप्तेः” इति सुश्रुतटीकायां उल्लेखः ।



शूद्रारविनिग्रहः” ( च. नि. स्था. अ. १ ) इत्येव पठितम् । विनिग्रह-  
शब्दस्तु तत्र तत्र निरोधार्थ एवाचार्येण निर्दिष्टः; यथा वातगुल्मनिदाने—  
“रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च” ( च. चि. स्था. अ. ५ )  
इति; तथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे “दोषवर्चोविनिग्रहः—” ( च. चि. स्था. अ. ३ )  
इत्येवं पठितम् । एतेन, ज्वरमुक्तिलक्षणे क्षवस्य भावात्कथमेतल्लक्षणम्, इति  
यदाशङ्कितं कार्तिककुण्डेन तदपि निरस्तम् । आध्मानं=वायुना सवेदनमु-  
दरपूर्णत्वम् । शिरोहृद्गात्ररुगित्यत्र गात्रग्रहणेन शिरोहृद्ग्रहणे सिद्धे तदभि-  
धानं विशेषेण शिरसि, हृदि च वेदनार्थम् । एतानि रूपाणि प्रायोभावि-  
त्वेन निर्दिष्टानि सुश्रुतेन, तेन चकारेणान्यान्यपि चरकनिदानोक्तानि बोद्ध-  
व्यानि । तान्येव गद्येनोक्तानि सुखग्रहणार्थं श्लोकेन मया प्रदर्श्यन्ते,—  
“भवन्ति विविधा वातवेदनाः पादसुप्तता । पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्ण-  
स्वनो वक्रकषायता ॥ ऊरुसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः सन्धि-जानुनोः ।  
शुष्ककासो वमिलोमदन्तहर्षः श्रम-भ्रमौ ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि तृप्पला-  
पोष्णकामिताः” इति ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन वायोः प्राधान्यमतस्तत्प्राधा-  
न्यात्प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह—वेपथुरित्यादि । वेपथुः = कम्पः । विषमो वेगो ज्वरस्य हीनाधि-  
कभावेन, अङ्गेषु चौष्ण्याद्यनियतत्वम् । कण्ठौष्ठपरिशोषणमिति सुगमम् । निद्रानाशः = शयना-  
भावः । तथा क्षवस्तम्भः क्षवः = छिक्का, तस्याः स्तम्भोऽनिर्गमनम् । केचित्तु क्षवः, स्तम्भः’ इति  
भिन्नं पदं पठन्ति, तन्मते क्षवः = छिक्का, स्तम्भो गात्राणामिति व्याख्यानयन्ति; तन्न युक्तम् -  
यदुक्तं वाग्भटे—“ हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवयोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो धर्मेच्छा विरमश्चा-  
निलज्वरे”—इति । चरकेऽपि निदाने—“क्षवयूद्रारविनिग्रहः”—इति । विनिग्रहशब्दस्तु निरोधार्थ  
एव, यथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे ‘दोषवर्चोविनिग्रहः’ इत्येवं पठितः । रौक्ष्यं गात्राणामेव । चकारात्  
कृष्णविष्णूमूत्रनत्रेत्वं समुच्चीयते । अन्येतु ‘रौक्ष्यमेव च’ इत्यत्र स्थाने ‘श्यावाङ्गमलमूत्रता’  
इति पठन्ति । अत्र गात्रग्रहणेन शिरोग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि हृदि वेदनादर्शनार्थम् ।  
शिरसि, हृदि, गात्रेषु रुक् = पीडा । वैरस्यं = विरसता मुखस्य । गाढविट्कता = बद्धमलता ।  
शूलाध्माने शूलमुदरशूलम् आध्मानं = वायुना सवेदनमुदरपूर्णत्वमित्यर्थः । जृम्भणं = जृम्भा-  
बाहुल्यम् । अनिलजे ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति । एतानि प्रकृतिसमसमवेतानि ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ पित्तज्वरलक्षणम् ।

पित्तज्वरलक्षणमाह—

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्रालपत्वं तथा वमिः ।

कण्ठौष्ठ-मुख-नासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥ १० ॥

प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।

पीत-विण्मूत्र-नेत्र-त्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० १५ )

म०--वेगस्तीक्ष्ण इत्यादि । अतिसारः=पित्तस्य सरत्वेन सदवा प्रवृ-  
त्तिर्न त्वतिसार एव, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात् । निद्राल्पत्वं=स्वल्पनिद्रात्वम् ।  
उक्तं हि सुश्रुते,—“निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्” (सु. शा. स्था. अ. ४)  
इत्यादि । वमिः पित्तस्य कफस्थानगतत्वात् । स्वेदो=वर्मागमनं, प्रायेण  
सामदोषेण स्रोतसां निरोधात्सर्वज्वरेषु धर्मानिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्या-  
ज्वरप्रभावाद्वा स न भवतीति । प्रलापोऽसंबद्धभाषणम् । वक्त्रकटुता=मुख-  
तित्कत्वम्, चरके हि पैत्तिकनानात्मजचत्वारिंशद्विकारेषु तित्कास्यतायाः पाठा-  
दनुभवाच्च । कार्तिकस्त्वरोचके “कटुम्बलमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन  
विद्याल्लवणं च वक्त्रम्”—इति वचनं दृष्टान्तमुपन्यस्य कटुमुखत्वमपीच्छति  
तत्र तत्रापि सन्देहात् । यदुक्तम्,—“कटु स्यात्कटुतित्कयोः”—इति । तस्मात्  
“योऽम्लं भृशोष्णं कटु-तित्क-वक्त्रः पीतं सरत्वं हरितं वमेद्वा । सदाह-चोप-  
ज्वर-वक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः”—इति (सु. उ. त ४ ९) सुश्रु-  
तवचनात् कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति । मूर्च्छेति मूर्च्छा=रूपाद्यविज्ञानम्, तमः-  
प्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः । मदो=मत्तत्वमिव, यथा—पूग-कोद्रव-धत्तूर-  
भक्षणादौ । भ्रम इति भ्रमश्चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमित्याहुः; अन्ये तु  
स्वदेहभ्रमज्ञानम् । नतु, भ्रमस्याशीतिवातविकारपठितस्य वातनाना-  
त्मजत्वात्कथं पित्तविकारे पाठः ? उच्यते, “न रोगोऽप्येकदोषजः”—  
इति वचनात्पैत्तिकेऽपि वातानुबन्धाद्भ्रमः, इति जेज्जटः समाधानमुक्तवान् ।  
अथवा दोष-दूष्य-संमूर्च्छनप्रभावात्कारणादृष्टस्यापि रूपस्य कार्य उप-  
लम्भः; यथा—अरूपवातारब्धातिसारादाविवारुणत्वम्, हरिद्राचूर्णसंयोग इव  
लौहित्यम् । यच्चूतं सुश्रुते,—“रजःपित्तानिलाद्भ्रमः” (सु. शा. स्था. अ. ४)—  
इति, तत्रापि वातानुगतपित्तजत्वमेव बोद्धव्यम्, अन्यथा भ्रमस्य वातिकनानात्म-  
जत्वमेव न स्यादिति । अपरे तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन विपर्यस्तज्ञानं भ्रमः, पीतः  
शङ्ख इत्यादिवत् । चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः । तद्यथा—तीव्रो-  
ष्मता, रक्तकोठता, शीतेच्छताऽरुचिरिति ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—वेग इत्यादि । वेगस्तीक्ष्णस्तीव्रवेगः । अतीसार इति पित्तस्य सरत्वेन  
सदवा प्रवृत्तिर्न त्वतीसारः, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात् । निद्राल्पत्वं स्वल्पनिद्रात्वम् । वमिः पित्तस्य



कफस्थानगतत्वात् कण्ठौष्ठमुखनासानां पाक इति सुगमम् । स्वेदो=धर्मास्त्रुनिर्गमनम् । प्रायेण सामज्वरे स्वेदनिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्वरप्रभावाद्वा स न भवति । प्रलापोऽसंब-  
द्धभाषणम् । वक्रकटुता मुखतित्कत्वम् । यदुक्तमभिधानान्तरे—“कटुः स्यात्कटुतित्कयोः”—  
इति । यदुक्तं सुश्रुते—“योऽम्लं भृशोष्णं कटुतित्कवक्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा । सदाहशो-  
षज्वरवक्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः”—इति सुश्रुतवचनात् कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति । मूर्च्छा-  
रूपाद्यपरिज्ञानं, तमःप्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः । मदो मत्तत्वमिव, यथा पूगदुष्टक्रोद्रवधत्तूरभक्षणादी ।  
भ्रम इति चक्रस्थितस्येव संभ्रमद्रस्तुदर्शनमाहुः, अन्ये तु स्वदेहभ्रमणज्ञानम् । ननु भ्रमस्य अशीति-  
वातविकारपठितस्य नानात्मजत्वात्कथं पित्तविकारे पाठः ? उच्यते—‘न रोगोऽप्येकदोषजः’ इति  
वचनात्, अथवा दोषदूष्यसंमूर्च्छनप्रभावान् । यदुक्तं सुश्रुते—“रजःपित्ताभिलाद्रमः” इति ।  
अपरे तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन विपर्यस्तज्ञानं भ्रमः, पीतः शङ्ख इत्यादिवत् । पीत-विष्मूत्र-  
नेत्र-त्वमिति सुगमम् । पैत्तिके ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ कफज्वरलक्षणम् ।

कफज्वरलक्षणमाह—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता ।

शुक्ल-मूत्र-पुरीष-त्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥

( नात्युष्णगात्रता छर्दिरङ्गसादोऽविपाकिता )

गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।

[ स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणाऽऽस्यता ।

नात्युष्णगात्रता च्छर्दिर्लास्रावोऽविपाकता ॥ ]

प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० १६ )

म०—स्तैमित्यमित्यादि । स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव । स्तिमितो  
वेगो मन्दो वेगः । आलस्यमिति “समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते”  
(सु. शा. स्था. अ. ४)—इत्यालस्यलक्षणमाहुः । स्तम्भोऽङ्गस्तब्धता । तृप्तिस्तृ-  
प्तस्येवान्नानभिलाषः । उत्क्लेदः=कण्ठोपस्थितवमनत्वमिव । अरुचिरत्र  
सत्यप्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः । चकारः पूर्ववत् । तेन  
“तथाऽङ्गे पीडकाः शीताः प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके ॥ हृदुपलेप उष्णाभिला-  
षिता वह्निमार्दवम्—” इति ॥ १२ ॥ १३ ॥

आ०—अथ श्लैष्मिकमाह—स्तैमित्यमित्यादि । स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रवस्त्रावगुण्ठितत्वमिव ।  
स्तिमितो वेगो मन्दवेगः । आलस्यम् “यः शक्तस्याप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते”—इति

मधुरास्यता = मधुरवृत्तत्वम् । मूत्रपुरीषयोः शौक्ल्यम् । स्तम्भोऽङ्गस्तब्धता । वृत्तिः वृत्त-  
स्येवान्नानभिलाषः । गौरवं = गुरुगात्रता । शीतं = शीताविर्भावः । उत्कलेदः = उपास्थितचमनत्वामिव  
अपरे श्लेष्मनिष्ठीवनमिव । रोमहर्षो = रोमाश्चः । अतिनिद्रता = निद्राधिक्यम् । प्रतिश्यायः =  
नासास्त्रवणम् । अरुचिरत्र सत्यप्यभिलाषेऽभ्यवहारासामर्थ्यमिति वृत्तितो भेदः । स्रोतोरोधो = रस-  
वाहिनां स्रोतसां रोधः । कासः प्रासिद्धः । अविपाकता = अन्नाविपाकः । चकारः पूर्ववदनुक्त-  
समुच्चयार्थः, कफजे ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति ॥ १२ ॥ १३ ॥

### अथ वात-पित्तज्वरलक्षणम् ।

वातपित्तज्वरलक्षणमाह—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।

कण्ठा-ऽऽस्य-शोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥

पर्वभेदश्च जृम्भा च वात-पित्त-ज्वराऽऽकृतिः ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २१ )

म०—तृष्णेत्यादि । पर्वाणि भिद्यन्त इव वेदना पर्वभेदः । एतानि च  
लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य बोद्धव्यानि । विकृतिविषमसमवा-  
यारब्धत्वं चैषां केवल-वातिक-पैत्तिक-ज्वरलक्षणानां मध्ये केषांचिदेव नियमेन  
पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च बोद्धव्यम् । यथा—अत्रैव वातपैत्तिकेऽरुचिरो-  
महर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेदः संतापश्च, एवं, कफपित्तजे अनव-  
स्थितशीतदाहौ, एवं सन्निपातजे सास्र-कलुषादि-नेत्रत्व-शिरोलोठ-  
नादि ॥ प्रकृतिसमसमवायारब्धे तु वाजतादिज्वरलिङ्गान्येव सम-  
स्तानि कतिपयानि वा भवन्ति । अत एव चिकित्सिते चरको विकृतिवि-  
षमसमवायारब्धानां द्वन्द्व-सन्निपात-ज्वराणां लक्षणानि साक्षात्पठित्वा निदानस्था-  
नोक्तवातादिज्वरलिङ्गातिदेशेन प्रकृतिसमसमवेतानां द्वन्द्व-सन्निपात-ज्वराणां  
लक्षणमुक्तवान् । यदाह—“ निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्ज्वराकृतिः ।  
संसर्ग-सन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ”—इति । ( च. वि. स्था. अ. ३ )  
। एवं वक्ष्यमाणं द्वन्द्व-सन्निपात-लक्षणं व्याख्येयम् । “ प्रकृतिसमसमवाय-  
विकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः ” —प्रकृत्या=हेतुभूतया समः=  
कारणानुरूपः समवायः=कार्यकारणभावसंबन्धः=प्रकृतिसमसमवायः;  
कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः; यथा—शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य

१ अस्याः प्रकृतिसमसमवाय-विकृतिविषमसमवाययोर्महत्या विषयराक्षितबाधोयुक्त्याः सप्र-  
माणं स्रवणं व्यधायि, सुप्रसिद्धविद्वद्भैः महामहोपाध्याय-कविराज-श्रीगणनाथ-सेन-सर-  
स्वती महोदयैः स्वीये सिद्धान्तनिदानव्याख्याने । तच्चात्र ग्रन्थगौरवत्रिया नोद्ध्रियते ।

शुक्लत्वम् । विकृत्या=हेतुभूतया विषमः=कारणानुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः, यथा—हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति ॥१४॥

आ०—अथ वातपित्तज्वरलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि । तृष्णाद्याः शिरोरुजान्ताः सुगमाः कण्ठास्यशोषः । कण्ठशोषो मुखशोषश्च । वमथुश्छर्दिभेदः थुगथुगीति लोके । रोमहर्षः=रोमाञ्चः । अरुचिः प्रसिद्धा । तमः अन्धकारे प्रविष्टस्येवार्थासंविच्छिन्नः । पर्वभेदः पर्वाणि भिद्यन्त इव संधिषु वेदनाभेदः । द्वन्द्वजेषु सान्निपातिकेषु च कानिचिल्लक्षणानि विकृतिविषमसमवायारब्धानि भवन्ति, कानिचित्प्रकृतिसमसमवायारब्धानि भवन्ति । दोषाणामेव लक्षणानि दृश्यन्ते प्रकृतिसमसमवायारब्धानि, विपरीतानि तु विकृतिविषमसमवायारब्धानि । यथात्रैव वातपैस्तिके ज्वरे अरुचिः, रोमहर्षश्च, वक्ष्यमाणवातश्लेष्मिकं संतापः, एवं कफपित्तजे लिप्ततिक्तास्यत्वं सन्निपातजे सास-कलुषादि-नेत्रत्व-शिरोलोटनादि, प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसंबन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः, यथा शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य शुक्लत्वं पटस्य, विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणानुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः यथा हरिद्राचूर्णसंयोगजं लौहित्यमिति । यथा वात-पित्तयोर्व्यस्तलक्षणेपु कुत्रापि “ अरुचि-रोमहर्षौ ” न दृश्येते, किन्तु तावेवात्र वातपित्त ( द्वन्द्व ) जे ज्वरे पठ्येते, अत इमौ द्वावत्र विकृत्यारब्धौ विज्ञेयौ । वात-श्लेष्मणो ( व्यस्तयोः ) लक्षणेपु स्वेद-सन्तापो क्वापि न दृश्येते, किन्तु समनन्तरमेव वक्ष्यमाणे वात-श्लेष्म ( द्वन्द्व ) जे ज्वरे तावेव पठ्येते अतस्तौ विकृत्यारब्धौ । एवमेव शिरसो लोटनं वात-पित्त-श्लेष्मणां लक्षणेपु न दृश्येते, किन्तु तदेव सान्निपातिकज्वरलक्षणे पठ्येते, अतस्तदपि विज्ञेयं विकृतिविषमसमवायारब्धम् ॥ एवं द्वन्द्वज-सान्निपातजेषु सर्वेष्वपि रोगेषु बोद्धव्यम् ॥ १४ ॥

अथ वातकफज्वरलक्षणम् ।

वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥ १५ ॥

शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाऽऽप्रवर्तनम् ।

सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ १६ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २१ )

म०—स्तैमित्यमित्यादि।स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आसमन्तादकारणेन प्रवृत्तिः, विकृतिविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्तिकः । युक्तं चैतत् । यदाह हारीतः—“शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य”—इति । स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः । मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥ १५ ॥ १६॥

आ०—वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—स्त्वैमित्यमित्यादि। स्त्वैमित्यम् आर्द्रवस्त्रावगुण्ठितमिव, अन्ये नि-  
श्चलत्वं ज्वरितस्य । पर्वणां भेदो वेदनाविशेषः संधिषु । निद्रा प्रसिद्धा । गौरवम् अङ्गानाम् ।  
शिरोग्रहः=शिरो गृहीतमिव मन्यते । प्रतिश्यायो=नासास्त्रावः । स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य  
आसमन्तात्प्रवर्तनम् । यदुक्तं हारीते—“ शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवात-  
जस्य ”—इति । स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः । इदमपि लक्षणं विकृतिविषमसमवायारब्धम् । संता-  
पोऽपि विकृतिविषमसमवायारब्धः । मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥ १५ ॥ १६ ॥

### अथ पित्तकफज्वरलक्षणम् ।

पित्तश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—

लिप्त-तिक्ता-ऽऽस्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृपा ।  
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ १७ ॥

( मु० उ० अ० ३९ श्लो० २१ )

म० लिप्तेत्यादि । श्लेष्मणा लिप्तं पित्तेन तिक्तं च आस्यं=मुखं यस्य,  
तस्य भावो लिप्ततिकास्यता । तन्द्रा=निद्रावत्क्लान्तिः । मोहो=मूर्च्छा । एतानि  
लिङ्गानि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि, तेनान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्ध-  
व्यानि । तद्यथा—“तथा स्तंभश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्तनम्” इति ॥ १७ ॥

आ० श्लेष्मपित्तज्वरमाह—लिप्तेत्यादि । श्लेष्मणा लिप्तं पित्तेन तिक्तं च मुखं यस्य तस्य भावो  
लिप्ततिकास्यता लिप्तास्यता तिकास्यता चेत्यर्थः । तन्द्रा=निद्रावत्क्लान्तिः । तन्द्रालक्षणमाह—  
“ इन्द्रियार्थेष्वसंविस्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ”—  
इति । मोहो=मूर्च्छा । अन्यत्सुगमम् ॥ १७ ॥

### अथ सान्निपातिकज्वरलक्षणम् ।

( Eruptive Fevers e. g. Typhoid Fever. )

सान्निपातिकज्वरलक्षणमाह—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थि-सन्धि-शिरो-रुजा ।

सास्त्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥ १८ ॥

सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।

तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १९ ॥

परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा सस्ताङ्गता परम् ।

ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ २० ॥

शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।  
 स्वेद-मूत्र-पुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ २१ ॥  
 कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।  
 कोठानां श्याव-रक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ २२ ॥  
 मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च  
 चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ २३ ॥

( च० चि० अ० ३ श्लो० ९९-१०४ )

म०-क्षणे दाह इत्यादि रुजा=शूलम्, अस्थ्यादिभिः संबध्यते । सास्त्रावे=साश्रुणी । कलुषे=आविलवर्णे । निर्गता भुग्रता=संकुचितता ययोस्ते निर्भुग्रे “विस्फारिते इत्यर्थः इति जेज्जटः, “अन्तःप्रविष्टे” इत्यन्ये, “अतिकुटिले” इति चक्रः । शूकैः=शूकशिम्बिधान्यादेः परिदग्धा=दग्धवत्कृष्णवर्णा । खरस्पर्शां गोजिह्वादिवत् । स्रस्ताङ्गता=निःसहावयवता । घृवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम् । शिरसो लोठनमिति इतस्ततः शिरश्चालनम् । कृशत्वं नातिगात्राणां दोषपूर्णत्वेन । प्रततं=निरन्तरम् । कोठो भालुकितन्त्रे पठितः । तद्यथा,—“वरटिदृष्टसंकाशः कण्डूमाँल्लोहितोऽस्रकफपित्तात् । क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः”-इति । मूकत्वं=मन्दवचनत्वम्, अवचनता वा । गुरुत्वमुदरस्य च उदरगौरवम् । चिरात्पाकश्च दोषाणामिति अतिसामतारब्धत्वेन । चकारादन्यान्यपि च बोद्धव्यानि । यदाह वाग्भटः,—“तद्रच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि । सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽति नैव वा ॥ गीत-नर्तन-हास्यादि-विकृतेहा-प्रवर्तनम्”-इति ( वा. नि. स्था. अ. २ ) । एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु मध्ये स्वप्नानादृद्धैर्दोषैस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य चरकेण पठितं द्रबुल्वणैकोल्वणादीनां च द्वादशानां लक्षणं तत्रैव द्रष्टव्यम् । तथा च काश्मीरपाठे चरकः,—“भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरूक् । वात-पित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा-पिपासा-दाह-हृद्यथाः । वात-श्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पिचावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्त-कफोल्बणे ॥ सन्ध्यस्थि-शिरसां शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे स्याद्वचनुगे तृष्णा कण्ठास्या-ऽस्यशुष्कता ॥ रक्तविण्-मूत्र-ता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः । मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते

गरीयसि ॥ आलस्या-ऽरुचि-हृल्लास-दाह-वम्यरति-भ्रमैः । कफोत्पन्नं सन्नि-  
पातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥ प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्यभिमादवम् ।  
हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥ हारिद्र-मूत्र-नेत्रत्वं दाहस्तृष्णा  
भ्रमोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥ शिरोरुग्-वेपथु-  
श्वास-प्रलाप-च्छर्द्यरोचकाः । हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥  
शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्मा-  
धिके विदुः ॥ वर्चोभेदोऽभिदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफहीने वातमध्ये  
लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥ श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपाठवृक्क ।  
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥”-इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) ।  
विकृतौ नियमो नास्ति तेन विकृतिविषमसमवाया अनेकप्रकारा भवन्ति ।  
अतः सुश्रुतेनाप्यन्यादृशं सन्निपातलक्षणं पठितम्, -“नात्युष्णशीतोऽल्प-  
संज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः । खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेद-विण-मूत्र-वर्जितः ॥  
साश्रु-निर्मुत्र-नयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः । श्वसन्निपातितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥  
अभिन्यासं तु तं प्रादुर्हृतौजसमथापरे । सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे  
जगुः” इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) तथा भालुकितन्त्रे द्रव्युल्लेखैकोल्वणा-  
दिलक्षणमन्यथा पठितम् । तद्यथा-“वात-पित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकु-  
प्यति । तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्-तालुशोष-प्रभीलकाः ॥ आध्मान-तन्द्रा-  
रुचयः श्वास-कास-भ्रम-भ्रमाः । पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकु-  
प्यति ॥ अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते । तुद्यते दक्षिणं  
पार्श्वमुरःशीर्ष-गलग्रहाः ॥ निष्ठीवेत्कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते । विड्-  
भेद-श्वास-हिक्काश्च बाधन्ते सप्रभीलकाः ॥ विभु-फलू च तौ नाम्ना सन्नि-  
पाताबुदाहतौ । श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरो  
निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः । शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भ-प्रभीलकाः ॥  
उदरं दहते चास्य कटिर्वस्तिश्च दूयते । सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति  
सुदारुणः ॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति । तस्य तृष्णा-

१ इतः पुरः कस्मिंश्चित् पुस्तके “प्रकृतिसमसमवाये तु सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरलक्षणं ज्ञेयम् । हीनम-  
ध्याधिकक्रमेण सन्निपाता एव षट्, द्रव्युल्लेखत्वेन त्रयः, एकोल्वणत्वेन त्रयः, समत्वेनैकः, एवं त्रयोदश  
प्रकृतौ” इत्याधिकः पाठ उपलभ्यते । २ अस्याग्रे कुत्रचित् पुस्तके ‘वातः पित्ताधिकोऽयं प्रथममुपचितो  
इति बहिः शरीरे श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्या-  
दनिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः संमूर्च्छयान्योन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम् ॥’ इत्य-  
धिकः पाठ उपलभ्यते । ३ तृष्णेत्यत्र चिन्तेति पाठान्तरम् ।



ज्वर-ग्लानि-पार्श्वरुग्दृष्टिसंशयाः ॥ पिण्डकोद्रेष्टनं दाह ऊरुसादो बल-  
क्षयः । सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥ निर्भिद्यते गुदं चास्य  
बस्तिश्च परिकृत्यते । आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥ मूर्च्छति  
स्फायते रौति नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः । पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः  
प्रकुप्यति ॥ तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते । शीतं च सेव-  
मानस्य कुप्यतः कफ-मारुतौ ॥ ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्का-श्वास-प्रधीलकाः । विस्-  
चिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं कृमः ॥ नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विव-  
र्धते । स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः संप्रवर्तते ॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा  
दाहश्च वर्धते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥ नहि जीव-  
यहोरात्रमेतेनाऽऽविष्टविग्रहः । कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥  
तस्य शीतज्वर-स्वप्न-गौरवाऽऽलस्य-तन्द्रयः । छर्दि-मूर्च्छा-तृषा-दाह-तृप्त्यरोच-  
क-हृद्द्रहाः ॥ घृबनं मुखमाधुर्यं श्रोत्र-वाग्दृष्टि-निग्रहः । श्लेष्मणो निग्रहं  
चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥ तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम् । निगृ-  
हीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥ निराहारस्य सोऽत्यर्थं भेदोऽज्ञास्थि  
बाधते । अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नहि जीवति ॥ भेदोगतः सन्नि-  
पातः कैफणः स उदाहृतः । कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चायं प्रपद्यते ॥  
मध्यहीनाऽधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत् । तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो  
दोषबलाऽऽश्रयाः ॥” इत्यादि । ननु वातादयः परस्परं विरुद्धगुणाः, विरुद्धगुणानां  
च संभूयैककार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते, परस्परपक्षातात्तुहिनदहनयोरिव; तत्कर्तुं  
सान्निपातिकविकारोत्पत्तिरिति । अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन, यथा—“विरु-

१ ‘धावते’ इति पाठान्तरम् । २ ‘कफणः’ इति पाठान्तरम् । ३ अस्याग्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके  
‘तद्यथा—वातस्य शीत-रूक्षादिगुणयुक्तस्य उष्णस्निग्धादिगुणयुक्तेन पित्तेन, तथा कफस्य गौर-  
वस्निग्धाऽऽत्मकस्योभाभ्यां विरोधः । “तत्र रुक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । पित्तं  
सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु चित्तं सरं द्रवम् ॥ स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्तः स्थिरः कफः ।  
कट्वम्ललवणं पित्तं स्वादुम्ललवणः कफः ॥ कपाय-तिक्त-कटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः ॥”—  
इति । किंच,—भिथ्याऽऽहारविहाराभ्यां दोषा युगपदुत्पद्यन्ते आहोस्विक्कालव्यवधानेन ? आद्ये सम-  
बलत्वेन तारतम्येन वा ? नाथः, सर्वेषां समबलत्वेन परस्परघातकानां युगपदुत्पत्तिर्न स्यात् ।  
अथ भिन्नाश्रयतया साऽस्तु; तदपि न, कुपितानां सर्वदेहव्यापित्वेन परस्परसंबन्धात् । उक्तं च—  
“व्यामोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्—” इति । किंच ज्वरोत्पत्तौ तावत्कुपितानामामाशय-  
गतानां रसदूषकाणां ज्वरोत्पादकत्वं तन्मिलितानामेव स्याद्यथादुष्टेनेति । न द्वितीयः, पूर्वदोषाधि-  
कत्वात् । किंच तारतम्येनोत्पत्तौ मूषकमार्जारवद्विरोधे प्रागेव तेन प्रबलेन दुर्बलाघातः मुकरः ।  
दृश्यते च मात्स्यो न्यायः । अथ युगपदुत्पादका आहारादयो न भवन्ति; तत्र युगपदुत्पादक-  
व्यमेकमेकं वा ? तस्य (एकत्वे) पाञ्चभौतिकत्वेन विरुद्धगुणाधिकार (करण) स्य त्रिदोषोत्पा-



द्वैरपि न त्वेते गुणैर्ध्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहज-सात्त्वत्वाद्धोरं विषयही-  
निव”-इति ( च. चि. स्था. अ. २६ ) । एतच्चान्ये दूषयन्ति-सहजत्वा-  
दित्यनैकान्तिकं, यतः सहजानपि धातून् दोषा उपव्रन्ति; सात्त्वत्वादित्यपि  
साध्याविशिष्टं, यतः सात्त्वत्वमबाधकत्वं, तदेव च दोषाणां परस्परं माध्यमे ।

—दकत्वं न स्यात् । अस्तु वाऽविचारितरमणयिम् । साकमेवाभ्यवहीयत इति कथम् ? अस्तु वा साव-  
कत्वेन सहकारिणि द्रव्याभ्यवहारे तस्य विरुद्धगुणवत्त्वेन दोषान्तरघातकत्वेनानुपपत्तिः । तद्व-  
स्थतयैव जायमानः केवलैकदोषजो न संसर्गसन्निपातजो ज्वर इति ! अथादृष्टाधीनत्वेन सहकारिणो  
भावे ( संभवे ) एकाभ्यवहारे सन्निपातः, तर्हि सर्वेषां समबलत्वेनेत्यत्रोक्तदोषः स्यात् । अथानेक-  
द्रव्याणामभ्यवहारे ( अथ तस्यानेकत्वे ) त्रिदोषप्रकोपणं न संभवति । तत्र तुल्यानामेवाभ्यवहारः,  
कथम् ? यतोऽभिन्नरुचित्वात् । यथारुच्यभ्यवहारं तारतम्यसंभवात् । तारतम्येनैव अवति प्रकोपो  
न युगपदिति प्रतिज्ञाहानिः । अत्राप्यदृष्टाधीनत्वात्तुल्याभ्यवहारे प्रतिघातकत्वाभावेऽपि यौगपद्यः,  
तर्हि स एव दोषः । अथ कालव्यवधानेन, तत्र पूर्वसादुत्तरस्य भिन्नः कालो भवेत् ; समग्रदो-  
षा न्यूनो वा अधिको वा ? नाद्यः, उपसंज्ञातविरोधित्वेन उत्पत्तुमेव न शक्नोति । न द्वितीयः,  
न्यूनबलत्वेन पूर्वप्रबलेनैव विनाशितत्वात्, अकिंचित्करत्वाच्च । न तृतीयः, विचारासहत्वात् । तत्र  
चकष्यम्, अधिकबलत्वमुत्पत्तेः पूर्वं पश्चाद्वा ? नाद्यः, अनुत्पन्नोत्पन्नस्याधिक्याभावात् । अधिकत्वं  
धर्मः, स तु धर्मिणि चिन्त्यः । अथ पश्चात् ? तत्र, उत्पत्त्यधिके अधिकेन घातस्योपसंज्ञातविरोधिन  
उत्पत्तिरेव न, कुतोऽधिकत्वम् । अत्राप्यधिकत्वं न संभवति । तस्माद्विरुद्धगुणानां संभूय कर्तृत्वं  
घटघटाभावयोरिव घटघटप्रध्वंसयोरिव सहावस्थायित्वं नास्ति दहनतुहिनवत् । अत्राच्यते सर्वे  
विकल्पा अनङ्गीकारपाशहताः, सन्निपातस्तु स्यादेव, मिथ्याद्वारादिना कुपिता दोषा युगपत्काल-  
व्यवधानेन वा, समबलत्वेन तारतम्येन वा परस्परविरुद्धा अपि स्वस्थानादामाशयमागत्य रसं दूष-  
यित्वा द्वन्द्वसन्निपातोत्पादका भवन्ति, उक्तं च—मिथ्याहारेत्यादि । कालव्यवधानेनोत्पन्नानामपि  
कालान्तरेण यौगपद्यमेव भवतीति न कदाचिदनुपपत्तिः । ननु, कथमादिपश्चाद्भावेनोत्पन्नानां  
यौगपद्यमिति चेत् ? तत्र, दोषादोषान्तरोत्पत्तेः । तदुक्तम्,—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानिव प्रको-  
पयेत् । एकः प्रशमितो दोषः सर्वान् दोषान्निवारयेत्”-इति । तथाच चरकः—“कश्चिद्दि रोगो  
रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशम्यति”-इति । “अत्र रुजाकरत्वाद्दोषोऽपि रोग” इति टीकाकृतो व्याचक्षते ।  
“विकृतो दोषो रोग” इति समुदायसमुदायिनोरभेदवादिनां मतं पूर्वमेवोक्तम् । अन्यच्च तथा,—  
“विकृताविकृता देहं ध्नन्ति ते वर्तयन्ति च”-इति विकृतानां घातकत्वं रोगरूपेणैव भवति, या  
विकृतिः स एव रोग इति न दोष-रोगयोर्भेदः । अस्तु वा भेदः ; मिलितैर्दोषैः रोगः क्रियत इति ।  
कथंचिदपि एकानेकद्रव्याभ्यवहारे सहकारिणो देवान्नयाणां प्रकोपो भवत्येव । उक्तं च,—“दृष्टापरा-  
धजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः । तत्संकराद्भवत्यन्यो व्याधिरिव त्रिधा मतः”-इति । तथा—“पित्त-  
क्षोभे तिलाभ्यङ्गो रात्रौ च दधिभोजनम् । अनिद्रा मैथुनं यस्य सन्निपातो भवेद्भ्रूवम्”-इति ।  
ननु दोषाणां बाध्यबाधकभावेनादिपश्चाद्भावेनोत्पत्तिर्दोषादोषान्तरोत्पत्तिर्वा न संभवतीत्यनुपपदमेवो-  
क्तम्’ इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते । १ अनैकान्तिकोऽयं सव्यभिचारख्यो हेत्वाभासः । तदनुमिति-  
स्वरूपश्चैवम्—“दोषाः परस्परमनुपघातकाः सहजत्वादुरगविषवत्” इति । हेत्वाभासस्यापदकता चात्र  
सहजानामपि धातूनां सहजैरेव दोषैरुपघातदर्शनात् । अत्र “अनैकान्तिकम्” इति नपुंसकलिङ्गनि-  
र्देशो लिङ्गविशेषस्याविवक्षितत्वात् । “सभा वा न प्रेष्टव्यम्” इति मनुस्मृतौ । “शक्यं चालेन श्रमा-  
सादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्” इति पातञ्जलमहाभाष्ये—प्रयोगे च खीलिङ्गयोग्यतायामपि क्लीब-  
लिङ्गप्रयोगदर्शनात् । विस्तरभयाद्विरमामि ॥

अत्रोच्यते—दोषा नोपघ्नन्तीति कोऽयमनुपघातः साध्यते ? विकृतेरकारकत्वम्; अविनाशकत्वं वा ? नाद्यः, दोषाणां परस्परं विकृतिकर्तृत्वात् । यथोक्तं चरके,—  
 “विशेषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा । यदा तदाऽश्मर्यु-  
 पजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रौचना गोः”—इति ( च. चि. स्था. अ. २६ ) ।  
 यथोक्तं वाग्भटेन—“संश्लेषभेदः पवनः सामग्रत्यर्थसंचितम् । अभिभूयेतरं  
 दोषमूत्रं चेत्प्रतिपद्यते ॥ सक्थ्यस्थिनी प्रभूर्यान्तःश्लेष्मणा स्तिग्धितेन च ।  
 तदा स्तभ्राति तेनोरु स्तब्धौ शीतावचेतनौ” ( वा. नि. स्था. अ. १५ ) इति ।  
 अविनाशकत्वं तु विद्यत एव, धातु-दोषयोः परस्परं च दोषाणां सर्वथोच्छेद-  
 प्रतिपादकागमाभावात्, अरणप्रसङ्गाच्च; दोषाणामपि देहधारणकारणत्वात् ।  
 तस्मात्सर्वथोच्छेदनिरासामि प्रायेणैव दृढबलवचनमिह द्रष्टव्यम्; ततः कुतोऽ-  
 नैकान्तिकता । नचैवं सति विषस्य विषादकर्तृत्वे दृष्टान्तविकलत्वं, विषस्य  
 विषादावान्तरव्यापारस्य प्राणविनाशकत्वात्; नच सर्वात्मना दृष्टान्तो  
 भवतीति । सात्म्यत्वादित्यस्यायमर्थः—सात्म्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् । दोषाः  
 परस्परं नोपघ्नन्ति, अनुपघातकत्वेन प्रतीयमानत्वात्; यद्यथा प्रतीयते तत्तथा  
 निर्दिश्यते, यथाऽग्निकार्यो धूमोऽग्निकार्यत्वेनेति, तत्कुतः साध्याविशिष्टत्व-  
 मिति । चक्रदत्तस्तु सहजसात्म्यत्वादित्येकमेव हेतुं व्याख्यातवान्—सहजं स्वा-  
 भाविकं दोषाणां सात्म्यत्वमिति । दृढवलोक्तहेतुद्वयास्वरसेन गण्यदासस्तु हेत्व-  
 न्तरमुक्तवान्—“दैवादोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके । विरुद्धैश्च  
 गुणैः क्षत्रिप्रोपघातः परस्परम्”—इति संक्षेपः ॥ १८—२३ ॥

आ०—अथ सान्निपातिकञ्चरलक्षणमाह—क्षणे इत्यादि । रुजाद्यन्दोऽस्थ्यादिभिः संबध्यते । लोचने  
 साक्षावे साश्रुणी, कलुषे आधिले, रक्ते=लोहितवर्णे, निर्मुले विस्फारिते इति जेजठः, अतिकुटिले  
 इति चक्रः । कर्णौ सस्वनौ=सशब्दौ, सरुजौ=वेदनायुक्तौ भवतः । कण्ठः शूकैर्धान्याप्रसू-  
 क्ष्मकण्टकाकारैः, अन्ये कपिकच्छूशूकैरिवावृतः व्याप्त इव । तन्द्रा प्रमिद्धा, मोहोऽचै-

१ अस्याग्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके—‘न द्वितीयः, दोषादोषान्तरोत्पत्तिर्निर्दिशितैवानुपदम्, ‘एकः  
 प्रकुपितो दोषः’ इत्यादिना, अतो दोषस्य कारणत्वादस्य एवानुपघातः । स ( न ) हि असं-  
 भवादविनाशकत्वापरपर्यायमविरोधित्वमेष्टव्यं; तच्च विद्यत एव धातुदोषयोः परस्परं वा  
 दोषाणाम्, अन्यथा द्वन्द्वसन्निपातलक्षणरोगः सर्वानुभवसाध्यः किंनिमित्तजः, नहि कारणं विना  
 कार्योत्पत्तिः । किंच यद्युपघातः स्यात्ततो जन्मादौ शुक्रार्तवसंयुक्तैर्दोषैः प्रकृत्यारम्भः कुतः न  
 जायमान एकज एव कथमुपघातः’ इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते । २ अस्याग्रे कस्मिंश्चित् पुस्तके—‘अतः  
 सहजत्वादविरोधित्वमिति यदुक्तमनैकान्तिकत्वं तच्च, उपघातशब्दस्य न्यूनाधिकपर्यायविरोधित्वात् ।  
 आहारं दोषा उपघ्नन्तीति दूष्यरसधातुदूषकत्वदोषाणां; तच्च रसदूष्यप्रकृत्यन्यथापादकत्वमेव  
 नान्यदिति कुतो नाशः; साध्याविशिष्टता तु निरस्ता स्पष्टतरा’ इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

तन्मं भवति, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम् । भ्रमश्चक्रारूढस्येव, अन्ये तु विपरीतपदार्थज्ञानं  
 स्थाणौ तुषज्ञानवत् । जिह्वा परिदग्धा दग्धवत्कृष्णवर्णा, खरस्पर्शा=कण्टकिनी च । सस्ता-  
 ज्ञता निःसहायवयता, अन्ये विकलाङ्गत्वमाहुः । धीवनं मुखेन रक्तपित्तस्य ईषत्कफमिश्रित-  
 स्योद्गिरणम् । शिरसो लोठनमितस्ततः शिरश्चालनम् । तृष्णा पिपासा । स्वेद-मूत्र-पुरीषाणां  
 चिरेणाल्पशो दर्शनं चिरात् स्रुतिः । कृशत्वं नातिगात्राणां नातिदौर्बल्यं दोषपूर्णत्वात् । प्रततं  
 निरन्तरं कण्ठकूजनम् अन्यक्तशब्दः । कोठानां श्याव-रक्त-वर्णानां मण्डलानां च दर्शनम्;  
 कोठलक्षणं भालुक्तितन्त्रे पठितं—“ वरटिदृष्टकाशः कण्डूमाल्लोहितोऽसकफपित्तात् । क्षणिको-  
 त्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः ”—इति । अथवा कोठा अन्यक्तमुखाः पिडिकाप्रायाः,  
 तेषां च श्यावरक्तानां दर्शनं, शरीरे मण्डलानां सकलानां च दर्शनम् । मूकत्वं मन्दवचनता  
 अवचनता वा । स्रोतसां मुख-नासादि-रन्ध्राणां पाकः । गुस्त्वमुदरस्य उदरगौरवम् । चिरा-  
 त्पाकश्च दोषाणामिति अतिसामत्वारब्धेन दोषाणामेकत्र मिलितानां चिरकालेन पाको निरामता ।  
 चकारादन्यान्यपि बोद्धव्यानि । यदाह वाग्भटः—“ तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि ।  
 सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽयं नैव च ॥ गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ”—इति ।  
 एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु सामान्यं वृद्धैर्दोषैस्तुल्यैरारब्धस्य चरकेण पठितम्; एवं  
 “ द्रव्युल्लेखकोल्वणैः षट् स्युः ” इत्यादिद्वादशसन्निपातानां च लक्षणं बोद्धव्यम् । तथा च  
 काश्मीरपाठे चरकतन्त्रे—“ भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरूक् । वातपि-  
 त्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफज्वरे ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहहृद्व्यथाः । वातश्लेष्मो-  
 ल्वणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं वहिर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दै वाते  
 व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥ संध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे त्रिदोषे  
 तु तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥ रक्तविण्मूत्रनेत्रत्वं दाहतृड् बलसंक्षयाः । मूर्छां चेति त्रिदोषे स्याद्विदुः  
 पित्ते गरीयासि ॥ आलस्यारुचिहृल्लासदाहवर्ग्यरतिभ्रमाः । कफोल्बणे सन्निपाते तन्द्रा कासोऽपि  
 जायते ॥ मूर्छां छर्दिः प्रतिश्यायस्तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् । हीनवाते मध्यपित्ते लिङ्गं श्लेष्माधिके  
 मतम् ॥ हारिद्र-मूत्र-नेत्रत्वं दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥  
 शिरोरुग्नेपथुःश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः । हीनपित्ते मध्यकफ लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥  
 शीतकं गौरवं तन्द्रा प्रलापः शिरसोऽतिरूक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥ पर्वभे-  
 दोऽङ्गदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफे हीने मध्यवाते लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥  
 श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपाश्चर्यम् । कफे हीने मध्यपित्ते लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ ” इति ।  
 । विकृतौ नियमो नास्ति, तेन विकृतिविषमसमवायारब्धा अनेकप्रकारा भवन्ति । प्रकृतिसम-  
 समवाये-सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरस्यैव लक्षणं ज्ञेयम् । हीन-मध्या-ऽधिक-क्रमेण सन्निपाताः  
 षट्, द्रव्युल्बणेन त्रयः, एकोल्बणेन त्रयः, समत्वेनैकः, एवं त्रयोदशसन्निपाताः प्रकृतौ ।  
 अत्र सुश्रुतस्तु दोषोत्कर्षा-ऽपकर्ष-तारतम्येन धात्वाद्यावरणभेदेन च सन्निपातभेदानामा-  
 नन्त्यात्पृथक्पृथग्लक्षणं नोक्तवान्; किंतु तुल्यकुपितैर्दोषैरेकमेव सन्निपातलक्षणं पठितवान्  
 तद्यथा—“ नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः । खरजिह्वः शूककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥  
 साश्रुनिर्मुञ्जनयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः । श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवैर्युतः ॥ अभिन्यासं तु तं प्राहु-  
 र्हीनैजसमथापरे । सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे विदुः ॥ निद्रोपेतमभिन्यासं क्षीणमेनं हतौ-  
 जसम् ॥ संन्यस्तगात्रं संन्यासं विद्यात्सर्वात्मकं ज्वरम् ”—इति । अथ भालुक्तितन्त्रे द्रव्युल्बणे-

कोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम् तद्यथा—“ आमो ह्याहारदोषात्प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं  
 शरीरे श्लेष्मत्वं याति मुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिल-  
 मथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः संमूच्छयान्योन्यमेते प्रवळमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम् ॥  
 वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट् तालुशोषप्रमीलकौ ॥ आध्मान-  
 तन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः । पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ अन्तर्दाहो बहिः  
 दैत्यं तस्य तन्द्रा च वर्धते । तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशोर्षगलग्रहः ॥ निष्ठोवेत्कफपित्तं च कृच्छ्रात्कण्डूश्च  
 जायते । विड्भेदश्चासहिकाश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः ॥ विभुः फल्गुश्च तौ नाम्ना सन्निपाताडुदाहृतौ ॥  
 श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहाः । शिरो-  
 गौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः ॥ उदरं दह्यते चास्य कटी बस्तिश्च दूयते । सन्निपातः स विशेषो  
 मकरीति सुदारुणः ॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति । तस्य तृष्णा ज्वरो ग्लानिः  
 पार्श्वरुग् दृष्टिसंक्षयः ॥ पिण्डकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः । सरक्तं चास्य विष्मूत्रं शूलं निद्रा-  
 विपर्ययः ॥ निर्मिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिगृह्यते । आयम्यते मिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥  
 मूर्च्छते स्फायते रीति नाम्ना विस्फारकः स्मृतः । पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥  
 तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते । शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुती ॥ ततश्चैनं प्रबाधन्ते  
 हिक्काश्वासप्रमीलिकाः । निःसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥ नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु  
 विवर्धते । स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः संप्रवर्तते ॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा श्वासः प्रबाधते ॥  
 असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥ नहि जीवत्यरोहात्रमनेनाविष्टविग्रहः । कफोल्बणः  
 सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरः स्वप्नगौरवालस्यतन्द्रिकाः । छर्दिमूर्च्छातृषादा-  
 हतृष्णारोचकहृद्ग्रहाः ॥ छीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः । अथात्र स्नाति मुङ्क्ते वा त्रिरात्रं  
 नैव जीवति ॥ भेदोगतः सन्निपातो ह्यल्बणः परिकीर्तितः । कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि  
 प्रपद्यते ॥ मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत् । तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः ॥  
 इति ॥ ननु वातादयः परस्परं विरुद्धगुणाः, परस्परं विरुद्धगुणानां च तेषां संभूयैककार्यारम्भकत्वं  
 नोपपद्यते, परस्पेरापघातकत्वाद्दहनतुहिनयोरिव, तत्कथं सान्निपातिकविकारोत्पत्तिः ? अत्र समाधानमु-  
 क्तं दृढबलेन, यथा “विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसाल्प्यत्वाद् घोरं विषमही-  
 निव ”—इति । दृढबलोक्तहेतुद्वयादन्यद्देतुद्वयं गयदासश्चोक्तवान्—“ देवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां  
 सान्निपातिके । विरुद्धैश्च गुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम् ”—इति ॥ १८—२३ ॥

अथ अश्विनीकुमारसंहितान्तर्गतायाः

## सन्निपातकलिकायाः

त्रयोदशसन्निपातभेदाः ।



अथ सर्वेषां सन्निपातानां निदानानि,  
कोपकालश्च ।

अम्ल-स्निग्धोष्ण-तीक्ष्णैः कटु-मधुर-सुरा-ताप-सेवा-कपायैः  
काम-क्रोधा-ऽतिरूक्षैर्गुरुतर-पिशिता-ऽऽहार-सौहित्य-शीतैः ।  
शोक-व्यायाम-चिन्ता-ग्रहगण-वनिता-ऽत्यन्त-सङ्ग-प्रसङ्गैः  
प्रायः कुप्यन्ति पुंसां मधुसमय-शरद्-वर्षणे सन्निपाताः ॥ १ ॥

तेषां तन्त्रान्तरे नामानि ।

सन्धिकश्चान्तकश्चैव रुग्दाहश्चित्तविभ्रमः ।  
शीताङ्गस्तन्द्रिकश्चैव कण्ठकुब्जश्च कर्णकः ॥ २ ॥  
विख्यातो भुग्ननेत्रश्च रक्तघ्नीवी प्रलापकः ।  
जिह्वकश्चेत्यभिन्यासः सन्निपातास्त्रयोदश ॥ ३ ॥

तेषां दिनमर्यादामाह-

सन्धिके वासराः सप्त चान्तके दश वासराः ।  
रुग्दाहे विंशतिर्ज्ञेया वह्न्यष्टौ चित्तविभ्रमे ॥ ४ ॥  
पक्षमेकं तु शीताङ्गे तन्द्रिके पञ्चविंशतिः ।  
विज्ञेया वासराश्चैव कण्ठकुब्जे त्रयोदश ॥ ५ ॥  
कर्णके च त्रयो मासा भुग्ननेत्रे दिनाष्टकम् ।  
रक्तघ्नीविनि दिग्घसाः प्रलापे स्युश्चतुर्दश ॥ ६ ॥

जिह्वके षोडशाहानि पक्षोऽभिन्यासलक्षणे ।  
परमायुरिदं प्रोक्तं त्रियते तत्क्षणादपि ॥ ७ ॥

अथैषां साध्यासाध्यत्वम् ।

सन्धिकस्तन्धिकश्चैव कर्णकः कण्ठकुञ्जकः ।  
जिह्वकश्चित्तविभ्रंशः षट् साध्याः सप्त मारकाः ॥ ८ ॥

अथैषां पृथग् लक्षणानि लिख्यन्ते तत्र—

अथ सन्धिकसन्निपातलक्षणम् ।

पूर्वरूपकृत-शूलसंभवं शोष-वात-बहु-वेदना-ऽन्वितम् ।  
श्लेष्म-ताप-बल-हानि-जागरं सन्निपातमिति सन्धिकं वदेत् ९

अथ अन्तक-सन्निपातलक्षणम् ।

दाहं करोति परितापनमातनोति  
मोहं ददाति विदधाति शिरःप्रकम्पम् ।  
हिक्रां तनोति कसगं च समाजुहोति  
जानीहि त विबुधवर्जितमन्तकारणम् ॥ १० ॥

( इत्यन्तकस्यासाध्यात्वादौषधं नास्ति )

अथ रुग्दाह-सन्निपातलक्षणम् ।

प्रलाप-परितापन-प्रबल-मोह-मान्द्य-श्रमः  
परिभ्रमण-वेदना-व्यथित-कण्ठ-मन्या-हनुः ।  
निरन्तर-तृषांकरः श्वसन-कास-हिकका-ऽऽकुलः  
स कष्टतर-साधनो भवति हन्ति रुग्दाहकः ॥ ११ ॥

अथ चित्तभ्रम-सन्निपातलक्षणम् ।

यदि कथमपि पुंसां जायते कायपीडा  
भ्रम-मद-परितापो मोह-वैकल्य-भावः ।

विकल-नयन-हासो गीत-नृत्य-प्रलापोऽ-  
भिदधति तमसाध्यं केऽपि चित्तभ्रमाख्यम् ॥ १२ ॥

अथ शीताङ्ग-सन्निपातलक्षणम् ।

हिम-सदृश-शरीरो वेपथु-श्वास-हिकका-  
शिथिलित-सकलाङ्गो खिन्ननादोग्रतापः ।  
कुमथु-दवथु-कास-च्छर्द्यतीसार-युक्त-  
स्त्वरित-मरण-हेतुः शीतगात्रः प्रभावात् ॥ १३ ॥

( शीताङ्गसंनिपातोऽसाध्यः )

अथ तन्द्रिक-सन्निपातलक्षणम् ।

प्रभूता तन्द्राऽऽर्तिज्वर-कफ-पिपासा-ऽऽकुलतरो  
भवेच्छायामा जिह्वा पृथुल-कठिना कण्टकवृता ।  
अतीसार-श्वास-क्लमथु-परिताप-श्रुतिरुजो  
भृशं कण्ठे जाड्यं शयनमनिशं तन्द्रिकगदे ॥ १४ ॥

अथ कण्ठकुब्ज-सन्निपातलक्षणम् ।

शिरोर्ति-कण्ठग्रह-दाह-मोह-  
कम्प-ज्वरा रक्त-समीरणा-ऽऽर्तिः ।  
हनुग्रहस्ताप-विलाप-मूर्च्छाः  
स्यात् कण्ठकुब्जः खलु कष्टसाध्यः ॥ १५ ॥

अथ कर्णक-सन्निपातलक्षणम् ।

प्रलाप-श्रुतिहास-कण्ठग्रहाङ्ग-  
व्यथा-श्वास-कास-प्रसेक-प्रभावम् ।  
ज्वरं ताप-कर्णान्तयोगल्लपीडा  
बुधाः कर्णकं कष्टसाध्यं वदन्ति ॥ १६ ॥



अथ कर्णक--सन्निपातोपद्रवाः ।

“प्रलाप-कण्ठग्रह-गात्रदुःखं  
सश्वास-कासौ ज्वर-ताप-कम्पाः ।  
कर्णेऽश्रुतिर्ग्रन्थितया च पीडा  
स्यात् कर्णके कष्टतरा चिकित्सा ॥”  
संनिपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।  
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ १७ ॥  
ज्वरस्य पूर्व ज्वरमध्यतो वा  
ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः ।  
क्रैमादसाध्यः खलु कष्टसाध्यः  
मुखेन साध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥ १८ ॥

अथ भुग्ननेत्र--सन्निपातलक्षणम् ।

ज्वर-बलापचयः स्मृतिशून्यता  
श्वसन-भुग्नविलोचन-मोहितः ।  
प्रलपन-भ्रम-कम्पन-शोफवाँ-  
स्त्यजति जीवितमाशु स भुग्नदृक् ॥ १९ ॥

अथ रक्तष्ठीवि--सन्निपातलक्षणम् ।

रक्तष्ठीवी ज्वर-वमि-तृषा-मोह-शूला-ऽतिसारा  
हिकका-ऽऽध्मान-भ्रमण-द्वथु-श्वास-संज्ञाप्रणाशाः ।  
श्यामा रक्ता विकृत-रसना मण्डलोत्थानरूपा  
रक्तष्ठीवी निगदित इह प्राणहन्ता प्रसिद्धः ॥ २० ॥

१ वैद्यजीवन-योगरत्नाकरादिष्वप्येवमेव पाठदर्शनात्तथैवास्यात्रोल्लेखः, परं क्रमेऽस्मिन्नुद्धि-  
खित-चरक-चचनेन सह विरोधापत्तेः पाठमेनमेवं परिवर्तयन्ति केचिद् ब्रूयाः—“ज्वरादितो वा  
ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः । क्रमेण साध्यस्तथ कष्टसाध्यस्तथाप्यसाध्यः  
कथितो मुनीन्द्रैः ॥” इति ।

अथ प्रलापक-सन्निपातलक्षणम् ।

कम्प-प्रलाप-परितापन-शीर्षपीडा-

प्रौढप्रभाव-पवमानपरोऽन्यचिन्ता ।

प्रज्ञा-प्रणाश-विकलः प्रचुर-प्रवादः

क्षिप्रं प्रयाति पितृपालपदं प्रलापी ॥ २१ ॥

अथ जिह्वक-सन्निपातलक्षणम् ।

श्वसन-कास-परिताप-विह्वलः

कठिन-कण्टक-वृतातिजिह्वकः ।

बधिर-मूक-बलहानि-लक्षणो

भवति कष्टतरसाध्यजिह्वकः ॥ २२ ॥

अथ अभिन्यास-सन्निपातलक्षणम् ।

दोषत्रय-स्निग्धमुखत्व-निद्रा

वैकल्य-निश्चेतन-कष्टवाग्मी ।

बलप्रणाशः श्वसनादिनिग्रहो-

ऽभिन्यास उक्तो ननु मृत्युकल्पः ॥ २३ ॥

अथ हारिद्रक-ज्वरलक्षणम् ।

( Yellow Fever. )

“ हारिद्र-देह-नख-नेत्र-करा-ऽङ्गुलि-ताप-

निष्ठीवनादि-कसनैरुपलक्षितो यः ।

हारिद्रकः स कथितः किल सन्निपातः

साध्यो न चैष भिषजां ज्वरकालरूपः” ॥ २४ ॥

अथ सन्निपातावधिः ।

सद्यस्त्रि-पञ्च-सप्ताहाद् दशाहाद् द्वादशादपि ॥

एकविंशद्दिनैः शुद्धः सन्निपाती सुजीवति ॥ २५ ॥

इति त्रयोदश सन्निपाताः ।

अथ सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणम् ।

तस्य सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्व-संपूर्ण-लक्षणः ।

सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥

( च० वि० अ० ३ श्लो० १०५. )

( सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।

पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ १ ॥

सप्तमी द्विगुणा च नवम्येकादशी तथा ।

एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ २ ॥ )

( वा० नि० अ० २ श्लो० ६२. )

म०—दोषे विबद्ध इत्यादि । दोषो मलं वातादिश्च; जेज्जटस्तु मलमेवाह विबद्ध इति वचनात् । नष्टाग्नित्वम् आहारापाकगम्यम् । यदुक्तं चरके,—“ अग्निं जरणशक्त्या ”—( च. वि. स्था. अ. ४ )—इति । असाध्य-कृच्छ्रसाध्याभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम् । उक्तं हि चरके—“ सन्निपातो दुश्चिकित्सयानाम् ” ( च. सू. स्था. अ. २५ )—इति । तथा भालुकिः,—“ मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता ”—इति । सर्व-संपूर्ण-लक्षण इति सर्वाणि=समग्राणि, संपूर्णानि=बलीयांसि, लक्षणानि यस्य स तथा ॥ २४ ॥

आ०—संक्षेपतः सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—दोषे इत्यादि । दोषो मलं वातादिश्च । जेज्जटस्तु मलं पुरीषमाह, विबद्ध इति वचनात् । नष्टाग्नित्वमिति अग्नाविपाकादवगन्तव्यम् । सर्वाणि संपूर्णानि लक्षणानि यस्य स तथा । ईदृशोऽसाध्यः, ततोऽन्यथा=वितदृशः अविबद्धदोषोऽल्पलक्षणः कृच्छ्रसाध्यः । असाध्यत्व-कृच्छ्रसाध्यत्वाभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम् । उक्तं च, भालुकिना—“ मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता । यस्तु तत्र भवेज्जेताः स जेताऽऽमयसंकुले ॥ सन्निपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम् । कस्तेन न कृतो धर्मः कां वा पूजां न सोऽर्हति ”—इति । मुश्रुतेऽपि सन्निपातज्वरस्य मोक्ष-वधयोरवधिकालो दर्शितः—“ सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ”—इति । भालुकिनाऽप्युक्तम्—“ सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ” इति । उक्तं च—“ पित्तकफाऽनिलः—वृद्धया दशदिवस-द्वादशाह-सप्ताहान् । हन्ति विमुञ्चति वाऽपि त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ”—इति वाताधिकः सप्तमे दिने, पित्ताधिको दशमे, श्लेष्माधिको द्वादशे, मलापकाद्विमुञ्चति धातुपाकाद्वन्ति । धातुपाकक्षणं तन्त्रान्तरोक्तम्—“ संवाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाक-रुजान्वितेषु । पकेषु वा तेषु रुजा ज्वरार्तः स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ”—

इति । तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्—“ दश-द्वादश-सप्ताहैः पित्त-श्लेष्मा-ऽनिलाधिकः । पक्त्वोष्मणा धानु-मलान् हन्ति सुञ्चति वा ज्वरः ”—इति ॥ २४ ॥

अथ सन्निपातोपद्रवाः ।

सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।

शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

(च० वि० अ० ३ श्लो० २८२)

अथाभिन्यासज्वरलक्षणम् ।

( त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः ।

आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रिय-मनो-गताः ॥ १ ॥

जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् ।

श्रुतौ नेत्रे प्रसृतिः स्यान्न चेष्टां कांचिदीहते ॥ २ ॥

न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने ।

न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥ ३ ॥

शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ।

कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥ ४ ॥

अल्पं प्रभाषते किंचिदभिन्यासः स उच्यते ।

प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥ ५ ॥ )

म०—सन्निपातेत्यादि ॥ २५ ॥

आ०—सन्निपातोपद्रवमाह—सन्निपातज्वरस्येत्यादि॥सन्निपातज्वरस्य अन्ते=अवसाने सन्निपा-  
तक्षपितशरीरस्य पुंसः कर्णमूले = कर्णपर्यन्ते सुदारुणः = कष्टतमः शोफः संप्राप्तिविशेषात्कर्म-  
वैचित्र्यात्संजायते, तेन = शोफेन कश्चिदेवातुरो विमुच्यते = प्रायो मारयवीत्यर्थः ॥ २५ ॥

अथागन्तुज्वरलक्षणम् ।

आगन्तुज्वरमाह—

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः ।

आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत् ॥ २६ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लोक० ३२ )

म०—अभिघातेत्यादि ।—अभिघातोऽभिहननं शस्त्र-लोष्ट-मुष्टि-लगुडादिभिः; अभिचारः=श्येनादियागकृतः, अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहसुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः । अभिषङ्गः=कामादीनां भूतानां च संबन्धः, यदुक्तं चरके—“काम-शोक-भय-क्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः । सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः” ( च. चि. स्था. अ. ३ )—इति । अभिशपो=ब्राह्मण-गुरु-वृद्ध-सिद्धानामनिष्टाभिर्शंसनम् । तं चागन्तुज्वरं यथास्वं दोषैर्जानीयात् । यदुक्तम्,—“काम-शोक-भयाद्वायुः”—इत्यादि । अयं च दोषसंबन्धः पश्चाद्भावी न त्वारम्भक इति संप्राप्त्यवसरे निरूपितम् ॥ २६ ॥

आ०—अथागन्तुकज्वरलक्षणमाह—अभिघातेत्यादि । अभिघातो लोहशस्त्रादिना, अभिचारः विपरीतैर्मन्त्रैः लोहसुचा सर्षपादिहोमः, अभिषङ्गः कामादीनां भूतादीनां च संबन्धः, अभिशपः ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानाम् आक्रोशोऽनिष्टापादनमभिशपनम् । तं चागन्तुकज्वरं यथास्वदोषैर्जानीयात् । यदुक्तं ‘कामशोकभयाद्वायुः’ इत्यादि । अयं च दोषसंबन्धः पश्चाद्भावी न त्वारम्भक इति संप्राप्त्यवसरे निरूपितम् ॥ २६ ॥

अथ विषजन्यागन्तुज्वरलक्षणम् ।

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च ।

भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥ २७ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३३ )

म०—श्यावास्यतेति—श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः; शाकवर्ण इत्येके विषकृते=स्थावरविषभक्षणादिकृते; अतीसारः, तद्विषस्याधोगत्वात् ॥ २७ ॥

आ०—आगन्तुज्वराणां वैचित्र्यमाह—श्यावेत्यादि । श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः; श्याववर्ण इत्यन्ये । विषकृते स्थावरादिविषभक्षणादिकृते, विषस्य त्रिदोषकर्तृत्वेऽप्यत्यन्तपित्तकृत्त्वात् श्यावमुखत्वम् । अतीसारः स्थावरविषस्याधोगत्वात् । तोदो = व्यथा । शेषं सुगमम् ॥ २७ ॥

अथौषधगन्धजज्वरलक्षणम् ।

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग् वमथुः क्षवः ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३४ )

म०—ओषधीगन्धज इति—तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे, “पुष्पेभ्यो गन्धरजसी ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः”—इत्यादिना वृद्धसुश्रुतेन पठितं तृणपुष्पाख्यं ज्वरमत्रैवान्तर्भावयन्ति ॥—

आ०—तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे वमथुः = छर्दिः, क्षवः = छिक्का । शेषं सुगमम् ।

अथ कामज्वरलक्षणम् ।

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३५ )

म०—कामज इत्यादि—अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्ते । चित्तविभ्रंशो= भ्रमादिः । यदाह वाग्भटः—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्री-निद्रा-धी-धृति क्षयः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इत्यादि ॥ २८ ॥

आ०—कामजे अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्तजे । चित्तविभ्रंशः= किंकर्तव्यतामूढत्वम् । यदुक्तं वाग्भटे—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः । ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम्” इति । शेषं सुबोधम् ॥ २८ ॥

( हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति । )

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३९ )

अथ भय-शोक-क्रोध-ज-ज्वरलक्षणम् ।

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ।

सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३६ )

म०—भयादिति=भयाज्जाते ज्वरे । एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यम्; शोकाच्च प्रलाप इति संबन्धः; प्रलापश्चात्र वातकार्यः, तस्य वातकोपित-पित्तकार्यत्वात् । विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति। उक्तं च—“काम-शोक-भयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः”—इत्यादि । यद्येवं तत्कुतः क्रोधजे वेपथुः? तस्य वातकार्यत्वात्। उच्यते—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः; अथवा क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति नहि दृष्टेरनुपपन्नं नास्ति चेज्जटः । क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तद्युक्तम् । यदाह विदेहः,—“क्रोधशोकौ स्मृतौ वात-रक्त-पित्त-प्रकोपणौ”—इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं सशुचिनोति । यदाह वाग्भटः—“क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भय-शोक-जः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इति । मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति ॥—

आ०—भयशोककोपाभिषङ्गज्वरमाह-भयादित्यादि । भयादिति भयाज्जाते ज्वरे, एवं शोकात्को-पादित्यत्रापि बोद्धव्यम् । प्रलापः= असंबद्धभाषणं, वेपथुः= कम्पः शोकात्प्रलाप इति संबन्धः । प्रलापश्चात्र वातकार्यः, सर्वदैव तस्य वातकार्यत्वात् विशेषनिश्चयश्च निदानात्; निदानमपि कंचिल्लक्षणं भवति । यद्येवं तत्कथं क्रोधाद्वेपथुः, ? तस्यापि, वातकार्यत्वात् उच्यते—“एकः

प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्”—इति पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः, क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यते इति । नहि दृष्टेरनुपपन्नं नामेति जेजटः । क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति युक्तं यदाह विदेहः—  
“क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपर्णौ”—इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरोगं समुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः—“क्रोधात्कम्पः शिरोरूक् च प्रलापो भयशोकजे” इति । मान सत्त्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादनं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिह्नित्वार्थमिति ।—

अथाभिचाराऽभिघातज-ज्वरलक्षणम् ।

( अभिघातजज्वर=Traumatic Fever. )

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥

अभिचारेत्यादि-तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतदर्शिना वाग्भटेन—“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृड्-भ्रमैः ॥ सदाह-मूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः”—इति ॥ २९ ॥

आ०--अभिचाराभिशापाभ्यां जाते ज्वरे मोहोऽचैतन्यं जायते; अभिचारो मन्त्रादिभिर्मरणप्रयोगः, अभिशापो ब्रह्मर्षिगुरुसिद्धादीनामभिषपनमाक्रोशः । तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतमतानुवादिना वाग्भटेन—“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृड्-भ्रमैः ॥ सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः”—इति ॥ २९ ॥

अथ भूताभिषङ्गाज्ज्वरलक्षणम् ।

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्य-रोदन-कम्पनम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३७, ३८ )

भूताभिषङ्गादिति-भूतानि देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः=संबन्धः । उद्वेगः=उद्विग्नचित्तता ॥—

आ०--भूता देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः तेषामभि = समन्तात्संगस्तस्मात् । उद्वेग = उद्विग्नचित्तता ।

आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धप्रदर्शनार्थमाह—

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥

भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

( च० चि० अ० ३ श्लो० १११ )

म०--कामशोकेत्यादि । त्रयो मला भूताभिषङ्गात्कुप्यन्तीति भूतप्रभावात् । यच्च चरकेण निदानस्थाने “अभिषङ्गजः पुनर्वात-पित्ताभ्यां ( च. नि.



अथ कामज्वरलक्षणम् ।

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३५ )

म०—कामज इत्यादि—अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्ते । चित्तविभ्रंशो= भ्रमादिः । यदाह वाग्भटः—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्नी-निद्रा-धी-धृति क्षयः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इत्यादि ॥ २८ ॥

आ०—कामजे अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्तजे । चित्तविभ्रंशः= किंकर्तव्यतामूढत्वम् । यदुक्तं वाग्भटे—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्नीनिद्राधीधृतिक्षयः । ध्याननिःश्वासबहुलं छिन्नं कामज्वरे स्मृतम्” इति । शेषं सुवाचम् ॥ २८ ॥

( हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति । )

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३९ )

अथ भय-शोक-क्रोध-ज-ज्वरलक्षणम् ।

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ।

( सु० उ० अ० २९ श्लो० ३६ )

म०—भयादिति=भयाज्जाते ज्वरे । एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यम्; शोकाच्च प्रलाप इति संबन्धः; प्रलापश्चात्र वातकार्यः, तस्य वातकोपित-पित्तकार्यत्वात् । विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति । उक्तं च—“काम-शोक-भयाद्रागुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः”—इत्यादि । यद्येवं तत्कुतः क्रोधजे वेपथुः? तस्य वातकार्यत्वात् । उच्यते—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः; अथवा क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति नाहि दृष्टेरनुपपन्नं नास्ति चेज्जटः । क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तद्युक्तम् । यदाह विदेहः,—“क्रोधशोकौ स्मृतौ वात-रक्त-पित्त-प्रकोपणौ”—इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं सशुचिनोति । यदाह वाग्भटः—“क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भय-शोक-जः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इति । मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति ॥—

आ०—भयशोककोपाभिपङ्गज्वरमाह-भयादित्यादि । भयादिति भयाज्जाते ज्वरे, एवं शोकात्को-पादित्यत्रापि बोद्धव्यम् । प्रलापः=असंघट्टभाषणं, वेपथुः=कम्पः शोकात्प्रलाप इति संबन्धः । प्रलापश्चात्र वातकार्यः, सर्वदैव तस्य वातकार्यत्वात् विशेषनिश्चयश्च निदानात्; निदानमपि कंचिल्लक्षणं भवति । यद्येवं तत्कथं क्रोधाद्वेपथुः, ? तस्यापि, वातकार्यत्वात् उच्यते—“एकः

प्रकुपितो दोषः सर्वमेव प्रकोपयेत्—इति । पित्तकोपितत्वात् अन्य एवात्र वेपथुः, कुष्ठश्च वेपमानो दृश्यते इति । नहि दृष्टेरनुपपन्नं नास्ति ज्वरः । कोषः पित्राग्रे वाते च कोपयतीति युक्तं यदाह विदेहः—  
“क्रोधशोकौ स्मृती वातरक्तपित्तप्रकोपणी”—इति । कोषाच्चेति चक्षुरेण शिरोरोमं समुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः—“क्रोधात्कम्पः शिरोग्गू च प्रत्यपो भयशोकजे” इति । यावत् सत्त्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादनं हेतुमेवात्र, हेतुमेवात्र भेदाभिधानं हेतुप्रत्ययीकानिहितार्थमिति ।—

अथाभिचारा-अभिघातज-ज्वरलक्षणम् ।

( अभिघातज-ज्वर = Traumatic Fever. )

अभिचाराभिघापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥

अभिचारेत्यादि-तृष्णा चेति चकारणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतदर्शिना वाग्भटेन—“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हृयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृद्-ध्रुवैः ॥ सदाह-मूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः—इति ॥ २९ ॥

आ०--अभिचाराभिघापाभ्यां जाते ज्वरे मोहोऽप्यन्त्यं जायते; अभिचारो मन्त्रादिभिर्मरणप्रयोगः, अभिघापो ब्रह्मर्षिगुरुसिद्धादीनामभिघापनमाक्रोशः । तृष्णा योगे चकारणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतमतानुवादिना वाग्भटेन—“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हृयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृद्-ध्रुवैः ॥ सदाह-मूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः”—इति ॥ २९ ॥

अथ भूताभिपङ्गाज-ज्वरलक्षणम् ।

भूताभिपङ्गादुद्वेगो हास्य-रोदन-कम्पनम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३७, ३८ )

भूताभिपङ्गादिति-भूतानि देवप्रदादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिपङ्गः=संबन्धः । उद्वेगः=उद्भिन्नचित्तता ॥—

आ०--भूता देवप्रदादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः तेषामभि = समन्तात्संगस्तरमात् । उद्वेगः = उद्भिन्नचित्तता ।

आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धप्रदर्शनार्थमाह—

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥

भूताभिपङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

( च० नि० अ० ३ श्लो० १११ )

म०--कामशोकेत्यादि । त्रयो मला भूताभिपङ्गात्कुप्यन्तीति भूतप्रभावात् । यच्च चरकेण निदानस्थाने “अभिपङ्गजः पुनर्वात-पित्ताभ्यां ( च. नि.

अथ कामज्वरलक्षणम् ।

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३५ )

म०—कामज इत्यादि—अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्ते । चित्तविभ्रंशो= भ्रमादिः । यदाह वाग्भटः—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्री-निद्रा-धी-धृति क्षयः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इत्यादि ॥ २८ ॥

आ०—कामजे अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्तजे । चित्तविभ्रंशः= किंकर्तव्यतामूढत्वम् । यदुक्तं वाग्भटे—“कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः । ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम्” इति । शेषं सुवाधम् ॥ २८ ॥

( हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिगुण्यति । )

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३९ )

अथ भय-शोक-क्रोध-ज-ज्वरलक्षणम् ।

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३६ )

म०—भयादिति=भयाजाते ज्वरे । एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्वोद्धव्यम्; शोकाच्च प्रलाप इति संबन्धः; प्रलापश्चात्र वातकार्यः, तस्य वातकोपित-पित्तकार्यत्वात् । विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति । उक्तं च—“काम-शोक-भयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः”—इत्यादि । यद्येवं तत्कुतः क्रोधजे वेपथुः? तस्य वातकार्यत्वात् उच्यते—“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः; अथवा क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति नहि दृष्टेरनुपपन्नं नास्ति चेज्जटः । क्रोधः चित्तमिव वातं च कोपयतीति, तद्युक्तम् । यदाह विदेहः,—“क्रोधशोकौ स्मृतौ वात-रक्त-पित्त-प्रकोपणौ”—इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं सप्तुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः—“क्रोधात्कम्पः शिरोरूक् च प्रलापो भय-शोक-जः” ( वा. नि. स्था. अ. २ ) इति । मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनौकचिकित्सार्थमिति ॥—

आ०—भयशोककोपाभिषङ्गज्वरमाह-भयादित्यादि । भयादिति भयाजाते ज्वरे, एवं शोकात्को-पादित्यत्रापि बोद्धव्यम् । प्रलापः= असंवेदभाषणं, वेपथुः= कम्पः शोकात्प्रलाप इति संबन्धः । प्रलापश्चात्र वातकार्यः, सर्वदैव तस्य वातकार्यत्वात् विशेषनिश्चयश्च निदानात्; निदानमपि क्वचिल्लक्षणं भवति । यद्येवं तत्कथं क्रोधाद्वेपथुः, ? तस्यापि, वातकार्यत्वात् उच्यते—“एकः

प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्”-इति पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः, क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यते इति । नहि दृष्टेरनुपपन्नं नामेति जेजटः । क्रोधः पित्तमिव वाते च कोपयतीति युक्तं यदाह विदेहः-  
“क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपणौ”-इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरोमं समुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः-“क्रोधात्कम्पः शिरोरूक् च प्रलापो भयशोकजे” इति । मान सत्त्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादनं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति ।-

अथाभिचारा-अभिघातज-ज्वरलक्षणम् ।

( अभिघातजज्वर=Traumatic Fever. )

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥

अभिचारेत्यादि-तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतदर्शिना वाग्भटेन-“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृड्-भ्रमैः ॥ सदाह-मूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः”-इति ॥ २९ ॥

आ०--अभिचाराभिशापाभ्यां जाते ज्वरे मोहोऽचैतन्यं जायते; अभिचारो मन्त्रादिभिर्मरणप्रयोगः, अभिशापो ब्रह्मर्षिगुरुसिद्धादीनामभिषपनमाक्रोशः । तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतमतानुवादिना वाग्भटेन-“तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोट-तृड्-भ्रमैः ॥ सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः”-इति ॥ २९ ॥

अथ भूताभिषङ्गाज्ज्वरलक्षणम् ।

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्य-रोदन-कम्पनम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३७, ३८ )

भूताभिषङ्गादिति-भूतानि देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः=संबन्धः । उद्वेगः=उद्विगचित्तता ॥-

आ०--भूता देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः तेषामभि = समन्तात्संगस्तस्मात् । उद्वेगः = उद्विगचित्तता ।

आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धप्रदर्शनार्थमाह-

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥

भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

( च० वि० अ० ३ श्लो० १११ )

म०--कामशोकेत्यादि । त्रयो मला भूताभिषङ्गात्कुप्यन्तीति भूतप्रभावात् । यच्च चरकेण निदानस्थाने “अभिषङ्गजः पुनर्वात-पित्ताभ्यां ( च. नि.

स्था अ. १ )—इत्युक्ते, तत्प्रायिकं मन्तव्यमिति जैजटाः । चक्रस्त्वाह—  
“अभिषङ्गज इत्यनेन कामाद्यभिषङ्गज उच्यते न तु भूताभिषङ्गजः”—इति ।  
भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य देवग्रहादेरभिषङ्गात्कुप्यन्ति तस्य यल्ल-  
क्षणं रोदनादि तेन सह सामान्यं सदृशं लक्षणं येषां ते तथा, इति व्याचक्षते  
जैजटादयः । दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥—

आ०—आगन्तुजेषु प्रतिनियतदोषानुबन्धान् प्रदर्शयन्नाह—कामेत्यादि । कामशोकभयैर्वायुः  
कुप्यति, क्रोधेन पित्तं, भूताभिषङ्गादत्रयो दोषाः कुप्यन्ति । भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य  
देवग्रहादेरभिषङ्गात्कुप्यन्ति तस्य यल्लक्षणं रोदनादि तेन सह सामान्यं लक्षणं येषां ते तथा—इति  
व्याचक्षते जैजटादयः । दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः; तच्च वक्ष्यमाणे उन्मादानि-  
दाने द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥—

अथ विषमज्वरस्य सम्प्राप्तिः ।

अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥  
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २८ )

म०—दोषोऽल्प इत्यादि । अल्प इत्यनेनानतिबलत्वात्कालविशेषमवाप्य  
लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यज्वरमेव करोति । अहितसंभूत  
इति अहिताहाराचारादिसंभूतो वृद्धः । ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य ।  
वाशब्देन प्रथमतोऽपि विषमज्वरो भवतीति दर्शयति । यदुक्तम्—“आरम्भाद्वि-  
षमो यस्तु”—इत्यादि । धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम् । विषमज्वरं तृतीयकादि-  
कम् । विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितम्—“यः स्यादनियता-  
त्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः  
स्मृतः” इति ॥ ३१ ॥—

आ०—अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—दोष इत्यादि । ज्वरोत्सृष्टस्य पुंसोऽल्पो दोषः पुनरहि-  
तसंभूतः सन् अन्यतमं धातुं प्राप्य विषमज्वरं करोति । अल्प इत्यनेनावलत्वात्कालविशेषमवाप्य  
लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यमेव ज्वरं करोति । अहितसंभूत इति अहिताहाराचारा-  
दिजनितः । ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य । वाशब्देन प्रथमतोऽपि विषमज्वरो भवतीति  
दर्शयति । यदुक्तम्,—“आरम्भाद्विषमो यस्तु”—इति । धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम् । विषमज्वरं  
तृतीयादिकम् । विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितं; तद्यथा—“यः स्यादनियतात्कालाच्छी-  
तोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः”—इति । एते  
चातुगताः ॥ ३१ ॥—

अथ विषमज्वरभेदाः ।

विषमज्वर= ( Malarial Fever )

( सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयक-चतुर्थकौ ) ॥

विषमज्वराणां दूष्यधातवः ।

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—

सन्ततं रसरक्तस्थः, सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥ ३२ ॥

मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।

कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ ३३ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २८ )

म० सन्ततमित्यादि । सन्ततशब्दः सततस्योपलक्षणः । तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थः सन्ततं, रक्तस्थः सततमिति; यदुक्तं चरके—“रक्त-धात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्” ( च. चि. स्था. अ. ३ ) इति । प्रायोग्रहणात्सततको रक्तव्यातिरिक्तं रसधातुमाश्रयते । रसग्रहणं चात्र विशेष-परं, सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यदूष्यत्वात् । अन्ये तु सततग्रहणार्थं ‘सन्ततौ रसरक्तस्थौ’—इति पठन्ति । तन्नातियुक्तम्, अत्र हि सन्तत-सततशब्दौ संज्ञापरौ न तु सातत्यवचनौ; तेन सन्ततशब्देन सततकस्यानभिधानात् कथमेकशेष इति दोषः । अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम् । घोरं=दुःसहम् । अन्तकं यममिव मारकत्वात् । रोगसंकरमनेकरोगसंकुलम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आ०—सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—रसरक्तस्थो दोषः संततं कुर्यादित्य-ध्याहार्यमाणेन सबन्धः । यो दोषो रस-रक्ताऽऽश्रयः स संततं ज्वरं करोति । सन्ततशब्दः सततस्योपलक्षणः । तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थः संततं, रक्तस्थः सततमिति । यदुक्तं चरके,—“रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्”—इति । रसग्रहणं चात्र विशेषपरं सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यं दुष्टत्वात् । अन्ये तु सततं सातत्यार्थकं मन्यमानाः “संततौ रसरक्तस्थौ” इति पठन्ति । तन्न युक्तम् । अत्र हेतुः—संतत-सततशब्दौ चात्र संज्ञापरौ न तु सातत्यवचनौ, तेन संततशब्देन सततकस्यानभिधानात्कथमेकशेषः ? भिन्नरूपयोः समानार्थयोरेव एकशेषविधानात् । तथा च वार्तिकम्,—“विरूपाणामपि समानार्थानाम्”—इति । केचित्तु “सततं रसरक्तस्थः” इति पाठं पठित्वा रसरक्तस्थो दोषः सततकं ज्वरं करोतीति । अन्ये त्वत्र संततमिति लुप्तं वर्णयित्वा संततं रसस्थः सततं रक्तस्थः कुर्यादित्याचक्षते । सोऽन्येद्युरिति स इति दोषः, पिशिताश्रितो मांसाश्रितः, अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम् । दोषोऽस्थिमज्जगतश्चतुर्थेऽह्नि चातुर्थकं कुर्यात् । कीदृशं

चातुर्थकम् ? घोरं = सुदुःसहम् । अन्तकं यममिव भारकत्वात् । रोगसंक्रमनेकरोगसंकुलं, यतो गम्भीरस्थानत्वाच्चिरफ्लेशनत्वाच्च रोगानन्यानप्यावहति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अथैषां लक्षणान्याह--

इदानीमेकदोष-द्विदोष-जस्य सन्ततज्वरस्य विसर्गकालावधिद्वारेण लक्षणमाह--

( स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।

सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति संततम् ॥ )

अथ सन्ततज्वरलक्षणम् ।

( Malarial Remittent Fever. )

सप्ताहं वा दशाहं द्वादशाहमथापि वा ।

सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते ॥ ३४ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २९ )

म०--सप्ताहमित्यादि । एते विकल्पा यथाक्रमं वातपित्तकफोल्बणत्वेन ज्ञेयाः । यथोक्तम्,--“पित्त-कफा-ऽनिल-वृद्ध्या दशदिवस-द्वादशाह-सप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातु-मल-पाकात्”-इति । अयं च सन्ततस्त्रिदोषज एव द्वादशाश्रयत्वेन । यदुक्तं चरकेण--“यथा धातूस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः । युगपच्चातुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे”-इति(च. चि. स्था. अ. ३) सन्तत्या=अविच्छेदेन सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी=अपरित्यागी, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ननु, यद्येवं कथमस्य विषमज्वरप्रकरणे पाठः ? मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वं, तच्चात्र नास्ति । नैवम्, अद्यापि तथाभावात् । तथा च तल्लक्षणे चरकः--“विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः । दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते” इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । यत्तुक्तं खरनादेन,--“ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादयः । चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः”-इति; तत्सन्तते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदा भावित्वेनाल्पत्वान्न तद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्, नहि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्यभिप्रायेण द्रष्टव्यम् । अथवा या विषमज्वरोल्लेखेनोक्ता चिकित्सा सा सन्ततवर्जं सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम् । हरिचन्द्रेणापि “कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयक-चतुर्थकौ”-इति(च. चि. स्था. अ. ३)



चरकवचनाद् विषमज्वरोक्तचिकित्सा तृतीयक-चतुर्थकयोरेव, अन्येषु दोषप्रत्य-  
नीकचिकित्सा कार्येति व्याख्यातम् । अस्यां हरिचन्द्रव्याख्यायां कर्म  
साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं विशेषेण तृतीयक-चतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यम्,  
अन्यथा उक्ततन्त्रान्तरविरोधः ॥ ३४ ॥

आ०—इदानीमेकदोषद्विदोषजस्य संततज्वरस्य विसर्गकालावधिद्वारेण लक्षणमाह—स्रोतो-  
भिरित्यादि । सर्वगात्रानुगाः सर्वे दोषाः वातादयः संततमविच्छिन्नं ज्वरं संतापं कुर्वन्ति । किंभूताः  
रसवाहिभिः=स्रोतोभिः विसृताः=विस्तृतिं प्राप्ताः, गुरवः=दुःसहाः, सर्वगात्रानुगाः  
संतापादिना समग्रं गात्रं व्याप्नुवन्ति । संतत्या=नैरन्तर्येण सप्ताहादीन् व्याप्य  
अविसर्गं=अत्यागशीलः स ज्वरः संततः । अयं सुखसाध्यः; तदुक्तं तन्त्रान्तरे “संततज्वर  
एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः । एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्यः प्रकीर्तितः”—इति । तथा च—“वा-  
तिकः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिकः । श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकं प्रगच्छति”—इति,  
प्रकृतिसमसमवेतत्वात् । ननु कथमस्य विषमज्वरे पाठः ? यदुक्तं खरनादेन—“ज्वराः पञ्च मयोक्ता  
ये पूर्वे संततकादयः । चत्वारः संततं हित्वा शेषास्ते विषमज्वराः ”—इति; मुक्तानुबन्धित्वाद्विष-  
मत्वं, विमुच्यानुवध्नातीति, तच्चान्न नास्ति । नैवम्, अस्यापि तथाभावात् । तथा च तल्लक्षणे  
चरकः—“विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽप्येकलक्षणः; दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते”—इति ॥ ३४ ॥

अथ संततकान्येद्युष्कज्वरलक्षणम् ।

( Double Quotidian Fever. ) ( Quotidian Fever. )

अहोरात्रे संततको द्वौ कालावनुवर्तते ।

अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते ॥ ३५ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ३० )

म०—अहोरात्रे संततको द्वौ कालावनुवर्तते इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ  
कालौ वा, अह्नि एककालं रात्रावेककालमेवं वा; द्वौ कालौ—इतीशानदेवः,  
नियमानभिधानात्, तथा दर्शनाच्च । अनुवर्तते=वेगं करोति ॥ ३५ ॥

आ० संततकादीनां कालानुवर्तनत्वेन लक्षणमाह—अहोरात्र इत्यादि । कालाः षट्पूर्वाह्ण-मध्याह्नाऽ  
पराह्ण-प्रदोषा-ऽर्धरात्र-प्रत्यूषाः; पूर्वाह्ण-प्रदोषयोः कफस्य कालः, मध्याह्ना-ऽर्धरात्रयोः पित्तस्य,  
अपराह्ण-प्रत्यूषयोर्वातस्य । पूर्वाह्णादीनां षण्णां कालानां मध्ये कालद्वयमनुवर्तते, वेगं करोति  
स संततः; अह्नि एककालं रात्रावेककालं वा, अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा एवं द्वौ  
कालाविति ईशानो यदुक्तवान् तत्र दोषोत्कर्षा-ऽपकर्षाभ्यामधिककालत्वं हीनकालत्वमपि  
ज्ञातव्यं न तु नियमः । अन्येद्युष्को ज्वर एककालमनुवर्तते वेगं करोति अहोरात्रादन्यस्मिन्न-  
होरात्रे एककालमागच्छतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ तृतीयक-चतुर्थक-ज्वरलक्षणम् ।

Tertian Fever. ( तृतीयकज्वरः )

Quartan Fever. ( चातुर्थकज्वरः )

अथ तृतीयक-चतुर्थकयोरुत्पत्तिबीजम् ।

“ अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले प्ररोहति ।  
अधिशेते तथा धातून् दोषः काले प्रकुप्यति ॥  
संवृद्धिं बल-कालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ।  
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ॥ \* ॥ ”

( च० चि० अ० ३ श्लो० ६४, ६५ )

तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि, चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २८ )

म०—तृतीयेऽह्नि तृतीयक इति वेगदिनापेक्षया तृतीयेऽह्नि यो भवति स तृतीयकः, एवं चतुर्थकेऽपि वाच्यम् ॥ ३६ ॥—

आ०—तृतीयकः तृतीयेऽह्नि एककालमिति संवध्यते । चातुर्थकश्चतुर्थेऽह्नीत्यत्राप्येकं कालमिति एतै चत्वारो विषमज्वराः । यदुक्तं स्वरनादेन—“ ज्वराः पञ्च मयोक्ताः ” इत्यादिना । एषां चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्यः, स यदाह—“ अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात्स्थानं प्रपद्यते । ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥ तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः । दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः स कष्टो धातुशोषकृत् ॥ कृशानां ज्वरमुक्तानां मिथ्याहारविहारिणाम् । दोषः स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरितः ॥ कफस्थान-विभागेन यथासंख्यं करोति हि । सततान्येद्युष्कज्याख्यचतुर्थान्सप्रलेपकान् ”—इति । अस्या-यमर्थः—आमाशय-हृदय-कण्ठ-शिरः-संघय इति पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासंख्यं महोरात्रात् स्थानं प्रपद्य आमाशयं गत्वा सततादयः क्रियन्ते । तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सततः क्रियते परंतु द्विकालं न च सर्वदा; न चामाशयप्राप्त्या सर्वदाऽस्य संभवप्रसंगः, अहोरात्रे स्वप्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्तेः । हृदयस्थितेन दोषेण एकस्मिन् दिने आमाशयमागत्यान्येद्युः क्रियते, सततारम्भकदोषापेक्षयास्य व्यवहि-तत्वात् । कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते, अन्यस्मिन् दिने आमाशयमा-गत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयकः । एवं शिरसि स्थितेन दोषेण कण्ठ-हृदया-ऽऽमाशयान् त्रिभि-र्दिनेः क्रमेण प्राप्य चतुर्थेऽह्नि चातुर्थकः क्रियते । पुनः स्वस्थानगमनं तु दोषाणां हृतवेगत्वेन लाघवाद्द्वेदिन एव भवति । संधिस्थितेन दोषेण प्रलेपकः, संघयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स

सर्वदा भवति अविषमोऽप्ययं विषमसहचरितः पठितः, कफस्थानोत्पादानुरोधात् । उक्तं हि सुश्रुते,—“प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम्”—इति । विषमज्वर एवान्यश्चातुर्थकविपर्ययः, इति । अत्र तन्त्रान्तरे—“अस्थिमज्जोभयगते चातुर्थकविपर्ययः । मध्येऽहनि ज्वरयति ह्यादावन्ते च मुञ्चति” इति । आदावेकदिनं न भूत्वा मध्ये दिनद्वयं भूत्वा अन्ते एकदिनं न भवतीति व्याचक्षते जेज्जटादयः । “अस्थिमज्जोभयगते चातुर्थकविपर्ययः । त्र्यह्याद्ब्रह्महं ज्वरयति ह्यादावन्ते विमुञ्चति”—इति तन्त्रान्तरम् । चातुर्थकविपर्ययो नाम्ना ज्वरः । अस्थि च मज्जा च अस्थिमज्जानौ अस्थिमज्जोरुभयं तत्र गतो मलोऽस्थिषु मज्जसु वा गतस्तास्मिन् ॥ ३६ ॥—

विषमज्वरस्यैकीयमतेन भूताभिषङ्गजत्वमाह—

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥ ३६ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २८ )

म०—केचिदित्यादि । परवचनप्रतिषिद्धमनुमतं सुश्रुतेन; अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिहोमादि भूतोचितं, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादि दोषोचितं च विधीयते । यदाह चरकः—“कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याचक्षते इति ॥ ३६ ॥

आ०—परकीयमतमाह—केचिदित्यादि । केचन आचार्या विषमज्वरं भूताभिषङ्गोत्थं कथयन्ति । अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिमङ्गलहोमादि भूतोचितं, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादिकं दोषोचितं च विधीयते । यदाह चरकः—“कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे”—इति । अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याचक्षते ॥ ३६ ॥

तृतीयक-चतुर्थकयोर्लक्षणान्तरम् ।

उल्वणदोषभेदेन तृतीयक-चतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—

कफपित्तात्रिकग्राही पृष्ठाद्रात-कफात्मकः ।

वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥ ३७ ॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ।

जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥ ३८ ॥

( च० चि० स्था० अ० ३ श्लो० ६७, ६८ )

म०—कफपित्तादित्यादि । त्रिकग्राही=वेदनया त्रिकव्यापी, त्रिकस्य वातस्थानत्वेन तद्गतौ पित्तकफावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीयदिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थानस्थितौ स्यातां तदा सन्ततज्वरमेव कुर्यातामिति जेज्जटः । एवं शिरसि कफस्थाने, पृष्ठे च पित्तस्थाने बोद्धव्यम् । पृष्ठादिति ल्यब्लोपे

कर्मणि पञ्चमी, पृष्ठं वेदनया व्याप्येत्यर्थः । नच वाच्यं यदि त्रिकं वातस्थानं तत्कथं तत्र पित्तकफाविति; प्रकृतिस्थानां दोषाणां स्थाननियमो नतु प्रकुपितानां, तेषां सर्वदेहगतत्वात् । यदाह सुश्रुतः,—“कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र सङ्घः स्व ( स्व ) वैगुण्यद्व्याधिस्तत्रोपजायते”—इति ( सु. सू. स्था. अ. २४. ) । एवमन्यस्थानगतत्वेन दोषदौर्बल्यादि चतुर्थकेऽपि वाच्यम् । प्रभावं=रुजारूपशक्तिम् । द्वैविध्यं विवृणोति—जङ्घाभ्यामित्यादि । जङ्घाभ्यां शिरस्त इत्येतच्च पञ्चमीद्वयं पूर्ववत् । पूर्वमिति प्रथमं तत्र भूत्वा निखिलं देहं व्याप्नोति । श्लैष्मिक इति श्लेष्मोल्बणः सन्तत-सततकाऽन्येद्युष्क-तृतीयक-चतुर्थकानां पञ्चानां सन्निपातजत्वात् । यदुक्तं चरके—“प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः । सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः”—(च. चि. स्था. अ. ३.) अथवा प्रायोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ति । अन्ये त्वाहुः—विकृतिविषमसमवायारब्धाः सन्ततादयः सन्निपातजाः, तेषामेवोद्भूतदोषेण व्यपदेशः, प्रकृतिसमसमवायारब्धास्त एक-द्वि-दोषजा अपि भवन्तीति जेज्जटः । प्रकृतिसमसमवायारब्धश्चतुर्थकस्तु पित्तेन न क्रियत एव, व्याधिस्वभावात्; पित्तज-गलगण्डवत् । ननु अस्ति पैत्तिकोऽपि चतुर्थकः; तथा च हारीताचार्यो व्याहरति,—“चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः । शोषणः सर्वधातूनां बल-वर्णोभि-नाशनः ॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थि-मज्ज-गतोऽनिलः । कुपितं पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः ॥ शीतदाह-करस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते । स सन्निपातसंभूतो विषमो विषमज्वरः ॥ ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः । पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धचतुर्थकः—” इति । अत्राहुः—अनुबन्धरूपमत्र पित्तं, नेत्वारम्भकं; कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, स्थानविशेषानभिधानात्; अत एव हारीतेनापि स्थानं नोदाहृतमेव जङ्घादिवादिति चरकटीकाकृतो व्याचक्षते । किंत्वेष्टा व्याख्या तदा संगच्छते यदि पित्तलिङ्गं नोद्भूतं दृश्यते, दृश्यते च; तथा हि कथ्यते—भेदेऽपि पैत्तिकः पठ्यते,—“आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थि-मज्ज-गतोऽपि वा। कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च”—इति । किंच नागभर्तृतन्त्रे स्थानमप्युक्तमेव,—“ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः । मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः ॥ पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धचतुर्थकः—” इति । तस्मात्प्रायेण कफ-वाताभ्यां भवतीति पैत्तिकश्चतुर्थकश्चरकादिभिर्नोदाहृतः, नत्वंसंभवादिति मन्तव्यम् । एषां चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्यः । स यदाह—“अहो-

रात्रादहोरात्रात्स्थानात्स्थानं प्रपद्यते । ततश्चाभाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥  
 कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि । सतताऽन्येद्युष्क-व्याख्य-चतुर्थान्  
 सप्रलेपकान्॥” (सु. उ. तं. अ. ३९ ) इति । अस्यायमर्थः—आभाशय-हृदय-  
 कण्ठ-शिरः-सन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासंख्यं सततादयः  
 क्रियन्ते । तत्राभाशयस्थितेन दोषेण सततकः क्रियते द्विकालं; न चाभाशय-  
 प्राप्या सर्वदा प्रसंगः, अहोरात्रेषु प्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्तेः । हृदयस्थितेन  
 दोषेण आभाशयमागत्यान्येद्युष्कः क्रियते एककालं, नच सर्वदा, सततारम्भकदो-  
 षापेक्षयाऽस्य व्यवहितत्वात् । कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते,  
 अपरस्मिन्नाभाशयमागत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयकः । एवं शिरःस्थितेन दोषेण  
 कण्ठ-हृदयाऽऽभाशयान् त्रीन् त्रिभिर्दिनैः क्रमेण प्राप्य चतुर्थकः क्रियते । पुनः  
 स्वस्थानगमनं तु दोषाणां हृतवेगत्वेन लाघवाद्देगदिन एव भवति । सन्धिस्थि-  
 तेन दोषेण प्रलेपकः क्रियते, सन्धयश्चाभाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति ।  
 अयं चाविषमोऽपि विषमसहचरितः पठितः, कफस्थानोत्पादानुरोधात् । उक्तं  
 हि सुश्रुते—“ प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम्”—इति ( सु. उ. तं.  
 अ. ३९ ) ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

आ०—उत्पन्नदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—तृतीयक इत्यादि । तृतीयको  
 ज्वरस्त्रिविधो भवति । कफपित्तात्रिकप्राही वेदनया त्रिकव्यापी । त्रिकस्य वातस्थान-  
 त्वात्तद्वती कफपित्तावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीयादिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थान-  
 स्थितौ स्यातां तदा संततमेव कुर्यातामिति जेज्जटः । एवं शिरसि कफस्थाने पृष्ठे च पित्त-  
 स्थाने बोद्धव्यम् । न च वाच्यं यदि त्रिकं वातस्थानं तत्कथं तत्र पित्तकफाविति ? उच्यते—प्रकृति-  
 स्थानां दोषाणां स्थाननियमो न तु कुपितानां, तेषां सर्वगतत्वात् । यदाह सुश्रुतः—“कुपितानां हि  
 दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र संगः स्ववैगुण्याद्वाधितोपजायते॥” इति । एवमन्यस्थानगतत्वेन  
 दोषदौर्बल्यादिचतुर्थकेऽपि वाच्यम् । वात-कफात्मको ज्वरो वेदनया पृष्ठप्राही, वातपित्तात्मको  
 वेदनया शिरोप्राही, एवं त्रैविध्यम् । चातुर्थिको द्विप्रकारां शक्तिं दर्शयति—जङ्घाभ्यां  
 श्लैष्मिकः, अनिलसंभवः शिरसः, वेदनयेत्यर्थः । चातुर्थिकः पित्तेन न क्रियते इत्येके, व्याधि-  
 स्वभावात् पित्तजगलगण्डवत् । हारीतस्तु चातुर्थिकोऽपि पित्तिकोऽस्तीति वदति—“चातुर्थिको  
 नाम गदो दारुणो विषमज्वरः । शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः ॥ त्रिदोषजो विकारः  
 स्यादस्थिमज्जागतोऽनिलः । करोति पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः॥” इत्यादि । अत्राहुः—अनुबन्ध-  
 रूपमत्र पित्तं न त्वारम्भकं, कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, स्थानविशेषानभिधानात्; अत एव हारीतेनापि  
 स्थानं नोदाहृतं जङ्घादिवादिति चरकटीकाकृतो व्याचक्षते । किं त्वेषा व्याख्या तदा संगच्छते यदि पित्त-  
 लिङ्गं नोद्भूतं दृश्येत, दृश्यते च तथा भेदेऽपि पठितम्—“आभाशयस्यः पवनो ह्यस्थिमज्जागतोऽपिवा ।

१ “सर्वेषु कफस्थानेषु व्यवस्थितो दाषः संततं करोतीति ज्ञेयम्, तन्त्रान्तरोक्तत्वात्”—इति  
 चन्द्रटीकायां श्रीकण्ठदत्तः ।

कुपितः कोपयत्याहुः श्लेष्माणं पित्तमेव वा ॥” इति । (किंच वाग्भटतन्त्रे) स्थानमप्युक्तमेव—“ऊर्ध्व-  
कायं तुः यः पूर्वं गृह्णीते सोऽनिलात्मकः । मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः ॥ पूर्वं गृह्णात्यध-  
कायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः ॥” इति । तस्मात् प्रायेण कफ-वाताभ्यां भवतीति पैत्तिकश्चातुर्थिकश्चरकादि-  
भिर्नोदाहृत एव, न त्वसंभवादिति मन्तव्यम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

चतुर्थकविपर्ययमाह—

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।

स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति ॥ ३९ ॥

( च० चि० स्था० अ० ३ श्लो० ६९ )

म०—विषमेत्यादि । अत्र तन्त्रान्तरम्—“अस्थि-मज्जोभयगते चतुर्थकविप-  
र्ययः । स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति” — इति । आदावेकदिनं भूत्वा,  
मध्ये दिनद्वयं भूत्वा, अन्ते एकदिनं न भवतीति व्याचक्षते जेज्जटादयः । “अस्थि-  
मज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः । त्र्यह्नाद् द्व्यहं ज्वरयति आदावन्ते च मुञ्चति” — इति  
पराशरवचनस्यापि स एवार्थः; त्र्यह्नादिति त्र्यहस्यादिदिनं विमुञ्चति, दिनद्वयं  
ज्वरयति, त्र्यहस्यान्ते चतुर्थदिनं मुञ्चतीति तात्पर्यार्थं व्याचक्षते । हरिचन्द्र-  
स्त्वाह—द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरम्यैकमहः पुनर्ज्वरयतीत्येषश्चतुर्थक-  
विपर्यय इति । आदिदिनाभावश्चोत्तरोत्तरपातिदिवसेष्ववधार्यः । चतुर्थकविपर्य-  
यस्योपलक्षणत्वेन तृतीयकादिविपर्ययोऽप्युक्त इत्याहुः । तद्यथा—मध्ये एकदिनं  
ज्वरयति, आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः, एककालं विमुच्य सर्वमहोरात्रं  
व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः; कालद्वये मुञ्चति, सर्वमहोरात्रं ज्वरयतीति सत-  
तकविपर्ययः । अत्र दोषविकृतिरेव नानाविधा हेतुरिति । “कफस्थानेषु वा  
तिष्ठन् दोषो द्वि-त्रि-चतुर्षु च । विपर्ययाख्यान्कुरुते विषमान्कृच्छ्रसाधनान् ॥”  
(सु. उ. तं. अ. ३९) — इति वृद्धसुश्रुतवाक्यं व्याचक्षाणो जेज्जटः अन्येद्युष्क-  
तृतीय-चतुर्थकमात्रस्य विपर्ययमुदाहरति । तद्यथा—आमाशय-हृदय-  
स्थदोषेण यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः, आमाशय-हृदय-कण्ठ-स्थि-  
तेन तृतीयकविपर्ययः, तत्रैकस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य  
तत्स्थेन सह ज्वरयति । तद्दिने कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने सोऽप्या-  
माशयमागत्य ज्वरयति एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयक-  
विपर्ययः; आमाशय-हृदय-कण्ठ-शिरःस्थेन दोषेण चतुर्थकविपर्ययः क्रियते,  
तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन्नेव कण्ठस्थो  
हृदयं शिरस्थश्च कण्ठमायाति, अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति,

कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रये भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति । एते च सर्व एव ज्वरा न विरुद्धाः, सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात् । यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे—  
“स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ”—इति । दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः, एष एव न्यायश्ररकसुश्रुतयोः कुष्ठवैषम्ये वाप्यचन्द्रेण दर्शितः; न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः, यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्यये-  
ऽपीति ॥ ३९ ॥

आ०—चातुर्थकविपर्ययमाह-विषमेत्यादि । चातुर्थकविपर्ययोऽन्यो विषमज्वरः । त्र्यहाद्वय-  
हमिति त्र्यहाद् द्वयह द्विदिनं ज्वरयति एकं दिनं विमुञ्चति, एवं तृतीयकविपर्ययो वाच्यः ।  
अत्र दोषविकृतिरेव हेतुरिति । पूर्वोक्तेषु कफस्थानविभागेषु द्वि-त्रि-चतुर्षु तिष्ठन् दोषो विपर्ययं  
कुरुते । उक्तं च—“कफस्थानेषु वा तिष्ठन्दोषो द्वित्रिचतुर्षु वा । विपर्ययाख्यान्कुरुते  
विषमान्कृच्छ्राधनान्”—इति । नानाविधा एव विषमज्वरा दृश्यन्ते । एष न्यायश्ररकसु-  
श्रुतयोः कुष्ठवैषम्ये वाप्यचन्द्रेण दर्शितः । सुश्रुते विषमज्वराणामुपशान्तवेगानामपि  
देहेऽवस्थानं दर्शितम् । तद्यथा—“स चापि विषमो देहं न कदचिद्विमुञ्चति ।  
यस्माद्गौरव-वैरस्य-काश्येभ्यो न विमुच्यते ॥ वेग तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते ।  
गौरवं शिरसो ग्लानिर्नातिश्रद्धा च भोजने ॥ माधुर्यमथ वैरस्यं तिक्तत्वमथ वा पुनः ।  
वक्रस्य जायते यस्मात्प्रवेगेऽपि गते सति ॥ तस्मात्तु नियतो जुष्टः शरीरे विषमज्वरः ॥”  
इति ॥ ३९ ॥

अथ वातबलासकज्वरलक्षणम् ।

( Beri Beri or Epidemic Dropsy )

उक्तसंगत्या प्रलेपकादनूपद्रवत्वेन तत्सधर्मिणि वातबलासके वाच्ये प्रति-  
लोमतन्त्रयुक्त्या वातबलासकमेवाह—

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति ।

स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥ ४० ॥

( वृद्धवाग्मट अध्या० ३ )

म०—नित्यमित्यादि । वातबलासकाख्यो ज्वरोऽस्यास्तीति वातबलासकी  
नरः, तेन ज्वरेण, शूनकः=शोथी, सीदत्यवसन्नो भवति, शोथिनः स  
उपद्रव इत्यर्थः । ‘शूनः कृच्छ्रेण सिध्यति’ इति पाठान्तरे ‘तेन’ इति शेषः ।  
वातबलासकमेके कुम्भाद्वय-पाण्डुरोगविषयमाहुरिति गयादासः । वातबला-



सकारब्धत्वाद्वातबलासकः; बलासकः=श्लेष्मा, पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“वायुः प्रकुपितो दोषाबुदीर्योभौ विधावति । स शिरस्थः शिरःशूलम्”—इत्यादि । यच्चोक्तं सुश्रुतेन—“प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः”—इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) तच्च श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति जेज्जटः । रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात्कफ-स्नेहस्य, व्याधिप्रभावाद्देति ॥ ४० ॥

आ०—वातबलासकज्वरमाह—वातबलासको ज्वरोऽस्यास्तीति वातबलासकी नरः, तेन ज्वरेण शूनकः=शोथी, सौदति=अवसन्नो भवति, शोथिनः स उपद्रव इत्यर्थः । कीदृशः ? नित्यं मन्द-ज्वरो नित्यं=सततं, मन्दज्वरो=मन्दवेगः, वातबलासकारब्धत्वाद्वातबलासकः । बलासः=श्लेष्मा । पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“वायुः प्रकुपितो दोषाबुदीर्योभौ विधावति । स शिरस्थः शिरःशूलम्”—इत्यादि । यच्चोक्तं सुश्रुतेन—“प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकात्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः”—इति । तच्च श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति जेज्जटः । रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात्कफस्य व्याधि-प्रभावाद्वा । स्तब्धाङ्गश्लेष्मभूयिष्ठ इति स्तब्धाङ्गश्च श्लेष्मभूयिष्ठश्च, तदुक्तं सुश्रुते—“ प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः ”—इति । अन्यत्र तु वाताधिकत्वेन दर्शितः, तत्कथमत्र श्लेष्मभूयिष्ठत्वमुक्तम् ? अत्रोच्यते—वातेरितसर्वसंधिरूपकफारब्धत्वात् वात-बलासकस्तु यथार्थनामा वातेरितो बलासक आरम्भको यस्येति । शूनः कृच्छ्रेण सिध्यतीति पाठान्तरम् । वातबलासकमेकं कुम्भाह्वयपाण्डुरोगाविषयमाहुरिति गयादासः ॥ ४० ॥

प्रलेपकमाह—

अथ प्रलेपकज्वरलक्षणम् ।

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।

मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः ॥ ४१ ॥

( बृ० वा० अ० ३ )

म०—प्रलिम्पन्नित्यादि । मन्दज्वरश्चासौ विलेपी चेति मन्दज्वरविलेपी, विलेपित्वं चास्य यस्माद्धर्म-गौरवाभ्यां लिम्पति=संबध्नातीत्यर्थः । अयं च कफ-पित्तजः । यदुक्तं सुश्रुतेन—“प्रलेपकं वातबलासकं वा”—( सु. उ. तं. अ. ३९ ) इत्यादि । तथा यक्ष्मणि “ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पिचाद्रक्तस्य चागमः”—( सु. उ. तं. अ. ४१ )—इत्युक्तं, यक्ष्मणि चायं भवतीति । अन्ये तु त्रिदोषज-यक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः ॥ ४१ ॥

आ०—मन्दज्वरश्चासौ विलेपी च मन्दज्वरविलेपी, विलेपित्वं चास्य घर्मेणेति आतपेनेव गौरवेण गुरुत्वेनेव लिम्पति संबध्नाति स प्रलेपकाख्यो ज्वरः । सशीतः=शीतयुक्तः । अयं च

१ “मन्दज्वरत्वम्” इति पाठान्तरम् ।

कफपित्तजः । यदुक्तं सुश्रुतेन यक्ष्मणि—“ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः”—इति । यक्ष्मणि चायं भवति । अन्ये तु त्रिदोषजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः । गात्राणि प्रलिम्पतोवेति प्रलेपकोऽन्वर्थसंज्ञः ॥ ४१ ॥

**विषमज्वरविशेषानाह—**

**देहाद्धजातज्वरलक्षणम् ।**

**विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते ।**

**तेनार्धं शीतलं देहे चार्धं चोष्णं प्रजायते ॥ ४२ ॥**

म०—विदग्ध इत्यादि । विदग्धेऽन्नरसे दुष्टे आहाररसे तथा दुष्टे पित्ते दुष्टे श्लेष्मणि च व्यवस्थिते सति, तेन हेतुना देहेऽर्धं शीतलं कफेनार्धं चोष्णं पित्तेन प्रजायते । अर्धत्वम् चार्धनारीश्वराकारेण, नरसिंहाकारेण वा, यथादोषम् व्यवस्थाननियमहेतोरभावादिति ॥ ४२ ॥

आ०—विषमज्वरविशेषानाह—देहे विदग्धे अन्नरसे दुष्टे आहाररसे तथा श्लेष्मपित्ते दुष्टे व्यवस्थिते सति तेन हेतुना देहेऽद्य शीतत्वं कफेन; अर्धं चोष्णत्वं पित्तेन प्रजायते; अर्धत्वं चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा, यथादोषव्यवस्थाननियमहेतोरभावादिति ॥ ४२ ॥

**शीत-पाणि-पाद-ज्वरलक्षणम् ।**

**काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः ।**

**तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ॥ ४३ ॥**

म०—काय इत्यादि । कायेऽन्तरग्रौ, कोष्ठे इति यावत् । अन्ते=हस्त-पादयोः ॥ ४३ ॥

आ० काय इत्यादि । कायेऽन्तरग्रौ कोष्ठे इति यावत् । यदा पित्तं दुष्टं भवति श्लेष्मा चान्ते दुष्टो व्यवस्थितो भवति तेन हेतुना शरीरस्य उष्णत्वं हस्तपादयोः शीतत्वम् ॥ ४३ ॥

**उष्ण-पाणि-पाद-ज्वरलक्षणम् ।**

**काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम् ।**

**शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥ ४४ ॥**

म०—उक्तार्थस्य विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये श्लेष्मेत्यादि ॥ ४४ ॥

आ० विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह काये इत्यादि । विपरीतत्वे तु पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ ४४ ॥

**शीत-दाह-पूर्वज्वरयोर्लक्षणम् ।**

**त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे ।**

**तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥ ४५ ॥**

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च ।

तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥ ४६ ॥

म०—त्वक्स्थावित्यादि । त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तत्स्थस्य तदु-  
पचारेणेति गदाधरः; जेज्जटस्तु त्वचमेवाह । एतदभिप्रायेणैव चरकेण  
ज्वरेऽभ्यङ्गार्थं तैलादीन्यभिधायोक्तम्—“तैराशु प्रशमं याति बहिर्मागगतो  
ज्वरः”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । तयोः=श्लेष्मानिलयोः । प्रशान्त-  
योरिति प्रशान्तवेगयोः, नहि विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, पुनर्वे-  
गागमात् । यदाह सुश्रुतः—“स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति ।  
ग्लानि-गौरव-काश्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥ वेगे तु समतिक्रान्ते  
गतोऽयमिति लक्ष्यते । धात्वन्तरस्थो लीनत्वात्सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते ॥”  
इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) इतरौ=वात-कफौ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

आ०—अतः परं संततादीनां शीतदाहपूर्वकत्वेन भेदमाह—त्वक्स्थावित्यादि । यदा श्लेष्मा-  
निलौ त्वचि कुपितौ भवतस्तदा ज्वरस्यादौ त्वचिं शीतं जनयतः । द्वावेतौ दाह-शीता-  
ऽऽदिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ=कथितौ । ‘मुनीन्द्रैः’ इति शेषः । एतौ कौ, ज्वरे आदौ पूर्वं कफ-  
वातौ त्वक्स्थौ सन्तौ शीतमुत्पादयतः, तयोः=श्लेष्मानिलयोः प्रशान्तयोः सतिरन्ते पित्तं  
दाहं करोति, तथा तेनैव प्रकारेण आदौ पित्तं त्वक्स्थं सदतीव दाहं करोति, तस्मिन् पित्ते  
प्रशान्ते सति इतरौ=वात-कफौ शीतं कुरुतः । त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तात्स्थ्यात्तदुप-  
चारेणेति गदाधरः । जेज्जटस्त्वचमेवाह । तयोः=श्लेष्मानिलयोः प्रशान्तवेगयोः स्वकालापगमात्  
प्रत्यनीकप्राप्त्या वा विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, परं वेगोपमात् । यदुक्तं सुश्रुतेन—  
“स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति ”—इति । यदा तौ प्रशान्तवेगौ भवतस्तदा  
पित्तमन्तर्दाहं करोति । चक्रारान्मूर्च्छादीन् । यदा तु पित्तं त्वक्स्थं भवति तदा त्वचि  
अतीव दाहं करोति, त्वग्दाहकारके पित्ते प्रशान्ते गतवेगे सति तावपि इतरौ=श्लेष्मानिलौ  
अन्ततः शीतं कुरुतः । आदिशब्दाद्वमथु-तन्द्रादीन् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

अथैतयोः साध्यासाध्यविवेकः ।

द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ ।

दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ॥ ४७ ॥

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० २४ )

म०—दाहशीतादीति । एको=दाहादिः, अपरः=शीतादिः । ननु एतयोः  
संप्राप्तौ त्रिदोषजत्वमुक्तं तत्कथं संसर्गजावित्युक्तम् ? संसर्गो हि द्वयोर्भवति  
त्रयाणां सन्निपात इति स्थितिः । उच्यते, संसर्गः=संबन्धः स च द्वयोर्वह्नां च

भवति, अत्र त्रयाणामुक्तः, नचैवं सर्वत्र; अथवा संसर्गः=सौम्या-ऽऽग्नेय-  
दोष-कोटिद्वय-भेलकः । तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तमनुबन्धः, दाहादौ  
वात-कफावनुबन्धौ, अनुबन्धश्च प्राधान्येन चिकित्सोऽनुबन्धाविरोधे-  
नेति प्रयोजनमेतस्य । तयोर्दाह-शीता-ऽऽदि-ज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वो=दाहादिः  
कष्ट इति दुःखप्रदः । दाहादेः कष्टसाध्यत्वाभिधानेन शीतादेरर्थतो-  
ऽकष्टत्वमिति । उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्येऽपि विषमज्वरा रात्रिज्वरा-  
दयो बोद्धव्या इति जेज्जटः । उक्तं च तन्त्रान्तरे-“समौ वात-कफौ यस्य  
क्षीणपित्तस्य देहिनः । प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु॥” इति ।  
सर्वेषु च विषमज्वरेष्ववश्यंभावी वायुः । यदाह वृद्धसुश्रुतः-“नतंऽनिलाद्वै  
विषमज्वरः समुपजायते । कफ-पित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा॥” इति  
( सु. उ. त्त. अ. ३९ ) । तथा विदेहेऽपि-“पवनो गतिवैषम्याद्विष-  
मज्वरकारणम्”-इति । एषां च ज्वराणामृत्वादिहेत्वन्तरलाभादन्यथाभावोऽपि  
दृश्यते । तद्यथा-सन्ततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततादीनामन्यतमत्वं प्रतिपद्यते,  
तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम् । यदाह चरकः-“ऋत्वहोरात्र-दोषाणां  
मनसश्च बलाबलात् । कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ॥” इति ( च.  
अ. स्था. चि. ३ ) । अस्यार्थः-बलाबलादिति ऋत्वादिमनोऽन्तेन संब-  
ध्यते, बलं चाबलं च बलाबलम् । अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मावाची, तं तं कालं  
सततकाद्युक्तम्, ज्वरः प्रतिपद्यते इति योजना । ( उदाहरणं च )-ऋत्वहो-  
रात्रबलाबलाद्यथा-यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधानश्चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति  
तदा तेनर्तुनाऽऽप्यायितबलस्तृतीयकान्तानां सततकादीनामन्यतमत्वं प्राप्नो-  
त्युत्कर्षात् । एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरदं प्राप्यापकृष्टबलः सततादी-  
नामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात् । एवं पित्त-कफयोरप्युत्कर्षापकर्षावृत्तुद्धतौ व्याख्ये-  
यौ । अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, नद्येकस्मिन्नहोरात्रे सत-  
तादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते; किंतु कतिपयैरेव । यदा वर्षा-  
शरद्व-वसन्त-प्रारम्भे वातादयो ज्वरं चतुर्थकमारभन्ते तदा मध्यानि कति-  
पयदिनान्यवाप्य स एव तृतीयकपूर्वत्वेन विपरिणमते उत्कर्षात्; अपकर्षात्तु  
यदाऽन्त्यानि दिनान्याप्नोति तदा सन्ततो वातारब्धः प्रावृषः पित्तारब्धः शरदो  
वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः, प्रतनुक्त्वादोषस्य सततादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत  
इति । दोषबलाबलाद्यथा-यदा सततादीनामन्यतमकारी दोषः श्लेष्मा मधुर-  
स्त्रिग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति तदा सन्ततकादीन् करोति । एवं

वात-पित्तयोरप्युद्यमः । मनोबलाबलाद्यथा-यदा सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात्प्र-  
हर्षाविष्टम्भवदुल्लो भवति तदा सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतु-  
र्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वाद्विषादादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्य-  
तमो भवति, “विषादो रोगवर्धनानाम्” (च. सू. स्था. अ. २५)  
इत्यागमात् । अन्ये तु मनःशब्देन बुद्धिं व्याख्यानयन्ति, कारणे कार्यो-  
पचारात् । तस्याश्च बलाबलं यथा-यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञापराधादेवा-  
दीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति; यदा  
तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद्विवेकिन्या बुद्ध्या युक्तः स्यात्तदा शुभानि देवताऽऽराधने-  
ष्टिवल्युपहारादीन्याचरति तदा सन्ततज्वरी सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति ।  
अर्थवशाद्यथा-सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात्तदा सन्त-  
तोऽपि चतुर्थकत्वेन विपरिणमते । अथ चतुर्थकज्वराविष्टस्य यदि तत्काल-  
परिपाकि कर्म बलीयो भवति तदा सन्ततत्वेन परिणमते । एतच्च कर्मव-  
शत्वम्, ऋत्वहोरात्र-दोष-बलाबलेष्वपि बोद्धव्यम्, तदन्तरं तन्निर्देशादिति ॥४७॥

आ०-द्वावेतौ दाहशीतादी संसर्गजौ कथितौ, एको=दाहादिः, अपरः=शीतादिः ।  
तयोर्दाह-शीत-पूर्वकयोर्ज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वकः कष्टोऽत्यन्तदुःखप्रदः, कष्टः=कृच्छ्रासाध्यतम  
इति विशेषणद्वयोपादानादत्यर्थं दुःसाध्यत्वं दर्शितं, शीतपूर्वस्य सुखसाध्यत्वं कुतः ? रोगशक्ते-  
रचिन्त्यत्वात् । नन्वेतयोस्त्रिदोषजत्वमुक्तं तत्कथं संसर्गजावित्युक्तम् । उच्यते-संसर्गः संबन्धः स च  
द्वयोर्बहूनां च भवति, अतोऽत्र त्रयाणामुक्तः, न चैवं सर्वत्र । अथवा संसर्गः सौम्याग्नेयदोषद्वयमेलकः ।  
तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तानुबन्धः, दाहादौ ज्वरे वातकफानुबन्धः, अनुबन्धश्च प्राधान्येन चिकि-  
त्स्यत इत्यनुबन्धात्संसर्गजावित्युक्तमिति न विरोधः । उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्त्येऽपि विषम-  
ज्वरा रात्रिज्वरादयो बोद्धव्या इति जेजटादयः । उक्तं च तन्त्रान्तरे-“समौ वातकफौ यस्य  
क्षीनपित्तस्य देहिनः । रात्रौ प्रायो ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु ”-इति । सर्वेषु  
विषमज्वरेष्ववश्यंभावी वायुः । यदाह वृद्धमुश्रुतः-“नर्तेऽनिलद्वि विषमो ज्वरः समुपजायते ।  
कफपित्ते तु निश्चेष्टे चेष्टत्यनिलो बली ”-इति । तथा विदेहेऽपि-“पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वर-  
कारणम्”-इति ॥ ४७ ॥

अथ सौश्रुतानि सप्तधातुगतज्वराणां लक्षणानि ।

उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यताऽधिकलक्षणानि भवन्ति । यदुक्तं-  
“वात-पित्त-कफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा । तथा तेषां भिषग् ब्रूयाद् रसा-  
दिष्वपि बुद्धिमान् ॥” इति । एतदभिधानं च रसादिधात्वविरोधेन वातादि-  
चिकित्साकरणार्थम् । अतस्तानाह-

तत्रादौ रसधातुगतज्वरस्यलक्षणम् ।

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ ।

रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥ ४८ ॥

म०—गुरुतेत्यादि । हृदयोत्क्लेशः=हृदयस्थितस्य दोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थितत्वात् । रसस्थ इत्यनेन विशेषेणात्र रसो दूष्यः, सर्वेषामेव ज्वराणां रसातुगत्वात् । दैन्यं=क्लान्तचित्तत्वम् ॥ ४८ ॥

आ०—तत्रादौ रसधातुगतज्वरमाह गुरुतेत्यादि । गुरुता गात्राणां, हृदयोत्क्लेशः हृदयस्थस्य दोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थितत्वात् । सदनमङ्गलानिः, दैन्यं क्लान्तचित्ता, रसस्थे=रसधातुगते ज्वरे । यद्यपि रसैकधातुप्राप्त्या संतत एवायम्, तथाऽप्यनुक्रमधातुगतकथनार्थः—मत्र निर्देशः ॥ ४८ ॥

रक्तधातुगतज्वरलक्षणम् ।

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दन-विभ्रमौ ।

प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ ४९ ॥

आ०—रक्तं ज्वरमाह—मोहो=विगतचित्ता ॥ ४९ ॥

मांसधातुगतज्वरलक्षणम् ।

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्ट-मूत्र-पुरीषता ।

ऊष्मा-ऽन्तर्दाह-विक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥ ५० ॥

म०—पिण्डिकेत्यादि । पिण्डिका=जान्वधो जङ्गमां सपिण्डः, तस्या उद्वेष्टनं=दण्डादिना पीडनेनेव वेदना पिण्डिकोद्वेष्टनम्, एवमन्यत्रापि । सृष्ट-मूत्र-पुरीषता=प्रवर्तमान-मूत्र-पुरीषता । ऊष्मा=बहिः, एतच्च विशेषपरं, प्रायः सर्वज्वरेषु तथाभावात् । “ऊष्मा-ऽन्तर्माह-विक्षेपौ”—इति पाठान्तरे, ऊष्मा-ऽन्तः=अन्तर्दाह इत्यर्थः, विक्षेपो=हस्तादिचालनम् ॥ ५० ॥

आ०—मांसगतमाह—पिण्डिकेत्यादि । पिण्डिका जान्वधोभागे मांसपिण्डः, तस्या उद्वेष्टनं दण्डादिनिपीडनेनेव वेदनाविशेषः । सृष्टमूत्रपुरीषता प्रवर्तमानमूत्रपुरीषत्वम् । ऊष्मान्तर्दाहविक्षेपौ । तत्र ऊष्मा बहिः, अन्तर्दाहः, एतच्च विशेषपरं, प्रायः सर्वज्वरेषु तथाभावात्; अन्ये—“ऊष्मान्तर्माहविक्षेपौ” इति पठन्ति । तत्र ऊष्मान्तः=अन्तर्दाहः, विक्षेपो हस्तादिचालनम् ॥ ५० ॥

अथ मेदोधातुगतज्वरलक्षणम् ।

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च ।

दौर्गन्धारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥ ५१ ॥

म०—भृशं स्वेद इति धर्मस्य भेदोमलत्वात्; तद्विकृत्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे ।  
असहिष्णुता=वेदनाया असहत्वम्, क्रोधनत्वमिति कार्तिकः ॥ ५१ ॥

आ०—भेदोगते भृशं स्वेद इति भेदोमलत्वात्, तद्विकृत्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे, असहिष्णुता वेदनासहत्वम् ।  
क्रोधनत्वमिति कार्तिकः ॥ ५१ ॥

अथाऽस्थिधातुगतज्वरलक्षणम् ।

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च ।

विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ ५२ ॥

म०—भेदोऽस्थ्नामिति । भेद इव भेदः=भङ्गवत्पीडेत्यर्थः । परपदार्थेषु प्रयु-  
ज्यमानाः शब्दा वृत्ति—(वति—) मन्तरेणापि वृत्त्य—(वत्य—)र्थं गमयन्ति, यथा—  
अग्निर्माणवकः । एवमन्यत्रापि भेदादौ द्रष्टव्यम् । कूजनम्=अस्फुटध्वनिः,  
'कुञ्चनम्' इति पाठान्तरेऽस्थ्नामेव संकोच इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

आ०—अस्थिगते भेदोऽस्थ्नामिति । भेद इव भेदः, भङ्गवत्पीडेत्यर्थः; परपदार्थेषु प्रयुज्यमान-  
शब्दा “इवान्तरेणापि इव इत्यर्थः” गमयन्ति, यथा अग्निर्माणवकः; एवमन्यत्रापि । कूजनं=कुन्थनम् ।  
कुञ्चनमिति केचन पठन्ति; तच्च सान्निध्यादस्थ्नामित्यनेन संबध्यते ॥ ५२ ॥

अथ मज्जधातुगतज्वरलक्षणम् ।

तमःप्रवेशनं हिका कासः शैत्यं वमिस्तथा ।

अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ५३ ॥

म०—तमःप्रवेशनम्=अन्धकारप्रविष्टस्येवासंविच्छिन्नः । महाश्वासः=श्वासाधिकारे  
वक्ष्यमाणलक्षणः । मर्मशब्देन हृदयमुच्यते, प्राधान्यादिति कार्तिकः, तस्य  
छेद इव मर्मच्छेदः ॥ ५३ ॥

आ०—मज्जगते तमःप्रवेशनम्=अन्धकारप्रविष्टस्येवार्थासंविच्छिन्नः । महाश्वास इति श्वासनिदाने  
वक्ष्यमाणलक्षणः । मर्मशब्देन हृदयमुच्यते प्राधान्यादिति कार्तिकः, तस्य छेद इव मर्मच्छेदः ॥ ५३ ॥

अथ शुक्रधातुगतज्वरलक्षणम् ।

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।

शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ५४ ॥

१ अत्र प्राच्य-प्रतच्योभय-शास्त्रलिङ्गाताः, वर्तमानयुगधन्वन्तरयः, शवच्छेदादिकर्मस्वणुवीक्षणादि-  
यन्त्रसाहाय्येन बहुशः प्रत्यक्षीकृत-सूक्ष्मातिसूक्ष्म-शारीरतत्त्वाः, प्रत्यक्षशारीरमित्यनुपमग्रन्थप्रणे-  
त्तारः, पण्डितप्रकाण्डाः महामहोपाध्याय-कविराज-श्रीगणनाथ-सेन-सरस्वती-महोदयास्तु स्वीये  
“सिद्धान्तनिदाने” एतावद विशिष्टमाचक्षते स्पष्टम्, यत्—शुक्रस्थानगते=शुक्रस्थानं प्राप्ते-



म०—मरणमित्यादि शुक्रगतस्य । तत्रैतेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्र-  
स्थानगते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम् । शुक्रं च तत्स्थानं चेति शुक्रस्थानं;  
न तु शुक्रस्य स्थानं शुक्रस्थानं, शुक्रस्य सर्वदेहगत्वेन नियतस्थानासंभवादिति  
कार्तिकः । यदुक्तम्—“ यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा । शरीरेषु तथा  
नृणां शुक्रं विद्याद्विषग्वरः ”—इति ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) । विशेषत इति  
पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गः, अन्यस्यापि रक्तादेरिति वदन्ति ॥ ५४ ॥

आ०—शुक्रगतलक्षणमाह—मरणमित्यादि । तत्र तेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्रस्थान-  
गते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम् । ननु शुक्रो ज्वरे मरणमित्युक्तं तच्च शुक्रं सर्वदेहगं, ततश्च  
रसादिधात्वभिभवेऽपि शुक्रप्राप्तेः तद्वदेऽपि मरणमिति । नैवम्—सर्वशरीरस्थस्यापि शुक्रस्य  
कलान्तरितत्वेन क्रमेण त्वचि प्राप्तेः । क्रमेणापि शुक्रं ज्वरेण कथं प्राप्यमिति चेत्, धात्व-  
न्तरादतिक्रम्य शुक्रगमनादिति । विशेषत इति पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गः, अन्यस्यापि-  
रक्तादेरिति वदन्ति । उक्तंच सुश्रुते—“ दग्धेन्धनो यथा वह्निर्धातून् हत्वा यथा विषम् । कृत-  
कृत्यो ब्रजेच्छान्तिं देहं हत्वा तथा ज्वरः ”—इति । ग्रन्थान्तरेऽपि—“ रसरक्ताश्रितः साध्यो  
मांसमेदोगतस्तथा । अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रोः शुक्रस्थस्तु न जीवति ”—इति ॥ ५४ ॥

अथैषां साध्यासाध्यत्वम् ।

( रस-रक्ताऽऽश्रितः साध्यो मांस-मेदो-गतश्च यः ।  
अस्थि-मज्ज-गतः कृच्छ्रोः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥ )

( वृ० वा० अ० ३ )

इति रसादिसप्तधातुगतज्वरलक्षणानि ।

—किंतावत् शुक्रस्थानम् ? वृषणौ, पौरुषप्रान्थिः, शुक्रवहे स्रोतसी, शुक्रप्रपे, शेफश्चेति । ( तदेतदखिलं  
मदीये प्रत्यक्षशरीरे स्पष्टम् ) अस्ति च सर्वशरीरचरं सूक्ष्मं शुक्रमपरं यत् पुंस्त्वचिह्नं इमं शुक्रत्वादि  
सम्पादयति, तदपेक्षया तु सर्वशरीरमेव शुक्रस्थानं सामान्येन । यत्तु रक्षितेन—“ शुक्रस्य सर्व-  
शरीरगतत्वेन शुक्रस्थानाऽसंभवादिति ” तत् शवच्छेदादि पुरस्कृतशरीरज्ञानाभावनिमित्तम् ।  
“ यथा पयसि सर्पिस्तु ”—इत्यादि प्राचीनवचनञ्च सर्वदेहचरसूक्ष्मशुक्रसारपरम् । न हि तावता  
प्रत्यक्षदृष्टं शुक्रस्थानं वार्यते । उक्तञ्च चरकेऽपि “ शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च ” इति—  
( चरक० विमा० ५ अ० ) । शेफसः स्तब्धता = चिरानुबन्धी शिश्नप्रहर्षः, शुक्रस्य मोक्षः = मुहुर्मुहुः  
क्षरणम् । विशेषतः—इत्युक्तेः शुक्रस्य क्षरणेऽपि शिश्नप्रहर्षो नापयातीति वैचित्र्यमुन्नेयम् ।  
सोऽयं शुक्रगो ज्वरः सुषुम्नाकाण्डाभिघाते, आलर्कविषस्य चरमावस्थायाञ्चास्माभिर्दृष्टः ॥ इति ॥  
१ एतच्च न पठनीयम् । यतः सर्वशरीरं सन्ततेन व्याप्तम्, सततादिभिश्च रसादिधातव इति  
कुतो रसादिधातुगतज्वरावकाशः ( अपरो रसादिगतज्वरवेगकाल इति वा ) इति रसादिस्थज्व-  
राणां पाठो न पठनीय एवेति श्री डल्लनाचार्य विरचिते निबन्धसंग्रहाख्ये सुश्रुतसंहिता-  
व्याख्याने जेज्जटाचार्याभिमतम् ॥

अथ प्राकृत-वैकृत-ज्वरलक्षणम् ।

प्राकृतज्वरः=( Seasonal Fever. )

वैकृतज्वरः=( Perenneal Fever. )

उक्तवातादिज्वराणां कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह—

वर्षा-शरद्-वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।

वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ५५ ॥

( वा० नि० अ० २ श्लो० ४९ )

म०—वर्षेत्यादि । वर्षादिषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृतः; वर्षासु वातिकः, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः । अस्मादन्यो वैकृतः, यथा—वर्षासु पैत्तिक इत्यादि । स इति वैकृतो दुःसाध्यः, अर्थात् सुखसाध्यः प्राकृत इति । यदुक्तम्—“ प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्त-शरदुद्भवः ॥ ” (च. चि. स्था. अ. ३ )—इत्यादि । अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत्कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन वैकृतादभिन्नत्वात् । जतूकर्णेनाप्यसौ न पठितः । यदाह—“ वसन्त-शरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः ”—इति । अत्रोच्यते—न प्राकृतत्वं सुखसाध्यत्वख्यापनपरा संज्ञा, किंतु कुम्भकारादिवद्यौगिकत्वं; यतो यथर्तुकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते, तत् उद्भूतः प्राकृतः, तेन प्राकृतत्वेऽपि दोषस्वभावाद्वातिकस्य दुःखसाध्यत्वं वैकृतवदिति । दुःखसाध्यत्वेन वैकृत-साधर्म्याच्च चरक-जतूकर्णाभ्यां नोक्तः, नतु प्राकृतत्वाभावादित्यभिप्रायो वाग्भटस्येति । अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वं, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात्सुख-साध्यत्वम् । तन्त्रान्तरं हि—“ ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्त-गुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ”—इति ॥ ५५ ॥

आ०—अथ कालभेदेन ज्वरस्य साध्यासाध्यलक्षणमाह—वर्षेत्यादि वर्षादिषु ऋतुषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृतः, वर्षासु वातिकः, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः । अस्मादन्यो वैकृतः, क्रमाद्यथा—वर्षासु पैत्तिकः, शरदि श्लैष्मिको, वसन्ते वातिक इति । वैकृतो दुःसाध्यः अर्थात्सुख-साध्यः प्राकृत इति । यदुक्तम्—“ प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः ”—इति । अनिलोद्भवश्च प्राकृतो दुःसाध्यः ॥ ५५ ॥

अथ प्राकृतज्वराणामुत्पत्तिक्रमः ।

तेशामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।

कुर्यात्, पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥ ५६ ॥

तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ।

कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥ ५७ ॥

( वा० नि० अ० २ श्लो० ५१, ५२ )

म०-वर्षास्वित्यादि । दुष्ट इति कुपितः, ग्रीष्मे संचितत्वात् । पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितपित्तकफानुबन्धः । यदुक्तम्-“भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लजलस्य च । वर्षास्वप्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः”-इति ( च. सू. स्था. अ. ६ ) । कुर्यादिति छेदः, पित्तं च शरदीति दुष्टं ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन संबध्यते; एवं कफो वसन्ते इत्यत्रापि योज्यम् । पित्तदुष्टिश्च शरदि वर्षासु संचितत्वात् । अनुबलोऽनुबन्धः, तस्य च हेतुवर्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव । तत्प्रकृत्येति=तयोः=पित्त-श्लेष्मणोः, प्रकृत्या=स्वभावेन; तत्कृतयोर्ज्वरयोरनशनालङ्घनान्न भयं भवति । यदुक्तम्-“कफ-पित्ते द्रवे धातू सहते लङ्घनं महत् । आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम्”-इति । विसर्गाच्च हेतोर्नानशनाद्भयम् । वर्षा-शरद्-हेमन्ता विसर्गः, तत्रोपचितबलाः प्राणिनो भवन्ति, सोमबलत्वात्; शिशिर-वसन्त-ग्रीष्मास्त्वादानं, तत्रापचितबलाः प्राणिनः, सूर्यस्य बलवत्त्वादिति व्युत्पादितं शास्त्रे । ‘तत्प्रकृत्या विसर्गस्य’-इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या=कफ-पित्त-प्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम् । कफ इत्यादि । तं कफमनु वात-पित्ते भवतः, अनुबन्धरूपे भवत इत्यर्थः । हेतुश्चात्र वसन्तस्यादानमध्यत्वेनामेय-रूक्ष-त्वाद्वात-पित्त-प्रकोपक-त्वम् । यदुक्तं चरके-“आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु”-इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अत्र कफ-पित्त-प्रकृत्या लङ्घनं युक्तमेव, किंत्वादानमध्यत्वेन निर्भयं तत्र कार्यम् । अत एव “तत्र नानशनाद्भयम्” इत्येतस्मात् पूर्वमेव पठितम्, अन्यथा सर्वशेषे पठितं स्यादिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

आ०-तेषामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह-वर्षास्वित्यादि । ग्रीष्मे संचितत्वात् वर्षासु दुष्टः=कुपितो वायुः पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितपित्तकफानुबन्धः ज्वरं कुर्यात् । यदुक्तम्-“भूवाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लजलस्य च । वर्षास्वप्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः ॥” इति । कुपितं पित्तं च शरदि दुष्टं सत् ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन संबध्यते । एवं कफो वसन्त इत्यत्रापि योज्यम् । पित्तं दुष्टं च शरदि वर्षासु संचितत्वेनेति । एतस्य च पित्तज्वरं कर्तुमुद्यतस्य शरदि अनुबलो=अनुबन्धी कफो भवति । तस्य च हेतुवर्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव । अनुबलमिद्वानुबलं यथा

स्वतन्त्रस्य कस्यचिद्राज्ञो गज-रथ-तुरग-पुरुषादि-बल-वतो वैरिभिः सह युध्यमानस्य पश्चाद-  
न्यबलं तच्छक्तेरनु बलोपबृंहणार्थमागच्छति, एवं स्वतन्त्रस्य पित्तस्य ज्वरं कुर्वतो बलोपबृंह-  
णं शरदि कफः करोति । तयोः=पित्त-श्लेष्मणोः, प्रकृत्या=स्वभावेन, तत्कृतयोर्ज्वरयोरन-  
शनालङ्घनाद्भयं न भवति । यदुक्तम्—“कफ-पित्ते द्रवे धातू सहते लङ्घनं महत्”-इति । तस्मा-  
द्विसर्गाच्च हेतोनानशनालङ्घनाद्भयम् । वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गकालः, तत्रोपचितबलः प्राणिनो भवन्ति  
सौमबलत्वात् ; शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानकालः, तत्रोपचितबलः प्राणिनो भवन्ति, सूर्यबलत्वात् ।  
“तत्प्रकृत्या विसर्गस्य” इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या=पित्त-कफयोः प्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम् ।  
चन्द्रनन्दनस्त्वेवं व्याचष्टे—तत्र शरदि पित्तज्वरेऽनशनालङ्घनाद्भयं न भवति, केन कारणेन ?  
तत्प्रकृत्या, तयोः=पित्त-कफ-ज्वरयोः लङ्घनसाध्यत्वेन; तथा विसर्गाच्च कालस्य विसर्गाख्य-  
भावात्तत्र लङ्घनात्प्रत्यवायशङ्का नोत्पद्यते, ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात् । पित्त-श्लेष्मणोर्लङ्घन-  
साध्यत्वे वचनं च—“कफ-पित्ते द्रवत्वाच्च सहते लङ्घनं महत् । आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुन  
सहते क्षणम्”-इति । अरुणदत्तस्त्वेवं व्याचष्टे—तच्छब्देन वर्षा-शरदृतौ वातज्वर-पित्त-  
ज्वरौ परामृश्येते, तयोः प्रकृतिस्तया तत्प्रकृत्या=तत्स्वभावेन, तत्र प्राकृते ज्वरेऽनशनाद्भयं  
न ‘भवति’ इति शेषः । विसर्गाच्च वर्षा-शरदुपलक्षितो हि कालो विसर्गः सौम्यस्वभावः,  
अस्माच्च कारणान्तस्मिन्काले ज्वरोत्पत्तेर्लङ्घनान्मृत्यु-प्रत्यवाय-शङ्का न तथा भवति यथाऽ-  
न्यस्मिन् ज्वरे आदानकालस्वभावाद्वात-पित्तानुबलत्वाच्चानशनाद्भयं भवतीत्यर्थः । वसन्ते  
काले कफो दुष्टो ज्वरं कुर्यादिति, तं कफमनु वातपित्तं भवेदिति=अनुबन्धरूपे भवत इत्यर्थः ।  
हेतुश्चात्रवसन्तस्यादानमध्यत्वेऽग्नेरुष्णत्वाद्वात-पित्त-प्रकोपनम् । यदुक्तं चरके—“आदान-  
मध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु”-इति । अतः कफपित्तप्रकृत्या च लङ्घनं युक्तमेव, किंत्वादान-  
मध्यत्वेन निर्भयं तन्न कार्यम् । अत एव तत्र नानशनाद्भयमित्येतस्मात्पूर्वमेव पठितम्, अन्यथा सर्वशेषे  
पठितं स्यादिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

अथ कालकृतं ज्वरलक्षणम् ।

कालोऽपि दोषविशेषस्य लक्षणमित्याह—

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ।

( वृ० वा० अ० ३ )

म०—काल इत्यादि । यथास्वं काले यस्य वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र  
तज्जन्यज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादो वृद्धिर्वा भवति; अथ वा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य,  
वृद्धिर्विषमज्वरस्येति ॥

आ०—यथास्वं काले वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र तज्जन्यस्य ज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादः अभि-  
वृद्धिर्वा भवति । अथ वा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य वृद्धिर्विषमज्वरस्येति । कालोऽपि दोषविशेष-  
लक्षणम् ॥—

अथोपशयानुपशयाभ्यां व्याधिविज्ञानम् ।

तथोपशयानुपशयावपि लक्षणमित्याह—

**निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥**

( वृ० वा० अ० ३ )

म०—निदानेत्यादि । निदानत्वेन ये उक्ता आहाराऽऽचारादयस्तैरनुपशयो=दुःखं निदानोक्तानुपशयः । विपरीतैर्दोषादिविपरीताऽऽहाराऽऽचारैरुपशायिता=सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति ॥ ५८ ॥

आ०—तथोपशयानुपशयावपीत्याह—निदानेत्यादि । निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तोऽनुपशयः, विपरीतैर्दोषाहाराचारैरुपशायिता सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति; निदानत्वेनोपयुक्तो य आहाराचारादिस्स दोषस्य दुःख जनकत्वेनानुपशयो विपरीतस्त्वाहाराचारादिर्दोषानुत्पादकत्वादुपशय इति पिण्डार्थः ॥ ५८ ॥

अथान्तर्बहिर्वेगभेदेन ज्वरस्य द्वैविध्यम् ।

तत्रान्तर्वेगज्वरस्य लक्षणम् ।

उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात्कश्चिदन्तर्वेगो भवति कश्चिद्वहिर्वेगस्तयोर्लक्षणमाह—

**अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।**

**सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोष-वर्चो-विनिग्रहः ॥ ५९ ॥**

**अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।**

( च० चि० अ० ३ श्लो० ३६ )

म०—अन्तर्दाह इत्यादि । श्वसनं=श्वासः; सदनमिति पाठान्तरं, तत्र युक्तमिति जेज्जटः । यतोऽन्तर्वेग एव सुश्रुते गम्भीराख्यः पठितः, तत्र च श्वास एव पठित इति । विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः ॥ ५९ ॥

आ०—उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात्कश्चिदन्तर्वेगो भवति, कश्चिद्वहिर्वेगस्तयोर्लक्षणमाह—अन्तरित्यादि । एतैर्लिङ्गैरन्तर्वेगज्वरं लक्षयेत् । श्वसनं श्वासः, अन्ये 'सदनम्' इति पठन्ति । दोषस्य=वायोर्वर्चसः=पुरीषस्य च विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः ॥ ५९ ॥

अथ बहिर्वेगज्वरलक्षणम् ।

**सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥**

**बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।**

( च० चि० अ० ३ श्लो० ३७ )

म०—तृष्णादीनामित्यादिशब्देनोक्तप्रलापादीनां ग्रहणम् । मार्दवं=स्वल्पत्वम् । अस्य सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य कृच्छ्रसाध्यतां सूचयति, असाध्यतां

वा, “गम्भीर-तीक्ष्ण-वेगाऽऽर्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।”-इति ( सु. उ. तं. अ० ३९ )  
सुश्रुतवचनादिति ॥ ६० ॥

आ०-बहिर्वेगस्य लक्षणमाह-सन्ताप इत्यादि । एतैर्लिङ्गैर्बहिर्वेगं लक्षयेत् । तृष्णादीनां  
मित्यादिशब्देन प्रलापादीनां ग्रहणं; मार्दवं स्वल्पत्वम् । अस्य तु सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य  
कृच्छ्रसाध्यत्वं दर्शितमसाध्यत्वं वा । सुश्रुते अन्तर्वेगो गम्भीराख्यया पठितः-“ गम्भीरतीक्ष्णवेगैर्ल  
ज्वरितं परिवर्जयेत् ” इति ॥ ६० ॥

अथा-ऽऽम-पच्यमान-पक्व-ज्वराणां लक्षणानि ।

तत्राऽऽमज्वरलक्षणम् ।

चिकित्साविशेषार्थमाह-पच्यमान-पक्व-ज्वरलक्षणमाह-

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्धयरोचकाः ॥ ६१ ॥

तन्द्राऽऽलस्याऽविपाकाऽऽस्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।

क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः ॥ ६२ ॥

आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ।

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ ६३ ॥

(शोधनं शमनीयं तु करोति विषमज्वरम् ।

तस्मादत्रौषधं प्राज्ञैर्न देयं सप्तरात्रकम् ॥)

( वा० नि० अ० २ श्लो० ५५ )

म०-लालेत्यादि । ननु ‘न दद्यात्तत्र भेषजम्’ इति विरुद्धम्, द्विविधं हि  
भेषजमुक्तं चरकेण, द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति; तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्य-

१ ‘न दद्यात्तत्र भेषजम्’ इति तु चिकित्सापथमिङ्गितेन प्रदर्शयत्याचार्यः । भेषजमिति-चात्र  
मुख्यकषायपरम्, तस्य मात्राबाहुल्येन, गुरुतया च दुर्ज्वरत्वात् । लघु भेषजं हि षडङ्गपानीयादि,  
स्वल्पमात्रं रसौषधं च आमपाचनाय प्रदत्तं नैतेन वार्यते-‘मुख्यभेषजसम्बन्धो निषिद्धस्तरूपे  
ज्वरे । तोषपेयादिसंस्कारे निर्दोषं तेन भेषजम् ॥’ इति चक्रदत्तादिषु तद्विधानदर्शनाद्-  
बृद्धवैद्यव्यवहाराच्च । आमपरिपाकश्च सप्ताहेन षडहेन वा भवति प्रायः, क्वचित् स्वल्पतरकालेन  
वा दोषाल्पत्वाद्, लङ्घनादिप्रभावाद् वा । तदुक्तम्-‘सप्ताहेनैव पच्यन्ते दोष-धातु-गता  
मलाः । निरामश्वाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥’ इति ( च० चि० अ० ३ ) । अन्यच्च-  
पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते । अचिरज्वरितस्यापि भेषज्यं दोषपाकतः ॥ ” इति  
( सुश्रु० उत्तर० अध्याय० ३९ ) ॥ इति सिद्धान्तनिदानव्याख्याने श्रीगणनाथसेनाः ॥

भूतं लङ्घन-स्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गार्धशृतं च प्रयुज्यते । उच्यते-  
भेषजशब्देनात्रान्नपानसाधनव्यतिरिक्ता कल्पनोच्यते, न तु सामान्येनौषधमात्रम् ।  
कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधान-  
दर्शनात् ॥ ६३ ॥

आ०—चिकित्साविशेषदर्शनार्थमामज्वरलक्षणमाह—लालेत्यादि । लालाप्रसेकः=लाला-  
स्त्रावः, हृल्लासः=उपस्थितवमनत्वमिव, हृदयाशुद्धिः=हृदयं पूर्णमिव, गुरु इव चापरे । क्षुन्नाशः  
=छिन्नाया अनिः सरणम् अथ वा क्षुत्=क्षुधा, तस्या नाशः । एतानि लक्षणानि आमज्वरे  
भवन्ति, तत्र भेषज पाचनादि न देयं, यदि आमदोषेषु भेषजं दीयेत तदा तद् भूयो ज्वरं वर्ध-  
यति । शोधनं यत्, यच्च शमनीयं तद्विषमज्वरं कुर्यात् । तत्र सामता द्विधा—एका रसस्यापरा  
दोषस्य, दोषसामता तरुणस्वरूपा, रससामताऽष्टाहात्परतो निवर्तते, तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते ।  
उक्तं च सुश्रुते—“सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् । दशरात्रात्परं केचिद्वातव्यमिति निश्चिताः”  
—इति । एतच्च मधुकोशे बहुविस्तृतम् ॥ ६३ ॥

अथ पच्यमानज्वरलक्षणम् ।

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।

मलप्रवृत्तिरुत्कलेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ६४ ॥

म०—एवं पच्यमानेऽपि बोद्धव्यम्, तत्रापि सामतायाः सद्भावात् ॥ ६४ ॥

आ—पच्यमानज्वरलक्षणमाह—ज्वरेत्यादि । ज्वरवेगोऽधिको भवति, यथा निर्वाणाव-  
स्थायां दीपः प्रज्वलति तद्वत्पच्यमानावस्थायां ज्वरस्य वेगाधिक्यं भवति, मलप्रवृत्तिश्च भवती-  
ति । पच्यमानस्य दोषस्य लक्षणं जानीयात् ॥ ६४ ॥

अथ परिपक्वज्वरलक्षणम् ।

क्षुत् क्षामता लघुत्व च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।

दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ ६५ ॥

( च० चि० अ० ३ श्लो० १३१ )

म०—क्षुदित्यादि।—असमासकारणात् क्षुदादयो व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः ।  
अष्टाहः पक्वलक्षणमिति जेज्जटः । हरिचन्द्रस्त्वाह—असत्यप्यष्टाहे क्षुदादि-  
भिर्निरामत्वं दोषप्रवृत्त्या वा क्षुदाद्यभावेऽप्यष्टाहेनैव शिष्यहितैषितया कालं लक्षणं  
च निर्दिष्टवानिति । द्विविधा हि सामता—एका रसस्य, अपरा दोषस्य ।  
रससामता तु सुखवैरस्यादिलक्षणा, दोषसामता तरुणत्वरूपा, साष्टाहेनैवापैति ।  
अत्र च हरिचन्द्रेण हेतुरुक्तः—“सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगताः मलाः । निरा-



मश्राप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥” इति । सप्तानां धातूनां धात्वभिना सप्ताहेनामपाकादष्टाहेनैव निरामत्वमिति । रससामतां त्वष्टाहात्परतोऽप्यनुवर्तते । एनमर्थं जेज्जटोऽपीच्छति, यदेवं लिखति चरकसुश्रुतटीकायाम्—  
 तरुणा सामताऽष्टाहादपैति रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते”-इति । एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते, रससामतायां तु पाचनं दीयते । अत एवाह चरकः—“ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्”-इति । ( च. चि. स्था. अ. ३ ) तथा—  
 “मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च । पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥” ( सु. उ. तं. अ. ४३ )-इत्यभिधायापि यत् सुश्रुतेन पठितम्,  
 “सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् । दशरात्रात्परं केचिद्वातव्यमिति निश्चितम्” ( सु. उ. तं. अ. ३९ )-इति, तैर्नैवं ज्ञापयति-सप्ताहादर्वाक् पाचनमपि न दीयत इति कार्तिककुण्डेनापि व्याख्यातमिति । ननु, “ज्वरितं षडहेतीति” ( च. चि. स्था. अ. ३ )-इति चरकवचनस्य “सप्तरात्रात्परम्” ( सु. उ. तं. अ. ३९ )-इत्यादिना सुश्रुतवचनेन विरोधः, यतः षडहेऽतीते सप्तमदिनं भवति, तत्र कषायं विधत्त इति । उच्यते, षडहेऽतीते सप्तमे लघ्वन्नप्रतिभोजितमष्टमे कषायं पाययेदित्यष्टमपदलोपाद्योज्यं रसौदनवादिति चक्रः,  
 “भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्” ( च. चि. स्था. अ. ३ )-इति दोषश्रुतेरुक्तसुश्रुतविरोधाच्च । प्रकारान्तरेणैनमर्थं कार्तिककुण्डोऽप्याह, तद्यथा—षडहेऽतीते इति ज्वरोत्पाददिनं परित्यज्य गणना, वस्तिदानदिनपरिहारेण परिहारकालगणनावत् । एवं “पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने । शमनेनाथवा दृष्टा निरामं तमुपाचरेत् ॥”-इत्येतदपि वचनं व्याख्येयम् । भट्टारहरिचन्द्रेणापि सप्तमदिने कषायपानं यद्व्याख्यातं तस्यायमेवाभिप्रायो गवेषणीयः, सुश्रुता-

१ अत्र-श्रीगणनाथसेन-सरस्वती-महोदयास्तु स्वीये सिद्धान्तनिदानव्याख्यानैः एवं ब्रुवन्ति—“यत्तु केचिदिदम् “ सप्ताहेनैव ” इत्यादि वचनं व्याचक्षाणा द्विविध सामतां कल्पयन्तोऽश्रुतपूर्वमर्थमस्मादेवाकर्षन्ति, उपदिशन्ति च—“रससामता तु अष्टाहात् परतोऽप्यनुवर्तते” इति, तद् वृथाऽऽग्रहमूलम्, प्राचां विरुद्धं च । उक्तवचने हि प्राय इत्युक्तेः । क्वचित् सप्ताहात् परतोऽपि सामतानुवृत्तिरित्यर्थः सुवचः । न त्वनेन द्विविधा सामता । एका रसस्य, अपरा दोषस्य इत्यर्थः । कथमपि प्रतिपाद्यते रसएव ह्यविपक्वः आमसंज्ञां लभते तत् केयं रससामतेति शङ्कविषाणकल्पना ? वस्तुतस्तु सामता दोषाणांमेव, ज्वरादीनां च उपचारात् । सा च सप्ताहेनापैति प्रायः इति प्राच्यमुपदेशः । यत्र तु सप्ताहात् परतोऽपि दोषाणां सामताऽवशिष्यते, तत्र पाचनमन्यथा शमनमौषधं दीयते-इति भिषजां सिद्धान्तः ॥ इति ।  
 २ यथा सुश्रुतोक्तव्यहपरिहारकाल एव वस्तिदानदिनं त्यक्त्वा चरकेण द्विगुणः पारहारकाल उक्त इति वृन्दवैद्यकटीकायां श्रीकण्ठदत्त आह ।

दिविरोधात् । चन्द्रिकाकारेणापि व्याख्यातम्—“अक्षिरोगे दिनचतुष्टयव-  
ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं, न वा शमनं, न च शोधनम्”—इति ।  
यत्तु पेयाद्यनन्तरं हारीतेनोक्तम्—“एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्मात्रं सप्तमेऽहनि ।  
पित्तकषायसंयोगान् ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्”—इति । तथा—“इति षाड्मात्रिकः  
प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः । अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम्”—  
इति खरनादवचनं च पूर्ववदष्टाहप्रतिपादकं द्रष्टव्यम् । अथवा पित्तज्वराभि-  
प्रायेणैव तद्वचनद्वयम् । यदाह सुश्रुतः—“सप्तरात्रात्परम्”—इत्यारभ्य, यावत्—  
“पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते । अचिरज्वरितस्यापि भैषज्यं  
दोषपाकतः” इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) सप्ताहादर्वागपि यदेत-  
त्पाचनं कषायपानमुक्तं तन्नात्युद्भूतसामतायां द्रष्टव्यम् । यदाह वाग्भटः—  
“सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः । केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामो-  
ल्वणे न तु ॥ तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदयो यतः । दोषेऽथवाऽतिनिचिते  
तन्द्रा-स्तैमित्य-कारिणि ॥ अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्”—  
इति ( वा. चि. स्था. अ. १ ) । “अयमर्थोऽभियुक्तैश्च कैश्चिदुक्तश्चिकित्सकैः ।  
सप्ताहात्परतोऽस्तब्धे सामे स्यात्पाचनं ज्वरे ॥ निरामे शमनं स्तब्धे सामे  
नौषधमाचरेत्”—इति संक्षेपः । विस्तरस्तु कषायनिर्णयप्रकरणे द्रष्टव्यः ।  
पक्वज्वरलक्षणेन जीर्णज्वरलक्षणमपि चिकित्सोचितं बोद्धव्यम् । यदुक्तं

१ अत्र—“अष्टाहो = दिनाष्टकम् । ननु नेदं लिङ्गम्, न च अष्टाहेन शुद्धिरिति नियमः  
इति चेत्, सत्यम् । लक्षयतीति लक्षणमिति व्युत्पत्त्या कालोऽपि लक्षणम् । अष्टाहेन  
सामतापगमश्च प्रायिकः । तावान् हि कालः कृतलङ्घनस्य लघुभुक्तवतो वा सामता-  
पगमाय कल्पते प्रायः, न तु यथेष्टं भुञ्जानस्यापि, अत एव वाग्भटः—“सप्ताहात् परतोऽस्तब्धे  
सामे स्यात् पाचनं ज्वरे । निरामे शमनं स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥” इति । अस्यामयर्थः—  
सप्ताहात् परतः सामता निरामता च उभयमपि संभवति । तत्र यदा अकृतलङ्घनादेः पुरुषस्य  
स्तब्धता मलानां दृश्यते सप्ताहात् परतोऽपि, तत्र वातानुलोम्यमेव सप्तादनीयम् लङ्घन-वालुका-  
स्वेदादिना, न तु मुख्यभेषजं कषायादि देयम् । यत्र तु स्तब्धता नास्ति, सामताऽवशिष्यते, तत्र  
आमपाचनं कषायादिकं दीयत एव । यत्र तु सर्वथा अपगता सामता, तत्र शमनं ज्वरघ्नौष-  
धादि दीयते इति दिक् ॥ केचित्तु—“ज्वरितं षडेऽहतीति”—इति चरकीयवचनेन सह  
“सप्तरात्रात् परमिति”—सौश्रुतवचनं संगमशय बहुधा वादानुपन्यस्य कष्टकल्पनया तुल्यार्थ-  
माविष्कृत्य समादधते । तज्जाति मनोरमम् । उभयथाऽपि सम्भवात् मतभेददर्शनाच्च । तथाहि—  
क्वचित् षडेहेन, क्वचित् सप्ताहेन, क्वचिदष्टाहेन, क्वापि दशाहेन वा सामतापगमो दृष्टः । मुख्य-  
भेषजव्यवस्थाकालसधिकृत्य च दृश्यत एव मतभेद आचार्याणाम् । तथा चोक्तं वाग्भटेन—  
“सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः”—इति । एवं चातुरारवस्थादर्शनेनैव सामतादि निर्णयते,  
भेषजकालश्च न पुनर्दिनगणनामात्रेणेति सिद्धान्तः ॥ ” इत्याहुः—श्रीगणनाथ-सेन-महोदयाः  
स्वीये सिद्धान्तनिदानव्याख्याने ॥

तन्त्रान्तरे—“आसप्तरोत्रम्”—इत्यादि । जातूकर्णेनाऽप्युक्तम्—“जीर्णस्त्रयो-  
दशदिवसः” इति । “त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः ।  
प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते”—इति तु तन्त्रान्तरमतिपु-  
राणाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ॥ ६५ ॥

आ०—अथ निरामज्वरलक्षणमाह—क्षुदित्यादि । क्षुच्छिक्काः तस्याः प्रादुर्भावः । अन्ये  
क्षुत्=क्षुधा । क्षामता=कृशत्वम्, ज्वरमार्दवं=ज्वराल्पत्वं, दोषप्रवृत्तिः=वायोः प्रवर्तनम् । ‘गुदेन’ इति  
शेषः । ‘उत्साह’ इत्यत्र ‘अष्टाह’ इति पठन्ति, अष्टदिनेभ्यः परतः । एतन्निरामज्वरलक्षणम्,  
तत्रौषधं देयं ज्वरस्य ॥ ६५ ॥

अथ साध्यज्वरलक्षणम् ।

ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ।

( च० चि० अ० ३ श्लो० ४७ )

म०—बलवत्स्वित्यादि । बलवत्सु पुरुषेषु साध्यः, यदुक्तम्—“बलाधि-  
ष्ठानमारोग्यम्”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अल्पदोषेषु=नातिप्रबल-  
दोषेषु । अनुपद्रव इति ज्वरस्योपद्रवाः कासादयः । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—  
“कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णा-ऽतीसार-विड्ग्रहाः । हिक्का-श्वासा-  
ङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश” इति ॥—

आ०—साध्यज्वरलक्षणमाह—बलवत्स्वित्यादि । बलवत्सु=बलयुक्तेषु पुरुषेषु ज्वरः साध्यो  
भवति । यदुक्तम्—“बलाधिष्ठानमारोग्यम्”—इति । स्वल्पदोषेषु=नातिबलदोषेषु पुरुषेषु । अनुपद्रव  
इति ज्वरस्योपद्रवाः कासादयः । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः ।  
हिक्काश्वासोऽङ्गभेदश्च ज्वरस्योपद्रवा दश”—इति ।

अथासाध्यज्वरलक्षणानि ।

ज्वरस्यासाध्यलक्षणान्याह—

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥ ६६ ॥

ज्वरः प्राणान्तकृद्, यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ।

( चं० चि० अ० ३ श्लो० ४८ )

म०—हेतुभिरित्यादि । ननु यो हेतुभिर्बलिभिर्बहुभिश्चोपजायते स बहु-  
लक्षण एव भवति, तर्हि बहुलक्षणवचनेन ? उच्यते, यथास्वहेतुकुपिता  
दोषाः सर्वस्यैव रोगस्य हेतवो भवन्ति, प्राक्तनकर्मापेक्षया तु यदा विशिष्टां  
सामग्रीं संप्राप्तिलक्षणमासादयन्ति तदा ज्वरमापादयन्ति, तथा दूष्यादि-

१ “आसप्तरोत्रं तद्वर्णं ज्वरमाहुर्मनीषिणः । मध्यं द्वादशरात्रं स्यात् पुराणमत उत्तरम्” इति चक्र-  
पाणिदत्तकृते चिकित्सासंग्रहे ॥

सहकारि-कारणसान्निध्यासान्निध्याभ्यां बहुलक्षणतामल्पलक्षणतां च कुर्वन्ति । तथा हि तन्त्रान्तरम्—“एकं द्वौ त्रीन् बहुन्वापि देहे धात्वादियोगतः । दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिताः पवनादयः” इति । अपि च विकृतिविषम-समवायाद्बहुहेतुकोऽप्यल्पलक्षणोऽल्पहेतुकोऽपि बहुलक्षण इति । प्राणान्त-कृदिति छेदः । शीघ्रमिन्द्रियनाशन इति-उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्य-मानोऽपीन्द्रियशक्तिं रूपादिग्रहणलक्षणमुपहन्ति सोऽप्यसाध्यो न तूपेक्षया । अन्येऽपि रोगा उपेक्ष्यमाणा इन्द्रियशक्तिमुपगन्ति असाध्यतां चाधिरो-हन्ति । एवं बहुलक्षणोऽप्यादावेव चिकित्स्यमान एव बोद्धव्यः । इन्द्रि-याण्यत्रैकादश बोद्धव्यानि सांख्यसिद्धान्तेन तथा चरकसुश्रुतनिर्दि-ष्टत्वात् । चक्षुः, श्रोत्रम्, घ्राणम्, रसनम्, स्पर्शनं चेति धीन्द्रियाणि । हस्त-पाद-गुदोपस्थ-जिह्वाः कर्मेन्द्रियाणि । उभयात्मकं मनः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ६६ ॥

आ०—ज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—हेतुभिरित्यादि । यो ज्वरो बलिभिः=प्रबलैर्हेतुभिः कारणैर्जातोऽत एव बहुलक्षणः संपूर्णलक्षण इत्यर्थः । स त्वसाध्यः, यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनो भवति सोऽपि ज्वरः प्राणान्तकृन् मारणात्मक इत्यर्थः । उत्पन्नमात्र एव चिकित्सितमात्रोऽपि इन्द्रियशक्तिं रसरूपादिग्रहणलक्षणमुपहरति सोऽप्यसाध्यो न तूपेक्षया । अन्येऽपि हि रोगा उपेक्ष्य-माणा इन्द्रियशक्तिमुपगन्ति, असाध्यतां चाधिरोहन्ति । एवमुक्तलक्षणोऽप्यादावेवाचिकित्स्यमान एव बोध्यः । इन्द्रियाणि चात्र चक्षुः, श्रोत्रम्, घ्राणम्, रसनम्, स्पर्शनं चेति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, हस्त-पाद-गुदोपस्थ-जिह्वाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः एवमेकादशेन्द्रियाणि ॥ ६६ ॥—

अथ प्रकारान्तरेणासाध्यज्वरलक्षणम् ।

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥ ६७ ॥

असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ।

( च० चि० अ० ३ श्लो० ४९ )

म०—ज्वरः क्षीणस्य शूनस्येत्यपरमसाध्यलक्षणम् । “गम्भीरो दैर्घरात्रि-कः” इति गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः, अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयः कर्तुं न शक्यते । अन्ये त्वाहुः—“गम्भीरोऽन्तर्वेगः” । दैर्घरात्रिक इति—“दीर्घरात्रानुबन्धी”—इति जेजटः, “दीर्घा मरणरूपा रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः” इति चक्रः । असाध्य इत्यर्थः । अत्र पक्षे दैर्घरात्रिक इति पूर्वेण संबध्यते, असाध्य इति परेण । केशसीमन्तकृदिति=अकस्मात् केशेषु सीमन्तान् यः करोति । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—“केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते ध्रुवौ । लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥”—इति ॥ ६७ ॥

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—शूनस्य=शोथयुक्तस्य पुरुषस्य, क्षीणस्य ज्वरेण, गम्भीरो दैर्घरात्रिकः, गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः, अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयः कर्तुं न

अकथ्यते । अन्ये गम्भीरोऽन्तर्वेगः । दैर्घरात्रिक इति दीर्घरात्रानुबन्धीति जेजटाः, दीर्घा मरणरूपां रात्रि-  
मनुवर्तत इति चक्रः, असाध्य इत्यर्थः । केशसीमन्तकृदिति अकस्मात्केशेषु सीमान्तान् करोति यः ।  
उक्तं च तन्त्रान्तरे—“केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते वितते भ्रुवौ । लुनन्ति चाक्षिगम्माणि सोऽचिरा-  
द्याति मृत्यवे”—इति ॥ ६७ ॥—

अथगम्भीरज्वरलक्षणम् ।

गम्भीरार्था ये जेजटादिभिर्व्याख्यातास्तेषु मध्ये अत्र “गम्भीरो-  
ऽन्तर्वेगः” इत्ययमर्थो माधवकरस्याभिमतः, अत एवासौ एतदनन्तरं  
सौश्रुतं गम्भीरलक्षणं लिखति—

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥ ६८ ॥

आनद्धत्वेन चात्यथ श्वासकासोद्गमेन च ।

म०—गम्भीर इत्यादिय एव चरकेऽन्तर्वेगः स एव सुश्रुते गम्भीरः पठितः,  
समलक्षणत्वात्, पृथक्पाठाभावाच्चेति। आनद्धत्वेन चेति=विबद्धमलत्वेन ॥ ६८ ॥—

आ०—सुश्रुतोक्तमसाध्यगम्भीरज्वरलक्षणमाह—गम्भीरस्त्वित्यादि । आनद्धत्वेनेति=दोष-  
पुरीषविबन्धेन ॥ ६८ ॥—

अथापरमसाध्यज्वरलक्षणम् ।

आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥ ६९ ॥

क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ४० )

म०—आरम्भादित्यादि । आरम्भादुत्पादात्प्रभृति यस्य विषमज्वरः  
सोऽसाध्यः, यस्य तु नित्यज्वरिणो ज्वरोत्सृष्टस्य वाऽपचारादिना विषमः  
स साध्य एव । एतच्च विषमत्वं सन्ततादिरूपं बोद्धव्यम्, न तु विषमत्व-  
मात्रेण, वातिकज्वरेऽपि प्रसङ्गादिति । दैर्घरात्रिको व्याहृत एव; न चास्य  
पुनरुक्तत्वं, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वात् । अधिकार्थप्रतिपादनार्थं बुद्ध्याऽपि  
लिखितम् । एवं गम्भीरेऽपि वाच्यम् । ‘अतिरूक्षस्य’ इत्यत्र ‘अनिमिषाक्षस्य’  
इति पाठान्तरे सदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः ॥ ६९ ॥—

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—आरम्भादित्यादि । आरम्भात्प्रभृति यस्य विषमो ज्वरः  
सोऽसाध्यः । तच्च विषमत्वं सन्ततादिरूपत्वेन बोद्धव्यं न तु विषमत्वं वेगादिना । दैर्घरात्रिकः पूर्वमेव  
व्याख्यातोऽपि न पुनरुक्तः, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वादिधिकार्थप्रतिपादनार्थं तद्वाक्यं पठितम् । ‘अतिरूक्षस्य’  
इत्यत्र ‘अनिमिषाक्षस्य’ इति पाठं पठन्त्यन्ये । तत्र सर्वदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः ॥ ६९ ॥—

अथासाध्यज्वरलक्षणान्तरम् ।

विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥ ७० ॥

शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ।

म०—विसंज्ञः=विह्वलः, ताम्यते=मुह्यति । शेते निपतित इति शायितो निपतित एवास्ते नोत्थातुं समर्थः । शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्चेति=शीतार्दितो बहिः, अन्तरुष्णोऽन्तर्दाहवान् ॥ ७० ॥—

आ०—अन्यदप्यसाध्यलक्षणमाह—विसंज्ञो=विह्वलः, ताम्यते=प्रमुह्यति, शेते निपतित इव आस्ते नैवोत्थातुं समर्थः । शीतार्दितो बहिरन्तर्दाहवान् ॥ ७० ॥

अथापरमप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ।

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥ ७१ ॥

वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।

म०—हृष्टरोमा=रोमाञ्चितगात्रः । हृदि संघातशूलवानिति संघातरूपेण वस्तुना अष्टीलिकादिनाऽऽक्रान्तमिव हृदयं मन्यते यः स तथा । अन्ये त्वाहुः—नानाप्रकारकशूलवानिति । वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितित्येवकारेण नासिकां व्यवच्छिनत्ति । व्यादितास्यप्रतिपादनार्थं, खरश्वास इत्यर्थः ॥ ७१ ॥—

आ०—अन्यदप्यसाध्यलक्षणमाह—य इत्यादि । हृष्टरोमा=रोमाञ्चितः । हृदि संघातशूलवानिति=संघातरूपेण वस्तुना अष्टीलिकादिना आक्रान्तमिव हृदयं मन्यते यः, अष्टीला=पाषाण-लोष्टिका, अनेन प्रकारेण शूलवानिति । अन्ये त्वाहुः—नानाप्रकारशूलवानिति । वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितिति एवकारेण नासिकाभ्यां व्यवच्छिनत्ति

हिक्का-श्वास-तृषा-युक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ॥ ७२ ॥

सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।

म०—हिक्केत्यादि । हिक्कादिभिर्मिलितैरेकेनाप्यतिबलवताऽसाध्यत्वम् । मूढं=मोहयुक्तम् । विभ्रान्तलोचनं=भ्रान्तप्रेक्षणं, चलितनेत्रं वा । सन्ततोच्छ्वासिनं=निरन्तरखरश्वासयुक्तम् ॥ ७२ ॥—

आ०—हिक्केत्यादिभिर्मिलितैरेकेन वाऽप्यतिबलवताऽसाध्यत्वम् । मूढं=मोहयुक्तम्, विभ्रान्तलोचनं=भ्रान्तप्रेक्षणं चलितनेत्रं वा, संततोच्छ्वासिनं=निरन्तरोच्छ्वासिनम् ॥ ७२ ॥

अथान्यदप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ।

हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥ ७३ ॥

गम्भीर-तीक्ष्ण-वेगाऽऽर्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० ४१ )

म०—हतेत्यादि । हतप्रभाणि=हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; अथवा हता प्रभा=दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा । ‘अरोचकनिपीडितम्’ इत्यत्र जेज्जटः पाठान्तरद्वयं पठति—“दुरात्मानमुपद्रुतम्” इति, व्याचष्टे च—दुरात्मानं=दुष्टान्तःकरणम् । उपद्रुतमिति श्वासादिभिरुप-

द्रवरूपद्रुतम् । “दुरात्मभिरुपद्रुतम्” इति पाठान्तरे तु राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः । एषामसाध्यलक्षणानामुपलक्षणत्वादन्यान्यपि तन्त्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि । तद्यथा—“प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना । सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमपसृज्यते ॥ ज्वरः पौर्वाहिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः । बल-मांस-विहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ज्वरो यस्यापराहे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः । बल-मांस-विहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्छा बलक्षयः । विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ गोसर्गे वदनाद्यश्च स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात् । स्वेदो ललाटे हिमवन्नरस्य शीतार्दितस्यैति सुपिच्छिलश्च ॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥ सुतस्वेदो ललाटाद्यः श्लथसन्धानबन्धनः । मुद्येदुत्थाप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति ॥ यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः । रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत् ॥” इति । “आधान-जन्म-निधने प्रत्यर्याख्ये विपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा ॥ ज्वरस्तु जातः षड्रात्रादधिनीषु निवर्तते”—इत्यादिना ग्रन्थेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितं, तद्वहारीत-वृद्धवाग्भटयोर्दृष्टव्यम्, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम् । सन्निपातासाध्य-प्रकरणं यथा,—“पित्त-कफानिल-वृद्ध्या दशदिवस-द्वादशाह-सप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातु-मल-पाकात्” इति । सप्ताहाद् द्वाताधिकः, दशाहात्पित्ताधिकः, द्वादशाहात्कफाधिकः, पित्ताधिकवद्वातपित्ताधिकः, कफाधिकवद्वातकफाधिकः, योगवाहित्वाद्वायोः । यदाह चरकः—“योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्”—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । धातुपाकाद्भ्रन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थितविकल्पः । धातु-मल-पाक-विकल्पे च दैवमेव हेतुः । उत्तरोत्तर-रोग-वृद्धि-बल-हानिभ्यां शुक्रादिधातुसहित-मूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेयः । यदुक्तम्—“निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची । अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्”—इति । अन्यथा च मलपाकः—“दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वर-देहयोः । इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम्”—इति । ननु तरतमादिभावव्यवस्थित-शीघ्र-मध्य-मन्द-शक्तित्वादोषाणां कथं सप्ताहादिनियम इति चेन्न, तथा—स्वभावाद्व्याधेः, विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः, यथाऽग्निरोहिणी सप्ताहेन



हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति । अतः “सप्तमीं द्विगुणा यावन्नवम्यका-  
दशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च” ( वा. नि. स्था.  
अ. २ )—इति हारीतवचनसंवादादर्थमेवं व्याचक्षते ।—दशमीप्रत्यासत्त्या  
नवमी, द्वादशीप्रत्यासत्त्या एकादशी च गृह्यते; ततो वृद्धयेति पदमावर्त्य  
सर्वत्र द्वैगुण्यं कार्यम् । एवं “सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।  
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा” ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) इत्यत्र  
सुश्रुतवाक्ये पुनःशब्देन द्वैगुण्यमिति व्याख्यातवान् कार्तिककुण्डः । एवं  
“दश-द्वादश-सप्ताहैः पित्त-श्लेष्माऽनिलाऽधिकः । दग्धवोष्मणा धातु-मलान्  
हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः” ( वा. नि. स्था. अ. २ )—इत्यत्राधिकशब्दमावर्त्य  
क्रियाविशेषणं कृत्वा द्वैगुण्यं बोद्धव्यम् । तथा “वात-पित्त-कफैः सप्त-दश-  
द्वादश वासरान् । प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च” ( वा. नि. स्था.  
अ. २ ) इत्यत्राग्निवेशमते प्रायोग्रहणेन द्वैगुण्यमिति । ननु सप्तमीत्यादौ कथं तर्हि  
दश-विंशति-द्वादश-चतुर्विंशतीनां ग्रहणमिति चेत्, उच्यते, एकादशीत्यत्र  
एकेति पदमावर्तनीयं, तेन नवमी एकेति दशमी लभ्यते, एकादशी  
एकेति द्वादशी, ततः सर्वत्र द्वैगुण्यम् । तुशब्दः समुच्चये, तेन सप्तमी गृह्यते,  
सा द्विगुणा च । एवं नवम्यादिषु योज्यम् । चतुर्विंशत्यधिकस्तु मर्यादा-  
दिवसो नास्ति, तत्प्रतिषादकागमादर्शनात् ॥ ७३ ॥—

आ०—लक्षणान्तरमाह—हृतेत्यादि । हतप्रभाणि=हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि च इन्द्रि-  
याणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; अथवा हता प्रभा=दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा । अरोचक-  
निपीडितमित्यत्र जेजटः पाठद्वयं पठति । “दुरात्मानमुपद्रुतम्” इति । दुरात्मानं=दुष्टान्तःकरणम्  
उपद्रुतमुपद्रवयुक्तम् । “दुरात्मभिरुपद्रुतम्” इति पाठान्तरे राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः ।  
गन्धारीऽन्तर्वेगः, तीक्ष्णोऽतिदुःसहो बाहिरन्तश्च, ताभ्यामन्योन्यमार्तं पीडितं, क्षामं=क्षीणं,  
तमित्थंभूतं ज्वरितं स्वार्थ-विद्या-यशो-हानिभयादसाध्यत्वात्परिवर्जयेत् । एषामसाध्यलक्षणानामु-

१ एतेनानुमीयते यदयं मधुकोषकारश्चिकित्सको नासीदिति, यतश्चिकित्सासु, मौक्तिका-  
ऽऽम्निक-ज्वरयोर्ज्वरमुक्तावष्टाविंशति-द्वाचत्वारिंशदिनात्मिकाया नियतावधेः प्रत्यक्षदर्शनात्, “कर्णके  
च त्रयो मासास्त्रयोऽब्दाश्चित्रभ्रमे” इत्याद्यागमप्रमाणाच्च ॥ स्वीयव्याकरणवैदुष्यमाविष्कुर्वता-  
ऽनेन विद्वद्वरेण बहुत्रापि मधुकोशे व्यर्थमाभणितं तर्ककर्मणम्, तच्चानेकैश्चिकित्सकवरैर्वर्द्धनीयवैद्यैः ( कवि-  
राज-महोदयैः ) सम्यगाखण्डितं सर्वमेतन्मधुकोशव्याख्यातं, तद्विद्वद्भूमिर्भास्करोदय-सिद्धान्त-  
निदानादयो ग्रन्था अवश्यमवलोकनीयाः, तत्रापि भास्करोदये तु मधुकोशखण्डनातिरिक्तं किञ्चिदपि  
नालेखि तल्लेखकेन —श्रीगङ्गाधरशर्ममहोदयेन, कलिकातानिवासिना ॥ एवमेवात्र  
शोधसम्प्राप्तिटीकायामुपदर्शनिदानव्याख्यासमाप्त्यवसरे चानेन विदुषा किञ्चिदारचितं  
मूलसौ विरुद्धं वृथैव वागजालम्, तदस्य चिकित्सानुभवशून्यत्वपरिचायकं प्रगल्भपाण्डित्यं तत्र तत्र  
प्रकरण एव स्फुटं प्रकटयिष्यते ॥

फलक्षणत्वादन्यान्यपि तन्त्रान्तरषु द्रष्टव्यानि । तद्यथा-“प्रेतैः सह पिवेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना । स घोरं ज्वरमासाद्य नरो जीवादिमुच्यते ॥ ज्वरः पूर्वाह्निकौ यस्य शुष्ककासश्च दारुणः । बलमांसविहीनश्च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ गोसर्गे वदनाग्रस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्”-इति । गोसर्गे=प्रत्युषे । “मृत्युश्च तस्मिन्बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात् । स्वेदो ललाटे हिमवन्नरस्य शीतार्द्रितस्यैति सुपिच्छिञ्च ॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः”-इति तथाऽन्यत्रापि-“आविलाक्षप्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च । क्षीणशोणितमांसं च नरक्षपयति ज्वरः ॥ सुतस्वेदो ललाटाग्रः श्लथसंधानबन्धनः । मुख्यस्तुत्याप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति ॥ यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः । रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत् ॥ यस्ताम्यति स्वपिति शीतलगात्रयष्टिरन्तर्विदाहसहितं स्मरणादपेतम् । सोच्छ्वासिनं कुपितरोमचयः सशूलं तं वर्जयेद्भगिह ज्वरितविधिज्ञः”-इति । “ज्वरस्तु जातः पञ्चादश्विनीषु निवर्तते” इत्यादि नक्षत्रभेदेन ज्वरस्यासाध्यत्वं यदुक्तं तद्वारीत-वृद्धवाग्भट-योर्द्रष्टव्यम् ॥ ७३ ॥

अथ ज्वरमुक्तेः पूर्वरूपम् ।

ज्वरविमुक्तिपूर्वरूपमाह—

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञिता ॥ ७४ ॥

कूजनं चास्यवगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ।

म०-दाह इत्यादि । विड्भिदिति विड्भेदः, संपदादिपाठात् भावे क्तिप् । असंज्ञिता=संज्ञानाशः । कूजनम्=अस्फुटध्वनिः । यदुक्तम्, “ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजेद्भवति चेष्टते”-इति । वाग्भटोऽप्याह-“धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते । ततो नरः श्वसन् खिद्यन् कूजन्भवति चेष्टते”-( वा . नि . स्था . अ . २ ) इति । वैगन्ध्यं=दुर्गन्धता गात्रे ज्वरमोक्षणे भविष्यति आकृतिर्लक्षणम् । ‘भवति’ इति शेषः । ननु दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविधं लक्षणं कुर्यात्? उच्यते, कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति, यथा—निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात्प्रज्वलति; अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषापगमेन क्षोभाद्दाहादयः, तरलतरवानर-परिहीयमान-तरुण-तरुवल्ली-शिखर-कम्पवदिति ॥ ७४ ॥—

आ०-ज्वरमुक्तस्य पूर्वरूपमाह मदाह इत्यादि । ज्वरमोक्षकाले एतादृश्याकृतिर्लक्षणम् भवति इति शेषः । विड्भिदिति विड्भेदः, असंज्ञिता=संज्ञानाशः, कूजनं=कुन्थनम् । यदुक्तम्-“ज्वरमोक्षेषु पुरुषः कूजन्नतिविचेष्टते”-इति । वाग्भटोऽप्याह-“धातून्प्रक्षोभयन्दोषो मोक्षकाले बलीयते । ततो नरः श्वसन्ध्वः कूजन्नतिविचेष्टते”-इति । वैगन्ध्यं=दौर्गन्ध्यमतीव गात्रे । ननु दोषपक्षयं विना न व्याधि-

निवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविधं लक्षणं कुर्यात् ? उच्यते—कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्व-  
शक्तिं दर्शयति, यथा निर्वाणावस्थोऽपि दीपो विशेषात्प्रज्वलति । अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषा-  
पगमेन क्षोभाद्वाहादयः, यथा—तरलतर-वानर-परिहीयमान-तरुण-तरु-बहुदुरी-शिखर-कम्पवादिति ।  
एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजे भवति न सर्वत्र; तथा चैतदनन्तरं भालुकिः प्राह—“त्रिदोषजे  
ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुजे । लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्॥”  
इति ॥ ७४ ॥

अथ विज्वरपुरुषलक्षणम् ।

विगत-क्लम-सन्तापमव्यथंविमलेन्द्रियम् ।

युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥

( च० चि० अ० ३ श्लो० )

( क्लमः=अकृतश्रमस्यापि श्रमानुभवः, सन्तापो=दैहिकतापाधिक्यम् ।  
व्यथा=मानससन्तापविशेषः । विमलेन्द्रियम्=अनाविलेन्द्रियशक्तिम् । प्रकृ-  
तिसत्त्वेन=स्वाभाविकवृत्त्या स्थैर्यादिना क्षुत्पिपासादिना च युक्तम् ॥ इति )

अथ ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ।

ज्वरमुक्तिलक्षणमाह—

स्वदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च ॥ ७५ ॥

क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ।

( सु० उ० अ० ३९ श्लो० १४० )

म०—स्वेद इत्यादि । स्वदो=वमर्गमनं, स्रोतसां स्फुटत्वात् । लघुत्वं  
गात्रस्य । शिरसः कण्डूरिति सर्वो हि ज्वरस्तैजसो विरोधिव्यपगमात् ।  
सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सन् शिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मलक्षणं कण्डूं  
करोति, व्याधिमहिम्ना तु नान्यत्र कफस्थाने इति वदन्ति । पाको मुख-  
स्येति ज्वरोष्मकोपितात्पित्तात् । यत्तु पूर्वं नाकार्षीदन्यत्र वा तदपि व्याधि-  
महिम्नैव । एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजेऽन्तर्वेगे ज्वरे भवति, न तु  
सर्वत्र । तथा चैतदनन्तरं भालुकिः प्राह—“त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च  
धातुगे । लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्”—इति । ननु ज्वरस्य  
प्रत्यक्षत्वात्तस्याभावोऽपि प्रत्यक्षः, तर्हि तल्लक्षणपाठेन ? तथाऽपि वा पठितव्यं,  
तर्हि सर्वविकारेषु पठ्यताम् ? उच्यते—विषमज्वरशङ्कानिरासार्थम् । विषमज्वरे

हि निवृत्तोऽपि ज्वरः पुनरायाति, दोषाणां धातुलीनत्वात् । एतल्लक्षणे तु निःशेष-  
दोषनिवृत्त्या न पुनरागमः । यत्र चैवंविधा शङ्का तत्रैवं लक्षणं पठति, न  
सर्वत्र, यथा प्रमेहातीसारादिष्विति सर्वं सुस्थम् ॥ ७५ ॥—

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ज्वरनिदानं समाप्तम् ।

आ०—ज्वरमुक्तस्य लक्षणमाह—ज्वरमुक्तस्य पुरुषस्यैवंविधं लक्षणं भवति । स्वेदो=  
घर्मागमः स्रोतसां स्फुटत्वात्, लघुत्वं गात्रस्य । शिरसः कण्डूरिति सर्वा हि ज्वरस्तैजसः त्रिरोधि-  
व्यपगमात् । सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सन् शिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मकलक्षणं कण्डूं जनयति  
व्याधिमहिम्ना नान्यत्र स्थाने इति वदन्ति । पाको मुखस्येति ज्वरोष्मकोपितात्पत्तात् ॥ क्ष्वथुः=  
छिक्का । परमते—“देहो लघुर्व्यपगतकुम्भोद्भापः पाको मुखे करणसौष्टवमव्यथत्वम् ।  
स्वेदः क्ष्वः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि”—इति ॥ ७५ ॥—

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे रुग्निनिदचयाव्यख्याने

ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

अथातीसारनिदानम् । ( Diarrhoea )

अथातिसारहेतवः ।

पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमती-  
सारमाह—

गुर्वति-स्निग्ध-रूक्षोष्णद्रव-स्थूलातिशीतलैः ।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥

स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयः ।

शोकादुष्टाम्बु-मद्यातिपानैः सात्स्यतुर्पर्ययैः ॥ २ ॥

जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः ।

नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

( सु० ८० अ० ४० श्लो० २ )

म०—गुर्वतिस्निग्धेत्यादि । गुरुशब्देन मात्रागुरुर्गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो  
रक्तशाल्यादिः, तथा स्वभावगुरु च माषादि, अथवा गुणतः पाकतश्च । अति-  
शब्दः स्थूलान्तैः सह संबध्यते । स्थूलं=संहतावयवम्, यथा लङ्गुलकपिष्टकादि ।  
शीतलं स्पर्शादीर्याच्च । विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा  
क्षीरमत्स्यादि । तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये ( सु. सू. स्था.  
अ. २० ), चरके चात्रेयभद्रकाप्पीयाध्याये ( च. सू. स्था. अ. २६ ) द्रष्ट-  
व्यम् । अध्यशनं=पूर्वदिनाहाराजीर्णं भोजनम् । उक्तं हि चरके—भुक्तं

पूर्वांशशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ” ( च. चि. स्था. अ. १५ )—इति । एवं सर्वत्र । अजीर्णमपक्वमन्नम् । विषममकालभोजनादि । उक्तं हि सुश्रुते—“ बहु स्तोक-  
मकाले च तज्ज्ञेयं विषमाशनम् । ” ( सु. सू. स्था. अ. ४६ ) इति । ‘ विषमैः ’  
इत्यत्र स्थाने ‘ असात्म्यैः ’ इति पाठान्तरम् । भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः  
संबध्यते । स्नेहाद्यैरिति । स्नेहः=स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेद-  
वमन-विरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अतियोगयुक्तैः । एतच्च यथा-  
योग्यं बोध्यं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीन-  
योगयुक्तैः, वमनादिकर्षणां मिथ्यायोगाभावात्, हीनयोगाच्च ते दोषानुत्क्षे-  
प्यातीसाराय स्युः । ननु कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमन-  
मिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः संभवत्येव । न सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः ।  
यदुक्तं चरके—“ योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः  
प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ”—इति ( च. सि. स्था. अ. ६ ) । विष-  
मत्र स्थावरमुच्यते, अयोगत्वात् । कार्तिककुण्डस्त्वाह-विषं=दूषविषं, तल्ल-  
क्षणेष्वतीसारपाठात् । दुष्टाम्बु-मद्यातिपानैरिति दुष्टं=व्यापन्नं, दुष्टयोरम्बु-  
मद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिपानात् । तथाह चरकः—“ दुष्ट-मद्य-पानीया-  
तिपानात् ”—इति ( च. चि. स्था. अ. १९ ) । सात्म्यवर्त्ययैरिति सात्म्यवि-  
पर्ययैर्ऋतुविपर्ययैश्च, सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम् । न च पूर्वोक्तेन असात्म्यैरि-  
त्यनेन पौनरुक्त्यम् । उक्तं हि चरके आत्रेयभद्रकाप्यीये—“ द्विविधं हि सात्म्यं  
प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च ” ( च. सू. स्था. अ. २६ ) इति । आहारा-  
ऽऽचारभेदादन्न-पान-भेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये । जलाभिरमणैरिति जल-  
क्रीडादिभिः । वेगविधातैरिति मूत्र-पुरीषादीनाम् । किमिदोषत इति किमिभिः  
पक्वमाशयदूषणात्, किमिजनितवातादिकोपाद्वा । एतानि च निदानानि यथा-  
संभवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोष-व्याधि-हेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि । एवमन्य-  
त्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥ १-३ ॥

आ०—पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्चज्वरानन्तरमतसिारमाह-गुर्वित्यादि ।  
गुरुशब्देन मात्रागुरु गृह्यते तथा स्वभावगुरु माषादि; अथवा गुणतः पाकतश्च । अतिशब्दः स्थू-  
लान्तैः सह प्रत्येकं सम्बध्यते । स्थूलं संहतावयवं यथा लड्डुकपिष्टकादि । शीतलं वीर्यतः स्पर्शाच्च ।  
विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धम् यथा क्षीरमत्स्यादि । तच्च बहुप्रकारं सौश्रुते हिताहितीया-  
ध्याये चरके चात्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये द्रष्टव्यम् । अध्यशनं पूर्वदिनाहारेऽजीर्णे भोजनम् । उक्तं च  
चरके—“ मुक्तं पूर्णाह्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ” इति । अजीर्णमपक्वान्नं चर्वणादि; अन्ये—

ऽजीर्णमामविदग्धादि । विषमाशनलक्षणमुक्तं सुश्रुते—“बहु स्तोकमकाले च तज्ज्येयं विषमाशनम्”—इति । विषमैरित्यत्र स्थाने असात्म्यैरिति पाठान्तरम् । भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैरेव सम्बध्यते । स्नेहाद्यैरिति स्नेहस्वेदवमनविरेचनानुवासननिरुहास्तैरित्युक्तैः अतियोगयुक्तैः । एतच्च यथायोगं ज्ञेयं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः, वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगाभावात् । हीनयोगात् तु ते दोषानुक्लेश्याऽतिसाराय स्युः । ननु वमनं प्रयुक्तं कदाचिद्विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः सम्भवत्येव । न सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः । यदुक्तं चरके—“योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः प्रातिलोभ्येन न चात्वं वा प्रवर्तनम् ॥” इति । विषं स्थावरमधोगत्वात्, दूषीविषं वा । शोको बन्धुवियोगादिना । दुष्टाम्बु=व्यापन्नजलं, मद्यं प्रसिद्धं तयोरतिपानम् । सात्म्यविपर्ययात्, ऋतुविपर्ययाच्च । जलातिरमणैः=पानीयातिक्कीडनैः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनां वेगनिरोधनैः । कृमिदोषतः कृमिभिः पक्षाशयदूषणात्, कृमिजनितवातादिकोपाद्वा । एतानि च निदानानि यथासंभवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषहेतुव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थम् । एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठः प्रायो द्रष्टव्य इति ॥ १-३ ॥

अथातिसारस्य सम्प्राप्तिः ।

सर्वातीसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः ।

सरत्यतीवासिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥

एककशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥४॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ३, ४. )

म०—संशम्येत्यादि । संशम्य=शमयित्वा । अत्र अन्तर्भाविता पृथक् इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः । प्रवृद्धः=प्रदुष्टः । अपां धातुरित्यनेनासमासकरणेन रस-जल-मूत्र-स्वेद-भेदः-कफ-पित्त-रक्तादयो ग्राह्याः । चरकेऽप्युक्तम्—“शोणितादीन् धातून् दूषयन्त”—इति ( च. चि. स्था. अ. १९ ) । अधः प्रणुन्नः=प्रेरितः, सरति=गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्, गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः । निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधो द्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः, वातातीसारे त्वल्पत्वं कफ-पित्तातीसारपेक्षया, न तु ग्रहण्यपेक्षया इति । उक्तषड्विधत्वं विभजते—एकैकश इत्यादि । ननु, चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः । अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः? उच्यते, चरके-भय-शोकजौ लक्षणसंज्ञाकार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आमजस्त्वन्नाजीर्णकुपितत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न संख्यातिरेकः; सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितौ वातजत्व-सन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि मृत्ति-

काजः पाण्डुरोग इति । एवं भय-शोक-जावपि चरकं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितौ । सुश्रुते भयजः केवलवातिकेऽवरुद्धः, मानसत्वाविशेषाद्वा शोक-जेऽवरुद्ध इति जेज्जटः । ननु षष्ठ आमेन चोक्त इति पृथक्करणमसंगतं; यतः सर्वेषामेवातीसाराणां प्रागवस्था आमशब्दवाच्या, जीर्णावस्था पक्वशब्दवाच्या, अत एव सर्वातीसारगोचरमुदाहरन्ति—“आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता । अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वाऽऽमलक्षणम्” ( सु. उ. तं. अ. ४० )—इति । नैवम्—आमेनैवारभ्यत इति आमजः, दोषास्तु संसर्गिणः प्रेरयितारश्च, न त्वारम्भकाः । आमश्च दुष्टान्नकार्यो दोष-धातु-मल-व्यतिरिक्तो वातादिसं-सृष्टो वातादिप्रेरितो वा रक्तादिव्याध्यारम्भक इति । द्वन्द्वजास्त्वतीसाराः प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणिताः; विकृतिविषमसमवायारब्धास्तु न भवन्त्येव, व्याधिस्वभावात् । शैली चेत्यभाचार्याणां प्रायः प्रकृतिसमसमवाया-रब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपातांश्च न गणयन्ति, विकृतिविषमसमवायारब्धांश्चावश्यं लिखन्ति । यथा चरके—“पञ्च गुल्मा”—इत्यभिधाय “संसृष्टरूपानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्” ( च. चि. स्था. अ. ५ )—इत्युक्तम् । तथा सुश्रुते,—“षडशीसि” इत्यभिधाय “अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः । संसर्गं तं विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः”—( सु. नि. स्था. अ. २ ) इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

आ०- सर्वातिसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह—संशम्येत्यादि । यस्माद्वायुनाऽधः प्रणुन्नः=प्रेरितः, अपां धातुः=ऋक्-रस-मूत्र-स्वेद-मेदः-पित्त-रक्तादिकः, प्रवृद्धो=दुष्टः, अन्तराग्निं संशम्य=मन्दीकृत्य, वचोमिश्रः=पुरीषयुक्तः अतीवाधः सायेत, आचार्या घोरे तं व्याधिमतीसारमाहुः । गुदेन बहुद्रवसरणादतीसार इत्यर्थः । तं पुनः षट्प्रकारं वदन्ति । उक्तवद्विधत्वं विभजन्नाह—वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा त्रयः, सन्निपातेन चतुर्थः, शोकेन पञ्चमः, आमेन षष्ठः, एवं षडतीसाराः । संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां षडिति संख्याकरणं नियमार्थम् । तेन द्वन्द्वजा अतीसारा न भवन्ति, व्याधिस्वभावादिति सूचितम् । अत्र भव-शोकाभ्यां वायुः प्रकुप्यति तर्हि द्वयोर्वातजे निरोधः, पृथग्ग्रहणं किमर्थं कृतं ? सुश्रुतेन हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितम् ॥ ४ ॥

अथ सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाणि ।

सर्वातीसारपूर्वरूपमाह—

हृन्-नाभि-पायूदर-कुक्षि-तोद-गात्रावसादानिलसन्निरोधाः ।  
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ६ )

म०-हन्नाभीत्यादि । तोदः सर्वैर्हृदादिभिः संबध्यते, अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम् । अनिलसन्निरोध इति वायोरप्रवृत्तिः ।



विट्सङ्गः=पुरीषाप्रवृत्तिः; एतच्च दोष-दूष्य-संमूर्च्छानावस्थाप्रतिनियतं पूर्वरूपं, तेन रूपावस्थायां नानुवर्तते, यद्यनुवर्तते तदा तत्र व्याधिरेव नोत्पद्येत, विट्सङ्गातिप्रतिषेधात् । अविपाकोऽन्नस्य । पुरःसराणि=पूर्वरूपाणीति ॥ ५ ॥

आ०—सर्वातीसारपूर्वरूपमाह—द्वन्नामीत्यादि । भविष्यतो भाविनोऽतीसारस्य हृत्तोदादीनि पुरःसराणि पूर्वरूपाणि भवन्ति । पायुर्गुदम् । तोदः सर्वेहृदादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम् । अनिलसन्निरोध इति वायोरप्रवृत्तिः, गात्रावसादौ देहे ग्लानिः विट्सङ्गः पुरीषाप्रवृत्तिः आध्मानं च, अविपाकोऽन्नस्य ॥ ५ ॥

अथ वातातिसारलक्षणम् ।

वातिकमाह—

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः ।

शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ७ )

म०—अरुणमित्यादि । अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोष-दूष्य-संमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि । फेनिलं=सफेनम् फेनादिलच् । शकृत्=पुरीषम् । सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति ॥ ६ ॥

आ०—वातातीसारलक्षणमाह—अरुणमित्यादि । मारुतेन=वायुना अरुणादियुक्तं शकृत्, पुरीषमतिसार्यते । अरुणमिति वायोररूपस्यापि वर्णो दोषदूष्यसंमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि । फेनिलं फेनयुक्तम्, रूक्षम्=निःस्नेहं, अल्पमल्पं=स्तोकं स्तोकेम्, मुहुर्मुहुर्वारं वारम्, आममपरिषकं, सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति ॥ ६ ॥

अथ पित्तातिसारलक्षणम् ।

पैत्तिकमाह—

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णा-मूर्च्छा-दाह-पाकोपपन्नम् ।

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ८ )

म०—पित्तादित्यादि । दाह-पाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गि, पाको गुद एव, उक्तं हि तन्त्रान्तरे—“तृष्णा-स्वेद-मूर्च्छा-बुध्न-सन्ताप-पाक-परीतः”—इति । बुध्नो=गुदः । अत्राप्यतिसार्यते शकृदित्यनुवर्तते; एवं श्लैष्मिकेऽपि ॥—

आ०—पित्तातिसारलक्षणमाह—पित्तादित्यादि । पीतं=पातवर्णम्, नीलं=नीलवर्णम्, आलोहितम्=ईषल्लोहितम् । तृष्णेत्यादि मूर्च्छा प्रसिद्धा । दाहपाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गि, पाको गुदस्यैव ।

अथ कफातिसारलक्षणम् ।

श्लेष्मिकमाह—

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं दृष्टरोमा मनुष्यः ॥ ७ ॥

( सु० ६० अ० ४० श्लो० ७, ८ )

म०—शुक्लमित्यादि । शुक्लमित्यादिना दृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लेष्मिकः ।  
विस्रमामगन्धि ॥ ७ ॥आ०—श्लेष्मातिसारमाह—शुक्लमित्यादि । दृष्टरोमा मनुष्यः=कण्टकितदेहः पुमान्, शुक्ला-  
दिगुणयुक्तं पुरीषमतिसार्यते । शुक्लं=धेतवर्णम्, सान्द्रं=घनं, श्लेष्मसहितं, विस्रम्=आमगन्धि,  
शीति=शीतलमिति ॥ ७ ॥

अथ त्रिदोषजातिसारलक्षणम् ।

सान्निपातिकमाह—

वराहस्नेह-मांसाम्बु-सदृशं सर्वरूपिणम् ।

कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्यादोषत्रयोद्भवम् ॥ ८ ॥

( सु० ३० अ० ४० श्लो० ८ )

म०—वराहेत्यादि । वराहस्नेहः=शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु=मांस-  
प्रक्षालनोदकं, तैः सदृशम् । सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षण-  
युक्तम् । एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात्; तच्च कृच्छ्रसाध्यं, त्रिदोषज-  
त्वादेव ॥ ८ ॥आ०—सान्निपातिकातिसारलक्षणमाह—वराहेत्यादि । एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं  
कृच्छ्रसाध्यं जानीयात् । वराहस्नेहः शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, तैः  
सदृशम् । सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तम् ॥ ८ ॥

अथ शोकजातिसारलक्षणम् ।

शोकजमाह—

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य

बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः ।

कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं

तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥ ९ ॥

निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा

निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः ।

## शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्र

रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० १० )

म० तैस्तैरित्यादि । तैस्तैर्भावैर्वधन-बन्धु-नाशादिभिः शोचतः=शोकं कुर्वतः । अल्पाशनस्य=शोकादेवात्वं भुञ्जानस्य । एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम् । बाष्पोऽत्युद्गतनेत्रनासागलादिगतं जलं, तत्सहित ऊष्मा=शोकजं देहतेजो बाष्पोष्मा; स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य=व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तम्, ऊष्मत्व-द्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात् । तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं=गुञ्जा-फलसंकाशम्, अधस्तान्निर्गच्छेत् । पक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः । गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह । तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्; अविट्वा=अल्प-विट्, अल्पाशनत्वात् । निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पः, अविट्सविड्भ्यामिति कार्तिकः । अन्ये तु पित्तस्य पूतित्वात्प्रवलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्व-मिति; गन्धश्च विष इत्याहुः । क्षोभयेत्तस्य रक्तमित्यत्र 'शोषयेत्तस्यभुक्तं'-इति पाठा-न्तरमयुक्तम्, काकणन्तीप्रकाशत्वे हेत्वन्तराभावात् । तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च । जेज्जटादिभिः सर्वैरेवायं वातपित्तज उक्तः । दुश्चिकित्स्योऽति-मात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात् अतः, एवाह-कष्ट एष प्रदिष्ट इति । वैद्यैर्ब्रह्मादिभिः । गदाधरस्त्वाह-'एष' इत्यनेनैवंसंप्राप्तिक एव कष्टो न त्वन्यः शोकज इति ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०-शोकजमाह-तैस्तैर्भावैरित्यादि ।-धनबन्धुनाशादिभिः, शोचतः शोकं कुर्वतः, अल्पाश-नस्य शोकादेवात्वं भुञ्जानस्य, एतेन धातुक्षयोऽस्य कारणं स्यादित्युक्तम्, एवंविधस्य जन्तोर्बाष्पो-ऽत्युद्गतेनेत्रनासागलादिगतजलं तत्सहितशोकज ऊष्मा देहतेजो बाष्पोष्मा, स कोष्ठं गत्वा वह्नि-माविश्य व्याकुलीकृत्य, अस्य रक्तं क्षोभयति चालयत्यत्युष्णद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्, तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलसंकाशमधस्तान्निर्गच्छेत् । पक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः । गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह । तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्, अविट् अल्पविट्वा । निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पः, पित्तस्य पूतित्वादस्तिगन्धता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्वमिति । गन्धश्च विष इत्याहुः । दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदन् विना केवलेन भेषजेन न शाम्यति, अत एव शोकोत्पन्नोऽतिसारो विकारो वैद्यैरेष कष्टो दाहणः प्रदिष्टः ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ आमातिसारलक्षणम् ।

अन्नाजीर्णात्प्रद्वृताः क्षोभयन्तः

कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च ।

नानावर्णं नैकशः सारयन्ति

शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लोक० ११ )

म० अन्नाजीर्णादित्यादि । अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम् । अत एवाह क्षारपाणिः, “यथाभुक्तमनशनमुपविशति”—इति । प्रदुताः=विमार्गगाः । क्षोभयन्तो=दूषयन्तः । धातुसंधानं=रक्तादीन् । मलान्=पुरीषादीन् । नैकशो=बहुशः ॥ ११ ॥

आ० आमातीसारमाह—अन्नेत्यादि । अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णं, तस्मात् प्रदुताः=उदीरिता दोषाः कोष्ठं क्षोभयन्तो=दूषयन्तः, कोष्ठशब्देन, समस्तमुदरमध्यमुच्यते तत्र गता इत्यर्थः । धातुसंधानं रक्तादीन्, मलान्पुरीषादीन्, नैकशो=बहुशः, ते नानावर्णं सारयन्ति । भूयसेति पाठान्तरे बहुवेगत्वं सूचितम् । शूलोपेतं=शूलयुक्तम् । अत्र पुनः षष्ठ इति संख्यावचनं नियमार्थं, तेन भय-स्नेहाजीर्ण-विसूचिका-ऽर्शो-ऽजीर्णादिनिमित्ता अतीसारा न पृथक् गणनीयाः, यतस्ते दोषजेष्वेवान्तर्भूताः । प्रसंगादामलक्षणं लिख्यते—“आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात् । स हेतुः सर्वरोगणामाम इत्याभिधीयते”—इति ॥ ११ ॥

सर्वातिसाराणां चिकित्सोपयोगित्वेनामलक्षणं पक्वलक्षणं चाह—

अथ आमपक्वपुरीषयोर्लक्षणम् ।

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।

पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै ।

लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लोक० १२ )

म०—संसृष्टमित्यादि । संसृष्टं=संबद्धम्, एभिर्दोषैर्दुष्टिभिरुक्तवाताद्यतीसारलिङ्गैः । दुष्टयश्चात्र यथासंभवं व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः; तेन सर्वातिसाराणां न सान्निपातिकत्वप्रसङ्गः । न्यस्तमप्सु=जले क्षिप्तम्; अवसीदति=निमज्जति, आमस्य गौरवात् । भृशशब्दः पिच्छिलेनापि संबध्यते । दुर्गन्धि=विस्रम् । पिच्छिलमामसंबन्धात् । एतानीति जलनिमज्जनादीनि । लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च, चकारेण कफदुष्ट्यादिकं विनाऽप्यम्बुनिमज्जनं लक्षणमिति समुच्चीयते । यदुक्तम्—“मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विद् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनातिद्रव-संधात-शैत्य-श्लेष्म-प्रदूषणात्”—इति । अथ वा आमलिङ्ग-

वैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोध-  
यतीति ॥ १२ ॥ १३ ॥

आ०—अथामलक्षणमाह—संसृष्टमित्यादि । संसृष्टं संबद्धम् । एभिः पूर्वनिर्दिष्टैर्दोषैर्दुष्टिभिरुक्त-  
वाताद्यतीसारलिङ्गैर्गुरुतरैर्व्याप्तमित्यर्थः । दुष्टयश्चात्र यथासंभवं व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः । तेन  
सर्वोत्तिसाराणां न सान्निपातिकत्वप्रसङ्गः । न्यस्तमप्यु जले क्षिप्तमेव सीदति मज्जति आमस्य गौर-  
वात् । भृशशब्दः पिच्छिलेन संबध्यते । दुर्गन्धिं विलम्बम् । पिच्छिलं आमसंबन्धात् । पक्कलक्षणमाह—  
इतानि जलनिमज्जनादीनि यस्य पुरीषस्य विपरीतानि—जले प्लवनम्, गन्धराहित्वम्, अपिच्छिल-  
त्वमित्यर्थः । यस्येति मनुष्यस्येति केचिद् व्याख्यानयन्ति । लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च । चकारा-  
त्कफदुष्टं पुरीषं समुच्चीयते यदुक्तम्—“मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विद् पक्का तूप्लवते जले । विनाऽतिद्रवसंघाता-  
च्छ्लेष्मसौ त्यप्रदूषणात्” इति । ननु कफसंसृष्टपक्कमपि मलं निमज्जतितत्कथं पक्ककफातीसारज्ञानम् ?  
उच्यते, तदितरलक्षणैरेव ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथ असाध्यातिसारलक्षणम् ।

असाध्यलक्षणान्याह—

पक्कजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु ।  
घृत-तैल-वसा-मज्ज-वेशवार-पयो-दधि- ॥ १४ ॥  
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।  
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ १५ ॥  
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु ।  
तृष्णा-दाह-तमः-श्वास-हिक्का-पार्श्वस्थिशूलिनम् ॥ १६ ॥  
संमूर्च्छा-ऽरति-संमोह-युक्तं पक्क-वली-गुदम् ।  
प्रलापयुक्तं च भिषग् वर्जयेदतिसारिणम् ॥ १७ ॥  
असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम् ।  
गुदे पक्के गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत् ॥ १८ ॥  
श्वास-शूल-पिपासा-ऽऽर्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।  
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० १३ )

म०—पक्केत्यादि । पक्कजाम्बवसंकाशं=पक्कजम्बूफलसदृशवर्णं स्निग्धकृ-  
ष्णमित्यर्थः । यकृत्खण्डनिभं=कृष्णलोहितम् । तनु=स्वच्छम् । घृतादीनां

मांसधावनतोयान्तानामिवाभाः प्रतिभासो यस्य तत्तथा । वेसवारो “निर-  
स्थिपिशितं पिष्टम्”—इत्यादिपरिभाषितमांसप्रकारः । कृष्णमज्जनप्रख्यम् ।  
एतच्च कृष्णत्वादिकं पित्तातिसारवर्जं बोद्धव्यम्, तत्र रूपत्वेन पठितत्वात् ।  
नीलारुणं=चाषपक्षवर्णम् । मेचकं=मर्दनाज्जनपिण्डवदीषैत्कृष्णरूक्षम् ।  
कर्बूरं=नानावर्णं, तत् स्निग्धं स्नेहद्रवधातुयोगात् । चन्द्रकोपगतं=मयूरपिच्छ-  
चन्द्रकैरिव धातुस्नेहरूपगतम् । उक्तं हि करवीराचार्येण—“चन्द्रकैः शिखि-  
पिच्छाभैर्नील-पीतादि-राजिभिः । आवृतं वेशवाराम्बु-मज्ज-क्षीरोपमं त्यजेत् ॥”  
इति । तदेव घनं धात्वन्तरव्यामिश्रत्वात् । कुणपं=श्वदुर्गन्धि । मस्तुलुङ्गमं  
मस्तुलुङ्गं=मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः घृतकोति ख्यातं, तत्सदृशम् । कुथितं=पूति ।  
तृष्णेत्यादि । तृष्णादीनां पार्श्वास्थिशूलान्तानां द्वन्द्वं कृत्वा मत्वर्थीय इनिः,  
तृष्णादियुक्तमित्यर्थः । अत्र संम्मूर्च्छां=मनोमोहः, संमोह=इन्द्रियमोह इत्य-  
पौनरुक्त्यम् । चकाराच्चरकोक्तः सहसोपरतातीसारश्चासाध्यो बोद्धव्यः ।  
पक्ववलीगुदं=पक्वा वलयो गुदे यस्य तं पक्ववलीगुदम् । असंवृतगुदं=गुदसं-  
वरणाक्षमम् । तमेव क्षीणं=बलोपचयरहितम् । दूराध्मातं=भृशमाध्मानयुक्तम्,  
तस्य विरेकसाध्यत्वेनातिसारविरुद्धोपक्रमत्वात्; दूरात्मानमिति पाठान्तरे  
दुष्टान्तःकरणम्, अजितेन्द्रियमिति जेज्जटः । उपद्रुतमतिसारोपद्रवैः=शोथादि  
भिर्युक्तम् । यदुक्तम्—“शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम् ।  
छर्दिं, मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वास्तीसारिणं त्यजेत्”—इति । गुदे पक्वे गतोष्माण-  
मिति । गुदे पाकारम्भकपित्ते वर्तमानेऽपि गतोष्माणं=शीतगात्रं, नष्टाग्निं वा ।  
अतिसारकिणम्=अतिसारयुक्तम् । “वातातीसाराभ्यां कुक् च” ( पा.  
अ. ५ पा. २. सू. १२९ )—इति कुक्, चादिनिः । विशेषेणेति वचनादाल-  
स्याप्यसाध्यत्वं बोधयति । यदाह सुश्रुतश्चिकित्सायाम्—“कृच्छ्रश्चायं  
बालवृद्धेष्वसाध्यः” ( सु. उ. तं. अ. ४० )—इति । एतच्चावलत्वे सति  
बोद्धव्यम् ॥ १४-१९ ॥

आ०—असाध्यलक्षणमाह—पक्वेत्यादि । मिषक् पक्वजाम्बवसंकाशादिपुरीषं तथा तृष्णादि-  
युक्तमतिसारिणं पुरुषं च वर्जयेदिति संबन्धः । पक्वजाम्बवसंकाशं पक्वजाम्बूपलसदृशवर्णं स्निग्ध-  
कृष्णवर्णमित्यर्थः । यदुत्पिण्डनिभं कालखण्डसदृशं कृष्णलोहितमित्यर्थः । तनु स्वच्छम् । घृतादीनां  
मांसधावनतोयान्तानामिवाभा प्रतिभासो यस्य स तथा । वेसवारो—“निरस्थि पिशितं पिष्टम्” इत्या-  
दिपरिभाषितमांसप्रकारस्तेन मिश्रमम्बु तत्सदृशम् । कृष्णमज्जनप्रख्यम् । एतच्च कृष्णादिकं पित्ताति-  
सारवर्ज्यं बोध्यम्, तत्र रूपत्वेन पठितत्वात् । नीलारुणप्रभं चाषपक्षप्रतिभासम् । मेचकं खज्जनवर्णवदी-

घट्कृष्णरूक्षम् । कर्बुरं नानाविधवर्णम् । स्निग्धं चिकणं, धातुस्नेहयोगात् । चन्द्रकोपगतं मयूरपिच्छ-  
चन्द्रकैरिव धातुस्नेहरूपगतम् । उक्तं करवीराचार्येण—“चन्द्रकैः शिखिपिच्छामैनीलपीता-  
दिराजिभिः । आवृतं वेषवाराभ्रमुज्ज्वलीरोपमं त्यजेत्” —इति । घनं घात्वययमिश्रितत्वात् । कुणपं  
श्वगन्धतुल्यगन्धमित्यर्थः । मस्तुलुङ्गामं मस्तुलुङ्गो मस्तकाभ्यन्तरगतः स्नेहः । सुगन्धं गन्धयुक्तम् ।  
कुथितं पूति, बहुमात्राधिकत्वात् । यादृशमतिसारिणं त्यजेत्तादृशमाह—  
तृष्णादीनां पार्श्वस्थिशूलान्तानां द्रव्यं कृत्वा मत्वर्थीय इनिः, तृष्णादिभिर्युक्तमित्यर्थः । अत्र सम्मू-  
च्छां मनोमोहः, पुनः संमोह इन्द्रियमोहः, अतो न पौनरुक्त्यम् । अरतिः प्रसिद्धा । पक्ववलीगुदं  
पक्वा वल्यो गुदे यस्य स तं तथा । प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम्, तादृशं त्यजेदित्यर्थः । पुनः  
क्रीदृशं त्यजेदित्याह—असंवृतगुदं गुदसंवरणाक्षमम् । क्षीणं वज्रोपचयरहितम् । दूराध्मात् भृशमा-  
ध्मानयुक्तम् । तस्य विरेकसाध्यत्वेनातिसारविरुद्धोपक्रमत्वात् । दूरात्मानमित्यन्ये, दुष्टान्तःकर-  
णादजितेन्द्रियमित्यर्थः । उग्रद्रुतम् अतीसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम् । यदाहुः—“तृष्णा दाहोऽसृचिः  
शोथः पार्श्वशूलोऽरतिर्वमिः । गुदपाकः प्रलापश्च ब्याध्मानं श्वास-क्रासकौ ॥ मूच्छां हिक्का  
मदः शूलं बहुवेगो व्वरस्तथा । एतैरुपद्रवैर्जुष्टमतिसारिणमुत्त्यजेत्” —इति । अन्यच्च—“हस्त-  
पादाङ्गुलेः संधिप्रपाको मूत्रनिग्रहः । पुरीषस्योष्णता चैव मरणायातिसारिणाम्” —इति  
गुदे पक्वे गतोष्माणमिति गुदपाकारम्भकपित्ते विद्यमानेऽपि गतोष्माणं शीतमात्रं नश्यामि चाति-  
सारिणं त्यजेत् । अत्र श्लोकद्वयं केचन पठन्ति—“श्वास-शूल-पिपासाऽऽतैः क्षीणं व्वर-  
निपीडितम् । विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥ बाले वृद्धे त्वसाध्योऽयं लिङ्गैरेतै-  
रुपद्रुतः । अपि यूनामसाध्यः स्यादिति दुष्टेषु धातुषु” —इति । एतच्च माधवासंगृहीतत्वात्  
मधुकोषकृता न स्वीकृतम् । अतीसारोपद्रवानाह—शोथमित्यादि । सुकरव्याख्यानम् ॥ १४-१९ ॥

अथ रक्तातिसारलक्षणम् ।

ननु रक्तजोऽप्यतिसारोऽस्ति तस्य सप्तमत्वापत्तेरुक्तं षट्कं विरुध्यते,  
इत्याशङ्क्य पैत्तिकस्यायमवस्थाविशेष इत्याह—

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके ।

तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥ २० ॥

म०—पित्तेत्यादि । पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वापित्तकृन्ति=पित्त-  
कारकाणि द्रव्याण्यत्यर्थं=प्रभूतमभीक्ष्णं=निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार  
उल्बणो=महानुपजायत इति संबन्धः । अत्र चारुण-कृष्ण-पाण्डु-त्वादिना  
वातादयो दूषका बोद्धव्याः । यदुक्तम्—“दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र  
लक्षयेत्” इति । एवं स्नेहाजीर्ण-विमूचिका-विषाशः—क्रिमि-प्रभृतिजन्येष्वातीसा-  
रेषु षट्कातिरिक्तत्वं प्रतिक्षिप्तं बोद्धव्यम्, अव्यभिचारितदोषलिङ्गत्वादिति  
जेज्जटः ॥ २० ॥

आ०—ननु रक्तजोऽप्यतीसारोऽस्ति तस्य सप्तमत्वप्रसङ्गादुक्त्युक्तत्वं विरुध्यत इत्याशङ्क्य  
पैत्तिकस्यायमवस्थाविशेष इत्याह—पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वा पित्तकृन्ति पित्तकारकाणि



द्रव्याणि अत्यर्थं प्रभूतमभीक्ष्णं निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार उल्बणो महानुपजायते इति सम्बन्धः ।  
अत्र चारुणकृष्णपाण्डुत्वादिना वातादयो दोषा दुष्टा बोद्धव्याः । यदुक्तम्—“दोषालिङ्गेन मतिमान्ध-  
सर्गं तत्र लक्षयेत्”—इति । एवं स्नेहाजीर्णविसूचिकाविषादः कृमिप्रभृतिजन्ये प्वप्यतीसारेषु षट्-  
कातिरिक्तत्वं प्रक्षिप्तं बोद्धव्यम्, अव्यभिचरितदोषालिङ्गत्वादिति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

अथ प्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिः । (Dysentery)

अथ द्रवसरणादामपक्वलक्षणयोगात्प्रवाहिकातीसारयोः साधर्म्यम्,  
अतोऽतीसाराधिकारे प्रवाहिकासम्प्राप्तिमाह—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।

प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः २१

( सु० उ० अ० ४० श्लो० २४ )

म०—वायुरित्यादि । अतीसारे नानाविधद्रवधातुसरणं प्रवाहिकायां तु  
कफमात्रसरणमिति भेदः । निचितं बलासमहिताशनस्य संचितं कफम्, मलाक्तं=  
पुरीषसहितं, वायुर्वातः, अधस्तान्नुदति=गुदेन पातयति । प्रवाहतः=प्रवाहणं  
कुर्वतः । भोजादौ त्वयं विसंसीति नाम्ना पठ्यते; पराशरे त्वन्तर्ग्रन्थिरिति ।  
हारीतस्तु निश्चारकाख्यामेतां पठति । यदाह—“प्रवाहिकेति सा ज्ञेया  
कैश्चिन्निश्चारकस्तु सः”—इति ॥ २१ ॥

आ०—अथ, द्रवसरणादामपक्वलक्षणयोगाच्च प्रवाहिकातिसारयोः साधर्म्यमतोऽतीसाराधिकारे  
प्रवाहिकासंप्राप्तिमाह—वायुरित्यादि । अतीसारे नानाद्रवधातुसरणं प्रवाहिकायां तु कफमात्रसरण-  
मिति भेदः । दुष्टो वायुराहिताशनस्य संचितं बलासं श्लेष्माणं मलाक्तं पुरीषसहितमधस्तान्नुदति  
गुदेन पातयति । प्रवाहमाणस्य=प्रवाहणं कुर्वतः, बलासमुपलक्षणं, तेन पित्तं रक्तं वा निचितं  
ज्ञेयम् । भोजादौ त्वयं विसंसीति नाम्ना पठ्यते, पराशरे तु अन्तर्ग्रन्थिरिति, श्रीहारीतस्तु निश्चा-  
रकाख्यां पठति, निर्वाहिकेत्येके ॥ २१ ॥

अथ सर्वासां प्रवाहिकानां पृथक् पृथक् लक्षणानि ।

तस्या वातादिभेदेन रूपमाह—

प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च ।  
सशोणिता शोणितसंभवा च ताः स्नेह-रूक्ष-प्रभवा मतास्तु ।  
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चाम-विपक्वतां च २२

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ३१ )

म०—प्रवाहिकेत्यादि । ननु वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासमित्युक्तं तत्कथं  
वातकृतेति ? उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात् । ननु तथापि पित्त-रक्त-संभवा

कुतः ? उच्यते, अहिताशनस्येत्युक्तम्, आहारो हि विरुद्धस्तस्याभवस्थायां पित्तं रक्तं च कोपयति, ते च पश्चाद्वातस्यानुवले स्वलिङ्गं यदा दर्शयतस्तदा ताभ्यां व्यपदेशः स्नेह-रूक्ष-प्रभवा इति स्नेहप्रभवा=कफजा, रूक्षप्रभवा=वातजा; तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा=पित्तजा, रक्तजा च । लिङ्गं=वातादिभेदेन लक्षणम् । क्रममाम-पक्व-भेदेन चिकित्साक्रममिति ॥ २२ ॥

आ०—तस्या वातादिभेदेन रूपमाह—प्रवाहिकेत्यादि । वातकृता सशूला भवति, पित्तजा दाहयुक्ता, कफजा कफयुक्ता, सशोणिता सरुधिरा तज्जातत्वात् । तासां हेतुमाह—स्नेहेत्यादि । स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा । तुशब्दोऽवधारणे । तेन तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा चेति । तासां चतसृणाम् अतीसारवदादिशेत्; वातादिभेदेन लिङ्गं लक्षणम्, आम-पक्वभेदेन पाचनम्, क्रमं चिकित्साक्रममित्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ मुक्तातिसारलक्षणम् ।

वाताविष्टम्भादुदावर्ताद्वा मलाप्रवृत्तावतीसारनिवृत्तिरिति शङ्कानि-  
रासार्थमतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति ।

दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥ ५३ ॥

( सु० उ० अ ४० श्लो० ३१ )

( ज्वरातीसारयोरुक्तं निदानं यत्पृथक् पृथक् ।

तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुनः ॥ १ ॥ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽतीसारनिदानं समाप्तम् ।

म०—यस्येत्यादि । उच्चारं विना यस्य मूत्रं प्रवर्तते, सम्यगिति सम्यक्प्रवृत्त्या न हीनयोगेनेत्यर्थः । वायुश्च गच्छति, गुदेनेति शेषः । स्थितो= निवृत्तिं गतः । उदरामयोऽतीसारः, प्रकरणात् । एतेन संप्राप्तिभङ्ग उक्तः । अतीसारे हि संप्राप्तिरियम्-यन्मूत्रोचितोऽपि द्रवधातुर्गुदनैव प्रवर्तते, सर्व-स्यैवाब्धातोर्गुदप्रवृत्तत्वात् । यदा तु मूत्रमार्गेण प्रवर्तते, तदाऽपि पुरीषप्रवृत्ति-समकालमिति ॥ २३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामतीसारनिदानं समाप्तम् ।

आ०—अतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—यस्येत्यादि । यस्यातीसारिण उच्चारं=पुरीषं विना मूत्रं प्रवर्तते वायुश्च गच्छतीति ' गुदेन ' इति शेषः । दीप्ताग्नेः प्रवृद्धजठरानलस्य, अतः सम्य-कंपाकात् लघुकोष्ठस्य । अतीसारप्रकरणत्वात् उदरामयोऽतीसारः । स्थितो गतः, निवृत्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाभिधायी-

मतीसारनिदानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ ग्रहणीरोगनिदानम् ।

( Indian Sprue. ) ( Duodinal Diarrhoea. )

अथ ग्रहण्याः सम्प्राप्तिः ।

द्रवसरणसाधर्म्यात्परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारानन्तरं ग्रहणी, तस्याः  
संप्राप्तिमाह—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।

भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥ १ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ३३ )

म०—अतीसार इत्यादि । अपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसार इति व्याचक्षते ।  
मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहिताशनमपि न विकारकारीति बोधयति । उक्तं हि—  
“दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्” ( सु. सू. स्था. अ. २० ) इति । भूय इति  
पुनरत्यर्थं वा, संदूषितः पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात्, अभिदूषयेत्=समन्तादूष-  
येत् । एतेन निवृत्तातीसारेणाहिताऽऽहारपरिहारः करणीयः, आवह्निबल-  
लाभादित्युक्तं भवति । अत एवाह सुश्रुतः—“तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे  
विरिक्तवत् । यावन्न प्रकृतिस्थः स्यादोषतः प्राणतस्तथा ॥” ( सु. उ. तं. अ.  
४० )—इति ॥ १ ॥

आ०—द्रवसरणसाधर्म्यात्परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारादनन्तरं ग्रहणी, तस्याः संप्राप्तिमाह—  
अतीसार इत्यादि । केयं ग्रहणी नाम ? उक्तं च सुश्रुते—“षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परि-  
कीर्तिता । पक्वमाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ”—इति । अपिशब्दादजातातीसारस्यापि  
स्वहेतोर्ग्रहणीरोगः स्यादिति बोधयति । अन्ये त्वपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसारे इति व्याचक्षते ।  
मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहितमपि न विकारकारीति बोधयन्ति । उक्तं हि—“दीप्ताग्नेः पुरुषस्यैव विरुद्धं  
वितथं भवेत्”—इति । भूय इति पुनरत्यर्थं वा दूषितः, पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात् । अभिदूष-  
येत्=समन्तादूषयेत्, एतेन निवृत्तातीसारिणाऽप्यहिताहारपरिहारः करणीय आवह्निबललाभादित्युक्तं  
भवति । अत एवाह सुश्रुतः—“तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत् । यावन्न प्रकृतिस्थः स्यादो-  
षतः प्राणतस्तथा ”—इति ॥ १ ॥

अथ संग्रहण्याः सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणम् ।

तस्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः ।

सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ २ ॥

पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्वद्धं मुहुर्द्रवम् ।

ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ४० श्लो० ३६ )

म०—एकैकश इत्यादि । मूर्च्छितैरतिवृद्धैः, 'मूर्च्छा मोह-समुच्छ्राययोः' इति धात्वर्थात् । 'उच्छ्रितैः'—इति पाठान्तरे स एवार्थः । सा ग्रहणी दोषैर्दुष्टा सती भुक्तमाहारमाभमपक्वमेव पक्वं वा विमुञ्चति । वाशब्दश्चार्थे, एवकारः समुच्चीयमानावधारणे, यथा—“नरं च नारायणमेव चोभौ स्वतःसुतौ संजनयाम्बभूवतुः”—इति । अथवा एवकारो विकल्पार्थः, निपातानामनेकार्थत्वादिति । सरुजं=सशूलं, पूति=दुर्गन्धि । वातेन मुहुर्वद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवम् । ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणीरोगः । ग्रहणी=चाग्न्यधिष्ठानं नाडी । यदाह चरकः—“अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्याग्निबलोपस्तम्भवृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः” (च. चि. स्था. अ. १५) इति । सुश्रुतेऽप्येतदुक्तम्—“षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वमाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥” (सु. उ. तं. अ. ४०)—इति । कला=धात्वाशयान्तरमर्यादा, पक्वमाशयमध्यस्था=पच्यमानाशयरूपेत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—ग्रहण्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—एकैकश इत्यादि । भिषजस्तं ग्रहणीरोगमाहुः । अत्यर्थमूर्च्छितैः=अतिवृद्धत्वं गतैः, 'मूर्च्छा—मोहसमुच्छ्राययोः' इति धात्वर्थात् । उच्छ्रितैरिति पाठान्तरे स एवार्थः । सा ग्रहणी दुष्टा सती दोषैर्भुक्तमाममेवापक्वमेव पक्वं वा बहुशः बहून्वारान्विमुञ्चति । पित्तेनापि दूष्यते तप्तजलेनेव वह्निः अतो दोषैरिति बहुवचनमुक्तम् । सरुजं सशूलं, पूति दुर्गन्धि । वातेन मुहुर्वद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवं कफेन च । ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणीरोगः । ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानं, यदाह चरकः—“अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्याग्निबलोपस्तम्भवृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः”—इति । सुश्रुतेनाप्युक्तम्—“षष्ठी पित्तधरा नाम या कला”—इति । कला धात्वाशयान्तरमर्यादा ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ ग्रहणीरोगस्य पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपमाह—

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।

विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० १९ श्लो ५२ )

म०—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा=पिपासा । विदाहोऽन्नस्य अग्निमान्द्येनाहारस्य विदग्धत्वम्, अत एव चिरात् पाकश्चान्नस्यैव । कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥ ४ ॥

आ०—ग्रहणीरोगपूर्वरूपमाह—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा पिपासा, आलस्यं शक्तावप्यनुत्साहः विदाहः अन्नस्य अग्निमान्द्येन विदग्धत्वम्, अत एव चिरात्पाकश्चान्नस्यैव, कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥ ४ ॥

अथ वातिकग्रहण्या निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

वातिकग्रहण्या निदानपूर्विका सम्प्राप्तिमाह—

कटु-तिक्त-कषायातिरूक्ष-संदुष्ट-भोजनैः ।

प्रमितानशनात्यध्व-वेगनिग्रह-मैथुनैः ॥ ५ ॥

मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ।

म०—कटुतिक्तेत्यादि । संदुष्टभोजनं=संयोगादिविरुद्धभोजनम् । संदुष्टभोजनैरित्यत्र शीतादिभोजनैरिति पाठान्तरम् । प्रमितमल्पभोजनम्, प्रमृतेति पाठान्तरे अतीतकालभोजनं बोद्धव्यम् । अनशनमुपवासः । एतैः कारणैः कुपितो मारुतः वह्निं संछाद्य=संदूष्य, गदान् करोति ॥ ५ ॥—

आ०—वातिकग्रहणानिदानमाह—कट्वित्यादि । अतिशब्दः कटु-तिक्त-कषायैः सह संबध्यते । संदुष्टभोजनं=संयोगादिविरुद्धम् । अन्ये शीतादिभोजनैरिति पठन्ति । प्रमितमल्पभोजनम् । अनशनमुपवासः । अत्यध्वा=अतिमार्गगमनम् । वेगनिग्रहः=पूत्र-पुरीषादीनाम् । एतैः कारणैः कुपितो मारुतो वायुः ग्रहणीस्थं वह्निं संछाद्य संदूष्य गदान् रोगान् कुरुते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ वातिकग्रहण्या लक्षणानि ।

कान् गदान् करोतीत्याह—

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्लपाकं खराङ्गता ॥ ६ ॥

कण्ठाऽऽस्यशोषोऽक्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।

पार्श्वोरु-वङ्गण-ग्रीवा-रुगभीक्षणं विमूचिका ॥ ७ ॥

हृत्पीडा-काश्य-दौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।

गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ८ ॥

जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।  
 स वातगुल्म-हृद्दोग-प्लीहाऽऽशङ्की च मानवः ॥ ९ ॥  
 चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्द-फेन-वत् ।  
 पुनः पुनः सृजेद्बर्चः कास-श्वासादितोऽनिलात् ॥ १० ॥

(च० चि० अ० १९ श्लो० ५८-६२)

म०-तस्यान्नमित्यादि । शुक्तपाकम्=अम्लपाकम्, एतच्चाग्निमान्द्यजनि-  
 तान्नविदाहाद्भवति । खराङ्गता=कर्कशशरीरत्वम्, वातेन त्वग्गतस्नेहशोषात् ।  
 तिमिरं=मन्ददृष्टिता । रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संवध्यते । विसूचिका=  
 ऊर्ध्वमधश्चामात्रप्रवृत्तिः । वैरस्यं=विरुद्धरसास्यता । परिकर्तिका=गुदे कर्तनव-  
 त्पीडा । गृद्धिः=काङ्क्षा, सर्वरसानां मधुरादीनां, कर्मणि षष्ठी। एतच्च वातदूषि-  
 तान्तःकरणत्वेन, व्याधिग्रहिन्ना वा । मनसः सदनमवसादः । आध्मानं जीर्णे  
 जीर्यति च “अन्ने” इति शेषः । स वातगुल्म-हृद्दोग-प्लीहाऽऽशङ्कीति वातगुल्मा-  
 दिवत्पीडायुक्तत्वात्तच्छङ्की । द्रवं शुष्कं=कदाचित् द्रवं कदाचित् शुष्कम् ।  
 तनु=अल्पमिति ॥ ६-१० ॥

आ०-वातग्रहणीपूर्वरूपत्वे यान् रोगान् कुरुते तानाह-तस्येत्यादि । शुक्तपाकम्=अम्ल-  
 पाकम् । एतच्चाग्निमान्द्यजनितान्नविदाहाद्भवति । खराङ्गता कर्कशाङ्गत्वं, वातेन त्वग्गतस्नेहशोष-  
 पात् । कण्ठा-ऽऽस्ययोः शोषः अक्षुत्=क्षुधाया अभावः, तिमिरं मन्ददृष्टिता । वङ्क्षणः  
 सक्थ्यूवोः संधिः, रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संवध्यते । विसूचिका ऊर्ध्वमधश्चा-  
 ममलप्रवृत्तिः । वैरस्यं विरसास्यता । परिकर्तिका गुदे परिकर्तनमिव पीडा । गृद्धिः=काङ्क्षा,  
 सर्वरसानां मधुरादीनां व्याधिस्त्वभावात्, वातदूषितान्तःकरणेन वा । मनसः सदनं मनोग्लानिः ।  
 आध्मानं जीर्णे जीर्यति च सति भवति, ‘अन्ने’ इति शेषः । आहारे भुक्त भोजने कृते सति  
 क्षणं स्वास्थ्यं सुखं समश्नुते स्वस्थतां प्राप्नोति । स वातगुल्महृद्दोगप्लीहाशङ्कीति वातगुल्मा-  
 दिपीडायुक्तस्तच्छङ्की । चिरात्कदाचिद् द्रवं, कदाचिच्छुष्कम्, तनु अल्पं शब्द-फेन-सहितम्  
 वातात् ईदृशं बर्चः=पुरीषं पुनःपुनः=वारंवारं श्वासकासोपद्रवपीडितः सृजेत्=सृजेत्, पुरुष  
 इति शेषः ॥ ६-१० ॥

अथ पैत्तिक-ग्रहण्या हेतवो लक्षणानि च ।

पैत्तिकग्रहण्या निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् ।

आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥ ११ ॥

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम् ।

पूत्यम्लोद्गार-हृत्-कण्ठ-दाहारुचि-तृडर्दितः ॥ १२ ॥

(च० चि० अ० १९ श्लो० ६३-६४)

म०-कट्वित्यादि । विदाहि=विदाहजनकं वंशकरीरादि । क्षारोऽपामार्गा-  
दिकृतः, तथा सक्षारं च द्रव्यं; क्षारोदकसाधितं हि व्यञ्जनमश्नन्ति कामरू-  
पादौ । आद्यग्रहणाल्लवण-तीक्ष्णोष्णानां ग्रहणं, तैर्वृद्धं पित्तमनलं आप्लावयत्=  
अभिभवत् तं हन्ति । ननु पित्तमाग्नेयमग्निरेव वा, ततश्च वृद्धिमेवाप्नोति कथं  
हन्त्यत आह—जलं तप्तमिवानलमिति । यथा उष्णगुणयुक्तमपि जलमनलं  
हन्ति, तथा द्रवांशेन परिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्त्येवेति । स पीताभः पुरुषः  
सार्यते, 'वर्चः' इत्यनुवर्तते ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०-इदानीं निदानपूर्वकं पित्तग्रहणीलक्षणमाह—कट्वित्यादि । विदाहि दाहजनकं वंश-  
करीरादि; क्षारोऽपामार्गादिकृतः, क्षारोदकसाधितं व्यञ्जनमश्नन्ति कामरूपादौ देशे, अथवा  
क्षारो यवक्षरादिः, तथा सक्षारं च द्रव्यम् । आदिशब्दाल्लवणतीक्ष्णोष्णानां ग्रहणम् । एतैः कारणै-  
रुत्त्वणं वृद्धं पित्तमनलं आप्लावयत् अभिभवत् तं वह्निं हन्ति । ननु पित्तमाग्नेयं अग्निरेव वा  
ततश्च वृद्धिमेव प्राप्नोति तत्कथं हन्तीत्याह—जलं तप्तमिवानलमिति । यथा तप्तमुष्णगुणयुक्त-  
मपि जलं वह्निं हन्ति तथा द्रवांशपरिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्ति । स पीताभः पीतवर्णः पुरुषः  
अजीर्णम् अपक्वं नीलपीताभं सार्यते वर्च इत्यनुवर्तनीयम् । पूत्यम्लोद्गारः सधूसोद्गारः ।  
हृत्कण्ठदाह इति हृदाहः कण्ठदाहश्च ॥ ११-१२ ॥

अथ श्लैष्मिक-संग्रहण्या हेतवो लक्षणानि च ।

श्लैष्मिकग्रहण्या निदानादिपूर्वकं रूपमाह—

गुर्वतिस्निग्ध-शीतादि-भोजनादतिभोजनात् ।

भुक्तमात्रस्य च स्वप्नादन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥ १३ ॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लास-च्छर्द्यरोचकाः ।

आस्योपदेह-माधुर्यं कास-ष्ठीवन-पीनसाः ॥ १४ ॥

हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।

दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥ १५ ॥

भिन्नाऽऽम-श्लेष्म-संसृष्ट-गुरु-वर्चःप्रवर्तनम् ।

अकृशस्यापि दौर्वल्यमालस्यं च कफात्मके ॥ १६ ॥

(च० चि० अ० १९ श्लो० ६५-६८)



म०—गुर्वित्यादि । आदिशब्दात् पिच्छिलमधुरादीनां ग्रहणम् । अतिभो-  
जनादतिमात्रभोजनात् । ननु, भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निमिति  
विरुद्धम् ? स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वापस्य स्वास्थ्यहेतुत्वात्; दिवा-  
स्वापश्च स्रोतःसंमीलनेन जठरानलं संधुक्षयति, अत एवाह—“ अतीसारिणा-  
मजीर्णिनां च दिवास्वापो विहितः ”—इति । उच्यते, भुक्तवतां दिवास्वापो-  
ऽत्यन्तकफवृद्ध्याऽग्निं हन्ति, अभुक्तवतां तु संधुक्षयति । यदुक्तम्—“ नरान्निरश-  
नान् कामं दिवा स्वापयेत् ”—इति । आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं  
मधुरत्वं च श्लेष्मणैव । स्त्यानं=घनद्रवाऽऽपूरितमिव । स्तिमितं=विवर्द्धं, निश्च-  
लमित्यर्थः । गुरु=जडम् । दुष्टो=विकृतः । मधुरः=मधुरत्वेनोपलक्षित  
उद्गारः । सदनमग्निसादः । स्त्रीष्वहर्षणं=स्त्रीरिंसाया अभावः । भिन्नं च तदा-  
म-श्लेष्मभ्यां संसृष्टं चेति समासार्थः । दौर्बल्यमसामर्थ्यमिति ॥ १३-१६ ॥

आ०—इदानीं सनिदानं श्लेष्मग्रहणीलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । शीतादिरित्यादिशब्दात्पि-  
च्छिलमधुरादीनां ग्रहणम् । तेषां भोजनात् अतिमात्रभोजनात् । ननु ‘भुक्तमात्रस्य च स्वप्ना-  
द्धन्त्यग्निं कुपितः कफः’ इति विरुद्धम् ? स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वप्नस्य स्वास्थ्यहेतु-  
त्वात्, दिवास्वप्नस्तु स्रोतःसंमीलनेन जठरानलं संधुक्षयति, अत एवातिसारिणामजीर्णिनां च  
दिवास्वप्नो विहित इति । उच्यते—भुक्ते च दिवास्वप्नोऽत्यन्तकफवृद्ध्याऽग्निं हन्ति, अभुक्तवतां  
तु संधुक्षयति । यदुक्तम्—“ नरान्निरशनान्कामं दिवा स्वापयेत् ”—इति । तस्य पुरुषस्यान्नं कष्टेन  
पाकं गच्छति । तस्य हृल्लासादीनि लिङ्गानि स्युः । आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं मधु-  
रत्वं च श्लेष्मणा । तथा हृदयं स्त्यानं घनद्रवापूरितमिव मन्यते । उद्गारं=जठरम्, स्तिमितं  
विवर्द्धं निश्चलं वा, गुरु गौरवयुक्तं मन्यते । दुष्टो विकृतः मधुरश्चोद्गारः । सदनमङ्गानाम्  
स्त्रीष्वहर्षणं स्त्रीरिंसाभावः । भिन्नं च तत् आमश्लेष्मभ्यां संसृष्टमिति समासः । भिन्नं=विदीर्णं  
गुरु=ईषद्वद्धवर्चस्तस्य प्रवर्तनम् । अकृशस्यापि दौर्बल्यमसामर्थ्यमित्यर्थः । कफात्मके कफग्र-  
हणीगदे ॥ १३-१६ ॥

अथ सान्निपातिक-संग्रहणीलक्षणम् ।

शिष्यहितैषितया प्रकृतिसमसमवेतत्वेन सुगमाया अपि त्रिदोषजग्रहण्या  
अतिदेशेन लक्षणमाह—

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।

त्रिदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ १७ ॥

अथ संग्रह-ग्रहणीलक्षणम् ।

(अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा ।  
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥ १ ॥  
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् ।  
पक्षान्मासादशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥ २ ॥  
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा ।  
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥  
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता ।

अथ घटीयन्त्राख्य-ग्रहणीरोगलक्षणम् ।

स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।  
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४ ॥ )

म०—पृथगित्यादि । संपूर्णश्लोकानुरोधात् ‘तेषां वक्ष्यामि भेषजम्’—इति लिखितम् । ग्रहणीदुष्ट्या ग्रहण्याश्रितवह्नेरपि दुष्टेरभिमान्यादयोऽपि ग्रहणी-विकारा उच्यन्ते । यदुक्तं चरके—“यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः । तं चापि ग्रहणीरोगं समवर्जं प्रचक्षते” (च. चि. स्था. अ. १५)—इति ॥ १७ ॥

आ०—सन्निपातग्रहणीलक्षणमाह—पृथगित्यादि । पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गानां समागमे संयोगे सति त्रिदोषग्रहणीगदं लक्षयेत् ‘भिषक्’ इति शेषः । संपूर्णश्लोकानुरोधात् “तेषां वक्ष्यामि भेषजम्” इति लिखितम् ॥ १७ ॥

अथ ग्रहण्यामाम-पक्व-दोष-परिज्ञानम् ।

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥

अथ असाध्य-ग्रहणीरोगलक्षणम् ।

लिङ्गरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।  
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तन्नू नैव निवर्तते च १९

अथ वयोभेदेन ग्रहण्याः साध्यासाध्यत्वादिविज्ञानम् ।

( बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।

वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ १ ॥ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ।

म०—यथाऽतीसारे जलनिमज्जनादिना आमं, तद्विपरीतेन निरामं ज्ञायते, तथाऽत्रापि ज्ञेयम् । यैर्लिङ्गैरतीसारगदो न सिध्येत्तैर्लिङ्गैर्ग्रहणीविकारोऽसाध्यः, अतीसारस्य यान्यसाध्यलिङ्गानि ग्रहण्या अपि तानि ॥ १८ । १९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—ग्रहण्यामाम—पक्वं—लक्षणमाह—दोषमित्यादि । सुगमम् ॥ १८ ॥ १९ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाभिधायं  
ग्रहणीरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथाऽर्शोनिदानम् । ( Piles, Haemorrhoids )

अतीसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वाद्तीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च ।

अर्शासि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये ॥ १ ॥

म०—पृथगित्यादि । अरिवत् प्राणान् शृणाति=हिनस्तीत्यर्श इति पृष्ठो-  
दरादिपाठान्निरुक्तिमाहुः । सहजानीति सह शरीरेण जातानि गुदवल्ग्वारम्भक-  
बीजभागस्य दूषितत्वात् । अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्ग-  
णितानि । उक्तं हि सुश्रुते—“ अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः ।  
संसर्गं तं विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः॥ ( सु. नि. स्था. अ. २ ) ”—इति ।  
षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादिभिर्युग्मैस्त्रयः संसर्गाः, तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय  
इति । सन्निपातजं त्वेकैकदोषजेष्वदृष्टस्यासाध्यत्वस्य योगाद्विकृतिविषमसम-  
वायारब्धमिति संख्यया पृथग्गणितम् । गुदवलित्रय इति अर्धपञ्चाङ्गुलमानं  
गुदं, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाह-  
णी-विसर्जनी-संवरणीनामिकाः, तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा  
वलिः सुश्रुतेन ( सु. नि. स्था. अ. २ ) निर्दिष्टा । भोजेनाऽप्युक्तम्—“ रोमान्तेभ्यो

यवाध्यर्थं गुदौष्ठं परिचक्षते । गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलीं विदुः ॥”  
इति सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया चेति ॥ १ ॥

आ०—अतीसारग्रहण्यर्शां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्योरनन्तरमर्श उच्यते—पृथगित्यादि ।  
अरिवत् प्राणान् हिंसन्ति इत्यर्शांसि । तानि च षट्प्रकाराणि भवन्ति । पृथग्दोषैर्वातादिभिः त्रीणि,  
समस्तैर्दोषैः एकं, शोणितेन चैकम्, एकं सहजमित्येवं षडर्शांसि । तत्र सहजानि सह शरीरेण जातानि  
गुदवल्ग्वारम्भकबीजभागस्य दोषदूषितवात्, कुलजानीत्यर्थः । अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्ध-  
त्वान्न पृथग्गणितानि । उक्तं हि सुश्रुते—“अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः । संसर्गं तं  
विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः”—इति । षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादियुग्मैश्चयः संसर्गाः,  
तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय इति । त्रिदोषजं तु विकृतिविषमसमवायारब्धत्वेनासाध्यत्वात्संख्यया  
पृथग्गणितम् । गुदवलित्रय इति अर्धपाञ्चङ्गुलमानं गुदं, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि  
व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाहणीविसर्जनीसंवरणीनामिकाः, तत्र गुदोष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलद्वय-  
प्रमाणा प्रथमा वली, द्वितीया सार्धैकाङ्गुला, तृतीयाऽपि सार्धैकाङ्गुला, एवं सार्धपाञ्चङ्गुलगुदं सुश्रुतेन  
निर्दिष्टम् । भोजेनाप्युक्तम्—“रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्थं गुदौष्ठं परिचक्षते । गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां  
वलीं विदुः”—इति । सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया तृतीया चेति ॥ १ ॥

अथार्शसां स्वरूपम् ।

संप्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह—

दोषास्त्वङ्-मांस-मेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।

मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥ २ ॥

( वा० नि० अ० ७ श्लो० २० )

म०—दोषा इत्यादि । त्वङ्-मांसग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते,  
चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात् । अपानं=गुदम्, आदिशब्देन नासिकादीनां  
ग्रहणम् । कायचिकित्सकास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वभिच्छन्ति नासादिजानां त्वधि-  
मांसत्वं, तेषु ‘पञ्चात्मा मारुतः’ इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, विष्टम्भ इत्यादि-  
पूर्वरूपस्य चासंभवात् । यदाह चरकः—“शिश्व”-इत्यारभ्य यावत् “अधि-  
मांसव्यपदेश एव” ( च. चि. स्था. अ. १४ ) इति । सुश्रुतेन तु मांसाङ्कु-  
रत्वसाधर्म्यात् शस्त्र-क्षाराग्नि-साध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्दप्रयोगः कृतः, सर्ष-  
पादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत् । सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय  
इति ॥ २ ॥

आ०—संप्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह—दोषा इत्यादि । दोषा वातादयस्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य  
अपानादौ यान् मांसाङ्कुरान् कुर्वन्ति भिषजस्तान्मांसाङ्कुरानर्शांसि जगुः कथयन्ति । त्वङ्मांस-

उग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, यस्मात् चिकित्सायां रक्तखावकरणोपदेशः । अपानं गुदम्, आदिशब्देन नासिका-श्रवण-चक्षुर्मैद्वनाभिप्रभृतयो गृह्यन्ते । एषां लक्षणानां सुश्रुते पठितानि । कायचिकित्सास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वामिच्छन्ति नासिकादिजातानां त्वधिमांसत्वं, तेषु 'पञ्चा-मा मारुतः पित्तं' इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, तथा विष्टम्भेत्यादि सर्वपूर्वरूपस्य चासंभवात् । यदाह चरकः—“शिश्नेत्यारभ्य—यावदधिमांसव्यपदेश एव”—इति । सुश्रुतेन तु मांसाङ्कुरसाधर्म्याच्छिखराग्निसाध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्दप्रयोगः कृतः, सर्षपादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत् । सुश्रुतानुवादिनो वाग्भट-स्यायमेवाभिप्रायः प्रतिभाति ॥ २ ॥

अथ वातार्शसां हेतवः ।

वातार्शसो निदानमाह—

कषाय-कटु-तिक्तानि रुक्ष-शीत-लघूनि च ।

प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३ ॥

लङ्घनं देश-कालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।

शोको वातातप-स्पर्शौ हेतुर्वातार्शसां मतः ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १२, १३ )

म०—कषायेत्यादि । प्रमितमल्पतमम्, अल्पं=मात्राहीनमशनम्, जेज्जटस्त्वाह प्रमितमतीतकालभोजनं; प्रमृतेति पाठे तु नष्टशक्तिकं धान्यादिकमाहुः । प्रमिताशनमेकरसाभ्यास इत्यन्ये । तत्रातियुक्तम्, एकरसाभ्यासः किं वात-प्रकोपकस्य कट्टादेः, कफप्रकोपकस्य मधुरादेर्वा ? नाद्यः, कट्टादेरत्रैवोपात्तत्वात्, द्वितीये मधुरादीनां त्वभ्यासो वातशामक एव, एकरसाभ्यासाच्च दौर्बल्यमुक्तं न तु वातवृद्धिरिति चिन्त्यमेतत् । तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणं, पैष्टिकादिमृदुमद्यस्य वातप्रशमकत्वात् । शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः । आतपस्योष्णगुण-स्याप्युद्भूतरौक्ष्याद्वातप्रकोपकत्वमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

आ०—अथ वातार्शोनिदानमाह—कषायेत्यादि । एतत्सर्वं वातार्शसां हेतुः कारणम् । प्रमित-मल्पतमम्, अल्पं मात्राहीनम्, अन्ये प्रमितस्थाने अतीतमिति पठन्ति । तत्रातीतकाल भोजनम् । अन्ये प्रमृताल्पाशनमिति पठन्ति । तत्र प्रमृतं नष्टशक्तिकं धान्यादिकमाहुः । तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणं पैष्ट्यादिमद्यस्य वातप्रशमकत्वात् । शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः । आतपस्योष्णगुणस्यापि उद्भूतरूक्षत्वात् वातप्रकोपकत्वेमेव । अन्यत्सुबोधम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ पैत्तिकाशोनिदानानि ।

पित्ताशोनिदानमाह—

कटु-लवणोष्णानि व्यायामाद्यातपप्रभाः ।

देश-कालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥

विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सव पानान्नभेषजम् ।  
पित्तोल्वणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ ६ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १४-१५ )

म०—कट्व्म्लेत्यादि । देशकालावशिशिराविति उष्णो देशो मरुः, उष्णः कालः शरद् ग्रीष्मश्च । असूयनं=परसंपत्तौ द्वेषः, सक्त्रोधविशेष एव । पित्तोल्वणानामित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वम्, अधिकेन तु व्यपदेश इति दर्शितं चरक्रेण । यदाह स एव—“अर्शासि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः । दोषैर्दोषविशेषास्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्” ( च. चि. स्था. अ. १४ )—इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

आ०—अथ पित्तार्शोनिदानमाह—काट्वित्यादि । कट्व्म्लेत्यादिको हेतुर्ज्ञेयः । देशकालावशिशिराविति देशो मरुदेशः, उष्णश्च कालो ग्रीष्मः शरच्च, असूयनं परसम्पत्तौ द्वेषः, स च क्रोधविशेष एव । पित्तोल्वणानामित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वम् । अधिकेन तु व्यपदेश इति दर्शितं चरक्रेण । यदाह स एव—“अर्शासि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः । दोषैर्दोषविशेषास्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्”—इति । शेषं सुगमम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

अथ कफार्शसां हेतवः ।

श्लेष्माशोनिदानमाह—

मधुर-स्निग्ध-शीतानि लवणाम्ल-गुरूणि च ।  
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्या-ऽऽसन-सुखे रतिः ॥ ७ ॥  
प्राग्वातसेवा शीतौ च देश-कालावचिन्तनम् ।  
श्लेष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ ८ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १६, १७ )

म०—मधुरेत्यादि । शय्या-ऽऽसन-सुखे रतिरिति=सुखशय्यासने रतिरासक्तिः । प्राग्वातसेवा=पुरोवातसेवनम् । अचिन्तनं=निश्चिन्तता ॥ ७ ॥ ८ ॥

आ०—अथ श्लेष्माशोनिदानमाह—मधुरेत्यादि । श्लेष्मोत्कटानामर्शसां समुत्पत्तावेतन्मधुर-स्निग्धेत्यादिकारणमुक्तम् । शय्यासनसुखे रतिस्तत्रासक्तिः । प्राग्वातसेवा पुरोवातसेवनम् । अचिन्तनं निश्चिन्तता । अन्यत्सुबोधम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

अथ द्रन्द्वाशोविज्ञानम् ।

द्रन्द्वाशोनिदानादिकमाह—

हेतु-लक्षण-संसर्गाद् विद्याद् द्रन्द्वोल्वणानि च ।

( च० चि० अ० श्लो० १८ )

म०—हेत्वित्यादि । हेतु-लक्षण-संसर्गादिति दोषद्वयस्य निदानमेलकेन लक्षणमेलकेन च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात् ॥—

आ०—दोषाणां हेतु-लक्षणैरेव द्वन्द्वोल्बणमाह—हेत्वित्यादि । दोषद्वयस्य निदानमेलके लक्षणमेलके च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात्=जानय्यात् ॥—

अथ त्रिदोषजाशोनिदानम् ।

त्रिदोषजाशोनिदानमाह—

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १९ )

म०—सर्व इत्यादि । सर्वो हेतुरिति एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति, त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि । सहजैर्लक्षणं सममिति तेषां लक्षणं सहजैर्शांभिः सह समं सदृशम् । सहजानां यल्लक्षणं तत्रिदोषजानामित्यर्थः । 'सहजैर्लक्षणैः समम्' इति पाठान्तरे तु सहजैः सहजाशोर्भवैर्लक्षणैः समं सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणामिति योज्यम् । सहजाशोर्लक्षणं चात्र संग्रहे नोक्तं तन्त्रान्तरादनुस्मर्तव्यम्, यदाह सुश्रुतः—  
“दुर्दर्शनानि परुषाऽरुण-पाण्डूनि दारुणान्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासंततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राण-शिरो-ऽक्षि-श्रवण-रोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते—  
( सु. नि. स्था. अ. २ ) ” इति । चरके च—“कानिचिदणूनि—” ( च. चि. स्था. अ. १४ ) इत्यादिना प्रभूततरं लक्षणमुक्तम् । ननु त्रिदोषजानीति विशेषाभिधानमनुपपन्नं, सर्वेषामेव रोगाणां त्रिदोषजत्वात् । यदुक्तम्—“द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः । योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रस-दोषयोः”—इति । नैवम्; 'सर्वदेहचरास्तु वात-पित्त-श्लेष्माणः' इति वचनादेकस्मिन् धात्वादौ दोषेण दूषिते सति तद्गतेतरदोषेऽप्यवश्यं भाविनी काचिद् दुष्टिः, दुष्टदोषसंबन्धात् । किंच स्वकारणादवृद्धो वायुः शैत्याच्छी-तस्य श्लेष्मणो बलमादधाति, लाघवात्तेजोरूपस्य पित्तस्य; पित्तं च कटुत्वा-द्वातस्य, द्रवत्वात् श्लेष्मणः; कफश्च शैत्याद्वायोः, द्रवत्वात् पित्तस्येति । अत एवोक्तम्—“न रोगोऽप्येकदोषजः”—इति । अनेनैवाभिप्रायेणोक्तम्—  
“एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्”—इति । यत्र तु स्वकारणात्त्रयोऽपि कुपितास्तत्र त्रिदोषव्यपदेश इति सिद्धान्तः; एवं सर्वत्र ॥ ९ ॥

आ०—त्रिदोषजमाह—सर्व इत्यादि । एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति । त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि । तेषां लक्षणं सहजैर्शांभिः सह=समं=सदृशं,



सहजानां यत्लक्षणं भवति तत्त्रिदोषजानां भवतीत्यर्थः । सहजाशौलक्षणं चात्र संग्रहं नोक्तं तन्त्रा-  
न्तरादनुसर्तव्यम् । यदाह सुश्रुतः—“ दुर्दर्शनानि परुषारुणपाण्डुराणि दारुणान्तर्मुखानि च, तैरुपद्रुतः-  
कृशोऽल्पभुक् सिरासंततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताश्च भवति । क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्ग्राणशिरो-  
ऽक्षिश्रवणरोगी संततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ”—इति सहजानां  
लक्षणम् ॥ ९ ॥

अथ वातार्शसां लक्षणानि ।

पूर्वं निदानमुक्तम्, संप्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं वाता-  
शौलक्षणमाह—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः ।

म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥ १० ॥

मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ।

बिम्बी-खर्जूर-कर्कन्धू-कापार्सी-फल-सन्निभाः ॥ ११ ॥

केचित्कदम्बपुष्पाभाः कचित्सिद्धार्थकोपमाः ।

शिरः-पार्श्वस-कट्यूरु-वङ्गणाद्यधिकव्यथाः ॥ १२ ॥

क्षवथूद्वार-विष्टम्भ-हृद्ग्रहरोचक-प्रदाः ।

कास-श्वासाग्निवैषम्य-कर्णनाद-भ्रमावहाः ॥ १३ ॥

तैरातो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ।

रुक्फेन-पिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥

कृष्ण-त्वङ्-नख-विण-मूत्र-नेत्र-वक्त्रश्च जायते ।

गुल्म-प्लीहोदराष्टीला-संभवस्तत एव च ॥ १५ ॥

( वा० नि० अ० ७ श्लो० २८-३३ )

म०—गुदेत्यादि ।—गुदाङ्कुरा गुदे अङ्कुराकारा मांसप्ररोहाः, त एव अर्शासि  
बह्वनिला=वातोल्बणाः । शुष्काः=सावरहिताः । चिमचिमा=वेदनाविशेषः ।  
म्लाना=अनुपचिताः । स्तब्धाः काठिन्यात् । विशदा=अपिच्छिलाः, धूलि-  
स्पर्शवत् । परुषाः=कर्कशाः, गोजिह्वास्पर्शवत् । खराः=कर्कोटफलवत्सूक्ष्मा-  
नेककण्टकाचिताः । एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं संबन्ध-  
नीयम् । मिथोविसदृशाः=परस्परभिन्नरूपाः । वक्रा=धनुःकाष्ठादिवत् ।  
तीक्ष्णाः=सूक्ष्माग्राः । फलसन्निभा इति बिम्ब्यादिभिः संबध्यते, बिम्ब्यादि-

सन्निभत्वं चाकृत्या ज्ञेयम् । बिम्बी=ओष्ठोपमफला, 'तेलाकुचा' इति लोके ख्याता, कार्पासी=वनकार्पासी, कदम्बपुष्पाभाः, स्थूला=अनेकसूक्ष्मशिखराः सिद्धार्थकोपमाः=सूक्ष्मपिण्डकारूपाः । हृदयं गृहीतमिवेति वेदना=हृद्ग्रहः । अथितं=ग्रन्थिलं पाषाणवत् । रुक्=शूलम् । पिच्छा=पिच्छिलो द्रवभागः । उपवेश्यते=वर्चस्त्याज्यते । कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वक्रान्तैः प्रत्येकं संवध्यते । अस्योपद्रवमाह-गुल्मेत्यादि । अष्ठीला=वातरोगविशेषः ॥ १०-१५ ॥

आ०-पूर्वं निदानमुक्तं संप्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणमाह-गुदाङ्कुराः इत्यादिः । बह्निला वातोल्बणाः । गुदाङ्कुराः गुदेऽङ्कुराः मांसप्ररोहाः अर्शासि । शुष्काः स्त्रावरहिताः । चिमचिमा वेदनाविशेषस्तेनान्विताः, सर्षपकल्कलिप्ता इवेति यावत् । म्लानाः अनुपचिताः श्यावारूपा वर्णतः । स्तब्धाः=कठिनाः कीलवत् । विशदा अपिच्छिलाः धूलीस्पृशवत् । विषमा इति पाठे विषमा निम्नोन्नताः । परुषाः कर्कशाः गोजिह्वास्पृशवत् । खराः कर्कोटकफलवत् 'सूक्ष्मानेककण्टकचिताः । एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं । संबन्धनीयम् । मिथ इति मिथोविसहशाः परस्परं विभिन्नरूपाः । वक्रा=धनुर्वत्कुटिलाः । तीक्ष्णाः=दर्भाङ्कुरवत्सूक्ष्माग्राः । विस्फुटितानना=केसरादिवदाननं येषां ते त्रिदीर्णमुखा इत्यर्थः । बिम्बादिफलवत् सदृशत्वमाकृत्या, बिम्बी ओष्ठोपमफला, कर्कन्धुः कोलवदरी, कार्पासी वनकार्पासी । केचिदिति केचित्कदम्बपुष्पाभा स्थूलाः, केचित्सिद्धार्थकोपमाः, सर्षपवत्सूक्ष्माः । शिरःप्रभृतीनामभ्यधिकव्यथा=अतिवेदना । क्ष्वथिः । क्ष्वथुः छिक्ता । विष्टम्भो मलस्याहृद्ग्रहः=हृदयं गृहीतमिवेति वेदना हृद्ग्रहः । तौरिति तैर्गुदाङ्कुरैरर्शोभिः पीडितः पुरुषः ग्रथिलं अथितं पाषाणवत्, स्तोकमल्पं, सप्रवाहिकं वातप्रवाहिकालक्षणोपेतं; रुक् शूलं, पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागस्तेनानुगतम् । इदृग्वर्चः उपवेश्यते त्याज्यते, गुदेनेति शेषः । कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वक्रान्तैः प्रत्येकं संवध्यते । अस्योपद्रवमाह-गुल्मेत्यादि । ततो वाताशोभ्य उपद्रवरूपाणामेषां सम्भव उत्पत्तिः । अष्ठीला नाभेरधोभागे पाषाणपिण्डकावद्रातरोगविशेषः ॥ १०-१५ ॥

अथ पित्तार्शसां लक्षणानि ।

पित्ताशोलक्षणमाह—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्त-पीतासित-प्रभाः ।

तन्वस्रस्त्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥ १६ ॥

शुकजिह्वा-यकृत्खण्ड-जलौकोवक्र-सन्निभाः ।

दाह-पाक-ज्वर-स्वेद-तृण-मूर्च्छा-ऽरुचि-मोहदाः ॥ १७ ॥

सोष्माणो द्रव-नीलोष्ण-पीत-रक्ताऽऽम-वर्चसः ।

यवमध्या हरित्-पीत-हारिद्र-त्वङ्-नखादयः ॥ १८ ॥

म०—पित्तोत्तरा इत्यादि । नीलमुखाः=नीलाग्राः । तनु=अघनम्, असं=रक्तं, स्रवन्तीति तन्वस्रसाविणः । विस्त्रा=आमगन्धिनः । तनवः=स्वल्पाः । मृदवः=कोमलाः । श्लथा=लम्बनशीलाः । यवमध्याः=यववन्मध्ये स्थूलाः । हरितपत्रवर्णं, पीतं=हरितालाभं, हारिद्रं=हरिद्रावर्णम्, आदिशब्दाद्विण-मूत्र-नेत्र-वक्राणां ग्रहणम् ॥ १६-१८ ॥

आ०—पैत्तिकान्याह--पित्तोत्तरा इत्यादि । पित्तोत्तराः=पित्तोल्बणा गुदाङ्कुरा ईदृशाः ज्ञेयाः । नीलमुखाः=नीलाग्राः । तनु अघनमसं रक्तं स्रवन्तीति तन्वस्रसाविणः, विस्त्राः विस्त्रागन्धिनः, तनवः स्वल्पाः, मृदवः कोमलाः । अन्ये मृदुलम्बिन इति पठन्ति, तत्र लम्बिनो लम्बनशीलाः । आकृत्या च शुक्रजिह्वा-यकृतखण्ड-जलौकोमुखसन्निभाः=सदृशाः । उपद्रवानाह--दाहेत्यादि । दाहादिमोहान्तोपद्रवदायिनः । सोष्माणः उष्णस्पर्शाः । द्रवं नीलम्, उष्णं पीतरक्तम्, आममपक्वं, वर्चः उपवेशयन्ति । यवमध्येति यववत् मध्ये स्थूलाः प्रान्ते सूक्ष्माः । हरितं हरितपत्रवर्णं, पीतं हरितालाभं, हरिद्रवर्णं तद्वत् त्वगादि येषां ते । एवमादिशब्दाच्च चक्षुर्नेत्रादयो गृह्यन्ते ॥ १६-१८ ॥

अथ कफजाशौलक्षणानि ।

श्लेष्माशौलक्षणमाह--

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ।

उत्सन्नोपचित-स्निग्ध-स्तब्ध-वृत्त-गुरु-स्थिराः ॥ १९ ॥

पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ।

करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥ २० ॥

वङ्क्षणानाहिनः पायु-वस्ति-नाभि-विकर्षिणः ।

सश्वास-कास-हृल्लास-प्रसेका-ऽरुचि-पीनसाः ॥ २१ ॥

मेह-कृच्छ्र-शिरोजाड्य-शिशिरज्वर-कारिणः ।

क्लेश्याग्निमार्दव-च्छेर्दिरामप्राय-विकारदाः ॥ २२ ॥

वसाम-सकफ-प्राय-पुरीषाः सप्रवाहिकाः ।

न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु-स्निग्ध-त्वगादयः ॥ २३ ॥

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ३७-४१ )

म०—श्लेष्मोल्बणा इत्यादि । अत्र गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते । महामूला=दूर-वास्त्ववगाहिनः । घना=निबिडावयवाः । उत्सन्ना=दैर्घ्येणोद्गताः, उपचिताः=परि-

णाहेन स्थूलाः, स्तब्धा=अनम्राः, वृत्ताः=परिणाहेन वर्तुलाः, गुरवो=गुरुद्रव्या-  
क्रान्तमिव गुदं कुर्वते, स्थिरा=अचञ्चलाः। श्लक्ष्णा=मणिवन्मसृणाः। कण्डूवाढ्याः=  
कण्डूबहुलाः, कण्डूव्यपगमार्थं स्पृश्यमानाः प्रीणयन्त्यर्शसमिति स्पर्शनप्रियाः ।  
करीरो=मरुजद्रुमः, पनसः=कण्टकिफलं, तयोरस्थ्याभाः, अथ वा करीरो=  
वंशाङ्कुरः, तेन करीराभाः, पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थः । तथा गोस्तनसन्निभाः=  
गोस्तनसदृशा इत्यर्थः । वङ्क्षणौ आनहुं=बहुमिव शीलं येषां ते तथा, गुद-  
प्रत्यासत्त्या वङ्क्षणयोः प्रेरणाद्यसामर्थ्यकारिण इत्यर्थः । पायु-वस्ति-नाभि-  
विकर्षिण इति पाय्वादिष्वाकर्षवत्पीडाकारिणः । प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा ।  
कृच्छ्रं=मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं=शिरःस्तिमितता, शिशिरज्वरकारिणः=शीत-  
ज्वरकारिणः । क्लैब्यं=स्त्रीष्वनुत्साहः, अग्निमार्दवं=बह्निमान्द्यं, छर्दिर्वमिः ।  
आमप्रायविकारदाः=आमबहुला ये रोगा अतीसारग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः । प्राय-  
स्थाने 'प्राज्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः । प्राय-प्राज्य-शब्दयोः प्रचुरार्थत्वात् ।  
वसामं च सकफं च प्राज्यं च पुरीषं येषां ते तथा । न स्रवन्ति 'क्लेद-रक्ता-  
दिकम्' इति शेषः । न भिद्यन्ते गाढ-विट्क-प्रपीडिता अपि न विदीर्यन्ते  
इति ॥ १९-२३ ॥

आ०-श्लैष्मिकान्याह-श्लेष्मोत्वणा इत्यादि । अत्रादौ गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते । महा-  
भूला दूरधात्ववगाहनाः । घना निविडावयवाः । मन्दरुजा स्वल्पपीडाः । सिताः शुक्लवर्णाः ।  
उत्सन्ना दैर्घ्येणोद्गताः । उच्छूना इति पाठे श्रयथुमन्तः । परिणाहेन स्थूलाः, स्तब्धा अनम्राः ।  
वृत्ताः परिणाहेन वर्तुलाः । गुरवः गुरुद्रव्याक्रान्तमिव गुदं कुर्वते । स्थिरा निश्चलाः । पिच्छिला  
अविशदाः । स्तिमिता=मन्दाः । श्लक्ष्णा मणिवन्मसृणाः । कण्डूवाढ्याः कण्डूबहुलाः । कण्डू-  
व्यपगमार्थमुपस्पृश्यमानाः प्रीणयन्त्यर्शसमिति स्पर्शनप्रियाः । आकृत्या तु करीरो मरुदेशोद्भवो  
द्रुमः, पनसः कण्टकिफलं, तयोरस्थिवदामाः । अथवा करीरो वंशाङ्कुरः, तेन करीराभाः,  
पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थः । तथा गोस्तनसन्निभास्तत्सदृशाः । वङ्क्षणवानाहितुमाबहुमिव शीलं येषां  
ते तथा । गुदप्रत्यासत्त्या वङ्क्षणयोः प्रेरणाद्यसामर्थ्यकारिणः । पायुवस्तिनाभिविकर्षिणः पाय्वादिषु  
आकर्षणवत् पीडाकारिणः । वस्तिः=मूत्रकोशः । उपद्रवानाह-कासेत्यादि । हृल्लासः=उपस्थित-  
वमनमिव, प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा । कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं शिरस्तिमितता, शिशिरज्वर-  
कारिणः शीतज्वरकारिणः । क्लैब्यं स्त्रीष्वनुत्साहः । आमप्रायविकारदा आमबहुला ये रोगा अतीसार-  
ग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः । प्रायस्थाने 'प्राज्य' इति पाठे स एवार्थः, प्रायप्राज्यशब्दयोः प्रचुरार्थत्वात् ।  
वसामं च सकफं प्राज्यं प्रभूतं पुरीषं येषां ते तथा । सप्रवाहिकाः=श्लैष्मिकप्रवाहयुक्ताः । न स्रवन्ति  
क्लेदरक्तादिकमिति शेषः । न भिद्यन्ते गाढविट्कनिपीडिता अपि न विदीर्यन्ते इति । पाण्डुस्निग्धास्त्व-  
गादयः, त्वङ्-नख-नयन-वदनानि यत्र पुरुषाणां भवन्ति ॥ १९-२३ ॥

अथ सान्निपातिकानां सहजार्शसां च लक्षणम् ।

सन्निपातार्शसः सहजार्शसश्च लक्षणमाह ।—

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ।

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ४२ )

म०—सर्वैरित्यादि । सर्वैर्वातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणैः सर्वात्मकानि=त्रिदोषजानि तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्यप्याहुः, तेषामपि त्रिदोषजत्वात् ॥—

आ०—सन्निपातार्शसः सहजार्शसश्च लक्षणमाह—सर्वैरित्यादि । सर्वैर्वातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणैः, सर्वात्मकानि त्रिदोषजानि, तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्याहुः, तेषामपि त्रिदोषजत्वात् ॥—

अथ रक्तार्शसां लक्षणानि ।

(Bleeding Piles)

रक्तार्शोलक्षणमाह—

रक्तोल्बणा गुदेकीलाः पित्ताऽऽकृतिसमन्विताः ॥ २४ ॥

वटप्ररोहसदृशा गुञ्जा-विद्रुम-सन्निभाः ।

तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढ-विट्क-प्रपीडिताः ॥ २५ ॥

स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।

भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणित-क्षय-संभवैः ॥ २६ ॥

हीन-वर्ण-बलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ।

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ४३-४५ )

विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १७१ )

म०—रक्तोल्बणा इत्यादि । गुदेकीलाः कीलवत् कीलाः अर्शसि, “हलदन्तात् सतम्याः संज्ञायाम्”—( पा. अ. ६ पा. ३ सू. ९ ) इत्यलुक्समासः । पित्ताकृतिसमन्विताः=पैत्तिकाशोलक्षणयुक्ताः । विद्रुमसन्निभाः=प्रवालमणिवल्लोहिता इत्यर्थः । ते गाढ-विट्क-प्रपीडिताः कठिन-पुरीष-यन्त्रिताः, दुष्टम्=आविलं रक्तमुष्णं च स्रवन्ति । तस्येति रक्तस्य, अतिप्रवृत्तितोऽतिक्षयात्, भेकाभः=प्रवृषेण्यवर्णाभ्वाभः पीतच्छविः, ‘पुरुषः’ इति शेषः । दुःखैः=रोगैः । शोणित-क्षय-संभवैरिति त्वक्पारुष्याम्ल-शीतप्रार्थना-सिराशैथिल्यैः सुश्रुतोक्तैः ।

( सु. सू. स्था. अ. १५ ) । बलम्=स्थौल्यं, उत्साहो=हर्षः । हतौजा=हत-  
शक्तिः । कलुषेन्द्रिय=आबिलचक्षुः व्याकुलसर्वेन्द्रियो वा । विट् श्यावमिति ।  
विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति, एतन्निर्देशादेव । काश्मीरास्तु चरके—“विट्  
श्यावा कठिना रूक्षा”—इत्येव पठन्ति । अधोवायुर्न वर्तते गुदेन, प्रतिलोमग-  
त्वात् ॥ २४-२७ ॥

आ०-रक्तजान्याह—रक्तोल्बणा इत्यादि । गुदेकीलाः कीलवत् कीला अर्शांसि, तेषां  
लक्षणमीदृशं—पित्ताकृतिसमन्विता पैत्तिकाशौलक्षणयुक्ताः । आकृत्या च गुञ्जा, रक्तगुञ्जा,  
विट्पुमः प्रवालमणिस्तत्सदृशलोहिताः इत्यर्थः । ते गाढविट्कप्रपीडिताः कठिनपुरीष-  
यन्त्रिताः । अतिशयेन दुष्टं रक्तमुष्णं च स्रवन्ति । सहसा अकस्मात् । तस्येति रक्तस्यातिप्रवृ-  
त्तितः प्रवर्तनाद्भेदाभः प्रावृषेण्यवर्षाभ्यामः पीतच्छविः पुरुषः । दुर्लभैः रोगैः । शोणितक्षयसंभवै-  
रिति शोणितक्षये त्वक्पारुष्याम्लशीतप्रार्थनासिराशैथिल्यैः सुश्रुतोक्तैः । बलं स्थौल्यम् । उत्साहो  
हर्षः । हतौजा हतशक्तिः, कलुषेन्द्रियो व्याकुलसर्वेन्द्रियः । अधोवायुर्न प्रवर्तते गुदेन, प्रति-  
लोमगत्वात् ॥ २४-२७ ॥

अथ रक्ताशंसि वातानुबन्धलक्षणम् ।

इदानीं तस्यैव रक्ताशंसो निदानस्य रक्तस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—

तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चामृगर्शसाम् ।

कट्यूरु-गुद-शूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥

तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।

शिथिलं श्वेत-पीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २९ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० १७३, १७२ )

म०-तन्वित्यादि । तत्रानुबन्धो वातस्येति वातादिदुष्टस्यैव रक्तस्यार-  
म्भकत्वान्नतु केवलस्य, दोषत्वाभावात् । शिथिलमित्यादिना कफानुबन्धस्य ।  
ननु, पित्तानुबन्धः कुतो नोक्त इति ? उच्यते, रक्त-पित्तयोः प्रायः समानलिङ्ग-  
त्वात् । उक्तं च पूर्वम् ‘रक्तोल्बणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः’—इति  
॥ २८-२९ ॥

आ०-इदानीमस्यैव रक्ताशोनिदानस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—तन्वित्यादि । रक्तोल्बणा-  
नामर्शसामसृग्यदीदृशं भवति—तनु अल्पं, कट्यादिषु शूलं, अधिकं च दौर्बल्यं, तत्र रक्ताशंसि-  
वातस्यानुबन्धो ज्ञायः । यदि च रूक्षणं रूक्षद्रव्यादि हेतुः कारणम् ॥ २८ ॥ २९ ॥

अथ श्लेष्मानुबन्ध-रक्तार्शौलक्षणम् ।

यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम् ।

गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।

श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥३०॥

(च० चि० अ० ९ श्लो० १७१)

आ०—श्लेष्मानुबन्धलक्षणमाह—रक्तोल्बणानामर्शसां यदि शिथिलं श्वेतपीतं च विद्  
प्रवर्तते, यदि च स्निग्धं गुरु शीतलं तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलं चासृक्प्रवर्तते, तन्तुमत्=सूत्राकारं,  
गुदमपि पिच्छिलार्द्रस्तिमितं निश्चलं भवति, तस्मिन् रक्तार्शसि श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयः ।  
गुरु स्निग्धं च तत्र कारणं हेतुः । ननु पित्तानुबन्धः कुतो नोक्तः ? उच्यते, रक्तपि-  
त्तयोः प्रायः समानलिङ्गत्वात् । पूर्वमुक्तं च—‘रक्तोल्बणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमान्विताः’ इति ॥३०॥

अथार्शसां पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।

कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविद्धता ॥ ३१ ॥

ग्रहणी-दोष-पाण्डुरतेराशङ्का चोदरस्य च ।

पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यशसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥

(च० चि० अ० ९ श्लो० २१, २२)

म०—विष्टम्भ इत्यादि । विष्टम्भोऽन्नस्येति विष्टम्भान्नस्य जीर्णतागमनम्,  
आहारो विष्टब्ध आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात् । दौर्बल्यम्=हीनशक्तिता ।  
‘विष्टम्भोऽन्नस्य’ इति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अन्नस्य दौर्बल्यम् । यद्यपि  
निदानानन्तरं पूर्वरूपं वक्तव्यं भवति, तथाऽपि निदानलक्षणानन्तरमत्र पूर्व-  
रूपं; निदानलिङ्गयोश्चिकित्साङ्गतमत्वप्रतिपादनार्थं तयोः पूर्वमभिधानम्, अथ-  
वाऽवश्यवक्तव्यानां कामचारादभिधानमिति । एवमन्यत्रापि व्यतिक्रमे द्रष्टव्यम् ।  
कुक्षेराटोपो गुडगुडाशब्द इति चक्रः, तलतल इति गुणाकरः, रुजापूर्वकः क्षोभ  
इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिलक्षणे च आटोपमाध्मानमिति विवृतवान्, एतच्च न  
सर्वत्र, गुल्मपूर्वरूपे आटोपाऽऽध्मानयोरुभयोरपि पाठात् । उद्गारबाहुल्यमधोनि-  
रुद्धस्य वायोरुर्ध्वगमनात् । सक्थिसादो=जङ्घावसादः । ग्रहणी-दोष-पाण्डुरतेः  
ग्रहणी-दोष-युक्त-पाण्डुरोगस्य उदरस्य चाशङ्का, तेषां लक्षणदर्शनात् । ‘ग्रहणी-



दोषपाण्डुर्तिः' इति पाठान्तरे ग्रहणीदोषस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्तिः पीडा स्यात् । अभिवृद्धये=उत्पत्त्यर्थमिति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

आ०--विष्टम्भोऽन्नस्येत्यादि । विष्टम्भोऽन्नस्य अजीर्णतागमनम्, आहारो वा विष्टम्भ आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात् । दौर्बल्यं=हीनशक्तिता । विष्टम्भोऽङ्गस्येति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अङ्गस्य दौर्बल्यम् । कुक्षेराटोपः गुडगुडाशब्द इति चक्रः, तल्लतल इति गुणाकरः, रजापूर्वकः श्लोम इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिरुक्षणे आटोपः=आध्मानमिति माधवः । उद्गारबाहुल्यं अधोनिरुद्धस्य वायोरूर्ध्वगतत्वात् । सक्थिसादो जङ्घावसादः, अल्पविट्कता अल्प-पुरीषत्वम् । ग्रहणीरोगपाण्डुवर्तेराशङ्केति ग्रहणीरोगयुक्तस्य पाण्डुरोगोदरस्य चाशङ्का, एतेषां लक्षणदर्शनात् । ग्रहणीरोगपाण्डुवर्तिरिति पाठान्तरे ग्रहणीरोगस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्तिः पीडा स्यादिति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

अथार्शसामुत्पत्तौ सर्वदोषप्रकोपः ।

ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात्कथं सर्वदेहे कृशत्व-कृष्णत्वादिरूपा-दुष्टिरित्यत आह-

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।

सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्रवे ॥ ३३ ॥

तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।

सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० २४, २५ )

म०- पञ्चात्मेत्यादि । पञ्चात्मा=पञ्चस्वरूपः, प्राणापानसमानोदानव्यान-भेदात्; एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यं, पित्तं ह्यालोचक-रञ्जक-साधक-पाचक-भ्राजक-भेदाद्विन्नम् । एवं कफोऽपि पञ्चात्मा, हृदयाऽऽमाशय-जिह्वा-शिरः-सन्धिषु क्रमेणावलम्बक-क्लेदक-बोधक-तर्पक-श्लेष्मक-भेदात् । यदाह गौतमः-“श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेष्मकादिस्वकर्माणा । कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम् ॥ अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः । क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनाद्रसबोधनात् ॥ बोधको रसनास्थस्तु शिरःसंस्थो-ऽक्षतर्पणात् । तर्पकः श्लेष्मकः सम्यक् श्लेष्मणात्सन्धिषु स्थितः”-इति । गुद-वलित्रयस्य च प्रकोपो विकृतत्वं, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च । गुदवलित्रये इति पाठान्तरे न युक्तं, तत्र प्राणोदानयोः सन्निधानस्याप्यभावात्, बलिदुष्टेऽप्रा-प्तेश्च । सर्व एवेति उक्तमारुतादयः एवेति । बहुव्याधिकराणीति जठराग्नि-

मान्द्याद्युपद्रवकराणि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्या-  
न्यपि ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

आ०—ननु गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात् कथं सर्वदेहे कृशत्वादिरूपा दुष्टिरित्याह—पञ्चात्मे-  
त्यादि । गुदजानां समुद्भवे संभवे एते सर्व एवोक्तस्वरूपा वातादयः प्रकुप्यन्ति । पञ्चात्मा=  
पञ्चस्वरूपः प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात् । तेषां स्थानानि—“ हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो  
नाभिसंस्थितः । उदानः कण्ठदेशे च व्यानः सर्वशरीरगः ”—इति । एवं पञ्चात्मा वायुः  
कथ्यते “ योऽनिलो वक्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् । सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चै-  
वावलम्बते ॥ कुपितः कुरुते चापि हिक्का—श्वासादिकान् गदान् । उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति  
पवनोत्तमः ॥ तेन भाषित—ऽगीतादि—विशेषश्चाभिवर्तते । ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति कुपि-  
तश्च सः ॥ आम—पक्वा—ऽऽशयचरः समानोऽग्निसहायवान् । अन्नं पचति तज्जांश्च ब्रिक्का-  
रान् प्रच्यनक्ति सः । गुल्माग्निसादातीसारान्प्रदुष्टश्च करोति सः ॥ पक्वाशयाश्रयोऽपानः  
काले कर्षति चाप्यथ । वात—मूत्र—पुरीषाणि शुक्र—गर्भा—ऽऽर्तवानि च । क्रुद्धश्च कुरुते  
रोगान् घोरान्वस्ति—गुदा—ऽऽश्रयान् । सर्वदेहसरो व्यानो रससंबन्धोद्यतः । स्वेदासृक्स्ना-  
वणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । शुक्रदोषाः  
प्रमेहाश्च व्याना—ऽपान—प्रकोपजाः । युगपत् कुपिताश्चामी देहं भिन्दुरसंशयम् ”—इति ।  
पञ्चात्मा वायुः ‘ रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षो लघुश्चलः ’—इति । एवं पञ्चात्मकत्वं पित्ते  
योज्यम्, आलोचक—रञ्जक—साधक—पाचक—भ्राजक—भेदात् ;—“ पाचकं भ्राजकं चैव रञ्ज-  
काऽऽलोचके तथा । साधकं चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ॥ स्वाशये पाचकं पित्त-  
मग्निरूपं तिलोन्मितम् । भ्राजकं कान्तिदं यत्तु लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ॥ रञ्जकं तु यकृत्प्ली-  
होस्तद्रसं शोणितं व्रजेत् । आलोचकं स्थितं नेत्रे रूपदर्शनकारि तत् ॥ साधकं हृदये तिष्ठे-  
न्मेधाप्रज्ञाकरं च तत् । पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोत्तरम् ॥ कटु—तिक्त—रसं ज्ञेयं  
विदग्धं चाम्लतां व्रजेत् ”—इति । तेषां स्थानानि आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृत्प्लीहोः,  
साधकं हृदि, पाचकं पक्वा—ऽऽमा—ऽऽशययोर्मध्ये, भ्राजकं त्वचि । एवं कफोऽपि पञ्चात्मा,  
अवलम्बक—क्लेदक—बोधक—तर्पक—श्लेष्मक—भेदात् । तेषां स्थानानि । यदाह गौतमः—“ श्लेष्मा  
पञ्चविधस्तत्र त्रिकसंस्थः स्ववीर्यतः । हृदयस्थः स्ववीर्याच्च तत एवाम्बुकर्मणा ॥ कफधाम्ना-  
मशेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् । अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः ॥ क्लेदकः  
सोऽन्नसंवातक्लेदनाद्रसबोधनात् । बोधको रसनास्थस्तु शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् ॥ तर्पकः श्लेष्मकः  
संधेः श्लेषणात्संधिसंस्थितः । उरःकण्ठः शिरः संधिपर्वाण्यामाशयोरसः ॥ भेदो घ्राणं च जिह्वा  
च कफस्थानमुरो भृशम् ”—इति । एवं दोषत्रयाणां पञ्चात्मकत्वं सिद्धम् । पञ्चात्मानो  
दोषास्त्रयः गुदवलित्रये च गुदजानां समुद्भवे सर्व एव प्रकुप्यन्ति, गुदवलित्रयस्य प्रकोपो  
विकृतत्वं प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वम् । अन्ये तु गुदवलित्रय इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च—  
सर्वे दोषा गुदवलित्रये कुप्यन्ति । तन्नातियुक्तम्, प्राणोदानयोस्तत्रासन्निधानात् । अन्ये  
व्याख्यानयन्ति—गुदवलित्रये गुदजानां समुद्भवे=उत्पत्तौ सत्यां सर्व एव दोषाः प्रकुप्य-  
न्तीति । तस्मादर्शासि दुःखप्रदानि बहुव्याधिकराणि जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि । अतः  
सर्वशरीरतापीनि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि । सुश्रुतस्तु—“ सर्वाः

स्युर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः । ताभिस्तु प्रहितो वायुरपानः सन्निवर्तते ॥ ततो व्यानेन संगम्य ज्योतिर्गृह्णाति देहिनाम् ”-इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

अथ सुखसाध्यार्शसां लक्षणानि ।

उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिकमाह--

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।

अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ ३५ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० ३१ )

म०-बाह्यायामित्यादि । न चिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि ॥ ३५ ॥

आ०-सुखसाध्यान्याह-बाह्यायामित्यादि । न चिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि ॥ ३५ ॥

अथ कृच्छ्रसाध्यार्शसां लक्षणानि ।

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।

कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३६ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० २८ )

म०-परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि तथा । यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्बणानि तानि कृच्छ्राणि त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्, एवं द्वितीयायामेकदोषोल्बणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्बणानि याप्यानि ॥ ३६ ॥

आ०-कृच्छ्रसाध्यान्याह-द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्यर्शांसि कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः । परिसंवत्सराणि च परिभूतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि कृच्छ्रसाध्यानि याप्यानीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अथासाध्यार्शोलक्षणानि ।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।

जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० २९ )

म०-त्रिदोषोल्बणान्यसाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्बणानि याप्यानि शेषाण्यसाध्यानि । यद्याप्यं प्रत्यारूप्यं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसा-

ध्यमेव, यदुक्तं चरक्रेण,—“नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्य-  
ताम्” ( च. नि.स्था. अ. ८ )—इति ॥ ३७ ॥

आ०—असाध्यान्याह—सहजानित्यादि। यानि सहजानि तान्यसाध्यानि, तथा त्रिदोषजा-  
न्युत्तरकालजान्यपि, यान्यभ्यन्तरं वलिं संश्रित्य जायन्त इत्यन्वयः। तत्रापि विशेषः कथ्यते—  
यानि बाह्यबलिजातानि द्विदोषोल्बणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषाणि याप्यानीत्युक्तम्; एवं द्वितीयायामे-  
कदोषोल्बणानि कृच्छ्राणि त्रिदोषोल्बणानि असाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्बणानि याप्यानि  
शेषाण्यसाध्यानि ॥ ३७ ॥

अथ असाध्येष्वपि याप्य-प्रत्याख्येयभेदः ।

असाध्यो हि द्विविधो याप्य-प्रत्याख्येय-भेदात्, तत्र यद्यायुःशेषोऽस्ति  
चतुष्पादसंपत्तिश्च तदा याप्यत्वमन्यथा प्रत्याख्येयत्वमित्याह—

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।

याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३८ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० ३० )

म०—शेषत्वादित्यादि। चतुष्पादसमन्विते ‘अशोऽरोगिणि’ इति शेषः । सम-  
न्वित इति भावे क्तः, तेन चतुष्पादसमन्वये सतीति चक्रः ॥ ३८ ॥

आ०—असाध्यस्य याप्यप्रत्याख्येयभेदेन द्वैविध्यमाह—शेषत्वादित्यादि। यद्यायुषः शेषोऽस्ति  
तदा चतुष्पादसमन्विते तान्यर्शांसि याप्यन्ते ‘रोगिणम्’ इति शेषः। कीदृशे रोगिणि ? दीप्त-  
कायाम्नौ, पुनः कीदृशे ? चतुष्पादसमन्विते । अतोऽन्यथा विपरीतानि प्रत्याख्येयानि  
असाध्यानि । पादचतुष्टयं यथा—रोगी भिषक् परिचारक औषधं च । यदा रोगी भिषग्वा-  
क्यकृदाढ्यो जितेन्द्रियः, वैद्यः शास्त्रे कर्मणि कुशलो निर्लेभः सत्यधर्मपरश्च, परिचारक  
आप्तः कुलीनोऽनलसः आतुरच्छन्दानुवर्ती च, औषधं नवं रसवीर्यादिसंपन्नं च । तदुक्तम्—  
“वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः । एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥  
तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती । लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥  
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः । सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥  
आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि । उच्यते व्याधितः पादो वैद्यवाक्यकृदास्तिकः ॥  
प्रशस्तेदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् । अल्पमात्रं महावीर्यं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्ला-  
निकरमविकारि विपर्यये । समीक्ष्य काले दत्तं च भेषजं पाद उच्यते ॥ स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान्  
युक्तो व्याधितरक्षणे । वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः”—इति । एषा चतुष्पादसंपत्तिः ।  
सा चायुषः शेषत्वाद् घटते ॥ ३८ ॥

अथैषामुपद्रवादसाध्यत्वम् ।

उपद्रवादसाध्यत्वमाह—

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।

शोथो हृत्-पार्श्व-शूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ ३९ ॥

हृत्-पार्श्व-शूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः ।

तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ ४० ॥

तृष्णा-ऽरोचक-शूला-ऽऽर्तमतिप्रसृतशोणितम् ।

शोथा-ऽतिसार-संयुक्तमर्शासि क्षपयन्ति हि ॥ ४१ ॥

( च० चि० अ० ९ श्लो० २६-२८ )

म०-हस्त इत्यादि । हस्तपादादिशोथो लिखितोऽसाध्यलक्षणम् । अत्र हृत्पार्श्वशूलसंमोहादि व्यस्तं समस्तं वा ॥ ३९-४१ ॥

आ०-अथोपद्रवादसाध्यत्वमाह-हस्त इत्यादि । यस्य हस्तपादादिषु श्वयथुः स्यात् हृत्पार्श्व-शूलं च स अर्शसोऽशोरीरोगी असाध्यः । असाध्यस्य लक्षणमाह-हृदि-इत्यादि । हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्च; तथा हृत्पार्श्वदि समस्तं व्यस्तं च, अङ्गस्य रुक्=पीडा, गुद-मुष्कयोः पाकश्च, गुदजानि=अर्शासि, तं नरं घ्नन्तीत्यर्थः । रक्ताशोऽसाध्यत्वमाह-तृष्णेत्यादि । अतिप्रसृतशोणितं तृष्णारोचकाद्युपद्रवयुक्तं पुरुषमर्शासि क्षपयन्ति=नाशयन्ति, हि पाद-धूरणे ॥ ३९-४१ ॥

अथ मेढ्रादीनां लक्षणम् ।

अथ मेढ्रादीनां स्वरूपमाह-

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं; नाभिजानि च ।

गण्डूपदाऽऽस्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥ ४२ ॥

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ५६ )

म०-मेढ्रादिष्वित्यादि । मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वमित्यन्तेन छेदः । तेन नासाशं इत्यादिव्यपदेशः । गण्डूपदास्यरूपाणि=किञ्चुलिकमुखसदृशानि ॥ ४२

आ०-स्थानान्तरेष्वन्यान्यप्यर्शास्याह-मेढ्रादिष्वित्यादि । मांसाङ्कुरत्वादेवामर्शसां व्यपदेशः, सर्षपादिषु स्नेहेषु तैलव्यपदेशवत् । मेढ्रः=शेफः, आदिशब्दाच्चक्षुर्नासादीनि । यथास्वं=यथास्थानम्; नाभिजानि तु गण्डूपदास्यरूपाणि=किञ्चुलिकमुखसदृशानि आकृत्येत्यर्थः । तानि पिच्छिलानि मृदूनि च भवन्ति ॥ ४२ ॥

अथ चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिः ।

चर्मकीलसंप्राप्तिमाह-

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।

कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥ ४३ ॥

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ५७ )

म०—व्यान इत्यादि । व्यानो वायुः, एतच्च गुदौष्ठदेश एव नान्यत्रेति कार्तिककुण्डादयः ॥ ४३ ॥

आ०—चर्मकीलसंप्राप्तिमाह—व्यान इत्यादि । व्यानो वायुः, कफं गृहीत्वा=संगृह्य, त्वचो, वहिः कीलसदृशमर्शः कुर्यात्, स्थिरं=निश्चलं; त चर्मकीलं प्राहुः । त्वचो बहिरिति गुदौष्ठं परित्यज्येत्यर्थः, तत्र त्वर्शसामेव संभवत्वात् । एतच्च गुदौष्ठदेश एव नान्यत्रेति कार्तिककुण्डादयः ॥ ४३ ॥

अथ वातादिभेदेन तल्लक्षणम् ।

तस्यैव वातादिभेदेन लक्षणमाह—

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।

श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥ ४४ ॥

( अर्शसां प्रशमे चित्तमाशु कुर्वीत बुद्धिमान् ।

तान्याशु हि गुदं बद्धा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥ ४५ ॥ )

( वा० नि० अ० ७ श्लो० ५८, ५९ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽशोनिदानं समाप्तम् ।

म०—वातेनेत्यादि । सवर्णता=गात्रसवर्णता ॥ ४४ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामशोनिदानं समाप्तम् ।

आ०—तस्यैव वातादिलक्षणमाह—वातेनेत्यादि । वातेन तोदः=पोडाविशेषः, पारुष्यं=परुषता; पित्तात् असितं=किञ्चित्कृष्णं वक्त्रं च; श्लेष्मणा स्निग्धता, ग्रन्थिसादृश्यं, सवर्णता=गात्रसमानवर्णता । दोषाः प्रकुपिता मेढूमांस-शोणिते प्रदूष्य कण्डूः कुर्वन्ति, ततः कण्डूयतां क्षतम् । “तस्मिन् क्षते प्ररोहाः स्युर्मांसजा रुधिरस्रवाः । विनाशयन्ति शोफं ते व्रन्ति पुंस्त्वं च सत्वरम्”—इति । शोफो=मेढू, पुंस्त्वं=शुक्रम् । “तथा योनौ च ते दुष्टा गण्डूपदमुखाकृतीन् । दुर्गन्धान्सुकुमारांश्च पिच्छिलान् जनयन्ति हि”—इति । मांसाङ्कुरा-निति शेषः । चकाराद्योनेरार्तत्वं च व्रन्ति । “तैरेवोर्ध्वगतैर्दोषैः कर्णजार्शस्तु जायते । बाधिर्यं शूलमत्युग्रं सततं कर्णपूतिता ॥ नेत्रजेषु जलस्रावो वेदना चाप्यदर्शनम् । अश्रूणां जायते वर्त्माऽवरोधोऽर्शस्तु संततम् ॥ घ्राणजेषु प्रतिश्यायः कृच्छ्रोद्धासः शिरोव्यथा । क्षवथु पूतिवक्त्रं च वाक्यं स्यादनुनासिकम् ॥ मुखार्शस्तु च कण्ठौष्ठतालुमध्यैकजन्मसु । स्याद्धि गद्गदवाक्यत्व रसाज्ञानं मुखामयाः—” इति ॥ ४४ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे रुग्निनिश्चयव्याख्यायामशोनिदानम् ॥ ५ ॥

अथाग्निमान्द्याजीर्ण-विसूचिका-ऽलसक-विलम्बिका-निदानम् ।

अथ मन्दाग्निनिदानम् ।

(Dyspepsia, or Loss of Appetite)

अर्शःकार्यत्वादग्निमान्द्यादीनां तान्याह-

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।

कफ-पित्तानिलाऽऽधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥ १ ॥

म०-मन्द इत्यादि । मन्दस्य दुर्जयत्वात्प्रागभिधानम् । कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम् । तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात् । समोऽविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः । एतस्याविकारस्यापि विकारप्रस्तावेऽभिधानं प्रकृतिज्ञानानन्तरीयकं विकृतिज्ञानमिति बोधनार्थम् । जाठर इति धात्वग्निभूताग्न्यवच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

आ०-अर्शोभ्योऽग्निमान्द्यस्य संभवस्ततोऽर्शोनन्तरमग्निमान्द्यादिजान् रोगानाह-मन्द इत्यादि । अनलो वह्निश्चतुर्विधो भवति-मन्दः-तीक्ष्णो, विषमः, समश्चेति । मन्दस्य दुर्जयत्वात्प्राक् कथनम् । कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम् । तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात् । समः अविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः । जाठर इति धात्वग्निव्यवच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

अथ समाग्न्यादीनां लक्षणानि ।

प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां रूपमाह-

विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।

करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकाराच्च कफसंभवान् ॥ २ ॥

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ।

स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ ३ ॥

कदाचित्पच्यते सम्बद्धकदाचिन्न विपच्यते ।

मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते ।

तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्; समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥



म०-विषम इत्यादि । वातजान् रोगानिति वातनानात्मजानामशी-  
तेरन्यतमान्, सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्, एवं पित्तनानात्मजानामो-  
षचोषादीनां चत्वारिंशतेऽन्यतमान्, एवं कफनानात्मजानां विंशतेरालस्या-  
दीनामन्यतमान् । एते च विकाराश्वरके महारोगाध्याये ( च. सू. स्था. अ.  
२० ) एव द्रष्टव्याः । समेत्यादि । समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग्यस्य  
विपच्यते स समाग्निः । तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यादिति छेदः । मात्राऽतिमात्रे-  
त्युपलक्षणम्, तेनाजीर्णगुरुभोजनादिकमपि लक्षणीयम् । यदुक्तमन्यत्र-  
“अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्रतः । दिवाऽपि स्वदतो यस्य पच्यते  
सोऽग्निरुत्तमः”-इति । तीक्ष्णग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः, अत्यन्ततीक्ष्णा-  
ग्निरेव भस्मक इत्युच्यते । यदुक्तं चरके-“नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारु-  
तानुगम् । स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥ तदा लब्धबलो  
देहं विरुजेत् सानिलोऽनलः । अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥  
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि । ततो दौर्बल्यमात-  
ङ्कान् मृत्युं चोपानयेन्नरम् ॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।  
तृड्-कास-दाह-मूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः ॥ ( च. चि. स्था. अ.  
१५ )”-इति ॥ २-४ ॥

आ०-तेषां स्वरूपमाह-विषम इत्यादि । विषमोऽग्निर्वातजान् रोगानिति वातनाना-  
त्मजान् अशितेरन्यतमान् सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्; तीक्ष्णोऽग्निरिव पित्तजानिति  
पित्तजानामोष-चोषादीनां चत्वारिंशतेरन्यतमान्; एवं मन्दोऽग्निः कफजानां विंशते-  
रालस्यादीनामन्यतमान्; एते च रोगाश्वरके महारोगाध्याये द्रष्टव्याः । तेषां लक्षणमाह-समेत्यादि ।  
समा उचिता मात्रा अशिता उपयुक्ता सती सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः । मन्दोऽग्निः  
मन्दबलः पुरुषस्य स्वल्पाऽपि मात्रा अशिता सम्यङ् नैव विपच्यते । विषमाग्नेस्तु पुरुषस्य  
कदाचित्सम्यक् पाक गच्छति कदाचिन्न गच्छति, वायोर्विषमगतिस्त्वात् । तीक्ष्णाग्निरिति  
तं विद्यादिति छेदः । मात्राऽतिमात्रेत्युपलक्षणम्, तेनातिमात्रमजीर्णभोजनादिकमपि सुखं  
यस्य विपाकं गच्छति तं तीक्ष्णाग्निरिति जानीयात् । तदुक्तं तन्त्रान्तरे-“अतिमात्रमजीर्णे-  
ऽपि गुरु चान्नं तथाऽश्रतः । दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः”-इति । तीक्ष्ण-  
ग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः, अत्यन्ततीक्ष्णाग्निरेव हि भस्मक उच्यते । यदुक्तं चरके-“नरे क्षीणकफे  
पित्तं कुपितं मारुतानुगम् । स्वोष्मणा पाचकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥ तदा लब्धबलो देहं  
विरुक्षः सानिलोऽनलः । अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥ पक्त्वाऽन्नं च ततो धातू-  
ञ्छोणितादीन् पचत्यपि । ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपानयेन्नरम् ॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं-  
जीर्णमात्रे प्रताम्यति । तृड्दाहकासमूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्याग्निसंभवाः”-इति । तेषु मध्ये समा-  
ग्निरुत्तमः ॥ २-४ ॥

## अथाजीर्णनिदानम् ।

अग्निमान्वाजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफ-पित्ता-ऽनिलैस्त्रिभिः ।

अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थ रसशेषतः ॥ ५ ॥

अजीर्ण पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ।

वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ ६ ॥

म०—आममित्यादि । त्रिभिरिति कफादिभिरैकैकशो यथासंख्येन । रस-  
शेषत इति रसाय शेषो रसशेषः, प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी, यथा—यूपाय दारु  
यूपदारु; अथवा रसशब्देन रसवानाहारोऽभिप्रेतो लक्षणया, तेन रसशब्देन रस-  
वानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरिणतिलक्षणो रसशेष इति जेज्जटः । ननु  
यद्येवं तदा आम-विदग्ध-विष्टब्धानामन्यतरूपस्यावश्यंभावित्वान्न तेभ्यो भेदः;  
किंच तल्लिङ्गैरम्लोद्वारादिभिर्भवितव्यं, तथा च सत्युद्गारशुद्धे रसशेषाजीर्णलक्ष-  
णस्यानुदयप्रसङ्गः । उक्तं हि सुश्रुते—“उद्गारशुद्धावपि भक्ताङ्क्षा न-  
जायते हृद्गुरुता च यस्य । रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत्प्रवदन्त्यजीर्णम्”  
इति (सु. सू. स्था. अ. ४६) । आरोग्यमञ्जरी नागार्जुनोऽप्याह—  
“उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु  
रुजा कृत्वा शिरोगौरवम् । मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनर्हृत्लास-  
ज्वर-मूर्च्छनादि च भवेत्सर्वामयक्षोभणम्” —इति । नैवम् अवश्यंभाविविद-  
ग्धादिरूपस्याप्याहारशेषस्यात्यल्पत्वेन न तदनुरञ्जितोद्गारोदयप्रसङ्गः, अकाल-  
बुभुक्षायामिव । यदाह सुश्रुतः—स्वरूपं यदा दोषविवद्धमामं लीनं न तेजः पथ-  
मावृणोति । भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति (सु. सू.  
स्था. अ. ४६) —इति । तन्त्रान्तरेऽप्याहारापाकज-रसशेष-लक्षणमुक्तम्—  
“आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषमथापि च । चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरि-  
पाकतः” —इति । गदाधरस्त्वाह—रसे शेषो रसशेषः, आहारजनिते रसे  
शेष आहारावयवोऽनुप्रविष्टोऽलक्ष्यमाणः क्षीरे नीरमिव रसशेषः । ननु, आमा-  
जीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते, आमादित्रयमन्नजं, रसशेषस्त्वाहा-  
ररसजः; वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृतः, अल्पत्वाद्वातादिलिङ्गानां; हेतु-लक्षण-  
चिकित्सा-भेदाच्चास्य भेद इति । अजीर्णमिति तद्विरोधे नञ्, जीर्णं=पक्वं  
तद्विरुद्धमजीर्णं; यथा—असितम् । सर्वमजीर्णं त्रिदोषजम्, एकदोषव्यपदेशस्तू-

त्कटकदोषलिङ्गत्वेनोक्त इति व्याख्यानयन्ति; यतस्त्रैदोषिकमेवाजीर्णकारणमुक्तम्—अत्यम्बुपानात्' इत्यादि । अजीर्णादपि दोषत्रयकोपो भवति । यदुक्तं सुश्रुते—“अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् । (सु.सू. स्था.अ.४६)” इति । अजीर्णं पञ्चमं केचिदित्यादि । निर्दोषमाध्मानादिदुष्टेरकारकम् । दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहारः पच्यत इत्युत्सर्गः, यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि । कालव्यतिक्रमेण पच्यमानमप्याध्मानादिकं न करोतीति पूर्वभ्यो भेदः । एतदभिधानस्य तु प्रयोजनं पाककालप्रतीक्षणं, नैशाजीर्णे भोजननिषेधात् । प्राकृतं प्रतिवासरमिति प्राकृतमवैकारिकं, प्रतिवासरं प्रतिदिनं क्रियमाणम् । अयमभिसन्धिः—अद्यैव भुक्तमन्नं किं जीर्णमजीर्णं वा? न तावज्जीर्णं, क्षुत्पिपासा-मलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुदयात्; तस्मादजीर्णं तच्चाध्मानादिकं न करोतीति पूर्वभ्यो भिन्नम् । तस्य चाभिधानप्रयोजनं पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा । उक्तं हि सुश्रुते—“भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् । शब्द-रूप-रस-स्पर्श-गन्धाश्च मनसः प्रियान् ॥ भुक्तवानुपसेवेत् तेनान्नं साधु तिष्ठति” ( सु. सू. स्था. अ. ४६ )—इति । न चात्राहारस्य निषेधः, तस्य शास्त्रेण विहितत्वात् । चरके तु—“तस्य लिङ्गमजीर्णस्य”—इत्यादिना “धोरमन्नविषं च”—इत्यन्तेनान्नविषाख्यमजीर्णं पठितम्; तच्च पित्तोदिसंसृष्टरसशेषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते; तेन रसशेष एव तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

आ०—अग्निमान्वाजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—आममित्यादि । आहारस्यैव अपक्व उद्धरितो रसो रसशेषस्ततः । नन्वामोर्जीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते—आमादित्रयमन्नजम्, रसशेषस्त्वाहाररसजः, वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृतः, अल्पत्वाद्वातादिलिङ्गानाम् । मतान्तरमाह—अजीर्णमित्यादि । अजीर्णं पञ्चममिति निर्दोषमाध्मानादिदुष्टेरकारकं, दिनपाकि चेति अहोरात्रेणाहारः पच्यते इति सामान्यम्, यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरस्मिन् दिने पच्यते तद्दिनपाकि, कालव्यतिक्रमेणाहारः पच्यमानोऽप्याध्मानादिकं न करोतीति पूर्वभ्यो भेदः । एतदभिधानस्य तु प्रयोजनं पाककालप्रतीक्षणम्, निशाजीर्णे भोजननिषेधात् । अन्ये षष्ठमाहुः—प्राकृतमवैकारिकं, प्रतिवासरं प्रतिदिनं क्रियमाणम् । अयमभिसन्धिः—अद्यैव भुक्तमन्नं किं जीर्णमजीर्णं वा ? न तावज्जीर्णं क्षुत्पिपासामलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुत्पादनात्, तस्मादजीर्णम् । तच्चाध्मानादिकं न करोति परं प्रकृतत्वादवैकारित्वमस्येति पूर्वभ्यो भिन्नम् । तस्य चाभिधानप्रयोजनं पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा । उक्तं हि सुश्रुते—“भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् । शब्दरूपरसस्पर्शगन्धादीन् मनसः प्रियान् ॥ भुक्तवानुपसेवेत् तेनान्नं साधु तिष्ठति—” इति । न चात्राहारस्य निषेधः, तस्य शास्त्रे विहितत्वात् ॥ ५ ॥ ६ ॥

अथाजीर्ण-निदानानि ।

अजीर्णकारणमाह—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।  
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापिभुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥ ७ ॥  
ईर्ष्या-भय-क्रोध-परिप्लुतेन लुब्धेन रुग्-दैन्य-निपीडितेन ।  
प्रद्वेष-युक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ ८ ॥

( सु० सू० अ० ४६ श्लो० २३९ )

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।

चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दुःख-शय्या-प्रजागरैः ॥ ९ ॥

म०—अत्यम्बुपानादित्यादि । संधारणादिति वेगानाम् । स्वप्नविपर्ययात्  
दिवास्वप्नादेः । लघु चापीत्यपिशब्देन स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि बोध्यम् ।  
केचित् 'ईर्ष्या-भय-क्रोध-परिप्लुतेन'-इत्यादि श्लोकं पठन्ति; स च मानस-दो-  
षाजीर्णविषयो बोद्धव्य इति ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—अजीर्णस्य कारणमाह—अत्यम्बुपानादि । विषमाशनं 'बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं  
विषमाशनम्—' इति । क्षुत्तृड्-वात-पुरीषादि-वेगानां संधारणं, रात्रिजागरणं दिवास्वापः  
स्वप्नविपर्ययः । कायिकं कारणमभिधाय मानसं रजस्तमोदोषकारणमाह—ईर्ष्येत्यादि ।  
ईर्ष्या=परसंपत्तेरसहिष्णुता, भयं=परस्मात्त्रासः, क्रोधः=परमिद्वेदोद्वेगः, तैः परिप्लुतेन=  
ईर्ष्यादिभिः परिभूतेन, लुब्धेन=लोभसहितेन, रुग्दैन्यनिपीडितेन=शोकदैन्यव्याप्तेन, दैन्यं  
निर्गतिव्यं, प्रद्वेषो=मात्सर्यमिति ॥ ७-९ ॥

अथाऽऽमाजीर्णलक्षणानि ।

उद्दिष्टानामाजीर्णादीनां लक्षणमाह—

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः ।

उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥

म०—तत्रेत्यादि । तत्रेति तेषु मध्ये । गण्डः=कपोलः, अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलकः,  
तद्रतः शोथो भवति प्रभावात् । उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः ।  
अविदग्धोऽनम्लः, द्वितीयपाके ह्याहारस्याम्लता दर्शिता ॥ १० ॥

आ०—उद्दिष्टानामाजीर्णानां लक्षणमाह—तत्रेत्यादि । तत्र तेषु मध्ये आमे अजीर्णे गुरुतादि-  
चिह्नं भवति । गुरुता=उद्गाराङ्गयोगैरवम् । उत्क्लेदः=उपस्थितवमनत्वमिव । गण्डः=कपोलः,

[अग्निमान्वादिनिदानम्] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( १४१ )

अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलेकः, तद्गतः शोथो भवति तत्प्रभावात् । उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः ।  
अविदग्धोऽनम्लः । एतस्य लक्षणं सुश्रुते उक्तम्—“माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञम्—इति । तदेतत्  
कफदूषितान्नस्वभावकथनमात्रम् । कफकार्याणि गौरव-कण्डू-प्रभृतीनि द्रष्टव्यानि ॥ १० ॥

अथ विदग्धाजीर्णलक्षणानि ।

विदग्धे भ्रम-तृण-मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः ।

उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥

म०—विदग्ध इत्यादि । पित्ताच्च विविधा रुज इति ओष-चोषादयः ।  
सधूमाम्ल इति धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च ॥ ११ ॥

आ०—विदग्धलक्षणमाह—विदग्धं किञ्चिद्विषकं अम्लभावगतम् । उक्तं च सुश्रुते—“वि-  
दग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्—” इति । धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च ॥ ११ ॥

अथ विष्टब्धाजीर्णलक्षणम् ।

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः ।

मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥

म०—विष्टब्ध इत्यादि । विविधा वातवेदना तोद-भेदादिरूपा । अङ्गपीडनं=  
सामवातवेदनादि ॥ १२ ॥

आ०—विष्टब्धलक्षणमाह—विष्टब्ध इत्यादि । आनद्धवातं विष्टब्धं कथ्यते । उक्तं च  
सुश्रुते—“किञ्चिद्विषकं भृशतोदशूलं विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम्—” इति । तत्र तेषु मध्ये विष्टब्ध-  
ऽजीर्णे विविधवातवेदनास्तोदभेदादिरूपाः । ग्लानि-गौरव-विष्टम्भ-भ्रम-मारुतमूढताः । विबन्ध-  
श्चाप्रवृत्तिश्च सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥ १२ ॥

अथ रसशेषाजीर्णलक्षणम् ।

( रसशेषेऽन्नविद्रेषो हृदयाशुद्धि-गौरवे ।

यावत् सन्तिष्ठते ह्यस्य दुष्टोऽन्नस्य रसो हृदि ।

तावन्मर्माणि भिद्यन्ते विषं पीतवतो यथा ॥ )

अथाजीर्णोपद्रवाः ।

उपद्रवानाह—

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।

उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ १३ ॥

( सु० सू० अ० ४६ श्लो० २३९ )

म०—मूर्च्छेत्यादि । अतिप्रवृद्धाजीर्णे तु मरणमपि ॥ १३ ॥

आ०—अजीर्णस्योपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि । मूर्च्छा=चेतनाच्युतिः, प्रलापोऽसंबद्धभाषणम्, वमथुः=छर्दिः, सदनमङ्गलानिः, अन्ये तु स्फुटनमिवाङ्गानामिति वदन्ति ॥ १३ ॥

अथाजीर्णोत्पत्तौ कारणम् ।

उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य विशेषकारणत्वमाह—

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ।

रोगानीकस्य ते मूलमजीर्ण प्राप्नुवन्ति हि ॥ १४ ॥

म०—अनात्मवन्त इत्यादि । अनात्मवन्तो=दुष्टमनोयुक्ताः, लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इति । अत एवोक्तं पशुवदिति । रोगानीकस्य=रोगसमूहस्य विसूच्यादेः, मूलं=कारणम् ॥ १४ ॥

आ०—उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य विशेषकारणत्वमाह—अनात्मवन्त इत्यादि । ये नरा अप्रमाणतः पशुवद् भुञ्जते, किंभूताः ? अनात्मवन्तो दुष्टमनोयुक्ताः लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इत्यर्थः, अत एवोक्तं—पशुवदिति । रोगानीकस्य रोगसमूहस्य विसूच्यादेर्मूलं कारणमजीर्णं प्राप्नुवन्ति ॥ १४ ॥

अजीर्णावस्थायां क्षुद्भ्रान्तेः कारणम् ।

“स्वलपं यदा दोषविवद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति ।

भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा या मन्दबुद्धीन् विषवन्निहन्ति ॥

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् ।

तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥ १५ ॥ १६ ॥”

अथाजीर्णोद्भवा विषूच्यादयो रोगाः ।

अजीर्णसंभवत्वाद्विसूच्यादीनामजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—

अजीर्णमामं विषृब्ध विदग्धं च यदीरितम् ।

विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ १७ ॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० २ )

म०—अजीर्णमित्यादि । “आम-विषृब्ध-विदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसक-विलम्बिका यथासंख्यं भवति”—इति कार्तिककुण्डः । ‘तत्र’—इति बकुलकरः । यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफ-वाताभ्यां पठिष्यति,

तस्मात्रिविधाजीर्णाद्यथासंभवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम् । उक्तं हि—  
‘अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्’—इति ॥ १७ ॥

आ०—अजीर्णसंभवा विसूच्यादय इत्यजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—अजीर्णमित्यादि । यदा-  
मादिभेदेनाजीर्णमुक्तं तस्मात्रिविधाजीर्णाद्विसूच्यलसकौ स्यातां तथा विलम्बिकाऽपि भवेत् ।  
यदत्र चतुर्थस्याजीर्णस्य रसशेषस्योपादानं न कृतं तदपरिणाममात्रत्वेन तस्य विसूच्या-  
द्यारम्भकत्वाभावादेकीयमतत्वेनोक्तत्वाच्च । आमविष्टब्धविदग्धेषु विसूच्यलसकविलम्बिकाख्या  
यथासंख्यं भवन्तीति कार्तिककुण्डः । तत्र, यथासंख्ये विदग्धाजीर्णस्य विलम्बिकाजनकत्वासं-  
भवात्, तस्याः कफवातसमुद्भूतत्वेन पठिष्यमाणत्वात्, विदग्धभावस्य पित्तजन्यत्वात्, तस्मात्  
‘त्रिविधमप्यजीर्णं यथासंभवं विसूच्यादीनामुत्पादकम्’—इति बकुलः ॥ १७ ॥

अथ विसूचीलक्षणम् ।

(Cholera.)

विसूच्या निरुक्तिमाह—

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः ।

यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १८ ॥

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः ।

मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ३, ४ )

म० सूचीभिरित्यादि । ‘बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन्’ इति  
विसूचिनिरुक्तिः । पाण्डुरोगवत्सूचीभिरिव तोदनं विहायान्येऽपि वेदनाभेदा  
विविधा भवन्त्येव । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादेर्भृश-  
कोष्ठः । सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका”—इति । विदितागमाः=वि-  
दितायुर्वेदाः । मूढास्तज्ज्ञानानभिज्ञाः । अजितात्मानोऽजितेन्द्रियाः । अशनलो-  
लुपाः=पशुवदप्रमाणभोजिनः ॥ १८ ॥ १९ ॥

आ०—विसूच्या निरुक्तिमाह—यस्यां विसूचिकायामनिलः सूचीभिरिव गात्राणि तुदन्  
सन् तिष्ठते वैद्यैरादिवैद्यैरजीर्णात्सा विसूचीति कथ्यते ॥ १८ ॥ इति प्रतिपादनार्थमाह—  
नेत्यादि । एवंविधाः पुरुषास्तां विसूचिकां न प्राप्नुवन्ति । विदितागमा विदितायुर्वेदाः, मूढा-  
स्तज्ज्ञानानभिज्ञाः पुरुषास्तां भजन्ते । मुह्यन्तीति मूढाः भक्ष्याभक्ष्यानभिज्ञाः, अजितात्मा-  
नोऽजितेन्द्रियाः, अशनलोलुपाः पशुवदप्रमाणभोजिनः । ‘कलुषाशयाः’ इत्यन्ये पठन्ति, कलुषो  
दुष्ट आमाशयो येषां ते कलुषाशयाः, आमाशयदुष्टिश्च दुष्टान्नसंपर्कात्, वातादिकोपाच्च ॥ १९ ॥



अथ विसूच्याः सामान्यलक्षणम् ।

विसूच्या लक्षणमाह—

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टन-जृम्भ-दाहाः ।  
वैवर्ण्य-कम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥२०॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ५ )

म०—मूर्च्छेत्यादि । वमथुर्वान्तिः । शिरसश्च भेदः=शिरःशूलम् । अत्र वम-  
नातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति; सुश्रुते त्वधोगाया आमातीसारेण ग्रहणम्,  
ऊर्ध्वगायाश्च छर्द्याः । चरके तु पठ्यते—“ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्त-  
रूपां विसूचीं विद्यात्” ( च. वि. स्था. अ. २ )—इति । अत ऊर्ध्वगा विसूची  
भवति, तथाऽधोगाऽपि, चरके आमातीसारस्यापठितत्वात् । चकारादुभयमार्ग-  
गाऽपि व्याचक्षते, ऊर्ध्वगायाश्चापकाहारवमनेन त्रिदोषजच्छर्दिभ्यो भेद इति  
मन्तव्यम् ॥ २० ॥

आ०—विसूचीलक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । वमथुर्वान्तिः, उद्वेष्टनं मोटनं जङ्घादीनां, खलीति  
लोके । तस्यां विसूच्यां, शिरसश्च भेदः शिरःशूलम् । अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति  
सुश्रुतः । सा च द्विधा, अधोगा ऊर्ध्वगा च । आमातिसारेणाधोगा छर्द्योऽर्ध्वगा चेति सौश्रुताः ।  
चरके-तु “ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्” इत्युभयगा । ऊर्ध्वगायाश्चापकाहार-  
वमनेन दोषजच्छर्दिभ्यो भेद इति मन्तव्यम् ॥ २० ॥

अथ विसूच्यामुपद्रवाः ।

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता ॥

अमी उपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥ २१ ॥

अथ अलसक-रोगलक्षणम् ।

अलसकमाह—

कुक्षिरानह्यतेऽत्यथ प्रताम्येत् परिकूजति ।

निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥ २२ ॥

वात-वर्चो-निरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि ।

तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्धारौ च यस्य तु ॥ २३ ॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ६ )

म०—कुक्षिरित्यादि । आनह्यते=आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रताम्येत्=मुह्यति, पुरुषः परिकूजति=आर्तनादं करोति । निरुद्ध इत्यजीर्णेनाधः प्रतिरुद्धगतिः कुक्षौ वा, तेनोपरि धावति=ऊर्ध्वं हृदय-कण्ठादिकं गच्छति । अलसक इति दोषस्थिरत्वनिमित्ता संज्ञा । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहरो न विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन चालसकः स्मृतः”—इति ॥ २२ ॥ २३ ॥

आ०—अलसकलिङ्गमाह—कुक्षिरित्यादि । यस्यः कुक्षिरुदरमानह्यते आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रताम्येत् प्रमुह्यति पुरुषः परिकूजति आर्तनादं करोति, मारुतो निरुद्ध इति अजणिनाधः प्रतिरुद्धगतिः, कुक्षौ तेनोपरि धावति ऊर्ध्वं हृदयकण्ठादिकं गच्छति, तस्य पुरुषस्यालसकनामानं रोगमाचष्टे कथयति । अलसक इति दोषस्थिरत्वनिमित्तसंज्ञा । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तान्न चाहारो विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः”—इति ॥ २२ ॥ २३ ॥

अथ विलम्बिकालक्षणम् ।

विलम्बिकामाह—

दुष्टं तु भुक्तं कफ-मारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य ।  
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः २४

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ७ )

म०—दुष्टमित्यादि । भुक्तमन्नं कफ-मारुताभ्यां दुष्टमिति संबन्धः । भृशं दुश्चिकित्स्यामित्यर्थं दुश्चिकित्स्यां, प्रत्याख्यायां वर्जनीयामित्यर्थः । ननु अलसक-विलम्बिकयोरुभयोरपि वात-कफ-प्रबलयोरुर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यत्वात् को भेदः ? उच्यते, अलसके तीव्राः शूलादयो भवन्ति, यदुक्तम्—“पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा । अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनेव संस्थितम् ॥ शूलादीन्कुरुते तीव्राश्छर्द्यतीसारवर्जितान्”—इति ॥ २४ ॥

आ०—विलम्बिकालक्षणमाह—दुष्टमित्यादि । यस्य पुरुषस्य भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टं सदूर्ध्वमधश्च न प्रवर्तते, पुराणाः शास्त्रविदस्तां विलम्बिकामाहुः । भृशं दुश्चिकित्स्यामित्यर्थं दुश्चिकित्स्यां, प्रत्याख्यायोपचरणीयामित्यर्थः । दुष्टमित्यत्र लीनमिति केचित्पठन्ति । इयमेव विलम्बिका तन्त्रान्तरे दण्डकालसक इति नाम्ना पठ्यते । तथाच—“दुष्टा ह्यलसके दोषाश्छर्द्यतीसारवर्जिताः । कारकास्तीव्रशूलादेः स्रोतसां संनिरोधकाः ॥ निजयोगात्तनूं सर्वं

दण्डवत्स्तम्भयन्ति च । स दण्डालसकः शीघ्रं नरदेहविनाशकृत्”—इति । नन्वलसकविल-  
म्बिकयोः समयोरपि वातकफप्रबलयोरुर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यत्वात्को भेदः? उच्यते, अलसके तीव्राः  
शूलादयो भवन्ति, यदुक्तम्,—“पीडितं मास्तेनात्रं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा । अलसं क्षोभितं दोषैः  
शूल्यत्वेनेव संस्थितम् ॥ शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्” इति ॥ २४ ॥

अथ आमस्य कार्यान्तरम् ।

अजीर्णजातान् विसूच्यादीनभिधाय अजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।

दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ २५ ॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ८ )

म०—यत्रस्थमित्यादि । आमं कर्तुं यत्रस्थं तमेव देशं विशेषेण रुजेत्;  
एतेनान्यदेशेऽपि किञ्चिद्रुजं करोतीति बोधयति । यत्रेतिसर्वनामशब्देन  
कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येति दर्शितम् । कै रुजेदित्याह—  
विकारजातैर्विकारसमूहैः । किंभूतैरित्याह—दोषेण येन=स्वकारणकुपितेन  
वातादिनाऽवततं=व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैः=तल्लिङ्गैस्तोद-दाह-गौरवादिभिः,  
न केवलं तैरामसमुद्भवैश्च विकारजातैरपाकालसकादिभिरपि । अनेनैव  
श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवाताख्यं रोगं गृहीतवान् सुश्रुतः, तस्य लक्ष-  
णस्य समानत्वादित्याहुः ॥ २५ ॥

आ०—अजीर्णजन्यानि विसूच्यादीनभिधाय अजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह—यत्रेत्यादि ।  
आमसमस्यकपरिणतं, तथाच—“अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम् । सादनं सर्व-  
गात्राणामाममित्यभिधीयते”—इति । यत् आमं कर्तुं, यत्रस्थं वायुप्रेरणाकर्षणस्यावैगुण्याद्यत्र  
व्यवस्थितं तमेव देशं विशेषेण रुजेत् पीडयेत्, एतेनान्यदेशेऽपि किञ्चिद्रुजं करोतीति बोधयति ।  
एतावता धातुभूताग्नीनां मान्द्यत्वेनामसंभवत्वात् शोष-त्रण-विद्रव्यादिरोगाणां तज्जन्यत्वमुक्तं  
भवति । यदुक्तम्,—“धातूनां सप्त सप्तानां भूतानां पञ्च पावकाः । त्रयोदश भवन्त्येवं सह  
जाठरवाहिना—” इति । यत्र धातुप्रदेशे बहिर्मन्दो भवति तत्रैवामसंभवात्पिडिकाद्युत्पत्तिः  
स्यात् । यत्रेति ग्रहणेन कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येत्युक्तं भवति । किंभूतै-  
र्विरुजेदित्याह—दोषेण येन स्वकारणात् कुपितेन वातादिना अवततं व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैरेव  
तस्य लिङ्गैस्तोददाहगौरवादिभिः, न केवलं तैः आमसमुद्भवैर्विकारजातैरामवातादिभिः ।  
अनेन श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवातरोगं संगृहीतवान् सुश्रुतः, उक्तलक्षणस्य समानत्वादि-  
त्याहुः ॥ २५ ॥

[ अग्निमान्वादिनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाम्नां सहितम् । ( १४७ )

अथ विसूच्यलसकयोरसाध्यलक्षणानि ।

विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वलक्षणमाह—

यः श्याव-दन्तौष्ठ-नखोऽल्पसंज्ञो बभ्रुर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।  
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥२६॥

( सु० उ० अ० ५६ श्लो० ९ )

म०—य इत्यादि । विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वमिति जेज्जटः ।  
अल्पसंज्ञो=मोहयुक्तः । अभ्यन्तरयातनेत्रः=कोटरान्तःप्रविष्टाक्षिगोलकः ।  
सर्वविमुक्तसन्धिः=श्लथीभूतसर्वपर्वास्थिसन्धिः । अपुनरागमाय=मरणाय ॥२६॥

आ०—विसूच्यलसकयोरसाध्यलक्षणमाह—य इत्यादि । विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वमिति जेज्जटः । यः पुरुषः श्यावादिलक्षणयुक्तः स्यात्, श्यावशब्दो दन्तादिभिः प्रत्येकं संबध्यते, अल्पसंज्ञो=मोहयुक्तः, अभ्यन्तरयातनेत्रः=कोटरान्तःप्रविष्टनेत्रः क्षामस्वरः=क्षीणध्वनिः, सर्वविमुक्तसन्धिश्च स नरः अपुनरागमाय=अपुनसंवृत्तये मरणाय यायाद्गच्छेत् । अत्रान्ये—निद्रानाशादिभिर्लक्षणान्तरं पठन्ति । परन्तु “निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञिता । अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्याः पञ्च दारुणाः—” इति माधवेन संगृहीतत्वात्पृथङ् न लिखितम् ॥ २६ ॥

अथ जीर्णाहारस्य लक्षणम् ।

अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ।

लघुता क्षुत्-पिपासा च जीर्णाऽऽहारस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

अथ सामान्याजीर्णस्य लक्षणम् ।

ग्लानि-गौरव-विष्टम्भ-भ्रम-मारुत-मूढताः ।

विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽग्निमान्वाजीर्णविसूचिकालसक-

लसकविलम्बिकानिदानं समाप्तम् ॥

म०—उद्गारेत्यादि । उद्गारशुद्धिर्धूमाम्लादिरहितत्वम् । उत्साहः=शरीरमनसोर्बलम् । उत्सर्गो=मलमूत्रप्रवृत्तिः, वेगसहित उत्सर्गो वेगोत्सर्गः । यथोचित=उपयुक्ताहारानुरूपः । लघुता देहस्य, विशेषेण कोष्ठस्येति ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामग्निमान्वाजीर्णविसूचिकालसक-

विलम्बिकानिदानं समाप्तम् ।

आ०—अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—उद्गारशुद्धिरित्यादि । जीर्णाहारस्य पुंस एतलक्षणम्—उद्गारशुद्धिर्धूमाम्लादिरहितत्वम्, उत्साहः=शरीरमनसोर्बलम्, उत्सर्गो=मलमूत्रप्रवृत्तिः श्लेष्मसहित उत्सर्गः वेगोत्सर्गः, यथोचितः=उपयुक्ताहारानुरूपः, लघुता देहस्य विशेषेण कोष्ठ-  
त्येति ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे रुग्निनिश्चयव्याख्यानेऽभिमान्याजीर्ण-  
विस्मृचकालसक्कविलम्बिकानिदानम् ॥ ६ ॥

### अथ क्रिमिनिदानम् ।

( Worms )

अथ क्रिमिभेदाः ।

अजीर्णात् क्रिमिसंभव इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह—

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदतः ।

बहिर्मल-कफा-ऽसृग्-विद्-जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥ १ ॥

नामतो विंशतिविधा,—

( बा० नि० अ० १४ श्लो० ४२ )

म०—क्रिमय इत्यादि । तत्र बाह्यास्त्वगुपलेपकबाह्यमलसंभवाः, आभ्य-  
न्तरा आमाशयादिसंभवाः । ते देशभेदेन द्वैविध्येनोक्ताः कारणभेदाच्चतुर्धा  
भवन्तीत्याह—बहिर्मलेत्यादि । बहिर्मलो=गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्त एव, बहि-  
र्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म तद्भेदात् । त एव चतुर्विधा नामभेदेन  
विंशतिविधा भवन्ति, विंशत्यतिरिक्ताश्चातिसूक्ष्माः कृमयः सहजाश्चरके-  
णोक्ताः, ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते, विंशतिविधास्तु क्रिमयो  
दोषप्रकोपणद्वारेण ज्वरशूलादीन् जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ॥ १ ॥

आ०—अजीर्णात्कृमिसंभव इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह—कृमय इत्यादि । एके बाह्याः  
केशवस्त्रादिजा यूकालिक्षादयः, अन्ये चाभ्यन्तराः । तत्र बाह्यास्त्वगुपलेपकबाह्यमलसंभवाः,  
आभ्यन्तराश्च आमादिसंभवाः, त एव देशभेदाद्वैविध्येनोक्ताः कारणभेदाच्चतुर्धा भवन्ति । बहिर्मलो  
गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्त, एवं बहिर्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म, तस्य भेदात् ।  
केचिद्बहिर्मलजन्मानः, तथा केचित्कफजन्मानः, केचिद्रक्तजन्मानः, केचित्पुरीषजन्मानश्चेति  
चतुर्धा । त एव चतुर्विधा नामतो नामभेदेन वक्ष्यमाणाभिः संज्ञाभिर्विंशतिविधा भवन्ति  
तानाह नामत इत्यादि । नामतो विंशतिविधा विंशतिसंख्याका नामत इत्यर्थः । एते च नाम-  
विशेषाः केचित्सान्ध्याः केचिन्निरन्ध्याः व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यैः प्रणीताः । तेषां नामानि

यूका लिक्षा बहिर्मलोत्थे द्वे; एतयोराश्रयः केशवस्त्राणि; कफजा—अन्त्रादाः, उदरावेष्टाः, हृदयादाः, महागुदाः, जुरवः, दर्भकुसुमाः, मुगन्धाः, एवं सप्त, एषामाश्रय आमाशयः; रक्तजाः—केशादाः, लोमविध्वंसाः, रोमद्वीपाः, उदुम्बराः, सौरसाः, मातरः, एवं षट्, एषां स्थानं रक्तवाहिसिराः; पुरीषोत्थाः पञ्च—ककेरुकाः, मकरुकाः, सौसुरादाः, सशूलाः, लेलिहाः, एषामाश्रयः पक्वाशयः; एवं विंशतिः ॥ १ ॥—

अथ बाह्याः क्रिमयः ।

उक्तान् बाह्यान् विवृणोति—

बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः ।

तिलप्रमाण-संस्थान-वर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥

बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ।

द्विधा ते कोष्ठ-पिडका-कण्डू-गण्डान् प्रकुर्वते ॥ ३ ॥

( बा० नि० अ० १४ श्लो० ४३, ४४ )

म०—बाह्या इत्यादि । तिलानामिव प्रमाणं परिमाणं संस्थानमाकृतिर्वर्णश्च श्वेतः कृष्णो वा येषां यूकादिरूपाणां ते तथा । केशाम्बराश्रया इति अम्बरं=वस्त्रम् । बहुपादा इति यूकाः, सूक्ष्मा इति लिक्षाः ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—उक्तबाह्यानाह—बाह्या इत्यादि । तत्र तेषु चतुर्षु, बाह्या बाह्यमलोद्भवाः । तिलानामिव प्रमाणं संस्थानम् आकृतिर्वर्णश्च श्वेतः कृष्णो वा येषां यूकालिखारूपाणां ते तथा । केशाम्बराश्रया इति—केशाः कचाः अम्बरं वस्त्रं च आश्रयो येषाम् । ते के कुमयो भवन्तीति तानाह—बहुपादा इत्यादि । यूकाः=केशविद्धाः, बहुपादाः=बहुचरणाः, लिक्षाः सूक्ष्मा=भणवः ॥ २ ॥ ३ ॥

अथाभ्यन्तरक्रिमीणां निदानानि ।

तेषां निदानमाह—

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता ।

व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुङ्क्ता लभते क्रिमींस्तु ॥ ४ ॥

म०—अजीर्णेत्यादि । अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी । मधुराम्लनित्यः=सततमधुराम्लभोजी, विरुद्धं=क्षीरमत्स्यादि ॥ ४ ॥

आ०—तेषां निदानमाह—अजीर्णेत्यादि । ना पुरुषः कृमिन् लभते, कथंभूतः ? अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी, मधुराम्लनित्यः सततमधुराम्लभोजी, विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि । तथा द्रवप्रियः, पिष्टं गोधूमचूर्णकृतं पूपादि ॥ ४ ॥

अथ निदानभेदात् क्रिमिभेदाः ।

क्रिमिविशेषे निदानविशेषमाह—

माषपिष्टा-ऽम्ल-लवण-गुड-शाकैः पुरीषजाः ।

मांस-मत्स्य-गुड-क्षीर-दधि-शुक्तैः कफोद्भवाः ॥ ५ ॥

विरुद्धा-ऽजीर्ण-शाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ।

( सु० उ० अ० ५४ श्लो० ७ )

म०—माषेत्यादि ॥ ५ ॥—

आ०—पुरीषजानां निदानमाह—माषेत्यादि । एतैः कारणैः पुरीषजा जायन्ते, 'पक्वाशये' इति शेषः । कफोद्भवनिदानमाह—मांसेत्यादि । शुक्त=इक्षुरसः कालान्तरेणान्नीभूतः । एते आमोशये शोणितजानां कारणमाह—विरुद्धेत्यादि । शाकम्=अपक्वहरितचणकादिशाक-भक्षणम् ॥ ५ ॥—

अथाभ्यन्तर-क्रिमिलक्षणम् ।

आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह—

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥

भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम् ।

( सु० उ० अ० ५४ श्लो० ८ )

म०—ज्वर इत्यादि ॥ ६ ॥—

आ०—आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह—ज्वर इत्यादि । विवर्णता शरीरे श्यामपीतता, शूल-मामोशये पक्वाशये च, हृद्रोगो=हृदयविकारो हृल्लासादिः, भ्रमश्चकारुढस्येव, भक्तद्वेषो=भोजनविद्वेषः ॥ ६ ॥—

अथ कफज-क्रिमिलक्षणम् ।

कफजानाह—

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥

पृथु-ब्रध्न-निभाः केचित्केचिद्गण्डूपदोपमाः ।

रूढधान्याङ्कुराकारास्तनु-दीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥



श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ।

अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥

चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ।

हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥

मूच्छा-च्छर्दि-ज्वरा-ऽऽनाह-काश्य-क्षवथु-पीनसान् ।

( वा० नि० अ० १४ श्लो० ४७-५० )

म०—कफादित्यादि । कफनिमित्ताः क्रिययो य आमाशये जायन्ते, ते च द्राः सन्तः सर्वत उर्ध्वमधश्च सर्पन्ति, एवं पुरीषजादिषु द्रष्टव्यम् । ब्रध्नश्च-  
लता, ब्रध्नीति लोके रूढं=प्ररूढम् । तनवः परिणाहेन, दीर्घा आयामेन,  
णवः उभाभ्यामपि स्वल्पाः । ते इति कफजाः । सप्त नामानि विवृणोति-  
न्त्रादा इत्यादि । एते च नामविशेषाः केचित्सान्वयाः, केचिन्निरन्वयाः  
वहारायै पूर्वाचार्यैः प्रणीताः, एवं वक्ष्यमाणेषु बोध्यमिति ॥ ७-१० ॥—

आ०—कफजानां स्वरूपमाह—कफादित्यादि । कफनिमित्तात्कुमयः आमाशये नाभे-  
र्त्वं जायन्ते । ते च बुद्धाः सन्तः सर्वतः ऊर्ध्वमधश्च प्रसरन्ति । आकारेण पृथु-  
ननिभाः=विस्तीर्णचर्मैकदेशाकाराः, ब्रध्नश्चर्मलता ब्रध्नीति लोके, केचित्कुमयो गण्ड-  
पेपमाः=भूमिलताकाराः, केचिद्रूढधान्याङ्कुरास्तदाकृतयो भवन्ति, रूढं प्ररूढमङ्कुरितमिति  
वत् । तनवः परिणाहेन, दीर्घा आयामेन, तथा केचित् अणवः उभाभ्यामपि  
ष्पाः । श्वेताः=शुक्लाः, ताम्रावभासाः=ताम्रवर्णाः, केचिदिति सर्वत्र संबन्धनीयम् ।  
मतस्तु ते सप्तधा इति कफजाः । अन्त्रादा इत्यादि । ते कुपिता यान् रोगान् कुर्वते  
नाह-हृल्लासेत्यादि । हृल्लास=उपस्थितवमनत्वमिव, आस्यस्रवणं=लालास्रावः, आनाह=  
रे निश्चलाटोपः ॥ ७-१० ॥—

अथ रक्तजात-क्रिमिलक्षणम् ।

रक्तजानाह—

रक्तवाहि-सिरा-स्थान-रक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥

अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः ।

केशादा रोमविध्वंसा रोमद्रीपा उदुम्बारः ।

षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरस-मातरः ॥ १२ ॥

( वा० नि० अ० १४ श्लो० ५१, ५२ )

म०—रक्तेत्यादि । रक्तवाहिसिरास्थानाश्च ते रक्तजाश्चेति रक्तवाहिसिरा-  
यानरक्तजाः, अथवा रक्तवाहिसिरास्थानं यद्वक्तं तज्जाः । नामभेदात्ते षट्,

तत्र केशादादयश्चत्वारः सहसौरसनाम-मातृनामभ्यां क्रिमिभ्यां वर्तन्ते इति सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति । कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनका इति यावत् । उक्तं हि सुश्रुते—“सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि चोपदिश्यन्ते”—इति ( सु. नि. स्था. अ. ५ ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०—रक्तजानां स्वरूपमाह—रक्तेत्यादि । रक्तजा जन्तवः क्रिमयः रक्तवहासु सिरासु स्थानं येषां ते तथा । वृद्धाः सन्त सर्वतः प्रसरन्तीत्यत्रापि योज्यम् । अपादाः=पादरहिताः, वृत्ता=वर्तुलाः, वर्णतस्ताम्राः, ते सौक्ष्म्यात्=अणुरूपत्वात् केचिददृश्याः । नामतः षट्—केशादाः, लोमविध्वंसाः, रोमद्वीपाः, उदुम्बराः, सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति । ते कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कर्म कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनकाः कुष्ठैकफलदा इत्यर्थः । उक्तं च सुश्रुते—“सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि सरक्तानि चोपदिश्यन्ते” इति । अथवा कुष्ठेन सहैकं समानं कर्म हर्ष-कण्डू-तोदादिकं केश-रमश्रु-लोम-विध्वंसा-दिकं त्वक्-सिरा-स्तायु-मांस-तरुणास्थिभक्षणं च येषां त एवम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ शकृज्जातक्रिमिलक्षणम् ।

पुरीषजानाह—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसापणः ।

प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥ १३ ॥

तदाऽस्योद्गार-निःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।

पृथु-वृत्त-तनु-स्थूलाः श्याव-पीत-सिता-ऽसिताः ॥ १४ ॥

त पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुक-मकेरुकाः ।

सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥ १५ ॥

विड्भेद-शूल-विष्टम्भ-काश्य-पारुष्य-पाण्डुताः ।

रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥ १६ ॥

( वा० नि० अ० १४ श्लो० ५३-५६ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥

म०—पक्वाशय इत्यादि । अधोविसर्पिण इति गुदनिःसरणशीलाः, ते यदाऽतिवृद्धाः सन्त आमाशयोन्मुखा भवेयुस्तदाऽस्य रोगिण उद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः=पुरीषगन्धयुक्ता भवन्तीति योज्यम् । शेषं सुबोधम् ॥ १३-१६ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्रिमिनिदानं समाप्तम् ।

आ०—पुरीषजाताह—पक्वाशय इत्यादि । पुरीषोत्थाः कृमयः पक्वाशय एव जायन्ते, पुरीषस्य पक्वाशयस्थितत्वात् । ते चाधोविसर्पिणः स्युर्नोर्ध्वगाः; अधोविसर्पिणः इति गुदनिःसरण-शीलाः । ते यदा वृद्धाः सन्तः आमाशयोन्मुखा भवेयुः, तदाऽस्य रोगिण उद्वारे निःश्वासे विङ्गन्वानुविधायिनः पुरीषगन्धकारिणो भवन्तीति योज्यम् । पृथवो=दीर्घाः, वृत्ता=वर्तुलाः, तनवः=अल्पाः, स्थूला=उत्सन्नाः ‘भाकारेण’ इति शेषः । वर्णतः श्यावाः=ईषत्पीतश्चेताः । असिताः=कृष्णाः । नामतः पञ्चधा ककेरुकादिभेदेन । ते पञ्च यान् रोगान् जनयन्ति तानाह—विड्भेदेत्यादि । विड्भेदः=सान्द्रमलप्रवृत्तिः, शूलं पक्वाशये, विष्टम्भो मलस्य, पारु-श्यं=कर्कशाङ्गत्वम्, अग्निसदन्तं=बहिर्गलानिः, विमार्गगा=विमार्गप्रवृत्तयः ॥ १३—१६ ॥

इत्यातङ्कदर्पणे कृमिनिदानम् ॥ ७ ॥

अथ पाण्डुरोग-कामला-कुम्भकामला-हलीमक-निदानम् ।

अथ पाण्डुरोगनिदानम् ।

( Anaemia )

पुरीषजाः क्रिमयः सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह—

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वात-पित्त-कफैस्त्रयः ।

चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ १ ॥

( च० चि० अ० २० श्लो० १ )

म०—पाण्डुरोगा इत्यादि । पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः । चरके अष्टोदरीयाध्याये “पञ्च पाण्डुरोगाः” ( च. सू. स्था. अ. )—इत्यभिधायापि “पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च” ( च. चि. स्था. अ. १६ )—इति यदेतत्पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, न तु पञ्चोन्मादेष्विव सान्निपातिकस्या-साध्यत्वमिति जेज्जटः । न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थमिति चक्रः । ननु सुश्रुते हि मृत्तिकाजो न पठितः मृत्तिकाऽपि दोषप्रकोपद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति; यदुक्तम्—“कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्” ( च. चि. स्था. अ. १६ )—इति; निदानभेदाच्च रोगभेदे रोगानन्त्यप्रसङ्गः, वातजस्यापि रूक्ष-शीताद्यनेकवात-निदानकुपितवातजन्यत्वात् । उच्यते, दोषत्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्र-तिपादनार्थं पृथगभिधानं, मूत्रान्ववृद्धिवत् । सुश्रुतेन तु पराधिकारेषु न विस्तर-क्तिरित्यभिप्रायेण न पृथक्कृतः । चिकित्सा तु दोषचिकित्सायांऽपि भवतीति १ ॥

आ०—पुरीषजाः कृमयो सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह—पाण्डुरोगा इत्यादि । पाण्डुत्वेनोपलक्ष्यते रोगः पाण्डुरोगः । स च पञ्चविधः—वात-पित्त-कफ-

स्त्रयः, सन्निपातेनैकः, मृद्भक्षणादेकः, एवं पञ्च । ननु सुश्रुतेन मृत्तिकाजनितो न पठितः । अतो मृत्तिकाऽपि त्रिदोषकोपकारणेनैव पाण्डुरोगं जनयति, उक्तं च—कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ इति । यदि निदानभेदाद्रोगभेदस्तदा रोगाणामानन्त्यप्रसङ्गः । उच्यते—दोषज-त्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्रतिपादनार्थं पृथगभिधानम् ॥ १ ॥

अथ पाण्डुरोगस्य हेतवो सम्प्राप्तिश्च ।

सम्प्राप्तिमाह—

व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।  
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥२॥

( सु० उ० अ० ४४ श्लो० ५ )

म०—व्यायाममित्यादि । रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वङ्मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितम् । हारीतेन रसोऽपीति ॥ २ ॥

आ०—पाण्डुरोगनिदानमाह—व्यवायमित्यादि । व्यवायादीनि निषेवमाणस्य पुंसो दुष्टा दोषा रक्तं विदूष्य त्वचि पाण्डुभावं कुर्वन्तीति पिण्डार्थः । रक्तमित्युपलक्षणं, त्वचं मांस-मपि दूषयन्तीति दृढबलेन पठितं, हारीतेन यथोक्तत्वात् । व्यवायः=स्त्रीसेवा, अन्ये 'व्यायामम्' इति पठन्ति । लवणानीति बहुवचनेन क्षाराण्यपि बोद्धव्यानि । मृदं=मृत्तिकाम् । तीक्ष्णं=राजिकादि ॥ २ ॥

अथ पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

त्वक्स्फोटन-ष्ठीवन-गात्रसाद-मृद्भक्षण-प्रेक्षणकूटशोथः ।  
विण्-मूत्र-पीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥३॥

( सु० उ० अ० ४४ श्लो० २ )

म०—त्वगित्यादि । त्वक्स्फोटनं=त्वचः किञ्चिद्विदरणम् । मृद्भक्षणं=मृद्भक्षणेच्छा । प्रेक्षणकूटशोथः=अक्षिगोलकशोथः । अविपाक आहारस्य । पुरः-सराणि=पूर्वरूपाणि ॥ ३ ॥

आ०—पूर्वरूपमाह—त्वागित्यादि । त्वक्स्फोटनं त्वचः किञ्चिद्विदरणम् । अन्ये 'त्वक्पाट-निष्ठीवन-गात्रसादाः' इति पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः । निष्ठीवनं मुखेन, शुगशुगीति लोके । मृद्भक्षणं मृद्भक्षणेच्छा, प्रेक्षणकूटशोथः अक्षिगोलकशोथः, अविपाक आहारस्य, पुरःसराणि पूर्वरूपाणि तस्य भाविनः भवन्ति ॥ ३ ॥

१ 'व्यवायमम्ल' मिति पाठाभिप्रायेण । २—'समेत्य रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्' इति पाठान्तरम्

अथ वातिकपाण्डुरोगलक्षणम् ।

वातिकलक्षणमाह—

त्वङ्-मूत्र-नयनादीनां रूक्ष-कृष्णा-रुणाऽऽभताः ।

वातपाण्ड्वामये तोद-कम्पा-ऽऽनाह-भ्रमादयः ॥ ४ ॥

म०—त्वगित्यादि । अत्र कृष्णारुणाभता न पाण्डुतामतिक्रामति; अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावः । उक्तं च सुश्रुते—“सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः” (सु. उ. तं. अ. ४४)—इति । भ्रमादय इति । आदिशब्देन भेद-शूलादीनां ग्रहणम् ॥ ४ ॥

आ०—वातिकपाण्डुरोगमाह—त्वगित्यादि । कृष्णारुणप्रभा पाण्डुत्वमतिक्राम्य न भवति, अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावात् । उक्तं हि सुश्रुते—“सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः”—इति । तोदः=पीडाभेदः, आनाहः=उदरादोषः, भ्रमश्चक्रारूढस्येव । आदिग्रहणा-  
न्नेदशूलादीनां ग्रहणम् ॥ ४ ॥

अथ पैत्तिकपाण्डुरोगलक्षणम् ।

पैत्तिकलक्षणमाह—

पीत-मूत्र-शकृन्-नेत्रो दाह-तृष्णा-ज्वरान्वितः ।

भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥ ५ ॥

म०—पीतित्यादि । ननु, पित्तपाण्ड्वामयीति न युक्तं, पाण्डुरोगस्य पित्त-कार्यत्वादेव । उच्यते, इतरदोषा-ऽसंश्लिष्ट-प्रबल-पित्त-जन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानं, यथा पैत्तिक-रक्त-पित्तमिति ॥ ५ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पीतित्यादि । भिन्नविट्कः=सद्रवमलः । अतिपीताभः=अतिशयेन पीतः । ननु पित्तपाण्ड्वामयीति वक्तुं न युक्तं, पाण्डुरोगस्य पित्तकार्यत्वात् । उच्यते, इतरदोषासंश्लिष्ट-प्रबलपित्तजन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानं, पैत्तिकरक्तपित्तवत् ॥ ५ ॥

अथ कफजपाण्डुरोगलक्षणम् ।

श्लेष्मिकलक्षणमाह—

कफप्रसेक-श्वयथु-तन्द्रा-ऽऽलस्या-ऽतिगौरवैः ।

पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्-मूत्र-नयना-ऽऽननैः ॥ ६ ॥

म०—कफप्रसेकेत्यादि । कफाद्यः पाण्डुरोगी स शुक्लैस्त्वङ्-मूत्र-नयना-ऽऽननैरुपलक्षित इति योज्यम् । सान्निपातिकस्तु प्रकृतिसमसमवैतत्वेन उक्तवा-

तजादिलक्षणैरेव बोद्धव्यः । उक्तं हि चरके-“सर्वात्रसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् । त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्” ( च. चि. स्था. अ. २० )-इति ॥ ६ ॥

आ०-श्लेष्मिकमाह-कफेत्यादि । कफात्तु यः पाण्डुरोगी स शुक्लैः त्वङ्मूत्रनयनादिभिरुपलक्ष्यते इति योज्यम् । कफप्रसेकः=कफस्रावः, सान्निपातिकस्तु प्रकृति समसमवेतैर्वातादिलक्षणैरेव बोध्यः । उक्तं हि चरके-“सर्वात्रसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् । त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्”-इति ॥ ६ ॥

अथ असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ।

तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह-

ज्वरारोचक-हृष्टास-च्छर्दि-तृष्णा-कुमान्वितः ।

पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

( च० चि० अ० २० श्लो० २४ )

म०-ज्वरारोचकेत्यादि । हतेन्द्रियः=स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥ ७ ॥

आ०-तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह-ज्वरेत्यादि । त्रिदोषजः पाण्डुरोग एतैरुपद्रवैर्युक्त-स्त्याज्यः असाध्य इत्यर्थः । हतेन्द्रियः स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥ ७ ॥

अथ मृत्तिकाभक्षणजातपाण्डुरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

मृजसंप्राप्तिमाह-

मृत्तिकाऽदन-शीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।

कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥

कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं च रूक्षयेत् ।

पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धयपि ॥ ९ ॥

इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।

पाण्डुरोगं करोत्याशु बल-वर्णा-ऽग्नि-नाशनम् ॥ १० ॥

( च० चि० अ० २० श्लो० २५-२७ )

म०-मृत्तिकेत्यादि । अन्यतमो मलो वातादिः । ऊषरा=सक्षारा । रसादीन् रूक्षयेत्, भुक्तं च रूक्षयेदिति योज्यम् । रौक्ष्याद्=प्राकृतिकोद्भूतरौक्ष्यगुणात् । अविपक्वैव=कोष्ठधात्वग्निभिः पाकं न गत्वैव, स्रोतांसि=रसवहादीनि, पूरयति=रुणद्धि च । इन्द्रियाणां बलं=स्वविषयग्रहणशक्तिम् । तेजो=दीप्तिरिति जेज्जटः ।

ऊष्मेति चक्रः । वीर्यं=शक्तिः । ओजः=सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थमिति परा-  
शरः; पराभिभवेच्छेति जेज्जटः ॥ ८-१० ॥

आ०—मृत्तिकाजनितपाण्डुरोगमाह—मृत्तिकेत्यादि । मृत्तिका-भक्षण-शीलस्य पुरुषस्य  
अन्यतमो मलो=दोषो वातादिः कोपं गच्छति । मृत्तिकायास्त्रिदोषप्रकोपणे हेतुं दर्शयति—  
कषायेत्यादि । कषाया मृत्तिका मारुतं प्रकोपयेत्, ऊषरा=सक्षारा पित्तं, मधुरा कफं,  
रौक्ष्याच्च रसादीन् धातून् रूक्षयेत् भुक्तं च रूक्षयेत्, तस्याः स्वभावोद्भूतरूक्षगुणत्वात् ।  
अपक्वैवेत्यादि । न कोष्ठधात्वग्निभिः पाकं गच्छति किंतु अपक्वैव रसवाहीनि स्रोतांसि पूरयति निरुणाद् च ।  
इन्द्रियाणां बलं स्वविषयग्रहणशक्तिं हत्वा पाण्डुरोगं करोति । तेजो दीप्तिरिति जेज्जटः, ऊष्मेति  
चक्रः । वीर्यं शक्तिः, ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थं, पराभिभवेच्छेति जेज्जटः । बलवर्णाग्निनाशन-  
मित्यत्र बलं=शरीरे समर्थम् ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ मृदोत्पन्नपाण्डुरोगलक्षणम् ।

मृज्जस्य लक्षणमाह—

शूना-ऽक्षिकूट-गण्ड-भ्रूः-शून-पान्-नाभि-मेहनः ।

क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥ ११ ॥

(च० चि० अ० २० श्लो० २८)

म०—शूनेत्यादि । सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षण-  
मिति जेज्जटः, मृत्तिकाजानन्तरपठितत्वेन तस्यैव लक्षणमित्यन्ये ।  
विदेहे तु पठ्यते—“मृद्रक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रा-ऽऽलस्य-निपीडितः । सन्धास-  
कास-शोषा-ऽर्शः-सादा-ऽरुचि-समन्वितः ॥ शून-पादा-ऽऽनन-करः कृष्णाङ्गः  
कृशपावकः”—इति ॥ ११ ॥

आ०—मृज्जनितस्योपद्रवमाह—शूनेत्यादि । अक्षिकूटोऽक्षिगोलकः, गण्डः=कपोलः, एतेषु  
श्वयथुः । तथा शून-पान्नाभि-मेहनः शूनश्चरणो नाभिर्मेहन च यस्य स तथा । तथा च क्रुमि-  
कोष्ठः पुरुषः, सरुधिरं कफं पुरीषमतिसार्येत । सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षण-  
मिति जेज्जटः, मृत्तिकाजानन्तरं पठितत्वात्तस्यैव लक्षणमित्यन्ये । उक्तं च विदेहेन—“मृद्रक्षणाद्भवे-  
त्पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडितः । सन्धासकासशोषार्शः सादारुचिसमन्वितः ॥ शूनपादाननकरः कृष्णाङ्गः  
कृशपावकः”—इति ॥ ११ ॥

अथासाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ।

असाध्यलक्षणमाह—

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।

म०—पाण्डुरोग इत्यादि । पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षात् खरी-  
भूतो=जठरतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि शूनानां मध्ये यो वा



पीतानि पश्यति स पाण्डुरोगी न सिध्यतीत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटस्य योजना ।—चक्रस्त्वाह—“चिरोत्पन्नः खरीभूतोऽत्यर्थ-रूक्षित-सर्व-धातुर्न सिध्यति ।—

आ०—असाध्यलक्षणमाह—पाण्डित्यादि । पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षाच्चिरकालात्खरीभूतो जठरतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि पाण्डुरोगः शूनाङ्गो यो वा पुरुषः पीतानि पश्यति स पाण्डुरोगी न सिध्यति, इत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटः । चक्रस्त्वन्यथा व्याचष्टे—चिरोत्पन्नः खरीभूतो विलूक्षितसर्वधातुर्न सिध्यति ।—

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ १२ ॥

( च० चि० अ० २० श्लो० ३० )

म०—तथा कालप्रकर्षादित्यादिनाऽपरमसाध्यलक्षणम्—इति । अत्र शूनानां=शोथवतां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स न सिध्यतीति । ‘शूनो ना’ इति पाठान्तरे ना पुरुषः । ‘शूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति’ इति पाठान्तरम् सुगमम् ॥ १२ ॥

आ०—तथा कालप्रकर्षादित्यादिना अपरमसाध्यलक्षणमिति । अत्र ‘शूनानां यो वा पीतानि पश्यति’ इति पाठान्तरे शूनानां शोथवतां मध्ये यः पीतानि पश्यति स न सिध्यति । अन्ये ‘शूनो ना’ इति पठन्ति, तत्र ना पुरुषः ॥ १२ ॥

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।

म०—बद्धेत्यादि । अत्र सकफत्वेऽपि बद्धत्वाऽ-ल्पत्व-हरितत्वानिव्याधि-प्रभावात्, बद्धाल्पस्थाने बहुलमिति पाठान्तरम् । विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्तीत्येतन्निर्देशादेवोन्नेयमित्याहुः ।—

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—बद्धेत्यादि । अत्र सकफत्वेऽपि च बहुत्वमल्पत्वं हरितत्वं व्याधित्वभावात् । हरितं हरितशाकवर्णम् । अन्ये बद्धाल्पस्थाने बहुलमिति पाठं पठन्ति । बहुलं विट् सार्यते इति विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्तीत्येतन्निर्देशादुन्नेयमित्याहुः ।—

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दि-मूर्च्छा-तृडर्दितः ॥ १३ ॥

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

म०—दीन इत्यादि । दीनः=ग्लानः । श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इवेत्यर्थः । स नास्ति नष्ट इव असाध्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

[ पाण्डुरोगादिनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( १५९ )

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—दनि इत्यादि । दानो ग्लानः । श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णाति-  
लिताङ्ग इत्यर्थः । स पुरुषो नास्ति नष्टः असाध्य इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथान्यदप्यसाध्यलक्षणम् ।

स नास्त्यसूक्ष्मयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।

म०—अपरमाह—असृगित्यादि ।—

आ०—अत्रैवापरमप्यसाध्यलक्षणमाह—असूक्ष्मयात् यः पाण्डुरोगी श्वेतत्वमाप्नुया-  
त्सोऽप्यसाध्यः ।—

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

पाण्डु—दन्त—नखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।

पाण्डु—संघात—दर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ १४ ॥

म०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—पाण्डुदन्तेत्यादि । पाण्डु—संघात-  
दर्शीति नयन-रश्मि-सहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं संपिण्डितं पश्यति ॥ १४ ॥

आ०—अपरमप्यसाध्यलक्षणमाह—पाण्डित्यादि । नयनरश्मिसहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं तद्योगा-  
द्विलम्बमपि पश्यन् वस्तु पीतवर्णपिण्डितं पश्यति ॥ १४ ॥

अथान्यान्यप्यसाध्यलक्षणानि ।

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यम्,—

म०—अन्तेष्वित्यादि । अन्तेषु=बाहु-जङ्घा-शिरःसु, शूनं=शोथयुक्तम् ।  
परिहीण-मध्यं=दुर्बल-मध्यदेहम् ।—

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—अन्तेष्वित्यादि । बाहुजङ्घाशिरस्तु शूनं शोथयुक्तं, परि-  
हीणमध्यं दुर्बलमध्यदेहम् ।—

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

ग्लानं तथाऽन्तेषु च मध्य-शूनम् ।—

म०—एतद्वैपरीत्येनापरमसाध्यलक्षणमाह—ग्लानमित्यादि । ग्लानं=  
दुर्बलम् ।—

आ०—ग्लानमित्यादिनापरमसाध्यलक्षणमाह । ग्लानं दुर्बलं, मध्यदेहं शूनं श्वथयुक्तं  
यस्य स तादृशस्तम् ।—

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

गुदे च शेषस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।

विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसार-ज्वर-पीडितं च ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ४४ श्लो० २२ )

म०—असंज्ञकल्पं=मृतप्रायम् । एवंविधं पाण्डुकिनं=पाण्डुरोगिणं यशोऽर्थी वैद्यो विवर्जयेदिति । अत्र सौश्रुतश्लोके पाण्डुकिनमित्यत्र पालकिनमिति पाठान्तरं, युक्तं चैतत्; एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात् । उक्तं हि सुश्रुते—“सकामला-पालकि-पाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽलसाख्यः” ( सु. उ. तं. अ. ४४ )—इति । अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्, “अन्ते शूनः कृशो मध्येऽन्यथा च गुद-शेफसि । शूनो ज्वरातिसारातो मृतकल्पस्तु पालकी”—इति ॥ १५ ॥

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—गुदे शेफसि मुष्कयोश्च शूनं शोथयुक्तं प्रताम्यन्त मोहमुपगच्छन्तं मूर्च्छन्तमित्यर्थः । असंज्ञकल्पं मृतप्रायम् । एवंविधं पाण्डुरोगिणं यशोऽर्थी भिषक् विवर्जयेत् । सुश्रुते अस्मिन् श्लोके पाण्डुकिनमित्यत्र पालकिनामिति पठन्ति, युक्तं चैतत् । एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमप्युक्तं स्यात् । यदुक्तं सुश्रुते—“सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघविकोऽलसाख्यः”—इति । अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान् “अन्ते शूनः कृशो मध्ये त्वथवा गुदशेफसि । शूनो ज्वरातिसाराद्यैर्मृतकल्पस्तु पालकी”—इति ॥ १५ ॥

अथ पाण्डुभेदकामलारोगलक्षणम् ।

पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।

तस्य पित्तमसृङ्-मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ १६ ॥

हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्र-त्वङ्-नखा-ऽऽननः ।

रक्त-पीत-शकृन्-मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १७ ॥

दाहा-ऽविपाक-दौर्बल्य-सदना-ऽरुचि-कर्षितः ।

कामला बहुपित्तेषा कोष्ठ-शाखा-ऽऽश्रया मता ॥ १८ ॥

( च० चि० अ० २० श्लो० ३२-३४ )

म०—पाण्डुरोगीत्यादि । दग्ध्वा=संदूष्य । रोगाय=कामलारूपाय । भेकवर्णः=प्रावृषेण्यभेकवर्णः । कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रया, अपरा शाखाश्रया; शाखा=रक्तादयो धातवः । स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः ॥ १६-१८ ॥

आ०—पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह—पाण्डुल्येति । यः पाण्डुरोगी पित्तजनकानि सेवते तस्य रोगिणः पित्त दोषः असृङ्मांसं दग्ध्वा संदूष्य रोगाय कामलारूपाय जायते

१ 'पातकिनम्' इति पाठान्तरम् ।

तस्य च रक्तं पीतं शकृन्मूत्रं; 'रक्त-पीत-शकृन्-नेत्रे' इति वा पाठः । भेकवर्णः प्रावृषेण्य-  
मण्डूकवर्णः, हृतेन्द्रियः=हृतेन्द्रियशक्तिः एतैश्चोपद्रवैर्दाहादिभिः कर्षितः=पीडितः, अविपाक  
आहारस्य, सदनमङ्गलानिः । बहुपित्ता एषा कामला, कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठा-  
श्रयाऽपरा शाखाश्रया, शाखा रक्तादयो धातवः । उपेक्षितः पाण्डुरोगः कामलायै  
भवति ॥ १६-१८ ॥

अथ कुम्भकामलारोगलक्षणम् ।

( Black Jaundice )

तस्या अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भ-कामला ।

म०—कालान्तरादित्यादि । खरीभूतेति पूर्ववद्याख्येयम् । कृच्छ्रा च कृच्छ्र-  
साध्या । कुम्भः=कोष्ठः, अन्तःशुषिरसाधर्म्यात्; तद्रता कामला कुम्भकामला,  
कोष्ठाश्रयेत्यर्थः ॥—

आ०—तस्यावस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—कालेत्यादि । कालान्तरात् खरीभूतः=कठिनतां गता  
कृच्छ्रसाध्या; कुम्भं कोष्ठं, तत्साधर्म्यत्तिद्रता कामला कोष्ठाश्रयेत्यर्थः ॥—

अथ कामलाया असाध्यलक्षणानि ।

कामलाया असाध्यलक्षणमाह—

कृष्ण-पीत-शकृन्-मूत्रो भृशं शुनश्च मानवः ॥ १९ ॥

सरक्ता-ऽक्षि-मुख-च्छर्दि-विण्-मूत्रो यश्च ताम्यति ।

दाहा-ऽरुचि-तृडानाह-तन्द्रा-मोह-समन्वितः ॥ २० ॥

नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते ।

( च० चि० अ० २० श्लो० ३५, ३६ )

म०—कृष्णेत्यादि । कृष्णेत्यादिना ताम्यतीत्यन्तेनैकमसाध्यलक्षणम् ।  
ताम्यति=मुह्यति । दाहेत्यादिना विपद्यते इत्यन्तेनापरमसाध्यलक्षणमिति  
जेज्जटः ॥ १९ ॥ २० ॥—

आ०—कामलाया असाध्यलक्षणमाह—कृष्णेत्यादि । छर्दिरिति । छर्दिरपि रक्ता । ताम्यति  
मुह्यति । इत्येकमसाध्यलक्षणं, दाहादिना विपद्यते इत्यन्तेनापरमपि असाध्यलक्षणमिति जेज्जटः ।  
नष्टोऽग्निः संज्ञा चेत्तना च यस्य स तथा ॥ १९ ॥ २० ॥—

अथ कुम्भकामलाया असाध्यलक्षणानि ।

कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—

छर्द्यरोचक-हृल्लास-ज्वर-कुम्भ-निपीडितः ॥ २१ ॥

नश्यति श्वास-कासा-ऽऽतो विड्भेदी कुम्भ-कामली ।

म०—छर्दीत्यादि ॥ २१ ॥—

आ०—कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—छर्दीत्यादि । आयासेन विनैव श्रमः कुम्भः । विड्-भेदः=सद्रवमलप्रवृत्तिः । एतैरुपद्रवैः कुम्भकामली त्याज्यः ॥ २१ ॥—

अथ हलीमकरोगलक्षणम् ।

(Clorosis)

पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्वरितः श्याव-पीतकः ॥ २२ ॥

बलोत्साहः क्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः ।

स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ।

हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिल-पित्ततः ॥ २३ ॥

( च० वि० अ० २० श्लो० १२८, १२९ )

अथ पानकीरोगलक्षणम् ।

“ सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता ।

पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत् ॥”

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहली-  
मकनिदानं समाप्तम् ॥

म०—यदेत्यादि । यदा तु पाण्डोः=पाण्डुरोगिणः हरितादिवर्णयुक्तस्यैते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वात-पित्त-कोपजं हलीमकं जानीयात् । हरितः=शाकवर्णः । श्यावो=नीलवर्णः । स्त्रीष्वहर्षो=स्त्रीरिंसाया अभावः । अङ्गमर्दोऽङ्गमोदनम् । लाघवका-ऽलसकादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रुतादिष्वनुस्मर्तव्यमिति ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोग-कामला-कुम्भ-  
कामला-हलीमक-निदानं समाप्तम् ।

आ०-पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह-यदेत्यादि । यदा पाण्डुरोगिणो हरितादिवर्णयुक्तस्य ह्ते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वातपित्तप्रकोपतो हलीमकं जानीयात् । हरितः श्याक्वर्णः, श्यावो नील-  
वर्णः । बलोत्साहक्षय इति बलोत्साहयोर्नाशः । मृदुज्वरः । स्त्रीष्वहर्ष इति रिरंसाया अभावः ।  
अङ्गमर्दः=अङ्गमोटनम् । लाघवकालसादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रु-  
तादवगन्तव्यम् ॥ २२ ॥ २३ ॥

इत्यातङ्कदर्पणे निदानव्याख्यायां पाण्डुरोगनिदानम् ॥ ८ ॥

### अथ रक्तपित्त-निदानम् ।

Haemorrhagic diseases, or Scuvry

अथ रक्तपित्तस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च ।

पाण्डुरोगवद् रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात् तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह-

धर्म-व्यायाम-शोका-ऽध्व-व्यवायैरतिसेवितैः ।

तीक्ष्णोष्ण-क्षार-लवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ १ ॥

१ अत्र मूलेऽनुक्ता रक्तपित्तसम्प्राप्तिश्चरकादुद्भ्रियते-“तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते ।  
लोहितं चाशु प्रमाणमतिवर्तते ॥ ३ ॥ तस्मिन् प्रमाणातिवृत्ते, पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्,  
यदैव यकृत्-प्लीहा-प्रभवाणां लोहितवहानां च स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरुणि मुखान्यासाद्य  
प्रतिपद्यते, तदैव लोहितं प्रदूषयति ॥ तल्लोहितसंसर्गालोहितप्रदूषणालोहित-वर्ण-गन्धानुविधा-  
नाच्च पित्तं लोहित-पित्तमित्याचक्षते ॥ ४ ॥ व्याख्या०-एवमाचरतस्तस्य जन्तोः, पित्तं प्रको-  
पमापद्यते । लोहितं=रक्तं च आशु प्रमाणमतिवर्तते=अतिवर्धते ॥ ३ ॥ तस्मिन् लोहिते प्रमा-  
णमतिवृत्ते=अतिक्रान्ते, प्रवृद्धे सति; पित्तं प्रकुपितं शरीरमनुसर्पद्; यदैव यकृत्-प्लीहा-प्रभवाणां  
लोहितवहानां=रक्तवाहिनां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरुणि=प्रवृद्धरक्तस्य अभिष्यन्देन गुरुणि  
मुखानि आसाद्य प्रतिपद्यते लोहितम्, तदैव तत् पित्तं कर्तुं, लोहितं=रक्तम्, प्रदूषयति ।  
सुश्रुते च-क्रोध-शोक-भया-ऽऽयास-विरुद्धान्ना-ऽऽतपानलान् । कट्वम्ल-लवण-क्षार-तीक्ष्णो-  
ष्णातिविदाहिनः । नित्यमभ्यस्यतो दुष्टो रसः पित्तं प्रकोपयेत् । विदग्धं स्वगुणैः पित्तं विद-  
हत्याशु शोणितम् ॥ इति ( उक्त१०, अध्या० ४५ ) ॥ अथ लोहितपित्तस्य निश्चिन्माह-तदिति ।  
लोहितस्य संसर्गात्=संयोगात्, लोहितस्य वर्ण-गन्धयोरनुविधानात्, अनुकरणाच्च तत् पित्तं  
लोहितापित्तमिति आचक्षते=आहुः भिषजः ॥ चिकित्सितेऽपि वक्ष्यति-‘तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं  
च कटूनि लवणानि च । धर्मश्चात्रविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥ तैर्हेतुभिः समुत्प्लिलं पित्तं  
रक्तं प्रपद्यते । तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ॥ तस्योष्मणा द्रवो घातुर्घातोर्धातोः  
प्रसिच्यते । स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥ संयोगाद् दूषणात् तत् सामान्याद् गन्ध-  
वर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ प्लीहानं च यकृच्चापि तदधिष्ठाय वर्तते ।  
स्रोतांसि रक्तवाहिनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥ इति ( चरक, चिकित्सा अ० ४ ) ।  
रक्तस्य संयोगात्, रक्तस्य दूषणात्, रक्तस्य वर्ण-गन्धयोः सादृश्याच्च पित्तमेव रक्तपित्तमु-  
च्यते । तस्मादिह रक्तसंस्पृष्टं, रक्तदूषकं, रक्तसदृशं वा पित्तं=रक्तपित्तमिति शाकपार्थिवादिष्व-  
समासः । न तु रक्तं च पित्तं च इति द्वन्द्वः ॥ ४ ॥ इति चरकोपस्कारे, वैद्यरत्न-कवि-  
राज-श्रीयोगीन्द्रनाथ-सेन-महोदयाः ।

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।

ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं नासा-ऽक्षि-कर्णा-ऽऽस्यैर्मैढ-योनि-गुदैरधः ।

कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ४५ श्लो० २३ )

म०—घमेंत्यादि । घर्म=आतपः । तीक्ष्णं=तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽग्नितापः, क्षारो=यवाक्षारादिः, घण्टापाटल्यादिकृतश्च; विदग्धं=कुपितम् । स्वगुणैरिति 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं घृति' इत्यादिभिः, विदहति=कोपयति, स्वगुणैरेव, 'विदाहश्चास्य पित्तवत्' ( सु. सू. स्था. अ. २१ ) इत्युक्तेः । ततः प्रवर्तते=निःसरति, पित्तं रक्तं च धातुरूपं; नतु केवलं रक्तं, रक्तपित्तमिति व्यपदेशानुपपत्तेः । अथ पित्तेन दुष्टं रक्तं रक्तपित्तमित्युच्यते, तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत, एतेन रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासान्निरुक्तिरुक्ता सुश्रुतेन । नतु चरके रागपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तमित्युक्तं, तेन रक्तं च तत् पित्तं चेति कर्मधारयसमासेन निरुक्तिरुक्ता । अत्र च कारणत्रयमुक्तम् । यदाह,—“संयोगादूषणात्तत्तु सामान्याद्वन्ध-वर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः” ( च. चि. स्था. अ. ४ )—इति, तत्कथं न विरोधः ? नैवम्, अत्रापि रक्त-प्रवृत्तेः, दुष्टं हि रक्तं पित्ते रागमादधत्तत्संसर्गि रक्तं स्वयमपि प्रवर्तते इति पूर्वं एवार्थः । तेन रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तं, रक्तं च तत् पित्तं चेत्युभयथाऽपि निरुक्तावदोषः ॥ १-३ ॥

आ०—अथ पाण्डुरोगवद्रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात्तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह—घमेंत्यादि । एतैः स्वकारणगुणैर्विदग्धं दुष्टं पित्तं शोणितं विदहति कोपयति । घर्म आतपः, अध्वा=पन्थाः, व्यवयो=मैथुनं, तीक्ष्णं तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽग्नितापः अथवोष्णगुणद्रव्यं, क्षारो यवक्षारादिः अपामार्गादिकृतश्च । ततो रक्तं प्रवर्तते ऊर्ध्वमथो वा द्विधा वा एककालमूर्ध्वाधो वा, तस्य रक्तपित्तमुच्यते । रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासान्निरुक्तिः सुश्रुतेनोक्ता । चरके तु; रागपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तमुच्यते । तत्र रक्तं च तत्पित्तं चेति कर्मधारयसमासः । यदुक्तं चरकेण कारणत्रयम्—“ संयोगादूषणात्तत्तु सामान्याद्वन्धवर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः— ” इत्युभयत्रापि न कश्चिदोषः । केषु मार्गेषु प्रवर्तते तानाह—ऊर्ध्वमित्यादि । कुपितं तत्पित्तं नासादिभिरूर्ध्वं, मेढ्रादिभिरधः, अतिकुपितं मार्गद्वयैरूर्ध्वाधोभिः समस्तरोमच्छिद्रैश्च ॥ १-३ ॥



अथास्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।

लोहगन्धिश्च निश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ४५ श्लो० ६ )

म०—सदनमित्यादि । कण्ठधूमायनं=कण्ठाद् धूमनिर्गम इव प्रतीतिः ॥४॥

आ०—पूर्वरूपमाह—सदनमित्यादि । सदनमङ्गानां, शीतकामित्वं=शीतेऽभिलाषः । कण्ठधूमायनमिति कण्ठाद् धूमनिर्गम इव वेदनेत्यर्थः । लोहगन्धि=अमायमानलोहम्येव ध्वासे गन्धः ॥ ४ ॥

अथ श्लैष्मिकरक्तपित्तलक्षणम् ।

श्लैष्मिकमाह—

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

( च० चि० अ० ४ श्लो० ८ )

म०—सान्द्रमित्यादि । सान्द्रं=घनम्, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डुस्नेहम् ।

आ०—श्लैष्मिकमाह—सान्द्रमित्यादि । सान्द्रं घनं, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डु ईषत्स्नेहम् ।

अथ वातिकरक्तपित्तलक्षणम् ।

वातिकमाह—

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ५ ॥

( च० चि० अ० ४ श्लो० ९ )

म०—श्यावेत्यादि । तनु=अघनम् ॥ ५ ॥

आ०—वातिकमाह—श्यावेत्यादि । तनु अघनम् ॥ ५ ॥

अथ पैत्तिकरक्तपित्तलक्षणम् ।

पैत्तिकमाह—

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।

मेचकाऽऽगारधूमाऽऽभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥

( च० नि० अ० ४ श्लो० १०. )

म०—रक्तेत्यादि । कषायाभं=वटादिकाथवर्णम् । मेचकाऽऽगारधूमाऽऽभ-  
मिति मेचकाऽऽगारधूमयोरिवाभा यस्य तत्तथा; मेचकाभम्, आगारधूमाभं च ।  
मसृणीकृतकृष्णमणिवर्णस्येव वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः प्राहुः, चिक्रण-  
कृष्ण इत्यर्थः । अञ्जनाभं=सौवीराञ्जनवर्णाभम् । ननु, सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन  
पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्तमिति । उच्यते-सत्यं, किन्तु यदा स्वस्था-  
नस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किंवा  
दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिकमिति व्यपदेश  
इति । ननु, केवलपैत्तिकं न संभवत्येव, यद्वक्ष्यति—“ऊर्ध्वगं कफसंसृष्ट-  
मधोगं पवनानुगम्”—इति । नच तस्य निर्दिष्टो मार्गः ? उच्यते, यदा स्वका-  
रणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिका-  
दिव्यपदेशः, ननु मार्गसंबन्धानुगतेन कफ-वात-संबन्धेन । ऊर्ध्वगं हि मार्ग-  
संबन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते । नच तत्र  
कफ-वातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरादि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन  
कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तम्—“कुर्या-  
त्पित्तं च शरादि तस्य चानुबलः कफः” (च. चि. स्था. अ. ३ )—इति ।  
तेन यदा एकदोषालिङ्गयुक्तं भवति तदा एकदोषानुगम्, एवं द्विदोषलिङ्गं त्रिदोष-  
लिङ्गं च बोध्यम् । तेनोर्ध्वगमधोगं चैक-द्वि-त्रि-लिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य  
मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥ ६ ॥—

आ०—पैत्तिकमाह—रक्तेत्यादि । कषायाभं=खदिरादिक्वाथवर्णं, मेचकाभं=कृष्णराजिरञ्जि-  
तमणिमसृणीकृतकृष्णवस्त्रवर्णं इव वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः, चिक्रणकृष्ण इत्यर्थः ।  
अञ्जनाभं च सौवीराञ्जनवर्णाभम् । ननु सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते, तत् कथं  
पैत्तिकं रक्तपित्तमित्युच्यते ? सत्यं, यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तराव-  
स्थितेनापि पित्तेन संस्पृशति किंवा दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलमेव पित्तमित्युच्यते तत्  
पैत्तिकमिति व्यपदेश इति । ननु, केवलं पैत्तिकं न संभवत्येव, यद्वक्ष्यति—“ऊर्ध्वगं  
कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्”—इति; न च तस्य निर्दिष्टो मार्गः ? उच्यते—यदा हि  
स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्य-  
पदेशः, न तु मार्गसंबन्धत्वागतेन कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरादि ज्वरजनकं  
पित्तं कालमहिमागतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिकदोषोऽसौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तम्—  
“कुर्यात्पित्तं च शरादि तस्य चानुबलः कफः”—इति । तेन यदा एकदोषालिङ्गयुक्तं भवति तदा  
एकदोषानुगतम्, एवं द्विदोषलिङ्गं बोद्धव्यम्, तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वि-त्रि-लिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य  
मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥ ६ ॥

अथ द्वि-त्रि-दोषजरक्तपित्तलक्षणम् ।

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

( च० । चि० अ० ४ श्लोक० ११ )

आ०—संसर्गसन्निपातजानि रक्तपित्तान्याह—संसृष्टेत्यादि । यदा द्विदोषलिङ्गैरुपलक्षितं भवति तदा द्विदोषजं, यदा च त्रिदोषलिङ्गैः संसृष्टं=मिलितं भवति तदा सान्निपातिकम् ।—

अथोर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य भेदद्वयम् ।

संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम् ।

द्विमार्गं कफ-वाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ ७ ॥

( च० चि० अ० ४ श्लोक० १२ )

म०—ऊर्ध्वगमित्यादि ॥ ७ ॥

आ०—दोषमिलितत्वेन मार्गमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि । यदा कफानुगतं रक्तपित्तं भवेत्तदा ऊर्ध्वमार्गेषु प्रवर्तते, यदि च वातानुगं तदाऽधोमार्गेषु, यदि तु उभाभ्यां कफ-वाताभ्यां संसृष्टं भवति तदा मार्गद्वयेषु प्रवर्तते । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो, न दर्शितः रोगस्य रक्तपित्तप्राधान्यतैव ॥ ७ ॥

अथास्योर्ध्वाधोभेदेन साध्यासाध्ययाप्यत्वम् ।

मार्गभेदेन साध्यत्वादिकमाह—

ऊर्ध्व साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्भूतम् ।

( सु० उ० अ० ४५ श्लोक० ५ )

म०—ऊर्ध्वमित्यादि । ऊर्ध्वं साध्यमिति ऊर्ध्वगस्य कफ-पित्त-संश्लिष्टत्वेन कषाय-तिक्तौ रसौ कफ-पित्त-हरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम् । अधोगे तु एक एव मधुरो वात-पित्त-प्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्ग-त्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम् । उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम् । यदुक्तं चरके—“साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते । विरेच-नस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च ॥ विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्” ( च. नि. स्था. अ. २ )—इत्यादि ॥—

आ०—मार्गप्रवृत्त्या तस्य साध्यासाध्यत्वादिमाह—ऊर्ध्वमित्यादि । युगपद्भूतमेककालं मार्गद्वये प्रवृत्तम् ॥—

अथास्य सुखसाध्यलक्षणम् ।

साध्यत्वे हेतुमाह—

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥ ८ ॥  
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।

( च० चि० अ० ४ श्लो० २० )

म०—एकमार्गमित्यादि । एकमार्गमत्रोर्ध्वगमभिप्रेतम्, अधोगस्य याप्यत्वात् । नवोत्थितमचिरजम् । सुखे काले=हेमन्त-शिशिरयोः । निरुपद्रवं वक्ष्यमाण-दौर्बल्याद्युपद्रवरहितम् ॥ ८ ॥—

आ०—साध्यत्वे हेतुमाह—एकेत्यादि । ऊर्ध्वमार्गमिति=ऊर्ध्वमार्गप्रवृत्तं, बलयुक्तस्य पुंस नातिवेगं=मन्दवेगं, नवोत्थितम्=अचिरकालजातम् । सुखे कालेहेमन्तशिशिरयोः । निरुपद्रवमिति वक्ष्यमाणदौर्बल्याद्युपद्रवरहितम् ॥ ८ ॥—

अथास्य दोषभेदात्साध्यासाध्यत्वम् ।

दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ ९ ॥  
यत्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।  
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्रतश्च यत् ॥ १० ॥

( च० चि० अ० ४ श्लो० ११, १२ )

म०—एकदोषानुगमित्यादि । मार्गभेद-दोषभेदाभ्यां साध्यत्वा-ऽसाध्यत्व-विरोधे अर्शःस्वभिहित-दोषभेद-बलिभेदाभ्यां साध्यत्वा-ऽसाध्यत्वव्याख्येयम् । मन्दाग्नेस्तथा व्याधिभिः क्षीणदेहस्य यदतिवेगवत् तदसाध्यम् । अनश्रतः अरुच्यादिना, अन्नाभावाद्वा ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—पुनरपि दोषानुसंस्पृष्टत्वेन साध्यासाध्यत्वमाह—एकदोषानुगमित्यादि । याप्यम-प्रतिक्रियं, त्रयो दोषाः प्रकीर्णहेतवो यस्य तत् त्रिदोषं रक्तपित्तमिति । मन्दाग्नेस्तु क्षीणदेहस्य च यदतिवेगवत्तदसाध्यम् । अनश्रतः अरुच्यादिना, अन्नाभावाद्वा । शेषं सुगम् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ रक्तपित्तस्योपद्रवाः ।

उपद्रवानाह—

दौर्बल्य-श्वास-कास-ज्वर-वमथु-मदाः पाण्डुता-दाह-मूर्च्छा  
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।

तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूति-निष्ठीवन-त्वं  
भक्त-द्वेषा-ऽविपाकौ विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० ४५ श्लो० ८ )

म०-दौर्बल्येत्यादि । दौर्बल्यं=शक्त्युपचययोरभाव इति गयदासः ।  
भुक्ते इति षष्ठ्यर्थे सप्तमीति कार्तिकः । हृद्यतुल्येति हृदि अतुल्या=असदृशी  
पीडा । कोष्ठस्य भेदः=कोष्ठमलस्य भेदः । तपनं=तापः । 'प्रविततशिरस'  
इति पाठान्तरे प्रविततं=विस्तीर्यमाणमिव; प्रवितता=विस्तीर्णा वेदना शिरसि  
यस्य स तथेति कार्तिकः । 'प्रविततसिरता' इति पाठान्तरे सिरा-व्याप्त-गा-  
त्रता । अविपाक आहारस्य । विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गा इति एते रक्तपि-  
त्तस्य उपसर्गा=उपद्रवाः; तथा तस्य विकृतिरपि भवेदिति योज्यम् । सा  
च वक्ष्यमाणमांसप्रक्षालनाभमित्यादिरूपा । 'रक्तपित्तोपसर्गात्' इति पाठान्तरं  
सुगमम् ॥ ११ ॥

आ०-उपद्रवानाह-दौर्बल्यमिति । शक्त्युपचययोरभाव इति गयदासः । वमथुः=छर्दिः, मदः=  
धत्त्रादिफलभक्षणवत् । आ=समन्ततः पाण्डुता । दाहः सर्वाङ्गगतः । मूर्च्छा=चेतनाच्युतिः ।  
भुक्ते घोरो विदाह इति भुक्त्याहारस्य दारुणो विदाहः, षष्ठ्यर्थे सप्तमीति कार्तिकः । हृद्यतुल्येति  
हृदि अतुल्येति छेदः, हृदयेऽतुल्या असदृशी पीडा । कोष्ठस्य भेद इति कोष्ठमलभेदः । शिरसि तपनं  
तापः । पूतिनिष्ठीवनत्वं=पित्तमयोद्गिरणम्, अविपाकः आहारस्य । एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा  
उपद्रवाः । विकृतिरपि भवेदिति तस्य रक्तपित्तस्य विकृतिरपि भवेदिति योज्यम् । सा च मांसप्रक्षाल-  
नाभमित्यादिरूपा ॥ ११ ॥

अथ रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणम् ।

असाध्यलक्षणमाह—

मांस-प्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा,  
मेदः-पूया-ऽस्र-कल्पं यकृदिव यदि वा पक्व-जम्बू-फलाभम् ।  
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-  
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुर-पति-धनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० ४५ श्लो० ९ )

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।

पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।  
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥ १४ ॥

( च० नि० अ० ४ श्लो० २४, २५ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥

म०—मांसेत्यादि । कुथितमिव=पूतितां गतमिव । कर्दमाविलमिवाम्भः कर्दमाम्भः, अथवा कर्दमनिभं अम्भोनिभं च । तथा भेदः पूयाऽस्रकल्पमिति कल्पशब्दो भेदः प्रभृतिभिस्त्रिभिः संबध्यते इति गयदासः । यकृदिव=यकृत्खण्डमिव । पक्वजम्बूफलाम्भं=स्निग्धकृष्णम् । कृष्णमञ्जनाभम् । नीलं=चाषपक्षप्रतिभम् । ननु, पैत्तिके कृष्णत्वं पठितं न च तदसाध्यं ? नैवम्, अतिशब्देनात्र विशेषितत्वात्; तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यमिति जेज्जटः, अथवा जम्बूफलाम्भं यत् कृष्णं तदिति योज्यम् । उक्ता विकाराः श्वास-कासादयः । सुरपतिधनुषां तुल्यं नानावर्णम् । येनेत्यादि । येन रक्तपित्तेनेति योज्यम् । पश्येद्दृश्यं वियच्चापि अदृश्यमपि वियद्दृश्यमिव पश्यतीति योज्यं, रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वादिति; अथवा दृश्यं घट-पटादि, वियच्च रक्तं पश्यतीति । यो बहुशश्छर्दयेदिति संबन्धः । लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च, उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः, अथवा लोहितमुद्गारं पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शीति ॥ १२-१४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोषव्याख्यायां रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—तस्य विकृतिरूपत्वेनासाध्यत्वमाह—मांसेत्यादि । कुथितमिव पूतितां गतमिव । कर्दमाविलमिवाम्भः कर्दमाम्भः; अथवा कर्दमनिभमम्भोनिभं वा । अत्र कल्पशब्दो भेदः प्रभृतिभिः त्रिभिः प्रत्येकं संबध्यते । यकृदिव यकृत्खण्डमिव । पक्वजम्बूफलाम्भं=स्निग्धकृष्णं, कृष्णम्=अञ्जनाभं, नीलं=चाषपक्षनिभम् । ननु, पैत्तिके कृष्णं पठितं तच्च साध्यं ? नैवम्, अपिशब्देनात्र विशेषितत्वात् । तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यमिति जेज्जटः । अथवा जम्बूफलाम्भं यत्कृष्णमिति योज्यम् । भृशमिति अत्यर्थम् । अति सर्वत्र । कुणपं=श्वगन्धि । यत्र चोक्ता विकाराः श्वासकासादय उपद्रवाः; ‘भवन्ति’ इति शेषः । सुरपतिधनुषेति सुरपतिधनुर्वन्नानावर्णमित्यर्थः । एभिः पूर्वोक्तैरुपद्रवैर्युक्तं विकृतैर्वर्णश्च रक्तपित्तं त्याज्यम् । असाध्यलक्षणान्तरमाह—येनेत्यादि । येन रक्तपित्तेनोपहतो मनुष्यः दृश्यं घटपटादिकं वियच्च अदृश्यं पश्यति स नश्यति । अन्ये ‘पश्येद्रक्तं वियच्चापि’ इति पठन्ति । अदृश्यमपि वियत् रक्तं पश्यति, रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वात् । लक्षणान्तरमाह—लोहितमित्यादि । यो बहुशः रक्तं छर्दयेत् रक्तनयनश्च लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः; अथवा लोहितमुद्गारं पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शी, स म्रियते ॥ १२-१४ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्क्यदर्पणे रुग्निनिश्चयव्याख्याने रक्तपित्तनिदानम् ॥ ९ ॥

अथ राजयक्ष्म-क्षत-क्षीण-निदानम् ।

अथ राजयक्ष्मनिदानम् ।

(Phthisis, Consumption, Pulmonary tuberculosis.)

राजयक्ष्मरूपेषु 'पित्ताद्रक्तस्य चागम' इति वचनाद्रक्तपित्तानन्तरं यक्ष्मनिदानम् । चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टकारणं चतुर्विधमाह—

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसद्विषमाशनात् ।

त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ १ ॥

म०—वेगरोधादित्यादि । वेगोऽत्र वात-मूत्र-पुरीषाणां, न तु न वेगान्धारणी-  
योक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम् । यदुक्तं चरके—“द्वीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा  
वेगमागतम् । वात-मूत्र-पुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः” ( च. चि. स्था. अ. ८ )  
इत्यादि । क्षयादिति । क्षीयते अनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादादयो  
धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते । साहसादिति साहसो बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन  
कारणम् । विषमाशनादिति सुश्रुतोक्तद्वादशाशनप्रविचारव्यतिरेकेणोपयोगः,  
तस्य शीघ्रं स्रोतोरोधकत्वात् । उक्तं हि चरके—“विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण  
समश्नताम् । जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा भारुतादयः ॥ रुध्वा स्रोतांसि  
धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः । दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः”  
( च. चि. स्था. अ. ८ ) इति । त्रिदोष इति मिलितत्रिदोषज एक एव, न तु  
कारणभेदादनेकः । यदाह सुश्रुतः—“एक एव मतः शोषः संनिपातात्मको  
यतः । उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि” ( सु. उ. तं. अ. ४१ )—इति ।  
ननु, वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति, तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत् ?  
उच्यते, वातप्रकोपादेवाग्निदुष्ट्या कफ-पित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः । हेतुचतु-  
ष्टयादित्यनेनासंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टयेऽन्तर्भवन्तीति दर्शयति । शोषा-  
दिनानाशब्दवाच्यत्वेन चास्य सुश्रुतोऽन्वयमकार्षीत् । यथा—“संशोषणाद्रसा-  
दीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः ॥ राज्ञश्च-  
न्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः”  
( सु. उ. तं. अ. ४१ )—इति । वाग्मटे तु—“यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा”—  
इत्युक्तम् । “राजदन्तादिषु परम्”—इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य पर-  
निपातः ॥ १ ॥

आ०—राजयक्ष्मरूपेषु 'पित्ताद्रक्तस्य चागम' इति वचनाद्रक्तपित्तनिदानानन्तरं राजयक्ष्म-  
निदानारम्भः । चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टं कारणचतुष्टयमाह—वेगेत्यादि । वेगोऽत्र वातमूत्र-



पुरीषादीनां न तु जृम्भादीनां सर्वेषाम्, यदुक्तं चरके—“ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम् । वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः—” इत्यादि । क्षयो=धातुक्षयः । स च व्यवयानशनासृक्सावोपवासादिभिरनेककारणैर्जायते । साहसादिति साहसो=बलघट्टिग्रहादिः विषमाशनादिति “बहु स्तोक्रमकाले वा ज्ञेयं तद्विषमाशनम्”—इति । तस्य शीघ्रं स्रोतोरुधेकत्वात् । उक्तं च चरके—“विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः । जनयन्त्यामयान् घोरान्विप्रमान्मारुतादयः ॥ रुध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः । दोषा रोगाय जायन्ते न पुष्यन्ति च धातवः” इति । त्रिदोष इति मिलितत्रिदोषजनित एक एव, न च कारणभेदादनेकः । उक्तं हि सुश्रुते—“एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको यतः । उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि”—इति । असंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टय एवान्तर्भवन्तीति दर्शयति । अस्य शोषादिनानाशब्दवाच्यत्वेन संज्ञां स्वयमेवाकार्षीत्सुश्रुतः । यथा—“संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः । राजश्चन्द्रमसो यस्माद्भूदेष क्लामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः”—इति । तन्त्रान्तरेऽपि कारणचतुष्टयमुक्तम्—“अयथाबलमारम्भो वेगसंधारणं क्षयः । यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ” इति ॥ १ ॥

अथ क्षयरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवह-निरोधादिभिरपीति दर्शयितुं विशिष्टां सम्प्राप्तिमाह—

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।

अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ।

क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ २ ॥

म०—कफेत्यादि । यदा त्वेवं न स्यात्, तदा धातुक्षय एव रोगो न तु यक्ष्मा । कफः प्रधानं येषामनिलादीनां दोषाणां ते तथा । ननु, दोषैरित्यनेन दोषत्रयमुच्यते, कफस्य विशेषणत्वेनोपात्तत्वात्, कथं तस्यैवान्यपदार्थवाच्यता ? उच्यते, स्वावयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, यथा—बहुवृक्षं वनमिति; समाधानविस्तरस्तु सुश्रुते जेज्जटे द्रष्टव्यः । कफप्रधानता च वेगरोधादि-कुपितवातविप्रलुताग्निमान्द्यादिना बोद्धव्या । रसवर्त्मसु=रसवहधमनीषु, अत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तेन रक्तादिवहस्रोतोरुधोऽपि बोध्यः । अथ-चा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्तिकः । इदमत्र सूचितं,—यन्मार्गरोधात् हृदयस्थो रसस्तत्रैवावस्थितो विकृतो मुखेन निःसरति । यदाह चरकः—“रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते । स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते” ( च. चि. स्था. अ. ८ )—इति । एतेनानुलोम-

क्षयो दर्शितः, कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभा-  
वेन क्षीयमाणत्वात् । प्रतिलोमक्षयं दर्शयितुमाह—अतिव्यवायिनो वेत्यादि ।  
रेतसि क्षीणे सत्यनन्तराः=समीपगा धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा—शुक्रे क्षीणे  
मज्जा क्षीयते, मज्जानि क्षीणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम् । ननु, कार्यभूतस्य शुक्रस्य  
क्षयात् कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत् ? उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः  
प्रकुप्यति, यदुक्तम्—“वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च” ( च. चि.  
स्था. अ. २८ )—इति । स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति; एवं पूर्वपूर्व-  
धातून् । दृष्टं च प्रत्यासत्त्याऽपि कार्यजननं, यथा—अग्निसन्तप्तायोगोलकसंनि-  
धानादाद्र्भूभागस्यापि शोषः । तथा च रससंचारपक्षे सुश्रुतवचनम्—“पूर्वः  
पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम् । तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां हासनं हितम्”  
( सु. सू. स्था. अ. १५ )—इति ॥ २ ॥

आ०—तस्य विशिष्टां संप्राप्तिमाह—कफेत्यादि । कफः प्रधानं वेपामनिलादिदोषाणां  
तैस्तथा । ननु दोषरिति बहुत्वेन दोषत्रयमुच्यते, तत्कथं कफस्य प्रधानता, उच्यते—तस्य  
प्रधानता च वेगरोधादिधुमितवातविप्लुताग्निमान्वादिना बोद्धव्या । रसवर्त्मसु रसवह-  
घमनीषु । अत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन रक्तादिवहस्रोतोऽपि बोद्धव्यम् । अथ-  
वा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्तिकः । इदमत्र सूचितम्—  
यन्मार्गावरोधाद्दृढस्थो रसो विदह्यते, तत्रैव वा स्थितो विहृतविहृलपिच्छविस्त्रहरितपीत-  
श्वेतकासवेगेन मुखमार्गेण निःसरति । यदुक्तं चरके—“रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो  
विदह्यते । स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते”—इति । एतेनानुलोमक्षयो दर्शितः ।  
कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभावेन क्षीयमाणत्वात् ।  
प्रतिलोमक्षयं दर्शयन्माह—अतीत्यादि । अतिव्यवायिनः=अत्यर्थं ग्राम्यधर्मसेविनः । यदि स्त्रीभ्यो  
न निवर्तते तदा क्षीणे रेतसि=क्षीयमाणे शुक्रे, अनन्तराः=समीपस्था धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा—  
शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जानि क्षीयमाणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम् । ननु, रसवर्त्मरोधात् रसो न  
रक्तस्य वृंहणायालं, रक्तापचयान्मांसस्यापचय इत्यादिपूर्वपूर्वधातुक्षीणतया शुक्रक्षयो युक्तः;  
कार्यभूतशुक्रक्षये पूर्वधातूनां कथं क्षयः ? उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः कुप्यति; यदुक्तं—“वायोर्धातुक्षया-  
त्कोपो मार्गस्यावरणेन च”—इति । स वायुः सान्निध्यात् मज्जानं शोषयति, एवं पूर्वपूर्वधातून् । दृष्टं  
च प्रत्यासन्नतया कार्यजनकत्वं यथाऽग्निजंतप्तायोगोलकसन्निधानादाद्र्भूभागस्य शोषः, यथा च महा-  
जलाधारपरिक्षये तत्र प्रविशतां जलाशयानां परिक्षयः ॥ २ ॥

अथ यक्ष्मणः पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

श्वासाङ्गमर्द—कफसंस्व—तालुशोष-  
वम्यग्निसाद—मद—पीनस—कास—निद्राः ।

शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः  
 शुक्लेशणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥ ३ ॥  
 स्वप्नेषु काक-शुक-शल्लकि-नीलकण्ठा  
 गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।  
 तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-  
 च्छुष्कांस्तरुन्पवन-धूम-दवा-ऽर्दितांश्च ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० १९ )

म०-श्वासेत्यादि । संस्रवः=ष्ठीवनम् । पीनसः=प्रतिश्यायः । मांस-  
 परो=मांसभोजनेच्छुः । रिरंसुः=स्त्रियं रन्तुमिच्छुः; एतच्च व्याधिमहिम्ना मनो-  
 दोषात् । तथा स्वप्नेषु काकादिवाहनं च पूर्वरूपमेव । शल्लकी 'शरारु' इति  
 ख्याता, नीलकण्ठो=मयूरः । विजलाः=निर्जलाः । दवो=वनाग्निः । अर्दितां=  
 अभिभूतान् । चकाराचृण-केश-निपातादयो द्रष्टव्याः । यदुक्तं चरके-"पूर्व-  
 रूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम् । अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्श-  
 नम् ॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बल-मांस-परिक्षयः । स्त्री-मद्य-मांस-प्रियता प्रियता  
 चावगुण्ठने ॥ मक्षिका-घुण-केशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने केशानां  
 नखानां चातिवर्धनम् ॥ पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिघर्षणम्" ( च. चि.  
 स्था. अ. ८ )-इति । तत्र श्वापदाः=व्याघ्रादयः ॥ ३ ॥ ४ ॥

आ०-पूर्वरूपमाह-श्वासेत्यादि । भविष्यति उत्पद्यमाने शोषे श्वासादयो भवन्तीति  
 संबन्धः । अङ्गसादोऽङ्गग्लानिः । कफसंस्रवः=कफष्ठीवनं, मदो=धतूरफलभक्षणं इति मनोमोहः,  
 पीनसः प्रतिश्यायः, 'कासहिक्का' इति स्थानेऽन्ये 'पाण्डुनिद्रा'-इति पठन्ति, तत्र पाण्डुः=पाण्डु-  
 देहच्छविः । स च पुरुषः शुक्लनयनो भवति । मांसपरो=मांसभक्षणकामः । रिरंसुः स्त्रियं  
 रन्तुमिच्छुः, एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषाद्बोद्धव्यम् । तथा स्वप्ने काकादिवाहनं च  
 पूर्वरूपमेव, शल्लकी गोधानुकारी वज्रशकली, 'सेल्लक' इति विख्यातः, नीलकण्ठा  
 मयूरः कृकलासः सरटः, 'गिरगिट' इति पूर्वदेशीया भाषन्ते, एते तं वाहनीभूय वहन्ति । विजलाः  
 निर्जलाः । पवनो=वायुः, दवो दावाग्निः, अर्दितां अभिभूतान् । चकारात् केशतृणा-  
 दिनिपातादयो भोजने ग्राह्याः । यदुक्तं चरके-"पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम् ।  
 अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् । घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः । स्त्रीमद्यमांस-  
 प्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने  
 केशानां नखानां चाभिघर्षणम् ॥ पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चापि घर्षणम् । स्वप्ने केशा-  
 स्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥ जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि । शुष्कतं

क्षीयमाणानां पततां चापि दर्शनम् । प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः ”-इति ।  
अत्र श्वापदा व्याघ्रादयः ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ क्षयस्य त्रीणि मुख्यलक्षणानि ।

त्रिरूपसंपन्नमाह—

अंस-पार्श्वोऽभितापश्च सन्तापः कर-पादयोः ।

ज्वरः सर्वाङ्गश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५ ॥

( च० चि० अ० ८ श्लो० ५० )

म०—अंसेत्यादि । अंस-पार्श्वयोरभितापः=पीडा, अंसो=भुजस्योपरि-  
भागः, अभितापत्वेन एकं रूपम्, एवं सन्तापेऽपि वाच्यम् । कर-पादयोरि-  
त्यत्र प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावं मन्यमानाः काश्मीराः—‘तापः पादकरस्य च’-इति  
पठन्ति, ‘करपादिकः’ इति च पाठान्तरम् । एतन्नयं प्रायोभावित्वेन चरके-  
णोक्तम्, तैनैकादशरूपेषु मध्येऽन्यदापि त्रयं बोध्यम् । तथा च भोजः—“कासो  
ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि-इति । अन्ये त्वाहुः—राजयक्ष्मणि यो  
ज्वरस्तस्यैतल्लक्षणमिति । जेज्जटस्तु त्रिरूपसंपत्तिमेव व्याख्यातवान् ॥ ५ ॥

आ०—त्रिरूपसंपत्तिं दर्शयन्नाह—अंसेत्यादि । अंसपार्श्वयोरभितापः पीडा, अंसो भुजस्योपरि  
भागः । करपादयोरित्यत्र प्राण्यङ्गत्वेनैकवद्भावं मन्यमानाः काश्मीराः ‘तापः पादकरस्य च’ इति  
पठन्ति, ‘सन्तापः करपादिकः’ इत्यपरे । एतन्नयं प्रयोभावित्वेन चरकेणोक्तम् ॥ ५ ॥

अथ क्षयस्य षड् लक्षणानि चरकीयाणि ।

कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चो गदोऽरुचिः ।

षडिमान्यपि जानीयाल्लक्षणानि च यक्ष्मणः ॥ )

( च० चि० अ० ८ श्लो० ४४ )

अथ तान्येव सौश्रुतानि ।

भैक्तद्वषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।

स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजक्ष्मणि ॥

( सु० उ० अ० ४१ )

आ० इदानीं तस्यैव षड्रूपाणि दर्शयितुमाह—भैक्तेत्यादि ।

१ सर्वाङ्गाः—सर्वधातुगतो ज्वर इति बोध्यम् । २ सौश्रुतोयं श्लोको विषयभेदप्रदर्शनाय साध-  
चाचार्येणात्र संगृहीतः ।

अथ क्षयस्यैकादश रूपाणि ।

राजयक्ष्मणस्त्रैदोषिकस्यैकादश रूपाणि विभज्य व्याधिप्रभाज्जायन्ते, न तु सन्निपातज्वरलिङ्गवत्सर्वदोषैः सर्वाणीत्याह—

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांस-पार्श्वयोः ।

ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ ६ ॥

शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।

कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥ ७ ॥

( सु० उ० त० अ० ४१ श्लो० ८ )

म०—स्वरभेदोऽनिलादित्यादि । शूलम् अंसपार्श्वयोरेव, संकोच एक एव गणनीयः । अभक्तच्छन्दो=भक्तारुचिः । कण्ठस्य उद्ध्वंसः=कण्ठभेदः, उत्कासिकेति कार्तिकः ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०—दोषभेदेनैकादश रूपाणि दर्शयन्नाह—स्वरेत्यादि । अंसपार्श्वयोः संकोच एक एव । अपरे ‘संकोच’ इति पठन्ति, तत्र संकोचो लुब्धितमिव अंसयोः पार्श्वयोश्च, तेनैवं त्रीणि-ज्वरादीनि चत्वारि पित्तेन, शिरसः परिपूर्णत्वं कफेनेति शेषः । अभक्तच्छन्दो भोजने अश्रद्धा, कण्ठस्य चोद्ध्वंसः कण्ठभङ्गः, उद्ध्वंस उत्कासिकेति कार्तिकः । एवं चत्वारि कफेन; एवमेकादश-रूपाणि; एवं षड्रूपाण्यपि वातादिभेदेन ज्ञेयानि ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथासाध्यक्षयलक्षणम् ।

असाध्यलक्षणमाह—

एकादशभिरिभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् ।

कासाऽतीसार-पार्श्वार्ति-स्वरभेदा-ऽरुचि-ज्वरैः ॥ ८ ॥

त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कास-श्वासा-ऽमृगामयैः ।

जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥ ९ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो. १२, १३ )

म०—एकादशभिरित्यादि । एकादशभिरिभिरिति=स्वरभेदादिभिः कण्ठो-द्ध्वंसान्तैः । षड्भिरिति सुश्रुतेन षड् रूपाणि पठितानि—“भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् । स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि” (सु. उ. तं. अ. ४१) —इति । ‘कासाऽतिसार-पार्श्वार्ति-स्वरभेदा-ऽरुचि-ज्वरैः’—इति तु कस्यचित्तन्त्रस्य षड् रूपाणि माधवकरेण लिखितानीति ।

एतानि चैकादशरूपाणि प्रायोभावित्वादुक्तानि, अन्यतरूपपारिहाराद्वृत्तान्तरयो-  
गेऽप्येकादशत्वं षट्त्वं च स्यादेव, तथाहि चरको निदाने एकादशरूपाणि पठित्वा  
चिकित्सितेऽपि वेगरोधादिकारणचतुष्टयजे प्रतिकारणं चतुर्धा एकादशरूपाणि  
पठितवान् । यथा—“कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्व-शिरो-रुजा । छर्दनं रक्त-  
कफयोः श्वासो वचोऽग्रहोऽरुचिः ॥ रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मणि षड्भिः  
च । कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वर-वचो-ग्रहोऽरुचिः” (च. चि. स्था. अ. ८)  
इति । एकादशवचनेनैवं बोधयति—संपूर्णं यक्ष्मण्येकादशैव रूपाणि भवन्तीति ।  
जह्यादितिः ‘बल-मांस-क्षये सति’ इति शेषः । तथा च चरकः—“वातव्याधि-  
रपस्मारी कुष्ठी ब्रध्नी चिरज्वरी । गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥  
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात् । स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान्  
विवर्जयेत् ॥ (च. इ. स्था. अ. ९) इति ॥ ९ ॥

आ०—बहुरूपो राजयक्ष्माऽसाध्यस्तमाह—एकादशभिरिति । एतैरिति स्वरभेदोऽनिलाच्छू-  
लमित्यादिकैरेकादशभिः षड्भिर्वापीति भक्तद्वेषो ज्वर इत्यादिभिः षड्भिः, अपिशब्दात्  
त्रिभिर्वा अंसपार्श्वामितापश्चेत्यादिकैः समन्वितं ज्ञात् त्रयेत् । शोषान्वितं पुरुषं यक्ष्मण-  
मिति शेषः । बहि-मांस-बल-क्षये सतीति बोध्यम् ॥ ९ ॥

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ।

युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥१०॥

(च० चि० अ० ८ श्लो० ४५)

म०=सर्वैरित्यादि । ननु सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं सार्धपञ्च  
भवन्ति, तत्र कतमस्य रूपस्यार्धत्वं, किंभूतं वा भवति ? उच्यते, एकस्य रूप-  
स्यार्धत्वासंभवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोस्तृष्टत्वात् षड् रूप एवार्धो ग्राह्यः । लिङ्गैर्युक्त  
इति संबन्धः । अतोऽन्यथेति बल-मांस-क्षयाभावेऽसति ॥ १० ॥

आ०—असाध्यलक्षणमाह—सर्वैरिति सर्वैः एकादशभिः । ननु, सर्वाणि रूपाण्येकादश,  
एकादशानामर्धं सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कतमरूपस्यार्धत्वं किंभूतं वा भवति ? उच्यते—एकस्य रूप-  
स्यार्धसंभवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोस्तृष्टत्वात् षड् रूपमत्रार्धो ग्राह्यः । एतैर्लिङ्गैर्मांस-बल-क्षयैर्युक्तो  
वर्ज्य इति संबन्धः । मांस-बलयोः क्षयलिङ्गानि सुश्रुतेनोक्तानि । तद्यथा—“मांसक्षयेऽस्थि-  
गण्डोपस्थोरुन्मूलः कक्षा-पिण्डकोदर-प्रीवा-शुष्कता, रुक्षता, सादो गात्राणां, धमनीशैथि-  
त्यं च” इति । बलं=ओजः । “मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च । पूर्वोक्तानि च  
लिङ्गानि मरणं च बलक्षये”—इति । अपरे मांस-बल-क्षये इति पठन्ति, तत्र मांस-बल-क्षये-

सतीति योज्यम् । अतोऽन्यथेति=मांस-बल-क्षयेऽसतीति । एतेन बल-मांसाग्नि-युक्तः प्रत्याख्याय चिकित्स्यः सर्वरूपोऽपि ॥ १० ॥

अथापराण्यसाध्यलक्षणानि ।

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् ।

शूनमुष्कोदरं चैव यक्षिमणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० २९ )

म०—महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्यलक्षणम्, अरिष्टरूपत्वात्; अतीसार-निपीडितामिति द्वितीयम्, यक्षिमणो मलायत्तजीवितस्योक्तत्वात्; शूनमुष्कोदर-मिति तृतीयम्, मुष्कशोथस्य विरेकसाध्यत्वेन विरुद्धोपक्रमत्वात् ॥ ११ ॥

आ०—अपरमसाध्यलक्षणमाह—महाशनमिति । महाशनं बह्वशनमपि क्षीयमाण मांस-बला-भ्यां क्षीणमरिष्टत्वात् । अतीसारनिपीडितम्=अतीसारयुक्तम् । उक्तं च “मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम् । तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्षिमणो मलरेतसी”—इति । शूनमुष्कोदरं शोफयुक्तं मुष्कम् उदरं च यस्य तं, मुष्कशोथस्य विरेकसाध्यत्वेन विरुद्धोपक्रमत्वात् । महाशनं क्षीयमाणामि-त्येकमसाध्यलक्षणम् । अतीसारनिपीडितमिति द्वितीयं, शूनमुष्कोदरमिति तृतीयम् ॥ ११ ॥

अथान्यदसाध्यलक्षणम् ।

शुक्लाक्षमन्नद्वेषारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।

कृच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥

म०—शुक्लेत्यादि । शुक्लाक्षत्वादय एकैकशोऽसाध्यलक्षणानि ॥ १२ ॥

आ०—अपरमपि वर्ज्यमाह—शुक्लाक्षमित्यादि । कृच्छ्रेण बहुमेहन्तमिति कष्टेन बहुतरं मेहन्तं ‘मलम्’ इति शेषः । एतेनाहारस्य मलभावः कथितः । यस्य चातिशयो मलो निष्प-द्यते तस्य मांस-रक्त-क्षयो भवति स पुनरसाध्यः स्यात् । इत्थंभूतं नरं शुक्लाक्षत्वाद्युपद्र-वसहितं यक्ष्मा हन्तीति संबन्धः । इहेत्यस्मिन् शास्त्रे । शुक्लाक्षत्वादय एकैकशोऽप्यसाध्यलक्ष-णानि बोद्धव्यानि ॥ १२ ॥

अथास्य चिकित्स्यत्वम् ।

चिकित्स्यत्वमाह—

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम् ।

उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकूशं नरम् ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० २९ )

म०—ज्वरेत्यादि । उपक्रमेत्=चिकित्सेत् । अकूशमित्यनेन वयस्थोऽपि प्रत्याख्यायोपक्रम्यत इति सूच्यते । यदुक्तमन्यत्र,—“परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः । सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः”—इति ॥ १३ ॥



【 राजयक्ष्मादिनिदानम् 】 मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् । ( १७९ )

आ०—चिकित्स्यमाह—उर्वरेत्यादि । उपक्रमत् चिकित्सेत् । अकृद्यमित्यनेन वयस्योऽपि प्रत्याख्यायोपक्रम्यत इति सूच्यते । यदुक्तमन्यत्र—“परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः । सुमिष-  
गिभरूपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः”—इति ॥ १३ ॥

अथ क्षयस्यान्ये प्रकाराः ।

व्यवायादिजनितधातुशोषणमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरसन्नाह—

व्यवाय-शोक-वार्धक्य-व्यायामा-ऽध्व-प्रशोषितान् ।

व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥ १४ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० १४ )

म०—व्यवायेत्यादि । यदुक्तं सुश्रुते—“केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमा-  
गतः । न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः  
प्रत्येकं धातुसंक्षयात्” ( सु. उ. त. अ. ४१ )—इति । वृद्धस्य भावो वार्धक्य-  
मिति स्वार्थे कनि ततः व्यजिति कार्तिकः ॥ १४ ॥

आ०—व्यवायादिजनितशोषमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरस्यन्नाह—व्यवायेत्यादि । व्यवायः=स्त्री-  
सेवा, शोकः=पुत्रादिवियोगेन चित्तोद्वेगः, वार्धक्यं=वृद्धत्वं, व्यायामः=शरीरायासजननम्,  
अध्वा=दीर्घमार्गाटनं, व्रणः=क्षतम्, उरः=क्षतमुरोऽन्तरभिघातजनितव्रणः । यक्ष्मणो लक्षणैरिति  
तेलिङ्गैः, न तु यक्ष्मैव, यदुक्तं सुश्रुते—“केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः । न तत्र दोष-  
लिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्”—इति ॥ १४ ॥

अथ व्यवायशोषिणो लक्षणम् ।

व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गरूपद्रुतः ।

पाण्डुदहो यथापूव क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० १५ )

म०—व्यवायेत्यादि । शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः । तद्यथा—“शुक्र-  
क्षये मेढू-वृषण-वेदना, अशक्तिर्भैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पदर्शनं रक्तस्य  
शुक्रस्य वा” ( सु. सू. स्था. अ. १५ )—इति ॥ १५ ॥

आ०—व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—व्यवायेत्यादि । शुक्रक्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः—“शुक्रक्षये  
मेढूवृषणवेदनाऽशक्तिर्भैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्पशुक्रदर्शनं रक्तस्य च” इति । यथापूव

घातवः क्षीयन्ते तत्र शुक्रस्य पूर्वो मज्जा मज्जोऽस्थि अस्थो मेदः मेदसो मांसं मांसस्य रक्त-  
मित्येवं परं यदि स्त्रीभ्यो न निवर्तते ॥ १५ ॥

अथ शोकशोषिणो लक्षणम् ।

शोकशोषिणो लक्षणमाह-

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः ।

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० १६ )

म०-प्रध्यानेत्यादिना । शोकशोष्यपि तादृश इति शुक्रस्य क्षयलक्षणव्य-  
तिरिक्तेन शुक्रशोषलिङ्गेन युक्तः, यदुक्तं सुश्रुते-“विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुप-  
लक्षितः” ( सु. उ. तं. अ. ४१ ) इति ॥-

आ०--शोकशोषमाह--प्रध्यानशीलः=चिन्तापरः, स्रस्ताङ्गः=अवसन्नगात्रः, तादृश इति  
शुक्रक्षयलक्षणव्यतिरिक्तैः शुक्रशोषिलक्षणैर्युक्तः ॥-

अथ जराशोषिणो लक्षणम् ।

वार्धक्यशोषिणो लक्षणमाह-

जराशोषी कृशो मन्द-वीर्य-बुद्धि-बलेन्द्रियः ॥ १६ ॥

कम्पनोऽरुचिमान् भिन्न-कांस्य-पात्र-हतस्वरः ।

ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवा-ऽरति-पीडितः ॥ १७ ॥

संप्रसृताऽऽस्य-नासाऽक्षः शुष्क-रूक्ष-मल-च्छविः ।

( सु० उ० तं० अ० ४१ श्लो० १७-१८ )

म०-जरेत्यादि । कम्पनः=कम्पयुक्तः । भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य  
हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा । ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महर-  
णाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम् । शुष्क-रूक्ष-मल-च्छविरिति शुष्करूक्षे  
यथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा ॥ १६ ॥ १७ ॥-

आ०-जराशोषिणमाह-जरेत्यादि । मन्दशब्दो वीर्यादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते । वीर्यं=  
शक्तिः, बलमोजो हृदि स्थितं सप्तधातूनां धाम । कम्पनः कम्पयुक्तः । भिन्नस्य=स्फुटितस्य  
कांस्यपात्रस्य दण्डादिना हतस्येव स्वरो यस्य स तथा । ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय  
बले कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम् । अरुचिपीडित इति पुनररोचकप्रहणमत्यन्तमरोचकताख्या-

१ अस्याग्रे कस्मिंश्चित्पुस्तके 'पुनररुचिप्रहणमत्यन्तारोचकव्यापनार्थम्' इत्यधिकं पठ्यते ।

२ एतच्च 'गौरवारुचिपीडित' इति पाठाभिप्रायेण ।

[ राजयक्षमादिनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( १८१ )

पनार्थम् । सम्प्रसृतशब्द आस्यादिभिः सम्बध्यते । आस्यं=मुखकुहरम्, आक्षि=लोचनम् ।  
शुष्करुक्षमलच्छविरिति=शुष्करुक्षे कथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा ॥ १६ ॥ १७ ॥—

अथ मार्गशोषिणो लक्षणम् ।

अध्वशोषिणो लक्षणमाह—

अध्वशोषी च सस्ताङ्गः संभृष्ट-परुष-च्छविः ॥ १८ ॥

प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्क-क्लोम-गला-ऽऽननः ।

( सु० उ० अ० ४१ श्लो० १९ )

म०—अध्वेत्यादि । संभृष्टस्येव=भर्जितस्येव छविर्वर्णो यस्य स तथा ।  
प्रसुप्तः=स्पर्शानभिज्ञः । क्लोम=पिपासास्थानं, क्लोमस्थाने ताल्विति पाठान्तरम् ॥ १८ ॥—

आ०—अध्वशोषिणमाह—सस्ताङ्ग इति । सस्ताङ्गः=शिथिलगात्रः । संभृष्टस्येव भर्जितस्येव छविर्वर्णो यस्य स तथा । प्रसुप्तगात्रावयव इति प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञः अकर्मण्यः शरीरप्रदेशो यस्य स तथोक्तः । शुष्कशब्दः क्लोमादिभिः प्रत्येकं संबध्यते, क्लोम=पिपासास्थानं हृदये, क्लोमस्थाने ताल्विति पाठान्तरम् । यद्यपि यथोद्देशं जराशोष्यनन्तरं व्यायामशोषी वाच्यो नाध्वशोषी, तथाऽप्यध्वशोषिणो लक्षणानां व्यायामशोषिण्यतिदेशात् । पूर्वमत्राध्वशोषी निर्दिष्टः । यद्येवं तर्हि व्यायामशोषिलक्षणान्येव कुतोऽध्वशोषिणि नातिदिश्यन्ते । सत्यम्, उरःक्षतलिङ्गानामधिकानां व्यायामशोषिणि सद्भावात् । अथोद्देश एवाध्वशोषी कस्मान्नादावुक्त इति चेत्—छन्दोनुरोधात् ॥ १८ ॥—

अथ व्यायामशोषिणो लक्षणम् ।

व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः ॥ १९ ॥

लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ।

( सु० उ० त० अ० ४१ श्लो० २० )

म०—व्यायामेत्यादि । एभिर्ध्वशोषलक्षणैः, अध्वनो व्यायाममात्रसामान्यात् । भूयिष्ठमत्यर्थम्, अध्वशोषेऽल्पानि लक्षणानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः । तथा—‘उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः’ इति सुगमः पाठः । गदाधरस्तु—‘लिङ्गैरुरःक्षतकृतः संयुक्तश्च क्षतं विना—’ इति पठति, व्याचष्टे च—उरःक्षतेन

व्यायाम-भाराऽध्ययन-द्रुतयानादि-हेतुना यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्व-  
शोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः, क्षतं क्षतकार्यं विना । क्षतकार्यं तु सुश्रुते यथा-  
“तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति-” इत्यारभ्य “भिन्न-वर्ण-स्वरो-  
नरः” ( सु. उ. तं. अ. ४१ )-इत्यन्तमेतान्येव लक्षणानि क्षतेऽधिकानि, उरः-  
क्षतकारण-व्यायाम-भारादिकृतशोषस्य लक्षणमेव भूयिष्ठं यत्तदेवोरःक्षतकारण-  
मात्रत्वादध्वनोऽपीत्यर्थः । अथवा क्षतं विना=व्रणं विना, उरःक्षतनिमित्त-भारा-  
ध्ययनादिनाऽतिमात्रेण यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवात्यर्थाध्वशोषलिङ्गैः । सम-  
न्वित इति प्रकृतेन संबन्धः, सव्रणस्य तु वक्ष्यमाणमेव लक्षणमिति ॥ १९ ॥—

आ०—व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—व्यायामेत्यादि । एभिरिति । अस्ताङ्गत्वादिभिरनन्तरो-  
क्तैरेवाध्वप्रशोषिलक्षणैः, भूयिष्ठमत्यर्थम्, अध्वशोषे अल्पानि लिङ्गानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः ।  
‘स एवोरःक्षतकृतैः संयुक्त’ इति सुगमः पाठः । गदाध्वस्तु—लिङ्गैरुरःक्षतकृतः संयुक्तश्च क्षतं  
विना’ इति पठति; व्याचष्टे च—उरःक्षतेन व्यायामभाराध्ययनद्रुतपृष्ठयानादिहेतुना यः कृतः  
शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः । क्षतं विना क्षतकार्यं विना, क्षतकार्यं तु सुश्रुते  
यथा—“तस्योरसि क्षतं रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति । कासमानश्छर्दयेच्च पीतारक्तसितारु-  
णम् ॥ सन्तप्तवक्षाः सोऽत्यर्थं दूष्णात्परिताम्यति । दुर्गन्धोच्छासवदनो भिन्नवर्णस्वरो  
नरः”—इति ॥ १९ ॥—

अथ व्रणशोषिणो लक्षणम् ।

कारणत्रयेण व्रणशोषिणमाह—

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् ।

व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥

( सु० उ० त० अ० ४१ श्लो० २१ )

म०—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना=व्रणवेदनाः, ताभिर्भय-शोक-वन्मनःक्षोभा-  
द्वातप्रकोपादेव शोषः । स चासाध्यतम इति स्वार्थिकस्तमम्, यथा—“युधिष्ठिरः  
श्रेष्ठतमः कुरूणाम्”—इति । अत्रेष्टनैवातिशायिकप्रत्ययेन प्रशस्ततमत्वस्य प्रति-  
पादितत्वात् । अथवा याप्यापेक्षयाऽसाध्यतमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते, याप्य-  
स्याप्यसाध्यरूपत्वात् । ननु, एवं सति “कुशानां व्रणशोषिणाम् । बृहणीयो  
विधिः कार्यः” ( सु. चि. स्था. अ. १ )-इति सुश्रुतेनैवोक्तं चिकित्सित-  
स्थाने विरुध्यते ? उच्यते, प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले तु चिकित्सा-  
विधानमिति समर्थनीयम् । चन्द्रिकाकारस्तु—‘स चासाध्यतमः स्मृतः’—इत्य-

स्य स्थाने 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' इति पठति, चिकित्सायां बृंहणविधेरभिधानादिति ॥ २० ॥

आ०—व्रणशोषिणमाह—रक्तेत्यादि । रक्तातिस्तुतेः, वेदनाः व्रणवेदनाः, ताभिरपि भयशोक-  
वन्मनःक्षोभाद्वातप्रकोपादेव शोषः, स चासाध्यतमः, अथवा याप्यापेक्षया असाध्यतमः, असाध्य-  
तमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते, याप्यस्याप्यसाध्यरूपत्वात् । एवं सति “कृशानां व्रणशोषिणाम् ।  
बृंहणीयो विधिः कार्यः” इति सुश्रुतेनैवोक्तम् । तथा च प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले चिकि-  
त्साविधानमिति ॥ २० ॥

अथोरःक्षतस्य हेतवो लक्षणानि च ।

( Bronchiectasis, Cavitation, or Haemoptysis.)

शोषनिदानेनैव साहसादिना उरःक्षतस्य संभवात्, उरःक्षतेनापि शोषसंभवात्,  
शोषाधिकारे सनिदानमुरःक्षतमाह—

धनुषाऽऽस्यस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।

युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥ २१ ॥

वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्यतः ।

शिला-काष्ठा-ऽश्म-निर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ २२ ॥

अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।

महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥

सहस्रोत्पततो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यतः ।

तथाऽन्यैः कमभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥

विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य हृक्षालपप्रमिताशिनः ॥ २५ ॥

उरो विभज्यतेऽत्यथ भिद्यतऽथ विरुज्यते ।

प्रपीड्येते ततः पाश्व शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ २६ ॥

क्रमाद्वीथ बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते ।

ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥

दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः ।

कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥ २८ ॥  
स क्षती क्षीयतेऽत्यथ तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ।

( च० चि० अ० १६ श्लो० २-९ )

म०—धनुषेत्यादि । आयस्यत इति आयासं कुर्वतो नरस्य, 'आयस्यतः' इति पाठान्तरे विस्तार्यमाणहृदयस्य । दम्यं=दमनार्हं वृषादिकमेव बलवन्तमित्यर्थः, अन्यं वा गजोष्ट्रादिकं, निगृह्यतः=विधारयतः । शिला=दीर्घशिला, अश्मा=तदितरप्रस्तरखण्डः, निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसंपादितः । निघ्नतः परान्=शत्रून् ताडयतः । अधीयानस्य पठतः । महानदीस्तरत इति 'बाहुभ्याम्' इति शेषः । तूर्णं=शीघ्रम् । तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य, क्रूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये । एषां कारणानां मध्ये किंचिन्निखिलदेहस्याऽऽयासकरं, किंचिदुरस एवेति बोद्धव्यम् । व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपि व्याधिशब्दं लभन्ते' इत्यागमादिति जेज्जटः । उरो विभज्यते भज्यत इव, भिद्यते विदार्थेत द्विधा क्रियत इव; 'विदह्यत' इति पाठान्तरमसंगतं, कारणाभावात्, टीकाकारैरव्याख्यातत्वाच्च । वीर्यं=शक्तिः । बलं=मांसोपचयः । 'विड्भेदोऽग्निवधादपि' इति पाठान्तरे अग्निवधाद्धेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः, अपिशब्दात् व्याधिर्महिम्ना विनाऽप्यग्निवधाद्विड्भेदो भवतीत्याहुः । दुष्टो=व्यापन्नः, तदेव विवृणोति-श्याव इत्यादि । विग्रथितो=विशेषेण ग्रन्थिलः, विवद् इति जेज्जटः । स पुरुषः, क्षती=उरःक्षतवान्, क्षीयते धातुशोषमाप्नोति । न केवलं क्षतादेव क्षीयते किं तर्हि स्त्रीसेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपीत्याह—तथेत्यादि ॥ २१-२८ ॥—

आ०—सनिदानमुरःक्षतमाह—धनुषेत्यादि । आयस्यत आयासं कुर्वतः, 'नरस्य इति' शेषः । 'आयस्यतः' इति पाठान्तरे विस्तार्यमाणहृदयस्य । दम्यं दमनार्हं वृषादिकमेव बलवन्तरमित्यर्थः, अथवा गजोष्ट्रादिकं; निगृह्यतो विधारयतः । शिला दीर्घनाषाणः, अश्मा तदितरप्रस्तरखण्डः, निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किं वा शिलादिना प्रेरणविशेषोऽतिबलसंपादितः । तान् क्षिपतः । परान् शत्रून् । अधीयानस्य उच्चैः पठतः । दूरं वा ब्रजतो द्रुतमिति शीघ्रं दूरं गच्छतः । महानदीं तरतः 'बाहुभ्याम्' इति शेषः । तूर्णं शीघ्रमतिवृत्ततः । अन्यैः कर्मभिः क्रूरैरिति मल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य, क्रूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये । विक्षते=विदारिते, वक्षसि=हृदि । व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपि व्याधिशब्दं लभन्ते' इत्यागमादिति जेज्जटः । बलवान् समुदीर्यते उक्तं

उत्पाद्यते । ऋःक्षतक्षीणत्वेऽपरमपि कारणमाह—स्त्रीष्वित्यादि । रुक्षं=चणकादि, अल्पं=स्तोकं, प्रमितमकालभोजनम् । उरो विरुज्यते रुज्यत इव भिद्यत इव शुक्लेन, विभज्यते द्विषा क्रियत इव । ‘ विदह्यते ’ इति पाठान्तरम् । वीर्यं शक्तिः, बलं मांसोपचयलक्षणं, वर्णो गौरादिः, व्यथा अङ्गानां, मनोदैव्यं मनोग्लानिः, अग्निवधोऽग्न्यभावः, ‘ विड्भेदोऽग्निवधादपि ’ इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च—अग्निवधाद्धेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः; अपिशब्दाद्वयाधिमहिम्ना विनाऽप्यग्निवधात् विड्भेदो भवतीत्याहुः । दुष्टो व्यापन्नः, विग्रथितो विशेषात् ग्रन्थिलः, विनिबद्ध इति जेज्जटः । कफः सार्सः प्रवर्तते इति रुधिरयुक्तं कफं शीवते । ‘सास्त्र’ इत्यत्र ‘ सान्द्र ’ इति पाठान्तरम् । तत्र सान्द्रो घनः, एभिः कारणैः, सक्षतः क्षतवान्, ‘ स तत ’ इति पाठे स पुरुषः, तत ऋः-क्षतात्; अत्यर्थं क्षीयते धातुशोषमाप्नोतीत्यर्थः । न केवलं क्षतादेव क्षीयते किं तर्हि स्त्रीष्वेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपि ॥ २१-२८ ॥-

अथोरःक्षतस्य पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपमाह—

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ २९ ॥

( च० चि० अ० २६ श्लो० १० )

म०—अव्यक्तमित्यादि ॥ २९ ॥

आ०—पूर्वरूपमाह—अव्यक्तमित्यादि । तस्य क्षतस्य लक्षणमव्यक्तमप्रकटम् ॥ २९ ॥

अथोरःक्षत-क्षीणयोर्मुख्यलक्षणानि ।

क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—

उरुरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।

क्षीणे सरक्तमूत्रत्व पार्श्व-पृष्ठ-कटी-ग्रहः ॥ ३० ॥

( च० चि० अ० १६ श्लो० ११ )

म०—उरुरुगित्यादि । वैशेषिको=विशिष्टः कासः, स च विशेष उक्तः । दुष्टस्यावादिकफसंयुक्तत्वं; किंवा वैशेषिक उद्भूतः । क्षत इति छेदः । क्षीण इति क्षय इत्यर्थः । सरक्तमूत्रत्वमालोहितमूत्रता ॥ ३० ॥

आ०—क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—उरुरुगित्यादि । क्षते उरःक्षते । कासो वैशेषिक इति विशिष्टः कासः, क्षीणकासापेक्षया अधिक इत्यर्थः । शुक्रौजसोः क्षये तु सरक्तमूत्रादिवपद्मवः । वैशेषिकः विशिष्टः कास इति अस्मिन् लक्षणे संबध्यते ॥ ३० ॥



अथानयोः साध्यासाध्यत्वविचारः ।

तयोः साध्यलक्षणमाह—

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।

परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

(च० चि० अ० १६ श्लो० १२)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने राजयक्ष्म-क्षत-क्षीण-निदानं समाप्तम् ॥

म०—अल्पेत्यादि ॥ ३१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां राजयक्ष्म-

क्षत-क्षीण-निदानं समाप्तम् ।

आ०—उरःक्षते साध्ययाप्यासाध्यत्वमाह—अल्पेत्यादि । अल्पलिङ्गस्य=अल्पलक्षणस्य ॥ ३१ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे निदानव्याख्याने राजयक्ष्मनिदानम् ॥ १० ॥

अथ कासनिदानम् । ( Cough )

अथ कासस्य हेतु-सम्प्राप्ति-पूर्वकं लक्षणम्

क्षयरूपे कासपाठात् कासोपेक्षया च क्षयोत्पत्तेस्तदनन्तरं कासनिदानमाह—

धूमोपघाताद्रसंतस्तथव व्यायाम-रूक्षान्न-निषेवणाच्च ।

विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात्क्षवथोस्तथैव ॥

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्न-कांस्य-स्वनतुल्य-घोषः ।

निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः २॥

(सु० उ० अ० ५२ श्लो० २)

म०—धूमोपघातादित्यादि । धूमेन मुखनासाप्रविष्टेनोपघातो धूमोप-  
घातः । रसत इति वातेनोर्ध्वं नीतादामरसात्, 'रजस' इति पाठान्तरे मुख-  
नासाप्रविष्टधूलेरित्यर्थः । विमार्गगत्वं च हि भोजनस्यातिद्रुताभ्यवहारादिना,  
चशब्दः समुच्चये, हि पादपूरणे । वेगावरोधादिति पुरीषादेः, तेन हि  
वायुरूर्ध्वगः स्यात् । क्षवथोस्तथैवेति वेगावरोधादिति संबन्धः । प्राणो  
वायुरुदानेन दुष्टेनानुगतो वक्त्रान्निरेति । स वायुः, भिन्नकांस्यपात्रवत् हत-

स्वनः कास इति प्रदिष्टः । सदोषः=सकफ-पित्तः वातिक-पैत्तिकादि-भेद-  
भिन्न इति वा । एतेनैव समान-स्थान-निदानाभ्यां हिक्का-श्वासाभ्यामस्य  
भेदः, नहि तत्र वातिक-पैत्तिकादिभेदेन व्यपदेश इति गदाधरः । कसति=  
शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, 'कस' गतौ इत्यस्मात्, 'कस-  
नात् कासः' ( च. चि. स्था. अ. १८ ) । इति चरके पाठः, कासनं कास  
इति वा, "भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव" ( सु. उ. तं. अ. ५२ )-इति  
सुश्रुतदर्शनात् ॥ १ ॥ २ ॥

आ०-क्षयरूपे कासपाठात् तदनन्तरं कासनिदानमाह-धूमेत्यादि । धूमेन मुखनासाप्रविष्टेन  
उपघातो धूमोपघातः, रजसेति रजसा मुखनासाप्रविष्टेन तथैव, 'रसतः' इति पाठान्तरम्,  
तत्र रसो जलं, व्यायाम=आयासः, रुक्षान्नं=चणकादि, विमार्गगत्वादिति भोजनस्य अतिदुता-  
भ्यवहारादिना, वेगावरोधादिति पुरीषादेः । तस्य संप्राप्तिमाह-प्राण इत्यादि । प्राणो वायुर्दुष्टः  
उदानेन दुष्टेनानुयातः वक्रानिरेति गच्छति, स दोषो रोगः कास इति प्रदिष्टः । कार्यं कारणो-  
पचारात् दोषे रोग इति संज्ञा । किंविशिष्टः स दोषः ? भिन्नकांस्यपात्रस्वनः=भग्नकांस्य-  
पात्रस्वनः, स वात-पित्त-कफ-भेदैर्भिन्न इति तस्य निरुक्तिः । कास इति 'कासं दीप्तौ'  
इत्यस्माद्धातो अप्रत्ययान्तः । अनेकार्थत्वात्प्राप्त्यर्थः । कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति  
कासः, 'कस' गताविति धातुः । अथवा कासनं कास इति घञः "कसनात्" कास इति चरकपा-  
ठात् । "भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव" इति सुश्रुतवचनम् ॥ १ ॥ २ ॥

अथ कासभेदाः ।

संख्यामाह—

पञ्च कासाः स्मृता वात-पित्त-श्लेष्म-क्षत-क्षयैः ।

क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३ ॥

( अ० ङ० नि० अ० ३ श्लो० १७, १८ )

म०-पञ्चेत्यादि । पञ्च कासा इति संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां  
पञ्चग्रहणं जराकासस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिकत्वनिरासार्थं, पञ्चानामपि वा  
क्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थमिति । क्षयाय=धातुक्षयाय ॥ ३ ॥

आ० तस्य संख्यामाह—पञ्चेत्यादि । संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पञ्चग्रहणं जराका-  
सस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिकत्वनिरासार्थम् । उपेक्षितास्ते अप्रतिक्रियमाणाः क्षयाय धातु-

१ "धूमोपघाताद् रजसा" इति पाठाभिप्रायेण । २ दीप्त्यर्थकदन्त्यसकारवटित्कासूघातोः  
सिद्धान्तकौमुद्यामनुपलब्धभाषिण्योऽयं पाठः ।

क्षयाय भवन्ति; उत्तरोत्तरमिति वातात्पैत्तिकः, पैत्तिकात् श्लैष्मिकः, तस्मात्क्षतजो बली, तस्मात् क्षयजः ॥ ३ ॥

अथ कासस्य पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपमाह--

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शुकपूर्णगलास्यता ।

कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० २२ श्लो० ३ )

म०--पूर्वेत्यादि । भोज्यानामवरोध इत्यरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यं वा ॥ ४ ॥

आ०--तस्य पूर्वरूपमाह--पूर्वरूपमित्यादि । शूको=धान्याग्रसूक्ष्मकण्टकाकारः । भोज्यानामवरोध इति अभ्यवहरणासामर्थ्यम् ॥ ४ ॥

अथ वातकासलक्षणम् ।

वातिककासस्वरूपमाह--

हृच्छङ्ख-मूर्धोदर-पार्श्व-शूली-क्षामाननः क्षीण-बल-स्वरौजाः ।

प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ५२ श्लो० ५ )

म०--हृदित्यादि । शङ्खो=ललाटैकदेशः । क्षामाननः=शुष्कमुखः, वातेन शोषणात् । प्रसक्तवेगः=सततकासवेगः । शुष्कमिति श्लेष्मादिनिष्ठीवनरहितम् ॥ ५ ॥

आ०--वातिककासरूपमाह--हृदित्यादि । शङ्खो ललाटैकदेशः । क्षामाननः शुष्कमुखः, वातशोषणात् । क्षीणबलस्वरौजा इति क्षीणं बलं स्वर ओजश्च यस्य स तथा । प्रसक्तवेगः सततकासवेगः । भिन्नस्वरः=द्विधाकृत इव । शुष्कमिति श्लेष्मनिष्ठीवनरहितम् ॥ ५ ॥

अथ पित्तकासस्य लक्षणम् ।

पैत्तिककासमाह--

उरोविदाह-ज्वर-वत्क्रशोषैरभ्यर्दितस्तित्तमुखस्तृषार्तः ।

पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्सपाण्डुः परिदह्यमानः ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० ६ )

म०--उर इत्यादि । अभ्यर्दितः=पीडितः ॥ ६ ॥

आ०--पैत्तिकमाह--उरोविदाहेत्यादि । एतैरुपद्रवैः अभ्यर्दितः पीडितः । पीतानि वमेत् पित्तकफसंसृष्टं निष्ठीवति; उक्तं च तन्त्रान्तरे--“ श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिकः ”

इति । पाण्डुना सह वर्तत इति सपाण्डुः, एतेन नयनादीनामपि पाण्डुत्वमुक्तम् । परिदृश्यमानः= दाहपरिप्लुतः ॥ ६ ॥

अथ कफजकासलक्षणम् ।

कफजकासमाह—

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः  
अभक्तरुग्-गौरव-कण्डु-युक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ५२ श्लो० ७ )

म०--प्रलिप्यमानेनेत्यादि । प्रलिप्यमानेन=श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन्=अङ्गावसादयुक्तः । अभक्तरुगरुचिः ॥ ७ ॥

आ०--कफजमाह—प्रलिप्यति प्रलिप्यमानेन कफोपलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन् सादयुक्तः, अभक्तरुक् अराचिः, कफपूर्णदेहत्वादौरवं, कण्डूः कण्ठस्यैव, सान्द्रकफः=घनश्लेष्मा ॥ ७ ॥

अथ क्षतजकासलक्षणम् ।

क्षतकासमाह—

अति-व्यवाय-भाराध्व-युद्धाश्व-गज-विग्रहैः ।  
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥  
स पूर्वं कासते शुष्क ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।  
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥  
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।  
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ १० ॥  
पर्वभेद-ज्वर-श्वास-तृष्णा-वैस्वर्य-पीडितः ।  
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० ५२ श्लो० १०-१३ )

म०--अतिव्यवायेत्यादि । विग्रहो=विधारणं युद्धस्योपात्तत्वात् । 'निग्रह' इति पाठे स एवार्थः । ततः ष्ठीवेत् सशोणितमिति कासाभिघातेन हृदयस्य विदारणात् । कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुपसेति । विरुग्णेनेव=भमेनेव, सूचीभिरिव तुद्यमानेन, शूलिना दुःखस्पर्शेन चोरसेति संबन्धः, दुःखस्पर्शत्वं

स्पर्शासहत्वम् । शूलेनोपलक्षितः, तच्च पार्श्वदौ बोध्यम् । वाग्भटेनापि पठ्यते—“पार्श्वशूली” ( वा. नि. स्था. अ. ३ )—इति । भेदपीडाभितापिनेति शूलविशेषणम् । पारावत् इवाकूजन्, भवतीति शेषः ॥ ८—११ ॥

आ०—क्षतकासमाह—अतीत्यादि । विग्रहो विधारणं, युद्धस्थोक्तत्वात् । एतैः कारणै रूक्षस्य पुरुषस्य उरःक्षतं गृहीत्वा वायुः कासमावहेत् करोति । युद्धं=मलयुद्धादिकम् । ततः षीवेत् शोणितमिति कासामिघातेन हृदयस्य विदारणात् । अत्यर्थं रुजता=पीडायुक्तेन, कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुत्सेति । विरुग्णेनेव=द्विधेव विदर्शनेन, तीक्ष्णाभिः सूचीभिरिव वृद्धमानेन, शूलिना=रुजायुक्तेन, दुःखस्पर्शेन चोरसेति सम्बन्धः । दुःखस्पर्शत्वं=स्पर्शासहत्वम् । शूलेन चोपलक्षितः, तच्च पार्श्वदौ बोद्धव्यम् “पार्श्वशूली” इति वाग्भटेन पठ्यमानत्वात् । ‘भेदपीडाभितापिना’ इति शूलविशेषणम् । पारावत् इवाकूजन् ‘भवति’ इति शेषः ॥ ८—११ ॥

अथ क्षयजकासस्य लक्षणम् ।

क्षयजकासमाह—

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।

घृणिनां शोचतां नणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।

कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥ १२ ॥

स गात्रशूल-ज्वर-दाह-मोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।

शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥ १३ ॥

तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति

( सु० उ० अ० ५२ श्लो० १४—१६ )

म०—विषमेत्यादि । घृणिनां शोचतां चाहाराभावात्कुपितेन वायुनाऽग्नेरुपप्लवाद्दोषत्रयप्रकोप इति । क्षयजमिति शुक्रादिधातुक्षयजम्, न तु राजयक्ष्मजम् । त्रिदोषजेऽपि राजयक्ष्मणि कासः कफेनैव क्रियते । यदुक्तम्—“कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः—” इति । क्षयजकासस्तु त्रिदोषज इति । ननु कासादेव क्षयो जायते तत्कथं क्षयजः कासः इति ? उक्तं हि—“कासात्संजायते क्षयः”—इति । उच्यते, दृष्टो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्यकारणभावो बहुशः, यथाऽतीसाराशोऽग्निमान्द्यादाविति । स गात्रशूलेत्यादि-श्लोकार्थस्य क्षयजकासमध्ये पाठोऽयुक्तः प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात् ; क्षयकासश्चात्र चरक-सुश्रुत-वाक्ये मेलयित्वा माधवकारेण लिखितः ;

उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकासः सुश्रुतेन पठितः, तेन स गात्रशूले-  
त्यादिश्लोकार्थस्य परेण संबन्धात् क्षयकासलिङ्गत्वमिति माधवकरस्याभि-  
प्रायः । एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यतः क्षतकासस्यावस्थायाप्तसाध्यत्वख्यापनपर-  
मेतद्व्याख्यातं जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ॥ १२ ॥ १३ ॥

आ०—क्षयजमाह—विषमेत्यादि । घृणिनां=घृणां कुर्वतां, शोचतां=शोकं कुर्वतां, पुंसामग्नौ  
व्यापन्ने सति त्रयो मलाः कुपिताः सन्तो देहक्षयप्रदं क्षयजं कासं कुर्युः । क्षयजमिति रक्ता-  
दिक्षयजम् । अस्योपद्रवानाह—स इत्यादि । स कासी गात्रशूलादीन् प्राणक्षयं चोपलभेत ।  
शुष्यन्निति=प्रतिदिनं शुष्यमाणः, दुर्बलः=उपचयरहितः, प्रक्षीणमांसस्त्वगस्थिभूतः, सर्वलि-  
ङ्गमिति त्रिदोषलिङ्गत्वादसाध्यम् ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथैषां साध्यासाध्यत्वविचारः ।

असाध्यत्वादिलक्षणमाह—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।

साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ १४ ॥

नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ ।

स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ।

त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ५२ श्लोक० ९ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कासनिदानं समाप्तम् ।

म०—इतीत्यादि । पादगुणान्विताविति वैद्यादिचतुष्पादसंपन्नौ । स्थवि-  
राणां=वृद्धानां; स्थविराणामित्युक्तेऽपि जराशब्दोपादानं जरानिमित्तधातुक्षयज  
एव कासो याप्यः, अपचारजनितदोषजस्तु साध्यइति बोधनार्थम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कासनिदानं समाप्तम् ।

आ०—असाध्य-साध्य-याप्य-त्वमाह—इतीत्यादि । बलवतां कदाचित्साध्यो वा स्याद्याप्यश्च  
एवं क्षतजः कदाचित्साध्यो याप्या वा । पुनः साध्यत्वमाह—नवावित्यादि । अचिरोत्थौ  
क्षत-क्षय-जौ द्वौ पादगुणान्वितौ=वैद्यादिचतुष्पादसंपत्तियुक्तौ कदाचित् सिध्येतां=साध्यौ  
भवत इत्यर्थः । याप्यत्वमाह—स्थविराणामिति=वृद्धानाम् । एतस्य दोषजेष्वन्तर्भूतत्वात् पृथक्-  
त्वम् । पञ्चानामपि चिकित्साद्वारेण साध्ययाप्यत्वमाह—त्रीनिति । वात-पित्त-श्लेष्म-जान्  
पथ्यैः साधयेत्, एतेन त्रयः कासाः साध्या उक्ताः । अपरान् पथ्यैर्यापयेत्=याप्यतां

नयेत् । जराकासा इति बहुवचनाज्जराकास उपेक्षितः असाध्यो भवतीति दर्शयति ।  
 “पूयाभमरुणं श्यावं हरितं पीत-नीलकम् । निष्ठीवेच्छास-कासारौ न जीवति हतस्वरः ॥  
 कास-श्वास-क्षय-च्छर्दि-स्वरभेदादयो गदाः । भवन्त्युपेक्षयाऽसाध्यास्तस्मात्तान् त्वरया  
 जयेत् ”-इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिविरचितेऽ आतङ्कदर्पणे रुग्निनिश्चयव्याख्येने कासनिदानम् ॥ ११ ॥

### अथ हिक्का-श्वास-निदानम् ।

हिक्का=Hiccup श्वास=Asthma, Dyspnocia, or Difficulties  
 of Breathing

अथ हिक्का-श्वासयोर्निदानानि ।

समनिदानत्वात् कासनिदानानन्तरं हिक्काश्वासावाह—

विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रूक्षाभिष्यन्दि-भोजनैः ।

शीत-पानाशन-स्थान-रजो-धूमाऽऽतपानिलैः ॥ १ ॥

व्यायाम-कर्म-भाराध्व-वेगाऽऽघातापतर्पणैः ।

हिक्का श्वासश्च कासश्च नणां समुपजायते ॥ २ ॥

( सु उ० अ० ५० श्लो० २ )

म०-विदाहीत्यादि । ननु, एतेषां प्रायस्तुल्यनिदानचिकित्सितत्वेन एका-  
 धिकारे कथमनभिधानम् ? उच्यते, कास-श्वास-हिक्कानां निदानं समानम्,  
 तथाऽपि कासस्य दोषभेदाद्भेदः, यथा-वातिकः, पित्तिकः, लैम्पिक इत्यादि ।  
 हिक्का-श्वासौ तु कफ-वातात्मकावेव, यदाह दृढबलः-“कफ-वातात्मकावेतौ  
 पित्तस्थानसमुद्भवौ” ( च. चि. स्था. अ. १७ ) इति । सुश्रुतोऽप्याह-“वायुः  
 कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि” ( सु. उ. त. अ. ५१ )-इति । भेदस्त्व-  
 नयोः संप्राप्तिभेदाद्भेदक्रियादिना च, न तु कासवदोषभेदेन । श्वास-कासाभ्यां  
 हिक्कायाः स्वनतोऽपि भेदः । पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषः, सुश्रुतमते  
 क्षुद्रां न प्राप्नोति, सा हि जत्रुमूलात्प्रधावितेति पठ्यते । चरकमते तु व्यषेतां  
 न प्राप्नोति, साऽपि जत्रुमूलादसन्ततेति पठ्यते । तस्मात् पित्तस्थानसमुद्भवा-  
 विति विशेषणं छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन बोध्यम् । शीतशब्दः पानादिभि-  
 स्त्रिभिः संबध्यते । रजो=धूलिः, सा च धूमवत्रासादिप्रवेशात् कारणम् । व्यायाम



कर्ष=धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो=मलादिवेगविधारणम्, अपतर्पण-  
मनशनादि । कासश्चोक्तोऽप्येकनिदानत्वप्रतिपादनार्थं पुनरभिहित इति ॥१॥२॥

आ०—समाननिदानत्वात्कासनिदानानन्तरं हिक्काश्वासावाह-विदाहीत्यादि । विदाहीनि=यात्रि-  
केक्षुरस-मद्य-मरिचादीनि विदहनशीलानि, गुरुणि गुणतः पाकतश्च, विष्टम्भीनि=चणकादीनि,  
अभिष्यन्दीनि=आभिमुख्येन स्यन्दितुं शीलं येषां तान्यभिष्यन्दनशीलानि फाणित-माष-  
मत्स्य-क्षीरादीनि । शीतशब्दः पानादिभिस्त्रिभिः संबध्यते । रजो धूलिः, सा च धूमवत् नासादिप्र-  
वेशात् कारणम् । व्यायामकर्म धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो मलादिवेगधारणम्, अपतर्पणमनश-  
नादि । ननु त्रयाणामेककारणत्वेन कथं भेदः ? उच्यते—दोषजन्यभेदाद्भेदः । कासो—वातिकः,  
पैक्तिकः, श्लैष्मिकश्च; हिक्काश्वासी तु कफवातात्मकावेव । यदुक्तं दृढवलेन—“कफवातात्मकावेतौ  
पित्तस्थानसमुद्भवौ” इति । सुश्रुतेऽपि—वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि”—इति ॥१॥२॥

अथ हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिश्च ।

हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिं चाह—

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।  
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून्यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ३ )

म०—मुहुर्मुहुरित्यादि । वायुरत्र सोदानः प्राण इत्याहुः । उदेति=उर्ध्वं  
गच्छति । सस्वन इति=हिगिति शब्दवान् । ऊर्ध्वगमनमेव विशिनष्टि—यकृ-  
दित्यादि । अत्र प्लिहेति ह्रस्वेकारश्छन्दोऽनुरोधात् । मुखादिति त्यवलोपे  
कर्मणि पञ्चमी, तेन यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमानीय आक्षिपन्=निःसारयन्निवे-  
त्यर्थः । स इति वायुः । ‘हिनस्त्यसून्य’ इति हिक्केति निरुक्तिः, पृषोदरादिना  
रूपसिद्धिः । हिगिति कृत्वा कायति=शब्दायते इति हिक्केति शाब्दिकाः ॥३॥

आ०—संप्राप्तिमाह—मुहुर्मुहुरित्यादि । वायुरीति सोदानः प्राणो वायुः, सस्वनः शब्दवान्,  
मुहुर्वारंवारं, उदेति ऊर्ध्वं गच्छति, ऊर्ध्वगतत्वात् । यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखादिवेत्यत्र मुख-  
शब्देन प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि भण्यन्ते, उक्तं च तन्त्रान्तरे—“प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि  
विकृतोऽनिलः । हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक्कृणु”--इति । हिक्काशब्दोऽत्र  
द्विरावर्तयितव्यः; तेन हिक्केति हिक्कास्वरूपकथनं स्यात्, स घोषवानित्यादिना हिक्का-  
निरुक्तिकथनमिति । सस्वन इत्यननेन गतत्वात् स, घोषवानित्यभिधानं निरुक्तिप्रदर्शना-  
र्थम् । स इति वायुः, हिनस्त्यसूनाति हिक्केति पृषोदरादित्वात्साधु । हिगिति कृत्वा कायति  
शब्दायते इति हिक्केति शाब्दिकाः ॥ ३ ॥

अथ हिक्कानां भेदाः सम्प्राप्तिश्च ।

तासाम्भेदं संप्राप्तिं चाह—

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा ।

वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ४ )

म०—अन्नजामित्यादि । यमलैव चरके व्यपेतेति नाम्ना पठिता, अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो हेतोः; अस्यां चानुक्रमपि यमलवेगत्वं सुश्रुतदर्शनाद्विज्ञेयम् । अन्नजायाः साध्यत्वेन प्राशस्त्यात्पूर्वमभिधानम् ॥ ४ ॥

आ०—तासां भेदं संप्राप्तिं चाह—अन्नजामित्यादि । अन्नजेत्यादीनि तासां नामानि ॥ ४ ॥

अथ हिक्कानां पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

कण्ठोरसोरुत्त्वं च वदनस्य कषायता ।

हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० १७ )

म०—कण्ठोरसोरित्यादि । वदनस्य कषायता वातात्, न तु कफान्माधुर्यम्, व्याधिप्रभावात् ॥ ५ ॥

आ०—पूर्वरूपमाह—कण्ठ इत्यादि । वदनस्य कषायता वातात्, न तु कफान्माधुर्यं; व्याधिप्रभावात् । कुक्षेरुदरस्य आटोपः=पूर्णत्वमिव ॥ ५ ॥

अथान्नजाया लक्षणम् ।

अन्नजाया लक्षणमाह—

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।

हिक्रयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ६ )

पानान्नैरित्यादि । हिक्रयति=हिकां करोति ॥ ६ ॥

आ०—अन्नजालक्षणमाह—पानान्नैरित्यादि । शतैरिति शेषः । अतिसंयुक्तैरिति उपर्युपर्यु-  
पयुक्तैः । सहसा पीडितोऽनिलो हृदिस्थः प्राणो वायुरुर्ध्वगतत्वाद्विक्रयति हिकां करोति,  
सा हिका अन्नजति कथ्यते ॥ ६ ॥

अथ यमलाया लक्षणम् ।

यमलामाह—

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते ।

कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ६ )

म०—चिरेणेत्यादि । कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणम्, तेन चरकोक्त-  
ग्रलाप-मूर्च्छा-वमि-तृष्णा-वैचित्त्य-जृम्भा-विप्लुताक्षत्व-मुखशोषा बोध्या इति  
गयदासः ॥ ७ ॥

आ०—यमलामाह—चिरेणेत्यादि । या हिक्का यमलैर्वेगैर्युग्मैरपक्रमैः शिरोग्रीवं कम्पयति  
चिरकालेन प्रवर्तते तां नामतो यमलामाहुः ॥ ७ ॥

अथ क्षुद्राया लक्षणानि ।

क्षुद्रामाह—

प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।

क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥ ८ ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ८ )

म०—प्रकृष्टेत्यादि । प्रकृष्टकालैश्चिरेण ॥ जत्रु=कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः  
जत्रु=ग्रीवामूलं, तद्ग्रहणेनैव हृदय-क्लोम-कण्ठ-ग्रहणमिति गयदासः ॥ ८ ॥

आ०—क्षुद्रामाह—प्रकृष्टकालैरित्यादि । प्रकृष्टकालैश्चिरकालैः । मन्दैर्बौः । जत्रुः कण्ठो-  
रसोः संधिरिति जेज्जटः, जत्रुमूलग्रहणेन हृदयक्लोमकण्ठानां ग्रहणमिति गयदासः । इयं नामतो  
क्षुद्रिका ॥ ८ ॥

अथ गम्भीराया लक्षणम् ।

गम्भीरामाह—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।

अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ ९ ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ९ )

म०—नाभीत्यादि । नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रवृत्ति संजाता, अत एवास्या  
गम्भीरत्वम् । अनेकोपद्रववती=तृष्णाज्वरादियुक्ता ॥ ९ ॥

आ०—गम्भीरामाह—नाभीत्यादि । या हिक्का नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रवृत्ता संजाता, अत  
एवास्या गम्भीरत्वम् । अनेकोपद्रववती तृष्णाज्वरादियुक्ता । सेयं नामतो गम्भीरा ॥ ९ ॥

अथ महत्या लक्षणम् ।

महतीमाह—

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।

महाहिकेति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० ५० श्लो० १० )

म०—मर्माणीत्यादि । मर्माणीति प्रधानानि वस्ति-हृदय-शिरांसि ॥ १० ॥

आ०—महतीमाह—मर्माणीत्यादि । मर्माणीति प्रधानानि वस्ति-हृदय-शिरांसि, इयं नामतो महाहिका ॥ १० ॥

अथ हिकानामसाध्यलक्षणानि ।

अवस्थायामसाध्यत्वमाह—

आयम्यते हिकतो यस्य देहो दृष्टिश्रोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम् ।  
क्षीणोऽन्नद्विद् क्षौति यश्चातिमात्रं तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्विक्रमानौ

( सु० उ० अ० ५० श्लो० ११ )

ग०—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते=विस्तार्यत इव । दृष्टिश्रोर्ध्वं भवतीति शेषः । नाम्यते=आकुञ्च्यते देह इति सम्बन्ध इति जेज्जट-गयदासौ । ताम्यतीति पाठान्तरे सुह्यति हिकी । क्षौति=छिकति । तौ द्वाविति आयम्यत इत्यादिना नित्यमित्यन्तेनैकावस्थौ हिकी, क्षीणेत्यादिनाऽतिमात्रान्तेनापरः साध्यानामपि मध्ये एवंविधौ वर्जयेदित्यर्थः । गम्भीरा—महत्योः स्वभावादेवासाध्यत्वमिति तद्युक्तौ हिकमानावन्त्यौ शेषपठितावसाध्यौ । पाठान्तराणि व्याख्याविशेषाश्च विस्तरभयान्न लिखिताः ॥ ११ ॥

आ०—अवस्थायामसाध्यलक्षणमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते विस्तार्यत इव देहः दृष्टिश्रोर्ध्वं 'भवति' इति शेषः । नाम्यते आकुञ्च्यते देह इति सम्बन्ध इति जेज्जटगयदासौ । 'ताम्यते' इति पाठान्तरम्, तत्र सुह्यतीत्यर्थः । यश्च क्षीणोऽन्नद्वेषी अतिक्षौति=छिकति तां हिकां वर्जयेत्, द्वौ चान्त्यौ वर्जयेत् । अन्त्याविति गम्भीरा महती चेति ॥ ११ ॥

अथ प्रकारान्तरेण हिकानामसाध्यलक्षणानि ।

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।

व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥

आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।  
यमिका च प्रलापाऽऽर्ति-मोह-तृष्णा-समन्विता ॥१३॥  
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।  
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ३९-४१ )

म०—आसां या सेति । आसां=साध्यहिकानां मध्ये या अतिसंचितदोषादेर्भवति सा हन्तीति योज्यम्, अथवा आसामिति पञ्चविधानामेव । तेन महतीप्रभृतीनां स्वरूपेण यदसाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकम् । यदाह जतूकर्णः,—“आद्या दुःसाध्याः, यमिका मोहतृष्णावतः सद्यः प्राणहृत्”—इति । यमिकेत्यादि । यमिका चेत्यनेन चकारात् क्षुद्रा अन्नजा वा या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलैर्वैजैर्जायमाना हन्तीति योज्यम् । सैवाक्षीणादेः साध्या भवतीत्याह—अक्षीण इत्यादि । अक्षीणो=बलवान् । अदीनः=प्रसन्नमनः । अन्ये तु अन्नजां यमलामित्यादि । सुक्षुत्तग्रन्थपठितां यमलां यमिकाशब्देन व्याचक्षते । तन्न, यमिका च प्रलापार्तीत्यादिश्लोकशृचरके पठितः, अत्र यमला यमिकानाम्ना न पठितैव हिकेति । यमिकाशब्देनैवार्थगत्या व्यपेतोच्यतेति चेत्, न, तर्हि व्यपेता च प्रलापार्तीत्येवमभिदध्यात् ॥ १४ ॥

आ०—साध्यानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यत्वमाह—अतिसंचितदोषस्येत्यादि । आसां साध्यानां मध्ये या हिक्का अतिसंचितदोषादेर्भवति सा नरं हन्तीति बोद्धव्यम् । महतीप्रभृतीनां तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकमिति । पुनरवस्थाविशेषेणासाध्यत्वमाह—यमिकेत्यादि । अन्नान्नजा क्षुद्रा च साध्यैव यमलवेगवतोऽसाध्येत्युच्यते, न तु यमला, चरकोक्तत्वात् । अक्षीणो बलवान् अदीनः प्रसन्नमनः, स्थिरधात्विन्द्रिय इति स्थिराणि धात्विन्द्रियाणि यस्य स तथा. अन्यथा एतद्विपरीत इति ॥ १४ ॥

( अथ श्वासरोगनिदानम् । )

यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः सम्प्रवर्तते ।  
तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम् ॥  
अथ श्वासरोगस्य भेदाः ।

महोर्ध्व-च्छिन्न-तमक-क्षुद्र-भेदैस्तु पञ्चधा ।  
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ५१ श्लो० १ )

म०-श्वासानाह--महोर्ध्वेत्यादि । एको विशेषत इति श्वासत्वेन एक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य पञ्चधा भिद्यते, पञ्चसु श्वासत्वं=वेगवदूर्ध्ववातत्वम्, यदुक्तमन्यैः--“श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता”-इति । संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारत्वे सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्य पृथक्त्व-संख्यानिरासार्थम् ॥ १५ ॥

आ०--हिककाश्वासयोरेकहेतुत्वाद्विककानन्तरं श्वासमाह--महेत्यादि । स महान्याधिः श्वासत्वेन एक एव सन् विशेषहेतुलिङ्गभेदं प्राप्य महोर्ध्वादिभेदैः पञ्चधा भिद्यते । पञ्चस्वपि श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वम् । उक्तं च तन्त्रान्तरे--“श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता”-इति । संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारके सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्याधिकसंख्या-निषेधार्थम् । तन्त्रान्तरे पञ्चानामपि दोषोत्कटत्वमुक्तम्--“वातेन क्षुद्रकः श्लेष्मा भूयिष्ठस्तमकः स्मृतः । छिन्नः पित्तप्रधानः स्यादन्यौ मारुत-क्रोपजौ”-इति ॥ १५ ॥

अथैषु वातादीनां सम्बन्धः ।

( वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः ।

कफ-वाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः ।

श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः ॥ १६ ॥ )

( सु० उ० अ० ५१ श्लो० ४ )

अथ श्वासरोगस्य पूर्वरूपम् ।

तस्य पूर्वरूपमाह--

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च ।

आनाहो वक्रवैरस्यं शंखनिस्तोद एव च ॥ १६ ॥

आ०--प्राग्रूपमित्यादि । शूलमुदरे, आध्मानमाटोपः, आनाहः=आमं शङ्कुद् वा विगुणानि-लेन निबद्धम् ( अथवावत्पट्टम् ) शङ्खनिस्तोदः=शङ्खयोर्व्यथा ॥ १६ ॥

अथ श्वासरोगस्य संप्रप्तिः ।

संप्रप्तिमाह--

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।

विष्वग्जति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥ १७ ॥

( सु० उ० अ० ५१ श्लो० ५ )

म०—यदेत्यादि । स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवंहानि कफः  
पूर्वं प्रधानं यस्य स तथा, तेनैव कफेन रुद्धो विमार्गगतिर्विमार्गगत्वेन,  
विष्वग्गतिरिति विष्वग्भवतीति, विष्वक्=सर्वत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

आ०—तस्य संप्राप्तिमाह—यदेत्यादि । यदा कफपूर्वकः=कफप्रधानो वायुः, तेनैव कफेन  
संरुद्धगतिः, प्राणोदेकान्नवाहीनि स्रोतांसं संरुध्य, विष्वग्गतिरिति सर्वत्र प्रसरति, तदा  
श्वासान् करोति ॥ १७ ॥

अथ महाश्वासस्य लक्षणानि ।

महाश्वासलक्षणमाह—

उद्धूयमानवातो यः शब्दबहुःखितो नरः ।

उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ १८ ॥

प्रनष्ट-ज्ञान-विज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।

विवृताक्ष्याननो बद्ध-मूत्र-वर्चा विशीर्णवाक् ॥ १९ ॥

दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।

महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ २० ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ४२-४३ )

म०—उद्धूयमानेत्यादि । उद्धूयमानवात इति उत्=ऊर्ध्वं धूयमानो=  
नीयमानो वातो यस्य स तथा । शब्दवत्=सशब्दं यथा भवति, उच्चैर्दी-  
र्घम् । संरुद्धो मत्तर्षभ इवेति स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः । ज्ञानं=  
शास्त्रं; विज्ञानं=तदर्थनिश्चयः । विभ्रान्तलोचनः=चञ्चलनेत्रः । विवृत्ते=स्तब्धे  
अक्ष्यानने यस्य स तथा, नेत्रस्य विभ्रान्त-स्तब्धत्वे कालभेदादिति जेज्जटः ।  
विशीर्णवाक्=वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा । दीनः=क्लान्तमनाः; हीनमिति पाठा-  
न्तरमयुक्तम्, दूराद्विज्ञायते भृशमित्यनुपपत्तेरित्याहुः ॥ १८-२० ॥

आ०—महाश्वासलक्षणमाह—उद्धूयमानेत्यादि । उत् ऊर्ध्वं धूयमानो वातो यस्य स तथा, शब्द-  
वत् सशब्दं यथा भवति तथा, श्वसिति, दुःखितो दुःखयुक्तः, अनिशमनवरतं, क इव ?  
संरुद्धो मत्तर्षभ इव=मत्तमहोक्ष इव, स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः । ज्ञानं शास्त्रं, विज्ञानं तद-  
र्थनिश्चयः । विभ्रान्तलोचनश्चञ्चलाक्षः । विवृत्ते स्तब्धे अक्षिणी नयने आननं च यस्य स तथा ।  
नेत्रस्य विभ्रान्तस्तब्धत्वे कालभेदादिति जेज्जटः । विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमो मन्दवचनो वा । दीनः  
क्लान्तमनाः । अस्य च श्वासवतः श्वसितमत्यर्थं दूरादेव श्रूयते । अनेन महाश्वासेनोपसृष्टो  
युक्तः शीघ्रमेव विनश्यति ॥ १८-२० ॥



अथोर्ध्वश्वासलक्षणम् ।

ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः ।

श्लेष्मावृत-मुख-स्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।

प्रमुह्यन्वेदनार्तश्च शुक्कास्योऽरतिपीडितः ॥ २२ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ४९, ५१ )

म०—ऊर्ध्वमित्यादिना । ऊर्ध्वमिति=विशेषपरं, सर्वश्वासानां तथाविधत्वात् । दीर्घमिति=दीर्घकालम् । न च प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधः करोति दीर्घकालमित्यर्थः श्लेष्मावृतमुखस्रोता इति श्लेष्मणा आवृतानि मुखं स्रोतांसि च यस्य स तथा । क्रुद्धगन्धवहार्दितः=कुपितवातपीडितः, समस्तपाठे तु श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः । विपश्यंस्तु इतस्तत इति=इतस्ततो विकृतिं पश्यन् ॥ २१ ॥ २२ ॥

आ०—ऊर्ध्वश्वासमाह—ऊर्ध्वमित्यादि । ऊर्ध्वश्वासे पुमान् दीर्घकालमूर्ध्वं श्वसिति, न च प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधः करोति दीर्घकालमित्यर्थः, सर्वश्वासानामूर्ध्वगत्वादत्रोर्ध्वमिति विशेषपरम् । श्लेष्मणा आवृतं मुखं स्रोतांसि च यस्य स तथा; अथवा श्लेष्मावृतानि मुखसंबन्धीनि स्रोतांसि यस्य स तथा । क्रुद्धगन्धवहार्दितः कुपितवातपीडितः, अथवा श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः । ऊर्ध्वं दृष्टिर्दर्शनं यस्य स ऊर्ध्वदृष्टिः । विपश्यन्नितस्ततो विकृतं पश्यन्, विभ्रान्ताक्षः=परिक्षिप्तनेत्रः, प्रमुह्यन्=मोहमुपगच्छन्, शुक्कास्यः=शुष्कमुखः, अरतिः=कस्मिन्नपि विषये न चिरावस्थितिः ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथोर्ध्वश्वासरोगे निःश्वासानागमने हेतुः ।

“ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः” इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—

ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।

मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसृन् ॥ २३ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ४८ )

म०—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि । निरुध्यत इति=हृदय एवातिस्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते; ऊर्ध्वं श्वासः=ऊर्ध्वश्वासः । ताम्यतो=ग्लायतो मुह्यतश्चासृन् प्राणान् हन्ति, नान्यथेति ॥ २३ ॥

आ०—ऊर्ध्वं श्वसिति न चाधः प्रत्याहरतीति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—ऊर्ध्वेत्यादि । निरुध्यत इति हृदय एव स्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न प्रवर्तते ऊर्ध्वश्वासे । ताम्यगो ग्लायतः; मुह्यतस्तमसि मज्जत इव, अथवा निश्चेष्टावतः, तस्यैवंविधपुरुषस्य असूत्र प्राणान् इन्ति नान्यथेति ॥ २३ ॥

अथ छिन्नश्वासस्य लक्षणम् ।

छिन्नश्वासलक्षणमाह—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।

न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगार्दितः ॥ २४ ॥

आनाह-स्वेद-मूर्च्छा-ऽऽर्तो दह्यमानेन वस्तिना ।

विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥ २५ ॥

विचेताः परिशुष्काऽऽस्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।

छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥ २६ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ४९-५१ )

म०—यस्त्वित्यादि । विच्छिन्नं=सविच्छेदम् । सर्वप्राणेन=यावद्वलेन । न वा श्वसिति=श्वासं न लभते । मर्मच्छेदरुगार्दित इति हृदयच्छेदेदेव-नयेव पीडितः । दह्यमानेन वस्तिना उपलक्षितः, एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः । विप्लुताक्षः=चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्णचक्षुर्वा । न वा श्वसिति=न वा श्वासं लभते । रक्तैकलोचनत्वं व्याधिप्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात् । विचेता=उद्विग्नचित्तः । विच्छिन्नो=विमोक्षितसन्धिः, पीडित इत्यन्ये । 'विहतः' इति पाठान्तरम् ॥ २४-२६ ॥

आ०—अथ छिन्नं लक्षयति—य इत्यादि । विच्छिन्नमिव विच्छिन्नमन्तराऽन्तराविच्छिद्यमानमनुवर्तते सान्तरायमित्यर्थः । सर्वप्राणेन=समस्तया शक्त्या, दुःखार्तः सन्, न वा श्वसिति मर्मच्छेदरुगार्दित इति मर्माणि हृदय-वस्ति-शिरांसि तेषां छेदनेनेव पीडितः । दह्यमानेन वस्तिनोपलक्षितः एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः । विप्लुताक्षः चलचक्षुः अश्रुपूर्णचक्षुर्वा । रक्तैकलोचनत्वं व्याधिमोषात्, अन्यथा द्वयोरपि स्यात् ॥ २४-२६ ॥

अथ तमकश्वासलक्षणम् । ( Asthma )

तमकश्वासलक्षणमाह—

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।

ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ २७ ॥

करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।  
 अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ २८ ॥  
 प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते ।  
 प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ २९ ॥  
 श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःस्वितः ।  
 तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभत सुखम् ॥ ३० ॥  
 तथाऽस्योर्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।  
 न चापि लभत निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ३१ ॥  
 पाश्व तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।  
 आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ३२ ॥  
 उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् ।  
 विशुष्काऽऽस्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ३३ ॥  
 मेघाम्बु-शीत-प्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते ।  
 स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ३४ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ५२=६० )

म०—प्रतिलोममित्यादि । श्लेष्माणं समुदीर्य चेत्यनेन सामान्यसंप्राप्तिलब्ध-  
 स्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानादिह विशेषेण कारणत्वं बोधयति । तेन रुद्धः=कफे-  
 नावृतः । घुर्घुरकं=कण्ठे घुर्घुरशब्दम् । प्राणप्रपीडकं=प्राणाधिष्ठानहृदयस्य  
 पीडकम् । प्रताम्यति=तमासि प्रविशतीव । सन्निरुध्यते=निश्चेष्टो भवतीति  
 चक्रः, जेज्जटस्तु सन्निरुध्यते श्वास इति शेषमाह । तस्यैवेति=श्लेष्मणः ।  
 सुखं=सुखमिव । उर्ध्वंसते=कण्ठूयते । पार्श्वे इति कर्मपदं, अवगृह्णाति=पीड-  
 यति । उष्णमभिनन्दति, वात-कफारब्धत्वात् । उच्छ्रिताक्षः=उच्छ्रूननेत्रः ।  
 ललाटेनेति उपलक्षणे तृतीया । अवधम्यते=गजारूढस्येव सर्वगात्रं चालयते  
 ॥ २७-३४ ॥

आ०—तमकलक्षणमाह—प्रतीत्यादि । यदि वायुः प्रतिलोमं=वैपरीत्येन स्रोतांसि प्रति-  
 पद्यते=प्राप्नोति, तदा स वायुः श्लेष्माणं समुदीर्य=ऊर्ध्वप्रेरणया ग्रीवां शिरश्च संगृह्य=सम-  
 न्तात् गृहीत्वा पीनसं करोति, पश्चात्तेनैवावृतः कण्ठे घुरघुरशब्दं करोति, प्राणप्रपीडकं प्राणा-  
 धिष्ठानहृदयप्रपीडकं श्वासं करोति, तेन श्वासवेगेन प्रताम्यति तमासि प्रविशतिविति, सन्निरुध्यते

निश्चेष्टो भवतीति चरकः, जेज्जटस्तु संरुध्यते 'श्वास' इति शेषः । मुच्यमानेन कफेनातीव दुःखितो भवति । तस्यैव श्लेष्मणो विमोक्षान्ते मुहूर्तं सुखं प्राप्नोतीति । तथेति उद्ध्वंसते कण्डूयते । पाद्वेऽवगृह्णाति=पीडयति परं शयानस्य, आसीनः सन् सुखं लभते । उष्णमभिनन्दति वात-  
कफारब्धत्वात् । उच्छ्रिताक्षः उच्छ्रूनाक्षः, स्विद्यता ललाटेनोपलक्षितः । अवधम्यते गजालढेस्यवान्-  
खिलगात्रं चात्यते ॥ २७-३४ ॥

अथ प्रतमकश्वासलक्षणम् ।

तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह-

ज्वर-मूर्च्छा-परीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ॥ ३५ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ५९ )

म०-ज्वरेत्यादि । ज्वर-मूर्च्छाभ्यां परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः; ज्वरेण मूर्च्छा-  
ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः ॥ ३५ ॥

आ०-तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह-ज्वरेत्यादि । ज्वरमूर्च्छाभ्यां  
परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः, ज्वरेण वा मूर्च्छा, इति जेज्जटः ॥ ३५ ॥

अथ प्रतमकस्य हेतवो लक्षणानि च ।

एतस्यैवापरकारणं लक्षणं चाह-

उदावर्त-रजो-ऽजीर्ण-क्लिन्न-काय-निरोध-जः ।

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।

मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥ ३६ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ६०, ६१ )

म०-उदावर्तेत्यादि । उदावर्तो=रोगः, रजो=धूलिः अजीर्णमामादि, क्लिन्नं  
विदग्धं, काये वेगानां निरोधः कायनिरोधः; अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः,  
निरोधो=वेगनिरोधः, अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्जटः ।  
तमसा=अन्धकारेण, मानसदोषेण वा; अत्यर्थमिति इतरकारणापेक्षया विशेषेण,  
वात-कफारब्धोऽपि पित्तसंबन्धाच्छीतैरुपशाम्यतीत्याहुः । संतमकः प्रत-  
मक एवेति । अन्ये तु उदावर्तेत्यादिना प्रतमकस्य उपसर्गमाहुरिति  
जेज्जटः ॥ ३६ ॥

आ०-एतस्यैवापरलक्षणं कारणं चाह-उदावर्तेत्यादि । उदावर्तो रोगविशेषः, रजो धूलिः,  
अजीर्णमामादि, क्लिन्नं विदग्धं, कायवेगानां निरोधः एतैर्हेतुभिः, जनितः । अन्ये "क्लिन्नकायो  
वृद्धनरः" इत्याहुः, निरोधो वेगनिरोधः । जेज्जटस्तु कुयोगिनां कुम्भकादिवातनिरोधजः । तमसा

अन्धकारेण, मानसतमोगुणादिदोषेण वा । अस्यर्थमिति इतरकारणोपेक्षया विशेषेण वातकफारब्धापित्त-  
संबन्धात् । शीतैरुपशाम्यतीति तमस्यन्धकारे मज्जत इवास्य पुरुषस्य तं प्रतमकमाहुः ॥ ३६ ॥

अथ क्षुद्रश्वासस्य लक्षणानि ।

क्षुद्रश्वासमाह—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ॥

क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ ३७ ॥

हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।

न च भोजनपनानां निरुणद्धुचितां गतिम् ॥ ३८ ॥

नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्भुजम् ।

स साध्य उक्तो—

( च० चि० अ० २१ श्लो० ६२-६३ )

म०—रूक्षेत्यादि । रूक्षमन्नपानम् । क्षुद्रोऽल्प-निदान-लिङ्गः । उदीरयन्=ऊर्ध्वं  
गच्छन् । इतरे=ऊर्ध्वश्वासादयः । स साध्य उक्त इति छेदः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

आ०—क्षुद्रमाह—रूक्षेत्यादि । रूक्षमन्नपानम् । आयासो व्यायामः, तज्जनितः । क्षुद्र इति  
क्षुद्रश्वासः, अल्प-निदान-लिङ्गत्वात् क्षुद्रः । कोष्ठे वातं प्रकोपयेत् क्षुद्रश्वासं करोति ।  
दुःखेन स क्षुद्रश्वासः नाङ्गप्रबाधको भवति । किन्तु स गात्राणि न हिनस्ति  
मारणात्मको न भवति । न च दुःखकारी यथा इतरे चत्वारः । इन्द्रियाणां व्यथां  
नापादयेत् । कांचिदपि रुजं रोगं नापादयेत् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

अथैषां साध्यासाध्यविचारः ।

बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ ३९ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ६४ )

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।

त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥ ४० ॥

( सु० उ० अ० ५१ श्लो० ११ )

म०—सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम् । त्रयः  
श्वासा न सिध्यन्ति महोर्ध्वच्छिन्नाः संपूर्णलक्षणाः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

आ०—सर्वेषां साध्यत्वमाह—स इत्यादि । स क्षुद्रश्वासो बलिनः पुरुषस्य साध्यः ।  
सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम् ॥ ३९ ॥ —साध्यासाध्यानाह—क्षुद्र

[ स्वरभेदनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( २०५ )

इत्यादि । तेषां श्वासानां क्षुद्रः साध्यतमः, तमको याध्यः । महोर्ध्वच्छिन्नास्त्रयः संपूर्णलक्षण-  
असाध्याः, दुर्बलस्य तमकोऽसाध्यः ॥ ४० ॥

अथैषां मारकत्वम् ।

उपेक्षणासम्यगुपक्रमाभ्यां हिक्का-श्वासयोः शीघ्रावश्यमारकत्वमाह—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।

यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु वै ॥ ४१ ॥

( च० चि० अ० २१ श्लो० ४ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हिक्का-श्वास-निदानं समाप्तम् ।

म०—काममित्यादि । काममनुमतौ, प्राणहराः सन्निपातज्वरादयः । शेषं  
सुबोधमिति ॥ ४१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हिक्का-श्वास-निदानं समाप्तम् ।

आ०—हिक्काश्वासयोः शीघ्रावश्यमारकत्वमाह—काममित्यादि । काममित्यनुमतौ, प्राणहराः सन्नि-  
पातादयो रोगाः बहवः सन्ति, ते तथा प्राणहरा न भवन्ति यथा श्वासश्च हिक्का च एतौ रोगावाशु  
शीघ्रं प्राणान् हरतः ॥ ४१ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्याविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाभिधायं

हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम् ॥ १२ ॥

अथ स्वरभेदनिदानम् । (Hoarseness of Voice.)

अथ स्वरभेदस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः ।

प्राणोदानदुष्टिसाधर्म्यात् श्वासे च स्वरभेदो भवतीति श्वासानन्तरं स्वर-  
भेदमाह—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-

संदूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।

स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां

हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥ १ ॥

(वातादिभिः पृथक् सर्वैर्भेदसा च क्षयेण च ।)

( सु० उ० अ० ५४ श्लो० २ )

म०—अत्युच्चभाषणेत्यादि । अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः, अभिघातः=कण्ठा-  
दिदेशे लगुडादिभिराघातः, एतैः संदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैः, विषं तु

सर्वदोषप्रकोपणमेव । स्रोतःसुः स्वरवहेषु चतुर्षु, यदुक्तं सुश्रुते—“द्राभ्यां भाषते, द्राभ्यां घोषं करोति”—(सु. शा. स्था. अ. ९) इति, भाषण-घोषणयोरल्पत्व-महत्त्वाभ्यां भेदः । प्रतिष्ठां=स्थितिं वृद्धिं वा । स इति स्वरभेदः, षड्विधो वात-पित्त-कफ-संनिपात-क्षय-भेदो-जभेदात् ॥ १ ॥

आ०—हिक्काश्वासौ प्राणोदानदुष्ट्या संभवतः, तद्दुष्टिसाधर्म्यात् श्वासानन्तरं स्वरभेद-माह—अत्युच्चेत्यादि । अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः; अभिघातः कण्ठप्रदेशे लगुडादिभिः, अथवा बलेन छर्दिजनितः, अथवाऽस्थ्यादि-कठिन-भोज्य-जनितः । विषतस्तु त्रिदोषप्रकोपः । स्रोतःसु स्वरवहेषु चतुर्षु, यदुक्तं सुश्रुते—“ द्राभ्यां भाषते, द्राभ्यां घोषं करोति ”—इति; भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेदः । एतैः संदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैर्दोषास्तेषु स्रोतःसु प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा गताः स्वरं हन्युः । स स्वरभेदः षड्विध इति वातपित्तकफसंनिपातक्षयभेदोजनित इति भेदात् ॥ १ ॥

अथ वातिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

वातिकमाह—

वातेन कृष्ण-नयना-ऽऽनन-मूत्र-वर्चा  
भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् स्वरं च ।

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ३ )

म०—वातेनेत्यादि । कृष्णत्वं मूत्रादिषु स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अशौवत् । भिन्नं=भिन्नस्वरं, तदेवाह—गर्दभवत् स्वरमिति, स्वरं=निष्ठुरम्, उद्वेजकमिति यावत् ॥—

आ०—वातिकमाह—वातेनेत्यादि । नयनादिकृष्णत्वं स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अशौवत् । भिन्नं भिन्नस्वरं, गर्दभस्वरवत् स्वरम् स्वरमुद्वेजकमिति यावत् । अन्ये गर्दभवत्स्वरमित्यत्र गर्दभवत्स्वरमिति पठन्ति, गर्दभस्य वचनाभावात् । ‘कण्ठेन’ इति शेषः ।

अथ पैत्तिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

पैत्तिकमाह—

पित्तेन पीत-नयना-ऽऽनन-मूत्र-वर्चा  
ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ४ )

म०—पित्तेनेत्यादि । गलेनेति विशेष्योपदर्शनं, दाहसमन्वितेनेति विशेषणस्य विशेष्याधीनप्रतीतत्वात्; गलः सदाहो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पित्तेनेत्यादि । गलस्तस्य सदाहो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥



अथ कफजस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

श्लेष्मिकमाह—

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः

स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् ।

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ५ )

म०—ब्रूयादित्यादि । दिवा विशेषादिति दिने सूर्यरश्मिभिः कफस्य मन्दीभावाद्विशेषाद्विशिष्टं वदतीत्यर्थः । 'दिवा विशेषम्' इति पाठा-  
न्तरे स एवार्थः ॥—

आ०—कफजमाह—ब्रूयादित्यादि । ब्रूयादित्यत्र कृच्छ्रादिति केचित्पठन्ति ॥—

अथ सान्निपातिकस्वरभेदलक्षणम् ।

सान्निपातिकमाह—

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंपत् ,

तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ६ )

म०—सर्वात्मक इत्यादि । सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्ग-  
योगः । तं चाप्यसाध्यमिति । अपिशब्दो भिन्नक्रमे, असाध्यमपि; तेन "सर्वजे  
क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्"—( सु० उ० तं अ० ५३ ) इति सुश्रुत-  
वचनमुपपन्नं भवतीति ॥ ३ ॥

आ०—सान्निपातजमाह—सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्गानि । तं चाप्यसाध्यमिति  
अपिशब्दो भिन्नक्रमः, असाध्यमपि तेन "सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्"—इति  
सुश्रुतवचनमुपपन्नं भवतीति ॥ ३ ॥

अथ क्षयजस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

क्षयजमाह—

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च

वाक्, एष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः ।

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ७ )

म०—धूप्येतेत्यादि । धूप्येत वागिति सधूमेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते ।  
क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे । क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेदः । एष

च यदा हतवाग्भवति ओजः क्षयाद्वचनाक्षमस्तदा न साध्यः, अन्यथा तु साध्यः, तेन प्रत्याख्याय क्रियाकरणमुपपन्नं भवति । एषु चापीति पाठे वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवागसाध्यः, किन्त्वयं पाठघटीकाकारैर्न व्याख्यातः ॥—

आ०—क्षयजमाह—धूस्येत वागिति । सधूमेनेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते, 'धूमायते' इति पाठान्तरे स एवार्थः । क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे । क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेदः, वचनं क्षयमाप्नुयात् 'वातात्' इति शेषः । स एव यदा हतवाक् ओजःक्षयाद्वचनाक्षमः, तदा न साध्यः, अन्यथा तु साध्यः । अन्ये 'एषु च' इति पठन्ति, ततश्चैषु वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवाग्साध्यः, किं त्वयं पाठघटीकाकारैर्न स्वीकृतः ॥—

अथ भेदोजस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

भेदोजलक्षणमाह—

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण

भेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्तः ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ८ )

म०—अन्तर्गतेत्यादि । अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषणम्, 'अन्तर्गतं स्वरम्' इति पाठे तु कण्ठस्यान्तर्गतं यथा भवति तथा स्वरं वचनं वदतीति योज्यम्, 'अन्तर्गलम्' इति पाठान्तरे गलस्यान्तरिति अन्तर्गलं स्वरं वदतीत्यर्थः । दिग्धगल इति श्लेष्मणा भेदसा वा लिप्तगल इत्यर्थः । तृषार्तश्च भेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ४ ॥

आ०—भेदोजमाह—अन्तरित्यादि । अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषणं; तेन कण्ठस्यान्तर्गतं यथा भवति तथा स्वरं वचनं वदतीति योज्यम् । 'अन्ये अन्तर्गलम्' इति पठन्ति, तत्र गलस्य अन्तः अन्तर्गलं, तद्वत् स्वरं वदतीत्यर्थः । भेदोऽन्वयान्भेदः संबन्धान् । 'भेदश्चयात्' इति केचित्पाठान्तरं पठन्ति, भेदश्चयान्भेदोऽद्वेष्टेरिति । 'भेदःक्षयात्' इति पाठान्तरम्, अत्र स्वरशब्दो लुप्तो मध्येऽतिदिष्टो द्रष्टव्यः, तेन भेदसा स्वरक्षयादित्यर्थः । दिग्धगल इति श्लेष्मणा भेदसा वा लिप्तगलं इत्यर्थः । तृषार्त इति भेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ४ ॥

अथ स्वरभेदस्य असाध्यलक्षणानि ।

उक्तवातादिजानामेवावस्थायामसाध्यत्वमाह—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः ।  
भेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ५३ श्लो० ९ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥

[ अरोचकनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( २०९ )

भ०—क्षीणस्येत्यादि । सहोपजात इत्यन्तेन । क्षीणस्य=क्षीणमांसस्य । कृशस्य=अवलस्य । सहोपजातः=जन्मप्रभृतिवद्भः, 'काकस्वर' इति लोके । 'सहोपजात' इत्यत्र 'मदोपजात' इति पाठान्तरम्, मदो रोगविशेषः, मेदस्विनोऽतिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जातः, अभेदस्विनस्तु मेदो-दुष्ट्या यो जातः स साध्यः पूर्वमुक्त इति न विरोधः । सर्वसमुद्भवश्चावगाढः संपूर्णलिङ्गो वा असाध्यो द्रष्टव्य इति ॥ ५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ।

आ०—असाध्यमाह—क्षीणस्येत्यादि । क्षीणस्य अवलस्य, कृशस्य क्षीणमांसस्य, सहजो-पजातः जन्मप्रतिबद्धः, स च काकस्वर इति लोके । 'सहजोपजात' इत्यस्य स्थाने 'समदोपजात' इति पठन्त्यन्ये; तत्र मदो रोगविशेषः । मेदस्विन इति अतिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जातः, मेदस्विनस्तु मेदोदुष्ट्या यो जातः सोऽसाध्यः पूर्वमुक्त इति न विरोधः । सर्वसमुद्भवश्चावगाढः संपूर्णलिङ्गो वाऽसाध्यो द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

इत्यातङ्कदर्पणे निदानव्याख्यायां स्वरभेदनिदानम् ॥ १३ ॥

### अथारोचकनिदानम् ।

( Anorexia, Loss Of Taste. )

अथारोचकरोगस्य निदानानि ।

ऊर्ध्वगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—

वातादिभिः शोक-भयातिलोभ-क्रोधैर्मनोव्राशन-रूप-गन्धैः ।  
अरोचकाः स्युः,—

( च० चि० अ० २६ श्लो० २०१ )

भ०—वातादिभिरित्यादि । एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिनां गन्धान्तेन आगन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामेकं लक्षणं वक्ष्यति; सुश्रुते चोक्तम्—“भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति—” ( सु. उ. त. अ. ५७ ) इति । शोकादिजस्तु यद्यपि वातादिजः, तथापि हेतुप्रत्यनीक-चिकित्साकरणार्थं पृथगुक्तः । अतिलोभोऽव्राहितस्य सततोपयोगहेतुतया दोष-प्रकोपक इति दर्शयति । अरोचकाः स्युरिति छेदः ॥—

आ०—ऊर्ध्वगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—वातादिभिरिति । एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्नि-पातेनैकः, शोकभयादिनाऽऽगन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामपि लक्षणं वक्ष्यति; सुश्रुते

१ 'शोकादीनामागन्तुत्वेन' इति पाठान्तरम् । २ 'वातजः' इति पाठान्तरम् ।

चोक्तम्—“भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति”—इति । तन्त्रान्तरेऽपि—“अरोचको भवेद्दोषैरेको हृदयसंश्रयैः । सन्निपातेन मानसः संतापेन च पञ्चमः”—इति । शोकादिजो यद्यपि वात-जस्तथाऽपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथगुक्तः । एतैर्हेतुभिररोचका भवन्ति । मनोव्नाशनमु-च्छिष्टकृमिकृन्नादि, रूपं=शरीरश्वयथुगतं, गन्धः=पूतिः, तैः ॥—

अथ वातिकारोचकलक्षणम् ।

वातिकलक्षणमाह—

परिहृष्टदन्तः कषायवक्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १ ॥

( च० चि० अ० २६ श्लो० २०१ )

म०—परीत्यादि । परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव ॥ १ ॥

आ०—वातिकमाह—परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव, कषायवक्र इति लोभ्रचर्चितस्येव ॥१॥

अथ पैत्तिकारोचकलक्षणम् ।

पैत्तिकलक्षणमाह—

कटम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्या—

( च० चि० अ० २० श्लो० ३२-३४ )

म०—कट्वित्यादि । कटुशब्दोऽत्र तिक्तवाची । यदाह विदेहः—“पित्तेन तिक्ताऽऽस्य-विदाह-कृत् स्यात्, स्वादास्य-हृल्लास-करः कफेन”—इति ॥—

आ०—पित्तजमाह—कट्वित्यादि । कटुरत्र तिक्तवाचकः । यदाह विदेहः—“पित्तेन तिक्तास्य-विदाहकृत्यात्स्वादास्यहृल्लासकरः कफेन”—इति । विरसमिति रोगस्वभावात्, अन्यथा वातेन विरसास्यता । पित्तेन पूति=दुर्गन्धं जानीयात् । लवणं च वक्रमिति कफजलक्षणे पठनी-यम् । यतो विदग्धः श्लेष्मा लवणभावमुपैति ॥—

अथ श्लेष्मिकारोचकलक्षणम् ।

श्लेष्मिकलक्षणमाह—

लवणं च वक्रम् ।

माधुर्य-पैच्छिल्य-गुरुत्व-शैत्य-विवद्ध-संबद्ध-युतं कफेन ॥२॥

( च० चि० अ० २६ श्लो० २०२ )

म०—लवणमित्यादि । लवणं वक्रमिति विदग्धस्य श्लेष्मणो लवणरसत्वात् । उक्तं हि सुश्रुते—“श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्”—( सु. सू. स्था. अ. ४० ) इति । विवद्ध-संबद्धयुतमिति विवद्धं च तत् संबद्ध-

[अरोचकनिदानम्] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

(२११)

युतं चेति विवद्धसंवद्धयुतम् । अत्र विवद्धं=वद्धमिव, भक्षणाद्यसामर्थ्यात्, संवद्धयुतं 'कफस्य' इति शेषः, भावे कः, कफलिप्तमित्यर्थः । 'विदग्धसंवद्धयुतम्' इति पाठान्तरं सुगमम् । 'विवद्धसन्नद्धयुतम्' इति पाठे विवद्धः सन्नद्धः स च प्रकृतत्वात् कफस्य, सन्नद्धो वद्धः, 'णह' बन्धने इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् कादि । 'विवद्ध-संस्तम्भयुतम्' इति काश्मीराः ॥ २ ॥

आ०—कफजमाह—लवणमित्यादि । कफेन लवणं च वक्त्रमिति योज्यम् । माधुर्यादियुतमिति वक्त्रेणैव । विवद्धसंवद्धयुतमिति विवद्धं च तत्संवद्धयुतं च तत्तथा; विवद्धं विवद्धमिव, भक्षणा-  
क्षमं संवद्धयुतं कफस्येति शेषः कफलिप्तमित्यर्थः । अन्ये विवद्धसन्नद्धयुतमिति पठन्ति, विवद्धः सन्नद्धः स च प्रकृतत्वात् कफस्य; सन्नद्धो वद्धः, 'णह' बन्धने इत्यस्य धातोः प्रयोगः ॥ २ ॥

अथागन्तुजारोचकस्य लक्षणम् ।

आगन्तुजमाह—

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।  
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च,

(च० चि० अ० २६ श्लो० २०३)

म०—अरोचक इत्यादि । अहृद्यगन्धो=प्राणोद्वेजको गन्धः । स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं, न तु वातादिवत् कषायत्वादि ॥—

आ०—आगन्तुजमाह—अहृद्यः प्राणोद्वेजको गन्धः, अशुचिः उच्छिष्टे, स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं न तु वातादिवद्वक्त्रकषायत्वादिकम्, अथ अरुचिरिति विशेषत्वम् ॥—

अथ सान्निपातिकारोचकलक्षणम् ।

त्रिदोषजमाह—

त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥ ३ ॥

(च० चि० अ० २६ श्लो० २०३)

म०—त्रिदोषज इत्यादि । त्रिदोषजे नैकरसमिति वातजाद्युक्तकषायाद्यनेकरसम् ॥ ३ ॥

आ०—त्रिदोषजमाह—त्रिदोषजे इत्यादि । नैकरसमिति अनेकरसमास्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथारोचकस्य लक्षणान्तराणि ।

वातजादिभेदेन मुखविकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह—

हृच्छूल-पीडन-युतं पवनेन पित्ता-

तृड-दाह-चोष-बहुलं सकफप्रसेकम् ।

## श्लेष्मात्मकं बहुरुजं बहुभिश्च विद्या- द्वैगुण्य-मोह-जडताभिरथापरं च ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽरोचकनिदानं समाप्तम् ।

म०—हृच्छूलेत्यादि । हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनम् । चोषश्चूषणवत् पीडा । बहुभिरिति त्रिदोषैः । वैगुण्य-मोह-जडताभिरथापरमिति उपलक्षणे तृतीया । वैगुण्यं=मनसो व्याकुलत्वम् । अपरमिति दोषजादन्यमागन्तुजमित्यर्थः । सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवण-स्मरण-दर्शन-गन्ध-स्पर्श-नैर्यत्रोद्भिजते स भक्तद्वेषः । एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरकमुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः । उक्तं हि वृद्धभोजेन—“प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते महुः । अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते । कुपितस्य भयार्तस्य यश्च भक्तनिरोधजः”—इति ॥ ४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामरोचकनिदानं समाप्तम् ।

आ०—वातादिभेदेन मुखे विकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह—हृच्छूलेत्यादि । हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनं तेन युक्तं, चोषः चूषणवत्पीडा । अरोचकमिति शेषः । श्लेष्मात्मकं सकफप्रसेकं स्यात् । बहुभिरिति त्रिदोषैः, बहुरुजमनेकपीडाकरम् । वैगुण्यमोहजडताभिरथापरं चेति उपलक्षणे तृतीया, वैगुण्यं मनसो व्याकुलत्वम्, अपरमिति दोषजादन्यत् आगन्तुजमित्यर्थः । अरोचकलक्षणम्—सत्यां बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यामिति अरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीति नान्नाभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवणस्मरणदर्शनस्पर्शनगन्धैर्यत्रोद्भिजते स भक्तद्वेषः । एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरकमुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः । उक्तं हि वृद्धभोजेन—“प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते महुः । अरोचकः स विज्ञेयो भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वा च भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते । कुपितस्य भयार्तस्य अभिचाराभिभूतये । यस्यान्ने न भवेच्छ्रद्धा स भक्तद्वेष उच्यते”—इति ॥ ४ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाख्या-  
यामरोचकनिदानम् ॥ १४ ॥

अथ छर्दिनिदानम् । ( Vomiting. )

अथ छर्दिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम् ।

छर्द्यामप्यरुचेर्भावात् तथाऽरोचकवत् पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दिस्तस्या निदानं निरुक्तिं चाह—

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्साऽऽलोचनादिभिः ।

छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरह्यैर्लवणैरति ।

अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥

श्रमाद्भयात्तथोद्रेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।

नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्रतः ॥ ३ ॥

बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।

निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ४९ श्लो० १-४ )

म०—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सालोचनं=विकृतिदर्शनम् । आदिग्रहणेनानिष्ट-  
गन्धभक्षणादीनां ग्रहणम् । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्याः, तस्या गर्भो-  
त्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दिः । छादयन्नाननमिति वेगैर्मुखं छादयन्=पूरयन्,  
अर्दयन्=पीडयन्, अङ्गभञ्जनैः=अङ्गभेदैः । छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गा-  
नीति छर्दिः, 'छद अपवारणे' 'अर्द हिंसायाम्' अनयोः पृषोदरादित्वेन रूप-  
सिद्धिः ॥ १-४ ॥

आ०—छर्द्यामप्यरुचेर्भावादरोचकानन्तरं छर्दिरुच्यते, तस्या निदानं निरुक्तिं चाह—दुष्टैरित्यादि ।  
एतैः कारणैर्वक्ष्यमाणैर्दुष्टैर्दोषैः छर्दयः पञ्च भवन्ति । वातादिभिस्त्रयः, त्रिदोषेणैका, बीभ-  
त्सादिभिरेका, एवं पञ्च । बीभत्सं विकृतदर्शनम्, आदिशब्देनानिष्टगन्धभक्षणादीनां ग्रहणम् ।  
निदानपूर्वां संप्राप्तिमाह—अतीत्यादि । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्याः, तस्या गर्भोत्पीडनेन  
वातवैगुण्याच्छर्दिः । बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैरिति पूर्यामेध्यादिदर्शनगन्धास्वादनेर्धृणाकारिभिः ।  
छादयन्नाननमिति दोषवेगेन मुखं पूरयन्, अर्दयन् अङ्गभञ्जनैरङ्गभेदैः, छादयति मुखमर्दयति च  
अङ्गानि स छर्दिरिति निरुच्यते, वेगैर्मुखं प्रति प्रधावितो दोष उदानो वायुः छर्दिं कुर्या-  
दित्यर्थः ॥ १-४ ॥



अथ छर्दः पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

हृत्तासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः ।

द्रेषोऽन्नपाने च भृशं वर्मीनां पूर्वलक्षणम् ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ४९ श्लो० ५ )

म०—हृत्तासैत्यादि । उद्गाररोधः=उद्गाराप्रवृत्तिः । प्रसेको=मुखप्रसेकः; तस्य लवणत्वं प्रभावात्, आमाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा; तनुरघनोऽल्पो वा ॥ ५ ॥

आ०—तस्याः पूर्वरूपमाह—हृदित्यादि । छर्दीनामिदं पूर्वरूपम् । उद्गाररोध उद्गाराप्रवृत्तिः, प्रसेको मुखप्रसेकः उदकस्त्रावः, तस्य लवणत्वं प्रभावादामाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा, तनुः अघनः अल्पो वा ॥ ५ ॥

अथ वातिकच्छर्देलक्षणानि ।

वातजाया लक्षणमाह—

हृत्-पार्श्व-पीडा-मुखशोष-शीर्ष-नाभ्यर्ति-कास-स्वरभेद-तोदैः ।

उद्गार-शब्द-प्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।

कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ६

( च० चि० अ० २३ श्लो० ६-७ )

म०—हृत्पार्श्वेत्यादि । शीर्ष-नाभ्यर्तिः=मस्तके नाभौ च शूलं, तोदैरित्यनन्तरं 'युक्त' इति शेषः, उपलक्षणे वा तृतीया । आर्तो नरश्छर्दयतीति योज्यम् । किंभूतं छर्दयतीत्याह—उद्गारेत्यादि । उद्गार-शब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्दप्रबलम् । विच्छिन्नं=सान्तरवेगमल्पद्रवं वा, वातस्य स्वतो द्रवत्वाभावात् । तनु-कमघनम् । कषायं=कषायरसं, कषायस्य वातकृतत्वात् ॥ ६ ॥

आ०—वातजामाह—हृदित्यादि । शीर्षनाभ्यर्तिरिति मस्तके नाभौ च शूलम् । तोदैरित्यनन्तरं 'युक्त' इति शेषः, उपलक्षणे वा तृतीया । वातान्नरश्छर्दयतीति योज्यम् । किंभूतं छर्दयतीत्याह—उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्दप्रबलम् । विच्छिन्नं विरलवेगम् अल्पद्रवं वा, वातस्य द्रवत्वाभावात् । तनुकमघनम् । कषायं कषायरसं, कषायरसस्य वातकृतत्वात् । कृच्छ्रेण कष्टेन, अल्पं स्तोकं, महता वेगेन ॥ ६ ॥

अथ पैत्तिकछर्देलक्षणानि ।

पित्तजामाह—

मूच्छा-पिपासा-मुखशोष-मूर्ध-ताल्वक्षि-सन्ताप-तमो-भ्रमा-ऽऽर्तः ।  
पीतं भृशोष्णं हरितं सत्तिकं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ७ ॥

( च० चि० अ० २३ श्लो० ९ )

म०—मूच्छेत्यादि । तमोऽन्धकारदर्शनमिव । धूम्रं=कृष्णलोहितवर्णम् ॥ ७ ॥

आ०—पित्तजामाह—मूच्छेत्यादि । मूर्ध्नि शिरसि ताल्वक्ष्णोश्च संतापवान् । तमो-  
ऽन्धकारदर्शनमिव, भ्रमश्चक्रारूढस्येव, पदार्थस्य अन्यथाज्ञानं वा, तैरार्तः । कीदृशं वमे-  
दित्याह—पीतमित्यादि । भृशोष्णमत्युष्णं, हरितं शाकवर्णं, धूम्रं कृष्णलोहितवर्णं, पित्तेनेति  
योज्यम् ॥ ७ ॥

अथ कफजछर्देलक्षणानि ।

कफजामाह—

तन्द्रा-ऽऽस्यमाधुर्य-कफप्रसेक-सन्तोष-निद्रा-ऽरुचि-गौरवाऽऽर्तः ।  
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत् ॥ ८ ॥

( च० चि० अ० २३ श्लो० ११ )

म०—तन्द्रेत्यादि । आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुररसत्वम् । सन्तोष इति  
सन्तोष इव सन्तोषः, अन्नानभिलाष इत्यर्थः; तप्तो हि नान्नमभिलषति । अरु-  
चिरभ्यवहारासामर्थ्यम् । स्वादु=मधुरम् । विशुद्धमतिशुभ्रं, सुश्रुते—‘शुक्लं हिमं  
सान्द्रकफं कफेन’ ( सु. उ. त. अ. ४९ ) इति पाठात् ॥ ८ ॥

आ०—कफजामाह—तन्द्रेत्यादि । एतैरुपद्रवैरार्तः स्निग्धादिकं वमेत् । आस्यमाधुर्यं  
मुखस्य मधुररसत्वम् । संतोष इव संतोषः, अन्नानभिलाष इत्यर्थः, तप्तो हि नान्नमभिलषति ।  
अरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यम् । स्वादु मधुरम् । विशुद्धमिति विशुद्धं केवलं कफम् । यदुक्तं  
सुश्रुते—“ शुक्लं हिमं सान्द्रकफं कफेन ”—इति । अल्परुजमिति कफस्य द्रवरूपत्वात् मुखेन  
निःसरणमित्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ सान्निपातिकछर्देलक्षणानि ।

त्रिदोषजामाह—

शूला-ऽविपाका-ऽरुचि-दाह-तृष्णा-श्वास-प्रमोह-प्रबलाप्रसक्तम् ।  
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणा-ऽम्ल-नील-सान्द्रोष्ण-रक्तं वमतां नृणां स्यात् ९

( च० चि० अ० २३ श्लो० १३ )

म०—शूलेत्यादि । शूलादिभिः प्रमोहान्तैः प्रबला शूलादिप्रबला । प्रसक्तं= निरन्तरम् । त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठान्तरे त्रिदोषजेत्यर्थः ॥ ९ ॥

आ०—त्रिदोषजामाह—शूलेत्यादि । त्रिदोषात् या छर्दिः तया वमतां नृणामित्यर्थः । शूलादिभिः प्रमोहान्तैः प्रबला, प्रसक्तं निरन्तरं, त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठस्तत्र त्रिदोष- जेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ छर्देरसाध्यलक्षणानि ।

असाध्यामाह—

विट्-स्वेद-मूत्रा-ऽम्बु-वहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति ।  
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ १० ॥  
विण्-मूत्रयोस्तत्सम-गन्ध-वर्णं तृट्-श्वास-हिकार्ति-युतं प्रसक्तम् ।  
प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ ११ ॥

( चं० चि० अ० २३ श्लो० १४, १५ )

म०—विडित्यादि । उत्सन्नदोषस्य=उद्भूतदोषस्य दोषमिति पित्तं कफं वा, स्वेदादिकान् वा तद्दुष्टान् धातुमलान् । तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रो- तोदुष्टिस्ततो हेतोर्विण्मूत्रयोः सम-गन्ध-वर्णं छर्दयतीति योज्यम् । इयं तु छर्दिर्विकृति-विषम-समवायारब्धा त्रिदोषजेति केचित् । अन्ये त्वाहुः— सर्वा एव छर्दयः प्रबला एवंविधाः सत्योऽसाध्याः स्युरिति ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—असाध्यामाह—विडित्यादि । उत्सन्नदोषस्य उद्भूतदोषस्य पित्तं कफं वा वायुः कोष्ठा- दुद्धूय=ऊर्ध्वं नीत्वेति स्वेदादिकान् दोषान् धातुमलान् वा स्वस्थानात् सञ्चाल्य ऊर्ध्वमे- त्यागच्छति । तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रोतोदुष्टिस्ततो विण्मूत्रयोः समगन्धवर्णं छर्दयतीति योज्यम् । इयं तु छर्दिस्त्रिदोषजेत्येके । अन्ये तु सर्वा एव छर्दयः प्रबलाः, एवंविधाः सत्यः असाध्या इत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥

अथागन्तुजछर्देर्लक्षणानि ।

आगन्तुजामाह—

बीभत्सजा दौर्हृदजामजा च असात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि ।  
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० ४९ श्लो० १० )

म०—बीभत्सजेत्यादि । दौर्हृदजा=दौर्हृदालाभजा, आमजा=अजीर्णजा, असात्म्यजा=असात्म्यभक्षणादिसंभूता, क्रिमिजा=कोष्ठक्रिमिसंभवा, बीभ-

त्सजेत्यादिना क्रिमिजान्तेनैकत्वेनैव गणनीया, आगन्तुजत्वसामान्यात् । सा पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया सामान्येनागन्तुजैव, आगन्तुज्वरवत्; यदि तु बीभत्सजापेक्षया क्रिमिजा पञ्चमीति गण्यते, तदा तां च विभावयेत् । दोषोच्छ्रयेणैवेत्यनेन क्रिमिजाया एव दोषसंबन्धः स्यात्, ततश्च बीभत्सजादीनां चिकित्सोपयोगी दोषसंबन्धो न लभ्यते । अन्ये तु तद्दोषपरिहारार्थं 'सा पञ्चमी ताश्च' इति बहुवचनान्तं पठन्ति, एवं सति अन्तर्गणनया न प्रयोजनमिति अन्तर्गणनां नाद्रियन्ते । कथमत्र दोषोच्छ्रयो विभावनीयः ? इत्याह—यथोक्तमादाविति । आदौ=वातादिलक्षणे इत्यर्थः ॥ १२ ॥

आ०--आगन्तुजामाह—बीभत्सजेत्यादि । बीभत्सजा=पूयाऽमेध्यादि--दर्शन--गन्ध--स्वाद--जा, आपन्नसत्त्वाया स्त्रिया दौर्हृदालाभजा, आमजा=अजीर्णजा, असात्म्यजा=असात्म्य-भोजनजा, क्रिमिजा=कोष्ठक्रिमिसंभवा, बीभत्सजेत्यादिना, क्रिमिजान्ता एकैव गणनीया । एवं सर्वाभिरैकैवागन्तुजत्वसामान्यात् आगन्तुज्वरवत् । पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया । आगन्तुजां दोषोच्छ्रयेणैव जानीयात् । यथोक्तमादाविति यथा वातादिलक्षणेन आदाविति पूर्वोक्तेन ॥ १२ ॥

अथ क्रिमिजछर्द्दलक्षणानि ।

क्रिमिजायाः लक्षणमाह—

शूल-हृल्लास-बहुला क्रिमिजा च विशेषतः ।

क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ४९ श्लो० १२ )

म०--शूलेत्यादि । क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन लक्षितेति क्रिमिहृद्रोगे क्रिमिलक्षणात् यत् पीडादिकं तदस्यां भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

आ०--क्रिमिजाया विशेषलक्षणमाह—शूलेत्यादि । क्रिमिजाया अयं विशेषः—हृच्छूलहृल्लासाधिका क्रिमिजहृद्रोगतुल्यलक्षणेन च लक्षितेति; यथा--“ उत्कलेदः स्त्रीवनं तादः शूलं हृल्लासकस्तमः । अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजे भवेत् ” इति ॥ १३ ॥

अथ छर्द्दः साध्यासाध्यविवेकः ।

असाध्यलक्षणमाह—

क्षीणस्य या छर्द्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणित-पूय-युक्ता ।

सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च १४

( च० चि० अ० २३ श्लो० १७ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥

म०--क्षीणस्येत्यादि । सचन्द्रिकामिति मेदःप्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत् प्रतिभाति । निरुपद्रवामिति कासाद्युपद्रव-

रहिताम् । तदुक्तम्—“कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।  
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्दरूपद्रवाः”—इति ॥ १४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—असाध्यां साध्यां चाह—अतिप्रसक्ता=अतिशयेन निरन्तरा, सोपद्रवा=वक्ष्यमाणोप-  
द्रवयुक्ता । सचन्द्रिकामिति मेदःप्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत्प्रतिभाति । इत्थं  
पञ्चविधामपि छर्दिमसाध्यां प्रवदेत्=वर्जयेदित्यर्थः । निरुपद्रवां=कासाद्युपद्रवरहितां साध्यां  
चिकित्सेत् । ‘भिषक्’ इति शेषः ॥ १४ ॥

अथ छर्दिरोगस्योपद्रवाः ।

तस्या उपद्रवमाह—

( कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।

हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्दरूपद्रवाः ॥ १५ ॥ )

( ताल्वोष्ठ-कण्ठा-ऽऽस्य-विशोष-दाह-संताप-मोह-भ्रम-विप्रलापः ।  
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि ॥ )

आ०—कास इत्यादि । वैचित्त्यं=विमतचित्तता ॥ १५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
छर्दिनिदानम् ॥ १५ ॥

अथ तृष्णानिदानम् ।

अथ तृष्णारोगस्य सम्प्राप्तिः ।

छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्दनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः सम्प्राप्तिमाह—

भय-श्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ऊर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च ।

पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम् ॥

म०—भयेत्यादि । पित्तविवर्धनैरिति कट्वम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च  
स्थान एव संचितं=कुपितं च पित्तं, वातश्च भय-श्रम-बल-क्षयैः कुपितः,  
ऊर्ध्वं प्रसरन् पिपासां जनयति । ताल्वित्युपलक्षणम्, तेन क्लोमाद्यपि  
बोध्यम्, तस्य पिपासास्थानत्वेनोक्तत्वात् । चरकेऽप्युक्तम्—“रसवाहिनीश्च

धमनीर्जिह्वामूल-गल-तालुक-क्लोमः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृषामति-  
बलौ तौ तु” ( च. चि. स्था. अ. २२ )—इति ॥—

आ०—छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्दनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः संप्राप्तिमाह—भयश्रमाभ्यामि-  
त्यादि । पित्तविवर्धनैः कटुम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थाने हृदि संचितं पित्तं, वातश्च  
भयश्रमबलक्षयैः कुपितः, ऊर्ध्वं प्रसरन् पिपासां जनयेत् । तालुप्रपन्नमिति सवातं पित्तं तालुगत-  
मित्यर्थः । तात्त्वित्युपलक्षणं; तेन क्लेमगतमपि बोद्धव्यं, तस्य पिपासास्थानत्वात् । उक्तं च चरके-  
रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोमः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृषामतिबलौ  
तौ तु”—इति ॥—

अथान्न-कफा-ऽऽमजानां संप्राप्तिः ।

अन्न-कफा-ऽऽमजानां संप्राप्तिमाह—

स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ॥१॥

म०—स्रोतःस्वित्यादि । ननु, अपांवाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धम्, ‘द्वे उदक-  
वहे’ ( सु. शा. स्था. अ. ९ )—इति सुश्रुतेनोक्तत्वात् । नैवम्, तयोरेवानेक-  
प्रतानयोगादिति । दोषैरिति अन्न-कफा-ऽऽमैः, दुष्टिकर्तृत्वात् दुष्टदोषसंबन्धाद्वा-  
ऽन्नाऽऽमयोरपि दोषत्वमिति गदाधरैः ॥ १ ॥

आ०—अन्नकफामजानां संप्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि । ननु स्रोतःस्विति बहुवचनं विरुद्धम्  
यदुक्तं सुश्रुते—“द्वे उदकवहे” इति । मैवं, तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति । दोषैरिति अन्नकफामैः,  
दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टदोषसंबन्धादन्नामयोरपि दोषत्वमिति गयदासः ॥ १ ॥

अथासां भेदाः ।

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च ।  
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥२॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ३ )

म०—तिस्र इति वातादिभिः प्रत्येकम् । क्षतजेति क्षतनिमित्ता त्रिणिनां या  
भवति । चतुर्थीत्यनेनोक्तानां चतसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु  
कष्टसाध्यत्वम् ॥ २ ॥

आ०—तिस्र इति वातादिभिः प्रत्येकम्, क्षतजेति क्षतनिमित्ता त्रिणिनां या भवति, चतुर्थीत्यनेन  
चोक्तानां तिसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु कष्टसाध्यत्वमिति । क्षयादन्या पञ्चमी,  
आमसमुद्भवा षष्ठी, भक्तोद्भवा सप्तमिकेति, क्रमेण तासां लक्षणानि जानीहि ॥ २ ॥

अथ वातिकतृषाया लक्षणानि ।

वातजामाह—

क्षामास्यता मारुतसंभवायां तोदस्तथा शङ्ख-शिरःसु चापि ।  
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्रं शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य  
शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम् । चकराच्चरकोक्तनिदानाशस्य ग्रहणम् ।  
यदाह चरकः—“निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्क-गल-तालुः” ( च. चि.  
स्था. अ. २२ )—इति ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ४ )

म०—क्षामास्यतेत्यादि । क्षामास्यता=शुष्कदीनमुखत्वम् । स्रोतोनिरोध  
इति रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः । शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य  
शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम् । चकराच्चरकोक्तनिदानाशस्य ग्रहणम् ।  
यदाह चरकः—“निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्क-गल-तालुः” ( च. चि.  
स्था. अ. २२ )—इति ॥ ३ ॥

आ०—वातजां तृष्णामाह—क्षामेत्यादि । क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वं, वक्तुं चर्वितुं वाऽसाम-  
र्थ्यमित्येके । शङ्खशिरःस्विति शङ्खयोः शिरसि वा, तोदो व्यथाविशेषः, शङ्खयोर्द्वित्वेन  
बहुवचनत्वम् । स्रोतोनिरोधः रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः, अन्ये शब्दाश्रवणमिति । शीताभिरद्भि-  
रित्यनेन वायोः शीतः स्पर्शः, तेन वृद्धिरित्यनुपशयस्य निदर्शनम्, चकराच्चरकोक्तनिदाना-  
शस्य ग्रहणम् ॥ ३ ॥

अथ पैत्तिकतृष्णाया लक्षणानि ।

पित्तजामाह—

मूर्च्छा-ऽन्नविद्वेष-विलाप-दाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।  
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥४॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ७ )

म०—मूर्च्छेत्यादिना । विलापोऽत्र प्रलापः । प्रततश्च शोषोऽतीव महती  
तृष्णा । शीताभिनन्दा=शीतेच्छा, ‘गुरोश्च हलः’—इत्यकारप्रत्ययः । परिदू-  
यनमुपतापः, ‘परिधूपनम्’ इति पाठेऽन्तः क्षोभणम्, धूमनिर्गम इव वा । चका-  
रात् पीत-विष्-मूत्र-नेत्र-त्वादयो ग्राह्याः ॥ ४ ॥

आ०—पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादि । विलापो=विविधप्रकारेण भाषणम्, रक्तेक्षणत्वं=रक्तनेत्र-  
त्वम् । प्रततश्च शोष इति=अतिमहती तृष्णा, शीताभिनन्दा=शीतेच्छा, परिदूयनमुपतापः ।  
‘परिधूपनम्’ इति पाठान्तरम्, तत्रान्तः क्षोभणं धूमस्योद्गिरणमिव वा, चकारात्पीतविष्मूत्र-  
नेत्रादयो ग्राह्याः ॥ ४ ॥



अथ श्लेष्मिकतृष्णाया लक्षणानि ।

श्लेष्मजामाह—

बाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु ।

निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥५॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ८ )

म०—बाष्पेत्यादि । स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्ठादाच्छादितेऽन्तराग्नौ कफावरुद्धबाष्पेण पावकोष्मणाऽधोगतेनाम्बुवहस्रोतःशोषणात् कफजा तृष्णा भवति । ननु कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना ? कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवस्य पिपासा-कर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात् । यदुक्तम्—“पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्”—इत्यादि । चरकेऽप्युक्तम्—“नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू”—( च. चि. स्था. अ. २२ ) इति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—“मद्यस्याग्नेय-वायव्य-गुणावम्बुवहानि तु । स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते” ( सु. उ. त. अ. ४७ )—इति । अत आह—तथेति=उक्तप्रकारेण कफादग्नेर्वाष्पावरोधादिना, न तु स्वगुणेन; अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुतेन तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेनैव श्लेष्मणा तृष्णा पठिता न तु केवलेन । यदाह—“स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा । प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेन्मृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च । भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्”—इति ॥ ५ ॥

आ०—श्लेष्मजामाह—बाष्पेत्यादि । स्वकारणकुपितेन कफेन संवृते उपरिष्ठादाच्छादितेऽन्तराग्नौ कफावरुद्धबाष्पेण पावकोष्मणा अधोगतानाम्बुवहस्रोतसां शोषणात् कफजा तृष्णा भवति । ननु कफेन तृष्णाऽनुपपन्ना ? कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवभूतस्य पिपासाकर्तृत्वासंभवात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात्; यदुक्तं—“पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्” इत्यादि । चरकेऽप्युक्तम्—“नाग्नेर्विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू”—इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं “मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि च । स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते” इति । अत एवाह—तथेति । उक्तप्रकारेण कफादग्नेर्वाष्पावरोधादिना न तु स्वगुणेन, अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुते तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेन श्लेष्मणैव तृष्णा पठिता न तु केवला । “स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा । प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेन्मृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च । भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ लिङ्गैरेतैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्”—इति । तथा तृष्णया पीडितो मनुष्योऽतितरां क्रुशो भवति, घातूनामनुपचयात् ॥ ५ ॥

अथ क्षतजन्यतृष्णाया लक्षणम् ।

क्षतजामाह-

क्षतस्य रुक्-शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु ।

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ९ )

म०-क्षतस्येत्यादि ।-शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य ॥-

आ०-क्षतजामाह-क्षतस्येति । शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य नरस्यः रुक्प्रीडनाच्छोणितस्त्रावाच्च तृष्णा जायते । सा क्षतसंभवा चतुर्थी ॥-

अथ क्षयजतृष्णाया लक्षणानि ।

क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह-

रसक्षयाद्या क्षयसंभवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥६॥

पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ।

रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग् व्यवस्येत् ॥७॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० १० )

म०-रसक्षयादित्यादि । पेपीयते=पुनः पुनः पिबति; एतच्च विशेषपरम्, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात् । यदाह सुश्रुतः-“सततं यः पिबेद्भारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णादितमादिशेत्”-( सु. उ. त. अ. ५८ ) इति । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि । तद्यथा,- “रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च”-( सु. सू. स्था. अ. १५ ) इति । तस्यां=क्षयजायाम्, अशेषेण=कात्स्न्येन ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०-क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह-रसक्षयादित्यादि । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् । रसक्षयात्तृष्णा भवति, सा क्षयजा ज्ञेया । तस्यां व्याप्तः पुमान् जलं पेपीयते पुनः पुनः पिबति, परं सुखं न लभते, जलेन तृप्तो न भवतीत्यर्थः । एतच्च विशेषपरं, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात् । तां केचन सन्निपातात्कथयन्ति यदुक्तं सुश्रुते-“सततं यः पिबेत्तोयं न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णादितमादिशेत्”-इति । रसक्षयोक्तानि तु लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि, तथा च “रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च”-इति । एतानि समस्तान्यपि भवन्ति ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथ आमजाततृष्णाया लक्षणम् ।

आमजामाह—

**त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूल-निष्ठीवन-साद-कर्त्री**

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० ११ )

म०—त्रिदोषेत्यादि । त्रिदोषलिङ्गा=त्रिदोषलिङ्गयुक्ता । आमादजीर्णात् त्रिदोषकोपः स्यादिति ॥—

आ०—आमजामाह—त्रिदोषेत्यादि । त्रिदोषलिङ्गा=त्रिदोषलिङ्गयुक्ता । सादोऽङ्गानाम् । एतानुपद्रवान् करोति । आमे ह्यजीर्णात्रिदोषकोपः स्यादिति । उक्तं च सुश्रुते—“अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान्भवेत्”—इति ॥—

अथ अन्नजतृष्णाया लक्षणानि ।

भुक्तोद्भवामाह—

**स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥८॥**

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० १२ )

म०—स्निग्धमित्यादि । चकारात् कटु च, न तु तिक्त-कषाय-मधुराणीत्यर्थः । गुरुशब्देन मात्रागुरु, द्रव्यगुरु च गृह्यते । दृढबलेन तु पञ्च तृष्णाः पठिताः; वात-पित्त-क्षया-ऽऽमोपसर्गजा ( च. चि. स्था. अ. २२ ) इति; तत्र, कफजा आमजायामेवावरुद्धा; क्षतजा वातजायां; भक्तजा च वातजायां, भक्तावरणेन वातप्रकोपात् पित्तजायां वा, विदाहेन पित्तप्रकोपात् । सुश्रुते चोपसर्गजा यथास्वं दोषजासु । ननु, मद्यजाऽपि सुश्रुतेन मदात्यये ( सु. उ. त. अ. ४७ ) पठिता, तत् कथं सप्तेत्युच्यते ? सत्यं तस्या वात-पित्तजायामवरोधः, एवं दृढबलमतेऽपि ॥ ८ ॥

आ०—भुक्तोद्भवामाह—स्निग्धमित्यादि । चकारात् कटु च, न तु तिक्तकषायमधुराणीत्यर्थः । गुरुशब्देन मात्रागुरु द्रव्यगुरु च गृह्यते । दृढबलेन तु पञ्च तृष्णा उक्ताः वातपित्तक्षयामोपसर्गजनिता इति । तत्र कफजायामामजाऽन्तर्भूता, वातजायां क्षतजा; भक्तजाऽपि वातजायां, भक्तावरणेन वातकोपात्, पित्तजायां वा विदाहेन पित्तकोपात् । सुश्रुते चोपसर्गजा यथास्वं दोषजासु । ननु, मद्यजाऽपि सुश्रुते मदात्यये पठिता, तत् कथं सप्तेत्युच्यते ? तस्या वातजायामन्तर्भावात्; एवं दृढबलमतेऽपि ॥८॥

अथोपसर्गजतृष्णाया लक्षणानि ।

तत्रोपसर्गजामाह—

**दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्क-वक्र-गल-तालुः ।**

**भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ॥९॥**

( च० चि० अ० २४ श्लो० १४ )

म०—दीनेत्यादि । दीनस्वरः=क्षामवचनः, प्रताम्यन्=मुह्यन्, दीनः=ह्रान्तः । उपसर्गादित्युपद्रवाद्वोगात्, उपद्रवशब्दश्च सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते, यथा—

“निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः” ( सु. चि. स्था. अ. ३८ )  
इत्यत्र । कष्टा=कष्टसाध्या, व्याधिकर्षितदेहत्वात् ॥ ९ ॥

आ०—तत्रोपसर्गजामाह—दीनेत्यादि । दीनस्वरः क्षामवचनः, प्रताम्यन् मुखन्, दीनः  
क्लान्तः, उपसर्गादिति उपद्रवात् रोगात्, उपद्रवशब्दस्तु सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते । यथा—  
“निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः” इति । शोषणी=वातुशोषणात्मिका । सा कष्टा कष्ट-  
साध्या, व्याधिकर्षितदेहत्वात् ॥ ९ ॥

अथ तृषोपसर्गाः ।

तानेवोपसर्गानाह—

ज्वर-मोह-क्षय-कास-श्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।

( च० चि० अ० २४ श्लो० १५ )

म०—ज्वरेत्यादि । आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम् ॥—

आ०—तानेवोपसर्गानाह—ज्वरेत्यादि । आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम् । एतैर्व्याधिभिर्गु-  
हीतदेहानां नृणाम् ; अत्र पूर्वलक्षणानुरोधः ॥—

अथासामसाध्यलक्षणानि ।

असाध्यानां लक्षणमाह—

सर्वास्त्वितिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम् ।

घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १० ॥

( च० चि० अ० २४ श्लो० १६ )

“क्षीणं विचित्तं बधिरं तृषाऽऽर्तं विवर्जयेन्निर्गतजिह्वमाशु” ११॥

( सु० उ० अ० ४८ श्लो० १३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने तृष्णानिदानं समाप्तम् ।

म०—सर्वास्त्वित्यादि सर्वा वातजादयः, अतिप्रसक्ता=अतिप्रवृद्धाः ।  
घोरोपद्रवयुक्ता=मुखशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवैः समन्विता इति जेज्जटः ॥ १० ॥

इति श्रीविजयरश्मितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां तृष्णानिदानं समाप्तम् ।

आ०—असाध्यलक्षणमाह—सर्वा इत्यादि । अतिप्रसक्ता अतिप्रवृद्धा, वमिप्रसक्तानामिति  
शरीरश्लेष्मशोधनाय वमनशीलानां, घोरोपद्रवयुक्ताः श्वासशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवैर्युक्ता इति  
जेज्जटः । ता मरणकारिका इत्यर्थः ॥ १० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामाप्तकृदपणाख्यायां

तृष्णानिदानम् ॥ १६ ॥

अथ मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रा-संन्यास-निदानम् ।

अथ मूर्च्छारोगस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः ।

( मूर्च्छा=(Fainting or Cyncopy.)

तृष्ण्यां मोहो भवतीति तृष्णानन्तरं मूर्च्छा, उक्तं हि—“तृषितो मोहमा-  
प्नो( या )ति मोहात् प्राणान् विमुञ्चति” इति; तस्या निदानं संप्राप्तिं चाह—

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।

वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥

करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाम्भ्यन्तरेषु च ।

निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥ २ ॥

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।

तमोऽभ्युपैति सहसा सुख-दुःख-व्यपोहकृत् ॥ ३ ॥

सुख-दुःख-व्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।

मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥

वातादिभिः शोणितेन मयेन च विषेण च ।

षट्स्वप्नेतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ४६ श्लो० ४, ५ )

म०-क्षीणस्येत्यादि । बहुदोषस्येति विपुलदोषस्य न त्वनेकदोषस्य; तथा  
सत्येकदोषजायाः संप्राप्तिर्नोक्ता स्यात् । वेगाघातान्मलादिवेगधारणात् । अभि-  
घातात् लगुडादेः । हीनसत्त्वस्य=हीनसत्त्वगुणस्य । करणं=मनः, तस्यायत-  
नानि=बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहानि स्रोतांसि, यैरागत्य मन-  
श्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति; अथवा बाह्यानि=कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि=धीन्द्रि-  
याणि; तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मूर्च्छन्तीति योज्यम् । पुनः कया  
संप्राप्त्या इत्यत आह—संज्ञावहास्वित्यादि । संज्ञावहनाडीशब्देन सिरा-  
धमनी=स्रोतसां ग्रहणमित्याहुः, यतस्तैर्मन इन्द्रियदेशं प्राप्नोति । पिहितासु  
आवृतासु । तमो=मनोगुणोऽज्ञानहेतुः, अभ्युपैति=वर्धते, सहसा=झटिति ।  
अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदात्ययादिषु सत्त्व-रजसी न तथा लीयेते, यथा  
मूर्च्छायामित्यत आह—सुखदुःखव्यपोहकृदिति=सुखदुःखयोरसंवित्तिकरम् ।

एतच्च प्रायिकत्वेनोक्तम्, ( त्रिविधं ज्ञानं भवति हेयोपादेयोपेक्षणीयभेदात्, ) तेनोपेक्षणीयज्ञानाभावो ज्ञेयः । व्यवहारार्थं तत्पर्यायावाह—मोहो मूर्च्छेति । वातादिभिस्तिष्ठः, शोणित-मद्य-विषैश्च तिस्रः, एवं षट् । प्रभुत्वेनेति व्यापकत्वेन, तेन वातजादिष्वपि ज्वरवद्गोमहिम्नाऽवश्यं पित्तसंबन्धः, अत एव वक्ष्यति,—“मूर्च्छा पित्त-तमः-प्राया” इति; चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥ १-५ ॥

आ०—तृष्णायां मोहो भवतीत्यतस्तृष्णानन्तरं मूर्च्छारम्भः, तस्या निदानपूर्वां संप्राप्तिमाह—क्षीणस्थेति । पुरुषस्य । बहुदोषस्थेति विपुलदोषः य । वेगाघातात्=मलादिवेगविधारणात् । अभिघाताल्लुगुडादेः । विरुद्धाहारसेविनः विरुद्ध आहारः क्षीरमत्स्यादिः । हिनसत्त्वस्य क्षीणसत्त्वगुणस्य । करणं मनस्तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवाहीनि स्रोतांसि वैराग्यत्व मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति; अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि आभ्यन्तराणि धीन्द्रियाणि । तेषु यदा उग्रा अतिप्रसृता दोषा निविशन्ते=अवतिष्ठन्ते, तदा मानवा मूर्च्छन्ति, इति योज्यम् । संप्राप्तिमाह—संज्ञावहास्त्विति संज्ञावहनाडीशब्देन सिराधमनीस्रोतसां ग्रहणं, यतस्तैरिन्द्रियदेशं मनः प्राप्नोति । पिहितसु रुद्धासु । तमो मनोगुणः अज्ञानहेतुः तस्यावरणात्मकत्वात् । अभ्युपैति वर्धते, सहसा झटिति । अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदात्ययादिषु न तथा सत्त्वरजसी लीयेते यथा मूर्च्छास्वित्यत आह—सुखदुःखव्यपोहकृदिति; सुखदुःखयोर्व्यपोहस्तिरस्कारस्तयोरसंवित्तिरित्यर्थः; अथवा सुखं सत्त्वं दुःखं रजः तयोर्व्यपोहकृत्, तमसा तयोरवृतत्वात्; अतः काष्ठवन्निपततीत्यर्थः । व्यवहारार्थं तत्पर्यायानाह—मोहो मूर्च्छेति तस्याः पर्यायौ । उक्तं चाभिधानानन्तरे—“संज्ञोपघाते मूर्च्छायां मूर्च्छा स्यान्मूर्च्छनं तथा । कश्मलं प्रलयो मोहः संन्यासस्तु मृतोपमः;” इति । सा च मूर्च्छा षड्विधा षट्प्रकारा भवति । वातादिभिः शोणितमद्यविषैश्च तिस्रः, एवं षड्विधत्वमाह—वातादिभिरिति । प्रभुत्वेनेति वातादिष्वपि व्यापकत्वेन पित्तमेवावतिष्ठते ज्वरवद्गोमहिम्नाऽवश्यं पित्तसंबन्धः; इहैव वक्ष्यत्यग्रे—“मूर्च्छा पित्ततमः-प्राया”—इति, चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥ १-५ ॥

अथ मूर्च्छायाः पूर्वरूपाणि ।

तस्याः पूर्वरूपमाह—

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च ।

सर्वासां पूर्वरूपाणि,—यथास्वं ता विभावयेत् ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ४६ श्लो० ३ )

म०—हृत्पीडेत्यादि । संज्ञादौर्बल्यमसम्यग्ज्ञानता । सर्वासां पूर्वरूपाणीति छेदः । यथास्वं विभावयेदिति ताः मूर्च्छाः वातादिभेदेन जानीयात् व्यक्तरूपावस्थायाम् नतु पूर्वरूपावस्थायामिति जेज्जटः ॥ ६ ॥

आ०—तस्याः पूर्वरूपमाह—हृदित्यादि । संज्ञादौर्बल्यमसम्यग्ज्ञानता । पूर्वरूपाणीति पादत्रयेण छेदः । यथास्वं च विभावयेदिति तां मूर्च्छां वातादिभेदेन जानीयादित्यर्थः, व्यक्तरूपावस्थायां नतु पूर्वरूपावस्थायामिति जेज्जटः ॥ ६ ॥

अथ वातजमूर्च्छाया लक्षणम् ।

ता एवाह ( वातजामाह )—

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।

पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ७ ॥

वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।

कार्श्यं श्यावाऽरुणा छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥ ८ ॥

म०—नीलमित्यादि । नीलं=स्निग्धकृष्णम्, कृष्णं=रुक्कृष्णम्, अरुण-  
मीषल्लोहितम् । तमः प्रविशत्यन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतीत्यर्थः । शीघ्रं च  
प्रतिबुध्यत इति वायोः शीघ्रकारित्वात् । कार्श्यं श्यावाऽरुणा छाया, 'गात्रे'  
इति शेषः । मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः ॥ ७ ॥ ८ ॥

आ०—वातजामाह—नीलमित्यादि । नीलं स्निग्धकृष्णम्, अरुणमीषल्लोहितं, गगनं पश्यन् तमः  
प्रविशति अन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतीत्यर्थः । शीघ्रं च प्रतिबुध्यते वायोः शीघ्रकारित्वात् । कार्श्यं  
श्यावाऽरुणा छाया गात्रस्येति शेषः । मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अथ पित्तजमूर्च्छाया लक्षणम् ।

पित्तजमूर्च्छायामाह—

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा ।

पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ९ ॥

( सपिपासः ससन्तापो रक्त-पीता-ऽऽकुलेक्षणः । )

सभिन्नवचाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥ १० ॥

म०—रक्तमित्यादि । वियदाकाशम् । अत्र "सपिपासः ससन्तापो रक्तपी-  
ताकुलेक्षणः" इति कचिदधिकः पाठः ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—पित्तजामाह—रक्तमित्यादि । वियदाकाशं, रक्तं, हरितवर्णं=शाकवर्णं, पीतं वा  
पश्यन् तमः प्रविशतीति मूर्च्छतीत्यर्थः । यदा प्रबुध्यते तदा स्वेदो भवति, सपिपासः  
तृष्णान्वितः, सन्तापवांश्च भवति । रक्ते पीते आकुले=त्रस्ते इव ईक्षणे=लोचने यस्य स तथा ।  
'अन्ये रक्तपित्ताकुलेक्षणः' इति पठन्ति । तत्र रक्तपित्तो विकारः । ( जातमात्रे=उत्पन्नमात्रे  
पतति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते । ) पीताभः=पीतशरीरच्छविः ॥ ९ ॥ १० ॥



अथ कफजमूर्च्छाया लक्षणम् ।

कफजमूर्च्छायामाह—

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।

पश्यंस्तमः प्रविशति चिरञ्च प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥

गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा ।

सप्रसेकः सहल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥ १२ ॥

म०—मेघेत्यादि । तमोघनैरिति तमोभिर्घनैश्च; तमोऽन्धकारः, घनोऽत्र मेघवाची ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०—श्लेष्मजामाह—मेघसंकाशमित्यादि । आर्द्रेण चर्मणा इव प्रावृतैर्वेष्टितैरङ्गैरुपलक्षितः । प्रसेको=मुखस्त्रावः, उपस्थितवमनत्वात् ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ सान्निपातिकमूर्च्छाया लक्षणम् ।

सान्निपातिकमाह—

सर्वाकृतिः सान्निपातादपस्मार इवागतः ।

स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ १३ ॥

( अ० ह० नि० अ० ६ श्लो० ३५ )

म०—सर्वेत्यादि । ननु, सर्वाकृतिरिति विरुद्धम्, उद्देशे 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' इत्यभिहितत्वात्; सान्निपातजया च सह सप्त प्रसज्येरन् ? उच्यते, उद्देशः सुश्रुतग्रन्थेन चरकग्रन्थेन च विवरणम् । चरके हि एकजास्तिस्त्रिदोषजा चैकेति चतस्रः पठ्यन्ते । यदुक्तमष्टोदरीये,—“चत्वारो मूर्च्छाया इति अपस्मारैर्व्याख्याताः”—( च. सू. स्था. अ. १८ ) इति रक्त-मद्य-विष-जानां यथादोषमेतास्वन्तर्भावः; सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षण-चिकित्सा-भेद-व्यापनार्थं साक्षात् पठिताः, त्रिदोषजाया दोषजास्वन्तर्भावः, इत्यभिप्रायेण भेद आचार्ययोः, संग्रहे चात्र सर्वतन्त्रस्वीकारादुभयमपि लिखितमित्यदोषः । अपस्मार इवेति यथाऽपस्मारी महताऽभिघातेन पतति चिरेण प्रतिबुध्यते । अपस्मारे फेनवामित्व-दन्तघट्टना-ऽक्षिन्नैकृतादिकमधिकमिति भेदः । बीभत्सचेष्टितैरिति फेनवामित्वादिभिरेव ॥ १३ ॥

आ०—सान्निपातजामाह—सर्वाकृतिरित्यादि । ननु सर्वाकृतिरिति विरुद्धं ? पूर्वमुद्देशे 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' इत्युक्तम्, सान्निपातजया सह सप्तसंख्यात्वं स्यात् । उच्यते—उद्देशः सुश्रुतेन विवरणं

चरक्रेण, यतस्तत्र पठिता वातादिभिलिखः, त्रिदोषजा चतुर्थी । यदुक्तमष्टोदरीयाध्याये—“ चतस्रो मूर्च्छाया इत्यपस्मारेण व्याख्याताः ”—इति; यथा चत्वारोऽपस्माराः वातेन पित्तेन श्लेष्मणा सन्निपातेन, तद्वन्मूर्च्छा अपीत्यर्थः । रक्तमद्यविषजानां यथास्वं दोषजास्वन्तर्भावः, सुश्रुते एतच्च लक्षणं चिकित्साभेदख्यापनार्थं साक्षात्पठितम् । त्रिदोषजायाश्च दोषजास्वन्तर्भाव इत्यभिप्रायेण माधवेन संगृहीतेत्यमिति सर्वतन्त्रस्वीकारादुभयमपि लिखितमित्यदोषः । अपस्मार इवागत इति आगतस्यापस्मारस्य वेगवत् सा मूर्च्छा जन्तुं प्राणिनं शीघ्रं पातयति चिराच्च प्रतिबुध्यते, विना बीभत्सचेष्टितैरिति अपस्मारे फेनागमन—इन्तावषट्पना—ऽक्षिवैकृत—सत्वादिदर्शनमस्ति, त्रिदोषजायां मूर्च्छायां तु न तथा, अयमेव भेदः; अत एव विना बीभत्सचेष्टितैरिति ॥ १३ ॥

अथ रक्तजमूर्च्छायाः सम्प्राप्तिः ।

रक्तजमूर्च्छासंप्राप्तिमाह—

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः ।

तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ १४ ॥

( सु० उ० अ० ४६ श्लो०-६ )

म०—पृथिव्याप इत्यादि । पृथिवी आपश्च एतद्वयं तमोरूपं=तमोबहुलम्, उक्तं हि,—“तमोबहुला पृथिवी, सत्त्व-तमो-बहुला आपः ( सु. शा. स्था. अ. १ )”—इति । ‘पृथिव्यम्भः’ इति पाठे अयमेवार्थः । तदन्वयः=पृथिव्य-म्भोऽन्वयः, ‘तन्मयः’ इति पाठे पृथिवी-जल-मयः, प्रकृतिविकारभावे मयद् । तस्मादिति=यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वयः, मूर्च्छा च तमः प्राया, तस्मादित्यर्थः । भुवि मानवा इति पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूत-भूमिगुणा ये ते भुविमानवाः पार्थिवाः, तामसा इत्यर्थः; नतु राजसाः सात्त्विका वा ॥ १४ ॥

आ०—पृथ्वीत्यादि । पृथिवी आप एतदुभयं तमोरूपं तमोबहुलम् । उक्तं हि सुश्रुते—“ तमो-बहुला पृथ्वी सत्त्वतमोबहुला आपः ”—इति । तदन्वयः=पृथिव्यम्भोऽन्वयः । “ पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः ” इति पाठे तन्मय इति पृथिवीजलमयस्तदन्वयात् । गन्धेऽपि तमस्त्वं सिद्धं मूर्च्छा च तमः प्राया, तस्मादित्यर्थः । अन्ये ‘पृथिव्यम्भः’ इति पठन्ति । तत्र पृथिवी चाम्भश्च पृथिव्यम्भसी तयोः संबन्धि यत्तमः तद्रूपं तद्रहुललक्षणं रक्तमिति, रूपशब्दोऽत्र बाहुल्येऽन्वयलक्षणे वा वर्तते, यतः सत्त्व-रजस्-तमसां परमं रूपं दृष्टिपथं नोपगच्छति किंतु विशेषेष्वभिव्य-ज्यते, सर्व एव विशेषास्तमोभया इत्युक्तत्वात् । भुविमानवा इति पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूत-भूमिगुणाः, एतेन भुवि मानवाः पार्थिवास्तामसा इत्यर्थः । तस्माद्ये मानवास्तामसा भवन्ति त एव रक्तगन्धेन मूर्च्छन्ति न तु राजसाः सात्त्विका वा । रक्तगन्धेन मूर्च्छन्तीति भावः ॥ १४ ॥

अत्रापरमतम् ।

ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत ? तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्,  
पृथिव्याश्च तमोरूपत्वादित्यत आह—

**द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति ।—**

( सु० उ० अ० ४६ श्लो० ६ )

म०—द्रव्यस्वभाव इत्यादि । रक्तस्यायं स्वभावः, तेन तद्रूप एव गन्धो  
मूर्च्छयतीति । स्वभावमेव द्रव्यति—दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति । ‘यच्च दृष्ट्वाऽपि  
मुह्यति’—इति पाठान्तरम् । अन्ये तु गन्धासंबन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपल-  
म्भादनैकान्तिकत्वं गन्धस्य मन्यमाना स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः; एतेन गन्धस्य  
प्रायिकत्वमुक्तम् । अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते;  
तत्र, यदाह भोजः,—“स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादसु-  
जस्तज्जाद्रन्धाच्चैव प्रमुह्यति”—इति । “पृथिव्या यत्तमोरूपम्”—इति पाठान्तरं  
सुगमम् । “पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्रयम्”—इति पाठान्तरस्य जेज्ज-  
टलिखितस्यायमर्थः,—रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयो-  
स्तादर्थ्यात् किं तत्रयमित्यत उक्तम्—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति; पृथिव्यम्भ-  
स्तमसां रूपमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् । दृष्ट्वेति रक्तमिति शेषः ॥ १४ ॥—

आ०—ननु, चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च  
तमोरूपत्वादित्यत्राह—द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति; रक्तस्यायं स्वभावो  
येन तद्रूपगन्धो मूर्च्छयतीति । प्रभावमेव द्रव्यति—दृष्ट्वाऽपि यन्मूर्च्छयतीति ‘रक्तम्’  
इति शेषः । यदाह भोजः,—“स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादसुजस्तज्जाद्रन्धाच्चैव  
प्रमुह्यति”—इति ॥ १४ ॥

अथ विष-मद्य-जातमूर्च्छाया लक्षणम् ।

विष-मद्यजे प्राह—

**गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विष-मद्ययोः ॥ १५ ॥**

**त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ ।**

( सु० उ० अ० ४६ श्लो० ७।— )

म०—गुणा इत्यादि । गुणा दश यदुक्तं दृढबलेन,—“लघुरुक्षमाशु विशदं  
व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि मूक्षं च । उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्जैः”

( च. चि. स्था. अ २३ )-इति । ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विष-  
मद्ययोस्तु तीव्रतराः, अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किंतु विष-मद्याभ्यामिति । त  
एवेति गुणा लघुत्वादयः । यथेरिताविति विषजो मोहो न स्वयं निवर्तते विष-  
स्यापाकित्वात् मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, अयं च भेदो विष-मद्ययोः  
प्रभावात् । उक्तं हि तन्त्रान्तरे,—“ये विषस्य गुणाः प्रोक्ता सन्निपातप्रकोपणाः ।  
त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः”—इति ॥ १५ ॥

आ०—विषमद्यजे प्राह—गुणा इत्यादि । तत्र गुणा दश, यदुक्तं दृढबलेन—“लघु रूक्षमाद्यु  
विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकारि सूक्ष्मं च । उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विधं तज्ज्ञैः”  
इति । ते गुणास्तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः, अतस्तैलादिभिर्न  
मोहः, किंतु विषमद्याभ्यां मोह एवेति, त एव गुणा लघुत्वादयः विषम-  
द्ययोस्तीव्रतरत्वेन स्थिताः । तत्रापि भेदः—विषे तीव्रतमाः, मद्ये तीव्रतराः, तैलादिषु  
तीव्रा व्यस्ताः । यथेरिताविति ताभ्यां=विषमद्याभ्यां यथेरिता तरतमादिभेदेन यथोक्तौ  
मोहौ स्याताम् । विषेण तीव्रतमः, मद्येन तीव्रतर इत्यर्थः । विषजो मोहः स्वयं न निवर्तते,  
विषस्यापाकित्वात्, मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, विष-मद्ययोस्त्वयमेव भेदः प्रभावात्,  
उक्तं हि तन्त्रान्तरे—“ये विषस्य गुणाः प्रोक्ता सन्निपातप्रकोपिणः । त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु  
बलवत्तराः”—इति ॥ १५ ॥

अथ रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य लक्षणानि ।

तत्र रक्तजाया लक्षणम् ।

रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य रूपाण्याह—

स्तब्धाद्गृहृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥ १६ ॥

( सु० उ० त० अ० ४६ श्लो० ८ )

म०—स्तब्धाद्गृहृष्ट्यादि मूर्च्छित इत्यन्तं, रक्तजायाः । गूढोच्छ्वासश्चास्प-  
ष्टोच्छ्वासः । ‘गूढ’ इति पाठे संनिरुद्ध इत्यर्थ इति जेजटः ॥ १६ ॥

आ०—रक्तजाया रूपमाह—स्तब्धाद्गृहृष्ट्यादिना—मूर्च्छित इत्यन्तेन । गूढोच्छ्वास इत्यत्र गूढेति  
पाठे सन्निरुद्धोच्छ्वासः ॥ १६ ॥

अथ मद्यजमूर्च्छाया लक्षणम् ।

मद्यन विलपंश्छेते नष्ट-विभ्रान्त-मानसः ।

गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥ १७ ॥

( सु० उ० अ० ४६ श्लो. ९ )

म०—मद्येनेत्यादि तदित्यन्तं मद्यजायाः । नष्ट-विभ्रान्त-मानस इत्यत्र  
‘निष्टनन् भ्रान्त-मानसः’ इति पाठान्तरे निष्टनन्=शब्दं कुर्वन् ॥ १७ ॥

आ०—मद्यजामाह—विलपन्=प्रलपन् । नष्टविभ्रान्तमानस इति नष्ट=स्मृतिरहितं,  
विभ्रान्तं=विक्षिप्तं, मानसं=चित्तं यस्य स तथा । जरां यावन्न याति तदिति—

यावज्जरां परिपाकं न गच्छति तावद्वात्राणि भूमौ विनिक्षिपन्-ताडयन् मूर्च्छितस्तिष्ठती-  
त्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ विषजातमूर्च्छाया लक्षणम् ।

वेपथु-स्वप्न-तृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छते ।

वेदितव्यं तीव्रवरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥ १८ ॥

( सु० उ० अ० ४६ श्लो० १० )

म०-वेपथ्वादिना विषजायाः । यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूल-पत्र-  
क्षीरादिभेदेन प्रातिस्विकं यल्लक्षणमुक्तं सौश्रुतकल्पस्थाने ( सु. क. स्था. अ.  
२ ) तल्लक्षणयुक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

आ०-विषजामाह-वेपथ्वित्यादि । वेपथुः=कम्पः, स्वप्नो=निद्रा । तमोन्धकारप्रविष्ट-  
स्येवार्थासंवित्तिः । यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूल-कन्द-पत्र-क्षीरादिभेदेन यल्लक्षणं  
सुश्रुते कल्पस्थाने उक्तं तेषां लक्षणैरेव तीव्रतरत्वेन युक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रासु दोष-गुण-विशेषाद् भेदाः ।

संज्ञानाशसाधर्म्येऽपि मूर्च्छादीनां को भेदः ? इत्याह-

मूर्च्छा पित्त-तमः-प्राया रजः-पित्तानिलाद् भ्रमः ।

तमो-वात-कफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्म-तमो-भवा ॥ १९ ॥

म०-मूर्च्छा पित्ततमःप्रायेत्यादि । तमो-वात-कफादिति समाहारद्वन्द्वः ।  
निद्रा-तन्द्रयोश्चैतानि कारणानि व्यस्त-समस्तानि, तेन सुश्रुतेन यदतिलङ्घित-  
लक्षणे निद्रा-तन्द्रे पठिते, ते<sup>१</sup> विनैव कफात्, अतिलङ्घनस्य श्लेष्मक्षयहेतु-  
त्वात् ॥ १९ ॥

आ०-संज्ञानाशसाधर्म्यान्मूर्च्छाया भेदानाह-तत्र मूर्च्छाहेतुमाह-मूर्च्छा पित्ततमः-  
प्राया तमोगुणयुक्तेन पित्तेन मूर्च्छा भवति । भ्रमहेतुमाह-रज इति । रजोगुणेन पित्ता-  
निलाभ्यां युक्तेन भ्रमो भवति, तत्र भ्रमः स्थानौ पुरुषज्ञानम्, पुरुषे विपरीतसत्त्वज्ञाना-  
दिकम्, अन्ये चकस्थितस्येव संभ्रमद्वस्तुदर्शनमिति । तन्द्राहेतुमाह-तम इति तमोगुणेन  
युक्ताभ्यां वात-कफाभ्यां तन्द्रा भवति समाहारद्वन्द्वेनैकवचनम् । निद्राहेतुमाह-  
श्लेष्मणां मिलितेन तमोगुणेन निद्रा भवति, तस्या लक्षणम् अरतिविकलान्तमनसः सर्वे-  
न्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः । चरकेऽपि “यदा तु मनसि कलान्ते कर्मात्मानः कलमा-  
न्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः”-इति । अत्र कर्मात्मानः=इन्द्रियाणि,  
निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेत्यर्थः । सुश्रुतेनातिलङ्घितलक्षणे निद्रातन्द्रे पठिते, अतिल-

इधितस्य श्रेष्मश्रयत्वाग्निद्रातन्द्रयोस्तूक्तकारणत्वाद्भेदः । तथा च निद्रायामिन्द्रिय-मनो-मोहः,  
तन्द्रायामिन्द्रियमोहः ॥ १९ ॥

अथ भ्रमरोगस्य लक्षणम् । ( Giddiness ) ।

( चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।

भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥ )

अथ निद्रालक्षणम् । ( Sleeping )

( यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः ।

विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ )

अथ तन्द्रालक्षणम् ।

( Sleepiness )

तन्द्रालक्षणमाह-

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।

निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अथ क्लमलक्षणम् ।

( योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ।

क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ )

( सु० शा० अ० ४ )

म०-इन्द्रियार्थेष्वित्यादि । निद्रा-भ्रमयोस्तु लक्षणं नोक्तमिह, अतिप्र-  
सिद्धत्वात् । निद्रा हि विप्लुतमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः । यदाह  
चरकः, -“यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मनः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते  
तदा स्वपिति मानवः” ( च. सू. स्था. अ. २१ )-इति । अत्र कर्मात्मान-  
इन्द्रियाणि; निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेति मतेऽप्ययमेवार्थः । निद्रा-  
तन्द्रयोस्तूक्तकारणभेदाद्भेदः, उद्धूतजृम्भादेश्चातुभवसिद्धत्वादिति; तथा निद्रा-  
यामिन्द्रिय-मनो-मोहः, तन्द्रायामिन्द्रियमोहः । भ्रमलक्षणं तु चक्रस्थितस्येव  
भ्रमद्रस्तुदर्शनमिति ॥ २० ॥

आ०-तन्द्रालक्षणमाह-इन्द्रियार्थेष्वित्यादि । इन्द्रियार्थेषु विषयेषु असंप्राप्तिरग्रहणम् । गौर-  
वमङ्गानाम् । निद्रार्तस्येव=उत्पन्नानिद्रस्येव । अस्याग्रे क्लमलक्षणं पठन्ति-य इत्यादि । यः

शरीरे आयासवर्जितः श्रमः प्रवृद्धो भवति परं श्वासवर्जितः स क्लम इति कथितः । इन्द्रियार्थप्रबाधकः विषयग्रहणेऽसमर्थः । अयं पाठो माधवेन न लिखितः ॥ २० ॥

अथ संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदः ।

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—

दोषेषु मद-मूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।

स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ २१ ॥

( अ० ह० नि० अ० ६ श्लो० ३६ )

म०—दोषेष्वित्यादि ॥ २१ ॥

आ०—संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—दोषेष्वित्यादि । आदिशब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः । आविष्टवेगेषु दोषेषु या मदादिभिर्मूर्च्छा भवति सा उपशान्तवेगेषु स्वयमेवोपशमं याति, भिषक्प्रतीकारं विनेत्यर्थः; संन्यासस्तु चिकित्सकजनसानुभावौषधैर्विना न शाम्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथ संन्यासरोगलक्षणम् ।

(Apoplexy, or Catalepsy.)

तल्लक्षणमाह—

वाग्-देह-मनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।

संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥

स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।

प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २३ ॥

( अ० ह० नि० अ० ६ श्लो० ३७, ३८ )

इति श्रीमाधवकरविरचते माधवनिदाने मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रा-संन्यास-निदानं समाप्तम् ॥

म०—वागित्यादि । अतिबला इत्यनेन मूर्च्छायाः प्रारम्भकदोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धा दोषास्तमश्चेति बोधयति । संन्यस्यन्ति=मोहयन्ति । स ना=पुरुषः, संन्याससंन्यस्तः=संन्यासपीडितः, काष्ठीभूत इति अत्यन्तनिष्क्रियत्वेन अकाष्ठ एव काष्ठवद्भूतः । अत एव मृतोपम इति । मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियामिति सूचीव्यधना-ऽञ्जना-ऽवपीडन-शूकाशिम्बीफलावघर्षणादिरूपा क्रिया यदि न क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु जीवतीति ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रा-संन्यास-निदानं समाप्तम् ।



आ०—तल्लक्षणमाह—वागित्यादि । अतिबला इति मूर्च्छाचारम्भकदोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धाः, प्राणायतनं=चेतनास्थानं हृदयमाश्रिताः, वाग्-देह-मनसां चेष्टामाक्षिप्य=विनाश्य, अवलं=ईनसत्त्वं पुरुषं, संन्यस्यन्ति । तदा स ना=पुरुषः संन्याससंन्यस्तः=संन्यासपीडितः, काष्ठभूत इत्यतिनिष्क्रियत्वादकाष्ठमेव काष्ठवद्भूतः, अत एव मृतोपमः । सुक्त्वा सद्यःफलं क्रियामिति सद्यः फलं यस्यास्तां क्रियां त्यक्त्वा इत्यर्थः । तत्र सद्यःफला क्रिया सूचीव्यधन-तीक्ष्णा-ज्जना-ऽवपीडन-कापिकच्छूफलावघर्षणादिरूपा यदा न क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु जीवति ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे रुग्निनिश्चयव्याख्याने मूर्च्छादिनिदानम् ॥ १७ ॥

अथ पानात्यय-परमद-पानाजीर्ण-पानविभ्रम-निदानम् ।

अथ मदात्ययनिदानम् ।

(Alcoholism.)

‘मूर्च्छा मद्येन च विषेण च’-इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मद्यविकारान् मदात्यय-यादीनाह । ननु, कथं मद्यं मोहयतीत्याह—

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः ।

तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

म०—‘ये विषस्येत्यादि । ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निर्दिष्टाः । मिथ्योपयुक्तेनेति=अयथाविधिपीतेन, विधिश्चायम्, तद्यथा,—कुसुमितलतो-पगूढैः प्ररूढनिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाश्चैर्मधुकर—मधुरझङ्कारसीत्कारैर्मुक्त-कण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैस्तरुणतरुभिरुपक्रान्तलताभिरतिशोभनेषु तुषारकरकिरणराजिपराजिताशेषतापदोषेषु प्रदेशेषु शृङ्गाररससमुचितालङ्कृतिकमनीयकामिनीसेवितं ललितललनोपनीयमानं सुर-भिरुचिररूपरसोपदंशं कं नाम परिमितं परार्ध्यमधुपानं न सुखयति ? चरके तु विस्तरेणैतदुक्तम् ॥ १ ॥

आ०—‘मूर्च्छा मद्येन विषेण च’ इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मद्यविकारानाचष्टे, ननु कथं मद्यं मोहयतीत्याह—य इत्यादि । ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः, ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निर्दिष्टाः, त गुणा मद्येऽपि कीर्तिताः, तेन मद्येन मिथ्योपयुक्तेन अयथाविधिपीतेनोग्रो मदात्ययो

१ अस्याग्रे कचिद् पुस्तके ‘शुद्धकायः पिबेत्प्रातः सोपदंशं पलद्वयम् । मध्याह्ने द्विगुणं तच्च स्निग्धाहारेण पाययेत् । प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने ॥ वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं चाग्रे धृत्वा मरिचलवणैश्छागलं मृष्टमांसम् । वीणानादैः परभृतकृतैः काकलीगीतदुक्तः सोऽयं धन्यः पिबति मदिरां भैरवो यस्य तुष्टः॥’—इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते । २ ‘प्रदोषेषु’ इति पाठान्तरम् ।

भवति । विधिश्चायं; तद्यथा—कुसुमितलतोपगूढैः प्रकटनिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाञ्चैर्मधुकरम-  
धुरशङ्खारसीत्कारैर्मुक्तकण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणोद्वीजितसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैस्तृणतृणभिरु-  
पक्रान्ततरललताभिरतिशोभनेषु वनोपवनेषु तुषारकरकिरणारञ्जितप्रदेशेषु शृङ्गाररसमुचितालङ्क-  
तिकमनीयकामिनीसम्मितं ललितललनोपनीयमानं सुरभिरुच्चिरसोपदंशं कं नाम परिमितं मधु-  
पानं न सुखयति । चरक्रेण तु विस्तरेणैतदुक्तम् । विधिः प्रकारः ॥ १ ॥

अथ मद्यस्य स्वभाववर्णनम् ।

ननु विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति, तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं  
प्रसज्येत ? अत आह—

किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।

अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽस्मृतम् ॥ २ ॥

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून् ।

विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ ३ ॥

( च० चि० अ० १२ श्लो० ५७, ५८ )

म०—किंत्वित्यादि । यथैवान्नमिति देहधारकस्वभावम्, तदेवायुक्तियुक्तम-  
विधियुक्तं रोगाय; तस्मादहितमपि विशिष्टविधिनोपयुक्तं हितम्, हितमप्यविधि-  
नोपयुक्तमनर्थाय भवतीति । अत्रैव दृष्टान्तमाह—प्राणा इत्यादि । तदयुक्त्येति  
अतिमात्रत्वादिना विसूच्यादिकं कृत्वा मारयतीत्यर्थः । युक्तियुक्तमिति यथा  
चरकरसायनप्रयोगे उक्तम्,—“द्वौ यवावत्र हेमस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च  
( च. चि. स्था. अ. १ )”—इति । अत्र तिलमिति तिलप्रमाणम् ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—ननु विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं स्यादित्यत आह—  
किंत्वित्यादि । मद्यं स्वभावेन=प्रकृत्या अन्नवत् ज्ञेयं देहधारणस्वभावम्, तदेवान्नं मद्यं वा । अयु-  
क्तियुक्तम्=अविधिप्रयुक्तं रोगाय भवति, युक्तियुक्तममृतवद्भवतीत्यर्थः । तस्मादहितमपि विशि-  
ष्टविधिनोपयुक्तं हितम्, हितमप्यविधिनोपयुक्तमनर्थाय भवति । अत्रैव दृष्टान्तमाह—प्राणा इति ।  
अन्नं प्राणभृतां शरीरिणां प्राणाः, शरीरधारणात्मकत्वात् । तदेवान्नमयुक्त्या अतिमात्रत्वादिना  
विसूच्यादीन् कृत्वा मारयतीत्यर्थः । प्राणहरमपि तद्वद्विषं युक्तियुक्तं रसायनं भवति, शरीरं  
धारयतीत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ विधिनोपयुक्तस्य मद्यस्य गुणाः ।

विधिनोपयुक्तस्य फलमाह—

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।

प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० १२ श्लो० २५ )

स्निग्धैस्तद्वैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम् ।

भवेदायुः प्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥ ५ ॥

काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च ।

विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० ५-६ )

म०--विधिनेत्यादि । काल इति नित्यगे चावस्थिके च, तथा-ग्रीष्मे शीत-मधुरं=माध्वीकादि, शीते उष्ण-तीक्ष्णम्=गौडिक-पैष्टिकादि, तथा वाते स्निग्धादि, एवं वयस्युदाहार्यम् । हितैरन्नैरिति वक्ष्यमाणस्निग्धादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः । स्निग्धैरित्युपलक्षणम्, तेनान्यैरपि मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यम् । यदुक्तं सुश्रुतेन--“मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च । रुक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च-” ( सु. उ. त. अ. ४७ ) इति । अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तम्, यदुक्तमन्यत्र--“सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्”-इति । मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम् । अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति । यदाह भोजः--“भैर्यं मदिरा सीधु चतुर्थं मधु चोच्यते । एकैकं षड्सं तत्र रसतो मद्यमीरितम्”-इति । अन्न-भक्ष्य-शब्दयोरुपादानेन प्रायो लेह्यं द्रवान्तरपानं च मद्यपानोचितं न भवतीति दर्शयति । अन्न-भक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे, मांस-ग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम् । बलं=शक्तिः, उपचयः=स्थौल्यम् । अप-रमपि विधिसेवागुणमाह-काम्यतेत्यादि । काम्यता=कमनीयमूर्तिता, मनस-स्तुष्टिः=सन्तोषः । काम्यता मनस इति कमनीयवस्तुनि मनोवृत्तिः, तुष्टिश्च मनस एवेति योज्यम् । तेजः=उत्साहः । विक्रमः=पराभिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा ॥ ४-६ ॥

आ०--विधिनोपयुक्तस्य फलमाह-विधिनेत्यादि । विधिः पूर्वोक्तः, तत्रान्तरोक्तश्च--  
“शुद्धकायः पिबेत्प्रातः सोपदंशं पलद्वयम् । मध्याह्ने द्विगुणं तच्च स्निग्धाहारेण वै पिबेत् । प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्ये रसायने । आरोग्यं धातुसाम्यं च वह्निकान्तिबलप्रदम् । जनेन विधिना सेव्यं मद्यं नित्यमतन्निद्रतैः”-इति । अन्ये--“बुद्ध्यादयो गुणा यावदुल्लसन्ति निरत्ययाः । मात्रेयं विहितं मद्ये पाने रोगाय चापराः”-इति । काल इति । तत्र कालो द्विविधः, नित्यगः, आवस्थिकश्च; तत्र नित्यगे ऋतुसंबन्धिनि, यथा-ग्रीष्मे शीतमधुरं माध्वीकादि, शीते उष्णतीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकादि; आवस्थिक काले-वाते स्निग्धादि, एवं वयस्युदाहार्यम् । हितैरन्नैरिति वक्ष्यमाणस्निग्धत्वादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः । यथाबलं स्वशक्त्या । एवं हृष्टो हर्षयुक्तो यो मद्यं पिबेत्तस्मात्पुण्यं स्यात् । कैः सह पतिं

बलोपचयाय भवति तानाह—स्निग्धैरित्यादि । एतैर्वस्तुभिः सेव्यमानं मद्यमायुःप्रकर्षाय भवति तथा बलवर्धकमिति । स्निग्धैरित्युपलक्षणम्, तेनान्यैर्मद्यविपरीतगुणैरपि बोद्धव्यं, तेन तीक्ष्णादि-दशगुणविपरीतैर्मृद्वादिगुणैः सह मद्यं सेव्यमिति । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“ लघुतीक्ष्णोष्णसूक्ष्मा-म्लव्यवाय्याशुगमेव च । रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ”—इति । तथा च सुश्रुते—“ मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च । रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च ”—इति । अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तम् । यदुक्तमन्यत्र—“ सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम् ”—इति । मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम् । अन्येऽप्यत्र रसा सन्ति । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“ मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः । मधुरश्च कषायश्च कटुकस्तित्त एव च ”—इति । यदाह भोजः—षड्रसा इति—“ मदिराया रसा व्यक्ता मधुरोषणतिक्तकाः । लवणाम्लकषायाश्च त्रयः सूक्ष्म-तराः स्मृताः ॥ विपर्ययेणैतदेवं भेदे कथिता रसाः । माध्वीके सीधुसंज्ञे च व्यक्तौ चाम्लकटू-रसौ । व्यक्ता हि शेषाश्चत्वारो रसा भोजेन कीर्तिताः ”—इति । अत्रैरिति गोधूमादिभिः । अन्नमक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे मांसग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनायम् । बलं शक्तिः, उपचयः स्थूल्यम् । अपरमपि विधिवेवागुणमाह—काम्यतेत्यादि । काम्यता कमनीयमूर्तिता, मनसस्तुष्टिः संतोषः, तज उत्साहः, विक्रमः परामिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा ॥ ४-६ ॥

### अथ प्रथममदस्य लक्षणम् ।

उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय संपद्यते, स च त्रिविधो भवति—पूर्वो मध्यमोऽन्तिमश्चेति; तेषां क्रमेण लक्षणमाह—

**बुद्धि-स्मृति-प्रीति-करः सुखश्च पानाऽन्न-निद्रा-रति-वर्धनश्च ।**  
**संपाठ-गीत-स्वर-वर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥७॥**

म०—बुद्धीत्यादि । बुद्धिरनुभवः, स्मृतिरनुभूतार्थानुसन्धानम् । पानान्न-निद्रारतिवर्धनश्चेति पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः । संपाठः=सम्यक् पाठः । गद्यदासस्तु—‘संपाठ्य’—इति पठित्वा गीत-नृत्य-वाद्यानि मिलितानि संपा-ठ्यमुच्यते, गीतं तु केवलमेवेति व्याचष्टे । स्वरो=ध्वनिः । प्रोक्तोऽतिरम्य इति मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन न दुःखावहत्वात्, अत एव सुश्रुतेन मानस-विकारेषु हर्षः पठितः ॥ ७ ॥

आ०—उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय भवति; स च त्रिधा भवति मदात्ययः पूर्वो मध्योऽन्तिम इति । तेषां क्रमेण लक्षणमाह—तत्र प्रथमो यथा—बुद्धीत्यादि । बुद्धिरनुभवः, स्मृतिः=पूर्वानुभूतस्मरणम्, प्रीतिः=परेण मैत्री । सुख इति शोकाद्यस्मरणेन मनसः प्रसादादनुपहतेन्द्रियवृत्तित्वात् । पानान्ननिद्रारतिवर्धन इति पानादिषु विषये रतिरनुरागः, तद्वर्धनः । संपाठः सम्यक्पाठः, गीतं गानं, स्वरो ध्वनिः । प्रोक्तोऽतिरम्य इति । ननु मनोविकार-कस्त्वात् कथमस्यातिरम्यता ? उच्यते—मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन दुःखावहत्वात् । अत एव सुश्रुतेन मानसविकारेषु हर्षः पठित इति ॥ ७ ॥

अथ द्वितीयमदस्य लक्षणम् ।

द्वितीयमदमाह—

अव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्-विचेष्टः सोन्मत्त-लीलाऽऽकृतिरप्रशान्तः ।  
आलस्य-निद्रा-ऽभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥८॥

म०—अव्यक्तेत्यादि । विचेष्टो=विरुद्धचेष्टः । उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तते इति सोन्मत्तलीलाकृतिः=उन्मत्तप्राय इत्यर्थः । अप्रशान्तः=प्रचण्डः ॥ ८ ॥

आ०—मध्यमदमाह—अव्यक्तेत्यादि । उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तते इति सोन्मत्तलीला-  
कृतिः उन्मत्तप्राय इत्यर्थः । अप्रशान्तः प्रचण्डः । मुहुर्वारंवारम्, आलस्यनिद्राभ्यामभिहतः पीडितः,  
स चैवंविधोऽत्यनुपहतेन्द्रियवृत्तित्वात् ॥ ८ ॥

अथ तृतीयमदस्य लक्षणम् ।

तृतीयमदमाह—

गच्छेदगम्यान् गुरुश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।  
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥९॥

म०—गच्छेदित्यादि । ननु चरके द्वितीय-तृतीयोर्मध्ये मदान्तरं पठितम्,  
यदाह—“मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम् । न किञ्चिदशुभं कुर्युर्नरा  
राजस-तामसाः ॥ को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ( च. चि. स्था.  
अ. २४ )”—इति; तत् कुतोऽत्र न पठितम् ? उच्यते,—द्वितीयमदान्ते तृती-  
यमदस्य पूर्वावस्थैवातिनिन्दनीया, सुतरां तृतीयो मद इति प्रतिपादनार्थं तत्प-  
ठितम्, न तु तयोः परमार्थतोऽन्तराले पृथङ्मदान्तरमास्ति, यथा—“कुम्भ-मीन-  
क्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः । नाहरेत्तृण-काष्ठानि न गच्छेदक्षिणां दिशम् ॥”  
इति । अत्र हि कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्वयं मध्यशब्देनोच्यत  
इत्याहुर्जेज्जटादयः । हरिचन्द्रव्याख्यानां तु विस्तरत्वान्न लिखितम् । अगम्यान्  
गुरुदारादीन् दुष्टयानादींश्च । नष्टसंज्ञ इति संज्ञानामोल्लेखेन ज्ञानम्, तन्नष्टं  
यस्य स तथा । गुह्यानि=गोप्यानि । अस्वतन्त्रो=मदपरवशः ॥ ९ ॥

आ०—तृतीयं मदमाह—गच्छेदित्यादि । अगम्यान् गुरुदारादीन् । गुरुन ज्येष्ठान्, न मन्येत्  
अवगणयेदित्यर्थः । अभक्ष्याणि शास्त्रनिषिद्धानि, चकारात् दुष्टयानादींश्च । संज्ञानामोल्लेखेन  
संज्ञाज्ञानं तन्नष्टं यस्य स तथा । हृदि स्थितानि गुह्यानि गोप्यानि, ब्रूयात् । तथा अस्वतन्त्रो मद-  
परवशः । स चैवंविधोऽतीवोपहतेन्द्रियत्वाद्भवति ॥ ९ ॥

अथ चतुर्थमदस्य लक्षणम् ।

चतुर्थमदमाह--

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्ढ्यं निष्क्रियः ।

कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥ १० ॥

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ।

बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥ ११ ॥

म०—चतुर्थे त्वित्यादि । कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यमिति बुद्ध्या जानाति । ‘कार्याकार्यविभागाज्ञः’ इति पाठे कार्याकार्यविभागयोरज्ञ इत्यर्थः । मृतादप्यपरो मृत इति मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात् । ‘अवर’ इति पाठान्तरे मृतादप्यधम इत्यर्थः, तथाविधावस्थायाः स्वयं कृतत्वात् । क इत्यादि । कः कृती=कुशलः, सुकृती वा, कृतकृत्यो वा; स्ववशोऽपराधीनः, तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मदं, गच्छेत्=प्राप्नुयात्, न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः । कामिवेत्याह--बहुदोषमिवामूढः कान्तारमिति बहुदोषं=हिंसादियुक्तं, कान्तारं=दूरशून्यमध्वानम् । यदुक्तं चरके--“गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाऽध्वगः” (च. चि. स्था. अ. २४) इति, एवं विदेहेऽपि पठितमिति । अत्रास्वन्तमशोभमानमनिष्टफलत्वेन । ननु, चरक-विदेह-वाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथं सुश्रुतेन पठितः? उच्यते-चरके या द्वितीय-तृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठितः, यस्तु चरके तृतीयः स च सुश्रुते चतुर्थः पठित इत्यविरोधः । वस्तुगत्या तु त्रय एव मदा इत्युपपादितम् । ननु, किं कारणमेतन्नैविध्यमिति चेत् ? उच्यते, मद्यं हि बह्वितुल्यम् यथा ह्यग्निः सुवर्णानामुत्तम-मध्यमा-ऽधमानामभिव्यञ्जकस्तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्व-रजस्-तमो-भूयिष्ठानां क्रमेणाभिव्यञ्जकमिति । तथाहि चरकः--“प्रधाना-धम-मध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः । यथाऽग्निरेवं सत्त्वाद्यैर्मद्यं प्रकृतिदर्शकम्”-इति (च. चि. स्था. अ. २४) । तस्मात् प्रथम-द्वितीय-तृतीय-मदाः सत्त्व-रजस्-तमो-भूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—चतुर्थमदमाह--चतुर्थे मदे पुरुषो मूढोऽज्ञः, भग्नदार्ढ्यं निष्क्रियो भवति भग्नवृक्ष इव क्रियारहितः, तथा कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यं बुद्ध्या जानाति । ‘कार्याकार्यविभागाज्ञः’ इति पाठान्तरे कार्याकार्यविभागयोरनभिज्ञ इत्यर्थः । मृतादप्यपरो मृत इति मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात् । ‘अवरः’ इति पाठान्तरे मृतादप्यवर इत्यर्थः । तथाविधावस्थायाः स्वयं

कृतत्वात् । क इति कः कृती सुकृती कृतकृत्यो वा स्ववशोऽपराधीनस्तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मदं गच्छेत् प्राप्नुयात् न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः । कमिवेत्याह—बहुदोषमिवामूढः कान्तारमिति; बहुदोषं हिंसायुक्तं कान्तारं शून्यमध्वानं को मूढो गच्छेदपि तु न कोऽपि । यदुक्तं चरके—“गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ?”—इति । अस्वन्तमशोभनमनिष्टफलत्वेन । ननु चरकविदेह-वाग्मटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितः, तत्कथं न विरोधः ? उच्यते; चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद् इति कृत्वा पठितः । केयमन्तरालावस्था ? यथोक्तं ज्योतिःशाले—“कुम्भमीनक्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः । नाहरेतृणकाष्ठानि न गच्छेदक्षिणां दिशम्”—इति । अत्र कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्वयं मध्यशब्देनोच्यते इति सैवान्तरालावस्था । यस्तु चरके तृतीयः सुश्रुते स चतुर्थः पठित इत्यविरोधः वस्तुगत्या त्रय एव मदा इत्युपपादितम् । ननु, किंकारणकमिदं त्रैविध्यमिति चेत् उच्यते—मद्यं हि बह्वितुल्यं, यथा ब्राह्मिः सुवर्णानामधममध्यमोत्तमानामभिव्यञ्जकः, तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानामभिव्यञ्जकम् । तथा हि चरकः—“प्रधानाधममध्यानां रक्माणां व्यक्तिदर्शकः । यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम्”—इति तस्मात्प्रथमद्वितीयतृतीयमदाः सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥

अथावैधमद्यपानस्य विकारान्तरकर्तृत्वम् ।

अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम् ।

आपादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो०-१० )

म०—निर्भक्तमित्यादि । ननु, अयमर्थः स्निग्धैस्तदन्नैरित्यादिना यदुक्तं तद्विपर्ययेणैव लब्धः, तत्कथं पुनरुच्यते ? नैवम्, पूर्वं मद्यपानगुणाभिधानार्थमुक्तम्, इदं तु कृच्छृतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमिति भेदः । यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यभिप्रायः । कष्टतमान्विकारानिति वक्ष्यमाणपानात्ययादीन् । भेदं=विनाशं शरीरस्य ॥ १२ ॥

आ०—अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—निर्भक्तमित्यादि । निर्भक्तमाहाररहितम्, एकान्ततो=नैरन्तर्येण सेव्यमानं, कष्टतमान्=वक्ष्यमाणान् पानात्ययादीन् जनयेत् । शरीरभेदं शरीरविनाशम् । ननु ‘स्निग्धैस्तदन्नैः’ इत्यादीनां विपर्ययेणैवायमर्थो लब्धस्तर्हि पुनः कथनम् ? नैवम्, पूर्वं मद्यपानगुणाभिधानार्थमुक्तम्, इदं तु कृच्छृतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमुक्तमिति भेदः ॥ १२ ॥



अथ कीदृशानां जनानां मद्यपानं रोगोत्पादकम् ?

अन्नसहितस्यापि मद्यस्य कुट्टत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह—

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन ।

व्यायाम-भाराध्व-परिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥१३॥

अत्यम्बुभक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ।

उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० ११, १२ )

म०—क्रुद्धेनेत्यादि । परिक्षतेन=क्षणेन । अवततं=व्याप्तम् । विविधान् विकारान् पानात्ययादीनिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

आ०—अन्नसहितस्यापि मद्यस्य कुट्टत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह—क्रुद्धेनेत्यादि । व्यायामभाराध्वभिः परिक्षतेन=क्षणेन वेगावरोधाभिहतेन=मूत्रादीनां वेगाभिघातपीडितेन । अत्यम्बुभक्षैः अवततोदरेण=व्याप्तोदरेण । साजीर्णभुक्तेन साजीर्णं भुक्तं यस्य स तथा तेन । अबलेन=बलरहितेन, बलम् ओजः । उष्णाभितप्तेन=वर्मसंतप्तेन । ईदृशेन पुरुषेण सेव्यमानं विविधान्=नानाविधान्, विकारान्=पानात्ययादीन् करोति ॥ १४ ॥

अथ तेषां नामतो विवरणम् ।

तानेव विवृणोति—

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।

पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १५ ॥

म०—पानात्ययमित्यादि । ननु, अयमर्थः ‘आपादयेत्कष्टतमान्विकारान्’—इत्यनेनैवोक्तत्वात् कथं पुनरुक्तः ? उच्यते, पूर्वेण कष्टतमविकारकारित्वमुक्तम्, अनेन तु नानाविधविकारकारित्वमिति भेदः ॥ १५ ॥

आ०—तानेव विकारान् विवृणोति—पानात्ययमित्यादि । पानात्ययमित्येको विकारः, पानाजीर्णमित्येकः, पानविभ्रममिति चान्यः । तेषां क्रमेण लक्षणं वक्ष्यामि ॥ १५ ॥

अथ वातिकमदात्ययस्य लक्षणम् ।

तेषामुद्दिष्टानां लक्षणानि, तत्रादौ वातमदात्ययमाह—

हिक्का-श्वास-शिरःकम्प-पार्श्वशूल-प्रजागरैः ।

विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ १६ ॥

( च० चि० अ० १२ श्लो० ८९ )

म०—हिक्केत्यादि । प्रजागरौ=निद्राविच्छेदः । वातप्रायमित्यनेन सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा उद्भूतत्वेन व्यपदेश इति चरके दर्शितम् । यदाह—

“ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपणाः” — इत्यारभ्य, यावत् “सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषम्” ( च. चि. स्था. अ. २४ ) — इति । एवं चरक-  
संवादात्सुश्रुतेऽपि बोध्यम् ॥ १६ ॥

आ० — तत्र वातिकमदात्ययमाह — हिक्केत्यादि । सर्वे मदात्ययाः त्रिदोषजाः, औद्धत्येन  
व्यपदेशः । यदुक्तं चरकेण — “ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपणाः” — इति । तथा च —  
“सर्वं मदात्ययं विद्यान्निदोषजम्” — इति । प्रजागरो = निद्रानाशः, शेषं सुगमम् ॥ १६ ॥

अथ पैत्तिकमदात्ययस्य लक्षणम् ।

पैत्तिकमाह —

तृष्णा-दाह-ज्वर-स्वेद-मोहा-ऽतीसार-विभ्रमैः ।

विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ १७ ॥

( च० चि० अ० १२ श्लो० ९२ )

म० — विभ्रमो = भ्रमः । हरितवर्णस्येत्यनेन हरितवर्णताऽपि लक्षणम् ॥ १७ ॥

आ० — पैत्तिकमाह — तृष्णेत्यादि । विभ्रमो वस्तुविपरीतज्ञानम् । हरितवर्णस्य पुरुषस्येति हरितव-  
र्णता पित्तलक्षणम्, शेषं सुगमम् ॥ १७ ॥

अथ श्लैष्मिकमदात्ययस्य लक्षणम् ।

छर्द्यरोचक-हृल्लास-तन्द्रा-स्तैमित्य-गौरवैः ।

विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥ १८ ॥

( च० चि० अ० १२ श्लो० ९५ )

म० — छर्द्यरोचकेत्यादि ॥ १८ ॥

आ० — श्लैष्मिकमाह — छर्दीत्यादि । स्तैमित्यं = निश्चलता । शीतपरीतस्य शीतयुक्तस्य ॥ १८ ॥

अथ सान्निपातिकमदात्ययस्य लक्षणम् ।

ज्ञयन्निदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥

आ० — त्रिदोषजमाह — ज्ञेय इत्यादि । सर्वलिङ्गैः = सर्वदोषलक्षणैः । —

अथ परमदस्य लक्षणानि ।

परमदमाह —

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसाऽऽस्यता च

विण्-मूत्र-सक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च ।

लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-  
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० १४, )

म०—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि । श्लेष्मोच्छ्रयश्चात्र नासास्त्रावादिना ज्ञेयः ।  
सक्तिः=सङ्गः, अप्रवृत्तिरिति यावत् । तन्दिस्तन्द्रा । परस्य मदस्येति=परम-  
दस्य; छन्दोऽनुरोधादसमासनिर्देशः ॥ १९ ॥

आ०—परमदमाह—श्लेष्मेत्यादि । श्लेष्मोच्छ्रयो नासास्त्रावादिना ज्ञेयः । अङ्गगुरुता शरीरगौ-  
रवम् । विरसास्यता=मुखस्य वैरस्यम् । विष्मूत्रसक्तिः=विष्मूत्रयोरप्रवृत्तिः । तन्दिस्तन्द्रा ।  
परस्येति छन्दोऽनुरोधादसमासनिर्देशः, परमदस्येति ज्ञेयम् । शिरसि रुजा पीडा, संधिषु भेदः=  
स्फुटनमिव ॥ १९ ॥

अथ पानाजीर्णस्य लक्षणानि ।

पानाजीर्णमाह—

आध्मानमुग्रमथ चोद्विरणं विदाहः  
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि ।

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० १४ )

म०—आध्मानमित्यादि । उद्विरणं=वान्तिः, उद्गारो वा । पाने मद्ये,  
अजरामजीर्णमुपगच्छति=अपक्वत्वमुपगच्छतीति पानाजीर्णविकार इत्यर्थः॥—

आ०—पानाजीर्णमाह—आध्मानमित्यादि । उद्विरणं वान्तिरुद्गारो वा । पाने मद्ये, अजराम-  
जीर्णं, समुपगच्छति प्राप्तवति, पानाजीर्ण इत्यर्थः ॥—

अथ पानविभ्रमस्य लक्षणानि ।

पानविभ्रममाह—

हृद्-गात्र-तोद-कफसंस्त्रव-कण्ठधूमा,  
मूर्च्छा-वमि-ज्वर-शिरोरुजन-प्रदाहाः ॥ २० ॥  
द्रवः सुरा-ऽन्न-विकृतेष्वपि तेषु तेषु  
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ।

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० १५— )

म०—हृदित्यादि । कण्ठधूमः=कण्ठाद्धूमनिर्गमवत्पीडा । शिरोरुजनं=  
शिरःशूलम् । सुरान्नविकृतेष्विति सुराविकृतेषु, अन्नविकृतेषु च, भावे क्तः ।

तेषु तेष्विति नानाविकारेषु सुरा-मैरेय-पिष्टक-लङ्कुकादिषु । उशन्ति=इच्छन्ति । एते च परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातजेऽन्तर्भूतत्वात्; सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात्पृथगेते पठिताः, विकृत्या पूर्वलक्षणवैलक्षण्याभिधानार्थमित्याहुः ॥ २० ॥—

आ०—पानविभ्रममाह—हृदित्यादि । हृद्वात्रयोस्तोदः=अथथाविशेषः, कण्ठधूमः=कण्ठाद् धूम-निर्गमवत्पीडा, शिरोरुजनं=शिरःशूलं, प्रदेहः=श्लेष्मलित्वास्मिन् मुखम् । सुराविकृतेषु अन्नविकृतेषु च भावेषु द्वेषः । तेषु तेष्विति नानाप्रकारेषु सुरामैरेयपिष्टकादिषु । अखिलेन लक्षणेन पानविभ्रमं उशन्ति कथयन्ति । एते परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातजेऽन्तर्भूतत्वात्, सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात् पृथगेव पठिताः, पूर्वोक्तलक्षणवैलक्षण्यात् ॥ २० ॥

अथ मदात्ययस्यासाध्यलक्षणानि ।

असाध्यलक्षणमाह—

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं

तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥ २१ ॥

जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं

पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० १६—)

म०—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं=प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीतं वहिः, अमन्ददाहमभ्यन्तरे, तैलप्रभास्यं=तैलाक्तमुखमिव ॥ २१ ॥—

आ०—असाध्यलक्षणमाह—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीतं वहिः, अमन्ददाहमभ्यन्तरे; अथवा अतिशीतममन्ददाहमिति विकल्पेन प्रत्येतव्यम्, एकदैकत्र विरुद्धधर्मद्वयासंभवात्; कदाचिदातिशीतम्, कदाचित्तीव्रदाहम् । तैलप्रभास्यमिति तैलाक्त-मुखमिव ॥ २१ ॥—

अथ मदात्ययरोगस्योपद्रवाः ।

उपद्रवानाह—

हिक्का-ज्वरौ वमथु-वेपथु-पार्श्वशूलाः

कास-भ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० १७ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पानात्यय-परमद-पानार्जीर्ण-पान-

विभ्रम-निदानं समाप्तम् ।

म०—हिक्केत्यादि । एतैः कृच्छ्रसाध्यं भवति नत्वसाध्यम्, असाध्यलक्षणेभ्यः पृथक्पाठादिति जेज्जटः । ध्वंसक-विक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ चरके पृथक् पठितौ; तद्यथा—“विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेकः कण्ठाऽऽस्य-शोषः शब्दा-सहिष्णुता । तन्द्रा-निद्राऽभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्-कण्ठ-रोधः संमोहश्छर्दिर्झरुजा ज्वरः । तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम् ॥ ( च. चि. स्था. अ. २४ )”—इति । तौ च सुश्रुतेन “विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि” ( सु. उ. त. अ. ४७ )—इत्यनेन संगृहीतौ बोद्धव्यौ । न वा चिकित्साभेदस्तयोक्तः, यतश्चरक एवोक्तवान्—“तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके यन्मदात्यये” ( च. चि. स्था. अ. २४ )—इति ॥ २२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पानात्यय-परमद-पाना-

जीर्ण-पानविभ्रम-निदानं समाप्तम् ।

आ०—उपद्रवानाह-जिह्वेत्यादि । एते उपद्रवाः पानहतान् पुरुषान् भजन्ते । असितं कृष्णम्; अथवा नीलं चापक्षप्रतिमम् । रुधिरप्रभे अतीव रक्ते । हिक्केत्यादि । वमथुश्छर्दिः, वेवथुः=कम्पः । भ्रमश्चकारुढस्येव । एतैश्च कृच्छ्रसाध्यत्वं भवति न त्वसाध्यत्वम्, असाध्यलक्षणेभ्यः पृथक्पाठादिति जेज्जटः । ध्वंसकविक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ चरके पठितौ । तद्यथा—“विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेकः कण्ठाऽस्य-शोषः सर्वासहिष्णुता । निद्रातन्द्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिर्झरुजा ज्वरः । तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम्—” इति । न वा तयोश्चिकित्साभेद उक्तः, यतश्चरक एवोक्तवान्—“तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके यन्मदात्यये”—इति ॥ २२ ॥

इति श्रीवैद्यवाचरपतिकृते आतङ्कदर्पणाख्ये रग्विनिश्चयव्याख्याने पानात्यय-परमद-

पानाजीर्ण-पानविभ्रम-निदानम् ॥

### दाहनिदानम् ।

अथ मद्यजदाहस्य लक्षणम् ।

मदात्ययेऽपि दाहो भवत्यतः सप्तप्रकारं दाहमाह, तत्र मद्यजमाह—

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्त-रक्ता-ऽभिमूर्च्छितः ।

दाहं प्रकुस्ते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० २५ )

म०—त्वचमित्यादि । पानोष्मा=मद्यपानकुपितपित्तस्यौष्ण्यम्, समानोष्मेति पाठान्तरमयुक्तम्, सुश्रुते पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् । पित्तजोऽप्ययं हेतुभेदात्पृथक् पठितः ॥ १ ॥

आ०—मदात्यये दाहो भवतीत्यतो मदात्ययानन्तरं दाहनिदानारम्भः । मद्यजदाहमाह—त्वचमित्यादि । पानोष्मा मद्यपानकुपितपित्तोष्मा, स त्वचं प्राप्तो घोरं दाहं प्रकुर्वेण

कुरुत इत्यर्थः । कीदृशः पित्तरक्ताभ्यामाभिवाधितः । अन्ये 'समानोष्मा' इति पाठान्तरं पठन्ति । तत्र युक्तम्, सुश्रुते पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् । पित्तजोऽप्ययं हेतुभेदात्पृथक् पठितः ॥ १ ॥

अथ रक्तजदाहस्य लक्षणम् ।

रक्तजमाह—

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रितं दहति ध्रुवम् ।

स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः ॥ २ ॥

लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते ।

( सु उ० अ० ४७ श्लो० २७ )

म०—कृत्स्नेत्यादि । स उष्यते=समीपस्थेनेव वह्निना तप्यते, 'संचूष्यते' इति पाठान्तरे आचूषणवद्वेदनामनुभवति । ताम्राभ इति गात्रे । लोहगन्धाङ्गवदन इति लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ॥ २ ॥—

आ०—रक्तजमाह—कृत्स्नेत्यादि । उद्रितं वृद्धं रक्तं कृत्स्नदेहानुगं सत् ध्रुवं संदहति, पुरुषस्तेन उष्यते समीपस्थेन वह्निनेव तप्यते । संचूष्यते इति पाठान्तरे आचूषणवद्वेदनामनुभवति । ताम्राभ इति ताम्राभगात्रः । लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ।—

अथ पित्तजदाहस्य लक्षणम् ।

पित्तजमाह—

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः ॥ ३ ॥

( सु उ० अ० ४७ श्लो० २८ )

म०—पित्तेत्यादि । पित्तज्वरसमः=पित्तज्वरलिङ्गयुक्तः, पित्तज्वरे त्वामाशयदुष्ट्यादयोऽधिका इति भेदः । स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरचिकित्सा ॥ ३ ॥

आ०—पित्तजमाह—पित्तज्वरेत्यादि । पित्तज्वरे अरत्यामाशयदुष्ट्यादयोऽधिका इति भेदः, अन्यानि समानलक्षणानि । स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरोक्तचिकित्सेत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ तृषानिरोधजदाहस्य लक्षणम् ।

तृषानिरोधजमाह—

तृषानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजःसमुद्धतम् ।

स बाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः ॥ ४ ॥

संशुष्क-गल-तालवोष्ठौ जिह्वां निष्कृष्य वेपते ।

( सु उ० अ० ४७ श्लो० २९ )

म०—तृषेत्यादि । तेजःसमुद्धतं=पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः निष्कृष्य=निःसार्य ॥ ४ ॥—

आ०—तृष्णानिरोधजमाह—तृष्णेत्यादि । तृष्णाविधारणाद्व्यातौ रसे क्षीणे सति तेजः समुत्थितं पित्तोष्मा हृद इत्यर्थः । स बाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेत् । मन्दचेतसः=विसंज्ञस्य । निष्कृष्ट=निःकार्य कम्पते ॥ ४ ॥

अथ शस्त्राघातजदाहस्य लक्षणम् ।

अव गाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुस्तरः ॥ ५ ॥

(सु० उ० अ० ४७ श्लो० ३० )

म०—असृज इत्यादि । न चोत्तरक्तजेनास्य पौनरुक्त्यम्, कृत्स्नदेहानुगमिति वचनात् कारणभेदाच्च । असृजः पूर्णकोष्ठस्येति “पूरणगुणसुहितार्थ—” इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः । कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते । यदाह सुश्रुतः—“स्थानान्यामाश्लेषकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते” (सू० चि० स्था० अ० २)—इति ॥ ५ ॥

आ०—अवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—असृज इत्यादि । असृजः=रुधिरस्येति—“पूरणगुणसुहित—” इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः । कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते । यदाह सुश्रुतः—“स्थानान्यामाश्लेषकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते”—इति । न चोत्तरक्तजेनास्य पौनरुक्त्यम्, कृत्स्नदेहानुगमे इति वचनात्, कारणभेदाच्चेति ॥ ५ ॥

अथ धातुक्षयजदाहस्य लक्षणम् ।

धातुक्षयजमाह—

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः ।

क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद्भ्रशपीडितः ॥ ६ ॥

(सु० उ० अ० ४७ श्लो० ३१ )

म०—धात्वित्यादि । धातवो=रसादयः । क्रियाहीनो=निश्चेष्टः; किंवा भ्रशपीडितो दाहेन क्रियाहीनश्चिकित्साहीनो यदि भवेत् तदा सीदेत=म्रियत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

आ०—धातुक्षयजमाह—धात्वित्यादि । धातवो रसादयः । तेषां क्षयेण यो दाहो भवति तेन धातुक्षयजदाहेन क्षामस्वरो दुर्बलस्वरः, क्रियाहीनो निश्चेष्टः, भ्रशपीडितो दाहेन चिकित्साहीनो यदि भवेत्तदा सीदेन्म्रियत इत्यर्थः ॥ ६ ॥



अथ मर्माभिघातजदाहस्य लक्षणम् ।

मर्माभिघातजमाह—

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः ।

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ४७ श्लो० ३३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने दाहनिदानं समाप्तम् ।

म०—मर्मेत्यादि । मर्माणि=शिरो-हृदय-वस्त्यादीनि । जेज्जटस्तु सप्तत्वम-  
न्यथा गणयति—“त्वचं प्राप्त” इत्यादिना प्रथमः, “कृत्स्नदेहानुगं रक्तम्”—  
इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा एतदादिना “स चाप्यस्य विधिः स्मृतः” इत्य-  
न्तेन पैत्तिको द्वितीयः, तृष्णानिरोधजस्तृतीयः, “असृजः पूर्णकोष्ठस्य”  
इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य तु क्षतजस्य लक्षणं पठति—  
“क्षतजोऽनश्नतश्चात्रं शोचतश्चाप्यनेकधा । तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णा-  
दाह-प्रलापवान्”—इति, मर्माभिघातजस्तु सप्तम इति ॥ ७ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां दाहनिदानं समाप्तम् ।

आ०—मर्माभिघातजमाह—मर्मेत्यादि । मर्माणि हृदयशिरोवस्त्यादीनि । ‘स चासाध्यतमः  
स्मृतः’ इत्यत्रान्ये ‘सोऽसाध्यः सप्तमो मतः’ इति पठन्ति । जेज्जटस्तु सप्तत्वमन्यथा गण-  
यति—“त्वचं प्राप्त” इत्यादिना प्रथमः, ‘कृत्स्नदेहानुगं रक्तम्’, इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा,  
एतदादिना ‘स चाप्यस्य विधिः स्मृतः’ इत्यन्तेन पैत्तिको द्वितीयः, तृष्णानिरोधजस्तृतीयः;  
‘असृजः पूर्णकोष्ठस्य’ इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य क्षतजस्य लक्षणं पठति—“क्षतजे-  
नाश्नतश्चात्रं शोचतो वाऽप्यनेकधा । तेनाङ्गं दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णादाहप्रलापवान्”—इति । अस्यार्थः—  
पूर्वमसृजः पूर्णकोष्ठस्येत्यादिना कोष्ठस्थेन रक्तेन दाहमभिधायेदानीं प्रकारान्तरेणाह—क्षत-  
जेन=रक्तेनाश्नतो=भोजनं कुर्वतः, शोकं कुर्वतो वाऽपि नरस्यान्यो दाहो रक्तेन भवतीति  
सम्बन्धः, तेन दाहेनाभ्यन्तरं दह्यते, तृष्णामूर्च्छा प्रलापवान् ‘नरो भवति’ इति शेषः ।  
मर्माभिघातजस्तु सप्तमः । सर्वेषामपि दाहानामवस्थायां वर्जनीयत्वमाह—सर्व इति । सर्व  
एव हि ‘दाहा’ इति शेषः । शेषं सुगमम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवैद्यवाचस्पतिकृते आतङ्कदर्पणे निदानव्याख्याने दाहनिदानम् ॥ १० ॥

अथोन्मादनिदानम् ।

( Insanity Mania. )

अथोन्मादरोगस्य निर्वचनम् ।

मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्'—इत्यनेन उन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तम् तथा मदात्ययेऽपि दाहो भवतीति स्वल्पवक्तव्यतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—

मदयन्त्युद्रता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः ।

मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ १ ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० १ )

म०—मदयन्तीत्यादि । मदयन्ति=मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, उन्मार्गमागता विमार्गगताः मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः । उद्रता=वृद्धाः, अथवा ऊर्ध्वं हृदयं गताः । एतेन उत्पूर्वैरेव दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥ १ ॥

आ०—मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्' इत्यनेनोन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तं, तथा मदात्यये दाहो भवतीति तुल्यलक्षणतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—  
मदयन्तीति । यस्मादोषा मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति । अतोऽयं मानसो व्याधिरुन्माद इति कीर्तयत इति संबन्धः । कीदृशाः, उद्रता=वृद्धाः, अथवा ऊर्ध्वं हृदयं गताः, उन्मार्गमागता=विमार्गगाः, मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः, तेन ततः पूर्वैरेव दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥ १ ॥

अथोन्मादस्य प्रकारभेदाः ।

प्रकारभेदमाह—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः ॥

मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः ॥ २ ॥

विषाद्वति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम् ।

स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० २, ३ )

म०—एकैकश इत्यादि । मानसेन च दुःखेनेति शोकादिना । स चेति षड्विधोऽपि । अत्राप्रवृद्धपदमुपादायापि तरुणपदप्रयोगं कुर्वता सुश्रुतेन

स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति दर्शितम् । अत एव चरके विधिशोणि-  
तीयाध्याये उन्मादात्पृथगेव पठितः सनिदानचिकित्स्य इति ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—तस्य संख्यामाह—एकैकश इति । वातेन पित्तेन श्लेष्मणा सर्वश इति । सन्निपातेन  
अत्यर्थमूर्च्छितैः अतिप्रवृद्धैः, मानसेन तु दुःखेनेति शोकादिना विषात् षष्ठो भवति । स चाप्रवृद्ध  
इति । स च विकारः, यावत् प्रवृद्धो वृद्धिं गतो न भवति, यावच्च तरुणस्तावन्मद इति संज्ञां  
विभार्ति, मद इति कथ्यत इत्यर्थः । सुश्रुते स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति व्याख्यातम् । अत  
एव चरके विधिशोणितीया ( तकोपा ) ध्याये उन्मादात्पृथगेव पठितः । सनिदानचिकित्सित  
इति ॥ २ ॥ ३ ॥

अथोन्मादस्य सामान्यहेतवः ।

सामान्यहेतुमाह—

विरुद्ध-दुष्टा-ऽशुचि-भोजनानि प्रधर्षणं देव-गुरु-द्विजानाम् ।

उन्मादहेतुर्भय-हर्ष-पूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

म०—विरुद्धेत्यादि । दुष्टं=गरसहितमन्नादि । प्रधर्षणं 'धृष' प्रधर्षणे इत्य-  
स्मात् प्रधर्षणमाभिभवः । भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघात इति भय-हर्षाभ्यां मनसो  
ऽभिभवः, भय-हर्ष-पूर्व इति भयं हर्षो वा पूर्व यस्य स तथा, पूर्वशब्दोऽत्र  
कारणवाची, चकारोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन काम-क्रोध-लोभादयोऽपि  
कारणमिति जेज्जटः । अन्ये त्वाहुः—क्रोधादिभिरपि भय-हर्ष-पूर्वक एव भव-  
तीति, तेन तौ निर्दिष्टौ । विषमाश्च चेष्टा इति विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादयः,  
उन्मादहेतव इत्यपि योज्यम् ॥ ४ ॥

आ०—तस्य सामान्यहेतुमाह । विरुद्धेति—दुष्टं गरदुष्टमन्नादि । अशुचि भोजनं=  
चाण्डालादिस्पृष्टम्, प्रधर्षणं=निन्दाद्यभिभवनम्, मनोऽभिघात इति । भयहर्षाभ्यां मनोऽभिभवः,  
भयहर्षपूर्व इति । भयहर्षौ पूर्वौ यस्य स तथा । पूर्वशब्दोऽत्र कारणवाची, चकारोऽत्र लुप्त-  
निर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन कामक्रोधलोभादयोऽपि कारणमिति जेज्जटः । अन्ये त्वाहुः—क्रोधादिभिरपि  
भयहर्षपूर्वक एव भवतीति, तेन तौ निर्दिष्टाविति । विषमाश्चेष्टा इति । विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादयः,  
उन्मादहेतुरिति योज्यम् ॥ ४ ॥

अथोन्मादस्य सम्प्राप्तिः ।

संप्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।

स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥५॥

( च० चि० अ० १४ श्लो० ३. )

म०—तैरित्यादि । तैरुक्तहेतुभिः । अल्पसत्त्वस्य=अल्पसत्त्वगुणस्येति चक्रः ।  
जेज्जटस्त्वाह—सत्त्वं=मनः, तस्य चाल्पत्वं रजस्तमोभ्यामावृतत्वेनाल्पज्ञानजन-

कत्वात् । मला=वातादयः । बुद्धेर्निवासं हृदयमित्यनेन हृदयस्याश्रयस्य दुष्ट्या तदाश्रितज्ञानस्यापि दुष्टिर्भवतीति दर्शयति । स्रोतांसि मनोवहानीति हृदयाश्रिता दश धमन्यः; एतच्च विशेषेण बोध्यम्, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात् । अधिष्ठाय=व्याप्येत्यर्थः ॥ ५ ॥

आ०—संप्राप्तिमाह—तैरिति । तैरुक्तदेहभिरल्पसत्त्वस्य नरस्य मला=वातादयः प्रदुष्टाः सन्तो बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य मनोवहानि स्रोतांसि अधिष्ठाय=व्याप्य आशु चेतः प्रमोहयन्ति । अल्पसत्त्वस्वाल्पसत्त्वगुणत्वेति चक्रः । जेजटस्त्वाह—सत्त्वं मनः, तस्य चाल्पत्वं रजस्तमोऽभिभूतत्वेनाल्पज्ञानजनकत्वात् । बुद्धेर्निवासं हृदयमित्यनेन हृदयमाश्रिता धमन्यः; एतच्च विशेषेण बोध्यं, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात् । अधिष्ठाय व्याप्य ॥ ५ ॥

अथोन्मादस्य सामान्यरूपाणि ।

सामान्यरूपमाह—

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।  
अवद्ववाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

( च० चि० अ० १४ श्लो० ४ )

म०—धीविभ्रम इत्यादि । एतत् सामान्यं पूर्वरूपमिति जेजटः, सामान्यरूपमिति चक्रः । धीविभ्रमो=भ्रान्तज्ञानत्वम् । सत्त्वपरिप्लवो=मनसश्चलत्वम् । अधीरता=कातरत्वम् । अवद्ववाक्त्वमसंवद्ववचनत्वम् । लिङ्गयतेऽग्नेनेति लिङ्गं, तेन पूर्वरूपं रूपं चेति व्याख्यातम् । विरेकशब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते, विरेचयति देहान्मलं पृथक्करोतीति व्युत्पत्त्या ॥ ६ ॥

आ०—पूर्वरूपमाह—धीति । धीविभ्रमो भ्रान्तज्ञानत्वम्, सत्त्वपरिप्लवो मनसश्चलत्वम् । अन्ये सत्त्वगुणत्वेति ॥ पर्याकुला दृष्टिरिति आकुलावलोकनम् । अधीरता कातरत्वम् । अवद्ववाक्त्वम्=असंवद्ववचनत्वम् । हृदयं शून्यमिति । धीविभ्रमत्वादि सामान्यलक्षणमेवाह ॥ ६ ॥

अथ वातिकोन्मादस्य विशेष लक्षणानि ।

वातजमाह—

रूक्षाल्प-शीतान्न-विरेक-धातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।  
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥

अस्थानहास्य-स्मितनृत्य-गीत-वागङ्ग-विक्षेपण-रोदनानि ।  
पारुष्य-काश्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥

( च० चि० अ० १४ श्लो० ७, ८ )

म०--रुक्षेत्यादि । अस्थानहास्येत्यादि । अस्थानेऽविषये हास्योऽस्थान  
हास्यः । एवमस्थानशब्दः स्मितादिषु प्रयोज्यः । स्मितभीषद्भासः । अङ्गविक्षेपो=  
विरुद्धचेष्टा । जीर्णे बलमिति जीर्णे आहारे व्याधेर्वलं भवति ॥ ७ ॥ ८ ॥

आ०--यातिकमाह-रुक्षेति । एतद्वातिकोन्मादलक्षणम् । रुक्षारूपशीतान्नैर्भोज्यैः । विरेक-  
शब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते । विरेचयति=देहान्मलं पृथक् करोतीति व्याख्यानात् । धातु-  
क्षयो=रसादिधातुक्षयः, एतैर्दुष्टो वायुश्चिन्ताशोकादिदुष्टं हृदयं=मनः प्रविश्य बुद्धिं स्मृतिं च  
शीघ्रमपहन्ति ॥ ७ ॥ अनुभूतार्थस्मरणं=स्मृतिः । अस्थानहास्यम्=अविषये हास्यम् । एवम्  
अस्थानशब्दः स्मितादिषु योज्यः । स्मितम् ईषद्भासः, अङ्गविक्षेपणं=विरुद्धचेष्टा, पारुष्यं=रौक्ष्यम्,  
काश्यं=कृशता, अरुणवर्णता=ईषद्रक्तवर्णता, जीर्णे बलमिति । जीर्णे आहारे व्याधेर्वलं  
भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ पैत्तिकोन्मादस्य हेतवो लक्षणानि च ।

पित्तजमाह--

अजीर्ण-कटुम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।  
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥  
अमर्ष-संरम्भ-विनम्रभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।  
प्रच्छाय-शीतान्न-जलाभिलाषः पीता च भा पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥

( च० चि० अ० १४ श्लो० ९, १० )

म०--अजीर्णेत्यादि । अशीतैरिति उष्णैः । उन्मादमत्युग्रमिति । अत्युग्रं=तीव्र-  
वेगम् । उन्मादमत्युग्रमिति पाठान्तरे उग्रं यथा भवति तथा उन्मादं जनयति ।  
अनात्मकस्य=अनात्मवतः । पूर्ववदिति चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपह-  
त्येत्यादिसंप्राप्त्या । कुर्यादिति वक्ष्यमाणं लिङ्गमिति शेषः । अत्र पक्षे किं  
तल्लिङ्गमित्याह--अमर्षेत्यादि । अमर्षोऽसहिष्णुत्वम्, न तु रोषः, तस्य वक्ष्य-  
माणत्वात् । संरम्भ=आरभटी; विनम्रभावो=नम्रत्वम्, संतर्जनं=परत्रासनम्,  
अतिद्रवणं=पलायनम्, औष्ण्यं गात्रस्य, औष्ठ्यमिति पाठान्तरे विकृतौष्ठत्वम् ।  
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाष इति छायायां शीतयोरन्नजलयोरभिलाषः ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०--पैत्तिकमाह-अजीर्णंति । अजीर्णादिमिश्रितं=सञ्चयतां गतम् । उदीर्णं वेगं पित्तं  
पूर्ववत् । चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहन्ति । अजीर्णम्=अविद्यग्धम्, अशीतैः=उष्णैः, उग्रं=

तीव्रं यथा भवति तथा उन्मादं जनयति । अनात्मकस्य=अनात्मवतः ॥ ९ ॥ असर्षम्=असहिष्णु-  
त्वम्, संरम्भ=आरम्भटी, हस्तपादादिविक्षेपइत्यन्ये । विनम्रभावः=वस्त्रादित्यागः, सन्तर्जनं=परित्रा-  
सनं, भर्त्सनमपरस्येत्यर्थः । अभिद्रवणं=रलायनम् । और्ख्यं गात्रस्य, 'औष्ठ्यम्' इति पाठान्तरे तत्र  
विकृतोष्ठत्वम् । चोषो=दाहविशेषः ॥ प्रच्छायेत्यादि । छायायाः शीतयोश्चान्नजल्योरभिलाषः ।  
पीता च भाः=पीतवर्णता ॥ १० ॥

अथ श्लेष्मिकोन्मादस्य हेतवो लक्षणानि च ।

कफजमाह---

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रदुष्टः ।  
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन्संजनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥  
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारी-विविक्त-प्रियता-ऽतिनिद्रा ।  
छर्दिश्च लाला च वलं च भुङ्क्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात्

( च० चि० अ० १४ श्लो० ११-१२ )

म०-संपूरणैरित्यादि । मन्दविचेष्टितस्य=आयासशून्यस्य । संपूरणैर्भोजना-  
दिभिः कफो दुष्ट इति संबन्धः । सोष्मा=सपित्तः कफेनापि क्रियमाण उन्मा-  
दोऽवश्यं सपित्ते क्रियते व्याधिनिहिन्ना, यथा सूच्छा । अन्ये त्वाहुः-केवल-  
कफेनापि क्रियते, सोष्मपदेन तु द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते । अन्ये त्वाहुः-  
ऊष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः । मर्मणीति=हृदये ।  
विकारमुन्मादम् । नारी-विविक्त-प्रियतेति नारीप्रियता, विजनप्रियता च । वलं  
च भुङ्क्ते इति व्याधेरिति शेषः । आदिशब्देन त्वङ्-मूत्र-नेत्रादीनां  
ग्रहणम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०-श्लेष्मिकमाह-संपूरणैरिति । मन्दविचेष्टितस्य=आयासशून्यस्य संपूरणैरिभोजना  
दिभिः कफो दुष्ट इति संबन्धः । सोष्मा सपित्तः । कफेनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्यं सपित्तेन  
क्रियते व्याधिनिहिन्ना, यथा सूच्छा । अन्ये त्वाहुः-केवलेनापि कफेन स क्रियते । सोष्मपदेन तु  
द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते । अन्ये त्वाहुः ऊष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः ।  
मर्मणि=हृदये । चित्तं प्रमोहयन् बुद्धिं स्मृतिं चोपहत्य विकारम्=उन्मादम् ॥ ११ ॥ वाक्-  
चेष्टितं मन्दम्=अल्पम्, अरोचकता, नारीविविक्तप्रियता=नारीप्रियता, विजनप्रियता च, निद्रात्वाहु-  
ल्यं तथा छर्दिः, लालास्त्रावश्च वलञ्च भुङ्क्ते=नाशयति, व्याधिरिति शेषः । नख-नेत्रादीनां  
शौक्ल्यम् ॥ १२ ॥

अथ सान्निपातिकोन्मादस्य लक्षणानि ।

सान्निपातिकमाह—

यः सान्निपाप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात् ॥  
सर्वाणि रूपाणि विभर्ति तादृग् विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३ ॥

( च० ० अ० २१ श्लो० ४८ )

म०—य इत्यादि । सर्वैः समस्तैरिति=सर्वैरिति कृत्वा यत् समस्तैरिति करोति तेनैवं बोधयति—वातादयोऽनेकैः स्वनिदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति, न तु प्रत्येकमेकनिदानकुपिताः । विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्य इति अयमभिसन्धिः त्रिदोषजे प्रत्येकं वातातिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्पर-विरोधिनी, त्रिदोषहरं च किञ्चिदेव द्रव्यमामलक्यादि, तच्च नात्र यौगिकम्, “न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति” इति वचतात् । ननु, यद्येवं तदा सर्व एव हि त्रिदोषजविकारा असाध्या भवेयुरित्यत उक्तम्—तादृगिति । कोऽप्ययं संप्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्न सर्व इत्यर्थः । अन्ये त्वादुः—सर्वैः समस्तैर्हेतुभिर्यः कृतः स एवासाध्यः, न त्वल्प-हेतुकृत इति ॥ १३ ॥

आ०—सान्निपातिकमाह—य इति । सान्निपातग्रहणेनैव सर्वात्मकत्वं लब्धं पुनः सर्वैरिति यद्ग्रहणं कृतं तद्ग्रजस्तमोग्रहणार्थं, तेन रजस्तमोमिलितैरित्यर्थः । तेन वातादय रजस्तमोभिः मनोदोषैर्मिलिताः समस्तैश्च निदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति । सर्वाणि रूपाणि सर्वदोषलक्षणानि विभर्ति । तादृगिति=तादृशः । कोऽप्येष त्रिदोषसम्प्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्य-विधिर्विवर्ज्यः । विरुद्धभैषज्यविधिरिति कोर्थः त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्परविरोधिनी । त्रिदोषहरं च किञ्चिद्व द्रव्यमामलकादि, तच्च नात्र यौगिकमित्यर्थः । ॥ १३ ॥

अथ शोकजान्मादस्य सम्प्राप्तिः ।

शोकादिजमाह—

चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथान्यै-

र्वित्रासितस्य धन-बान्धव-संक्षयाद्वा ॥

गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-

र्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥ १४ ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० ९ )

म०—चौरैरित्यादि । क्षते चोपहते, तथा रिरंसोः=कामुकस्य अप्राप्तया प्रियया क्षते मनसीति संबन्धः ॥ १४ ॥



आ०—मनोदुःखजमाह—चौ रौरिति । नरेन्द्रपुरुषैः=नृपाधिकारिभिः, अरिभिः, अन्यै-  
रिति=सिंहगजादिभिः वित्रासितस्य क्रोधशस्त्रादिभिः, द्रव्यविनाशात्, पुत्रादिमरणाद्वा,  
तथा रिरंसोः कामुकस्य प्रियाया अप्राप्त्या, गाढं क्षते मनसीति सम्बन्धः ॥ १४ ॥

अथ शोकजोन्मादस्य लक्षणानि ।

तस्य लक्षणमाह—

चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो  
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० ९ )

म०—चित्रमित्यादि । चित्रं=विविधम् । मनोऽनुगतं=गोप्यमपि । विसंज्ञो=  
विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ॥

आ०—तस्य रूपमाह चित्रमित्यादिना चित्रं=विविधं मनोऽनुगतं=गोप्यमपि ब्रवीति ।  
विसंज्ञो=विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ।

अथ विषजोन्मादस्य लक्षणम् ।

विषजमाह—

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः  
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ६२ श्लो० १० )

म०—रक्तेक्षण इत्यादि । हतबलेन्द्रियभा इति हतं बलमिन्द्रियाणि आश्च  
यस्य स तथा । भाः=दीप्तिः ॥ १५ ॥

आ०—हतं बलमिन्द्रियाणि भाः शरीरदीप्तिश्च यस्य स तथा । श्यावाननः=कृष्णमुखः विष-  
जनितोन्मादेन ॥ १५ ॥

अथोन्मादस्यासाध्यलक्षणानि ।

असाध्यलक्षणमाह—

अवाञ्ची वाप्युदञ्ची वा क्षीण-मांस-बलो नरः ॥  
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥ १६ ॥

( सु० सू० अ० ३४ श्लो० १९ )

म०—अवाञ्चीत्यादि । अवाञ्ची=अधोमुखः, उदञ्ची=ऊर्ध्वमुखः, अत-  
एवान्ये 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पठन्ति । जागरूकोऽनिद्रः ॥ १६ ॥

आ०—असाध्यलक्षणमाह—अवाञ्चीति । अवाञ्ची=अवाङ्मुखः, उदञ्ची=ऊर्ध्वमुखः । 'अवाङ्मुख-  
स्तून्मुखो वा' इति केचित्पठन्ति । क्षीणं मांसं बलमोजो यस्य स तथा । जागरूकः=गत-  
निद्रः ॥ १६ ॥

अथ भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणानि ।

भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—

अमर्त्य-वाग्-विक्रम-वीर्य-चेष्टो ज्ञानादि-विज्ञान-बलादिभिर्यः ।  
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥

( च० चि० अ० १४ श्लो० १५ )

म०—अमर्त्यवागित्यादि । अमर्त्या=अमनुष्या अनुचिता वा वागादयो यस्य स तथा । विक्रमः=पराक्रमः, वीर्यं=शक्तिः, चेष्टा=शारीरिकी क्रिया । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरिति उपलक्षणे तृतीया । ज्ञानं=तत्त्वज्ञानम्, विज्ञानं=शिल्पादिज्ञानम्, किं वा ज्ञानं=शास्त्रम्, विज्ञानं=तदर्थनिश्चयः, आदिशब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणम्, तेषां बलम् । अनियत इति न वातादिवदाहारजीर्णादिकालवत् कालनिश्चयः । 'नियत' इति पाठे तु वक्ष्यमाणनियततिथ्यादीनां ग्रहणम् । देवग्रहाः पौर्णमास्यामित्यादि । भूतशब्देनात्र सर्व एव वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥ १७ ॥

आ०—भूतजमुन्मादमाह—अमर्त्यवागिति । अमर्त्यानाममनुष्याणामनुचिताः वा वागादयो यस्य स तथा । विक्रमः पराक्रमः, वीर्यं शक्तिः, चेष्टा शरीरक्रिया । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरिति उपलक्षणे तृतीया । ज्ञानं तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं शिल्पादिज्ञानं, किं वा ज्ञानं शास्त्रं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः । आदि-शब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणं, तेषां बलम् ॥ अनियत इति । कदाचिन्मध्याह्ने कदाचित्प्रदोषे, न तु वातादिजवद् आहारजीर्णादिकालनियमः, तं भूतोत्थमुन्मादं कथयेत् । 'नियतः' इति पाठे तु वक्ष्यमाणनियततिथ्यादीनां ग्रहणम् । देवग्रहाः पौर्णमास्याम्, इत्यादि । भूतशब्देनात्र सर्वे वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥ १७ ॥

अथ देवग्रह गृहीतस्य लक्षणानि ।

देवजुष्टमाह—

संतुष्टः शुचिरतिदिव्य-माल्य-गन्धो  
निस्तन्द्नीरवितथ-संस्कृत-प्रभाषी ।  
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता  
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ १८ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० ७ )

म०—संतुष्ट इत्यादि । अतिदिव्यमाल्यगन्ध इति अतिमात्रो दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा । निस्तन्द्नी=अनिद्रः । अवितथं=सत्यम् । विदेहेऽपि—

‘निःस्वप्नं सत्य-संस्कृत-भाषिणम्’ इति पठितम् । ब्रह्मण्यो=ब्राह्मणानुरक्तः । देवजुष्टो=देवग्रहपीडितः । देवग्रहणेन गणमातृकादयोऽपि ग्राह्याः । विदेहेऽपि पठ्यते—“क्रोधनः स्वस्तसर्वाङ्गो लाला-फेना-ऽऽविलाऽऽननः । निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः” इति ॥ १८ ॥

आ०--देवजुष्टमाह--संतुष्ट इति । संतुष्टः=संतोषवान्, शुचिः स्नानाचमनादिना । अतिमात्रं दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा । निस्तन्द्री=निद्राराहितः, अवितथं सत्यं संस्कृतं च प्रभाषत इति । विदेहेऽयुक्तम्—‘निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषणम्’ इति । तेजस्वी=तेजोयुक्तः, स्थिरनयनः=निमेषरहितः, वरदाता यतः ब्रह्मण्यः=ब्राह्मणानुरक्तः । देवभूतजुष्टः=देवग्रहपीडितः । देवग्रहणेन गणमातृकादयो ग्राह्याः । यदुक्तं विदेहे—“क्रोधनः स्वस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः । निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः” इति ॥ १८ ॥

अथ असुरग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

देवशत्रुजुष्टमाह—

संस्वेदी द्विज-गुरु-देव-दोष-वक्ता  
जिह्वाक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।  
संतुष्टो न भवति चान्न-पान-जातै-  
दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० ८ )

म०--संस्वेदीत्यादि ॥ १९ ॥

आ०--असुरजुष्टमाह--संस्वेदीति । यः संस्वेदी=स्वेदवान् ब्राह्मण+गुरु-देवानां निन्दकः, जिह्वाक्षः=कुटिलदृष्टिः, विमार्गदृष्टिः । श्रुति-धर्म-निन्दकः, अन्नं=शालि-मांसादि, पानं=क्षीरमद्यादि, तैः संतुष्टो न भवति । दुष्टात्मा=पापबुद्धिः । देवशत्रुजुष्टो भवति १९

अथ गन्धर्वग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

गन्धर्वाविष्टमाह—

दृष्टात्मा पुलिन-वनान्तरोपसेवी  
स्वाचारः प्रिय-परि-गीत-गन्ध-माल्यः ।  
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं  
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २० ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० ९ )

म०--दृष्टेत्यादि । पुलिनं=तोयोत्थिततटम्, अन्तरं=मध्यं, विशेषो वा । स्वाचारोऽनिन्दिताचारः । प्रियेत्यादि,=प्रियाणि परि=सर्वतः गीत-गन्ध-

माल्यानि यस्य स तथा । नृत्यन्नित्यादि,=चारु नृत्यन्, अल्पशब्दं यथा भवति तथा प्रहसतीति योज्यम् ॥ २० ॥

आ०—गन्धर्वजुष्टमाह—दृष्टात्मेति । दृष्टात्मा=चिन्तादिरहितः संतुष्टात्मा । पुलिनं=तोयोत्थितं तटम्, वनमुद्यानम्, तयोरन्तरं मध्यं विशेषात्सेवत इति । स्वाचारः=अनिन्दिताचारः । प्रियाणि परि समन्ततोभावेन गीतगन्धमाल्यानि यस्य स तथा ॥ नृत्यन्नित्यादि । चारु यथा भवति तथा नृत्यन् । अल्पशब्दं यथा भवति तथा प्रहसन्निति योज्यम् ॥ २० ॥

अथ यक्षग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

यक्षाविष्टमाह—

ताम्राक्षः प्रिय-तनु-रक्त-वस्त्रधारी  
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।  
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै  
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २१ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १० )

म०—ताम्राक्ष इत्यादि । प्रियेत्यादि, प्रियं=शोभनं, तनु=सूक्ष्मं, रक्तं वस्त्रं धर्तुं शीलं यस्य स तथा ॥ २१ ॥

आ०—यक्षजुष्टमाह—ताम्राक्ष इति । ताम्राक्षो=रक्तनेत्रः । प्रियं=शोभनम्, तनु=सूक्ष्मं रक्तवस्त्रं धर्तुं शीलं यस्य स तथा । गम्भीरः=अनाकुलितांतःकरणः, द्रुतगतिः=उत्तालगतिः, अल्पवाक्—अल्पभाषी, सहिष्णुः=सहनशीलः । कस्मै किं ददामीत्येवं वदति ॥ २१ ॥

अथ पितृग्रहगृहीतस्य लक्षणानि ।

पितृजुष्टमाह—

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्  
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।  
मांसेप्सुस्तिल-गुड-पायसाभिकाम-  
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ २२ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० ११ )

म०—प्रेतानामित्यादि । प्रेतानां=पितृणां, संबन्धविवक्षितत्वात् न चतुर्थी । दिशति=ददाति । संस्तरेषु=कुशपत्ररचितास्तरणेषु । अपसव्यवस्त्रः=वामो-

तरीयः । मांसेप्सुरित्यादि, एतदभिधानप्रयोजनं यस्मिन् यस्येच्छा भवति तस्य तेनैव बलिर्दातव्यः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तद्भक्तः=पितृभक्तः ॥ २२ ॥

आ०—पितृग्रहजुष्टमाह—प्रेतानामिति । प्रेतानां=पितृणाम्, संबन्धमात्रस्य विवक्षितत्वात् चतुर्थी । दिशति=ददाति, संस्तरेषु=कुशपत्रादिरचितसंस्तरेषु, पिण्डान्=अन्नमयान्, शान्तात्मा=शान्तस्वभावः, जलमपि चेति न परं दर्भसंस्तरेषु पिण्डान् अपसव्यवस्त्रो=वामोत्तरीयो ददाति किंतु जलमपि चेत्यर्थः । 'अपसव्यहस्तः' इति पाठे दक्षिणहस्तः मांसेप्सुरित्यादि । तदभिधानप्रयोजनं यस्य यत्रेच्छा भवति, तस्य तेनैव बलिर्दातव्यः । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । पायसः=क्षीरसिद्धास्तण्डुलाः, अभिकामोऽभिलाषुकः, तद्भक्तः=पितृभक्तः । तद्भक्तः=तिलादिभोजनः इति ङङनः ॥ २२ ॥

अथ सर्पग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

नागाविष्टमाह—

यस्तूर्व्या प्रसरति सर्पवत्कदाचित्  
सृक्किण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ॥  
क्रोधालुर्गुड-मधु-दुग्ध-पायसेप्सु-  
ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ २३ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १२ )

म०—यस्त्वित्यादि । प्रसरति=सर्पवदिति उरसा गच्छति । सृक्किण्यौ=ओष्ठप्रान्तौ । सृक्किणीशब्द ईकारान्तोऽप्यस्तीत्युन्नेयम् ॥ २३ ॥

आ०—सर्पग्रहजुष्टमाह—य इति । तूर्व्या=भूमौ सर्पवदुरसा गच्छति, सृक्किण्यौ=ओष्ठप्रान्तौ जिह्वया विलिहति । क्रोधालुः=कोपनः, गुडादिप्रियः, भुजङ्गमग्रहेण जुष्टो ज्ञेयः ॥ २३ ॥

अथ राक्षसग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

राक्षसाविष्टमाह—

मांसा-ऽमृग्-विविध-सुराविकार-लिप्सु-  
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।  
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी  
शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥ २४ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १३ )

म०—मांसेत्यादि । निशाविहारी निशायामेव भ्रमणशीलः । राक्षसशब्देन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि ग्राह्याः । तथा राक्षसानन्तरं विदेहोऽपि पठति—“देव-विप्र-

गुरु-द्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः । आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेवितः ॥”  
इति ॥ २४ ॥

आ०—राक्षसजुष्टमाह—मांसेति । त्रिविधसुराविकाराः=पैष्टीप्रभृतयः । भृशमतिशयेन लज्जा-  
रहितः, अतिनिष्ठुरः=दयारहितः, विपुलबलः=अन्नाद्विनापि प्रभूतबलः, निशाविहारी=  
निशायामेव भ्रमणशीलः, शौचद्विद्=अशुचिः । राक्षसग्रहणेन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि गृह्यन्ते । यतो  
राक्षसानन्तरं विदेहे पठ्यते—“देव-विप्र-गुरु-द्वेषी वेद-वेदाङ्ग-निन्दकः । आत्मपीडाकरो हासी  
ब्रह्मराक्षससेवितः” ॥ इति ॥ २४ ॥

अथ पिशाचग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

पिशाचाविष्टमाह—

उद्धस्तः कृश-परुषो विरुद्धलापी  
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः ।  
बह्वाशी विजन-वनाम्बु-रात्रि-सेवी  
व्याचेष्टन्भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ २५ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १४ )

म०—उद्धस्त इत्यादि । उद्धस्त=उद्धातुः । ‘उद्धस्त’ इति पाठान्तरं न्याय्यम्,  
विदेहेऽपि दिगम्बरपाठात् । परुषो=रुक्षः । लोलः=सर्वस्मिन्नत्रे पाने च  
सलोभः । लोलुरिति पाठान्तरे स एवार्थः । व्याचेष्टन्निति=विरुद्धमाचेष्टन् ॥ २५ ॥

आ०—पिशाचजुष्टमाह—उद्धस्त इति । उद्धस्त=ऊर्ध्वबाहुः । ‘उद्धस्तः’ इति पाठे उद्धस्तो  
नमः, विदेहेऽपि दिगम्बर इति पाठात् । कृशो=निर्मासः, परुषो=रुक्षः, विरुद्धलापी=विरुद्ध-  
भाषी । अचिरप्रलापीति पाठान्तरम् । दुर्गन्धः, अतिलोलः सर्वस्मिन्नत्रपाने सतृष्णः, अति-  
चपल इत्यन्ये । अतिलोलः, इति पाठान्तरे अशनलोलुप इत्यर्थः । बह्वाशी=प्रचुरभोक्ता,  
विजनं=निर्जनस्थानम्, हिमाम्बु=शीताम्बु तयोः सेवी, रात्रेः सेवी=रात्रिविचारीत्यर्थः ।  
‘विजन-वनान्तरोपसेवी’ इति पाठान्तरम् । व्याचेष्टन्=त्रिविधं चेष्टन् ‘व्याचेष्टम्’ इति  
पाठान्तरे विरुद्धचेष्टं यथा भवति तथा भ्रमति ॥ २५ ॥

अथ ग्रहगृहीतस्यासाध्यलक्षणानि ।

त्रिविधं हिंसा-क्रीडा-पूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति । यदुक्तम्—“अशुचिं भिन्नमर्यादै  
क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च ॥” इति । तत्र  
हिंसार्थगृहीतोऽसाध्यो भवति, तस्य श्लोकार्थद्वयेन लक्षणमाह—

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही  
निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि ।

यश्चाद्रि-द्विरद-नगादिविच्युतः स्यात्  
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥ २६ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १५ )

म०—स्थूलाक्ष इत्यादि । स्थूलाक्षो=विवृतनेत्र इति जेजटः, द्रुतमदनो=द्रुतगतिः, अत एव त्वरितगतिरिति जेजटेन पठितम् । यश्चेत्यादि । पर्वतादिपतितः सन् यो गृह्यते सोऽप्यसाध्यः । नगो=वृक्षः । सर्व एवोन्मादी त्रयोदशेऽब्दे देवतादिगृहीतोऽप्यसाध्यः । विदेहेऽधिकमप्यसाध्यलक्षणं पठ्यते—“मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः सास्त्राक्षः स्मृतनासिकः । रुक्षजिह्वः प्रतिगर्भो हतवाग्गतिदुर्बलः ॥” इत्यादि ॥ २६ ॥

आ०—त्रिविधं हि हिंसाक्रीडापूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति । यदुक्तम्—“अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्रुहिंस्रविहारार्थं सत्कारायनथापि च ॥” इति । अत्यर्थः—भिन्नमर्यादं=श्रुतिस्मृत्युदितकर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तम् । अभक्ष्यागम्याहिंसादिप्रवृत्तत्वात्, क्षतं=सत्रणं, मांस-शोणित-प्रियत्वात् । अक्षतमपि=शौचादिरहितम् । अत्र विहारशब्देन रतिरभिधीयते । सत्कारः=पूजा । तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति । तस्य लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इति । स्थूलाक्षो=विवृतनेत्रः, विद्रुतगतिः । यश्चातिकम्पते सोऽसाध्यः । यश्चेतेभ्यः पतितः स्यात् सोऽप्यसाध्यः । अद्रिः=पर्वतः, द्विरदो=नजः, नगो=वृक्षः । आदिग्रहणात् तदप्रासादादयो गृह्यन्ते । सर्वत्रोन्मादादिति शेषः । एतेभ्यः पतितः स्यादित्यर्थः । त्रयोदशे वर्षे देवादिगृहीतोऽप्यसाध्यः विदेहेऽधिकमप्यसाध्यलक्षणं पठितम्, यथा—“मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः सास्त्राक्षः स्मृतनासिकः । रुक्षजिह्वः प्रतिगर्भो हतवाग्गतिदुर्बलः” इत्यादि ॥ २६ ॥

अथ देवादीनां ग्रहणकालाः ।

देवादीनां ग्रहणकालमाह—

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ॥

गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ २७ ॥

पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः ।

रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥ २८ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १६, १७ )

म०—देवग्रहा इत्यादि । पौर्णमास्यां=पूणिमायाम् । कृष्णक्षयेऽमावास्यायाम् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि । तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं, तत्तिथौ बलिदानार्थं च ॥ २७ ॥ २८ ॥



आ०—इदानीं देवग्रहाणां ग्रहणकालमाह—देवग्रहा इति । देवग्रहाः पौर्णमास्यां पूर्णिमायां विशन्ति अनुप्रवेशं कुर्वन्ति । असुरा असुरग्रहाः सन्ध्ययोरपीत्यपिशब्दः पादपूरणे । अन्येऽपिशब्दान् पौर्णमास्यामपि गृह्णन्तीति वर्णयन्ति । प्रायशोऽष्टम्यामिति । प्रायःशब्दात्संध्ययोरपि गन्धर्वा विशन्तीति लभ्यते ॥ २७ ॥ पित्र्याः=पितृग्रहाः कृष्णक्षये=कृष्णपक्षक्षये, अमावास्यायामित्यर्थः । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि । पञ्चम्यामपीत्यपिशब्दात्कृष्णक्षयेऽपि । उरगा=नागग्रहाः । तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं तेषां तिथौ बलिदानार्थम् । तथा चोक्तम्—“ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषु तेषु विशेषतः । दिनेषु बलिहोमादीन्प्रयुञ्जीत चिकित्सकः ॥२८॥”

अथ ग्रहावेशानुपलब्धाबुदाहरणानि ।

ननु, यदि ग्रहाविष्टानां पुंसामुन्मादः स्यात्, तदा विशन्तो ग्रहाः कुतो नोपलभ्यन्ते ? अत आह—

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।

स्वमणिं भास्कराचश्च यथा देहं च देहधृक् ॥ २९ ॥

विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः ।

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥ ३० ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १८ )

म०—दर्पणादीनित्यादि । अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वान्न दृश्यन्त इत्यर्थः । आदिशब्देन प्रकारवाचिना जलतैलादीनां ग्रहणम् । छाया=प्रतिकृतिः, शीतोष्णमिति कर्तृपदम्, प्राणिन इति कर्मपदम् । स्वमणिमिति=सूर्यकान्तम् । देहधृक्=आत्मा; मन इति जेज्जटः । अनेकदृष्टान्तप्रयोजनं, जेज्जटलिखितं तच्चात्रानुपयुक्तत्वेन विस्तरभयान्न लिखितम् । देवशब्देन देवाद्यनुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवानां मनुष्यशरीरेणाशुचिना संवन्धाभावात् । यदाह सुश्रुतः—“न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न ते मनुष्यान् कचिदाविशन्ति । ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपेताः ॥” इति ॥ २९ ॥ ३० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुन्मादनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—ननु यदि ग्रहाविष्टानां पुंसाम्, उन्मादः स्यात् । विशन्तो ग्रहाः कुतो न लक्ष्यन्ते इत्यत आह—दर्पणादीनिति । अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वान्न दृश्यन्ते । आदिशब्देन प्रकारवाचिना जलतैलादिग्रहणम् । छाया प्रतिकृतिः । शीतोष्णमिति कर्तृपदम् प्राणिन इति कर्मपदम् । स्वमणिमिति=सूर्यकान्तम् । देहधृक् आत्मा, मन इति जेज्जटः । अनेकदृष्टान्तप्रयोजनं जेज्जटेन निश्चितम्, तच्चात्रानुपयोगित्वान्न लिखितं विस्तरभयाच्च । ननु भूतैः शरीरेऽनुप्रवेशः क्रियते न तु शरीरिणि, तत्कथं शरीरिणि इत्यभिधानं न विरुध्यते ? उच्यते—शरीरिशब्देनात्र शरीरमभिप्रेतम्, स्थानिनि

स्थानोपचारात्, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति यथा छाया-शीतोष्णादयो दर्पण-प्राणि-प्रभृतीन् विशन्तो न दृश्यन्ते, तद्वद् ग्रहा इत्यर्थः । देवादिशब्देनात्र देवस्यानुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवा-दीनां मनुष्यशरीरेणाशुचिना सम्बन्धाभावात् । यदाह सुश्रुतः—“न ते मनुष्यैः सह” इत्यादि ॥ २९ ॥ ३० ॥

अथ ग्रहाणां प्रभावः ।

तपांसि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम् ।

गुणास्तथाष्टावपि तेषु नित्या व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ३१

( सु० उ० अ० ६० श्लो० १९ )

आ०—इदानीं ग्रहाणां तीव्रतमयमादियुक्तां प्रभाववत्तां सुश्रुतोक्तेन श्लोकत्रयेण दर्शयितुमाह तपांसीति । तपस्तापनलक्षणमुपवासादि । व्रतानि=शास्त्रोदितविधिना भोजनादिनियमनानि, धर्मः=काय-वाङ्-मनसां सुचरितम् । गुणास्तथाष्टाविति । अणिमा १, महिमा २, लघिमा ३, प्राकाम्यम् ४, प्राकाश्यम् ५, ईशित्वम् ६, वशित्वम् ७, यत्रकामावसायित्वम् ८, चेति । अन्ये तु “आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां शब्दनक्रिया । दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥” इत्यष्टविधमैश्वर्यमाहुः । तेषु=ग्रहेषु एते गुणा नित्याः, न कादाचित्काः व्यस्ता द्वि-त्रि-चत्वार इत्यादि समस्ता=सर्वे । यो यस्य प्रभाव इति यथाप्रभावं तत्र व्यस्ता गुणा असुरादि-ग्रहाणाम्, समस्ता देवग्रहाणाम् ॥ ३१ ॥

अथ ग्रहाणां पुम्भिस्त्वयमसम्बन्धः ।

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति ।

ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात् भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥ ३२ ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० २० )

आ०—अथ ते नियमादियुक्ताश्चेति तत्कथमशुचिं देहमाविशन्ति, न कथञ्चन, अत एवाह-नेति । ते देवादयो मनुष्यैः सह न विशन्ति न एकीभवन्तीत्यर्थः । न वा मनुष्यान्=मानुषदेहान् क्वचिदप्यनुप्राविशन्तीत्यर्थः । ये पुनर्वैद्या ‘आविशन्ति’ इति मोहादज्ञानात्प्रवदन्ति, ते वैद्या भूतविद्याविषयात् तज्ज्ञानादपोह्याः=अपसारणीयास्त्याज्या इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अथ ग्रहभृत्यानां पुंस्वावेशः ।

तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटी-सहस्रा-ऽयुत-पद्म-संख्याः ।

असृग्-वसा-मांस-भुजःसुभीमा निशाविहाराश्च तथा विशन्ति ३३

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उन्मादनिदानं समाप्तम् ॥ २० ॥

( सु० उ० अ० ६० श्लो० २१ )

आ०—के र्वाहं गृह्णन्तीत्यत आह—तेषामिति । तेषां=देवादीनां परिचारकाः=प्रेष्याः, कर्मकरा इत्यर्थः । कोट्यः=शतलक्षप्रमाणाः, अयुत=दशसहस्रम्, एतेन कोटिपत्र=शतलक्षप्रमाणगुणितं यत् सहस्रं, तादृशैः दशभिः सहस्रैरत्रायुत बोद्धव्यं, तेषां पद्मम्, पद्मं=चतुर्दशबिन्दुकं, तदेव संख्या येषां तेषां तथा । सुभीमा=अत्यर्थं भयानकाः । निशाविहारा=रात्रौ भ्रमणशीलाः ॥ ३३ ॥

इत्यातङ्कदर्पणे निदानव्याख्यायामुन्मादनिदानम् ।

## अथापस्मारनिदानम् ।

( Epilepsy )

अथापस्मारस्य निरुक्ति-सम्प्राप्ती ।

( चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।

कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥ १ ॥ )

मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समानचिकित्स्यत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारमाह । तस्य निरुक्तिः सुश्रुतेन कृता—“स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जने । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ॥” इति । स्मृतिश्च ज्ञानोपलक्षणं, तेनानुभवागमोऽपि बोध्यः । तस्य सामान्यलक्षणमाह—

अथापस्मारस्य सामान्यलक्षणम् ।

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।

अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ १ ॥ )

म०—तमःप्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभावं इत्यर्थः । संरम्भो=नेत्रविकृतिः हस्तपदादिविक्षेपणं च ॥ १ ॥

आ०—मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समानचिकित्स्यत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारारम्भः । तस्य निरुक्तिः सुश्रुतेन कृता—“स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जने । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ॥” इति स्मरणाभावाज्जलादौ प्रवेशादिभिः । सुश्रुतादपस्मारस्य निदानं लिख्यते । “मिथ्यायोगेन्द्रियार्थानां कर्मणामतिसेवनात् । विरुद्ध-मलिनाहार-विहार-कुपितैर्मलैः ॥ वेग-निग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम् । रजस्तमोऽभिभूतानां गच्छतां वा रजस्वलाम् । तथा काम-भयोद्वेग-क्रोध-शोकादिभिर्भृशम् । चेतसोऽभिभवैः पुंसामपसारोऽभिजायते ॥” अस्यार्थः—मिथ्यातीन्द्रियार्थानां कर्मणां चातिसेवनादिति ज्ञेयम् । तत्रेन्द्रियाणां श्रवण-स्पर्शन-दर्शन-रसन-घ्राणानामर्था विषयाः शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धाः, तेषामतिसेवनात् । तत्र पुरुषेष्ट-विनाशादिश्रवणं मिथ्यायोगः, पटहादीनामतिशब्दश्रवणमतियोगः, सर्वशोऽश्रवणमयोगः, अभिघातभूताशुचिसंस्पर्शो मिथ्यायोगः, अतिमात्रशीतोष्णादीनां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गादीनां चातिसेवनमतियोगः, तथा सर्वशोऽसेवनमयोगः, तथा सूक्ष्मादिदर्शनं मिथ्यायोगः, रसानामत्यादानमतियोगः, अनादानमयोगः, तथा पूयाद्यानां मिथ्यायोगः, अतितीक्ष्णादिगन्धाघ्राणमति-योगः, सर्वशोऽघ्राणमयोगः, तत्र कायिककर्मणो व्यायामादिनिषिद्धकालादिषु सेवनमतियोगः, सर्वशोऽसेवनमयोगः । तथा वाचिककर्मणः पुरुषानृतादिवचनं मिथ्यायोगः, अतिवचनादिक-श्चातियोगः, सर्वशो मौनमयोगः । तथा मानसकर्मणः शोकादिचिन्तनं मिथ्यायोगः, अति-मात्रचिन्तनादिकमतियोगः, सर्वशोऽचिन्तनमयोगः, मलिनपूतिविष्टामेध्यपर्युषिताहारः, बिहारोऽपि

मलिनो दृष्टो दृष्टार्थः स्मृतिषु विज्ञातव्य इति । वाग्भटात्संप्राप्तिर्लिख्यते—“उन्मादवत्प्रकुपितै-  
श्चित्त-देहगतैर्मलैः । हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ॥ तमोविशन्मृदमतिर्विभ-  
त्साः कुरुते क्रियाः । दन्तान् खादन्वमन्फेनं हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥ पश्यन्न सन्ति रूपाणि  
प्रखलन्पताति क्षितौ । विजिह्वाक्षिभ्रुवो दोषवेगेऽतीते प्रबुध्यते ॥ कालान्तरेण स पुनश्चैवमेव  
विचेष्टते ॥” इति । तस्य सामान्यलक्षणमाह—तम इति । तमः प्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभाव  
इत्यर्थः । संरम्भो नेत्रविकृतिर्हस्तपादादिविक्षेपणं च । तमः प्रवेशादिलक्षणो घोरोऽपस्माराख्यो  
गदो ज्ञेयः । स चतुर्विध इति । वातात्पित्तात्कफात्सन्निपाताच्चतुर्विध इति । विधानं द्वन्द्वज-  
प्रतिषेधार्थं, द्वन्द्वजाभावस्तु, व्याधिस्वभावात् ॥ १ ॥

अथापस्मारस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।  
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ६१ श्लो० ६ )

म०—हृत्कम्प इत्यादि । शून्यता हृदयस्यैव । ध्यानं=जिह्वायनम् । अत्र  
मूर्च्छा=मनोमोहः । प्रमूढता=इन्द्रियमोहः ॥ २ ॥

आ०—प्राग्रूपमाह—हृदिति । तस्मिन्नपस्मारे भविष्यति सति हृत्कम्पादीनि रूपाणि  
भवन्ति । शून्यता हृदयस्यैव । ध्यानं जिह्वायनम् । अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः ॥ २ ॥

अथ वातिकापस्मारस्य लक्षणम् ।

वातिकलक्षणमाह—

कम्पते प्रदशेदन्तान् फेनोद्रामी श्वसित्यपि ।  
परुषा-ऽरुण-कृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ६१ श्लो० ७ )

म०—कम्पते इत्यादि । श्वसिति खरश्वासो भवति रूपाणीति प्राणिनः,  
‘नीलो मामनुधावति’ इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिके ‘पीतो मामनुधावति’  
इति, एवं श्लैष्मिके ‘श्वेतो मामनुधावति’ इति ॥ ३ ॥

आ०—वातापस्मारलक्षणमाह—कम्पते इति । अनिलात् तथा दन्तान्दशति, तथा फेनमुद्रमति,  
तथा श्वसिति खरश्वासो भवति, परुषारुणकृष्णानि रूपाणि पश्येत् । रूपाणीति पुरुषाः  
प्राणैः, ‘नीलो मामनुधावति’ इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिकेऽपि ‘पीतो मामनुधावति’  
इति । श्लैष्मिके—“शुक्लो मामनुधावति” इति ॥ ३ ॥

अथ पैत्तिकापस्मारस्य लक्षणम् ।

पैत्तिकलक्षणमाह—

पीत-फेना-ऽङ्ग-वक्त्राक्षः पीता-ऽसृग्रूपदर्शकः ।

सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ६१ श्लो० ८ )

म०—पीतित्यादि । पीतासृग्रूपदर्शक इति पीत-लोहित-वर्णसमस्तवस्तुदर्शी सतृष्णेत्यादि सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्णः, सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्त-लोकदर्शी चेति समासः ॥ ४ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पीतेति । पैत्तिकः=पित्तापस्मारयुक्तः पुरुषः पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षो भवति । पीतासृग्रूपदर्शन इति पीतलोहितवर्णसमस्तवस्तुदर्शनः । सतृष्णेत्यादि । सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्णः, सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्तलोकदर्शी चेति समासः ॥ ४ ॥

अथ श्लैष्मिकापस्मारस्य लक्षणम् ।

श्लैष्मिकलक्षणमाह—

शुक्ल-फेनाङ्गवक्त्राक्षः शीत-हृष्टाङ्गजो गुरुः ।

पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ ५ ॥

( च० चि० अ० १५ श्लो० ९ )

म०—शुक्लेत्यादि । हृष्टाङ्गजो=हृष्टरोमा । चिरादित्यनेनैव वातपित्तयो-रचिरेण वेगमोक्ष इति सूचयति ॥ ५ ॥

आ०—श्लैष्मिकमाह—शुक्ल इति । श्लैष्मिको नरः शुक्लेनाङ्गवक्त्राक्षो भवति । शीतहृष्टा-ङ्गज इति । शीतः=शीतिगात्रः, तथा हृष्टाङ्गजो=हृष्टरोमा । चिरादित्यनेन वातपित्तयोरचिरेण वेग-मोक्ष इति सूचयति । कृष्ण-पीत-शुक्ल-दर्शनं वातादीनां प्रभावो न तु पैशाचादिकं रूपम-भिप्रेतम् ॥ ५ ॥

अथ सान्निपातिकापस्मारस्य लक्षणम् ।

सान्निपातिकलक्षणमाह—

सर्वैरतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।

अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥

प्रस्फुरन्तं सुबहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम् ।

नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ ७ ॥

( च० चि० अ० १५ श्लो० १०१ )

म०—सर्वैरित्यादि । स चेति स सान्निपातिकः । क्षीणस्यैकदोषजोऽप्यसाध्यः । एवमनवश्च बोध्यः । प्रस्फुरन्तं=प्रकम्पन्तम् । नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमिति=नेत्राभ्यां विकृतिमासादयन्तम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०—सान्निपातजमाह—सर्वैरिति । एतैः सर्वैस्त्रिभिः समस्तैश्च लिङ्गैस्त्रिदोषजः सान्निपातिको ज्ञेयः । स चेति सान्निपातिकः । क्षीणस्यैकदोषजोऽप्यसाध्यः । एवमनवश्च बोध्यः ॥ ६ ॥ असाध्यमाह—विस्फुरन्तमिति । विस्फुरन्तं=प्रकम्पन्तम् । 'बहुशोऽप्यपस्मरन्तं तु' इति पाठान्तरं बहुशो=बहून्वारानपस्मरन्तमपस्मारवेगवन्तं, क्षीणं पुरुषमिति शेषः । नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमिति नेत्राभ्यां विकृतिमासादयन्तम् । इत्थंभूतं पुरुषमपस्मारवेगाद्युपद्रवसहितमपस्मारो विनाशयेदिति सम्बन्धः ॥ ७ ॥

अथापस्मारस्य वेगकालाः ।

अपस्मारप्रकोपकालमाह—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।

अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥ ८ ॥

( सु० उ० अ० ६१ श्लो० १३ )

म०—पक्षादित्यादि । पक्षात् पैत्तिकः द्वादशाहादातिकः, मासात् श्लैष्मिकः । द्वादशाहानन्तरं पक्षे वक्तव्ये तत्पूर्वं पक्षाभिधानं, तेनातोऽधिककालेनापि वेगं करोतीत्याहुः । किञ्चिदथान्तरमिति उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति ॥ ८ ॥

आ०—वातादिजनितापस्मारवेगदिननियमलक्षणमाह—पक्षादिति । मला वातादयः कुपिताः सन्तः अपस्माराय पक्षादथवा द्वादशाहान्मासाद्वा वेगं कुर्वन्ति । पक्षात्पैत्तिकः द्वादशाहादातिकः, मासान् श्लैष्मिकः, द्वादशाहादनन्तरं पक्षे वक्तव्ये यत्पक्षाभिधानं प्रथमं तेनातोऽधिककालेऽपि वेगं करोतीत्याहुः । किञ्चिदथान्तरमिति उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति ॥ ८ ॥

अथापस्मारस्य सर्वदा वेगाकरणे सोदाहरणः प्रभावः ।

ननु वेगं कृत्वा अपस्मारारम्भको दोषोऽस्त्येव, तत् कुतः सर्वदा वेगं न कुरुते द्वादशाहादिष्वेव कुरुत इत्याह—

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।

शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः ॥ ९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥ २१ ॥

म०—देवे वर्षतीत्यादि । अयमभिसन्धिः—तेजोऽवनी-पवन-पयः-सनाथं विद्यमानमपि बीजं कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति, कालविशेषस्यापि सहकारित्वात् । शरदीति तत्कालोचितबीजाभिप्रायेण, तेन कानिचिद्वर्षास्वपि जनयन्तीति । अयं न्यायः चातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्यः ॥ ९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यामपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—ननु, वेगं कृत्वा अपस्मारारम्भको दोषोऽऽस्त्येव तत्कुतः सर्वदा वेगं न कुरुते द्वादशादिष्वेव कुरुत इत्यत आह—देव इति । अयमभिसन्धिः—तेजोऽवनीपवनतोयसनाथं विद्यमानमपि बीजं कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति । कालविशेषस्यापि सहकारित्वात् । तथाऽऽगतस्याप्यपस्मारस्य पुनरुद्भवः सम्भवति । शरदीति । तत्कालनित्यताऽनियतेति, तेन कानिचिद्वर्षादिष्वपि जनयन्तीति । अयं न्यायश्चातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्य इति । अथ डलनाभिप्रायः—यथा वर्षत्यपि देवे भूमावुत्तानि कानिचिद्बीजानि शरदि प्रविरोहन्ति, तथा सर्वरोगबीजानां वातादीनां कदाचित् कस्यचिदपस्मारादिव्याधिविशेषस्य निदानादिसंगमेऽपि संदूष्यादिसमुदायेनैव समुद्भवो भवतीत्यर्थः । अन्ये त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति । ननु संचयादिक्रमेणोपयोगो दोषाणां तदातनः कथमल्पेनैव कालेन तद्विकारोद्गमः स्यादित्यत्राह—देवे वर्षतीत्यादि । अवर्षत्यपि देवे यथा शरत्काले भूमौ स्तिमितत्वात्कानिचिद् बीजानि प्ररोहन्त्येव, तथा अल्पेनापि कालेन शरीरस्थादोषाः किंचिदुपचिता विकारं जनयन्तीति ॥ ९ ॥

इत्यातङ्कदर्पणे निदानव्याख्यानेऽपस्मारनिदानम् ।

### अथ वातव्याधिनिदानम् ।

अथ वातव्याधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं निदानम् ।

अपस्मारवद्वातविकाराणामप्याक्षेपकादीनां वेगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं वातव्याधारम्भः । ननु, वातव्याधिरिति कोऽर्थः ? किं वात एव व्याधिर्वातव्याधिः, उत वातेन जनितो व्याधिर्वातव्याधिः ? आद्ये स्वस्थेष्वपि प्रसङ्गः, द्वितीये ज्वरादिषु । उच्यते, व्याधिपदसामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःखकारी वातो वातव्याधिः । उक्तं हि सुश्रुते—“पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलादोषौ करोति च” ( सु. नि. स्था. अ. १ ) इति । वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणीयम्, तेनोभयत्राप्रसङ्गः । यच्चोक्तम्—“कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः । कुर्यादक्षेपकम्” इत्यादि । तत्रारम्भको वायुरेव, पित्त-कफौ त्वनुबन्धाविति न विरोधः स्यात् । चरके हि द्विविधा व्याधय उक्ताः, सामान्यजा नानात्मजाश्चेति, तत्र सामान्यजा ये वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जन्यन्ते, यथा—ज्वरादयः । नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा—आक्षेपकादयो ये वातेनैव जन्यन्ते । न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा; तथा ओष-चोषादयः



पित्तेनैव, न वातेन कफेन च; तथा तृप्त्यादयः कफेनैव, न वातेन, न पित्तेन; एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ ? उच्यते, वायो-  
रतिबलत्वेन आशुकारित्वेन च गरीयस्त्वान्नाद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाश्चेवात्य-  
यकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं न तु कफपित्तव्याध्यभिधानम् ।  
अत एव चरकसुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो, न तु पित्त-कफ-  
रोगाध्यायः । चान्द्रिकाकारस्त्वाह-पित्त-कफयोरुपरसादियोगाद् दूष्यविशेष-  
योगाद्वा हरिद्राचूर्णसंयोगवदत्यन्तविसदृशा रसादिमन्तो विकाराः पृथङ्ना-  
मानो जायन्ते, वायोस्तु रूपरसाद्यभावात् दूष्यनिरपेक्षा आक्षेपकादयो वाता-  
दनातिभिन्नरूपा नानात्मजाः, तेन वातविकाराः पृथगुच्यन्ते, न तु पित्त-कफ-  
विकारा इति । एतच्च बकुलकरप्रभृतयो नानुमन्यन्ते, चरकविरोधात् । चरके  
हि पित्त-कफयोरपि नानात्मजा उक्ताः, यथा- “अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः” ( च. सू. स्था. अ. २० )-इति ।  
सुश्रुतेन तु शल्याध्यायिना पित्त-कफ-नानात्मजा न दर्शिताः, पराधिकारेषु  
न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेणेति, अतो वातव्याध्यभिधानं, तस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं  
निदानमाह—

रूक्षशीतालपलव्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।

विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्त्रवणादपि ॥ १ ॥

लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितः ।

धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥

वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।

मर्माबाधाद्गोष्ठाश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥ ३ ॥

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।

करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—रूक्षेत्यादि । लङ्घनमुत्पतनम्, उपवासस्यानशनशब्देन वमनादेश्च दोष-  
स्त्रवणशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् । प्लवनं=वाङ्मूत्रां जलप्रतरणम् । आमादिति=आम-  
रसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरणद्वारेण न तु स्वरूपेण । आयासादिति पाठान्त-  
रम्युक्तम्, तस्य व्यायामशब्देनोक्तत्वात् । मर्माबाधात्=मर्माभिघातात्, अप-

तंसनं=गजादिभ्यः शीघ्रयानेन पतनम्, उच्छ्वासावरोधो वा; धातुकर्षणमिति खरनादः ॥ १-४ ॥

आ०—अपस्मारवद्वातविकाराणामाक्षेपकादीनां वेगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं वातव्याध्या-  
रम्भः । ननु कोऽयं वातव्याधिः किं वात एव व्याधिः, उत वातजनितो व्याधिः ? आद्ये  
स्वस्थेऽपि प्रसङ्गः, द्वितीये ज्वरादिषु । उच्यते—चरके द्विविधा व्याधय उक्ताः—सामान्यजा  
नानात्मजाश्चेति; तत्र सामान्यजा वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जन्यन्ते, यथा—ज्वरादयः,  
नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा—आक्षेपकादयो वातेनैव जन्यन्ते, न स्वतन्त्रेण पित्तेन  
कफेन वा; तथा ओषधौषादयः पित्तेनैव न वातेन न वा कफेन, तथा तृप्त्यादयो कफेन,  
नैव च वातेन पित्तेन वा । एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत्पित्तकफव्याधी कस्मान्नैकौ ?  
उच्यते—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाशुकारित्वा—  
द्विशिष्टचिकित्स्यत्वाद्वातव्याध्यभिधानम्, न तु पित्तकफव्याध्यभिधानम् । अत एव चरक-  
सुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो, न तु पित्तकफरोगाध्यायः । तथा च सुश्रुते  
दोषाणां वात एव प्रधानः । उक्तं च—“पित्तं पङ्गुः कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना  
यत्र नीयन्ते तत्र वर्धन्ति मेघवत्” —इति । अतो वातव्याध्यभिधानम् । तस्य संप्राप्तिपूर्वकं  
निदानमाह—रुक्षेत्यादि । अल्प=स्तोकम्, लघ्वन्न पुरातनं, षष्टिकादि, व्यवयो मैथुनं, प्रजा-  
गरणं रात्रिजागरणम् । विषमादुपचारादिति=अप्राप्ते क्रियाकाले क्रियाक्रमः । दोषसूक्ष्मा-  
वणादपि=व्रमनविरेकाभ्यां दोषस्यातिरेकात् रुधिरस्रवणाच्च । लङ्घनमुत्पतनम्, प्लवनं बाहु-  
भ्यां तरणम्, आमातु=आमरसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरणद्वारेण, न तु स्वरूपेण । अभि-  
घातो लघुडादिभिः । अभोजनादुपवासात् । मर्माबाधात्=मर्माभिघातात् । अपतंसनं=पतनं  
गजादिभ्यः, तथा शीघ्रयानादिभिः । एतैः कारणैः कुपितो बली वायू रिक्तानि स्रोतांसि पूर-  
यित्वा सर्वाङ्गाकङ्गजान् व्याधीन् करोति ॥ १-४ ॥

अथ वातव्याधेः पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपादिकमाह—

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।

आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ५ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—अव्यक्तमित्यादि । अव्यक्तमिति वक्ष्यमाणानां वातविकाराणां रूप-  
मेवाव्यक्तं पूर्वरूपम्, न तु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत् । आत्मरूपमित्यादि । तदेव  
व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक् प्रकाशितं स्वलक्षणमित्यर्थः । अपाय इति  
वायोश्चलत्वेन स्तम्भ-संकोच-कम्पादीनां कदाचिदभावात्, यदुक्तम्—“गते वेगे  
भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वक्षेपकादिषु”—इति । लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातु-

शोषणात् । अथवा अपायो लघुता इति सर्ववातविकाराणामपायोऽभावः, किं तदित्याह—लघुतेति । वातलिङ्गानां लघुता=अत्यल्पत्वेनावस्थानम्, न तु निःशेषनिवृत्तिः; यथा—बहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥ ५ ॥

आ०—अस्य पूर्वरूपमाह—अव्यक्तमित्यादि । वक्ष्यमाणवातादिविकाराणां रूपमेवाव्यक्तं पूर्वरूपम्, न तु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत् । आत्मरूपमित्यादि, तदेव व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक्प्रकाशितं तस्य लक्षणमित्यर्थः । अपाय इति वायोश्चलत्वात् स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात् । यदुक्तम्—“ गते वेगे भवेत्स्वास्थ्यं सर्वैष्वक्षेपकादिषु ” इति । लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातुशोषात् । अथवा—अपायो लघुतेति वातविकाराणामपायोऽभावः । किं तदित्याह—लघुतेति । वातलिङ्गानां लघुता अत्यल्पत्वेनावस्थानं न तु निःशेषेण निवृत्तिः । यथा बहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥ ५ ॥

अथ वातप्रकोपेण संभवन्तो रोगाः ।

‘करोति विविधान् व्याधीन्’ इति यदुक्तं तद्व्याकरोति—

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थां पर्वणामपि ।

रोमहर्षः प्रलापश्च पाणि-पृष्ठ-शिरो-ग्रहः ॥ ६ ॥

खाज्ज्य-पाङ्गुल्य-कुञ्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता ।

गर्भ-शुक्र-रजो-नाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥

शिरो-नासा-ऽक्षि-जत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।

भेदस्तोदोऽर्तिराक्षोपो मुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—संकोच इत्यादि । स्तम्भः पर्वणामेव । पाङ्गुल्यं=पङ्गुता । शोथो-ऽङ्गानामिति बाहु-मुखादीनाम् । अनिद्रतेत्यनेन अल्पनिद्रतेत्याहुः । गर्भशुक्र-रजोनाश इति गर्भशय्याया वाताधिष्ठितत्वेन गर्भाग्रहणमिति जेज्जटः, गर्भादिविकृतिरप्यत्र दृष्टव्या । स्पन्दनं=कम्पनम् । हुण्डनं=शिरःप्रभृतीनामन्त-प्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात् । अन्ये त्वाहुः—शिरोहुण्डनं=केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं=घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डन-मक्षिव्युदासः, जत्रुहुण्डनं=वक्षउपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं=ग्रीवास्तम्भः । भेद इति ओष्ठ-दन्त-श्रोण्यादीनाम् । तोदः=शूलम् । अर्तिः=पीडा, सा च पाद-पार्श्व-

श्रोत्रा-क्षि-वक्षसामिति जेज्जटः । आक्षेपश्च आक्षेपकादिषु वक्ष्यमाणः ।  
आयासः=श्रमः ॥ ६-८ ॥

आ०—‘करोति विविधान्याधान्’ इति यदुक्तं तद्व्याकरोति—संकोच इत्यादि । संकोचः पर्वणां, स्तम्भश्च पर्वणामेव, अस्त्रां भङ्गः=स्फुटनम्, तथा पर्वणां पाण्यादीनां ग्रहः=स्तम्भ इव । स्वाञ्ज्यं=खञ्जता, पाङ्गुल्यं=पङ्गुता । शोथोऽङ्गानामिति बाहुमुखादीनाम् । अनिद्रतेत्यनेनाल्पनिद्रतेति बोद्धव्यम् । गर्भशुक्ररजोनाश इति गर्भाशयस्य वाताधिष्ठितत्वाद्भांदिविकृतिरप्यत्र द्रष्टव्या । स्पन्दनं=कम्पनम् । हुण्डनं=शिरः प्रभृतीनामन्तःप्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात् । अन्ये त्वाहुः—शिरो-हुण्डनं=केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं=घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डनं=चक्षुर्विकृतिः, जत्रु-हुण्डनं=वक्षउपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं=ग्रीवास्तम्भः । भेद इति ओष्ठदन्तश्रोण्यादीनां भेदः । तोदः=शूलं पीडाभेदः, अर्तिः=शीडाभेदः । “अर्तिः पीडा, सा च पादपार्श्वश्रोत्राक्षिवक्षसाम्” इति जेज्जटः । आक्षेपो वक्ष्यमाणः, आयासः=श्रमः ॥ ६-८ ॥

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।

हेतु-स्थान-विशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥

हेत्वित्यादि । हेतुविशेषः=आवरणादिः, यथा—श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी; स्थानविशेषः=कोष्ठादिः,—यथा—पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजमित्यादि ॥ ९ ॥

आ०—हेत्वित्यादि । हेतुविशेषश्चावरणादिः, यथा श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी, स्थानविशेषः कोष्ठादिः, यथा—पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजमित्यादि ॥ ९ ॥

अथ स्थानविशेषगतवातस्थ लक्षणानि ।

तत्र कोष्ठाश्रित-कुपित-वातलक्षणम् ।

अथ स्थानविशेषाण्याह—

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्र-वर्चसोः ।

ब्रध्न-हृद्रोग-गुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥ १० ॥

( च० चि० अ० २८ श्लो० २२ )

म०—तत्रेत्यादि । कोष्ठशब्देनाविशेषात् सर्वे आमाशयादयो गृह्यन्ते, आमाशयादिगं तु पृथगपि वक्ष्यति । निग्रहोऽप्रवृत्तिः । ब्रध्नः=कोशवङ्क्षण-सन्धिः ॥ १० ॥

आ०—तत्रेत्यादि । तत्र=तेषु स्थानेषु मध्ये कोष्ठाश्रिते वाते दुष्टे सति मूत्रवर्चसोर्निग्रह-स्तथा ब्रध्नादयो रोगा भवन्ति । कोष्ठशब्देनाव आमाशयादयः सर्वे गृह्यन्ते यदुक्तम्—“स्थानान्या-माभिपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफुसश्च कोष्ठमित्यभिधीयते”—इति । आमाश-यादिगतं तु पृथगपि वक्ष्यति । निग्रहोऽप्रवृत्तिः । ब्रध्नः कोशवङ्क्षणसन्धिः ॥ १० ॥

अथ सर्वाङ्गकुपितवातलक्षणम् ।

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्र-स्फुरण-भञ्जनम् ।

वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥ ११ ॥

( च० चि० अ० २८ श्लो० २३ )

आ०—सर्वाङ्गेत्यादि । भञ्जनं=भङ्गवत्पीडित्यर्थः । सन्धयो वेदनया परीता युताः स्फुटन्तीव ॥ ११ ॥

अथ गुदस्थितवातस्य लक्षणम् ।

गुदस्थितवातलक्षणमाह—

ग्रहो विण्-मूत्र-वातानां शूला-ऽध्माना-ऽश्म-शर्कराः ।

जङ्घोरु-त्रिक-पात्-पृष्ठ-रोग-शोषौ गुदे स्थिते ॥ १२ ॥

( च० चि० अ० २८ श्लो० २४ )

म०—ग्रह इत्यादि । अश्मा=अश्मरी । रोगो=रुजा । गुद इत्युत्तरगुदे पक्काशय इत्यर्थः, न तु गुदभात्रे; तथा सति अश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १२ ॥

आ०—पक्काशयकुपितमाह—ग्रहः=अप्रवृत्तिः, गुद इत्युत्तरगुदे पक्काशये न तु पायौ, अन्यथा अश्मर्यनुत्पत्तेः । न चैवं पक्काशयस्य इत्यादिना पौनरुक्त्यं दोषाय, तस्य संग्रहेऽत्र लिखितत्वात् । गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणम्, 'पक्काशयस्थ' इति सुश्रुतस्य, उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गदर्शनार्थमित्यविराधः । पात्=चरणम्, पृष्ठरोगाः स्तम्भादयः, रोगो रुजाविशेषः, तथा शोफश्च ॥ १२ ॥

अथामाशयगतकुपितवातलक्षणम् ।

आमाशयकुपितवातमाह—

रूक्-पार्श्वोदर-हृन्-नाभेस्तृष्णोद्गार-विसूचिकाः ।

कासः कण्ठा-ऽऽस्य-शोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥ १३ ॥

( च० चि० अ० २८ श्लो० २५ )

आ०—आमाशयकुपितमाह—रुगित्यादि । सुगमम् ॥ १३ ॥

अथ पक्काशयस्थवातस्य लक्षणम् ।

पक्काशयस्थवातलक्षणमाह—

पक्काशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।

कृच्छ्र-मूत्र-पुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥ १४ ॥

म०—पक्काशयस्थ इत्यादि । ननु, पक्काशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात् । उच्यते, गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणम्,

पकाशयस्थ इति सुश्रुतस्य; उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्य-  
विरोधः ॥ १४ ॥

आ०—सुश्रुतोक्तं पकाशयगतवातलक्षणमाह—पकेत्यादि । अन्त्रकूजं=अन्त्रेऽव्यक्तशब्दं  
करोति । आटोपो=रुजापूर्वकक्षोभः । त्रिकः=स्फिजोरुपरि सन्धिः ॥ १४ ॥

अथ श्रोत्रादिगतवातलक्षणम् ।

श्रोत्रादिगतमाह—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यादुष्टसमीरणः ।

( च० चि० अ० २८ श्लो० २६ )

आ०—श्रोत्रादिगतलक्षणमाह—श्रोत्रादिषु गते श्रोत्रत्वक्चक्षुर्वाणरसनोन्द्रियाणां विनाशः  
स्वस्वविषयग्रहणेऽशक्तता ॥ १४ ॥—

अथ त्वग्गतवातस्य लक्षणानि ।

त्वग्गतवातलक्षणमाह—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।

आतन्यते सरागा च पर्वरूक् त्वग्गतेऽनिले ॥ १५ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—त्वगित्यादि । आतन्यते=विस्तार्यते एव । त्वग्गते इति उपधातुरूपां  
त्वचं प्राप्तेः । चन्द्रिकाकारस्तु त्वक्शब्देन रसमाह, तेन रसगत इत्यर्थः । हृद-  
यस्थस्य च रसस्यामाशयसामीप्यादामाशयगतवातलक्षणेनैव तदधिगतेः । रसग-  
तस्यानभिधानमिति कार्तिकः ॥ १५ ॥

आ०—सांप्रतं धातुकुपितस्य लक्षणम् । तत्र रसकुपितमाह—त्वगित्यादि । त्वक्=त्वचा  
रौक्ष्यादियुक्ता तुद्यते, आतन्यते विस्तार्यते इव । त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिप्रेतः, तदाधारत्वान् ।  
पर्वरूक्=सर्वत्वग्व्यथा ॥ १५ ॥

अथ रक्तगतवातस्य लक्षणानि ।

असृग्गतवातलक्षणमाह—

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।

गात्रे चारुंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥ १६ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—रुजा इत्यादि । अरुंषि=व्रणाः । भुक्तस्य स्तम्भः=भुक्तवतो गात्र-  
स्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तस्य वृद्धेः । अन्ये त्वसृग्गतवातलक्षणं न पठन्ति, वात-  
रक्तेन सहाभेदात्; तत्र, अत्र दुष्टो वायुः रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते तु

स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसंप्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति ॥ १६ ॥

आ०—रक्तकुपितमाह—रुज इत्यादि । वैवर्ण्यं=विच्छायाता, गात्रे=शरीरे, अरुंषि=व्रणाः, मुक्तस्य स्तम्भ इति मुक्तवतो गात्रस्य स्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तवृद्धेः । अन्ये त्वसृग्वातलक्षणं न पठन्ति, वातरक्तेन सहाभेदात् । तत्र, अत्र तु दुष्टो वायुः रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते तु स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसंप्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति ॥ १६ ॥

अथ मांस-भेदो-गतवातस्य लक्षणानि ।

मांसभेदोगतवातलक्षणमाह—

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।

सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांस-भेदो-गतेऽनिले ॥१७॥

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांस-बल-क्षयः ।

अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जा-स्थि-कुपितेऽनिले ॥१८॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—गुर्वित्यादि । श्रमितं=श्रान्तं निःसहमित्यर्थः । मांसभेदोगतवायो-रेकलिङ्गत्वम्, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात् । एवं मज्जास्थिकुपितेऽपि वाच्यम् ॥ १७ ॥ १८ ॥

आ०—मांसभेदोगतमाह—गुर्वित्यादि । अनिले मांसभेदोगते सति अङ्गं = शरीरं, गुरु = भारिकं, स्तब्धं = निश्चलं, दण्डमुष्टिभ्यां हतमिव सरुक् = पीडायुक्तं, श्रमितं = श्रान्तं निःसहमित्यर्थः । मांसभेदोगतवातयोरेकलिङ्गत्वमदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात् । एवं मज्जास्थिकुपिते वाच्यम् । सुश्रुते चात्र विशेष उक्तः—“कर्कशान् तोदवहुलान् ग्रन्थीन् मांसं समाश्रितः । वायु-भेदोगतः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान्”—इति । तथा मज्जास्थिकुपितस्यापि वातस्य विशेष उक्तः—“अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तत्स्थितः । तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित्प्रशान्यति”—इति । भेद इति । सुगमम् ॥ १७ ॥ १८ ॥

अथ शुक्रधातुगतवातस्य लक्षणम् ।

शुक्रस्थवातलक्षणमाह—

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।

विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥ १९ ॥

( च० चि० अ० २८ )

म०—क्षिप्रमित्यादि । गर्भमिति दुष्टशुक्रारब्धत्वाद्गर्भस्य । विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च ॥ १९ ॥



आ०—शुक्रगतमाह—क्षिप्रमित्यादि । अनिलः शुक्रस्थः कुपितः सन् शुक्रं क्षिप्रं = शीघ्रं मुञ्चति वध्नाति च । तथा गर्भमपि क्षिप्रं मुञ्चति वध्नाति च । दुष्टशुक्रारवत्वान्नर्भस्य; तथा विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च जनयेत् ॥ १९ ॥

अथ सिरागतवातस्य लक्षणम् ।

सिरागतवातलक्षणमाह—

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराऽऽकुञ्चन-पूरणम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—कुर्यादित्यादि । आकुञ्चनं=संकोचः पूरणं=स्थूलत्वम् यदुक्तमन्यत्र —“सुप्तास्तन्व्यो बृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते”—इति ।—

आ०—कुर्यादिति । सिरागतो वायुः शूलं सिराकुञ्चनपूरणं च, तथा बाह्याभ्यन्तर-  
मायामं तथा खल्लौ वक्ष्यमाणां कौञ्ज्यं च कुर्यात् । कुञ्चनं=संकोचः । पूरणं=स्थूलत्वं,  
यदुक्तमन्यत्र—“सुप्तास्तन्व्यो बृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते”—इति ।—

अथ स्नायुगतवातस्य लक्षणम् ।

स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लौ कौञ्ज्यमथापि वा ॥ २० ॥  
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः ।

( च० चि० अ० २८ )

म०—खल्लौ वक्ष्यमाणाम् ॥ २० ॥—

आ०—स्नायुगतोऽनिलः सर्वाङ्गरोगानेकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् । सुश्रुतेनाप्युक्तम्—“स्नायु-  
प्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा”—इति । वाग्भटेनोक्तम्—“तस्य स्नायवास्थितः कुर्या-  
द् गृध्रस्यायामकुञ्जताम्”—इति ॥ २० ॥—

अथ सन्धिगतवातस्य लक्षणम् ।

सन्धिगतवातलक्षणमाह—

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥ २१ ॥

म०—हन्तीत्यादि । हन्ति सन्धिगतः सन्धीनिति सन्धिविश्लेषं स्तम्भा-  
दिकं वा करोति ॥ २१ ॥

आ०—सन्धिगतो वायुः सन्धीन् हन्ति, तथा शूलशोफौ करोति, सन्धिविश्लेषः ।  
हन्ति सन्धीनिति सन्धिश्लेषस्तम्भादिकं करोति । एतेनाकुञ्चनप्रसारणयोरभाव उक्तः ॥ २१ ॥

अथ पित्त-कफावृतानां प्राणादिवायूनां लक्षणानि ।

पित्त-कफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।

दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ॥ २२ ॥

उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः ।

अस्वेद-हर्षो मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते ॥ २३ ॥

स्वेद-दाहौष्ण्य-मूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते ।

कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते ॥ २४ ॥

अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता ।

अधःकाये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते ॥ २५ ॥

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ।

स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ॥ २६ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—प्राण इत्यादि । गात्रहर्षो=रोमाञ्चः । दण्डको=दण्डवत् स्तम्भः । परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति । यदुक्तं चरके—“मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु” ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इत्यादि । एषां च लक्षणं चरक एव द्रष्टव्यम् । विदेहे चैक एव वायुः स्थान-कर्म-भेदात् पञ्चेत्याहुः, संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः । ईशानोऽप्याह—यथैको देवदत्तः स्थानभेदात् गृहस्थो वानप्रस्थः, कर्मभेदात् कुम्भकारो मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति ॥ २२-२६ ॥

आ०—पित्तकफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—प्राण इत्यादि । सदन-मङ्गलानि । क्लमोऽन्नायासः श्रमः, हर्षो=रोमहर्षः । ‘शीतस्तम्भौ’ इति पाठान्तरम् । कफेन संयुक्ते समाने विण्-मूत्रयोः सङ्गः, तथा गात्रहर्षो रोमाञ्चः, “कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते” इति पाठान्तरम् । कफाधिकं श्लेष्मवहुलं विष्टामूत्रमिति । अपान-इति सुगमम् । व्यान इति दण्डको दण्डवत् स्तम्भः । परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति । यदुक्तं चरके—“मारुतानां च पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु” इत्यादि । एषां च लक्षणं चरक एव द्रष्टव्यम् । तथा वाग्मटोक्तं च द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं लिख्यते—“वायोरावरणं चातो बहु मेदं प्रचक्षते । लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः ॥ कटूष्णैश्चाम्ल-लवणैर्विदाहः

शीतकामिता । शैत्य-गौरव-शूलानिकट्वाद्यपश्योऽधिकम् ॥ लङ्घनायासरुक्षोष्णकामिता च कफावृते । रक्तावृते सदाहार्तिस्वर्गमांसान्तरयोर्भृशम् ॥ भवेत्सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च । मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिडिकास्तथा ॥ हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव जायते । चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफो गात्रेप्वरौचकः ॥ आक्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृते । स्पर्शमस्थ्यावृतेऽयुष्णं पीडनं चाभिनन्दति ॥ सूच्येव तु यतेऽस्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते । मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम् ॥ शूलं च पीड्यमानेन पाणिभ्यां लभते सुखम् । शुक्रावृतेऽतिवेगो वा नवा निष्कलताऽपि वा ॥ भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले । मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृते भवेत् ॥ पिण्डावृते विवन्धोऽधः स्वस्थाने परिक्रुन्ताति । ब्रज-त्याशु जरां त्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ॥ शकृत्पीडितमन्त्रेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत् । सर्व-धात्वावृते वायौ श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठरुक् ॥ विलोमो मारुतोऽस्वस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च । भ्रमो मूर्छा रुजा दाहः पित्तेन प्राण आवृते ॥ विदग्धेऽन्ने च वमनमुदानेऽपि भ्रमादयः । दाहोऽन्तररुजा भ्रंशो दाहो व्यानेन सर्वगः ॥ क्लमोऽङ्गचेष्टासङ्गश्च संतापः सहवेदनः । समान ऊष्मोपहृतिरतिस्वेदोऽरतिः सवृद् ॥ दाहश्च स्यादपाने तु मले हारिद्रवर्णता । रजो-ऽतिवृद्धिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु । श्लेष्मणा त्वावृते प्राणे सादस्तन्द्राऽरुचिर्वमिः ॥ ष्टीवन-क्ष्वत्थू-द्रार-निश्वासोच्छ्वास-संग्रहः ॥ उदाने गुरुगात्रत्वमरुचिर्वाक्-स्वर-ग्रहः । बल-वर्ण-प्रणाशश्च व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहः ॥ गुरुताऽङ्गेषु सर्वेषु स्थलितं च गतौ भृशम् । समानेऽ-तिहिमाङ्गत्वमत्वेदो मन्दवहिता ॥ अपाने सकफं मूत्रशकृतः स्यात्प्रवर्तनम् । इति द्वाविंश-तिविधं वायोरावरणं विदुः ॥ प्राणादयस्तथाऽन्योन्यामावृण्वन्ति यथाक्रमम् । सर्वेऽपि विंशति-विधं विद्यादावरणं च तत् ॥ निःश्वासोच्छ्वाससंबोधः प्रतिश्यायः शिरोग्रहः । हृद्रोगो मुख-शोषश्च प्राणेनोदान आवृते ॥ उदानेनावृते प्राणे वर्णौजोबलसंक्षयः । दिशाऽनया च विभ-जेत्सर्वमावरणं भिषक् ॥ ”—इति । देहे च एक एव वायुः पृथक्कायस्थाननामकर्मभेदात्पञ्चधा इत्याहुः । संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत् पृथगवस्थानानुपपत्तेः । ईशानोऽप्याह—यथैवैको देवदत्तः स्थानभेदाद् गृहस्थो वानप्रस्थः, कर्मभेदान्मालाकारः कुम्भकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति ॥ २२-२६ ॥

अथ आक्षेपकस्य वायोर् लक्षणम् ।

( Convulsions. )

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।

तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ २७ ॥

मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—यदा त्वित्यादि । सर्वा इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गाः । आक्षिपति=देहं हस्त्यारूढपुरुषस्येव गात्रं चालयति । मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणम् ।

‘बहिश्चर’ इति पाठान्तरे कोष्ठाद्वहिः शाखागतश्चरन्नाक्षेपकं करोतीत्यर्थः । चन्द्रिकाकारस्तु एतन्नानुमन्यते, स्थानगाम्भीर्यादाक्षेपकस्य तदारम्भक-  
वायोर्बहिश्चरत्वायुक्तत्वात् ॥ २७ ॥—

आ०—आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—यदेत्यादि । सर्वा इति उर्ध्वाधस्तिर्यग्धमनीः । मुहुर्मु-  
हुर्देहमाक्षिपाति, हस्त्यारूढस्येव गात्रं चालयति । मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणं, वारंवार संचरणशीलः ।  
‘बहिश्चरः’ इति पाठान्तरम् तत्र कोष्ठाद्वहिः शाखागतश्चरन् आक्षेपं करोतीत्यर्थः । आक्षेपणात्=  
चालनात् ॥ २७ ॥—

अथापतन्त्रकापतानकयोर्लक्षणानि ।

(Hysteria Minar.)

अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते ॥ २८ ॥

पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।

धनुर्वन्नमयेद्वात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥ २९ ॥

स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ।

कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ ३० ॥

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।

हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥ ३१ ॥

वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ।

( वा० नि० अ० १५ )

म०—क्रुद्ध इत्यारभ्य एके तदपतानकमित्यन्तेन । स्वैः कोपनैरि-  
त्यनेन रुक्षादिकुपितः स्वतन्त्रो नत्वावरणकुपित इतीशानः । निमीलि-  
ताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः । आक्षेपकश्चतुर्विधो भवति; दण्डापता-  
नकोऽभ्यन्तरायामो बहिरायामोऽभिधातजश्चेति । दृढबलेन यद्यपि आक्षेपकात्  
पूर्वमन्तरायाम-बहिरायामौ पठितौ, तथाऽप्याक्षेपकविशेषावेतौ मन्तव्यौ,  
सुश्रुतदर्शनात् ॥ २८-३१ ॥—

आ०—अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह—क्रुद्धः इत्यारभ्य एके तदपतानक-  
मित्यन्तेन । स्वैः कोपनैरित्यनेन रुक्षादिकुपितः स्वतन्त्रः, न त्वावरणकुपित इतीशानः । स्थानात्=  
पक्षाशयात् । ऊर्ध्वं शिरसि उद्दिश्य । पीडयन् रुजा । हृदयं ततः शिरः शङ्खौ च पीडयेत् ।

आक्षिपेत्=चालयेत् । मोहयेदिन्द्रियाणि । कष्टेनोच्छ्वासं मुञ्चति । निमीलको=निमीलिताक्षः ।  
स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः । कपोत इव कूजेत्, निःसंज्ञः=संज्ञारहितः, सोऽपतन्त्रकः दृष्टिं=  
रूपग्रहणयोग्यां, संस्तभ्याच्छाद्य, सज्ञां=ज्ञानविपरिणीं बुद्धिं, विनाश्य । वायुना मुक्ते हृदि  
सुखं लभते । वृते=मूर्च्छिते । तमेवापतन्त्रमेके त्वपतानमाहुः । तन्त्रान्तरे अपतन्त्रक-  
लक्षणं पठितम् । तद्यथा—“ कुट्टः स्वैः कोपनैर्वायुरपानो नाभिसंश्रयः । संदूष्य हृदयस्थं च  
मनो व्याकुलयेत्ततः ॥ पीडयन् हृदयं प्राप्य शिरः शङ्खौ च पीडयेत् । आक्षिप्य चाखिलं  
देहं मोहयेच्च पुनःपुनः ॥ स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्वेद-शैत्य-युतो वहिः । स निद्रां  
लभते नीतः प्राप्य चाशु प्रबुध्यते ॥ त्रसते कम्पते भूयो निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः । प्रलापो  
वक्त्रकटुता भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तृषा ॥ तस्मिन्पित्तान्विते स्वेदः पीताभः शीतकामिता ।  
शिरोऽङ्गगौरवं ग्लानिः शीतद्विद्वं मन्दवेदनः । कफान्विते च सदनं शैत्यं च हृदयप्रहः ॥  
वातोत्त्वणेऽङ्गस्फुरणं शिरो-मन्या-कटि-व्यथा । धैर्यादिविप्लवो दैन्यं विषयेष्वनवस्थितिः ”

अथ दण्डापतानकस्य लक्षणम् ।

( Hystembajor )

एषां लक्षणमाह—

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥ ३२ ॥

दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—कफान्वित इत्यादि । भृशं कफान्वित इत्यनेन पित्तमपि न  
वार्यत इत्याहुः । चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम् । यदाह—  
“पाणि-पाद-शिरः-पृष्ठ-श्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः । दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य  
दण्डकः सोऽनुपक्रमः” ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इति । तास्विति  
सर्वधमनीषु ॥ ३२ ॥—

आ०—तेषां लक्षणमाह—कफान्वित इत्यादि । तास्विति सर्वधमनीषु । भृशं कफान्वित इत्य-  
नेन पित्तमपि न वार्यत इत्याहुः । चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम् । यदाह—“पाणिपाद-  
शिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः । दण्डवत्स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ॥”—इति ॥ ३२ ॥—

अथ धनुर्वातस्य लक्षणम् ।

( Tetanus )

अन्तरायामबहिरायामयोः साधारणं रूपमाह—

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुस्तम्भसंज्ञकः ॥ ३३ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—धनुस्तुल्यमित्यादि ॥ ३३ ॥

आ०—अन्तरायामबहिरायामयोः साधारणरूपमाह—स्तम्भसामान्यः धनुस्तम्भः अस्यैव  
भेदः धनुस्तुल्यमिति । धनुस्तुल्यं क्रोडेन नम्रस्तिष्ठति दण्डापतानकस्तु शुष्ककाष्ठदण्डवत् ॥ ३३ ॥

अथाभ्यन्तरबाह्यायामयोर्लक्षणम् ।

( Emprosthotonis. )

विशेषलक्षणमाह—

अङ्गुली-गुल्फ-जठर-हृद्-वक्षो-गल-संश्रितः ।

स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥ ३४ ॥

विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।

अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥ ३५ ॥

तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुत मारुतो बली ।

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥

तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः-कट्युरु-भञ्जनम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०-अङ्गुलीत्यादि । वक्षो=बाहुद्वयान्तरम् । हृदयं=तदभ्यन्तरं द्रव्यङ्गुलम् । स्नायुप्रतानं=लतावदनेकप्ररोहं स्नायुजालम्, स्नायुरित्युपलक्षणम्, तेन सिरा-कण्डरयोरपि ग्रहणम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे-“महाहेतुर्वली वायुः सिराः सस्नायु-कण्डराः । मन्या-पृष्ठाऽऽश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः”-इत्यादि । अभ्यन्तरायामं=क्रोडे नतं, बाह्यायामं=पृष्ठे नतम् । अन्तरायाम-बहिरायामाभ्यां तन्त्रान्तरोक्तकुब्जस्यावरोधः । यदुक्तम्-“हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं कप्रशः सरक् । कुब्जो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्”-इति ॥ ३४-३६ ॥

आ०-विशेषलक्षणमाह-अङ्गुलीत्यादि । बली वायुः कुपितः गुल्फौ=चरणघुटिके, वक्षो=बाहुद्वयान्तरं, हृदयं=तदभ्यन्तरं द्रव्यङ्गुलं, स्नायुप्रतानं=लतावदनेकप्ररोहं स्नायुजालं, स्नायुरित्युपलक्षणम्, तेन सिराकण्डस्योरपि ग्रहणम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे-“महाहेतुर्वली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः” इत्यादि । ततः स्नायुप्रतानं धनुरिव नामयेत् । अभ्यन्तरायामं क्रोडे नतम् । हनुः=कण्ठ-कपोल-सन्धिः । बहिरायामलक्षणमाह-बाह्येत्यादि । पूर्ववद्बाह्य-स्नायुप्रतानं धनुर्वदानमेत् बाह्यायामं पृष्ठे नतं वक्षःकट्युरुभङ्गत्वात् । तमसाध्यमाहुः ३४-३६ ॥

अथाक्षेपकस्य लक्षणान्तरम् ।

उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह—

‘कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥ ३७ ॥

कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०-कफपित्तान्वित इत्यादि । एतच्च दण्डापतानकलक्षणमेव जेजटेन व्याख्यातम् । पित्तकफानुबन्धश्चात्र शैत्य-शोथ-गुरुत्वानीत्यादिनोक्तलक्षण

एव बोध्यः । चतुर्थमभिघातजमिति दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वम्, अभिघातजं=दण्डाद्यभिघातकुपितवातजम्, अस्य च लक्षणम्—“यदा तु धमनीः सर्वाः”—इत्यादिनोक्तसामान्यलक्षणं द्रष्टव्यम् ॥ ३७ ॥—

आ०—उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह—कफेत्यादि । कफपित्तानुबन्धश्चात्र शैत्यशोषगुरुत्वानीत्यादिनोक्तलक्षणो बोद्धव्यः, केवलः=स्वतन्त्र आक्षेपं करोति । अन्यं चतुर्थमभिघातजम् । दण्डाभिघातकुपितवातजातस्य तु लक्षणं ‘यदा तु धमनीः सर्वाः’ इत्यादिना ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

अथासाध्यापतानकस्य लक्षणम् ।

असाध्यत्वमाह—

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ॥ ३८ ॥

अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—गर्भपातेत्यादि । गदाधरस्त्वाह—कफपित्तान्वित इत्यादिना निमित्तभेदेनाक्षेपकश्चतुर्धा इति, तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन, द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातेनेति । अत्र पक्षे गर्भपात-शोणितातिस्रावजौ केवलवातेन ग्राह्यौ, एतेषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोध्यम्, आक्षेपकविशेषत्वात् ॥ ३८ ॥—

आ०—असाध्यमाह—गर्भेत्यादि । अपतानकमुपलक्षणं, तेन चतुष्टयमपि गृह्यते । ‘कफपित्तान्वितः’ इत्यादिनिमित्तभेदेन चतुर्थं आक्षेपक इति गदाधरः । तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातजेनेति । अत्र गर्भपातशोणितातिस्रावजौ केवलवातेन ग्राह्याविति । एषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं ज्ञेयं, आक्षेपकविशेषात् ॥ ३८ ॥—

अथ पक्षवधस्य लक्षणानि ।

पक्षवध=Hemiplegia.

सर्वाङ्गरोग=General Paralysis.

पक्षवधमाह—

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥ ३९ ॥

पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन् ।

कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥ ४० ॥



एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।

सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥ ४१ ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—गृहीत्वेत्यादि । अर्धमिति अर्धमर्यादया अर्धनारीश्वरवत् । पक्षं=बाहुकक्षपाश्वादिभागम्, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वा । सन्धिवन्धान् कफसहितस्नायुभिर्वृतान् मोक्षयन्निति गदाधरः । अत एव सिराः स्नायूर्विशोष्येत्युक्तम् । अर्धकाय इत्युक्तेऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत् सर्वाङ्गव्याप्यर्थम् । अकर्मण्य=ईषच्चेष्टाक्षमः । विचेतनोऽचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः । तद्वच्चेत्यनेन सिराः स्नायूर्विशोष्य चेत्यादिसंप्राप्तिं लक्षणं चातिदिशति ॥ ३९-४१ ॥

आ०—पक्षवधमाह—गृहीत्वेत्यादि । वायुस्तनोः=शरीरस्यार्धं गृहीत्वा सिराः स्नायूर्विशोष्य=शोषयित्वा अन्यतरं पक्षं हन्ति=निरीहं करोति अर्धमिति अर्धमर्यादया अर्धनारीश्वरवत् । पक्षमिति=शरीरार्धं, बाहुकक्षपाश्वादिभागम्, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वेति । किं कुर्वन्? सन्धीनां बन्धान् सन्धिवन्धान् कफसहितस्नायुभिर्वृतान् विमोक्षयन्निति गदाधरः अतः सिराः स्नायूर्विशोष्येत्युक्तम् । तस्य=तथाविधस्य पुंसः कृत्स्नो=निःशेष अर्धकायोऽकर्मण्यो विचेतनः स्यात् । अर्धकाय इत्युक्तेऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत्सर्वाङ्गव्याप्यर्थम् । अकर्मण्य=ईषच्चेष्टाक्षमः । विचेतनोऽल्पचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः । केचिदाचार्यास्तं व्याधिमैकाङ्गरोगं विदुः, अन्ये पक्षवधं विदुः । सर्वकायाश्रिते समस्तदेहगते वाते तद्वत्सर्वाङ्गरोगमित्याहुः । तद्वच्चेत्यनेन 'सिराः स्नायूर्विशोष्य च' इत्यादिसंप्राप्तिं लक्षणं चातिदिशति ॥ ३९-४१ ॥

अथ पक्षाघातस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

तस्यैव साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह—

दाह-सन्ताप-मूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।

शैत्य-शोथ-गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥ ४२ ॥

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः

साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥ ४३ ॥

म०—दाहेत्यादि । एतच्च लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यम्, अत एव सामान्येन वायाविति कृतवान् । शुद्धः=केवलः । अन्येनेति कफेन पित्तेन वा । क्षयहेतुकमिति धातुक्षयकुपितशुद्धवातजमिति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

आ०—तस्यैव साध्यासाध्यत्वज्ञानार्थमाह—दाहेत्यादि । एवं लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यम् । पक्षाघातस्य साध्यासाध्यत्वं दर्शयन्नाह—शुद्धेत्यादि । शुद्धः केवलः, कृच्छ्रसाध्यं=कष्टसाध्यम् अन्येन संसृष्टं=कफेन पित्तेन वा युक्तम्, क्षयहेतुकं धातुक्षयजमित्यर्थः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अर्धादितरोगस्य लक्षणम् ।

( Facial Paralysis )

अर्दितमाह—

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा ।  
हसतो जृम्भतो वापि भाराद्विषमशायिनः ॥ ४४ ॥  
शिरो-नासौष्ठ-चिबुक-ललाटेक्षण-सन्धि-गः ।  
अर्दयत्यनिलो वक्रमर्दितं जनयत्यतः ।  
वक्रीभवति वक्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥ ४५ ॥  
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।  
ग्रीवा-चिबुक-दन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥ ४६ ॥  
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।  
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्या-हनु-ग्रहः ॥)  
तमर्दितमिति प्रादुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—उच्चैरित्यादि । अर्दयति=पीडयति । अपवर्तते=वक्रोभवति । चलति=कम्पते । वाक्सङ्गोऽनिर्गमो वचनस्य । आदिशब्देन भ्रू-गण्डादीनां ग्रहणम् । वैकृतं=वेदनास्फुरणवक्रत्वादिकम् । ग्रीवेत्यादि, यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् ग्रीवादीनां वेदनेति योज्यम् । तन्त्रान्तरे तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्यर्दितः पठितः । यदाह दृढबलः—“अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्” ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इति । ननु, यद्येवं तदा अर्दितार्धाङ्गवातयोः को भेदः ? उच्यते, वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धाङ्गवाते तु सर्वदैवेति भेदः, अथवा यथोक्तः सर्वलिङ्गोऽर्दितस्तद्विपरीतस्त्वर्धाङ्गवाते इत्याहुः । सुश्रुतेन तु मुखमात्र एवार्दितः पठितः, अर्धशरीरस्यार्धाङ्गवातेन लब्धत्वात् । स एवात्र माधवेन लिखितः ॥ ४४-४६ ॥—

आ०—अर्दितस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—उच्चैरित्यादि । उच्चैर्भाषणं, कठिनानि पूर-फलादीनि खादतः, विषमाच्छयनात्-ग्रीवादिवैपरीत्यशयनात्, अर्दयति पीडयति, ग्रीवा-व्याप्य अपवर्तते वक्रीभवति, चलति कम्पते, वाक्सङ्गो वचनस्यानिर्गमः । आदिशब्देन गण्ड-नासादीनां ग्रहणं, वैकृतं वेदनास्फुरणवक्रत्वादिकम् । ग्रीवेत्यादि यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन्पार्श्वे ग्रीवा-

दीनां वेदनेति बोध्यम् । चिवुकं=मुखकुहरस्यार्धभागः । तन्त्रान्तरे—मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्य-  
र्दितः पठितः । यदाह दृढबलः—“अर्धे तस्मिन्मुत्रार्धे वा केवले स्यात्तद्वर्दितम्”—इति॥४४--४६॥—

अथार्दितस्यासाध्यलक्षणम् ।

तस्यासाध्यलक्षणमाह—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥

न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—क्षीणस्येत्यादि । अनिमिषाक्षस्य=निमेषासमर्थचक्षुषः । प्रसक्ता-  
व्यक्तभाषिण इति प्रसक्तं=प्रकर्षेण सक्तम्=अप्रवृत्तम्, अव्यक्तं=प्रपीडितवर्णपदं  
भाषितुं शीलं यस्य स तथा । अन्ये तु प्रसक्तं=निरन्तरमाहुः, तन्न, चरके-  
दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक्” ( च. चि. स्था. अ. २८ )--  
इति वचनात् । त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयम्, अथ वा त्रयाणां=मुख-नासा-  
चक्षुषां वर्षः=स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ॥ ४७ ॥—

आ०—तस्यासाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि । अनिमिषाक्षस्य निमेषासमर्थचक्षुषः । प्रसक्तेति  
प्रकर्षेण सक्तं लग्नमप्रवृत्तं, कण्ठताल्वादिवर्णोच्चारणस्थानेषु, अव्यक्तमस्फुटं पीडितवर्णपदं भाषितुं  
शीलं यस्य स तथा । अन्ये तु प्रसक्तं निरन्तरमाहुः, तन्न, चरके—“काले सज्जति चास्य वाक्” इति  
वचनात् । त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयम्, अथवा त्रयाणां मुखनासिकाचक्षुषां वर्षः स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ।  
वेपनस्य=कम्पनशीलस्य ॥ ४७ ॥—

अथाक्षेपकादिवातरोगाणां वेगित्वम् ।

आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां वेगित्वमाह—

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वक्षेपकादिषु ॥ ४८ ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—गत इत्यादि । स्वास्थ्यं=पीडालाघवं, भारापगमे सुखित्वव्यपदेशवत्

आ०—आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां तावद्वेगित्वमाह—गत इत्यादि । भारापगमे सुखित्वव्यप-  
देशवत् ॥ ४८ ॥

अथ हनुग्रहस्य लक्षणम् ।

( Dislocation of the Lower jaw. )

हनुग्रहमाह—

जिह्वानिलेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।

कुपितो हनुमूलस्थः संसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥ ४९ ॥

[ वातव्याधिनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् । ( २८७ )

करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।

हनुग्रहः स तेन स्यात् कृच्छ्राच्चर्वण-भाषणम् ॥ ५० ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—जिह्वेत्यादि । हनुमूलस्थः=कपोलमूलस्थः । हनुं संसयित्वाऽधः कृत्वा विवृतास्यत्वम्=आस्यविवृतिम्, संवृतास्यताम्=आस्यसंवृतिं, च, वायोरनियतकारित्वात् ॥ ४९ ॥ ५० ॥

आ०—हनुस्तम्भमाह—जिह्वेत्यादि । जिह्वानिलेखनात्=जिह्वाघर्षणात् दन्तकाष्ठादिना, शुष्काणां=चणकादीनां भक्षणात् । अभिघाततः=ताडनात् । हनुमूलस्थः=कपोलमूलस्थः । हनुं संसयित्वा=अधः कृत्वा, विवृतास्यत्वं=प्रसारितवदनत्वं, संवृतास्यत्वं=संकुचितमुखताम् । अत्र संवृतिविवृतिर्वा वायोरनियतकारित्वात् । । स एव वातः कुपित इत्यर्थः । तेन कृच्छ्राच्चर्वणं भाषणं च स्यात् ॥ ४९ ॥ ५० ॥

अथ मन्यास्तम्भस्य लक्षणम् ।

( Stiffness of the neck, Torticollis, or, Wry neck. )

मन्यास्तम्भमाह—

दिवास्वप्नाऽऽसनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।

मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥ ५१ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—दिवास्वप्नेत्यादि । स एवेति वातः ॥ ५१ ॥

आ०—मन्यास्तम्भमाह—दिवेत्यादि । आसनमुपवेशः, स्थानमूर्ध्वभवनम्, विवृतोर्ध्वनिरीक्षणं वक्रमार्गावलोकनम् । स एवेति वातो दिवास्वप्नादिभिः कुपितः सन् श्लेष्मणाऽऽवृतो मन्यास्तम्भं प्रकुरुते, मन्यास्तम्भं केचिदपतानकपूर्वरूपं मन्यन्ते ॥ ५१ ॥

अथ जिह्वास्तम्भस्य लक्षणम् ।

( Paralysis of the Tounge, Glosal Palsy )

जिह्वास्तम्भमाह—

वाग्वाहिनी-सिरा-संस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।

जिह्वास्तम्भः स तेनान्न-पान-वाक्येष्वनीशता ॥ ५२ ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—वागित्यादि । वाग्वाहिनीसिरासंस्थ इति वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योज्यम्, समस्तपक्षे “पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु—” इत्यनेन

पुंवद्भावप्राप्तेः । अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति अन्नपानाभ्यवहारवचनेषु असामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

आ०—जिह्वास्तम्भमाह—वागित्यादि । वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योज्यम् । अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति अन्नपानाभ्यवहारवचनेष्वसामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

अथ सिराग्रहस्य लक्षणम् ।

सिराग्रहमाह—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः ।

रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ॥ ५३ ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—रक्तमित्यादि । मूर्धधरा इति ग्रीवागताः, तासां रूक्षत्वं वेदनावत्त्वं कृष्णत्वं च कुर्यात् । सोऽसाध्य इति स्वरूपेणैव, काकणकुष्ठवत् । 'शिरोग्रह' इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् शिरोग्रह इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव ॥ ५३ ॥

आ०—सिराग्रहमाह—रूक्षाः सवेदनाः कृष्णा इति रूक्षकृष्णवेदनावत्त्वं कुर्यात् । सोऽसाध्य इति स्वरूपेण हस्तगतद्रव्यवत् । 'शिरोग्रहः' इति पाठान्तरं, तत्र शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात्, शिरोग्रहणलक्षणं तु तदेव ॥ ५३ ॥

अथ गृध्रसीरोगस्य लक्षणम् । (Sciatica)

गृध्रसीमाह—

स्फिक्पूर्वा कटि-पृष्ठोरु-जानु-जङ्घा-पदं क्रमात् ।

गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥ ५४ ॥

वाताद्, वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता ।

( च चि० अ० ९८ )

म०—स्फिक्पूर्वेत्यादि । स्फिक् पूर्वा प्रथमतो ग्राह्या स्तम्भरुक्तोदैर्यस्याः सा स्फिक्पूर्वा । ईशानस्तु पूर्वा—प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति, एषा च व्याख्या स्फिक्शब्दस्य नपुंसकत्वेन 'पूर्वा स्फिक् कटीपृष्ठ'—इत्यादि पाठेन वा उपपद्यते नान्यथा । 'स्फिक्पूर्व' इति पाठान्तरं जानु-जङ्घा-पदमित्यनेन योज्यम् । क्रमादिति न युगपत् । वातादिति छेदः । वातकफारब्धा गृध्रसी, सा उक्तवातलक्षणयुक्ताऽपि गौरवादियुक्ता भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥ ५४ ॥

आ०—गृध्रसीमाह—स्फिगित्यादि । गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैः क्रमात् कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घा-पदं गृह्णाति, तथा मुहुः स्पन्दते सा वातजा ज्ञेया । कथंभूता गृध्रसी ? स्फिक्पूर्वा प्रथमतो

ग्राह्या स्तम्भत्कोर्द्वयस्याः सा स्निग्धपूर्वा । इद्यानस्तु पूर्वा प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति । एषा च व्याख्या स्निग्धशब्दस्य नपुंसकत्वेन, ' पूर्वा स्निग्ध सकटीपृष्ठ—' इत्यादिपाठेन बोधयते, नान्यथा, ' स्निग्धपूर्वम् ' इति पाठान्तरं जानुजङ्घापदमित्यनेन योज्यम् । क्रमादिति न युग्यम् । गृध्रसी रङ्घिणीति लोके । वातादिति छेदः, वातकफारब्धा गृध्रसी, सा प्रोक्ता वातलक्षणयुक्ता तन्त्रागौरवादि-युक्ताऽपि भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥ ५४ ॥—

अथ गृध्रस्या विशेषलक्षणानि ।

गृध्रस्याः पुनरपि विशेषलक्षणमाह—

वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता ( ? ) ।

जानु-कट्यूरु-सन्धीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥

वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम् ।

तन्द्रामुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥

आ०—वातजायामित्यादि । सुगमम् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

अथ विश्वाचीरोगस्य लक्षणम् ।

( Arm Palsy )

विश्वाचीमाह—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥ ५७ ॥

बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—तलमित्यादि । तलं=हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्र उपरिवचनः, यथा—भूतलमिति गयदासः । तेनायमर्थः—बाह्वोः पृष्ठं बाहुपृष्ठं तत आरभ्य हस्ततलं लक्ष्यकृत्याङ्गुलीनां याः कण्डरास्ताः संदूष्य बाह्वोः कर्मक्षयकरी सा विश्वाची बाह्वोः कर्म ग्रहणाकुञ्चनादि, द्वित्वं चात्र संभवपरं तेनै-कबाहावपि भवति वातरक्तवत् । विश्वाची चेति चकारेण गृध्रसी-विश्वाच्याः खल्लीसंज्ञां दर्शयति, तयोरपि करमूलावमोटनकारित्वात् । यदुक्तं हारीते—“विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता”—इति गयदासः । चक्र-स्त्वाह—चरके “खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी” (च. चि. स्था. अ. २८) इत्यनेन विश्वाच्याः पृथगेव खल्ली पठिता, सुश्रुतेन तु खल्ली न पठितैव; नहि तेन तन्त्रान्तरोक्तसर्वाविकाराः पठ्यन्ते, चरकोक्तपरस्परवातावरणलक्षणभेव

पठितम्, हारीतेन तु तीव्ररुजायोगात् गृध्रसी-विश्वाच्योः खल्लीत्वं पठितम्, भवति हि धर्मान्तरयोगात् कस्यचिद्विकारस्य रोगान्तरत्वम्, यथा—अष्टी-  
लैव प्रत्यष्टीला, अश्मर्येव शर्करा, पाण्डुरोग एव कामलेत्यादि ॥ ५७ ॥—

आ०—विश्वाचीमाह—लमित्यादि । कण्डरा=महास्नायुः, तलं हस्तस्योपरिभागः, तलश-  
ब्दोऽत्रोपरिवचनः, यथा—भूतलमिति । तेनायमर्थः—बाहोः पृष्ठं बाहुपृष्ठं, तदारभ्य हस्ततलं लक्षी-  
कृत्याङ्गुलीनां याः कण्डराः ताः संदूष्य बाहोः कर्मक्षयकरी या सा विश्वाची । बाहोः कर्म=आकु-  
ञ्चनग्रहणादि; द्वित्वं चात्र सम्भवपरं, तेनैकवाहावपि भवति, वातरक्तवत् । विश्वाची चेति चका-  
रेण गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीसंज्ञा दर्शिता, तयोरपि करमूलवमोटकत्वात् ॥ ५७ ॥

अथ क्रोष्ठकशीर्षस्य लक्षणम् ।

( Synovitis of the Knee joints )

क्रोष्ठकशीर्षमाह—

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥ ५८ ॥

ज्ञेयः क्रोष्ठकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्ठकशीर्षवत् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—वातेत्यादि । वातशोणितज इति वातरक्ताख्यविकारजः, चिकित्सा-  
भेदार्थं पृथक् पठित इति गयदासः । वातशोणिताभ्यां जात इति जेज्जटः ।  
दृश्यते ह्ययं वातरक्तव्यतिरेकेणापि, जानुदेशनियतत्वेन विशिष्टलक्षणत्वेन चैतर-  
वातरक्तशोथाद्भेद इति क्रोष्ठकशीर्षवत्=गृगालमस्तकवत् स्थूलः ॥ ५८ ॥—

आ०—क्रोष्ठकशीर्षमाह—वातेत्यादि । वातशोणिताभ्यां जातो वातशोणितजः, न पुनर्वा-  
तरक्तेन व्याधिना जनितः, जानु=ऊरुजङ्घयोः सन्धिः, स्थौल्येन आकृत्या च क्रोष्ठशी-  
र्षवत् ॥ ५८ ॥—

अथ खाज्ज्य-पाङ्गुल्योर्लक्षणम् । ( paraplegia )

खज्जमाह—

वायुः कट्याश्रितः सक्थनः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥

खज्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थनोर्द्रयोर्वधात् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—वायुरित्यादि । सक्थनः=ऊर्ध्वजङ्घयाः, कण्डरां=महास्नायुम्, आक्षि-  
पेत्=ईषत् क्षिपेत्, किञ्चिद्भ्रतिमत्त्वादिति गयदासः । सक्थनोरिति द्विवचने-



नैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति,—सक्थिद्वयस्यैव वधात् पङ्गुः  
एकसक्थिवधात् खञ्ज इति । वधश्चात्र गमनादिक्रियानाशः ॥ ५९ ॥

आ०—खञ्जपङ्गुवातावाह—वायुरित्यादि । यदा कट्यां स्थितो वायुः सक्थः ऊर्ध्वज-  
ङ्घायाः कण्डरां महास्नायुमाक्षिपेत् ईषत् क्षिपेत् । किञ्चिद्वतिमत्त्वादिति गयदासः, तदा जन्तुः  
खञ्जो भवति । पङ्गुः, सक्थोर्द्वयोर्वधादिति सर्वथा गतिविधातान् पङ्गुरित्यर्थः । सक्थो-  
रिति द्विवचनेनैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति—सक्थिद्वयस्यैव वधात्पङ्गुः, एकसक्थि-  
वधात्खञ्ज इति । वधश्चात्र गमनक्रियानाशः ॥ ५९ ॥—

अथ कलायखञ्जस्य लक्षणम् । ( Spastic Paraplegia )

खञ्जविशेषमाह—

प्रकामन् वेपते यस्तु खञ्जनिव च गच्छति ॥ ६० ॥

कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—प्रकामन्नित्यादि । प्राकमन्निति गमनमारभमाणो वेपते । प्रशब्दोऽ-  
यमादिकर्मणि । खञ्जनिव गच्छति=विकलयन्निव गच्छति, गमनारम्भेन वेपते  
तेन खञ्जादस्य भेदः । मुक्तसन्धिप्रबन्धनमिति शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम् ।  
कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढा संज्ञा, अयमेवान्यत्र खञ्जवात इत्युक्तः ॥ ६० ॥

आ०—कलायखञ्जमाह—प्रकामन्नित्यादि । प्रकामन्=पादविक्षेपं कुर्वन्, वेपते=कम्पते  
खञ्जनिवेत्यादि वैकल्यं कुर्वन्निव गच्छति । मुक्तसन्धिप्रबन्धनं=शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम् ।  
कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढिः संज्ञा ॥ ६० ॥

अथ वातकण्टकरोगस्य लक्षणम् ।

वातकण्टकमाह—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥ ६१ ॥

वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।

( वा० नि० अ० १५ )

म०—रुगित्यादि । विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फे  
वेदनां जनयन् वातकण्टकमित्याहुः, अयमेवान्यत्र “खुडुकावात” इत्युक्तः ॥ ६१ ॥

आ०—वातकण्टकमाह—रुगित्यादि । यदा विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फवे-  
दनां जनयति, तं वातकण्टकमित्याहुः । ‘अयमेवान्यत्र खुडुकावात’ इत्युक्तः ॥ ६१ ॥

अथ पाददाहस्य लक्षणम् ।  
( Burning of the feet )

पाददाहमाह--

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ६२ ॥  
विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—पादयोरित्यादि । विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति । वैवर्ण्यादेरभावाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥ ६२ ॥—

आ०—पाददाहमाह—पादयोरित्यादि । पादयोः विशेषतश्चङ्क्रमतः = विशेषेण गच्छतः, विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति, वैवर्ण्यादेरभावाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥ ६२ ॥

अथ पादहर्षस्य लक्षणम् । ( Anaesthesia )

पादहर्षमाह—

हृष्येते चरणौ यस्य भवतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥  
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—हृष्येते इत्यादि । हृष्येते=हर्षयुक्तौ भवतः, हर्षश्च रोमाश्च-प्रायोऽन्तःशीतो क्षिणिक्षिणिवत् वेदनाविशेष इत्याहुः, क्षिणिक्षिणि तु न चिरानुबन्धिनी केवलवातजेति भेदः ॥ ६३ ॥

आ०—पादहर्षमाह—हृष्येते इत्यादि । हृष्येते हर्षयुक्तौ भवतः, हर्षश्च रोमाश्चप्रायोऽन्तःशीतो क्षिणिक्षिणिवत् वेदनाविशेषः ॥ ६३ ॥

अथ अंशशोषस्य लक्षणम् ।

अर्धार्धश्लोकेनांसशोषाववाहुकयोर्लक्षणमाह—

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥ ६४ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—अंसेत्यादि । अंसेत्यादिना श्लोकार्धेनांसशोषः केवल वातज उच्यते । अंसबन्धनकारकः श्लेष्मा अंसबन्धनः, एतदनन्तरं 'अंसशोषं जनयेत्' इति शेष इति कार्तिकः ॥ ६४ ॥

आ०—अंसेत्यादि । अंसशब्देनांससमीपोपलक्षितदेशोऽंसदेशः । अंसो बाहुशिरः, तत्र स्थितो व्यवस्थितः । अंसबन्धनमिति अंसबन्धनकारकः श्लेष्मा अंसबन्धनः, तत्रांसबन्धनं श्लेष्माणं शोषयित्वा स तदनन्तरं अंसशोषं जनयेदिति वाक्यशेष इति कार्तिकः ॥ ६४ ॥

अथ अववाहुकस्य लक्षणम् ।

अववाहुकमाह—

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदववाहुकम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०—सिराश्चेत्यादिना । तत्रस्थोऽसदेशस्थः, अयं वात-कफजः । अन्ये तु मिलित्वा अववाहुकलक्षणमाहुः; तन्न, यतः सुश्रुतेनोक्तम्,—“अंसशोषा-  
ववाहुकयोर्बाहुमध्ये सिराव्यधः” ( सु. शा. स्था. अ. ८ )—इति । एतदनन्तरं  
सुश्रुतेन वार्धिर्यं पठितम्, “यदा शब्दवहं वायुः ( सु. नि. स्था. अ. १ )”—  
इत्यादिना, माधवेन तु प्रकरणानुरोधं मन्यमानेन कर्णरोग एव तत् पठितं,  
किंतु सुश्रुतेन वातव्याधौ वार्धिर्यं पठित्वाऽपि वार्धिर्य-कर्णशूलौ शालाक्येऽपि  
पठितौ, पुनरुक्तमिति चेत्, न, संप्राप्तिभेदभिन्नत्वात्; वातव्याधौ शब्दवहमित्य-  
नेन कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्ननभोदेश उक्तः; शालाक्ये च शब्दवहाः सिरा इत्यु-  
क्तम् । माधवेन तु कर्णरोगे शब्दाश्रवणत्वाविशेषादेतदेव तत्र पठितमित्य-  
विरोधः—

आ०—सिराश्चेत्यादिना अववाहुकः । तत्रस्थोऽसदेशस्थः, सिराः आकुञ्च्याववाहुकं  
जनयेत् । अयं च कफवातजः । अत्रांसशोषमववाहुकमिति रोगद्वयमुक्तवान्, अन्ये तु मिलित्वा-  
ऽववाहुकलक्षणमाहुः, तन्न; यतः सुश्रुतेन रोगद्वयं पृथक् पठितम् । “अंसशोषाववाहुकयोर्बाहुमध्ये  
सिराव्यधः”—इति ॥—

अथ मूकादीनां लक्षणानि ।

( मूकत्वम्=Aphonia )

मूकादींस्त्रीनाह—

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः ॥ ६५ ॥

नरान् करोत्यक्रियकान् मूक-मिन्मिन-गद्गदान् ।

( सु० नि० अ० १ )

म० आवृत्येत्यादि । अक्रियकान्=अवचनक्रियकान्; नञयमभावे ईषदर्थं  
च । आद्यो मूकोऽवचनः, द्वितीयो मिन्मिनः=सानुनासिकसर्ववचनः, तृतीयो  
गद्गदो=लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी । एषां च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षा-  
दिभिरदृष्टवशाद्भा भेद इत्युन्नेयम् ॥ ६५ ॥—

आ०—मूकादीन् जिह्वागतान् वातरोगांस्त्रीनाह—आवृत्येत्यादि । वायुः सकफः कुपितः सन्, शब्दवाहिनीर्धमनीरावृत्यावरुध्य नरान् अक्रियकान्=अवचनक्रियकान् करोति । अत्र नञ् अभावे ईषदर्थे च । मूकोऽवचनः, मिन्मिनः, सानुनासिकसर्ववचनः, गद्गदो लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी । एषां तुल्यहेत्वभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षादिभिरदृष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम् ॥ ६५ ॥—

अथ तूनीरोगस्य लक्षणम् ।

तूनीमाह—

अधो या वेदना याति वचोमूत्राशयोत्थिता ॥ ६६ ॥

भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः ।

( सु० नि० अ० १ )

म० अध इत्यादि । अध इति गुदोपस्थम् । वेदना=शूलम् । वचोमूत्राशयोत्थिता=पक्काशयमूत्राशयोत्थिता, पक्काशय-मूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता । उपस्थं=स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम् । नामतः=प्रसिद्धितः ॥ ६६ ॥—

आ०—तूनीवातमाह—अध इत्यादि । या वेदना=शूलम् अध इति=गुदोपस्थं याति नामतः=प्रसिद्धितः सा तूनी नाम, वचोमूत्राशयोत्थिता=पक्काशयमूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता, भिन्दतीव गुदोपस्थमिति भेदं कुर्वतीव गुदोपस्थस्येत्यर्थः । उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम् ॥ ६६ ॥

अथ प्रतितूनीरोगस्य लक्षणम् ।

प्रतितूनीमाह—

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ॥ ६७ ॥

वेगैः पक्काशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते ।

( सु० नि० अ० १ )

म० गुदेत्यादि । प्रतिलोममित्यूर्ध्वम् । वेगैर्वातकृतोद्गमैः । सेत्यनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते ॥ ६७ ॥—

आ०—प्रतितूनीमाह—गुदेत्यादि । गुदोपस्थोत्थिता सैव वेदना प्रतिलोममित्यूर्ध्वं प्रधाविता सती वेगैर्वातकृतोद्गमैर्मुहुर्मुहुः स्वभावोपशमोपलक्षितैः पक्काशयं याति, सा प्रतितूनीत्युच्यते, सत्यनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते ॥ ६७ ॥

अथाध्मानरोगस्य लक्षणम् ।  
( Tympanitis )

आध्मानमाह—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥ ६८ ॥  
आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम् ॥  
( सु० नि० अ० १ )

म०—साटोपमित्यादि । साटोपमिति आटोपश्चलचलनामिति गयदासः; गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः । आध्मातं=वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम् । उदरमिति पक्काशयः, प्रत्याध्मानस्य आमाशयसंभवत्वात् । घोरमिति कष्टप्रदम् ६८

आ०—आध्मानलक्षणमाह—साटोपमित्यादि । साटोपादिलक्षणयुक्तमुदरमाध्मानं जानीयात्; साटोपमिति आटोपश्चलनं तेन सह वर्तत इति साटोपमिति गयदासः; गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः । आध्मानमिति आध्मातं वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम् । उदरमिति पक्काशयः, प्रत्याध्मानस्यामाशयसंभवत्वात् । घोरमिति कष्टप्रदम् ।

अथ प्रत्याध्मानस्य लक्षणम् ।

आमाशयसमुत्थत्वेन प्रत्यासत्त्या पार्श्वहृदययोरपि वेदनाशङ्कानिरासार्थमाह—

विमुक्त-पार्श्व-हृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥ ६९ ॥  
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ।  
( सु० नि० अ० १ )

म०—विमुक्तेत्यादि । तदेवेत्यनेन साटोपादित्वमतिदिशति । कफव्याकुलितानिलं=कफावृतवातम् ॥ ६९ ॥—

आ०—प्रत्याध्मानमाह—विमुक्तेत्यादि । विमुक्तं पार्श्वहृदयं येन तत्तथा । कफाकुलितं वातमित्यर्थः ॥ ६९ ॥—

अथ वाताष्ठीलारोगस्य लक्षणम् ।

अष्ठीलामाह—

नाभेरधस्तात् संजातः संचारी यदि वाऽचलः ॥ ७० ॥  
अष्ठीलावद् घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः ।  
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्माग्वरोधिनीम् ॥ ७१ ॥  
( सु० नि० अ० १ )

म०—नाभेरित्यादि । अष्ठीला=उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुवादी कार्तिकः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौहभाण्डी इति

गयदासः । ऊर्ध्वमायत=उपरिदीर्घः । उन्नतः=तिर्यगुन्नतः । वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीलेति स्वरूपपरम्, व्यावृत्त्यभावात् । बहिर्माग्वरोधिनीं वात-  
मूत्रपुरीषावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥

आ०—अष्ठीलामाह—नाभेरित्यादि । अष्ठीलावत् अष्ठीलासदृशं ग्रन्थि वाताष्ठीलां विजा-  
नीयात् । अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाण इति जेज्जटानुवादी कार्तिकः । कर्मकाराणां  
वर्तुला दीर्घा लौहभाण्डी इति गयदासः । धेनं=संहतावयवम् । ऊर्ध्वमायतमुपरिदीर्घम् । उन्नतं  
तिर्यगुन्नतम् । वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीला इति स्वरूपपरम्, व्यावृत्त्यभावात् । बहिर्माग्विरोधिनीम्=  
वातमूत्रपुरीषावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥

अथ प्रत्यष्ठीलाया लक्षणम् ।

एतामेव रुजोपेतां वात-विण्-मूत्र-रोधिनीम् ।

प्रत्यष्ठीलामिति वदेजठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ७२ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—एतामित्यादि सैव जठरे तिर्यगुत्थिता तिर्यगायता प्रत्यष्ठीलेति भेदः ।  
वात-विण्-मूत्र-रोधिनीमिति विशेषपरम् ॥—७२ ॥

आ०—प्रत्यष्ठीलामाह—एतामित्यादि । प्रत्यष्ठीलेति भेदः । वातमूत्रपुरीषावरोधिनीमिति  
विशेषपरम् ॥ ७२ ॥

अथ मूत्रावरोधस्य लक्षणम् ।

अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि वातविकृतिं मूत्ररोधिनीमाह—

मारुतेऽनुगुणे बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।

विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ॥ ७३ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—मारुत इत्यादि । अनुगुणेऽनुलोमे प्रतिलोमे मारुत इति संबन्धः ।  
विकारा=अश्मरीमूत्रकृच्छ्रादयः ॥ ७३ ॥

आ०—अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि मूत्ररोधिनीं वातविकृतिमाह—मारुत इत्यादि । अनुगुणेऽनुलोमे  
मारुत इत्यर्थः । विकाराः अश्मरीमूत्रकृच्छ्रवातकृताष्ठीलाकृच्छ्रादयः ॥ ७३ ॥

१ एतच्च 'अष्ठीलावन्नं ग्रन्थिमूर्ध्वमायतमुन्नतम्' इति पाठाभिप्रायेण ।

२ 'एतच्च बहिर्माग्विरोधिनीम्' इति पाठाभिप्रायेण ।

अथ वेपथुरोगस्य लक्षणम् ।  
( Paralysis Agitans )

वेपथुवातविकारमाह—

**सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।**

म०—सर्वेत्यादि । शिरसः कम्प इति संबन्धः, शिर इत्यवयवोपलक्षणं, तेन हस्तादेरपि कम्पो वेपथुरित्यर्थः ॥—

आ०—सर्वाङ्गकम्पवातमाह—सर्वाङ्गेत्यादि । सर्वाङ्गस्य शिरसश्च कम्प इति सम्बन्धः, शिरस इत्यवयवोपलक्षणं, तेन हस्तपादयोरपि कम्पो वेपथुरिति ॥ १ ॥—

अथ खल्लीरोगस्य लक्षणम् ।

**खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥ ७४ ॥**

म०—खल्लीत्यादि । खल्ली सिरावमोटन इति लोके । “अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च । करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातं प्रचक्षते” ॥ ७४ ॥

आ०—खल्लीमाह खल्लीत्यादि । मोटिनीति परिवर्तनशीला ॥ ७४ ॥

अथोर्ध्ववातस्यलक्षणम् ।

**अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा ।**

**करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥ ७५ ॥**

आ०—ऊर्ध्ववातमाह—अध इति ॥ ७५ ॥

अथानुक्तानां वातरोगाणां सूचनम् ।

अनुक्तवातरोगसंग्रहार्थमाह—

**स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत् ।**

**सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥**

म०—स्थानेत्यादि । स्थानानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—कुक्षिशूलं, नखभेद इत्यादि । नामानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—शूलमित्युक्ते कीलनिखातवद्वेदनाविशेष एवोच्यते तथा भेद-तोदादिभिरपि पीडाविशेष एव गम्यते ॥ ७६ ॥

—आ० अनुक्तवातरोगसंग्रहार्थमाह—स्थानेत्यादि । स्थानानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—कुक्षिशूलं, पृष्ठ-शूलं, नखभेदः । नामानुरूपैर्यथा—कुक्षिशूलमित्युक्ते कीलनिखातवद्वेदनाविशेष एवोच्यते, तथा



तोदभेद इत्यादि पीडाविशेष एव गम्यते । पित्ताद्यैरिति पित्तश्लेष्मरुधिरैः संसर्गं द्विदोषजं च लक्षयेत् ॥ ७६ ॥

अथैषां वातरोगाणां साध्यासाध्यत्वविचारः ।

उक्तरोगाणां कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—

हनुस्तम्भादिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः ।

कालेन महता वाता यन्नात्सिध्यन्ति वा नवा ॥ ७७ ॥

नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

म०—वाता इति वातविकाराः, कार्य-कारणयोरभेदोपचारात्, वातादिति पाठे तु वाताद्ये हनुस्तम्भादय इति योज्यम् ॥ ७६-७७ ॥—

आ०—हन्वित्यादि । एतेष्वेकः कश्चिन्मुच्यत इत्यर्थः । परं कः सिध्यति, यः तरुणो भवति । तथा निरुपद्रवान् उपद्रवराहितान् ॥ ७७ ॥

अथ वातोपद्रवाः ।

वातोपद्रवानाह—

विसर्प-दाह-रूक्-सङ्ग-मूर्च्छारुच्यग्निमार्दवैः ॥ ७८ ॥

क्षीण-मांस-बलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः ।

( सु० सू० अ० ३३ )

विसर्पेत्यादि । वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । वातादिति पाठे तु वातात् पक्षवधादय इति योज्यम् ॥ ७८ ॥

आ०—वातोपद्रवानाह-विसर्पेत्यादि । वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारेण 'वातात्' इति पाठे तु वातात् पक्षवधादयः इति योज्यं, सङ्गो—मूत्रपुरीषवाताप्रवृत्तिः क्षीणं मांसबलं यस्य स तथा ॥ ७८ ॥

अथ वातव्याधेरसाध्यत्वम् ।

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।

रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥ ७९ ॥

( सु० सू० अ० ३५ )

म०—शूनमित्यादि । शूनं=सशोथम् । सुप्तत्वचं=स्पर्शानभिज्ञत्वगिन्द्रियम् ७९

आ०—शूनमित्यादि शूनं शोथयुक्तम् । सुप्तत्वचं स्पर्शानभिज्ञत्वगिन्द्रियम् । भग्नं भग्नास्थि रुजमर्तिमन्तम् । अदीन पीडयाऽऽर्तम् ॥ ७९ ॥

अथ प्रकृतिस्थस्य वायोर्लक्षणम् ।

इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोर्लिङ्गं कार्यं चाह—

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः ।

वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥८०॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥

म०—अव्याहतेत्यादि । यस्येति पुरुषस्य, अव्याहतगतिः=अनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः=स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतिस्थितोऽक्षीणश्च प्रवृद्धः, एतद्विशेषणत्रयं हतुहेतुमद्भावेन योज्यम् । वीतरोगो=नीरोगः कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकवातेनान्तरीयकत्वात् अधिकं समाः शतमिति पञ्च दिनाधिकं सविंशं वर्षशतम् । यदाह वराह आयुर्निरूपणे—“समाः षष्टिर्द्विधा मनुजकरिणां पञ्च च निशाः”—इत्यादि ॥८०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ।

आ०—इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोः कार्यं लिङ्गं च प्राह—अव्याहत इत्यादि । यस्य पुरुषस्य अव्याहतगतिः अनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतौ स्थितः न वृद्धो न च क्षीणः, वायोर्विशेषणत्रयम् । वीतरोगो नीरोगः, कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकवातेनान्तरीयकत्वात् । अधिकं समाः शतं पञ्चदिनाधिकं सविंशं वर्षशतम् । यदाह वराहमिहिर आयुर्निरूपणाध्याये—“समाः षष्टिर्द्विधा मनुजकरिणां पञ्च च निशाः”—इति ॥ ८० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
वातव्याधिनिदानम् ॥ २२ ॥

अथ वातरक्तनिदानम् । ( Gout )

अथ वातरक्तस्य कारणानि ।

वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह । ननु सुश्रुते वातरोगा-  
ध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र संग्रहे पृथक् पाठः ? उच्यते, सत्यपि  
वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्यात् विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव संग्रा-  
प्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम् । अत एव चरकेऽपि वात-  
व्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः । ननु ‘रुजस्तीव्राः ससंतापा’ इत्यादिना  
रक्तगतस्य वातस्य लक्षणं वातव्याधावेवोक्तम्, ततश्च वातरक्ताभिधानं पुनरुक्तं  
स्यात् नैवम्, वातरक्तं हि दुष्टेन वातेन दुष्टेन रक्तेन च विशिष्टसंग्राप्तिकं विका-

रान्तरमेव । उक्तं हि चरके—“वायुप्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः  
संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्” (च. चि. स्था.)—इति । रक्तगतवाते  
तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतीति भेदः ।

लवणाम्ल-कटु-क्षार-स्निग्धोष्णाजीर्ण-भोजनैः ।

क्लिन्न-शुष्काम्बुजानूप-मांस-पिण्याक-मूलकैः ॥ १ ॥

कुलत्थ-माष-निष्पावैः शाकादिपललेक्षुभिः ।

दध्यारनाल-सौवीर-शुक्त-तक्र-सुरा-ऽऽसवैः ॥ २ ॥

विरुद्धाध्यशन-क्रोध-दिवास्वप्न-प्रजागरैः ॥ ३ ॥

( च० चि० अ० २९ )

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्या-हार-विहारिणाम् ।

स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥४॥

( सु० चि० अ० ५ )

म०—लवणाम्लेत्यादि । क्लिन्न-शुष्कशब्दौ मांसेन संबध्येते । पिण्याकस्ति-  
लकल्कः । निष्पावः=शिम्विः, पललं=मांसम् । प्रायश इत्यादि । सुकुमाराः  
मृदुदेहावयवाः, तेषामल्पचेष्टत्वाल्लवणादिभिः रक्तं कटुतिक्तप्रजागरादिभिश्च  
वातः कुप्यतीति ईशानः ॥ १—३ ॥

आ०—वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह । ननु सुश्रुते वातव्याध्यध्याये एव वातरक्तं  
पठितं तत्कृतोऽत्र संग्रहे पृथक् पठितम् ? उच्यते, सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशेषप्राप्तिक-  
थनार्थं क्रियाविशेषज्ञापनार्थं च पृथक्करणम् । अत एव चरकेऽपि वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताध्याय  
रुक्तः । तस्य निदानमाह—लवणेत्यादि । लवणादिभिर्भोजनैः तथा क्लिन्नशुष्काम्बुजादिभिः,  
तथा कुलत्थादिभिः, तथा दध्यादिभिः, तथा विरुद्धादिभिः, तथा प्रायशः सुकुमाराणां पुंसां,  
तथा मिथ्याहारविहारिणां स्थूलानां च सुखिनां च वातरक्तं प्रकुप्यति । क्लिन्नशुष्कशब्दौ मांसेन  
संबध्येते । पिण्याकः तिलकल्कः, निष्पावः शिम्विः, पललं मांसं, क्लिन्नं=शटितम्, अम्बुजा=  
मत्स्यादयः, आरनालादयः=काञ्चिकभेदाः, सुरा=पिष्टकृता, आसवो=मद्यं, विरुद्धं=क्षीरम-  
त्स्यादि, अध्यशनं=भुक्तोपरि भोजनं, सुकुमाराः=मृदुदेहावयवाः, स्थूला=मेदस्त्विनः, सुखिनश्च=  
सम्यक्प्रवृत्त्यादिवर्जिताः, तेषामल्पचेष्टत्वात् लवणादिभिः रक्तं, तिक्तकटुक्रूषायादिभिर्वर्तितं  
कुप्यतीति—ईशानः ॥ १—३ ॥

अथ वातरक्तस्य संप्राप्तिः ।

संप्राप्तिमाह—

हस्त्यश्वोष्टैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य ।  
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ॥  
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥४॥

( दु० नि० अ० १ )

म०—हस्त्यश्वेत्यादि । हस्त्यादिगमनं वातवृद्धौ विशेषेण रक्तस्य द्रवस्या-  
धोगमनेऽपि हेतुः, विदाह्यन्नं च शोणितवृद्धौ । हस्त्यादिगमनं विशेषेण, पादे-  
नापि गमनं हेतुरेव । तद्रक्तम् । संपृक्तं वायुना दूषितेन=स्वहेतुवृद्धेन । तत्प्राब-  
ल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्यात् दोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्तव्यप-  
देशः, न तु रक्तवात इति ॥ ४ ॥

आ०—तस्य संप्राप्तिमाह—हस्तीत्यादि । विदाहि=विरुढकादिकम् । अश्नतः=भुक्वतः, कृत्स्न-  
शरीरगतं रक्तमाशु विदहति, विदाह्यन्नं शोणितवृद्धौ हस्त्यादिगमनं च त्रिषमपादेनापि गमनं  
हेतुः । तत्संपृक्तमिति तद्रक्तपित्तं संसृष्टं वायुना दूषितेन=स्वहेतुवृद्धेन सह, तत्प्राबल्याद्वातर-  
क्तमुच्यते—तत्प्राबल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्यादोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्तव्यपदेशः, न तु  
रक्तवात इति । तद्वत्पित्तमिति दुष्टं पित्तमित्यर्थः । दूषितेनासृजाक्तमिति दूषितेन रक्तेन मिश्रं  
तथा दुष्टः श्लेष्मा दूषितेन रक्तेनाक्तो मिश्रः ॥ ४ ॥

अथ वातरक्तस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

( स्पर्शोद्भिन्नौ तोद-भेद-प्रशोष-स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ।  
पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेतामत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ मृदू च ॥  
कण्डूमन्तौ श्वेत-शीतौ सशोफौ पीनस्तब्धौ श्लेष्मदुष्टे तु रक्ते ।  
सर्वेदुष्टे शोणिते चापि दोषाः स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति ॥)  
स्वेदोऽत्यर्थं न वा काष्ण्य स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरूक् ।  
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥ ५ ॥  
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।  
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुतिरेव च ॥ ६ ॥

कण्डूः सन्धिषु रुग् भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।

वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥ ७ ॥

( च० चि० अ० २९ )

म०—स्वेदेत्यादि । स्वेदोऽत्यर्थं न वेति घर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत् । क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं स्यात्तदाऽतिशयं रुजा स्यात्, तद्देशस्य दुष्टत्वात् ॥ ५-७ ॥

आ०—तस्य पूर्वरूपमाह—स्वेद इत्यादि । घर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत् बोद्धव्यम् । काष्ण्यमङ्गानाम् । क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं भेदः स्यात्, तदा ह्यतिशयेन रुजा भवति, तद्देशस्य दुष्टत्वात् । सदनम् अङ्गानाम् । पिडिकाप्रादुर्भावो जान्वादिषु, निस्तोदः पीडाविशेषः, सुप्तिस्त्वचः, वैवर्ण्यं=विच्छा-यता, एतत्पूर्वरूपं वातरक्तस्य ॥ ५-७ ॥

अथ वाताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ।

वातरक्तस्य दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणान्याह—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूल-स्फुरण-भञ्जनम् ।

शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता वृद्धिहानयः ॥ ८ ॥

धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।

शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भ-वेषथु-सुप्तयः ॥ ९ ॥

( च० चि० अ० २९ )

म०—वातेऽधिक इत्यादि । वृद्धिहानय इति वातरक्तलक्षणानाम् ॥ ९ ॥

आ०—दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणमाह—वातेऽधिक इत्यादि । तत्र जानुजङ्घादिस्थानेषु शूला-दिकं ज्ञेयं, तथा शोथस्य रौक्ष्यादिकं वृद्धिहानयश्च विज्ञेयाः, धमन्यादीनां संकोचः । शीत-द्वेषः, अनुपशयः शीतेन रोगवृद्धिः ॥ ९ ॥

अथ रक्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ।

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।

स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डू-क्लेद-समन्वितः ॥ १० ॥

( च० चि० अ० २९ )

म०—रक्त इत्यादि रक्त इत्यत्राधिक इत्यनुवर्तनीयं, एवं वक्ष्यमाणापित्ता-दिषु । एतच्चारम्भकरक्तादन्यद्रक्तान्तरं बोध्यं, रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति ।

यदुक्तं दुष्टरक्तलक्षणे,—“पित्तवदक्तेनातिकृष्णं ( सु. सू. स्था. अ. १४ )—”  
इति । शमं नैति=शान्तिं न याति ॥ १० ॥

आ०—रक्ताधिकलक्षणमाह—रक्त इति । रक्त इत्यत्राधिक इत्यनुवर्तनीयं, एवं वक्ष्यमाण-  
पित्तादिषु । कण्डूक्लेदौ शमं न यातः । क्लेदः द्रवत्वम् । एतच्चारम्भकरक्ताद्रक्तान्तरं बोद्धव्यम् ।  
रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति, यदुक्तं दुष्टरक्तलक्षणे,—“पित्तवत् रक्तेनातिकृष्णं च” इति ॥ १० ॥

अथ पित्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ।

पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदस्तृषा ।

स्पर्शासहत्वं रुग्णः शोथः पाको भृशोष्मता ॥ ११ ॥

( च० चि० अ० २९ )

आ०—पित्ताधिकमाह—पित्त इति । भृशोष्मता सन्तापधिक्यम् ॥ ११ ॥

अथ कफाधिकवातरक्तस्य लक्षणम् ।

कफे स्तैमित्य-गुरुता-सुति-स्निग्धत्व-शीतताः ।

कण्डूर्मन्दा च रुग्णः—

म०—कफ इत्यादि ।

आ०—कफाधिकमाह—कफ इति । कफाधिके स्तैमित्यमार्द्रता, मन्दा अदारुणा, रुक् पीडा ।

अथ द्वि-त्रि-दोषजवातरक्तस्य लक्षणानि ।

द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च संकरात् ॥ १२ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरादिति—संकरात्=द्विदोषत्रिदोषमेलकात् द्वन्द्व-  
लिङ्गं सर्वलिङ्गं च क्रमाद्वातरक्तं भवति ॥ ८-१२ ॥

आ०—द्वन्द्वजसान्निपातिकावाह—द्वन्द्वमित्यादि । संकरात् द्विदोषमेलकात् त्रिदोषमेलकाच्च  
द्वन्द्वलिङ्गं सर्वलिङ्गं च भवेत् ॥ १२ ॥

अथ वातरक्तस्य प्रसारः ।

पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं देशान्तरं व्याप्नोति, पादषड्वस्तयोरपि भवतीति  
दर्शयन्नाह—

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्वस्तयोरपि ।

आखोर्विषमिव क्रुद्धं तदेहमुपसर्पति ॥ १३ ॥

( सु० नि० अ० १ )

म०—पादयोरित्यादि । आखोर्विषमित्यनेन मन्दविसर्पणतां दर्शितवान् ।  
एतद्वातरक्तं चरकेण द्विविधमुक्तम् । यदाह—“उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं  
वातशोणितम् । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्” ( च. चि. स्था.

अ. २९)-इति । सुश्रुतेन तु कुष्ठवदुत्पत्तौ उत्तानस्योत्तरकालं गम्भीरत्व-  
मुक्तमिति मतभेद एव ॥ १३ ॥

आ०-पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं प्रदेशान्तरं प्राप्नोति; पादवद्वस्तयोरपि भवतीति दर्शयन्नाह--  
पादयोरित्यादि । कदाचिदिति अप्रतिक्रियमाणम् । हस्तयोरपीति मूलमास्थाय । आखोर्विप्रामि-  
त्यनेन मन्दविसर्पितां दर्शितवान् । एतच्च वातरक्तं चरकेण द्विविधमुक्तं, तद्यथा--“उत्तानमथ गम्भीरं  
द्विविधं वातशोणितम् । त्वङ्मांसश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्”-इति ॥ १३ ॥

अथ वातरक्तस्यासाध्यलक्षणानि ।

असाध्यत्वादिकमाह—

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रसृतं च यत् ।

उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राण-मांस-क्षयादिभिः ॥ १४ ॥

वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।

( सु० नि० अ० १ )

म०-आजान्वित्यादि । आजानु=जानुपर्यन्तं गतमसाध्यम् । तथा स्फुटि-  
तादिकं स्फुटितं=दलितत्वक्, प्रभिन्नं=विदीर्णत्वक्, उपद्रवैरित्यादौ आदि-  
शब्देन वक्ष्यमाणानामस्वप्नादीनां ग्रहणम् । याप्यं संवत्सरोत्थितमित्यनेन  
संवत्सरादर्वाक् साध्यम्, यदि स्फुटितत्वगादयो न भवेयुरित्याहुः ॥ १४ ॥—

आ०-एतस्यैवासाध्ययाप्यत्वे आह-आजान्वित्यादि । आजानु जानुपर्यन्तं गतमसाध्यम्  
स्फुटितं दलितत्वक् । प्रभिन्नं विदीर्णम् । प्रसृतं स्त्रावयुक्तम् । उपद्रवैरिति प्राणमांसक्षया-  
दिभिः, आदिग्रहणेन च वक्ष्यमाणानामस्वप्नादीनां ग्रहणम् । याप्यं संवत्सरोत्थितमित्यनेन संवत्सरा-  
दर्वाक् साध्यं, यदि स्फुटितत्वादयो न भवेयुः ॥ १४ ॥

अथ वातरक्तस्योपद्रवाः ।

उपद्रवानाह—

अस्वप्नारोचक-श्वास-मांसकोथ-शिरोग्रहाः ॥ १५ ॥

संमूर्च्छा-मद-रुक्-तृष्णा-ज्वर-मोह-प्रवेपकाः ।

हिक्का-पाङ्गुल्य-वीसर्प-पाक-तोद-भ्रम-क्लमाः ॥ १६ ॥

अङ्गुलीवक्रता-स्फोट-दाह-मर्मग्रहार्बुदाः ।

एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥ १७ ॥

( च० चि० अ० २९ )

म०-अस्वप्नेत्यादि पाङ्गुल्यं=पङ्गुता । मोहेनैकेनेति वचनात् पूर्वोक्तैः  
समस्तैर्द्रव्यादिभिश्चेति ज्ञापयतीति ॥ १७ ॥

इति श्रीवज्रयस्मितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातरक्तनिदानं समाप्तम् ।



आ०—उपद्रवानाह—अस्वप्नेत्यादि । मांसकोथो=मांसगलनम् । मूर्च्छायो=मूर्च्छा । अमन्दरुक्=पीडावाहुल्यम् । मोह=इन्द्रियार्थानाम् । पाङ्गुल्यं पङ्गुता । मोहेनैकेनेति वचनात् पूर्वोक्तैः समस्तैश्चेति ज्ञापयति ॥ १७ ॥

अथ वातरक्तस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।

त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १८ ॥

( च० चि० अ० २९ )

अ०—पुनश्च साध्यासाध्यत्वमाह—अकृत्स्नेत्यादि । यस्य च सर्वे उपद्रवा भवेयुः सोऽप्यसाध्यः । ‘अकृत्स्नोपद्रवम्’ इत्यादिकं माधवेन न गृहीतं पुस्तकान्तरेषु दुष्टत्वाल्लिखितमिति ॥ १८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
वातरक्तनिदानम् ॥ २३ ॥

अथोरुस्तम्भनिदानम् ।

( Paraplegia )

अथोरुस्तम्भस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः ।

वातव्याधिविशेषत्वादूरुस्तम्भमाह—

शीतोष्ण-द्रव-संशुष्क-गुरु-स्निग्धैर्निषेवितैः ।

जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयास-संक्षोभ-स्वप्न-जागरैः ॥ १ ॥

सश्लेष्म-मेदः-पवनः साममत्यर्थसंचितम् ।

अभिभूयेतरं दोषमूहं चेत् प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।

तदा स्तम्भ्नाति तेनोरु स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥

परकीयाविव गुरु स्यातामतिभृशव्यथौ ।

ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्य-तन्द्रा-च्छर्द्यरुचि-ज्वरैः ॥ ४ ॥

संयुक्तौ पादसदन-कृच्छ्रोद्धरण-सुप्तिभिः ।

तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५ ॥

( वा० नि० अ० १५ )

म०—शीतोष्णेत्यादि । शीतोष्णग्रहणमनुक्तपरस्परविरोधिद्वन्द्वोपलक्षणार्थं, तेन गुरुस्निग्धाभ्यां लघुरुक्षयोर्ग्रहणं बोध्यमिति जेज्जटः । संशुष्कं=कठिनं, द्रवविरोधित्वात् । जीर्णाजीर्ण इति प्रभूतं=जीर्णं, स्तोकमजीर्णमित्याहुः, तस्मिन् 'भोजने' इति शेषः । अत एव दृढबलेन—“जीर्णाजीर्णे समश्रतः” ( च. चि. स्था. अ. २७ )—इति पठितम् । एते च यथासंभवं श्लेष्मादीनां हेतवः । सश्लेष्ममेदःपवन इति । सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्चेति सश्लेष्ममेदःपवन इति विग्रहः । इतरं दोषं=पित्तम् । अस्यां संप्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्तम्, अत एव सुश्रुतेन महावातव्याधावयं रोगः पठितः । चरके तु कफस्य प्राधान्यमुक्तम् । यदाह—“ऊरु श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु” ( च. चि. स्था. अ. २७ )—इत्याह । तत्र चरके आवरकस्य श्लेष्मणः प्राक्चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते पवनस्येति न विरोधः । परकीयाविवेत्यनेन उत्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति । ध्यानादिभिर्ज्वरान्तरूपलक्षितः । 'पुरुष' इति शेषः ॥ १-५ ॥

आ०—वातव्याधिविशेषत्वादूरुस्तम्भनिदानारम्भः । तस्य निदानपूर्वा संप्राप्तिमाह—शीतेत्यादि । शीतोष्णादिग्रहणमनुक्तपरस्परविरोधिद्वन्द्वदोषोपलक्षणार्थं, तेन गुरुस्निग्धाभ्यां लघुरुक्षयोर्ग्रहणं बोध्यमिति जेज्जटः । संशुष्कं कठिनं, द्रवविरोधित्वात् । जीर्णाजीर्ण इति प्रभूतं जीर्णं, स्तोकमजीर्णमित्याहुः, तस्मिन् 'भोजने' इति शेषः । अत एव दृढबलेन—“जीर्णाजीर्णे समश्रतः” इति पठितम् । आयासो व्यायामः । स्वप्नं दिवा, जागरणं निशि । सश्लेष्ममेदःपवन इति सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्च सश्लेष्ममेदःपवनः । अत्यर्थसंचितमितरं दोषं पित्तम् । अस्यां संप्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्तम्, अत एव सुश्रुते महावातव्याधावयं पठितः, चरके तु कफप्राधान्यम् । तत्र चरके आवरकस्य कफस्य प्राक्चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते पवनस्येति न विरोधः । स्तिमितेन मन्देन, स्तभ्राति=स्तम्भयति, अचेतनौ=स्पर्शज्ञानरहितौ । परकीयाविवेत्यनेन उत्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति । ध्यानादिभिः ज्वरान्तरूपलक्षितः, 'पुरुषः' इति शेषः । ऊरुस्तम्भमपरे आढ्यवातमाहुः ॥ १-५ ॥

अथोरुस्तम्भस्य पूर्वरूपाणि ।

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।

रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥ ६ ॥

( च० चि० अ० २७ )

आ०—प्राग्रूपमाह—प्रागित्यादि ॥ ६ ॥

अथोरुस्तम्भस्य लक्षणानि ।

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।

पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥

जङ्घोरुग्लानिरात्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।

पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥

संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।

अन्यस्येव हि संभग्नावूरु पादौ च मन्यते ॥ ९ ॥

( च० चि० अ० २७ )

म०—वातेत्यादि । वातशङ्किभिरिति सुप्तिसंकोचकम्पादिवातरोगसदृश-  
लिङ्गदर्शनात्तच्छङ्किभिः । अज्ञानादनिश्चयात्, मोहादितीक्ष्णानः । तत्रोपश-  
यानुपशयज्ञानार्थं स्नेहनम्, यदुक्तं चरके—“गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपश-  
यान्यां परीक्षेत” ( च. चि. स्था. अ. ४ )—इति । ततः स्नेहनादनुपशयो  
भवतीत्याह—पादयोरित्यादि । उद्धरणमूर्ध्वचालनम् । आदाहवेदने इति  
आङ् ईषदर्थे; अन्ये त्वीषदर्थ एव नञमाहुः, उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन  
वक्ष्यमाणत्वात् । ‘आनाहवेपने’ इति पाठान्तरमयुक्तम्, चरकटीकाकारैः  
सर्वैरव्याख्यातत्वात् । व्याधिस्वभावादयं चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदोषा-  
रब्धः, न तु वातादिभेदादनेकविधः । उक्तं हि चरके व्याधिसंख्यायाम्—  
‘एक एवोरुस्तम्भः’ ( च. सु. स्था. अ. १९ )—इति । संभगाविति संभ-  
गाविव संभगौ ॥ ७-९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामूरुस्तम्भनिदानम् समाप्तम् ॥

आ०—तस्यानुपशयमाह—वातेत्यादि । सुप्तिसंकोचकम्पादिवातरोगसदृशल्लिङ्गदर्शनात्तच्छङ्कि-  
भिर्वातरोगोऽयमिति, अज्ञानात्, भ्रमात्, स्नेहनात्=अभ्यङ्गादेः तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं स्नेहनम्,  
“गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयान्यां परीक्षेत” इति । ततः स्नेहनादनुपशयो भवतीत्याह—पाद-  
योरित्यादि । उद्धरणमूर्ध्वचालनम् । शश्वच्चादाहवेदनेति आङ् ईषदर्थे; अन्ये त्वीषदर्थे नञमाहुः,  
उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ‘आनाहवेदने’ इति पाठान्तरं न युक्तम् चरकटीकाकारैः  
सर्वैरव्याख्यातत्वात् । व्याधिस्वभावादयं चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदोषारब्धः, न तु वातादिभेदा-  
दनेकविधः ॥ ७-९ ॥

अथोरुस्तम्भस्यासाध्यलक्षणानि ।

यदा दाहार्ततोदातो वेपनः पुरुषो भवेत् ।

ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥ १० ॥

( च ० चि० अ० २७ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ऊरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥ १० ॥

आ०—असाध्यत्वमाह—यदेति । अन्यथेति पूर्वोक्तैरुपद्रवै रहितं चोत्पन्नमात्रमेव ॥ १० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्याया-  
मूरुस्तम्भनिदानम् ॥ २४

अथामवातनिदानम् ।

( Rheumatism. )

अथामवातस्य निदानपूर्विका संप्राप्तिः ।

ऊरुस्तम्भे वायुः साम इत्युक्तम्, अतस्तदनन्तरमामवातनिदानमाह—

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च ।

स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा ॥ १ ॥

वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति ।

तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते ॥ २ ॥

वात-पित्त-कफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।

स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः ॥ ३ ॥

जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।

व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसञ्ज्ञोऽतिदारुणः ॥ ४ ॥

म०—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धाहारः=संयोगादिविरुद्धः, विरुद्धा च चेष्टा यथा—अजीर्णे व्यायाम-व्यवाय-जलप्रतरणादि । स्निग्धं भुक्तवतो व्यायामं कुर्वत इति मिलितो हेतुः । श्लेष्मस्थानमामाशय-सन्ध्यादि । तेन वातेन विदग्धो दूषितोऽसावामो धमनीः प्रतिपद्यते, 'धमनीभिः प्रपद्यते' इति पाठान्तरे श्लेष्मस्थानमिति योज्यम् । सोऽन्नजो रस इति आमः, अन्नरसस्यैवापकस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात् । यदुक्तम्—“ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपा-

चितम् । दुष्टमाशयगतं रसमामं प्रचक्षते' ( वा. सू. स्था. अ. १३ )  
इत्यादि । अन्यैरप्युक्तम्—“आमाशयस्थः कायाग्नेर्दोर्बल्यादविपाचितः । आद्य  
आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः”--इति । अपरे त्वाहुः--“अविपक्रम-  
संयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम् । सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते”--इति ।  
अन्ये त्वाहुः--“आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात् । स मूलं  
सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते”--इति । तथाचापरे--“आममन्त्ररसं केचित्  
केचित्तु मलसंचयम् । प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते”--इति । नाना-  
वर्ण इति वातादिदूषितत्वाद्बहुवर्णः ॥ १-४ ॥

आ०—ऊरुस्तम्भे वायुः साम इत्युक्तम्, अतस्तदनन्तरमामवातनिदानमाह—विरुद्धेत्यादि ।  
विरुद्धाहारचेष्टस्य तथा मन्दाग्नेरेवंविधस्य पुरुषस्य निश्चलस्य=व्यापाररहितस्य, विरुद्धाहारः  
क्षीरमत्स्यादिः संयोगादिविरुद्धः, विरुद्धा चेष्टाऽजीर्णे व्यायामव्यवायजलप्रतरणादिका । श्लेष्मन्त्रं  
मुक्तवतो व्यायामं कुर्वत इति मिलितो हेतुर्न पृथक्त्वेन । आमवाते विगतव्यायामत्वात् । अन्ये  
'व्यायामं वाऽप्यकुर्वत' इत्यादि पठन्ति । तन्नातियुक्तम्, निश्चलस्येत्यनेनैव लब्धत्वात् । श्लेष्म-  
स्थानं प्रधावतीति श्लेष्मस्थानानि आमाशयोरःशिरःकण्ठसंधय इति । श्लेष्मस्थाननिचितेन  
वातेन विदग्धो दूषित आमो धमनीः सिराः प्रतिपद्यते । 'धमनीभिः प्रपद्यते' इति पाठान्तरं, तत्र  
श्लेष्मस्थानमिति योज्यम् । अपक्वत्वैवाम इति संज्ञा, अन्नरसस्यैवाऽपक्वस्य तन्त्रान्तरे आम इति  
व्यपदेशात् । यदुक्तम्--“ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमाशयगतं रसमामं प्रच-  
क्षते ॥ जठरानलदोर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः । स आमसंज्ञको देहे सर्वरोगप्रकोपकः”--इति । अन्यैर-  
प्युक्तम्--“आमाशयस्थः कायाग्नेर्दोर्बल्यादविपाचितः । आद्य आहारधातुर्यः स आमः परिकीर्तितः”--  
इति । अन्यत्रापि--“अविपक्रमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम् । सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते”  
इति । तथाऽपरे--“अविपक्रमसं केचित्केचित्तं मलसञ्चयम् । प्रथमां दोषदुष्टिं वा केचिदामं प्रचक्षते”  
इति । त्रिभिर्दोषैरतिशयदूषितोऽन्नरसः स्रोतांस्यभिष्यन्दयति लिम्पति, अतिपिच्छिलत्वात् ।  
नानावर्ण इति वातादिदूषितत्वाद्बहुवर्णः । बह्वर्मेन्दत्वं जनयति । हृदये गौरवं भवति, तस्य  
स्थानत्वात् । सर्वेषां रोगाणामयमेव कारणीभूत आमसंज्ञकः ॥ १-४ ॥

अथामवातस्य पूर्वरूपाणि ।

युगपत् कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।

स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ ५ ॥

म०—युगपदित्यादि । वातकफौ युगपत्कुपितावन्तः=कोष्ठे त्रिकसन्धिप्रवेशकौ  
भवतः, अथवा गात्रं स्तब्धं कुरुतः, त्रिकसन्धिषु प्रवेशस्तद्गतवेदनया बोध्यः ॥ ५ ॥

आ०—तस्यैव रूपमाह—युगपदिति । युगपदेकवारमेव कुपितौ वातकफौ अन्तःकोष्ठे  
त्रिकसन्धिप्रवेशकौ भवतः । ( त्रिके कटिमन्याशयसन्धी तत्र, तथा संधिषु प्रविश्य ) अथवा  
गात्रं स्तब्धं कुरुतः, स आमवातः कथ्यते । त्रिकसन्धिप्रवेशश्च तद्गतवेदनया बोद्धव्यः ॥ ५ ॥

अथामवातस्य सामान्यलक्षणानि ।

आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा आलस्यं गौरवं ज्वरः ।

अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ ६ ॥

म०—अङ्गमर्द इत्यादि ॥ ६ ॥

आ०—आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—अङ्गेत्यादि । अङ्गमर्दोऽङ्गभङ्गः । अरुचितृष्णौ प्रसिद्धे । आलस्ययुक्तमङ्गगौरवं ज्वरश्च । अपाक आहारस्य । अङ्गानां शूनत्वम् । एतदामवातस्य स्वरूपकथनम् ॥ ६ ॥

अथातिवृद्धिं गतस्यामवातस्य लक्षणानि ।

तस्यैवातिवृद्धस्य लक्षणमाह—

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् ।

हस्त-पाद-शिरो-गुल्फ-त्रिक-जानूरु-सन्धिषु ॥ ७ ॥

करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।

स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ ८ ॥

म०—स इत्यादि । वृश्चिकैः=सविषकीटविशेषैः । स इति आमवातः ॥ ७ ॥ ८ ॥

आ०—तस्यैवातिवृद्धस्य लक्षणमाह—स इत्यादि । आमवातो यदा कुपितो भवति, तदा सर्वरोगाणां मध्ये कष्टतमः कृच्छ्रसाध्यः स्यादित्यर्थः । हस्तपादादीनां सन्धिषु सरुजं श्वयर्थं कुर्यात् । सन्धिमन्ये पृथग्व्याख्यानयन्ति । गुल्फौ चरणोपरिग्रन्थी, त्रिकं रिफ्क्पृष्ठसन्धिः, ऊरुः जङ्घादेशः । स देशो वृश्चिकैः सविषकीटविशेषैर्व्याविद्धो दृष्ट इवात्यर्थं रुज्यते तुद्यते ॥ ७ ॥ ८ ॥

अथामवातस्योपद्रवाः ।

उपद्रवनाह—

जनयेत् सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।

उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥ ९ ॥

कुक्षौ कठिनां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।

तृट्-छर्दि-भ्रम-मूर्च्छाश्च हृद्रहं विद्विबद्धताम् ॥

जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥ १० ॥

म०—जाड्यमकर्मण्यत्वम् अन्यानुपद्रवान्=संकोचखञ्जत्वादीन् ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—उपद्रवनाह—जनयेदित्यादि । अग्निमान्द्यार्दान् जनयेत्, प्रसेको=लालास्रावः, अरुचिगौरवे प्रसिद्धे, उत्साहहानिं=कर्माक्षमत्वं, वैरस्यादयः प्रसिद्धाः । कुक्षौ काठिन्यं,

शूलं कुक्षावेव, निद्राविपर्ययो=निद्रानाशः, वृद्धयः प्रसिद्धाः, विड्विबद्धता=विड्वग्बद्धः, जाड्यमङ्गानामकर्मण्यता, अन्ये जाड्य कर्कशत्वमित्याहुः । आनाह=ऊर्ध्वाधोभागनिरोधिता । अन्यानुपद्रवानिति वातव्याधिनिदानोक्तान् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ पित्तादियुक्तस्य विशेषलक्षणानि ।

तस्य विशेषलक्षणान्याह—

पित्तात् सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम् ।

स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥ ११ ॥

म०—पित्तादित्यादि ॥ ११ ॥

आ०—पित्तादियुक्तस्य विशेषलक्षणमाह—पित्तादित्यादि । यदा पित्तेन मिलितो भवति, तदा दाहरागवान् भवति, यदि तु वातानुगं, तदा सशूलं सव्यथं जानीयात् । यद्यप्यामो वातेन नीयमानस्तथाऽपि प्रदेशस्थितेन मिलितत्वात्तेनैवानुगतत्वमिति । स्तिमितं जडं, गुरु गौरवयुक्तं, कण्डूमन्तं च कफोत्तरं जानीयात् ॥ ११ ॥

अथास्य साध्यासाध्यत्वादिविचारः ।

तस्य साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।

सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने आमवातनिदानं समाप्तम् ॥

म०—एकेत्यादि ॥ १२ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामामवातनिदानं समाप्तम् ।

आ०—साध्यासाध्यत्वमाह—एकदोषानुग इति सुगमम् ॥ १२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्या-  
यामामवातनिदानम् ॥ २५ ॥

अथ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम् ।

( Colic=वातिक उदरशूल, Neuralgic Pain=स्नायुशूल )

अथ शूलरोगस्योत्पत्तिक्रमः ।

आमवातेऽपि शूलं भवतीत्यतस्तदनन्तरं शूलनिदानम्—

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् ।

सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥ १ ॥

म०—ज्वरादिवत् शूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति । यदाह हारीतः,—“अनङ्गना-  
शाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च । तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भया-



दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः ॥ स विष्णुद्वंकारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः । स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः”-इति । एतेन शूल-संभवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा, शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वाच्च । तदाह वृद्ध-सुश्रुतः,—“शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना । शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते” ( सु. उ. त अ. ४२ )—इति । कफपित्तादिशूले-ष्ववश्यंभावी वायुरित्याह-सर्वेष्वित्यादि । प्रभुः=कर्ता ॥ १ ॥

आ०-आमवाते च शूलं भवति, अतस्तदनन्तरं शूलनिदानमाह-दोषैरित्यादि । ज्वरा-दिवच्छूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति । यदुक्तं हारीते-“अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकर-ध्वजश्च । तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रावष्टः ॥ स विष्णुद्वंकारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः । स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः”-इति । अत एवास्य शूलसंभवत्वात् शूल इति संज्ञा, शूलनिखात इव वेदनाजनकत्वाच्च । यदाह वृद्धसुश्रुतः-“शङ्कुस्फोटन-वत्तस्य यस्मात्तीव्रा च वेदना । शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते”-इति । कफपित्तादि-शूलेष्वपि वायोः प्राधान्यमित्यत आह-सर्वेष्वित्यादि । प्रभुः कर्ता ॥ १ ॥

### अथ वातशूलस्य निदानानि ।

वातिकमाह—

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात् ।  
कलाय-मुद्गाढकि-कोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥२॥  
कषाय-तिक्तातिविरूढजान्न-विरुद्ध-वल्लूरक-शुष्कशाकात् ।  
विट्-शुक्र-मूत्रानिल-वेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥३॥  
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्वि शूलं हृत्-पार्श्व-पृष्ठ-त्रिक-वस्ति-देशे ।  
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥ ४ ॥  
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विट्-वात-संस्तम्भन-तोद-भेदैः ।  
संस्वेदना-भ्यञ्जन-मर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥५॥

म०-व्यायामेत्यादि । शीतजलातिपानात्=शीतलजलस्य प्रभूतपानात् ।  
आढकी=तुवरी, कोरदूषः=कोद्वः, विरूढजान्नम्=अङ्कुरितधान्यकृतमन्नम्,  
विरुद्धं=क्षीरमत्स्यादिकम्, वल्लूरं=शुष्कमांसम् । यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैर्वा-  
तशूलं स्यात्तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद्वर्णयति-व्यायामादयो यथा वातहेत-  
वस्तथा शूलहेतवोऽपीति, दोषव्याधिहेतव इत्यर्थः । एवं पित्तशूलादिषु द्रष्ट-

व्यम् । जीर्णे इत्याहारे । घनागमे=वर्षासु, मेघोदये च । मुहुर्मुहुरपशम-प्रकोपौ वायोश्चलत्वेन ॥ २-५ ॥

आ०—वातिकमाह—व्यायामेत्यादि । व्यायामो=मलयुद्धादिः, वानं=तुरगरथादि, मैथुनं=स्त्रीसेवा, प्रजागरं=रात्रौ, एषामतियोगात्, शीतजलस्य प्रभूतपानान्, कलायस्त्रिपुटः, आढकी=नुवरी, कोरदूषः कोद्रवः, अत्यर्थरुक्षद्रव्यसेवा, अध्यशनं=भुक्तस्योपरि भोजनम्, अभिवातो=लोष्टादिभिः, कषायतित्तरससेवा, विरुदजान्नमङ्कुरितधान्यकृतमन्नम्, विरुद्धं=मत्स्यक्षीरादि, वल्लूरं शुष्कमांसं, शुष्कशकं प्रसिद्धम् । यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैः वातशूलं स्यात्, तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद्विधयति—यथा व्यायामादयो वातहेतवस्तथा शूलस्यापि हेतव इति । दोषव्याध्युभयहेतव इत्यर्थः । एवं पित्तशूलादिषु द्रष्टव्यम् । शोको बन्धुवियोगात्, उपवासः=अभोजनम्, अतिहासः=अट्टाट्टहासः, अतिभाष्यं=बहुप्रलपनम्, एतैः कारणैर्दुष्टो वायुः शूलं कुर्यात् । स्थानसंश्रयमाह—हृत्=हृदयं, पार्श्वं, पृष्ठं, त्रिकं=स्फिक्-कटि-संधिः वायोः स्थानत्वात्, वस्तिः=मूत्राशयः । जीर्णे=आहारे, प्रदोषे=सन्ध्यासमये, घनागमे=वर्षागमे, शीते=शीतकाले, एतेष्वधिकं प्रकोपं प्रयाति । मुहुर्मुहुरपशमप्रकोपौ वायोश्चलत्वात्, मुहुर्मुहुः=वारंवारं प्रकोपोपशमी भवतः । विड्-वात-संस्तम्भन=तोद=भेदैरिति पुरीषादीनां यदा स्तम्भः यदा प्रकोपः यदा च तेषां प्रवृत्तिस्तदोपशमः, भेदोऽभिघात इव, एतदुपलक्षणम् । यदा तोद-भेदौ तदा प्रकोपः । संस्वेदनादिभिः शमं शान्तिं प्रयाति स्निग्धोष्णभोजनैश्च ॥ २-५ ॥

अथ पैत्तिकशूलस्य निदानानि ।

पैत्तिकमाह—

क्षारातितीक्ष्णोष्ण-विदाहि-तैल-निष्पाव-पिण्याक-कुलत्थ-यूषैः ।  
कटम्ल-सौवीर-सुराविकारैः क्रोधानलाऽऽयास-रविप्रतापैः ॥ ६ ॥  
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम् ।  
तृण-मोह-दाहाऽऽर्ति-करं हि नाभ्यां संस्वेद-मूर्च्छा-भ्रम-चोष-युक्तम्  
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च ।  
शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥ ८ ॥

म०—क्षारेत्यादि । क्षारो=यवक्षारादिः, शुष्ककादिकृतक्षारद्रव्यं च । तीक्ष्णोष्णं=मरिचराजिकादि, विदाहि=वंशकरीरादि, तैलं=तिलविकृतिः, निष्पावः=शिम्बिः, पिण्याकः=निस्त्रेहः सर्षपादिकल्कः, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षणः । सौवीरं=सन्धानविशेषः । रविप्रतापो=रौद्रः । ग्राम्यातियोगो=मैथुनातिसेवा । विदाहीति पूर्वं पठित्वाऽपि अशनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि दोषवशेन विदाहित्वं दर्शितम् । यदाह सुश्रुतः—“स्रोतस्यन्नवहे

पित्तमग्नौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते” ( सु. सू. स्था. अ. ४६ )—इति । विदाहकाल इत्याहारस्य । जलदात्यये=शरदि ॥ ६-८ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—क्षारेत्यादि । क्षारो यवक्षारादिः, मुष्ककादिकृतक्षारश्च, । तीक्ष्णोष्णं मरिच-  
राजिकादि, विदाहि वंशकरीरादि, तैलं तिलविकृतिः, निष्पावः शिम्बिः, पिण्याको निःस्नेह-  
स्तिलकल्कः ‘खल्ली’ इति लोके, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षणः । कटुः कटुकरसः  
अम्लश्च; सौवीरं सन्धानविशेषः, अन्ये काञ्जिकम्, सुराविकारः शालिषष्टिकपिष्टैः कृतं मद्यं  
सुरा तस्या विकारः, पुनर्नवाशालिपिष्टैः कृता श्वेतसुरा, विभीतकत्वक्शालितण्डुलपिष्टै-  
स्तु वैभीतक्री सुरा इत्यादि । क्रोधः=क्रोपः, अनलो=वह्निसेवा, आयासः=श्रमकारि कर्म,  
रविप्रतापोऽतिघर्मः । ग्राम्यातियोगः=मैथुनातिसेवा, अश्वनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि-  
दोषवशेन विदाहित्वं दर्शितम् । यदाह सुश्रुतः—“स्रोतस्यन्नवहे पित्तमग्नौ वा यस्य तिष्ठति ।  
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥” इति । एभिः कारणैर्दुष्टं पित्तं शूलं जनयेत् । वृद्ध-  
तृषा, मोहो नष्टचित्तता, दाहः प्रसिद्धः । ताभ्यां पित्तशूलस्य स्थानत्वात् । स्वेदादयः  
प्रसिद्धा, चोषः चुष्यत इव वेदनाविशेषः, एतैर्युक्तम् । मध्यंदिने अर्धरात्रे च कोपं याति ।  
विदाहकालः आहारस्य पाकावस्थिकः । ‘निदाघकाले’ इति पाठान्तरम् । जलदात्यये शरदि,  
शीते शीतवीर्यैः सुस्वादुशीतैः मधुरशीतभोजनैश्च शान्तिं गच्छति ॥ ६-८ ॥

अथ श्लैष्मिकशूलस्य निदानानि ।

श्लैष्मिकमाह—

आनूप-वारिज-किलाट-पयोविकारै-

मांसेशु-पिष्ट-कृशरा-तिल-शङ्कुलीभिः ।

अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च

श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ ९ ॥

हृल्लास-कास-सदनारुचि-संप्रसेकै-

रामाशये स्तिमितकोष्ठ-शिरोगुरुत्वैः ।

भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं

सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ १० ॥

म०—आनूपेत्यादि । आनूपवारिजं मांसादिकं, किलाटं=तक्रकूर्चिका, कृश-  
रा=तिल-तण्डुल-माष-यवागूः । सूर्योदये=प्रातः । कुसुमागमे=वसन्ते ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—श्लैष्मिकमाह—आनूपेत्यादि । आनूपमांसं=जलप्रदेशचारिणां मांसं, वारिजं=मत्स्या-  
दीनां जलचराणां मांसम्, किलाटः=तक्रकूर्चिका, अन्ये सद्यःप्रसृतमहिषीक्षीरकृतमाहुः, पयो-

विकारः=पायसदध्यादि । मांसं=प्राभ्यमांसं, इक्षुरिति इक्षुविकारः । पिष्टमिति पिष्टान्नम्, कृशरा=तिलतण्डुलमाष्यवागूः, एतैः श्लेष्मजनकैः श्लेष्मा प्रकोपं प्राप्य शूलं कुर्यात् । उपद्रवा-  
नाह--दृष्टासेत्यादि । दृष्टास=उपस्थितवमनत्वमिव, सदनं=गात्रभङ्गः संप्रेसको=लाला-  
स्रावः । आमाशये रुजं कुरुत इति योज्यम् । त्तिमितकोष्ठमिति वदकोष्ठता, सूर्वादये=  
प्रातः, पुष्पागमे=वसन्ते, एतेषु कालेष्वपि विशेषेण कुप्यति ॥ १० ॥

अथ सान्निपातिकशूलस्य लक्षणानि ।

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्यादभिषक् सर्वभवं हि शूलम् ।  
सुकष्टमेनं विष-वज्र-कल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥११॥

आ०—सान्निपातिकमाह—सर्वेष्वित्यादि । त्रिदोषाणां मिलितैर्लक्षणैस्त्रिदोषजं जानीयात् ।  
सुकष्टम्=असाध्यम् । विषवज्रतुल्यं मारणात्मकत्वात् ॥ ११ ॥

अथामशूलस्य लक्षणानि ।

आमशूलमाह—

आटोप-दृष्टास-वमी-गुरुत्व-स्तैमित्यकाऽऽनाह-कफप्रसेकैः ।  
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥१२॥

म०—आटोपेत्यादि । कफस्य लिङ्गेन=कफशूलोक्तलिङ्गेन ॥ १२ ॥

आ०—आमजमाह—आटोपेत्यादि । आटोपो=गुडगुडाशब्दः सरुक्, गुरुत्वम्, स्तैमित्यम्,  
उदरे आनाह=ऊर्ध्वाधोवातानिरोधः, कफप्रसेकः=कफस्रावः । कफस्य लिङ्गेनेति श्लैष्मिक-  
शूलोक्तलिङ्गेन तमामोद्भवं शूलं जानीयात् ॥ १२ ॥

अथ त्रिदोषोत्पन्नशूलस्य लक्षणानि ।

वस्तौ हृत्-पार्श्व-पृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः ।  
कुक्षौ हन्-नाभि-मध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥ १३ ॥  
दाह-ज्वर-करो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

म०—वातपैत्तिकश्चरकोक्तवातपैत्तिकशूलस्थाने द्रष्टव्यः । एवं सान्निपाति-  
कोऽपि उक्तदोषत्रयस्थाने । यदुक्तम्—“वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति पित्ता-  
त्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्-पार्श्व-कुक्षौ कफसंनिविष्टं सर्वेषु देशेषु च  
सान्निपातात्”—इति ॥ १३ ॥—

आ०—वातकफस्य स्थानसंश्रयत्वेनोपद्रवानाह—वस्ताविति । वस्तौ=मूत्राशये, पार्श्वयो द्वयोः । कफपैत्तिकमाह कुक्षावित्यादि । कुक्ष्यावुदरे । वातपैत्तिकमाह—दाहेति । दाहः=सर्वाङ्गवापः, घोरो=दारुणः । सन्निपातिकस्तूक्तदोषत्रयस्थाने, यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभौ । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्”—इति ॥ १३ ॥

अथ शूलरोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

साध्यत्वादिलक्षणमाह—

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥

सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

म०—एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति उपद्रवास्तु वेदनादयः । यदुक्तम्—“वेदना च तृषा मूर्च्छा आनाहो गौरवारुची । कासः श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवाः स्मृताः”—इति ॥ १४ ॥—

आ०—साध्यासाध्यत्वमाह—एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति उपद्रवास्तु वेदनादयः । यदुक्तम्—“वेदना च तृषा मूर्च्छा आनाहो गौरवारुची । कासश्चासी च हिक्का च शूलस्योपद्रवाः स्मृताः”—इति ॥ १४ ॥

अथ परिणामशूलस्य सम्प्रप्तिः ।

परिणामशूलमाह—

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥

कफपित्तं समावृत्य शूलकारी भवेद् बली ।

म०—स्वैरित्यादि । अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणामकालसंभवत्वेन पित्तोत्पन्नत्वं द्रष्टव्यम् । यदुक्तमन्यत्र—“बलासः प्रच्युतः स्थानात् पित्तेन सह मूर्च्छितः । वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने ॥ कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ वस्तौ स्तनान्तरे । पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः ॥ भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽग्रे च प्रशाम्यति । षष्टिक-त्रीहि-शालीनामोदनेन विवर्धते ॥ तत्-परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम् । तमाहू रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम् ॥ केचिदन्नद्रवं प्रादुरन्ये तत् पक्तिदोषतः । पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्”—इति ॥ १५ ॥—

आ०—परिणामशूलमाह—स्वैरित्यादि । स्वः कारणैः कुपितो बलवान् वातः सन्निहितो=निकटो यदा उभे कफपित्ते समावृत्य= व्याप्य तिष्ठेत्, तदा शूलकारी भवेत् । अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणामकालसंभवत्वेन पित्तोत्पन्नत्वं द्रष्टव्यम् । यदुक्तमन्यत्र—“बलासः प्रच्युतः

स्थानान् पित्तेन सह मूर्च्छितः । वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने ॥ कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभ्यां  
बलौ स्तनान्तरे । पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेध्वेतेषु वा पुनः ॥ भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णे चात्रे प्रशाम्यति ।  
षट्प्रदीहिशालीनामोदनेन विवर्धते ॥ परिणाममयं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम् । तमाह रसवाहानां  
स्रोतसां दुष्टिहेतुकम् । केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषजनम् । पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाह-  
जम्—इति ॥ १५ ॥—

अथ परिणामशूलस्य सामान्यलक्षणानि ।

भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥  
तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते ।

म०—भुक्ते जीर्यति=आहारे पच्यमाने ॥ १६ ॥—

आ०—तस्य सामान्यलक्षणमाह—भुक्त इति । आहारे पच्यमाने ॥ १६ ॥

अथ वातिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

तस्य वातादिभेदेन लक्षणेषु वातिकमाह—

अधमानाटोप-विण्-मूत्र-विवन्धारति-वेपनैः ॥ १७ ॥  
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद् वदेद् भिषक् ।

म०—आधमानेत्यादि ॥ १७ ॥—

आ०—वातिकमाह—आधमानेत्यादि । अधमानं=ध्मातमिव वातेनोदरपूरणम् । आटोपो=  
गुडगुडाशब्दवत्, विण्मूत्रयोरप्रवृत्तिः, अरतिः=सुखाभावः, वेपनं=कम्पः । स्निग्धैरुष्णैश्च  
शान्तिं व्रजेत् ॥ १७ ॥—

अथ पैत्तिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

तृष्णा-दाहारति-स्वंदं कट्मल-लवणोत्तरम् ॥ १८ ॥  
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।

म०—तृष्णादाहारतिस्वेदा यत्र सन्ति तत् तृष्णादाहारतिस्वेदम् । कट्मल-  
लवणोत्तरं=कट्मललवणैर्वृद्धम् । शीतशमप्रायं शीतलोपशमबहुलम् ॥ १८ ॥—

आ०—पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । आहारे पच्यमाने । तृष्णादाहाऽरुचिस्वेदा यस्मिन्  
तत् तृष्णादाहारुचिस्वेदम्, कट्मललवणोत्तरं कट्मललवणैर्वृद्धम् । शीतशमप्रायं शीतोप-  
शमबहुलम् ॥ १८ ॥

अथ श्लैष्मिकपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

छर्दि-हृल्लास-संमोहं स्वल्परुग् दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥

कटु-तिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।

म०—छर्दिहृल्लाससंमोहलिङ्गानि यस्मिन् सन्ति तच्छर्दिहृल्लाससंमोहम् । दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि ॥ १९ ॥—

आ०—श्लैष्मिकमाह—छर्दित्यादि । छर्दिहृल्लाससंमोहा यस्मिन् तच्छर्दिहृल्लाससंमोहं, स्वल्पा रुक् यस्मिन्; दीर्घसन्तति चिरानुबन्धि । कटुतिक्तै रसैरुपशममेति ॥ १९ ॥—

अथ द्वन्द्वजपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥

आ०—द्विदोषजमाह—संसृष्टेत्यादि ॥ २० ॥

अथ त्रिदोषजपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीण-मांस-बलानलम् ।

आ०—त्रिदोषजेति । क्षीणं मांसं बलम् अनलो वह्निर्यत्र तन् क्षीणमांसबलानलम् ॥

अथ अन्नद्रवाख्यशूलस्य लक्षणानि ।

त्रिदोषविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यं शूलमाह—

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥ २१ ॥

पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।

न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ २२ ॥

( अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते ।

वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति ॥ १ ॥ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूल-  
निदानं समाप्तम् ।

म०—जीर्णं इत्यादि । जीर्णे 'आहारे' इति शेषः, एवं जीर्यत्यजीर्णे वेत्यत्र सर्वदेत्यर्थः । न शमं याति नोपशेते इत्यर्थः, न त्वसाध्यं, चिकित्साविधानादिति ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकौशल्याख्यायां शूलनिदानं समाप्तम् ।



[उदावर्तनाहनिदानम्] मधुकोशातङ्कदर्पणान्यां सहितम् । ( ३१९ )

आ०—असाध्यत्रिदोषजविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यमाह—जीर्णेत्यादि । जीर्णे आहारे; तथा जीर्यति पच्यमाने । सर्वदेत्यर्थः; पथ्येऽपि भुक्ते न शान्तिं गच्छति । प्रायेण त्रिदोषजविकृति-त्वादसाध्यम् ॥ २१ ॥ २२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
शूलनिदानम् ॥ २६ ॥

अथोदावर्तनाहनिदानम् ।

( Intestinal obstruction )

अथोदावर्तरोगस्य कारणानि ।

उदावर्तेऽपि शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तमाह—

वात-विण्-मूत्र-जृम्भा-ऽस्र-क्षवोद्गार-वमीन्द्रिय-।  
क्षुत्तृष्णोच्छास-निद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥

( सु० उ० अ० ४४ )

म०—वातेत्यादि । अस्रमश्रु, इन्द्रियशब्देनात्र शुक्रं, क्षुत्=क्षुधा । धृत्या=वेगविधारणेन । एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषां क्रोधादीनां वेगविधारणं न तद्वेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात् । यदाह चरकः—“लोभ-शोक-भय-क्रोध-मान-वेगान् विधारयेत्” ( च. सू. स्था. अ. ७ )—इत्यादि । सर्वोदावर्तेषु च वायुरेव कारणम् । यदाह सुश्रुतः—“सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये” ( सु. उ. त. अ. ५५ )—इत्यादि । उद्भूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः; अन्ये तु वायो-रूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमाहुः; तन्न, अश्रुस्त्रावादेरव्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समाधेयम् ॥ १ ॥

आ०—उदावर्ते शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तारम्भः । उदावर्तमाह—वातेत्यादि । एतेषां धृत्या=वेगविधारणेन । अश्रु=चक्षुर्जलं, क्षवश्छिक्का, इन्द्रियशब्देन शुकमुच्यते, क्षुत्=क्षुधा, एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषामपि क्रोधादीनां विधारणं न तद्वेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात् । यदुक्तं चरके—“लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्” इत्यादि । सर्वेषूदावर्तेषु वायुरेव कारणम् । यदाह सुश्रुताचार्यः—“सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः । वायोः क्रिया विधातव्याः स्वमार्गप्रति-पत्तये”—इति । उद्भूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोरावर्तनमुदावर्त इति निरुक्तिः; अन्ये तु वायोरूर्ध्व-मावर्तो गमनमित्युदावर्त इत्याहुः ॥ १ ॥

अथ वातोदावर्तस्य लक्षणम् ।

उक्तवाताद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणान्याह—

वात-मूत्र-पुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा ।

जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ २ ॥

( च० सु० अ० ७ )

म०—वातेत्यादि । अन्ये इति तोद-शूलादयः ॥ २ ॥

आ०—उक्तवाताद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणमाह वातेत्यादि । अपानवातस्य धारणात्, आध्मानं ध्मातमिवोदरे, सङ्गोऽप्रवृत्तिः, क्लमोऽनायासश्रमः, रुजा उदरे, अन्ये इति शूलतोदादयः २

अथ मलावरोधजस्य लक्षणम् ।

आटोप-शूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ।

पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ५५ )

आ०—पुरीषावरोधजमाह—आटोपेति । पुरीषवेगे धारिते सति आटोपः सरुक् गुडगुडा-शब्दः । शूलमिति पक्काशये, परिकर्तिका कर्तनवद् व्यथा, सङ्गः पुरीषस्याप्रवृत्तिः, ऊर्ध्ववात उद्गारबाहुल्यम्, अथवा मुखात् पुरीषनिर्गमनं, ऊर्ध्ववातादेव ॥ ३ ॥

अथ मूत्ररोधजस्य लक्षणम् ।

वस्ति-मेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजाः ।

विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥

( च० सू० अ० ७ )

म०—मेहनं=शोफः । विनाम=आनाहपीडया ( बन्धनवत्पीडया ) नतगात्र-त्वम् । वङ्क्षणयोरानाहो=बन्धनवत् पीडा ॥ ४ ॥

आ०—मूत्रनिग्रहजमाह—वस्तित्यादि । मूत्रनिग्रहे मूत्रे विधरिते सति, वस्तौ मूत्राशये, मेहने मेहे, व्यथाः मूत्रकृच्छ्रमल्पमल्पं कष्टेन मूत्रप्रवर्तनं, विनामः=आनाहपीडया नतगात्रत्वं, वङ्क्षणयो-रुरुसंध्योः, आनाहः पूर्णत्वम् ॥ ४ ॥

अथ जृम्भोपघातजस्य लक्षणम् ।

मन्या-गल-स्तम्भ-शिरोविकारा जम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः ।

तथाऽक्षि-नासा-वदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ५५ )

आ०—जृम्भाविघातजमाह—मन्येत्यादि । शूलं, मन्याकण्ठयोः स्तम्भः, शिरोरोगाः पवनजाः, तथाऽक्षिनासादीनां पवनजा रोगाः स्युः तीव्रा दारुणाः, तथा कर्णरोगाः स्युर्जृम्भाविधारणात् ५

अथाश्रूदावर्तस्य लक्षणम् ।

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि ।  
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेना ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ५५ )

म०—नेत्रोदकम्=अश्रु, प्राप्तमागतम्, अमुञ्चतो 'नरस्य' इति शेषः । चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्रयायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम् ॥ ६ ॥

आ०—अश्रूदावर्तमाह—आनन्दजमित्यादि । नेत्रोदकमानन्दजनितां शोकजं वा, द्विविधमपि लोचनजलं प्राप्तमागतममुञ्चतो 'नरस्य' इति शेषः । शिरोगुरुत्वादयो रोगाः पीनसेन सह तीव्रा जायन्ते, चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्रयायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम् ॥ ६ ॥

अथ छिक्कोदावर्तस्य लक्षणम् ।

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।

इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ ७ ॥

( च० सू० अ० ७ )

म०—अर्धावभेदोऽर्धशिरःशूलम् ॥ ७ ॥

आ०—छिक्कोदावर्तमाह—मन्येत्यादि । क्षवथोः छिक्कायाः, अर्धावभेदकोऽर्धशिरःशूलम्, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां ग्रहणे दौर्बल्यं श्रवण-नयन-नासानामयथार्थं विपर्ययग्रहणम् ॥ ७ ॥

अथोद्गारोदावर्तस्य लक्षणम् ।

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः ।

उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥ ८ ॥

( सु० उ० अ० ५५ )

म०—कूजोऽव्यक्तभाषणमिति कार्तिकः । वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधः । घोरा विकारा हिक्कादयः ॥ ८ ॥

आ०—उद्गारोदावर्तमाह—कण्ठेत्यादि । उद्गारे विधारिते सति कण्ठमुखयोः पूर्णत्वमाहारेण वेति, अतीव तोदः हृद्यामाशये वाऽतिव्यथा, कूजः अव्यक्तभाषणं, वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वासादिनिरोधः घोरा विकाराः पवनजा हिक्कादयः ॥ ८ ॥

अथ छर्द्युदावर्तस्य लक्षणम् ।

कण्ठ-कोठारुचि-व्यङ्ग-शोथ-पाण्डामय-ज्वराः ।

कुष्ठ-वीसर्प-हृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥ ९ ॥

( च० सू० अ० ७ )

आ०—छर्द्युदावर्तमाह—कोठो वरटीदृष्टसंस्थानः, व्यङ्गं मुखलाञ्छनं, शोफादयः प्रसिद्धाः ॥ ९ ॥

अथ शुक्रोदावर्तस्य लक्षणम् ।

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च ।

शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥१०॥

( सु० उ० अ० ५५ )

म०—मूत्राशये वस्तौ, 'मूत्रायन' इति पाठे स एवार्थः । वैशब्दः पादपूरणे-  
तत्स्रवणं=शुक्रस्य स्यन्दनम् ॥ १० ॥

आ०—शुक्रोदावर्तमाह—मूत्राशय इत्यादि । मैथुनवृत्तौ शुक्रविधारणात्, मूत्राशये वस्तौ ।  
अन्ये 'मूत्रायने' इति पठन्ति, तत्र मूत्रमार्गे गुदमुष्कयोश्च श्वयथुः । वैशब्दः पादपूरणे, तेष्वेव  
पीडा । मूत्रनिग्रहो मूत्राघातः, शुक्राश्मरी रोगः, तत्स्रवणं शुक्रस्यन्दनं, ते विकारा इति वातकु-  
ण्डल्यादयः ॥ १० ॥

अथ क्षुदुदावर्तस्य लक्षणम् ।

तन्द्रा-ऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः ।

आ०—क्षुदुदावर्तलक्षणमाह—तन्त्रेत्यादि । तन्द्रा निद्राभेदः, अङ्गभेदोऽङ्गभङ्गः, श्रमः कर्मे-  
न्द्रियाणामसामर्थ्यं, दृष्टेः कृशता मान्द्यं, चकारात् कार्यदौर्बल्यादयस्तन्त्रान्तरोक्ताः ग्राह्याः ॥—

अथ तृष्णोदावर्तस्य लक्षणम् ।

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद् हृदये व्यथा च ११

( सु० उ० अ० ५५ )

आ०—तृदुदावर्तलक्षणमाह—कण्ठेति।श्रवणावरोधः शब्दस्याग्रहणम्, अङ्गुलिपिहित इव ११

अथ श्वासोदावर्तस्य लक्षणम् ।

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।

( सु० उ० अ० ५५ )

आ०—श्वासोदावर्तलक्षणमाह—श्रान्तस्येत्यादि । श्रान्तस्य धावनादिना खिन्नस्य निःश्वास-  
विनिग्रहेण हृद्रोगादयो भवन्ति । हृद्रोगो हृदयविकारः, मोहो मूर्च्छा, गुल्मस्यापि सम्भवः ।—

अथ निद्रोदावर्तस्य लक्षणम् ।

निद्रोदावर्तमाह—

जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा १२

( सु० उ० अ० ५५ )

म०—अतिजाड्यं=गौरवम् । "शिरोगात्राक्षिगौरवम्" इति तन्त्रान्तरे पाठः ॥ १२

आ०—निद्रोदावर्तमाह—जृम्भेत्यादि । अक्ष्णोः शिरसि च जाड्यं गौरवम् । अन्ये  
'जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोभिजाड्यम्' इति पठन्ति । तत्र शिरसीति गौरवम् ॥ १२ ॥

अथ कुपितवातजोदावर्तस्य निदानानि ।

वेगनिरोधजानुदावर्तानभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषाय-कटु-तिक्तकैः ।

भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ५५ )

म०—वायुरित्यादि ॥ १३ ॥

आ०—त्रयोदश वेगावरोधजानुदावर्तानभिधायेदानीं रूक्षादिभोजनजनितवातजमाह—  
वायुरित्यादि । कोष्ठानुगः कोष्ठशब्देन समस्तमुदरमध्यमुच्यते, रूक्षादिभिश्चणकराजमाषा-  
दिभिः, तथा कषायादिभिः रसैः कुपितः ॥ १३ ॥

अथास्य सम्प्राप्तिः ।

वात-मूत्र-पुरीषामृक्-कफ-मेदो-वहानि वै ।

स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥ १४ ॥

ततो हृद्-वस्ति-शूलाऽऽतो हृल्लासारतिपीडितः ।

वात-मूत्र-पुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥ १५ ॥

श्वास-कास-प्रतिश्याय-दाह-मोह-तृषा-ज्वरान् ।

वमि-हिक्का-शिरोरोग-मनः-श्रवण-विभ्रमान् ।

बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥ १६ ॥

म०—उदावर्तयति=आवृणोति । अतिवर्तयेत्=शोषयेत् । कृच्छ्रेण लभत  
इति कष्टेन प्रवर्तयति । अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति,—  
“तृष्णादितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम् । शकृद्भ्रमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृ-  
जेत्” ( सु. उ. त. अ. ५५ )—इति ॥ १६ ॥

आ०—तस्य सम्प्राप्तिमाह—वातेत्यादि । ततः स्वैः कारणैः कुपितो वायुः वातमूत्रादीनां  
स्रोतांस्युदावर्तयति ऊर्ध्वमावृणोति पुरीषं चातिवर्तयेत् । हृद्द्वस्तिशूलैः तथा हृल्लासादिभिः  
पीडितः कृच्छ्रेण कष्टेन वातमूत्रपुरीषाणि लभते, वैद्यप्रयत्नात्प्राप्नोतीत्यर्थः । श्वासादीनन्यांश्च  
वातप्रकोपजान् गदान् लभते । मनोविभ्रमः=स्थाणौ पुरुषज्ञानमित्यादि, श्रवणविभ्रमो=विप-  
रीतश्रवणम् । अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति—“तृष्णादितं परिक्लिष्टम्” ॥ १४-१६ ॥

अथानाहस्य लक्षणानि ।

इदानीं विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्स्यत्वेनानाहमाह—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन ।

प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ १७ ॥

( सु० उ० अ० ५६ )

म०--आममित्यादि । नेति पूर्वेण संबध्यते ॥ १७ ॥

आ०--विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्स्यत्वेनानाहमाह—आममित्यादि । प्रवर्तमानं नेति पूर्वेण सम्बध्यते, तेनाप्रवर्तमानमित्यर्थः । यथास्वं त्वं मार्गमित्यर्थः । एवमां निचितं विगुणानिलेन विबद्धं सन्तं स्वमार्गे न प्रवर्तमानं शकृद्वा एवंभूतमानाहविकारमुदाहरन्तीति पिण्डार्थः ॥ १७ ॥

अथामजानाहस्य लक्षणम् ।

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णा-प्रतिश्याय-शिरोविदाहाः ।

आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥ १८ ॥

( सु० उ० अ० ५६ )

आ०--आमजमानाहमाह—तस्मिन्नित्यादि । तस्मिन्नानाहे आमसमुद्भवे तृष्णा संचिताम-जातिः, गुरुत्वमामाशय एव, उद्गारविघातनम् उद्गाराप्रवृत्तिः, शेषं सुगमम् ॥ १८ ॥

अथ पुरीषरोधजानाहस्य लक्षणम् ।

स्तम्भः कटी-पृष्ठ-पुरीष-मूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः ।

शोथश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥ १९ ॥

( च० चि० अ० ५६ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ।

म०--एवं छर्दिरित्येक एव छकारश्छन्दोऽनुरोधात् । स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धतावाची, मूत्र-पुरीषयोश्चाप्रवृत्तिवाची । अलसोक्तानीति आध्मानवा-तनिरोधादीनि ॥ १९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ॥

आ०--शकृतसंचयमाह—स्तम्भ इति । स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धभाववाची, पुरीषमूत्रयोश्चा-प्रवृत्तिवाचीति । शूलोऽत्र कट्यादिष्वेव । छर्दिरित्येक एव छकारः छन्दोऽनुरोधात् पक्वाशयजे पक्वा-शयोत्ये आनाहे इति व्याख्यानयन्ति, ते च पक्वाशयोद्भव आनाहः पुरीषाद्भवतीती-च्छन्ति, तथाऽपि स पूर्वोक्त एव परिफलितोऽर्थः । अलसोक्तानीति आध्मानवातनिरो-धादीनि ॥ १९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाख्याया-मुदावर्तानाहनिदानम् ॥ २७ ॥

अथ गुल्मनिदानम् ।

( Abdominal Tumour )

अथ गुल्मरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

गुल्मेऽप्यानाहो भवतीत्यानाहानन्तरं गुल्ममाह—

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहार-ऽऽविहारतः ।

कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ।

तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्व-हृत्-नाभि-वस्तयः ॥ १ ॥

म०—दुष्टा इत्यादि । पञ्चधेति वात-पित्त-कफ-सन्निपात-रक्त-जाः । द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमवेतत्वान्न पृथग्गण्यन्ते, अशोरोगवत् । कोष्ठान्तरा-माशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं=गुटिकाकारम् । तस्येत्यादि । एतदेव विवृणोति-पार्श्वेत्यादि । पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः, अत एव पार्श्वे इति द्विवचनान्तमेव क्वचित् पठ्यते ॥ १ ॥

आ०—गुल्मेऽप्याध्मानं भवतीत्याध्मानानन्तरं गुल्मनिदानम्, तस्य सम्प्राप्तिमाह—दुष्टा इत्यादि । दुष्टाः स्वकारणैः मिथ्याहाराध्यशनादिभिः, मिथ्याविहारो=बलवद्विग्रहादिः । पञ्च-धेति वातपित्तकफसन्निपातरक्तजान्वेवं पञ्च, द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमवेतत्वान्न पृथङ् न गण्यन्ते, अशोरोग-वत् । कोष्ठान्तः=आमाशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं गुटिकाकारम् । तेषां स्थानान्याह—तस्येत्यादि । पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः । अन्ये पार्श्वे इति द्विवचनान्तमेव पठन्ति ॥ १ ॥

अथ गुल्मरोगस्य सामान्यं लक्षणम् ।

सामान्यगुल्मरूपमाह—

हन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।

वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ४२ )

म०—हृदित्यादि । नाभिश्चन्द्रेण वस्तिर्वोध्यः, सामीप्यात्; यथा गङ्गायां घोष इत्याहुः वस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अत एव 'हृदस्त्योरन्तरे' इति पाठान्तरम् । अन्ये त्वाहुः—वस्तौ विद्रधिरेव स्यान्नतु गुल्म इति । तन्न, गुल्मलक्षणप्रतीतिः । एतत् पञ्चस्थानकथनं दोषजाभिप्रायेण, रक्तजस्य तु गर्भा-शयः स्थानम्, अथ वा पार्श्वस्थितत्वात् गर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणेनैव ग्रहणम् । वृत्तो=वर्तुलः । चयापचयवानिति कदाचिदुपचीयते, कदाचिदपचीयते; एतच्च



सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः गदा-  
धरस्तु सामान्यलक्षणमाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् । 'चयोपचयवान्' इति  
पाठान्तरे दोषस्य चयेनोपचयवानिति । गुल्म इति लतादिपिहितसंस्थानवि-  
शेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् संचितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्म-  
संज्ञेत्याहुः, वाप्यचन्द्रस्त्वाह, -संपिण्डितदोषोगुडकेन मीयत इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

आ०—सामान्यं गुल्मरूपमाह—हृदित्यादि । हृद्=हृदयं, वस्तिः=मूत्राशयः । नाभिश्चन्द्रेण  
वस्तिर्बोध्यः सामीप्यादेव, यथा गङ्गायां घोष इति, वस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अन्ये  
'हृद्गुस्त्योरन्तरे' इत्येव पाठान्तरं पठन्ति । अन्ये तु वस्तौ विद्राघिरेव स्यान्न तु गुल्म इति ।  
तत्र, वस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात्, तथा च चरके="पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वं हृन्नाभिव-  
स्तयः"—इति । सञ्चारी=चलनशीलः, अथ अचलः=स्थिरः, वृत्तो=वर्तुलः । चयोपचयवानिति  
कदाचित् चीयते वृद्धिं गच्छति, कदाचिदपचीयते हीनो भवति । एतल्लक्षणं सामान्योक्त-  
मपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः । गदाधरस्तु सामान्यलक्षणमेवाह,  
सर्वगुल्मानां वातारब्धत्वात् । "चयोपचयवान्" इति पाठान्तरम् । तत्र दोषस्य चयः, तेन उपच-  
यवान् वृद्धिमानित्यर्थः । स गुल्मः लतादिपिहितस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यव-  
त्संचितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः । वाप्यचन्द्रस्त्वाह—संपिण्डितो दोषो गुडकत्वेन मीयत  
इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

अथ गुल्मरोगस्य संख्यारूपा सम्प्राप्तिः ।

पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वं विवृणोति—

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः ।

पुरुषाणां, तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ४२ )

म०—स इत्यादि । व्यस्तैरित्यनेनैकजो द्वन्द्वजोऽपि ग्राह्यः । पञ्चधा गुल्म  
इत्यनेन विरोध इति चेत् । न ! नहि तत्रावधारणं कृतं, पञ्चधैवेति । अत एव  
सूत्रस्थाने चरकेण "पञ्च गुल्मा ( च. सु. स्था. अ. )" इत्यभिधायापि  
"संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्" (च. चि. स्था. अ. ५)  
इत्युक्तम्, समानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात् । रक्तेन चापर इति स्त्रीणामेव ।  
वक्ष्यति हि,—"स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः" (च. चि. स्था. अ. ५)—  
इति । रक्तं चात्रार्तवं न धातुरूपं, धातुरूपरक्तजस्तु गुल्मो यद्यप्यन्योऽस्ति  
तथाऽपि नैतत्संप्राप्तिको भवतीति पृथगुपदिश्यते । पृथग्ज्ञानानभिधानं तु  
पित्तगुल्मसमान-निदान-चिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्, सुश्रुते रक्तातीसारवत् ।  
विशेषलक्षणं च यदाह चरकः—"तृष्णा-ज्वर-परीदाह-शूल-स्वेदाग्निमादवैः ।

गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्—” ( च. चि. स्था. अ. ५ ) इति ।  
धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवति,—इति भट्टारहरिचन्द्रः । तथाच  
क्षारपाणिः,—“स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते । अन्यस्त्वसृग्भवो  
गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते”—इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह,—वातादिदोषजस्यै-  
वापचाराद्रक्ते दुष्टे रक्तजव्यपदेशः,, यथा चरके कफपित्तमेहानामतिकर्षणादु-  
त्तरकालं वातसंसर्गे सति वातमेहत्वमुक्तम् । यदुक्तम्,—“या वातमेहान्  
प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु  
कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता—( च. चि. स्था. अ. ६ ) इति  
क्षारपाणेः रप्येवमेवाभिप्रायः । यदि तु पृथक् स्यात् तदा तत्रापि नवमं  
लिङ्गस्थानादिभिरभ्यधास्यत् । न चोक्तं जेज्जटगयदासाभ्यां, हरिचन्द्रमतमे-  
वानुमतमिति । सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम् । यदुक्तं चरके,—“गुल्मिनामनिल-  
शान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या । मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्प-  
मपि कर्म निहन्त्यात्—” ( च. चि. स्था. अ. ५ ) इति; सुश्रुतेऽप्युक्तम्,—“कु-  
पितानिलमूलत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते—सु. उ. ते. अ. ४२ )” इति । न चैता-  
वता नानात्मजत्वप्रसङ्गः, वातस्यानुबन्धरूपत्वात्, ज्वरे पित्तवत् । ननु, वाता-  
व्यभिचारात् द्विदोषजस्त्रिदोषजो वा गुल्मः स्यान्न केवलं कफजः पित्तजो वेति,  
ततश्च पञ्चथेति विरोधः नैतत् । अनुबन्धरूपेण वातजव्यपदेशो, नत्वनुबन्ध-  
रूपेणेति ॥ ३ ॥

आ०—तस्य संख्यामाह—स इत्यादि । स गुल्मो व्यस्तैर्वातपित्तश्लेष्मभिहच्छ्रुतैः प्रकु-  
पितैस्त्रिभिरपि जायते पुरुषाणां, व्यस्तैरित्यनेन एकजो द्वन्द्वजश्च ग्राह्यः । एवं पञ्चधा गुल्म  
इत्यनेन वचनेन विरोध इति चेत् । न, नहि तत्रावधारणं कृतं पञ्चधैवेति; अत एव सूत्रस्थाने  
चरकेण पञ्च गुल्मा इत्यभिधायपि “संस्पृष्टलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिदोषधकल्पनार्थम्”—  
इत्यभिहितम् । ज्ञेयो रक्तेन चापरः इति स्त्रीणामेव । यदुक्तमिहैव—‘स रौघरः स्त्रीभवगुल्म  
एव’ इति । रक्तं चात्रार्तवं, पृथग्ज्ञानानभिधानं तु पित्तगुल्मसमाननिदानाच्चिकित्स्यत्वेन तत्रान्त-  
र्भावात् । चरकसुश्रुतयो रक्तातिसारवत् । विशेषलक्षणं यदाह चरकः—“तृष्णाज्वरपरीदाहशूल-  
स्वेदाग्निमार्दवैः । गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्”—इति । धातुरूपरक्तजश्च स्त्रीणां पुंसां  
च भवतीति भट्टारकहरिचन्द्रः । तथा च क्षीरपाणिः—“स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते ।  
अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते”—इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह—वातादिदोषजस्यैवाप-  
चाराद्रक्ते दुष्टे रक्तजव्यपदेशः; यथा चरके—कफपित्तप्रमेहानामतिकर्षणादुत्तरकालं वातसंसर्गे  
सति वातमेहत्वमुक्तम् । यदुक्तं—“या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया  
सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता”—इति । क्षीरपाणेः रप्यमे-  
वाभिप्रायः । यदि तु पृथक् स्यात्, तदा तस्यापि लिङ्गस्थानादिभिरभिधानं स्यात्, तच्च  
नोक्तं, जेज्जटगयदासाभ्यां तु हरिचन्द्रमतमेवानुमतमिति । सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम् । यदुक्तं

चरके—“गुल्मिनामभिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरणीया । मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषम-  
ल्पमपि कर्म निहन्वात्”—इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च । तुल्यवद्वा  
विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते”—इति ॥ ३ ॥

अथ गुल्मरोगस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

उद्गारबाहुल्य-पुरीषबन्ध-तृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।

आटोप आध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥४॥

( वा०नि० अ० ११ श्लो० ९ )

म०—उद्गारेत्यादि पुरीषबन्धो=विड्वन्धः । तृप्तिरनन्नाभिलाषः । सुश्रुतेऽपि हि  
“द्वेषोऽन्ने”- ( सु. उ. त. अ. ४२ ) इति पठितम् । अक्षमत्वमसामर्थ्यम् ।  
आटोपोऽत्र रुजापूर्वकः क्षोभः, तलतलं वा; नतु गुडगुडाशब्दः; तस्यान्त्रकूजने-  
नैव गृहीतत्वात्; नाप्याध्मानं, तस्योपात्तत्वात् । अपक्तिशक्तिः=मन्दाग्निता ।  
‘अपक्वशक्तिः’ इति पाठे स एवार्थः ॥ ४ ॥

आ०—तस्य पूर्वरूपमाह—उद्गारेत्यादि । उद्गारबाहुल्यं, पुरीषबन्धो विड्वन्धः, तृप्तिरन-  
न्नाभिलाषः, सुश्रुते हि—‘द्वेषोऽन्ने’ इति पठितम् अक्षमत्वमसामर्थ्यम् । तृप्त्यक्षमत्वं सौहित्यास-  
हिष्णुतेति केचित् । अन्त्रविकूजनमन्त्राणामव्यक्तशब्दानुकरणम् । आटोपो रुजापूर्वकः क्षोभः,  
न तु गुडगुडाशब्दः, तस्यान्त्रकूजनेनोक्तत्वात् । आध्मानमुपान्तयोराध्मानमिव, अपक्तिशक्तिः  
मन्दाग्नित्वादाहारस्यापाकः ॥ ४ ॥

अथ गुल्मस्य साधारणं रूपम् ।

गुल्मसाधारणरूपमाह—

अरुचिः कृच्छ्र-विण्-मूत्र-वात-ताऽन्त्रविकूजनम् ।

आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

म०—अरुचिरित्यादि ।

अ०—सर्वगुल्मानां साधारणलक्षणमाह—अरुचिरित्यादि । कृच्छ्रविण्मूत्रवातता=कष्टेन  
विण्-मूत्र-वात-प्रवर्तनम् । अन्त्रविकूजनं=गुडगुडाशब्दः, आनाह=ऊर्ध्वाधोवातानिरोधः, ऊर्ध्व-  
वातत्वमुद्गारबाहुल्यम् ॥ ५ ॥

अथ वातगुल्मस्य हेतवो लक्षणानि च ।

वातिकमाह—

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।

शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ६ ॥

यः स्थान-संस्थान-रुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्र- शोषम् ।  
 श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्-कुक्षि-पार्श्वस-शिरो-रुजं च ॥७॥  
 करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।  
 वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषाय-तिक्तं कटुचोपशेते ॥८॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—रूक्षेत्यादि । विषमातिमात्रमिति अन्नपानविशेषणम् । विचेष्टनं= विरुद्धचेष्टा बलवद्विग्रहादिः । अतिमलक्षयो विरेकादिना । निरन्नता=निरा-  
 हारता । विकल्पशब्दः स्थानादिभिः प्रत्येकं योज्यः । स्थानविकल्पो यथा-  
 कदाचिन्नाभौ, कदाचित्पार्श्वयोः, कदाचिद्वस्तिवित्यादिस्थानान्तरगमनम् ।  
 संस्थानविकल्पो यथा-कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, वृत्तो, दीर्घो वेति ।  
 रुजाविकल्पो यथा-कदाचिदल्पा, कदाचिन्महती, तोदरूपा, अनेकरूपा  
 वेति । नच तत्रोपशेते=न सुखयति ॥ ६-८ ॥

आ०—वातगुल्मस्य हेतुपूर्वकं लक्षणमाह—रूक्षेत्यादि । विषमातिमात्रमिति अन्नपानविशेष-  
 णम् । विषमं बहु स्तोकमकालभोजनम्, एवं जलपानमपि, अतिमात्रं मात्राधिकम् एवं जलस्यापि ।  
 विचेष्टनं विरुद्धचेष्टा बलवद्विग्रहादिः, अभिघातो लघुडादिना, अतिमलक्षयो विरेकादिना, निरन्नता  
 निराहारता । य इत्यादि । स्थानविकल्पो यथा--कदाचिन्नाभौ, कदाचिद्वस्ती, कदाचित्पार्श्वयोरित्या-  
 दिस्थानान्तरगमनम् । संस्थानविकल्पो यथा--कदाचिद्वर्तुलः, कदाचिदीर्घ इत्यर्थः । रुजाविकल्पो  
 यथा--कदाचिदल्पा रूक्, कदाचिन्महती, तोदरूपा, भेदरूपा, अनेकरूपा वेति । विड्वातसङ्गं=  
 विड्वाताप्रवृत्तिः, कण्ठवक्त्रयोः शोषः, श्यावारुणत्वं शरीरस्य, शीतज्वरः, हृत्कुक्ष्यादीनां पीडा,  
 अंसः=भुजयोरुपरिभागः । जीर्णे आहारे प्रकुप्यति, भुक्ते च शान्तिं गच्छति, स वातिको गुल्मः  
 रूक्ष आहारः कषायतिक्तकटुका रसाः, तत्र तस्मिन्वातगुल्मे नोपशेते न सुखयति, वात-  
 कारणत्वात् ॥ ६-८ ॥

अथ पैत्तिकगुल्मस्य निदानानि ।

पैत्तिकमाह—

कङ्कम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्रोधातिमद्यार्क-दुताश-सेवा ।  
 आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥९॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—कट्वित्यादि । आमाभिघात इति विदग्धाजीर्णजनितदुष्टरसेनाभि-  
 भवः; अन्ये तु आमाभिघाताविति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः, अभिघातो लघु-  
 डादेः रक्तदूषको ज्ञेयः ॥ ९ ॥

आ०--पैत्तिकगुल्ममाह--कटित्यादि । विदाहि-वंशकरीरादि, अतिशब्दो मद्यादिषु द्योयः । आमाभिघात इति विदग्धाऽजीर्णजनितदुष्टरसेनाभिभवः, अन्ये-आमाभिघाताविति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः, अभिघातो लगुडादिना रक्तद्रूपको ज्ञेयः । एते पैत्तिकगुल्मस्य हेतवः ॥ ९॥

अथ पैत्तिकगुल्मस्य लक्षणानि ।

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महजीर्यति भोजने च ।

स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥ १०॥

( च० चि० अ० ५ )

म०-जीर्यतीति सप्तम्यन्तम् । व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् ॥ १० ॥

आ०-तस्य लक्षणमाह-ज्वर इत्यादि । ज्वरः प्रसिद्धः, पिपासा पातुमिच्छा, वदनाङ्गरागः मुखे शरीरे चारुणता, आहारे जीर्यति पच्यमाने महच्छूलं भवति, व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् । एतत्पित्तगुल्मरूपम् ॥ १० ॥

अथ श्लैष्मिकगुल्मस्य निदानानि ।

श्लैष्मिकमाह—

शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।

गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य,—

म०-शीतमित्यादि । संपूरणं=तृप्तिभोजनम् ।

आ०-श्लैष्मिकमाह-शीतमित्यादि । शीतादिभिर्द्रव्यैः, अचेष्टनमव्यायामः । संपूरणमिति आहारादिना कोष्ठस्य तृप्तिरिव, एतन् सर्वं कफगुल्मस्य हेतुः ।

अथ सान्निपातिकगुल्मस्य हेतवः ।

सान्निपातिकस्य हेतुमाह—

सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ ११ ॥

( च० चि० अ० ५ )

म०-सर्वं इति वातजाद्युक्तः । निचयात्मकस्य=सान्निपातजस्य ॥ ११ ॥

आ०-एतस्यैव श्लोकपादेन सान्निपातिकस्य हेतुमाह-सर्वं इति । निचयात्मकस्य सान्निपातिकस्य गुल्मस्य वातजाद्युक्तहेतुः कारणं, तथा सर्वदोषोक्तलक्षणानि च भवन्ति ॥ ११ ॥

अथ श्लैष्मिकगुल्मस्य लक्षणानि ।

स्तैमित्य-शीतज्वर-गात्रसाद-हृल्लास-कासारुचि-गौरवाणि ।

शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य १२॥

( च० चि० अ० ५ )

म०-कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य ॥ १२ ॥

आ०-श्लैष्मिकस्यैव लक्षणमाह-स्तैमित्यं=निश्चलत्वं, शीतज्वरादयः सुबोध्याः, शैत्यं=शीतगात्रता, कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्यैव ॥ १२ ॥

अथ द्वन्द्वजगुल्मस्य लक्षणानि ।

इद्यात्मकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह—

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च ।

व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१३॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—निमित्तेत्यादि । निमित्तानि च रूपाणि चेति द्वन्द्वः । दोषबलाबलं चेत्यनेन समद्विदोषद्वन्द्वजत्रयेण एकोल्लवणादिद्विदोषजोऽपि ग्राह्य इति दर्शयति-  
अन्यथा बहुत्वापत्तेः । औषधकल्पनार्थमिति एकदोषजाभिहितचिकित्सामेल-  
केन तान् चिकित्सेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

आ०—द्वन्द्वादिकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह—निमित्तेत्यादि । लिङ्गानि=लक्ष-  
णानि द्विदोषजे गुल्मे दोषाणां बलाबलं च ज्ञात्वा व्यामिश्रलिङ्गान्=मिलितलिङ्गान् परान्  
त्रीन् गुल्मान् औषधकल्पनार्थमादिशेत्, एकदोषजाभिहितचिकित्सामेलकेन च चिकित्सेदित्यर्थः १३

अथ सान्निपातिकगुल्मस्य लक्षणानि ।

सान्निपातिकमाह—

महारुजं दाहपरीतमश्मवद् घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।

मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् १४

( च० चि० अ० ५ )

म०—महारुजमित्यादि । अश्मवत् घनोन्नतं पाषाणवत् कठिनमुन्नतं च ।  
मन इत्यादि मनोऽपहारिणं=मनोवैकल्यकारिणं, शरीरापहारिणं=कृशत्ववैवर्ण्य-  
करम् अग्न्यपहारिणमग्निवैषम्यकरं, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम् । ननु, असा-  
ध्यमिति विरुद्धं, “सान्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः” ( सु. उ. त.  
अ. ४२ ) इति सुश्रुतवचनात् । नैवम्, अयं च विकृतिविषमसमवेतोऽसाध्यः,  
प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्य इत्याहुः । ननु, सोऽप्यसाध्यः, यदाह सुश्रुतः,—  
“सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिस्तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः” ( सु. उ. त. अ.  
४२ )—इति उच्यते, तं चापीति अपिशब्दादचिरोत्थितः साध्यो विश्वामित्र-  
संवादादिति गणदासः ॥ १४ ॥

आ०—त्रिदोषजस्यासाध्यत्वमाह—महारुजमित्यादि । महारुजं=तीव्रपीडाकरं. दाहपरी-  
तदेहं=सन्तापेन व्याप्ताखिलदेहं, शीघ्रेण विदाहकरं, दारुणं=मारणात्मकम्, अश्मवद् घनोन्नतं=

पाषाणवत् कठिनोन्नतम् । मन इत्यादि मनोपहारिणं=मनोवैकल्यकरं; शरीरापहारिणं=कृशत्ववैवर्ण्यकरम्, अग्न्यपहारिणमग्नेर्वैषम्यादिकरम्, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम् । एतल्लक्षणं विकृतिसमसमवेतस्य, प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्यः ॥ १४ ॥

अथ रक्तगुल्मस्य संप्राप्तिः ।  
( Ovarian Tumour )

रक्तगुल्ममाह—

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा ।  
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ।

( च० चि० अ० ५ )

म०—नवेत्यादि । आमगर्भं विसृजेदिति नवममासादवाक् प्रसूते; ऋतौ=आर्तवप्रवृत्तिकाले, अहितभोजनेति संबन्धः । एतच्चोपलक्षणार्थं, तेनाहाराचारादिकं ज्ञेयम् । यदाह चरकः—“ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति” ( च. चि. स्था. अ. ५ )—इति ॥

आ०—स्त्रीणां रक्तजगुल्मस्य संप्राप्तिमाह—नवेत्यादि । या स्त्री नवप्रसूता सती अहितभोजना भवति, या चामगर्भं विसृजेदिति नवममासादवाक् प्रसूते, ऋतावार्तवप्रवृत्तिकाले अहितभोजनेति संबन्धः । अन्यथा ऋतौ तदसंभवात् । एतच्चोपलक्षणं, तेनाहारादिकमपि ज्ञेयम् । यदाह—“ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति” इति ॥

अथ रक्तगुल्मस्य लक्षणानि ।

पैतस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥१५॥  
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।  
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—पैतस्य=पैतिकगुल्मस्य । विशेषणं पैतिकगुल्माद्विशेषलक्षणम् । पिण्डितः=समुदितः । एवकारोऽत्र अवधारणे । एतदेव स्फुटयति—नाङ्गैर्नावयवैश्चिरात् स्पन्दत इति संबन्धः । समगर्भलिङ्ग इति आर्तवाददर्शन—मुखस्रवणस्तनमुखकृष्णत्व-दोहदादि-गर्भलक्षणयुक्तः, एतच्च व्याधिप्रभावात्; यथा-क्षयार्शसोः स्त्रीरिरसाकृष्णत्वङ्मखादयः । अन्ये तु समगर्भलिङ्गोऽविकृत-गर्भलिङ्ग इत्याहुः । उक्तविशेषणैरेव स्त्रीभवत्वे लब्धे स्त्रीग्रहणेन कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वात्तयोः । व्यतीतेऽतिक्रान्ते । गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः—गर्भो वा, रक्तगुल्मो वा, इति; तच्छङ्कानिरा-



सार्थं दशमे मासे व्यतीते इत्युक्तम्, नवम-दशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके । तन्न, 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव विशेषदर्शनेन संशयस्य निर्वर्तितत्वात् । गर्भो हि निरन्तरं प्रत्यङ्गैर्निःशूलं स्पन्दते, गुल्मस्तु एतद्विपरीतेन । किंच नवमे दशमे प्रसूत इत्युत्सर्गः, नतु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च । उक्तं हि चरके—“तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्” (च. शा. स्था. अ. २ )—इति; तस्मान्नेदं दशममासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनं, किंतु व्याधिमहिम्ना तावतैव कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेदनमिति । यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपान-विरेचने । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—“रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्”—इति । पुराणता चास्य दशममासव्यतिक्रमेणैव भवति । जेजटेनाप्युक्तम्, यद्यर्वाक् रक्तभेदनं क्रियते तदा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद्वक्तस्य; एकादशमासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥

आ०—तस्य लक्षणमाह—पैत्तस्येत्यादि । पैत्तिकगुल्मस्यास्यैवापरं विशेषणं तदेव स्फुटयति, चिरात् पिण्डीभूत इव स्पन्दते हस्तपादादिभिरित्यर्थः । सशूलः पीडायुक्तः । समगर्भलिङ्ग इति आर्तवाददर्शनमुखपाण्डुत्वस्तनकृष्णत्वदोहदादिलक्षणयुक्तः, एतच्च व्याधिप्रभावात्, यथा—क्षयाशंसोः स्त्रीरिरसाकृष्णत्वङ्मखादयः । अन्ये तु समगर्भलिङ्ग इति अविकृतगर्भलिङ्ग इत्याहुः स स्त्रीभव एव रक्तजो गुल्मो दशमे मासे व्यतीते सति चिकित्स्यः स्यात् । रौधिर इत्यनेन विशेषणेन नार्तवायुक्तां कुमारीममतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वाच्चयोः । व्यतीतेऽतिक्रान्ते । गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः—गर्भो वा रक्तगुल्मो वेति, तच्छङ्कानिरासार्थं मासे व्यतीतेऽदशमे इत्युक्तं, नवमदशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके; तन्न, 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव संशयस्य निर्वर्तितत्वात् । गर्भो ह्यङ्गेन निरन्तरं निःशूलं स्पन्दते, गुल्मस्तु एतद्विपरीतेनेति । किंच नवमे दशमे प्रसूयत इति सामान्यं न तु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च । यदुक्तं चरके—“तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्”—इति । तस्मान्नेदं दशमासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनं, किंतु व्याधिमहिम्ना तावता कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेद्यत्वात् । यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपानविरेचने; उक्तं हि तन्त्रान्तरे “रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्” इति पुराणता चास्य दशमासातिक्रमेणैव भवति । यदुक्तं जेजटेन—यद्यर्वाक् रक्तभेदनं क्रियते, तदा गर्भशय्यां क्षिणोतीति, तल्लीनत्वाद्वक्तस्य, दशमादूर्ध्वं पिण्डिते गुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्ये क्षतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥

अथ गुल्मस्यासाध्यलक्षणानि ।

चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिश्रहः ।

कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥१७॥

दौर्बल्यारुचि-हृल्लास-कास-च्छर्द्यरति-ज्वरैः ।

तृष्णा-तन्द्रा-प्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥ १८ ॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—संचित इत्यादि । महावास्तुपरिग्रहः=सकलोदरव्यापी । कृतमूलो=धात्वन्तरावगाही । सिरानद्धः=सिराजालवान् ॥ १८ ॥

आ०—चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—संचित इत्यादि । अनुपक्रान्तत्वात्=चिरकालानु-  
बन्धित्वात्, क्रमशः=क्रमेण, संचितो=वृद्धिं गतो, गुल्मो=महावास्तुपरिग्रहः सकलोदरव्यापी, कृत-  
मूलो=धात्वन्तरावगाही । सिरानद्धः=सिराजालवान्, यदा कूर्मवदुन्नतः स्यात्, दौर्बल्यादिभिरुपद्र-  
वैर्युक्तो भवति, तदा न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथास्य पुनरप्यसाध्यलक्षणम् ।

गृहीत्वा सञ्चरं श्वास-च्छर्द्यतीसार-पीडितम् ।

हन्-नाभि-हस्त-पादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥ १९ ॥

( च० चि० अ० ५ )

म०—हृदयादौ गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं कर्षति, 'मरणाय' इति शेषः ॥ १९ ॥

आ०—पुनरसाध्यलक्षणमाह—गृहीत्वेत्यादि । हृदादिषु गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं=गुल्मयुक्त-  
रोगिणं कर्षति मारयतीत्यर्थः । सञ्चरंश्वासं=ञ्चरश्वासाभ्यामुपद्रुतम् ॥ १९ ॥

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता ।

जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥ २० ॥

( सु० सू० अ० ३३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥

म०—ग्रन्थिमूढता=ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनमिति । ननु च,  
अन्तर्विद्रधि-गुल्मयोः को भेदः ? समानस्थान-संभवत्वात् । उच्यते, विद्रधिः  
पच्यते गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात् । यदाह सुश्रुतः,—“न निबन्धोऽस्ति  
गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः । गुल्मस्तिष्ठति दोषेषु विद्रधिर्मांस-शोणिते ॥  
विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मः कापि न पच्यते”( सु. नि. स्था. अ. ९ )-इति ।  
ननु, गुल्मोऽपि पच्यत एव । यदाह चरकः,—“विदाह-शूल-संक्षोभ-स्वप्ननाश-  
रति-ज्वरैः । विद्वह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत्”( च. चि. स्था. अ. ५ )

इति । उच्यते—गुल्मो न पच्यते निराश्रयत्वात्; यदा तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति तदा पच्यमानो दाहनिमित्तकं विद्रधित्वमाप्नोति । उक्तं हि,—“ततः शीघ्रविदाहित्वात् विद्रधीत्यभिधीयते” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । न हि यस्मात् विकरात् यदुत्पद्यते विकारान्तरं तत् स एव भवतीति; माभूत् प्लीहैव उदरम्, अश्मयैव शर्करा, इत्यादि शास्त्रोक्तविरोधविस्तरः । तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यते, इति सिद्धान्तो निरपवादः । ये तु अन्तर्विद्रधिं न पठन्ति तेषामयमभिप्रायः,—गुल्मे पक्वे विद्रधौ च पाटन-शोधन-रोपणादेः, अपक्वे च विरेक-लेप-विम्लापनादेश्चिकित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणति ॥ २० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां गुल्मनिदानं समाप्तम् ।

आ०—पुनश्चासाध्यलक्षणमाह—श्वासेत्यादि । श्वासादय उपद्रवा गुल्मिनो मरणाय भवन्ति ग्रन्थिमूढता ग्रन्थिरूपस्यैव गुल्मस्याकस्माद्विलयनमदर्शनमिति ननु, वातविद्रधिगुल्मयोः को भेदः, समानस्थानसंस्थानत्वात्? उच्यते, विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात् । यदाह सुश्रुतः—“ न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांस-शोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मः क्वापि न पच्यते”—इत्यादि । ननु, गुल्मोऽपि पच्यत एव । यदाह—चरकः—“ विदाहशूलसंक्षोभस्वप्ननाशारुचिज्वरैः । विद्वह्यमानं जानीयाद् गुल्म तमुपनाहयेत् ”—इति । उच्यते—गुल्मो न पच्यते निराश्रयत्वात्, यदि तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति, तदा पच्यमानो विदाहनिमित्तकं विद्रधित्वमेवाप्नोतीति । उक्तं हि—“ स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ”—इति । यद्येवं, तदा यस्माद्विकारान्तरमुत्पद्यते तत्स एव भवति । माभूदेवं तदा प्लीहैव उदरं जठर एव शोफः, एवं शास्त्रविरोधः, तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यत इति सिद्धान्तः । ये तु अन्तर्विद्रधिं न पठन्ति, तेषामयमभिप्रायः—गुल्मापेक्षया विद्रधौ च पाटनशोधनरोपणादेः अपक्वे च विरेकलेपनविम्लापनादेकिश्चित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणति ॥ १७-२० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायां मातङ्कदर्प-

णाख्यायां गुल्मनिदानम् ॥ २८ ॥

अथ हृद्रोगनिदानम् ।

( Diseases of the Heart. )

अथ हृद्रोगस्य निदानानि ।

गुल्मस्य हृदयस्थानमुक्तमतो गुल्मानन्तरं हृद्रोगारम्भः । तस्य हेतुमाह—

अत्युष्ण-गुर्वन्न-कषाय-तिक्त-श्रमाभिघाताध्यशन-प्रसङ्गैः ।

संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

म०—गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तं, अतो हृदयसंकीर्तनात् हृद्रोगारम्भः । प्रसङ्गः=सातत्येन सेवा, अत्युष्णादयो यथायोग्यं वातदीनां क्रिमेश्च निदानमिति बोध्यम् ?

आ०—अतीत्यादि । उष्णादिभिरतिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । उष्णादयोऽतिसेविता वातादीनां हृदामयानां क्रिमिजस्य च हेतवो भवन्ति, श्रमो=धनुः कर्षणादिः, अभिघातो हृद्येव, संचिन्तनं=नृपतिभयादिकं; स च पञ्चप्रकारः—वातादिभिन्नयः, सन्निपातेन, क्रिमिभिश्च ॥ १ ॥

अथ हृद्रोगस्य संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणम् ।

तस्य संप्राप्तिं सामान्यलक्षणं चाह—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।

हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ४३ )

म०—दूषयित्वेत्यादि । दूषयित्वा रसमिति रसस्य हृदयाश्रयत्वात् । विगुणाः=कुपिताः । हृद्रोगमिति वाच्ये यद्वाधाग्रहणं, तद्दोषभेदेन बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थम्; बाधाशब्देन चात्र नानाविधा पीडेति जेजटः, भङ्गवत् पीडेति गयदासः । हृद्रोगमिति “ वा शोक-व्यञ्ज-रोगेषु—” इति रोगे परे हृदयस्य, हृद्भावः, अथ वा हृदो रोगो हृद्रोगः ॥ २ ॥

आ०—तस्य संप्राप्तिमाह—दूषयित्वेत्यादि । विगुणाः कुपिता दोषा रसं दूषयित्वा हृदयं गताः, हृद्रोगमिति वाच्ये यद्वाधाग्रहणं तद्दोषभेदेन बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थं, बाधाशब्देनात्र नानाविधा पीडेति जेजटः, भङ्गवत्पीडेति गयदासः । हृदि रोगो हृद्रोगः इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

अथ वातिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ।

वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—

आयम्यते मारुतज हृदयं तुद्यते तथा ।

निर्मथ्यते दीयते च स्फोट्यते पात्यतेऽपि च ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ४३ )

म०—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते=आकृष्यत इवातुद्यते सूच्येव । निर्मथ्यते दण्डनेव । दीर्यते=दिधेव क्रियते । स्फोट्यते आरयेव । पात्यते कुठारेणेव ॥ ३ ॥

आ०—वातिकमाह—आयम्यत इत्यादि । मारुतजे हृद्रोगे हृदयमायम्यते आकृष्यत इव, तुद्यते सूच्येव, निर्मथ्यते दण्डनेव, स्फोट्यते आरयेव, पाठ्यते कुठारेणेव ॥ ३ ॥

अथ पैत्तिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ।

पैत्तिकलक्षणमाह—

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।

धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ४३ )

म०—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा=किञ्चिदाहः । हृदयक्लमः=हृदयाकुलत्वं, ग्लानि-  
रिति यावत् ॥ ४ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा=प्रादेशिको दाहः, हृदि किञ्चिदाह इत्यर्थः ।  
दाहः सर्वाङ्गिकः चोषः=चूष्यते इव, हृदये क्लमो हृदयाकुलत्वं ग्लानिस्त्ययः । धूमायनं धूमो-  
द्विरणमिव, क्लेदः किञ्चित् दुर्गन्धः सटित इव, मुखस्यैव शोषश्च ॥ ४ ॥

अथ श्लैष्मिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ।

श्लैष्मिकमाह—

गौरवं कफसंस्नावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।

माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० ४३ )

म०—गौरवमित्यादि । बलासावतते=कुपितकफव्याप्ते, “दोषा दुष्टा दूष-  
यितारो भवन्ति”—इत्यागमात् ॥ ५ ॥

आ०—श्लैष्मिमाह—गौरवमित्यादि । बलासावतते हृदि कुपितकफव्याप्ते, दुष्टा दोषा दूषयि-  
तारो भवन्तीत्युक्तत्वात् । गौरवं हृदयस्य, स्तम्भो=जडता, मार्दवं=जलप्लुतमिव, माधुर्य-  
मुखे ॥ ५ ॥

अथ सक्रिमिजसान्निपातिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ।

त्रिदोषज-क्रिमिजयोर्मिलितमेव लक्षणमाह—

विद्यात्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ।

( च० चि० अ० २६ )

उत्क्लेदः घ्रीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।

अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च किमिजे भवेत् ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ४३ )

म०—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वमुक्तं, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येकं वातादिजस्य या सा मिलितैव कार्या । अपचाराच्चेह ग्रन्थिरुत्पद्यते ततः किमिसंभवः । उक्तं हि चरकेण,—“त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिल-क्षीर-गुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्लेदात् किमयश्वास्य भवन्त्युपहतात्मनः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । तस्यैवेदं लक्षणमाह,—तीव्रार्तितोदं किमिजं सकण्डूमिति । उत्क्लेद इत्यादिना तमोन्तं त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणं; तत्र तोदशूले वातात् । उत्क्लेद-हृल्लासौ कफात्, तमः पित्तात्, घ्रीवनं कफपित्तात्; अरुचिरित्यादिना किमिजस्येति जैजटः गयदासस्त्वाह—श्यावनेत्रत्वपर्यन्तेन त्रिदोषजलक्षणमिति । स्यादेतत्, त्रिदोषजपदं न तावदत्र सुश्रुतेन पठितम्, अतः सर्वमेव उत्क्लेदादि शोथान्तं किमिजलक्षणं भविष्यति । नैवम्, “विद्यात्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितादं किमिजं सकण्डूम्” ( च. चि. स्था. अ. २६ ) इति दृढबलस्य वाक्यत्वात् । उत्क्लेद इत्यादिस्तु एक एव श्लोकः सुश्रुतेन पठितः, न तु पृथक् सन्निपातलक्षणम्, तत्स्त्रिदोषजस्यानभिधाने सुश्रुते न्यूनत्वं स्यात् । त्रिदोषाश्मरीवत्तस्यासंभव एवेति चेत् ? नैवम्, तन्त्रान्तरेषु पठितत्वात् । तथाच हारीतः,—“सर्वाणि रूपाणि च सन्निपाताच्चिरोत्थितं चापि वदन्त्यसाध्यम्”—इति । चरकेऽप्युक्तम्,—“हेतु-लक्षण-संसर्गादुच्यते सान्निपातिकः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति; तथा,—“त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते” ( च. सू. स्था. अ. १७ ) इत्यादि । कण्ठरवेण तु त्रिदोषजपदं यत्र पठितं सुश्रुतेन, तत् किमिजस्यापि त्रिदोषजत्वख्यापनार्थमित्याचक्षते । ननु दोषजावान्तरावस्थाविशेषत्वात् किमिजोऽपि दोषज एव, तत् कथं हृदामयः पञ्चविध इति ? नैवम्, रोगजस्यापि रोगस्य पृथक्त्वदर्शनात् । यदुक्तम्—“निदानार्थकर”---इत्यादि । द्विदोषजस्त्वनुक्तोऽपि प्रकृतिसमसमवायत्वाद्बोध्यः ॥ ६ ॥

आ०—त्रिदोषजकृमिजयोर्मिलितमेव लक्षणमाह—विद्यादित्यादि । विद्यात्रिदोषमित्यादि—दृढबलात्कलक्षणम्, उत्क्लेद इत्यादिकमेकपद्यं—सुश्रुतोक्तम्, तीव्रार्तितोदमिति—भिन्नतन्त्रीयत्वात् पौनरेक्त्यं न वाच्यम् । त्रिदोषजे सर्वदोषाणां लिङ्गानि भवन्ति । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृ-

तिसमसमवायारव्यवस्थमुक्तं, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येक वातादिजस्य या सामिलितैव कार्या अपचारात् ।  
कृमिजे ग्रन्थिर्भवति, ततश्च कृमिर्भवः, कृमयो जायन्तेऽस्मिन्निति क्रिमिज इति निरुक्तिः । उक्तं  
हि चरके—“त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षोरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते” —  
इति । उत्कलेद इत्यादिकमेव त्रिदोषहृद्रोगलक्षणम् । तत्र तोदशूले वातात्, तोदो व्यथाविशेषः,  
उत्कलेदहृत्लासौ कफात्, उत्कलदः=अपक्वदोषाणां स्वांशोदयाच्चयुतिः, हृत्लासः=हृदयादीष्वङ्गु-  
निर्गमः, तमः पित्तात्, तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येव, छीवनं कफपित्तात्, एतत्रिदोषलक्षणम् । अहची-  
त्यादिना कृमिजस्य लक्षणम् । एतत्सुगमम् ॥ ६ ॥

अथात्र क्रिमीणामुत्पत्तिबीजम् ।

मर्मैकदेशं संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति ।

संक्लेदात्कृमयश्वास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ७ ॥

अथैषामुपद्रवाः ।

सर्वेषामुपद्रवानाह—

कृमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञयास्तेषामुपद्रवाः ।

क्रिमिजे क्रिमिजार्तानां श्लेष्मिकाणां च य मताः ॥ ८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ।

म०—कृम इत्यादि । श्लेष्मिकाणां ये उपद्रवास्ते क्रिमिजहृद्रोगेऽपि स्युः ।  
ते च हृत्लासस्यस्रवणाविपाकादयः ॥ ७--८ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशस्य ख्यायां हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०—सर्वेषामेवोपद्रवानाह—कृम इत्यादि । श्लेष्मिकाणां कृमाणां य उपद्रवाः ते क्रिमिजे  
हृद्रोगेऽपि मताः । ते च हृत्लासस्यस्रवणाविपाकादय इति ॥ ७ ॥ ८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानस्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
हृद्रोगनिदानम् ॥ २९ ॥

अथ सूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।

( Dysuria )

अथ सूत्रकृच्छ्रस्य निदानानि ।

सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरो-हृदय-वस्तयः प्रधानानि । तत्र हृद-  
यगतविकारानभिधाय वस्तिगतविकारानाह—

व्यायाम-तीक्ष्णौषध-रूक्ष-मद्यप्र-रङ्ग-मित्य-द्रुत-पृष्ठ-यानात् ।

आनूप-मांसाध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥ १ ॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—व्यायामेत्यादि । सूत्रकृच्छ्राणीति सूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन  
प्रवृत्तिः । अष्टाविति दोषैः पृथक् त्रीणि, सन्निपातेनैकम्, शल्यज-पुरीषज



शुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि । ननु, शर्कराजं सूत्रकृच्छ्रं सुश्रुतेन पठितं; तच्चात्र संग्रहेऽपि पठितम्, “अश्मरी शर्करा चैव तुल्य-संभव-लक्षणे”—इत्यादिना; तत् कथमष्टौ ? नव प्राप्नुवन्ति । उच्यते, शर्करा अश्मरीभेद एव । यदाह दृढबलः,—“एषाश्मरी मारुत-भिन्न-मूर्तिः स्याच्छर्करा सूत्रपथात् क्षरन्ती” ( च. चि. स्था. अ. २६ )—इति । अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढबलः अष्टावित्यपठत् ॥ १ ॥

आ०—सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरो-हृदय-वस्तयः प्रधानानि, हृदयस्य प्रधान-मर्मत्वाद्वस्तेरपि मर्मत्वात् हृद्रोगानन्तरं वस्तिव्याधित्वान्मूत्रकृच्छारम्भः । तस्य हेतुमाह—व्यायामेत्यादि । तीक्ष्णौषधं=राजिकादियुक्तम्, मद्यप्रसंगोऽतिमद्यसेवा । नृत्येत्यादि पृष्ठयानात्=अश्वदिपृष्ठयानात्, अन्ये=नित्यद्रुतपृष्ठयानादिति पठन्ति । नित्यं=शीघ्रं तुरगादिगमनम् । आनूपाः=सजलप्रदेशचारिणो मत्स्यादयः, अध्यशनं=भुक्तस्योपरिभोजनम् । मूत्रकृच्छ्राणीति मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः । अष्टाविति दोषैर्लङ्घि, सन्निपातेनैकं, शल्यजं, पुरीषजं, शुक्रजमश्मरीजमित्यष्टौ ॥ १ ॥

अथ सूत्रकृच्छ्रस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम् ।

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ।  
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ २ ॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—तीव्रेत्यादि ॥ २ ॥

आ०—तस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—पृथगिति । पृथक्=भिन्नाः, अथ सर्वैः=स्वैर्हेतुभिः कुपितास्ततो वस्तौ=मूत्राशये कोपं प्राप्य यदा मूत्रमार्गं=मेढ्रं परिपीडयन्ति, तदा नरः कष्टेन मूत्रयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ वातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

मूत्रकृच्छ्रस्य वातजादिभेदेन लक्षणानि, तत्रादौ वातिकमाह—  
तीव्रार्तिरुग्-वङ्क्षण-वस्ति-मेढ्रे स्वरूपं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।

( च० चि० अ० २६ )

आ०—वातजमाह—तीव्रेत्यादि । तीव्रा=मारणात्मिका, वङ्क्षणे=ऊरु-वृषण-मेढ्राणामन्तरालसन्धौ, स्वरूपं=स्तोक, मुहुर्वारंवारं, वातात् कृच्छ्रम् ॥ २ ॥

अथ पैत्तिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—सलिङ्गस्य=समेदस्य । सपिच्छं=पिच्छिलम् ॥ ३ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पीतमित्यादि । इह पित्तात् कृच्छ्रे पीतादिलिङ्गं मूत्रं मुहुर्मूत्रयति, 'नर' इति शेषः पीतं सरक्तं वर्णद्वयं न्यूनाधिकपित्तप्रकोपात् ॥ ३ ॥

अथ कफजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्व-शोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।

( च० चि० अ० २६ )

आ०—श्लैष्मिकमाह—वस्तेरित्यादि । वस्तेः सलिङ्गस्य मेहनयुक्तस्य वस्तेःगुरुत्वशोथौ भवतः । सपिच्छं पिच्छिलं भवति ॥ ३ ॥

अथ सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥ ४ ॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—कृच्छ्रतमं=कष्टसाध्यम् । कृच्छ्रं=मूत्रकृच्छ्रम् ॥ ४ ॥

आ०—त्रिदोषजमाह—सर्वाणीत्यादि । सर्वाणि सर्वदोषलिङ्गानि, तत् कृच्छ्रं त्रिदोषजं कृच्छ्रतमं कष्टसाध्यम् ॥ ४ ॥

अथ शल्यजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा ।

मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥ ५ ॥

वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत् ।

( सु० उ० अ० ५९ )

म०—मूत्रवाहिष्विति=मूत्रवहस्रोतःसु ॥ ५ ॥—

आ०—शल्यजमाह—मूत्रेत्यादि । मूत्रवहस्रोतःसु शल्येन क्षतेषु सत्सु अथवा अभिहतेषु पीडितेषु तदाघातात् भृशं दारुणं तीव्रं मारणात्मकम् ॥ ५ ॥

अथ पुरीषजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥

आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च ।

( सु० उ० अ० ५९ )

आ०—पुरीषजमाह—शकृत इत्यादि । पुरीषस्य प्रतीघातात् अवरोधात् त्रिगुणीभूतो दूषितो वायुः आध्मानं वातशूलं च कुर्यात्, मूत्रनाशं च कुर्यात्, ततो मूत्रकृच्छ्रं जायते ॥ ६ ॥

अथाश्मरीजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ५९ )

म०—अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति अश्मरीहेत्विति लक्ष्यपदं, तत्पूर्वमिति लक्षणपदं, तत्पूर्वम्=अश्मरीपूर्वकम् ॥ ७ ॥

आ०—अश्मरीजमाह—अश्मरीहेतु मूत्रकृच्छ्रमिति तस्य कृच्छ्रस्य अश्मर्येव कारणम् ॥७॥

अथ शुक्रजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम् ।

शुके दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते ।

सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्वस्ति-मेहन-शूलवान् ॥ ८ ॥

( सु० उ० अ० ५९ )

आ०—शुक्रजमाह—शुक्रइत्यादि । मूत्राशये स्रवणव्यथायुक्तः 'पुरुष' इति शेषः ॥ ८ ॥

अथाश्मरी-शर्करयोर्भेदः ।

मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरी-शर्करयोः समानतामवान्तरभेदं चाह—

अश्मरी शर्करा चव तुल्य-संभव-लक्षणे ।

विशेषणं शकरायाः शृणु कीतयतो मम ॥ ९ ॥

पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना ।

विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० ५९ )

म०—अश्मरीत्यादि । अश्मरी शर्करा चैवेत्यनन्तरम् 'एते' इत्यध्याहार्यं तुल्यसंभवलक्षणे इत्यनेन द्विवचनान्तेन संबन्धनीयम्, यथा—“तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी”—इत्यादिवत् । तुल्यः संभव=उत्पत्तिकारणं लक्षणं च ययोस्ते तथा, 'तुल्ये संभवलक्षणैः' इति पाठान्तरे तुल्ये=सदृशे, कैरित्यत उक्तम्—संभवलक्षणैरिति; 'तुल्या संभवलक्षणैः' इति पाठान्तरे स एवार्थः । विशेषणं=विशेषः । तमेव विवृणोति-पच्यमानेत्यादि । कफसंधानं=कफेनावयवसंश्लेषः, कफ एव वा संधानं कफसंधानं संधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ।

तेन पित्तपाक--वातशोषौ संधानविमोक्षहेतुत्वेनोक्तौ । क्षरन्तीति वस्तितः ।  
चरके हि,—“स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती” ( च. चि. स्था. अ. २६ )—  
इत्येवं पठितम् ॥ १० ॥

आ०—मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरीशर्करयोरनवत्वसंख्यानिरासार्थं समानत्वसमान्तरभेदे  
चाह—अश्मरीत्यादि । अश्मरी च शर्करा च एते उभे तुल्यसंभवलक्षणे तुल्यः संभव उत्पत्तिः  
लक्षणं च ययोस्ते तथा, समाननिदानलिङ्ग इत्यर्थः । कीर्तयतः=कथयतो मम शर्कराया विशेष-  
ण शृणु । पित्तेन पच्यते, वायुना शोष्यते, संधानं=कफेनावलम्बन=संश्लेषः, अथवा कफ एव  
संधानं संधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या; एतेन पवनाद्विशोषणात् पित्तवातौ संधानरूपस्य कफस्य  
शोषत्वेन तौ शर्कराया हेतुत्वेनोक्तौ, पित्तेन पाचिता, वायुना शोषिता, श्लेष्मणा संधिता  
अश्मरी; ताभ्यां विमुक्तसंधाना शर्करा क्षरन्ती सती शर्करारूपा क्षरन्तीति वस्तितः । एतावता  
हेतुलक्षणत्वेन एक एव रोगः संधानाभावात् क्रियाभेदः, अतो मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रे द्वे अपि  
कारणे ॥ १० ॥

अथोस्योपद्रवाः ।

हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुबलः ।

तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥ ११ ॥

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना ।

यावदस्या पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० ५९ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥

म०—कुक्षौ शूलमिति संबन्धः । तया=शर्करया इति ॥ ११ ॥ १२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—तस्य उपद्रवानाह—हृदित्यादि । शूलं कुक्षाविति संबन्धः । तया शर्करया ॥ ११ ॥ १२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ॥ ३० ॥

अथ मूत्राघातनिदानम् ।

( Dysuria )

अथ मूत्राघातस्य संप्राप्तिः ।

मूत्रविकारसाधर्म्यात् मूत्राघातानाह—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातान्नयोदश ।

प्राप्तो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥ १ ॥

म०—जायन्त इत्यादि । मूत्रकृच्छ्र-मूत्राघातयोश्चायं विशेषः,—मूत्र-  
कृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विवन्धः; मूत्राघाते तु विवन्धो बलवान्,  
कृच्छ्रत्वमल्पमिति । मूत्रविघाताद्यैर्मूत्रवेगविधारणादिभिः, आद्यशब्देन  
पुरीष-शुक्र-वेगविघातादीनां रक्षाशनादीनां च ग्रहणम् । वातकुण्डलिकादय-  
न्त्रयोदशेति संबन्धः ॥ १ ॥

आ०—मूत्रविकारसाधर्म्यान्मूत्राघातानाह । मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायमेव भेदः—मूत्रकृच्छ्रे  
कृच्छ्रत्वमतिशयितमीषद्विवन्धः, मूत्राघाते तु विवन्धो बलवान् कृच्छ्रत्वमल्पमिति । तेषां संप्राप्ति-  
माह—जायन्त इत्यादि । मूत्रवेगविधारणाद्यैः आद्यशब्देन पुरीषशुक्रादिवेगविघातानां रक्षाशना-  
दीनां च ग्रहणम् । वातकुण्डलिकादयन्त्रयोदशेति सम्बन्धः ॥ १ ॥

अथ वातकुण्डलिकारोगस्य संप्राप्तिपूर्वकं निदानम् ।

( Spasmodic Stricture )

वातकुण्डलिकाप्राह—

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्वस्तौ सवेदनः ।

मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥

मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तत ।

वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणम् ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० ५८ )

म०—रौक्ष्यादित्यादि । आविश्येत्यावृत्य; 'आविध्य' इति पाठान्तरे  
स एवार्थः । चरति=गच्छति । विगुणः=कुपितः । कुण्डलीकृत इति वात्याव-  
दस्तावेव भ्रमंस्तिष्ठतीति ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—तेषां मध्ये वातकुण्डलिकालक्षणमाह—रौक्ष्येत्यादि । रौक्ष्यादिभिर्वेगविघातादिभिश्च  
विगुणो=दुष्टः, कुण्डलीभूतो वायुः, वस्तौ=मूत्राशये, चरति=प्रधावति, आवद्वत्वाद्भ्रमंस्तिष्ठती-

[ मूत्रावातनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( ३४५ )

ह्यर्थः वात्यावत् । आविश्य=आवृत्य मूत्रमिति । तस्मान्मूत्रमल्पमल्प सव्यथं प्रवर्तते, तं व्याधिं वातकुण्डलिकामाहुः । सुदारुण मारणात्मकत्वात् ॥ २ ॥ ३ ॥

अथाष्टीलारोगस्य लक्षणम् ।

( Enlargement Of prostate Gland )

अष्टीलामाह-

आध्मापयन्वस्तिगुदं रुद्धा वायुश्चलोन्नताम् ।

कुर्यात्तीव्रार्तिमष्टीलां मूत्र-विड्-माग-रोधिनीम् ॥ ४ ॥

म०-आध्मापयन्नित्यादि । रुद्धेति वस्तिगुदमेव । अष्टीलातुल्यत्वादष्टीला, मा च वातव्याधादुक्ता ॥ ४ ॥

आ०-अष्टीलामाह-आध्मापयन्नित्यादि । आध्मापयन्=पूरयन् वस्तिगुदं तथा वस्तिगुदमेव रुद्धा वायुरष्टीलां कुर्यात् । अष्टीलातुल्यत्वादष्टीला, अष्टीला उत्तरापथे नदीषु पाषाणपिण्डा । चलोन्नतां=चलां=चलनशीलाम् । उन्नताम्=ऊर्ध्वस्थिताम् । तीव्रार्तिमतिव्यथाम् । मूत्रमार्गः=मेढ्रं, विणमार्गः=पायुः, तयोः रोधिनीम् ॥ ४ ॥

अथ वातवस्तिरोगस्य लक्षणम् ।

( Retention Of Urine )

वातवस्तिमाह---

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः ।

निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥ ५ ॥

मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्ति-कुक्षि-निपीडितः ।

वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ५८ )

म०-वेगमित्यादि । वस्ति-कुक्षि-निपीडित इति वस्तौ कुक्षौ च निपीडितः संपिण्डितो वायुरिति संबन्धः; 'वस्तिकुक्षी निपीडयन्' इति पाठान्तरे वस्तिकुक्ष्यो रुजाकर इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

आ०-वातवस्तिमाह-वेगमित्यादि । अकुशलो=मुखः, तस्य पुरुषस्य वस्तेर्मुखं निरुणद्धि वस्तिगतो वायुः तेन=वायुना मूत्रसङ्गं निध्यात् । वस्तिकुक्षिनिपीडित इति वस्तौ कुक्षौ

निपीडितः=संपिण्डितो वायुरिति सम्बन्धः । 'वस्तिकुक्षी निरीडयन्' इति पाठे तत्र वस्ति-  
कुक्षी चरन् ॥ ५ ॥ ६ ॥

अथ मूत्रातीतरोगस्य लक्षणम् ।

( Incontinence Of Urine )

मूत्रातीतमाह—

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।

मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥

म०—चिरमित्यादि । त्वरया न प्रवर्तते इति मूत्रमित्यर्थः । मेहमानस्य=  
मूत्रं त्यजतः । 'वहमानस्य' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ७ ॥

आ०—मूत्रातीतमाह—चिरमित्यादि । चिरं=चिरकालं मूत्रे धारयतः पुंसः त्वरया=  
वेगेन न प्रवर्तते, मेहमानस्य मूत्रं त्यजतः प्रवर्तते चेत्तदा मन्दं शनैः, 'वहमानस्य' इति  
पाठान्तरं सुगमम् ॥ ७ ॥

अथ मूत्रजठररोगस्य लक्षणम् ।

( Distended Bladder. )

मूत्रजठरमाह—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः ।

अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद्भृशम् ॥ ८ ॥

नाभरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम् ।

तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम् ॥ ९ ॥

( सु० उ० अ० ५८ )

म०—मूत्रस्य वेग इत्यादि । तदुदावर्तहेतुक इति मूत्रवेगधारणजनितो-  
दावर्तनिमित्तः । अधोवस्तिनिरोधनमिति वस्तेरधोभागे विबन्धकारकम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—मूत्रजठरमाह—मूत्रस्येत्यादि । तदुदावर्तहेतुत इति मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिमित्ततः ।  
अपानः अपानसंज्ञको वातः कुपितः अतिशयेनोदरं पूरयति । ततो नाभरधस्तात्तीव्रवे-  
दनमाध्मानं कुर्यात् । अधस्ताद्वस्तिनिरोधनं=वस्तेरधोभाग विबन्धकारकम् ॥ ८ ॥ ९ ॥



अथ मूत्रोत्सङ्गरोगस्य लक्षणम् ।  
( Stricture of Urethra )

मूत्रोत्सङ्गमाह—

वस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः ।

मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥

स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।

विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥११॥

( सु० उ० अ० ५८ )

म०—वस्तावित्यादि । नाले=मेद्रे; मणा=मेद्राग्रे । प्रवृत्तं सज्जेतेति संसक्तं सन्न प्रवर्तते । सरक्तं वा प्रवाहत इति प्रवाहणकुपितवायुना वस्त्यादिभेद-  
जनितरक्तयुक्तं मूत्रं प्रवर्तते ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—मूत्रोत्सङ्गमाह—वस्तावित्यादि । वस्तौ=मूत्राशये, अथवा नाले मेद्रे, अथवा मणौ=  
मेद्राग्रे, मूत्रं सज्जेते न प्रवर्तते, सरक्तं वा प्रवर्तते प्रवाहत इति; शनैर्मन्दं अल्पमल्पं स्तोमं सव्यर्थं  
वा रुजारहितं वा प्रवर्तते मूत्रमिति संबन्धः ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ मूत्रक्षयरोगस्य लक्षणम् ।  
(Supression of urine.)

मूत्रक्षयमाह—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ ।

मूत्रक्षयं सरुदाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० ५८ )

म०—रूक्षस्येत्यादि । तदाह्वयमिति मूत्रक्षयाख्यम्, कारणे कार्यो-  
पचारात् ॥ १२ ॥

आ०—मूत्रक्षयमाह—रूक्षस्येत्यादि । क्लान्तदेहस्य श्रान्तशरीरस्य, वस्तिस्थौ मूत्राशयस्थौ,  
पित्तमारुतौ मूत्रनाशं कुरुतः व्यथादाहयुक्तम् । तदाह्वयं मूत्रक्षयाख्यं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १२ ॥

अथ मूत्रग्रन्थिरोगस्य लक्षणम् ।

(Abscess, or Tumour of the bladder.)

मूत्रग्रन्थिमाह—

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत् ।

अश्मरीतुल्यरुग् ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥ १३ ॥

( वा० नि० अ० ९ )

म०—अन्तारित्यादि । अन्तर्बस्तिमुखे=वस्तिमुखस्याभ्यन्तरे । ग्रन्थिर्गुड-  
काकारः । ननु, स्थान-वेदना=कारणानामभिन्नत्वादश्मर्या सह को भेदः ?

उच्यते, अश्मर्या पित्तादिकं संहन्यते, अत्र तु रक्तमेव । उक्तं हि तन्त्रान्तरे--  
“रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम् । ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजे-  
न्मूत्रं तदावृतम् ॥ अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते”-इति । विशेषज्ञानं  
तु कुत इति चेत् ? अश्मरीपूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे वस्तसगन्धत्वादेर्भावाभावा-  
भ्याम् ॥ १३ ॥

आ०--मूत्रप्रथिमाह--अन्तरित्यादि । अन्तर्वस्तिमुखे=वस्तिमुखस्याभ्यन्तरे, ग्रन्थिर्गुटिकाकारः ।  
स्थिरः=अचलः, अल्पो=लघुरामलकाकारः । ननु, स्थानवेदनाकारणामभिन्नत्वादश्मर्या सह  
को भेदः? उच्यते--अश्मर्या पित्तादिकं संहन्यते, अत्र तु रक्तमेव, अथवा अयं सहसा भवेत्,  
अश्मरी तु सञ्चयेन । अन्यच्च अश्मरी पित्तेन पच्यते, वायुना शोष्यते, कफेन बध्यते, अत्र  
तु रक्तमेव । उक्तं हि तन्त्रान्तरे--“रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम् । ग्रन्थिं कुर्यात्स  
कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ॥ अश्मरीसमशूलं हि रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते” इति । तथा अश्मरी-  
पूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे वस्तसगन्धत्वादेरभावात् ॥ १३ ॥

अथ मूत्रशुक्ररोगस्य लक्षणम् ।

मूत्रशुक्रमाह--

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।

स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥ १४ ॥

भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०--मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य=मूत्रवेगितस्य । स्थानाच्च्युतं=स्वस्था-  
नाद्दुष्टं शुक्रम् ॥ १४ ॥--

आ०--मूत्रशुक्रमाह--मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य=मूत्रवेगयुक्तस्य वातेनोद्धतं स्थानाच्च्युतं=  
स्वस्थानाद्दुष्टं, मूत्रयतो=मूत्रं कुर्वतः पुरुषस्य प्राक् प्रथमं प्रवर्तते, अथवा पश्चात् भस्ममिलि-  
तोदकसदृशम् ॥ १४ ॥--

अथोष्णवातस्य लक्षणम् ।

( Gonorrhoea )

उष्णवातमाह--

व्यायामाध्वातपः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥ १५ ॥

वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत्सावयदधः ।

अ इदमेवायुना लोके “सोजाक” इति नाम्ना प्रसिद्धम् ।

मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥

कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम् ।

( सु० उ० अ० ५८ )

म०—व्यायामेत्यादि । व्यायामात् विरोधिसौम्यधातुक्षयात्तेजोवृद्ध्या पित्त-  
वृद्धिः । अनिलान्वितमनिलसंयुतम् । ' अनिलावृतम् ' इति पाठान्तरं लुण-  
मम् । सरक्तमीषल्लोहितम् ॥ १५ ॥ १६ ॥—

आ०—उष्णवातमाह—व्यायामेत्यादि । व्यायामाद्विरोधित्वेन सौम्यधातुक्षयात्तेजोवृद्ध्या कृपितं  
पित्तमनिलान्वितमनिलसंयुतं वर्तते प्राप्य वस्त्यादिकं प्रदहन् मूत्रमधः स्त्रावयेत् । कीदृशं हारिद्रम्,  
अथवा सरक्तं ईषद्रक्तम्, अथवा केवलं रक्तमेव । ' अनिलावृतम् ' इति पाठान्तरम् ॥ १५ ॥ १६ ॥—

अथ मूत्रसादरोगस्य लक्षणम् ।

(Cystitis)

मूत्रसादमाह—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥

कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत् ।

सदाहं रोचना-शङ्ख-चूर्ण-वर्णं भवेत्तु तत् ॥ १८ ॥

शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—पित्तमित्यादि । संहन्येते=स्त्यानीक्रियेते । शुष्कमल्पं, तन्मूत्रं पित्तेन  
रोचनाभं, कफेन शङ्खचूर्णाभं, समस्तवर्णमुक्तसकलवर्णं सन्निपातात् ॥ १७ ॥ १८ ॥—

आ०—मूत्रसादमाह—पित्तमित्यादि । वातेन संहन्येते स्त्यानीक्रियेते, पित्तेन पीतरक्तं  
कफेन श्वेतं घनं, त्रिदोषेण समस्तवर्णं, तदेव शुष्कं, पित्तेन रोचनाचूर्णाभं, कफेन शङ्खचूर्णाभं,  
सन्निपातादुक्तसकलवर्णम् ॥ १७ ॥ १८ ॥—

अथ विड्विधातरोगस्य लक्षणम् ।

(Vesico-Intestinal Fistula)

विड्विधातमाह—

रूक्ष-दुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ १९ ॥

मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।

विद्वन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विधातं विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

( वा० नि० अ० ९ )

म०—रूक्षेत्यादि । अनुपद्येत=प्राप्नुयात् । विद्वन्धमित्यत्र वाशब्दो  
द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥ २० ॥

आ०—विड्घातमाह—रुक्षेत्यादि । दूयोस्तयोर्वातेन अधोवृत्तं मूत्राशयात्स्रोतांसि अनुपप्रेत आप्नुयात्, तदा विट्संसृष्ट=पुरीषमिश्रं विड्वन्धं मूत्रं कृच्छ्रात् मूत्रयेत् । 'उदावर्तम्' इति पाठा-  
न्तरं, तत्रापि स एवार्थः ॥ १९ २० ॥

अथ वस्तिकुण्डलरोगस्य लक्षणम् ।  
(Stony of Bladder)

वस्तिकुण्डलमाह—

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् ।

स्वस्थानाद्वस्तिरुद्धतः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ २१ ॥

शूल-स्पन्दन-दाहाऽऽतो विन्दुं विन्दुं स्रवत्यपि ।

पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ २२ ॥

वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।

पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ।

म०—द्रुतेत्यादि । लङ्घनमुत्पतनम् । उद्धतः=स्वस्थानादूर्ध्वं गतः । गर्भ-  
वदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गतापत्यवत्; एतेन वस्तिपुटस्य पार्श्वगमनं दर्शितम् ।  
पीडित इति नाभेरधः । उद्वेष्टनार्तिः=उद्वेष्टनरूपाऽऽर्तिः । शस्त्रविषोपमं=शस्त्र-  
विषसदृशमिति विभिन्नार्थसूचनार्थं=प्रसिद्धानुभवोपदर्शनार्थम् ॥ २१ ॥ २२ ॥—

आ०—वस्तिकुण्डलमाह—द्रुतेत्यादि । द्रुताध्वलङ्घनं=द्रुतेन अध्वगमनं, लङ्घनमुत्पतनं  
वा, अभिघाताल्लगुडादिभिः, प्रपीडनाद्वा=निष्पीडनात्, एतैर्हेतुभिर्वस्तिरुद्धतः=स्वस्थानादूर्ध्वं  
गतः । गर्भवदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गताऽपत्यवत्तिष्ठति, एतेन वस्तिपुटस्य पार्श्वगमनमपि सूचितम् ।  
पीडित इति नाभेरधः, तथा संस्तम्भादियुक्तः उद्वेष्टनरूपा आर्तिः उद्वेष्टनरूपपीडातियुक्तम् । शस्त्र-  
विषोपममिति विभिन्नार्थसूचनार्थं, प्रसिद्धप्रभावोपदर्शनार्थं च । शस्त्रोपमं शीघ्रं मारणात्मकं,  
विषोपममिति कालान्तरेण । विषमत्र गरः प्रायेण वातबहुलम् ॥ २१—२२ ॥—

अथ वातस्य दोषान्तरानुबन्धवशाद्विशेषलक्षणानि ।

वातस्यैव दोषान्तरानुबन्धिनो लक्षणमाह—

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥ २३ ॥

श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

म०—तस्मिन्नित्यादि । श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्निति बोद्धव्यम् ॥ २३ ॥—

आ०—तस्यैवतरदोषानुबन्धेन लक्षणमाह—तस्मिन्नित्यादि ॥ २३ ॥—

अथैतस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

तस्यैव साध्यत्वासाध्यत्वमाह---

श्लेष्मरुद्धविलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ॥ २४ ॥

अविभ्रान्तविलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।

म०—श्लेष्मरुद्धविल इत्यादि । विलं=वस्तिमुखशुषिरम् । पित्तोदीर्णः=उपचितपित्तः, स एव अविभ्रान्तविलोऽनावृतविलः । कफेन कुण्डलीकृतोऽसाध्य इति बोध्यम् । अकुण्डलीकृतस्तु साध्यत्वेनोक्तः ॥ २४ ॥—

आ०—अविभ्रान्तविलः=कफेनारुद्धमुखः, घनकफेन कुण्डलीकृतो न भवति स साध्यः, कुण्डलीकृतस्त्वसाध्यः । विलं=वस्तिमुखशुषिरम् ॥ २४ ॥—

अथ कुण्डलीभूतस्यास्य लक्षणम् ।

कुण्डलीभूतस्यैव लिङ्गमाह---

साद्वस्तौ कुण्डलीभूते तृणमोहः श्वास एव च ॥ २५ ॥

इति श्रीमाधकरविरचिते माधवनिदाने मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥

म०—स्यादित्यादि । एतौ विद्धिघात-वस्तिकुण्डलौ सुशुबेन न पठितौ, तेन हि मूत्रोदकसादेव द्विधा पठित्वा द्वादश मूत्राघाता इत्युक्तम्, सर्वानभिधानं तु पराधिकारत्वेनेति मन्तव्यम् ॥ २५ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ।

आ०—कुण्डलीभूतस्य तस्यैव लिङ्गमाह—स्यादित्यादि । श्लेष्मणा रुद्धाविलः वस्तिः कुण्डलाकारत्वेन तिष्ठति । “वातकुण्डलिकाऽष्टौला वातवस्तिस्तथैव च । मूत्रातीतः सजठरो मूत्रो-  
त्सङ्गः क्षयस्तथा ॥ मूत्रमन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातस्तथैव च । मूत्रसादो विद्धिघातो वस्तिकुण्ड-  
लिका तथा ॥” एते मूत्राघातास्त्रयोदश ज्ञेया ॥ २५ ॥

इति श्रीवाचस्पतवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥ ३१ ॥

अथाश्मरीनिदानम् ।

(Calculus)

अथाश्मरीरोगस्य विवरणम् ।

मूत्ररोधित्वसाधर्म्यादश्मरीमाह---

वात-पित्त-कफैस्तिस्त्रचतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।

प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥

म०—वातेत्यादि । श्लेष्माश्रया इति श्लेष्मसम्वायिकारणाः, शुक्रजा विना; तत्र शुक्रस्यैव सम्वायिकारणत्वात् । तथा च दृढबलः—“विशो-

षयेद्वस्तिगतं सशुक्रम्” ( च. चि. स्था. अ. २६ )-इत्यादि, एतच्च सामान्योक्तमपि विशेषेण संबध्यते । यथा-हल्ङ्यादिसूत्रे ‘दीर्घात्’ इति विशेषणं ङ्याभ्यां संबध्यते, न तु हला । अत एवात्र प्रायोग्रहणं कृतवान् । अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात् । प्रायः शब्दश्चात्र विशेषार्थः । यमोपमा इति असति चिकित्सिते अवश्यमेव मारकत्वात् ॥ १ ॥

आ०--मत्रोधिष्वसामान्यादश्मरिमाह-वातेत्यादि । श्लेष्माश्रयाः=श्लेष्मसमवाधिकारणाः परं शुक्रजां विना, तत्र शुक्रस्यैव समवाधिकारणत्वात् । तथा च दृढबलः—“ विशेषेष्वेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रम् ”-इत्यादि । अत एवात्र प्रायोग्रहणम् । अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात् । प्रायःशब्दश्चात्र विशेषार्थः । यमोपमाः असति चिकित्सितेऽवश्यमेव मारकत्वात् ॥ १ ॥

अथाश्मरीरोगस्य संप्राप्तिः ।

तस्याः सम्प्राप्तिमाह--

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।

यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः॥२॥

( च० चि० अ० २६ )

म०--पित्तेष्विवेति वातशोषितेषु ॥ २ ॥

आ०--तस्याः संप्राप्तिमाह-विशोषयेदित्यादि । पवनो वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं कफं वा शोषमुपनयेद्यदा तदाऽश्मरी भवति क्रमेण शनैर्वर्धमाना यथा गोः पित्तेषु रोचना भवति ॥ २ ॥

अथाश्मर्यामनेकदोषाश्रयत्वम् ।

नैकदोषाश्रयाः सर्वाः-

( च० चि० अ० २६ )

म०--नैकदोषाश्रया इति त्रिदोषजाः, उद्गतदोषेण व्यपदेशः ॥-

आ०--तस्यामनेकदोषाश्रयत्वमाह-नैकेत्यादि । त्रिदोषजा इत्यर्थः ॥ २ ॥-

अथाश्मरीरोगस्य पूर्वरूपम् ।

अथासां पूर्वलक्षणम् ।

पूर्वरूपमाह--

बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥ ३ ॥

मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०--अथेत्यादि । बस्तसगन्धत्वं=बस्तसमानगन्धत्वम् ॥ ३ ॥-

आ०—पूर्वरूपमाह--अथेत्यादि । वस्त्याध्मानमित्यादि । वस्त्याध्मानं वस्तेरापूरः, तदास-  
न्नदेशेषु वस्तिशिरोमुष्कमेढ्रादिषु, परितः=समंतात्, अतिरुक्=अतिवेदना । मूत्रे वस्तसगन्धत्वं  
बृहत्तमवस्तसमानगन्धत्वं, तथा मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिश्च भवति ॥ ३ ॥

अथाश्मरीरोगस्य सामान्यलक्षणम् ।

तासां सामान्यलक्षणमाह—

सामान्यलिङ्गं रुङ् नाभि-सेवनी-वस्ति-मूर्धसु ॥ ४ ॥

विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते ।

म०—सामान्येत्यादि । रुक्=शूलं, वस्तिमूर्धा=नाभेरधोदेशः । विशीर्ण-  
धारं=सविच्छेदधारम् । तया=अश्मर्या । मार्गो=मूत्रवाहिस्रोतः ॥ ४ ॥

आ०—तासां सामान्यलक्षणमाह--विशीर्णेत्यादि । विशीर्णधारं सविच्छेदं, तथा अश्मर्या,  
मार्गनिरोधने मूत्रवाहिस्रोतस आवरणे सति । वस्तिमूर्धा नाभेरधोदेशः, तास्मिन् रुद्धे सति रुक्  
शूलम् ॥ ४ ॥

अथ पुनः स्वलक्षणान्तरम् ।

तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥

तत्संक्षोभात्क्षते सास्त्रमायासाञ्चातिरुग्भवेत् ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—तद्व्यपायात्--वायुना कदाचिदश्मरीकृतमार्गरोधव्यपगमात् । मेहेत्=  
मूत्रयेत् । अच्छमनाविलम् । गोमेदकोपममिति गोमेदको=लोहितमणिस्तद्वर्णम् ।  
तत्संक्षोभात्=निरुद्धमार्गमूत्रेण पीडनादश्मरीसंघट्टनाद्वा क्षते जाते मूत्रवहादौ,  
सास्त्रं=सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते । आयासात्=प्रवाहणादिजनितक्लमात् ॥ ५ ॥—

आ०—पुनः स्वलक्षणान्तरमाह--तद्व्यपायादित्यादि । तद्व्यपायात् वायुना कदाचिदश्मरी-  
कृतमार्गनिरोधव्यपगमात् । मेहेत् मूत्रयेत् । अच्छमनाविलम् । गोमेदकोपममिति गोमेदक आलो-  
हितपीतमणिस्तद्वर्णम् । तत्संक्षोभात् निरुद्धमार्गमूत्रपीडनादश्मरीसंघट्टनाद्वा क्षते जाते सति मूत्रवह-  
स्रोतासि सास्त्रं सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते । आयासात् प्रवाहणादिकजनितात्, प्रवाहणं कण्ठबलेन शब्दम्,  
मूत्रस्याजननं निकुन्धनमिति लोके ॥ ५ ॥—

अथ वातजाश्मरीरोगस्य लक्षणम् ।

वातजामाह--

तत्र वाताद्भृशं चातौ दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥

गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं कणन् ।



सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति विन्दुशः ॥ ७ ॥

श्यावारुणाऽश्मरी चास्या स्याच्चिता कण्टकैरिव ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—तत्रेत्यादि । कणन्=आर्तनादं सानिलं कुर्वन् । सशब्दं, सूत्रप्रवृत्त्यर्थं कृतातिकुन्थनात् । मेहति विन्दुश इति विन्दुं विन्दुं सूत्रयति, “बह्वल्लपार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्”—इति अल्पार्थे शसुप्रत्ययः । श्यावेत्यादि । अश्मर्या आकारकथनम्, एतच्चाकृष्टानां प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्रप्रामाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टासु दोषोचितचिकित्सार्थमित्यन्ये ॥ ६ ॥ ७ ॥—

आ०—वातजाश्मरीमाह—तत्रेत्यादि । शृशमत्यर्थमार्तः पुमान् दन्तैर्दन्तान् खादति=कट-कटायते, वेपते=कम्पते, मेहनं=लिङ्गं, मृद्वाति=मथ्नाति, अनिशं कणन्=क्रन्दयन् नाभिदेशं पीडयति । शकृत्पुरीषं, सानिलं सशब्दं मुञ्चति, मुहुर्वारंवारं, विन्दुशः=विन्दुं विन्दुं, मेहति=मूत्रयेत् । श्यावेत्यादि । श्यावा=अरुणा किञ्चित् श्यामा किञ्चिद्रक्ता एतच्चाश्मर्या वर्णा-कारकथनमाकृष्टानां प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्रस्य प्रामाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टासु दोषोचितक्रियार्थमित्यन्ये, कण्टकैरन्वितेव ॥ ६ ॥ ७ ॥—

अथ पैत्तिकाश्मरीरोगस्य लक्षणम् ।

पित्तजामाह—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥

भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽश्मरी ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—पित्तेनेत्यादि । पच्यमानः क्षारेणेव । ऊष्मवान्=उष्णस्पर्शः । असिता=कृष्णा ॥ ८ ॥—

आ०—पित्तजामाह—पित्तेनेत्यादि । पित्तेन याऽश्मरी तथा वस्तिर्मूत्रकोशो दह्यते, पच्यमानः क्षारेणेव, ऊष्मवान् उष्णस्पर्शः, भल्लातकास्थिसंस्थाना=भल्लातकमज्जाकारा, असिता कृष्णा ॥ ८ ॥—

अथ कफजाश्मरीरोगस्य लक्षणम् ।

श्लेष्मजामाह—

वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥ ९ ॥

अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—वस्तिरित्यादि । श्लक्ष्णा=मसृणा । मधुवर्णा=ईषत् पिङ्गलशुक्ला ॥ ९ ॥—

आ०—श्लेष्मजामाह—वस्तिरित्यादि । वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणेव, शीतस्पर्शः, गुरुर्गौर-वयुक्तः, महती कुक्कुटाण्डतुल्या, श्लक्ष्णा मसृणा, मधुवर्णा ईषत्पीतशुक्ला, सिता शुभ्रा ॥ ९ ॥—

अथासां बालेषु प्रायिकत्वम् ।

एताः प्रायः शिशूनां भवन्तीत्याह—

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥ १० ॥

आश्रयोपचयाल्पत्वादग्रहणाहरणे सुखाः ।

( वा० चि० अ० ९ )

म०—एता इति त्रिदोषजा बालानां स्युः, तेषां तन्निदानाभ्यासात् । भूयसा=प्रायेण, तेन महतामपि त्रिदोषजा भवन्ति । तेषामेव बालानां ग्रहणाहरणे सुखा इति संबन्धः । आश्रयोपचयाल्पत्वादिति आश्रयो=वस्तिः, उपचयः=स्थौल्यं, तयोरल्पत्वं; तच्च तद्देहाल्पत्वात् । आहरणं=पाटनादिपूर्वकर्माकर्षणं, ग्रहणं=तदर्थमेवाङ्गुलिभ्यां धारणम् । उक्तं हि सुश्रुते, “प्रायेणैतास्तिष्ठोऽश्मर्यो दिवास्वप्न-समशनाध्यशन-शीत-स्निग्ध-मधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च वस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति” ( सु. नि. स्था. अ. ३ )—इति ॥ १० ॥—

आ०—एताः प्रायेण शिशूनां भवन्तीत्याह—एता इत्यादि । त्रिदोषजा बालानां भवन्ति तेषामेव तन्निदानाभ्यासात् । भूयसा प्रायेणेति, तेन महतामपि हेतुना त्रिदोषजा भवन्ति, तेषामेव बालानां ग्रहणाहरणे सुखा इति संबन्धः । अत्रैव हेतुमाह—आश्रयोपचयाल्पत्वादिति । आश्रय आधारी वस्तिः, उपचयः स्थौल्यं, तयोरल्पत्वं, तच्च तद्देहाल्पत्वात् । अतस्ता ग्रहणाहरणे सुखाः सुखेनाहर्तुं शक्याः । महतां तु यथोक्तहेत्वभावाद् ग्रहणाहरणे ता दुःखावहा इति । ग्रहणं भङ्गिशादिना, आहरणं पाटनादिपूर्वं कर्माकर्षणं, तदर्थमेवाङ्गुलिभ्यां धारणं ग्रहणम् । उक्तं सुश्रुते—“प्रायेणैतास्तिष्ठोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धगुरुमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पवस्तिकायत्वान्मांसोपचयाल्पत्वाच्च वस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति—” इति ॥ १० ॥—

अथ शुक्राश्मर्याः सम्प्राप्तिः ।

शुक्राश्मरीमाह—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ॥ ११ ॥

स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः ।

शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥ १२ ॥

( वा० नि० अ० ९ )

म०—शुक्रेत्यादि । तुशब्दोऽवधारणे; तेन महतामेव नतु बालानां, तेषां वक्ष्यमाणसंप्राप्तेरभावात्; नतु शुक्राभावात्, अन्यथा षड्धातुकत्वं स्यात् । शुक्रधारणादुपस्थितशुक्रवेगस्य मैथुनाकरणात् । मुष्कयोरन्तरे ‘मैद्रेण सह’

इति शेषः । सुश्रुते हि 'मेढ्र-वृषणयोरन्तरे' ( सु. नि. स्था. अ. ३ )-इत्ये-  
वोक्तम् । मेढ्रवृषणमध्यगतवस्तिमुख इत्यर्थः, तत्रैव शुक्रवहस्रोतसो वस्तिमु-  
खेन सह संबन्धात् । तथाभूतं शुक्रमेवाश्मरीति ॥ १२ ॥

आ०—शुक्राश्मरीमाह—शुक्रेत्यादि । शुक्राश्मरी तु महतामेव जायते न तु बालानां, तुश-  
ब्दोऽवधारणे, तेषां वक्ष्यमाणसंप्राप्तेरभावात्, न तु शुक्राभावात् । अन्यथा षड्धातुक्तत्वं  
स्यात् । च्युतममुक्तमिति मैथुनादुपस्थितवेगस्य शुक्रस्य धारणादित्यर्थः । अमुक्तं धृतमित्यर्थः ।  
मुष्कयोरन्तरे=मेढ्रवृषणमध्यगतवस्तिमुख इत्यर्थः । तथाभूतं शुक्रमनिलः एकीकृत्य शोषयति, सा  
शुक्राश्मरीति ॥ १२ ॥

अथ शुक्राश्मर्या लक्षणम् ।

तस्या लक्षणमाह—

वस्तिरुङ्—मूत्रकृच्छ्रत्व—मुष्कश्चयथु—कारिणी ।  
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयत ॥ १३ ॥  
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्,—

( वा० नि० अ० ९ )

म०—वस्तिरुङ्=वस्तिशूलं, मुष्कश्चयथुकारिणी=वृषणयोः शोथकारिणी ।  
तस्यां=शुक्राश्मर्याम् । एति=वर्तते । तुशब्दोऽवधारणे । अवकाशेऽस्मिन्निति=  
मेढ्रवृषणयोरन्तरे । अस्मिन्नेव पीडिते सति विलीयते=प्रविलयमापद्यत इत्यर्थः ।  
अत एव सुश्रुतः,—पीडितमात्रे च तस्मिन्नेवावकाशे प्रविलयमापद्यते" ( सु.  
नि. स्था. अ. ३ )-इति ॥ १३ ॥—

आ०—तस्या लक्षणमाह—वस्तिरुगिति । वस्तिरुगित्यादि सुगमम् । उत्पन्नमात्रायां तस्यां  
यदा सा कथमपि विलीयते=विलयं याति, तदा, शुक्रमेति=मूत्रपथादागच्छति, परमवकाशे=  
छिद्रे पीडिते सति ॥ १३ ॥

अथ शर्करारोगस्य लक्षणम् ।

(Gravel-Calculi Renal)

सैवावस्थाभेदादश्मरी शर्करा, पञ्चमी न भवतीत्याह—

—अश्मर्येव च शर्करा ।

( वा० नि० अ० ९ )

म०—अश्मर्येव चेति । चकारात् सिकताऽपि भवतीति मन्तव्यम् । अत  
एव 'शर्करा सिकतान्विता' इति वक्ष्याति । शर्करा-सिकतयोश्च महत्वाल्पत्वाभ्यां  
भेदः ॥—

आ०—चतुर्थपादेन शर्करालक्षणम् ॥—

अथ शर्करारोगस्य संप्राप्तिः ।

कथमश्मरी शर्करा भवतीत्याह—

अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे ॥ १४ ॥

निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते ।

मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १५ ॥

( वा० नि० अ० ८ )

म०—अणुश इत्यादि । अणुशोऽल्पशः । अत्रार्थे सुश्रुतः—“पवनेऽणुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः । सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते” (सु. नि. स्था. अ. ३) इति । मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्तेति=मूत्रमार्गगा सती संलग्नेत्यर्थः ॥ १४-१५ ॥

आ०—अणुश इत्यादि । सैवाश्मरी अणुशो वायुना भिन्ना=विदारिता शर्करा कथ्यते । सा शर्करा अनुलोमगे मूत्रस्रोतसाऽधः प्रवृत्ते तस्मिन्वायौ मूत्रेण सह एति, प्रतिलोमगे ऊर्ध्वं प्रवृत्ते वायौ विबध्यते=बन्धं प्राप्नोति, न बहिर्मूत्रेण निष्कामति, अश्मरी त्वनुलोमगे मारुते न निरेति, शर्करा तु मूत्रेण सह निष्कामतीत्यनयोर्भेदः । साऽश्मरी मूत्रमार्गप्रवृत्ता सक्ता निर्गता दौर्बल्यादीनुपद्रवान् कुर्यात् ॥ १५ ॥

अथाश्मरी-शर्करयोरुपद्रवाः ।

दौर्बल्यं सदनं काश्यं कुक्षिशूलमथारुचिम् ।

पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ १६ ॥

( सु० नि० अ० ३ )

आ०—तानेवाह—दौर्बल्यमिन्द्रियाणां, सदनं ग्लानिः, काश्यमङ्गानां, कुक्षिशूलं हृदयशूलम्, उष्णवातं मूत्राघातनिदानोक्तं, शेषं सुगमम् ॥ १६ ॥

अथानयोरसाध्यलक्षणम् ।

असाध्यलक्षणमाह—

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम् ।

अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥ १७ ॥

( सु० सू० अ० ३३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽश्मरीनिदानं समाप्तम् ॥

म०—प्रशूनेत्यादि । रुजातुरं शूलपीडितमित्यर्थः ॥ १७ ॥

इति श्रीविजयराक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामाश्मरीनिदानं समाप्तम् ।

आ०—तस्या असाध्यत्वमाह—प्रशूनेत्यादि । प्रशूननाभिवृषणं=क्षयशुयुक्तनाभिवृषणं पुरुषम-  
श्मरी क्षपयति=विनाशयति, सिकता=वालुका तत्सदृशी या शर्करा तथा सहिता अश्मरीत्यर्थः १७  
इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायामाश्मरीनिदानम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमाधवनिदानग्रन्थस्य पूर्वार्द्धं समाप्तम् ।

श्रीः ।

## अथोत्तरार्धम् ।

अथ प्रमेह-प्रमेहपिडका-निदानम् ।

( Diseases of the Urinary Organs. )

अथ प्रमेहरोगस्य हेतवः सम्प्राप्तिश्च ।

अश्मरीरोगानन्तरं वस्तिविकृतिसाम्यात्प्रमेहनिदानमुच्यते—

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।

नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ १ ॥

( च० चि० अ० ६ )

चन्द्रोदय-प्रणय-पीवर-दुग्धसिन्धु-पूर-भ्रमं वहति यद्गुणकीर्तिगुच्छः ।

तेन व्यधायि गुरुणा विजयेन शिष्यप्रेम्णाऽश्मरीरुगवधेर्मधुकोषबन्धः ॥ १ ॥

श्रीकण्ठदत्तभिषजा गुरुभक्तिलेशादारभ्यते प्रभृति संप्रति मेहरोगात् ।

सूक्तीर्विचिन्त्य मधुशीकरमुद्गिरन्तीष्ठीकाकृतः कतिपयस्य तदीयशेषः ॥ २ ॥

म०—आस्यासुखमित्यादि । आस्या=उपविष्टस्य चेष्टोपरमः, तेन कृतं सुखमास्यासुखम्, एवं स्वप्नसुखमिति द्रष्टव्यम् । तेनासनादिदोषादास्यादुःखं स्वप्नदुःखं वा न प्रमेहहेतुः । गुडवैकृतमिति गुडविकाराः शर्करादयस्तथा गुड-कृताश्च भक्ष्याः । प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वमित्यनुक्तहेतुसंग्रहार्थमुक्तम् । एष साधारणो हेतुः प्रमेहस्य; विशेषहेतुस्तु चरके निदानस्थाने,—“हायनकोदालक”—इत्यादिना कफजस्य, ‘उष्णाम्ललवण’—इत्यादिना पित्तजस्य, ‘कटुतिक्तकाषाय’ ( च. नि. स्था. अ. ४ )—इत्यादिना वातजस्याभिहितः । एतेन सामान्य-हेतुसहितो विशिष्टहेतुः कफजादिप्रमेहस्य । किंच कफजनिदानमप्येतदास्या-सुखादि बोद्धव्यम् ॥ १ ॥

आ०—अश्मरीरोगानन्तरं वस्तिविकृत्यधिकारात् प्रमेहनिदानमाह—आस्येत्यादि । आस-नमास्या उपविष्टस्य चेष्टोपरमः, तेन कृतं सुखम्, एवं स्वप्नसुखं द्रष्टव्यम् । दधीनीति बहुवचना-त्सर्वजातीनां दध्नां निषेधः । ग्राम्यौदकानूपरसाः रस्यन्त इति रसाः, रसशब्देन आहार उच्यते, कार्ये कारणोपचारात् । कानि ग्राम्यौदकानि ? मांसानि, तत्र ग्राम्याः=छागोरभ्रमे-दुःपुच्छप्रभृतयः, औदका=मत्स्यकूर्मादयः, आनूपाः=जलसंनिधिचारिणो हंसचक्रवाका-दयः, एवं मांसानि, पयांसि=क्षीराणि, अत्रापि बहुवचनं दाधिवत् । पानं=नवाभिवृष्टजल-

पानम् । गुडवैकृतमिति शर्करादयो गुडविकारा गुडकृतभक्ष्याश्च, एतत्सर्वं प्रमेहहेतुः । कफ-  
कृच्च सर्वमिति आहाराचारादिकं कफकारि; एष साधारणो हेतुः, प्रमेहस्य विशिष्टहेतुस्तु  
चरके निदानस्थाने—“हायनकोदालक” इत्यादिना कफजस्य “उष्णाम्ललवण” इत्यादिना पित्तजस्य,  
“कटुतिक्तकषाय” इत्यादिना वातजस्याभिहितः ॥ १ ॥

अथ त्रिदोषजमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तिः ।

कफ-पित्त-वात-जमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तिमाह—

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य ।  
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि २॥  
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च ।  
साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः  
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ ३ ॥

( च० चि० अ० ६ )

म०—मेद इत्यादिना । अत्र कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन च आ-  
दाबुच्यन्ते । तानेवेति मेदोमांसशरीरजक्लेदान् । उष्णैरिति उष्णवीयस्पर्शैर्द्रव्यैः ।  
क्षीणेषु दोषेष्विति प्रवृद्धत्वेनैव क्षीणेषु, न तु समानापेक्षया क्षीणेषु; अनेन वृद्धे  
कफे पित्ते वा यो वायुर्लङ्घनादिना क्रमेण वृद्धो भवति, स नेहासाध्यमेहचतुष्ट-  
यप्रकरणे विवक्षित इति सूच्यते । तत्र हि चिकित्साविधानात् साध्यत्वमस्ति ।  
यदुक्तं,—“या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा ।  
वायुर्हि धातुष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता” (च. चि. स्था.  
अ. ६)—इति । दोषेष्विति कफपित्तेषु, द्वयोश्च बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात् ।  
अवकृष्येति वस्तिमुखं नीत्वा । धातूनिति वसामज्जौजोलसीकारुणान् । सम-  
क्रियत्वादिति कफस्य दोषस्य दूष्यस्य च मेदःप्रभृतेः समानत्वात् कटुतिक्ता-  
दिक्रियायाः । अत्र व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता साध्यताया हेतुः । तेन “न  
च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् (च. सू. स्था. अ. १०) इति  
चरकवचनं कष्टसाध्यतार्थं नोद्भावनीयम् । यदुक्तं,—“ज्वरे तुल्यतुदोषत्वं  
प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥”—इति ।  
विषमक्रियत्वादिति पित्तस्य प्रमेहप्रधानदूष्यस्य च मेदःप्रभृतेऽन्योऽन्यविपरीत-  
क्रियत्वात्; पित्तहरं हि मधुरादि मेदस्करं, मेदोहरं च कटुकादि पित्तकरमिति  
क्रियावैषम्यम्, अत्र व्याधिस्वभावो हेतुः, तेनान्येषु व्याधिषु परस्परविरुद्धदोष-

दूष्यसंसर्गेऽप्युभयप्रत्यनीकभेषजविधिरविरोधीति । महात्ययत्वादिति मज्जादि-  
गम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्यापत्तिकरत्वात्; आशुकारित्वादिति शानः । चका-  
रात् विषमक्रियत्वं च वातजानां समुच्चीयते ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०—कफपित्तवातमेहानां क्रमेण संप्राप्तिमाह—मेह इत्यादि । अत्र कफजा एव मेहा  
भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादावुच्यन्ते । शरीरजं क्लेदं वस्तिगतं वस्तिप्राप्तं प्रदूष्य श्लैष्मिकान् मेहान्  
करोति । यदुक्तं—“मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च । मूत्रदोषाश्च ये चापि वस्तौ  
चैव भवन्ति हि ॥”-इति उष्णैरुष्णवीर्यस्पर्शैर्द्रव्यैः, समुदीर्णवेगं पित्तं तानेव मेदोमांसशरीरकले-  
दान् वस्तिगतान् प्रदूष्य पित्तिकान् मेहान् करोति । पित्तप्रमेहसंप्राप्तिमुक्त्वा वातप्रमेहसंप्रा-  
प्तिमाह—क्षीणेष्वित्यादि । अनिलो दोषेषु क्षीणेषु वस्तौ धातूनवकृष्य मेहान् वातजान्  
कुरुते । धातन् वसामज्जीजोलसीकाख्यान, अवकृष्य वस्तिमुखं नीत्वा । मेहानिति बहुवचनं  
व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात् । क्रमेण कफपित्तवातजानां साध्यासाध्यत्वमाह—साध्या इत्यादि ।  
दोषदूष्याणां समक्रियत्वादिति । अत्र दोषः=श्लेष्मा, दूष्याणि=रसमांसमेदोमज्जाशुक्रलसी-  
कौजांसि; दोषस्य=श्लेष्मणः, एषां दूष्यवर्गाणां च कटु-तिक्त-कषयादिभिः समैव क्रिया  
अत एव कफजाः प्रमेहा दश साध्याः, प्रमेहेन विनाऽन्येषां रोगाणामतुल्यदूष्यत्वमेव  
साध्यत्वहेतुः । यदुक्तं—“ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्य-  
त्वहेतवः”-इति दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वादिति अत्र दोषः=पित्तं, दूष्याणि=रसमांसादीनि  
शीतमधुरादिका क्रिया पित्तहन्त्री, सा रस-मांस-मेदो-जनयित्री, एतेन विषमक्रियत्वात् षट् पित्त-  
जा याप्याः । मज्जादिगम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्याप्तिपरत्वादाशुकारित्वाद्वातजचतुष्टयस्या-  
साध्यत्वं महात्ययत्वाद्विनाशकारित्वात् । अप्रवृद्धे कफे पित्ते वा वायुवृद्धौ भवति, तत्र हि  
चिकित्साविधानाद् वातचतुष्टयस्यासाध्यत्वमुक्तम्—“या वातमेहान्प्रतिपूर्वमुक्ता वातोल्बणानां  
विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान्प्रति नास्ति चिन्ता”-  
इति ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ सर्वमेहानां दोष-दूष्यसंग्रहः ।

सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहमाह—

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽसशुक्राम्बुवसालसीकाः ।

मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥४॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—कफ इत्यादिना । वसा=मांसस्नेहः, सर्वदेहस्नेह इत्यन्ये ।  
लसीका=उदकविशेषः । यथाह चरकः—“यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्ल-  
सीकाशब्दं लभते” ( च. शा. स्था. अ. ७ )-इति । रसौज इति रसश्च  
ओजश्च इति द्वन्द्वः । ओजश्चात्रार्थाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मरूपम् । यदुक्तम्—  
“श्लेष्मलस्यौजसोऽर्धाञ्जलिः परिमाणम्” ( च. शा. स्था. अ. ७ )-इति ।



न त्वष्ट्रविन्द्रात्मकं, तस्य भ्रंशेन मरणाभिधानात् । ननु रस एवौजो रसौज इति कुतो न कल्प्यते ? रसोऽप्योजः शब्देनोच्यते; यदुक्तम्—“तस्मिन् काले पचत्यभिर्यदन्नं कोष्ठमागतम् । मलीभवति तत् प्रायः कल्प्यते किञ्चिदोजसे” ( च. चि. स्था. अ. ८ )—इति; ओजसे इति रसायेत्यर्थः । नैवम्—ओजसो हि मधुमेहे दूष्यत्वेनोक्तत्वात्, ओजःशब्दोपादानवैफल्याच्च । यद्यप्यत्र बहूनि भेदःप्रभृतीनि दूष्यत्वेनोच्यन्ते, तथाऽपि पूर्वं भेदो-मांस-शरीरज-क्लेदानां सर्वमेहेष्ववश्यम्भाविदूष्यत्वेन पृथगभिधानम् । मज्जादयस्तु मेहविशेषे दूष्याः । तथा-लसीका-वसा-मज्जौजांसि वातिके, न पैत्तिके, न श्लेष्मिके । ईशानः पुनराह—रस-रक्त-शुक्राणि सर्वमेहेषु कदाचित् दूष्यन्ते न त्ववश्यमिति । किञ्च सर्वमेहानामेव दोषत्रयजन्यत्वं सकलदूष्या-श्रयित्वं च ‘कफः सपित्त’—इत्यादिनोपदर्श्यते । भेदो-मांसादीनि त्वत्यन्त-दूष्योपदर्शनार्थं पृथगुक्तानि । यतश्चरकेऽपि कियन्तः शिरसीयाध्याये सकलमेहवाचकमधुमेहकथने दोषत्रयप्रकोपोऽभिहितः । तथाहि—“समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । तथा सुश्रुतोऽप्याह—“वात-पित्त-भेदोभिरन्वितः श्लेष्मा मेहान् जनयति” ( सु. नि. स्था. अ. ६ )—इत्यादि । कफादीनां द्रव्युत्पन्नादिसंसर्गस्यानन्त्येन सर्वमेहावस्थाविशेषेण मधुमेहेन च संख्याधिक्यप्रसङ्गनिरासायावधारणार्थमाह—विंशतिरेव मेहा इति ॥ ४ ॥

आ०—प्रमेहे दूष्यवर्गमाह—कफ इत्यादि । सर्वत्र मेहानामयं दोषदूष्यसंग्रहः । त्रयो दोषाः, अस्र=रक्तम्, अम्बु=शरीरक्लेदः, वसा=मांसक्लेहः, लसीका=उदकविशेषः, यदुक्तं चरके—“यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते ” । यदुक्तमन्यत्रापि—“तेजो-भूतं परं सूक्ष्मः स रक्तस उच्यते । लसीका नाम लभते समगन्धिस्त्वगाश्रितः ”—इति । रसश्च ओजश्च रसौज इवि द्वन्द्वः । ओजश्चात्रार्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मरूपम् । यदुक्तम्—“श्लेष्मरूपस्यौजसोऽर्धाञ्जलिः परिमाणम्”—इति । न त्वष्ट्रविन्द्रुकं, तस्य भ्रंशेन नियतं मरणमिति । कफादीनां संसर्गस्यानन्त्येन तथा सर्वमेहावस्थाविशेषेण मधुमेहेन संख्या-धिक्यप्रसङ्गनिरासायावधारणमाह—विंशतिरेव मेहा इति । तन्त्रान्तरेऽपि दूष्यसंग्रह उक्तः—“वसा मांसं शरीरस्य क्लेदः शुक्रं सशोणितम् । भेदो मज्जा लसीकौजः प्रमेहे दूष्यसंग्रहः ”—इति ॥ ४ ॥

अथ प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः ।

दाहश्चिक्रणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—दन्तादीनामित्यादि । आदिशब्देन नयन-तालु-कर्णादीनां ग्रहणम् । यदुक्तं सुश्रुते—“तालु-गल-जिह्वा-दन्तेषु मलोत्पत्तिः” ( सु. नि.

स्था. अ. ६)-इति । अत्र च मलभूयस्त्वं मेदोदोषात् । चिक्कणता देहे मेदःकफदुष्टेः । अत्र चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिलीभाव--नखातिवृद्धी बोध्ये । एतच्च व्याधिविशेषनियतमेव, येनान्यत्र विद्यमानाऽपि कफमेदो-दुष्टिर्नैवं कर्तुं क्षमा ॥ ५ ॥

आ०-पूर्वरूपमाह--दन्तादीनामित्यादि । आदिशब्देन तात्वादीनां ग्रहणम् । यदुक्तं सुश्रुते-  
“ तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिः ”-इति । अत्र मलभूयस्त्वं मेदोदोषात् । हस्तपादयोः संतापः, चिक्कणता देहे मेदःकफदुष्टेः, स्वाद्यास्यं मधुरास्यता, चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिलीभावनखवृद्धी, एतच्च व्याधिमहिम्ना बोद्धव्यम्, अन्यथा कफमेदोदुष्टिरेवं कर्तुं न क्षमा ॥ ५ ॥

अथ प्रमेहस्य सामान्यलक्षणम् ।

सामान्यलक्षणमाह—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।

दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥ ६ ॥

मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

( वा० नि० अ० १० )

म०-सामान्यमित्यादि । प्रभूतेत्यादि प्रभूतमूत्रत्वं दूष्यद्रवधातुसम्बन्धात्, आविलत्वं दोषदूष्यसंसर्गात् । ननु कथं कफेन दश, पित्तेन षडित्यादिव्य-वस्था ? यतः कारणभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्क्याह-दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषत इति । तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदा-द्भेदो मेहेषु भवति । यथा--पञ्चानां वर्णानां श्वेत--कृष्ण--पीत--लोहित--श्यावानां संयोगभेदादनेकपिङ्गल-पाटलादिभेदः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्--“ यथा पञ्चानां वर्णानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषादिसंसर्गान्मेहानां नानात्वम् ” ( सु. नि. स्था. अ. ६ )-इति । संयो-गभेदप्रतीतिः कुत इत्यत आह-मूत्रेत्यादि । मूत्रवर्णादिभेदं दृष्ट्वा कार-णानां समानानां भेदः कल्पनीयः, यथा-मृदादिकारणकलापस्याभेदेऽपि कुम्भ-कारादिसंयोगभेदादुदञ्चनादिप्रपञ्चभेदः । ननु, उदञ्चनादौ कुम्भकारादिप्र-यत्नभेदात् संयोगभेदः, अत्र तु कः संयोगभेदहेतुः ? उच्यते, तत्तदाहारा-दिकमदृष्टं च भवतीत्यदोषः ॥ ६ ॥--

आ०-सामान्यलक्षणमाह-सामान्यमित्यादि । प्रभूतमूत्रं दूष्यद्रवधातुसम्बन्धात् आविलमूत्रत्वं दोषदूष्यसंसर्गात् । ननु कथं कफेन दश, पित्तेन षट् इत्यादिव्यवस्था ? यतः कारणभेदात् कार्यभेदः इत्याशङ्क्याह-दोषेत्यादि । दोषदूष्ययोरविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः, तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदात् मेहेषु भेदो भवति दश षट् चत्वार-

इत्यादिकः । दोषा वातादयः, दूष्या भेदो-मज्जादिकाः, यथा पञ्चानां श्वेतपीतकृष्णलोहित-  
इयामवर्णानां संयोगभेदादनेकपिङ्गलादिभेदो जायते । यदुक्तं सुश्रुते--“ यथा पञ्चानां  
वर्णानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषदूष्यसंयोगान्मेहानां  
नानात्वम्” -इति । मूत्रवर्णादिभेदं दृष्ट्वा कारणानां समानानां भेदः कल्पनीयः, यथा मृत्पा-  
त्राणां मृदादिकारणकलापस्याभेदेऽपि कुम्भकारादिसंयोगात् घटस्थात्यादिप्रपञ्चभेदः ॥६॥

अथ श्लेष्मिकाणां दशमेहानां लक्षणानि ।

अत्र कफस्य श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्त्रिगुणधुरसान्द्रप्रसादमन्देषु गुणेषु  
मध्ये कुत्रचित् किञ्चिद्गुणप्रकर्षादुदकमेहादयो दश दृश्यन्त इत्याह—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥७॥

मेहत्युदकमेहेन किञ्चिदविलपिच्छिलम् ।

इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चक्षुमदतः ॥८॥

सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।

सुरामेहि सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥९॥

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम् ।

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ १० ॥

मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।

शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥११॥

शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।

लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥ १२ ॥

( वा० नि० अ० १० )

म०-अच्छमित्यादि । सान्द्रप्रसादस्तु एक एव गुणो गणनीयः, सान्द्र-  
मेहव्यपदेशस्त्वेकदेशेन भविष्यतीति । एतैश्च श्वेतादिभिर्गुणैर्व्यस्तैः समस्तैश्च  
योगादश मेहा न तु यथाक्रमं, “येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते  
तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति” ( च, नि. स्था. अ. ४ )-इति । चर-  
कवचनात् । नच यथा दशभिर्गुणैर्दश मेहान् करोति तथा संसर्गविकल्पान्त-

१ उदकमेह = Diabetes Insipidus.

२ पिष्टमेह = Chylurea.

३ शुक्रमेह = Spermatorrhoea.

४ सिकतामेह = Uric Acid diabetes.

५ शनैर्मेह = Enuresis.

६ लालामेह = Albuminuria.

रेणापरानपि कुतो न करोतीत्याशङ्कनीयं, भावस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अदृष्टकल्पनायाश्चानर्हत्वात् । तत्र श्वेताच्छशीतैर्गुणैरुदकमेहः, मधुरशीताभ्या-  
मिक्षुमेहः, सान्द्रपिच्छिलाभ्यां सान्द्रमेहः, अच्छेन पित्तानुरागिणा सुरामेहः,  
शुक्लेन पिष्टमेहः, अत्र पिष्टवदित्यालेपनपिष्टवत्; श्वेतस्निग्धाभ्यां शुक्रमेहः ।  
अत्र शुक्राभिमिति सर्वमेव सूत्रं शुक्रतुल्यं, शुक्रमिश्रं वेति शुक्राभशुक्रमिश्रं,  
वास्तवशुक्रमिश्रत्वे तु कफजस्याप्यसाध्यत्वं स्यादिति । वाप्यचन्द्रस्तु शुक्रस्य  
मूत्रेण गुणकृतं सादृश्यं, शुक्रमिश्रं वेति च शुक्रगुणानां संयुक्तसमवायात्  
मूत्रे दर्शनमित्याह । सान्द्रमूर्ताभ्यां सिकतामेहः, अत्र मूर्तानूनिति मूर्तान्  
कठिनान्, अणून् अल्पान्; मलानिति बहुवचनं दोषाणामवयवबहुत्वात्,  
जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमिति वाप्यचन्द्रः । मलोऽत्र प्रकरणात्  
कफः । गुरु-मधुर-शीतैः शीतमेहः । मन्दमूर्ताभ्यां शनैर्मेहः । पिच्छलेन  
लालामेहः । चरके सुरामेहस्थाने सान्द्रप्रसादमेहः पठितः, तथा पिष्टमेहः  
शुक्लमेहशब्देन, तेनैव शीतमेह-लालामेहौ पठितौ, पित्तजश्च कालमेहः; सुश्रु-  
तस्तु चरकोक्तशीतमेहलालामेहयोः स्थाने फेनमेहलवणमेहौ, कालमेहस्थाने  
चाम्लमेहं पठितवान् । सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव, परस्परलक्षणसंवादाभावात्,  
स्मृतिद्वैधवत् सर्वं प्रमाणम् ॥ ७-१२ ॥

आ०—तत्र कफस्य श्वेतमृदुपिच्छिलस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्देषु गुणेषु मध्ये कचित्  
किञ्चिद्गुणप्रकर्षादुदकमेहादयो दश स्युस्तान् कफजानाह—तत्रादाबुदकमेहमाह—अच्छमि-  
त्यादि । आविलं घनम् । शेषं सुगमम् । इक्षुमेहमाह—इक्षोरित्यादि । सुगमम् । सान्द्रमेहमाह-  
सान्द्राभवेदित्यादि । पर्युषितं रात्रौ पात्रे स्थापितम् । सुरामेहमाह—उपरि अच्छम् अधो घनम् ।  
पिष्टमेहमाह—संहृष्टेत्यादि । तण्डुलादिकृतालेपनपिष्टवत् । संहृष्टरोमा=रोमाञ्चितशरीरः ।  
पिष्टमित्यनेन श्वेतत्वं, श्लेष्मणः श्वेतत्वात् । शुक्रमेहमाह—शुक्राभमित्यादि । शुक्लेन मिश्रितं  
शुक्रमिश्रितं; शुक्राभमिति शुक्रसदृशं, न तु वास्तवं शुक्रं, तस्यासाध्यत्वप्रसङ्गः । सिकतामेह-  
माह—मूर्तानूनिति । कठिनानल्पान् । मलानिति बहुवचनं दोषावयवबहुत्वादिति वाप्यचन्द्रः ।  
मलोऽत्र प्रकरणात् कफः, सिकता वालुका । शीतमेहमाह—शीतमेहीति । अतिशीतलम् । शनै-  
र्मेहमाह—मन्दशब्देन श्लेष्मैवोच्यते, मधुरत्वान्मूत्रं मन्देन वेगेन शनैः प्रमेहति । लालाप्रमेह-  
माह—लालेत्यादि । एवं दश श्लेष्मणः । एते दोषदूष्यसंयोगगुणाद्विशतिस्ख्यां लभन्ते । उक्तं  
च तन्त्रान्तरे—“शीताच्छशीतैरुदकप्रमेहः स्यादिक्षुवाली मधुराच्छशीतात् । पित्तोत्कटः स्वच्छ-  
गुणात्सुराख्यो मूत्रेण युक्तः सिकताप्रमेहः । मन्देन मूत्रेण शनैः प्रमेहो गुरोर्विदग्धालवणप्रमेहः ।  
पिष्टप्रमेहः खलु शुक्रभागात्समस्तसान्द्रेण तु सान्द्रमेहः । स्निग्धेन शुक्लेन च शुक्रमेहः स्यात्फे-  
नमेहो गुरुशुक्लयोगात् । इत्येभिरंशैः कफदोषजातैर्नृणां प्रमेहा दश संभवन्ति । औत्कण्ठ्य-  
तोऽयं व्यपदेश एषु संसर्गभावो गुणदोषदूष्यात् ॥ पित्ताग्नीलहरिद्राम्लक्षारमाञ्जिष्ठशोणितैः ।  
सर्पिर्मेहं मरुत्कुर्याद्युक्तश्च लवणेन हि ॥ मेदोयुक्तो वसायुक्तो वसामेहकरस्तु सः । क्षौद्रमेह-  
सौख्यगुणाद्विष्टम्भो हस्तिमेहतः”-इति ॥ ७-१२ ॥

अथ पैत्तिकमेहानां षण्णां लक्षणानि ।

पित्ताच्च षड्भिः पित्तगुणैः क्षारनीलकालपीतलोहितविसैर्यथाक्रमं क्षारमेह-  
हादयः षट्, तान् गन्धवर्णरसस्पर्शैरित्यादिना दर्शयति—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।

नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥१३॥

हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासंनिभं दहत् ।

विस्त्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥ १४ ॥

विस्त्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः ।

( वा० नि० अ० १० )

म०—गन्धेत्यादि । नीलाभमिति चासपक्षप्रभं, चासः 'स्वर्णचूड' इति  
लोके ख्यातः, क्वचित् 'टाकसना चासः' इति गदाधरः, तत्पक्षश्च स्निग्ध-  
नीलो भवति । दहदिति मूत्रविशेषणम् । दहन्निति पाठान्तरे दाहमनुभवन्  
पुरुषः ॥ १३ ॥ १४ ॥—

आ०—पैत्तिकानाह—तत्र क्षारप्रमेहमाह—गन्धेत्यादि । गन्धादिभिः क्षारतोयवत् क्षारमेहेन ।  
नीलमेहमाह—नीलेत्यादि । नीलाभं=चासपक्षप्रतिभं, चासः पक्षविशेषः, 'स्वर्णचूड' इति लोके ।  
कालमेहमाह कालेत्यादि सुगमम् । हरिद्रामेहमाह—हारिद्रेत्यादि । दहदिति मूत्रविशेषणं, 'दहन्'  
इति पाठान्तरे दाहमनुभवन् 'पुरुष' इति शेषः । माञ्जिष्ठमेहमाह—विस्त्रं विस्त्रगन्धि । रक्तमे-  
हमाह—विस्त्रमित्यादि । सुगमम् । एवं षट् पैत्तिकाः सर्वेषां मूत्रं योज्यम् ॥ १३ ॥ १४ ॥

अथ वातिकमेहानां चतुर्णां लक्षणानि ।

वातेन यथाक्रमं वसामज्जौजोलसीकाभिर्यथाक्रमं वसामेहादयः; तानाह—

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥१५॥

मज्जाभं मज्जामिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ।

कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुधः ॥१६॥

हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।

सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ॥१७॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—वसेत्यादि । अयं वसामेहः सुश्रुते सर्पिर्मेहनाम्ना, क्षौद्रमेहश्चरकै-  
मधुमेहनाम्ना पठितः ॥ १५—१७ ॥

आ०—अथ चतुर्णां वातजानां लक्षणम् । वसामेहमाह—वसा मांसस्नेहः, वसामिश्रं वसामिलितं, वसामं वसातुल्यं, मुहुर्मृत्रयेत् । मज्जमेहमाह—मज्जाभमित्यादि । सुश्रुतेऽयं सर्पिर्मेहनाम्ना पठितः, शेषं पूर्ववत् व्याख्येयम् । क्षौद्रमेहमाह—कषायमित्यादि । सुगमम् । हस्तिमेहमाह—हस्तीत्यादि । अजस्रमनवरतं, वेगविर्वर्जितं वेगरहितं, सलसीकं लसीकया सह, विबद्धं पिण्डीभूतमिव ॥ १५-१७ ॥

अथ त्रिदोषजमेहानामुपद्रवाः ।

इदानीं कफजादिमेहानां कृच्छ्रसाध्यत्वमसाध्यत्वं च ज्ञापयितुं भेदेनोप-  
द्रवानाह—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।

उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥१८॥

वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणे ज्वरः ।

दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥१९॥

वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ब्रह्मलोलताः ।

शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥२०॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—अविपाकोऽरुचिरित्यादि । कफजे कास आर्द्रः, वातजे शुष्कः । तोदः संसर्गिवातजन्यः, मेहानां त्रिदोषजन्यत्वात् । मुष्कावदरणं पाकेन । अम्लिका=अम्लोद्गारः । लोलता=सर्वरसभक्षणेच्छा, इयं तु प्रभावात् धातु-  
क्षयाद्वा भवति, यथा वातग्रहण्यां 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इत्युक्तम् ॥ १८-२० ॥

आ०—इदानीमुपद्रवानाह—अविपाक इत्यादि । कफजे कास आर्द्रः, वातजे शुष्कः, सपीनसः=प्रतिश्रयायुक्तः, एते कफजानामुपद्रवाः । पित्तजानामुपद्रवानाह=वस्तीत्यादि । वस्तिः=मूत्राशयः, मेहनं=मेढ्रं, शूलं=तोदः संसर्गिवातजन्यः, मेहानां त्रिदोषजन्यत्वात्, मुष्कावदरणं पाकेन, अम्लिका अम्लोद्गारः, विड्भेदः भिन्नपुरीषता । वातजानामुपद्रवा-  
नाह=वातजानामित्यादि । लोलता सर्वरसभक्षणेच्छा, अयं च प्रभावो रोगस्य, अथवा धातुक्षयाद्भवति, यथा वातग्रहण्यां 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इत्युक्तं; शूलं वस्तिमेहनयोरेव, कासोऽत्र शुष्कः ॥ १८-२० ॥



अथ प्रमेहस्यासाध्यलक्षणम् ।

असाध्यतामाह—

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रसृतमेव च

पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—यथोक्तोपद्रवाविष्टमित्यादि । उक्तैरविपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुता-  
द्युक्तैरुपद्रवैः; तद्यथा—कफजे आलस्याऽऽस्योपदेहशैथिल्य—कफप्रसेक—मक्षिको-  
पसर्पणादिकं, पित्तजे पाण्डुरोगादिकम् । अतिप्रसृतमिति अतिशयं धातु—मूत्र-  
साध्युक्तम् । पिडकापीडितमिति शराविकादिपिडकापीडितम् । गाढः काल-  
प्रकर्षात् । यद्यपि पिडका अप्युपद्रवत्वेनाभिमाताः; यदुक्तं चरके,—“उपद्रवास्तु  
खलु प्रमेहिणां तृष्णा-स्तीसार-ज्वर-दाह-दौर्बल्या-ऽरोचका-विपाकाः पूतिमांस-  
पिडकाऽलजी-विद्रध्यादयः” ( च. नि. स्था. अ. ४ )—इति, तथाऽपि पिड-  
कानां पृथगुत्पादसूचनार्थं पृथक्करणम् । उक्तं च चरके,—“विना प्रमेहमप्येता  
जायन्ते दुष्टमेदसः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । अन्यदप्यसाध्यलक्षणं  
बोद्धव्यम् । यदाह चरकः,—“सपूर्वरूपाः कफ-पित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च  
मेहाः । साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम्”  
( च. चि. स्था. अ. ६ )—इति । अस्यार्थः,—ये कफजाः साध्यास्ते सपूर्वरूपाः  
सन्तोऽसाध्याः, पित्तकृतास्तु याप्या ये ते सपूर्वरूपा एव असाध्याः । सर्व-  
रोगाणामेव यद्यपि पूर्वरूपानुवृत्तावसाध्यत्वमुक्तं, तथाऽप्यत्रासकलपूर्वरूपान्वये  
असाध्यत्वम्, अन्यत्र तु सकलपूर्वरूपान्वये सतीति विशेषः । क्रमेणेति स्व-  
निदानक्रमेण । तेन निजहेत्वादिकृता ये वातजाश्चत्वारो मेहास्ते पूर्वरूपरहिता  
अपि नहि साध्याः, ये तु पश्चात् धात्वपकर्षणाद्वातानुबन्धेन वातजास्ते साध्या  
याप्या वा । अत एवोक्तं,—“या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता  
क्रिया सा” ( च. चि. स्था. अ. ६ )—इत्यादि ॥ २१ ॥

आ०—असाध्यतामाह—यथेत्यादि । उक्तोपद्रवैरपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुतोक्तैः—“आल-  
स्यास्योपदेहशैथिल्यकफप्रसेकमक्षिकोपसर्पणादिभिर्युक्तमतिप्रसृतमतिशयं धातुमूत्रसावयुक्तं” इत्यादिभिः  
पिडकापीडितं शराविकादिपिडकापीडितं, गाढं कालप्रकर्षात् ॥ २१ ॥

अथ प्रकारान्तरेणासाध्यलक्षणम् ।

असाध्यतायाः प्रकारान्तरमाह—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा

न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।



ये चापि केचित् कुलजा विकरा  
भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥२२॥

( च० चि० अ० ६ )

म०--जात इत्यादि । श्लेष्ममेदसोरतिदुष्ट्या मूत्रमेदः श्लेष्मणामतिमाधुर्यात् मधुमेहिना जातो यः प्रमेही स चाप्यसाध्यो भवतीति । बीजदोषादिति प्रमेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातप्रमेहित्वात् । मधुमेहशब्देन चात्र मेहमात्रमुच्यते, यदि तु वातिक उपेक्षितो वा मेहो मधुमेह उच्यते, तदा चेतत्प्रमेहयुक्तमातृपितृजनितप्रमेहिणो नासाध्वत्वमुक्तं स्यात्; किंच मधुमेहिना जनितस्य मधुमेहित्वमेव कारणानुरूपतया युक्तं, ततश्च मधुमेही मधुमेहिना ( वा ) जातो न साध्य इति वक्तुमुचितं; तस्यासाध्यत्वमपि न वक्तव्यं, मधुमेहस्यासाध्यत्वादेव । अन्यत्रापि मधुमेहशब्देन मेहमात्रमुक्तम् । यथा,--“गुल्मी च मधुमेही च राज-यक्ष्मी च यो नरः । अचिकित्स्या भवन्त्येते बल-मांस-परिक्षयात्” ( च. इ. स्था. अ. )-इति । यदि ह्यत्र मधुमेहोऽभीष्टः स्यात्तदा बलमांसपरिक्षयादिति न कृतं स्यात्, तस्य स्वरूपत एवासाध्यत्वात् । यथा कियन्तःशिरसीयाध्याये-“उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका मधुमेहिकाः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )-इत्यादिना या मधुमेहसंबन्धित्वेनोक्तास्ता एव “प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ताः” ( च. चि. स्था. अ. ६ )-इत्यन्तेन च चिकित्सास्थाने प्रमेहीमात्रसंबन्धितया अनूद्य चिकित्सायां संयोजिताः । तस्माद्भाविनीं मधुमेहतामाश्रित्य सर्व एव मेहा मधुमेहशब्दवाच्याः । उक्तं हि वाग्भटे,--“मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति । सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः” ( वा. नि. स्या. अ. १० ) इति । गदाधरेण तु पिडकासंबन्धेनैव मधुमेहत्वमुक्तं, यतश्चरके कियन्तःशिरसीयाध्याये ( च. सू. स्था. अ. १७ ) मधुमेहमभिधाय पिडका उक्ता इति । तत्र मनोहरं, तत्र मधुमेहशब्देन प्रमेहमात्राभिधानात् । यदि तु मधुमेह एवाभीष्टः स्यात्, तदा ‘उपेक्षयाऽस्य जायन्ते’-इति उपेक्षणाभिधानमनुपपन्नं स्यात् पिडकानां च मधुमेहभवानां चिकित्सोपदेशो व्यर्थः स्यादिति । कुलजमेहस्यासाध्यताप्रसङ्गेनापरेषामपि कुलजानामसाध्यत्वमाह—ये चापीत्यादि । केचिदिति कुष्ठादयः । कुलजा इति पितृपितामहादिसंभूताः । एतेन प्रमेहि-पितृ-पितामह-मातामहस्यापि प्रमेहमसाध्यं दर्शयति । ननु, यस्य पितामहः प्रमेही तस्य पिताऽपि प्रमेही, प्रमेहिजातत्वात्; तथाच सति ‘जातः प्रमेही मधुमेहिनी वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्’-इत्यनेनैव गतार्थम् । नैवं, न हि प्रमे-

हिना जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि कालवशेन दुष्टे-  
रभिव्यक्त्या; यथा—कुष्ठिजातस्य कुष्ठम्, एतेन यदा अनतिदुष्टबीजेन प्रमेहि-  
जातेन पित्रा जन्यते पुरुषः प्रमेही सोऽप्यसाध्य इति । कुलजा इत्यनेनैव मेह-  
स्याप्यसाध्यतायां लब्धतायां पुनस्तद्वचनं प्रमेहाणां प्रायेण सन्तानानुबन्धित्व-  
प्रदर्शनार्थम् । उक्तं च,—‘प्रमेहोऽनुसङ्गिनाम्’ ( च. सू. स्था. अ. २५ )—  
इति ॥ २२ ॥

आ०—प्रकारान्तरेणासाध्यत्वमाह—जात इत्यादि । मधुमेहिनो जातो जनितो यः पुरुषः प्रमेही  
स चासाध्यो भवति; बीजदोषादिति मेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातमधुमेहत्वात्, मधुमेहशब्देन चात्र  
मेहमात्रमुच्यते, यदि तु वातिक उपेक्षितो वा मेहो मधुमेह उच्यते, तदा इतरमेहयुक्तमातापितृ-  
जनितप्रमेहिणां नासाध्यत्वमुक्तं स्यात्; मधुमेहिजनितस्य मधुमेहित्वमेव कारणानुरूपतया युक्तं  
ततश्च मधुप्रमेही मधुमेहिना वा जातो न साध्य इति वक्तुमुचितं; तस्यासाध्यत्वमपि न  
वक्तव्यं, मधुमेहस्यासाध्यत्वात् । अन्यत्रापि मधुमेहशब्देन मेहमात्रमुक्तम् । तथा च—“कुष्ठी च  
मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः । अचिकित्स्या भवन्त्येव बलमांसपरिक्षयात्”—इति । यद्यत्र  
मधुमेहोऽभीष्टः स्यात्, तदा बलमांसपरिक्षयादिति न कृतं स्यात्, तस्य स्वरूपत एवासाध्य-  
त्वात् । तथा च सुश्रुते—“मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति । सर्वेऽपि मधुमेहाख्या  
माधुर्याच्च तनोरतः” इति । ये चापि केचित्कुलजा इति केचिदिति पितृपितामहादिसम्भूताः  
कुष्ठादयः ॥ २२ ॥

अथ मधुमेहस्य लक्षणम् ।

(Diabetes Mellitus)

उपेक्षया हि पित्तकफजानामपि मधुमेहत्वं प्रदर्शयितुमाह—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः ।

मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २३ ॥

( सु० नि० अ० ६ )

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा ।

कुष्ठे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥ २४ ॥

आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् ।

क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥ २५ ॥

मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।

सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥ २६ ॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—सर्व एवेत्यादि । धातुक्षयावरणाभ्यां कुपितवातेन मधुमेहसंभवमाह—मधु-  
मेह इत्यादि । मधुसममिति ‘मूत्रम्’ इति शेषः । स इति मधुमेहः । सावरण-  
२४

लिङ्गमाह—आवृत इत्यादि । आवृत इति आवृतवातकृतः । दोषलिङ्गानीति येन पित्तादिना आवृतस्तस्य वातस्य च लिङ्गानि प्रदर्शयति । अनिमित्तमकरमात् । क्षीणः क्षणात् क्षणात्पूर्ण इति आवरणेन पुनः पूर्णो भवन् कृच्छ्रसाध्यो भवति । तथाच चरकः,—“समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च सुदुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । धातुक्षयकुपितवातजस्य तु केवलवातजमेव लिङ्गम् । गदाधरस्त्वाह,—मधुमेहः सावरणवायुनैव क्रियते । यदाह चरकः,—“तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति । यदा वर्त्ति तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । केवलवातजेषु तु कषायादिवमनाद्यतियोगादिकृतेषु धातुक्षयजेषु वायोः—सावरणं नास्तीति भेदः । मधुमेहशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—मधुरं यच्च मेहेष्वित्यादि ॥ २३—२६ ॥

आ०—उपेक्षया पित्तकफजानामपि मधुमेहित्वं दर्शयन्माह—सर्व इत्यादि । सर्व एव प्रमेहा अप्रतिकारिणः प्रतीकारमकुर्वतः पुंसः कालेन मधुमेहस्त्वमायान्ति, तदा असाध्या भवन्ति धातुक्षयावरणाभ्यां कुपिततवातेन मधुमेहसम्भवमाह—मध्वित्यादि मधुमेहसममिति ‘मूत्रं’ इति शेषः । स च द्विधा भवति, एको धातुक्षयात् कुपितवायी, धातुक्षयकुपितवातजस्य तु मधुमेहस्य केवलवातमेहलिङ्गं यदुक्तं—“कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जवसायुतः । अधः प्रक्रमते वायुस्तेनासाध्यास्तु वातजाः”—इति ? अपरस्तु दोषैरावृतपथे । गदाधरस्तु—मधुमेहः सावरणेन वायुना क्रियते । यदुक्तं चरके—“तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति । यदा वर्त्ति तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते” इति । केवलवातजेषु तु कषायादिवमनाद्यतियोगाद्धातुक्षये वायोः—सावरणं नास्तीति भेदः । सावरणलिङ्गमाह—आवृत इत्यादि । येन पित्तादिना दोषेणावृतश्च भवति तस्य लिङ्गं लक्षणं दर्शयन्, अनिमित्तमकरमात् । क्षीणः, क्षणात् पुनरावरणे सति पूर्णो भवेत्, स कृच्छ्रसाध्यो भवति । उक्तं चरके—“समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च सुदुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः”—इति मधुमेहशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—मधुरमित्यादि । शरीरस्य माधुर्यादतः सर्व एव प्रमेहा मधुमेहाख्यां लभन्ते । शेषं सुगमम् ॥ २३—२६ ॥

अथ प्रमेहपिडिकानिदानम् ।

( Carbuncles )

प्रमेहोपेक्षया पिडाकासंभवं दर्शयितुमाह—

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी ।

मसूरिका सर्पपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥ २७ ॥

विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश ।

सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥ २८ ॥

( वा० नि० अ० १० )

म०—शराविकेत्यादि । इह दशपिडकासु विनतायाः पाठो भोजवि-  
रुद्धः, भोजे हि नव पिडकाः; तथा—“शराविका सर्पपिका कूर्मिका

जालिनी तथा । कुलत्थिकाऽलजी पुत्री विदारी विद्रधी तथा ॥ नवैताः पिडका ज्ञेयाः—इत्यादि । कुलत्थिका भोजे मसूरिका ज्ञेयाः, किंतु भोजे एव विनता न्यूनेति वक्तुं सुकरं; सुश्रुते चरके च विनताया दर्शनात् । चरके तु सप्त पिडकाः । तद्यथा—“शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा । अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । तत्र प्रायोभावात् सप्तानामभिधानम् । यतस्तेनैव कियन्तः शिरसीये “तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति” इत्यादिनाऽधिकपिडकासंभवः सूचितः । प्रमेहोपेक्षयेत्यभिधानं मधुमेहेन प्रमेहमात्रेण च पिडकासंभवं दर्शयति । अत एव—“विना प्रमेहमप्येताः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इत्यत्र प्रमेहमात्रग्रहणं कृतम् । धामस्विति स्थानेषु ॥ २७ ॥ २८ ॥

आ०—प्रमेहोपेक्षया पिडकासंभवं दर्शयितुमाह—शराविकेत्यादि । एतैः स्वनामभिः प्रसिद्धाः । प्रमेहोपेक्षया अप्रतिक्रियमाणेषु कालप्रकर्षादित्यर्थः । प्रमेहोपेक्षयेत्यभिधानं मधुमेहेन प्रमेहमात्रेण च पिडकासंभवं दर्शयति । धामसु स्थानेषु, अत एव ‘विना प्रमेहमप्येता’ इत्यादि । संधिमर्मसु सन्ध्याश्रितेषु मर्मसु, अन्ये संधौ मर्मसु चेति व्याख्यानयन्ति ॥ २७ ॥ २८ ॥

अथ सर्वासां प्रमेहपिडिकानां लक्षणानि ।

सर्वासामाकृतिमाह—

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्या शराविका ।  
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी ॥ २९ ॥  
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ।  
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥ ३० ॥  
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा ।  
महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता ॥ ३१ ॥  
महत्यल्पचिता ज्ञेया पिडका चापि पुत्रिणी ।  
मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका ॥ ३२ ॥  
रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत् ।

विदारीकन्दवद्धृत्ता कठिना च विदारिका ॥ ३३ ॥  
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा ।

( सु० नि० अ० ६ )

म०—अन्तोन्नतेत्यादि । तद्रूपेति शरावरूपा । अल्पचिता अल्पपिडका-  
न्तराचिता । विद्रधेर्लक्षणैर्युक्तेत्यभिधानेन विद्रधेरस्या भेदो बोध्यः ॥ २९—३३ ॥

आ०—शराविकालक्षणमाह—अन्तोन्नतेत्यादि । अन्ते उन्नता मध्ये निम्ना, तद्रूपा शराव-  
रूपा । कच्छपिकामाह—सदाहेत्यादि । दाहयुक्ता कूर्माऽऽकारा । जालिनीमाह—जालिनीत्यादि ।  
अतिशयदाहयुक्ता मांसजालैर्व्यावृतेव, अस्या लक्षणं तन्त्रान्तरे—“परस्पराभिसम्बन्धात्पिडका  
चैकदेशजा । पित्तोत्कटा दाहवती भृशरुग् जालिनी मता”—इति । विनतामाह—आवगाढे-  
त्यादि । अवगारुडजाक्लेदा, अन्तर्निविष्टवेदनाक्लेदा पृष्ठे वा जठरे वा जायते । महती स्थूला,  
नीला नीलवर्णा । अल्पचितेति अल्पपिडकान्तरचिता, सा पुत्रिणी ज्ञेया । विदारिका पिडका  
विदारीकन्दवद्धृत्ता परिवर्तुला, कठिना अश्मवत् । विद्रधेर्लक्षणैर्युक्तेत्यभिधानेन विद्रधेरस्या  
भेदो बोद्धव्यः ॥ २९—३३ ॥—

अथ पिडकानामुत्पत्तौ कारणानि ।

पिडकानामारम्भककारणमाह—

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३४ ॥  
विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।  
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः ॥ ३५ ॥

( च० सू० अ० १७ )

म०—ये यन्मया इत्यादि । तन्मया इति निर्देशः क्वचिदपवादविषये-  
ऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ङीपं बाधित्वा टापा साधनीयः । तद्दोषं मत्वा  
कैश्चित् ‘तत्कृताः’ इति पाठान्तरं कृतम् । अयमत्र पिण्डार्थः—यो यद्दोषो-  
ल्वणो मेहस्तद्दोषोल्वणेनैव पिडका भवन्ति । ननु, जालिन्यां तीव्रदाहः पठितः,  
स च पित्तकृतः, भोजेऽपि जालिनी पित्तकृतैव पठिता, यथा—“परस्परा-  
भिसम्बन्धा पिडका चैकदेशजा । पित्तोत्कटा दाहवती भृशरुग् जालिनी  
मता”—इति । तत्कथं जालिन्यां पित्तजत्वनियमात् ये यन्मया इत्यादिग्रन्था-  
र्थसंगतिः ? नैवं, प्रचुरपिडकानां तन्मयत्वेन बाहुल्येनाभिधानं; यथा—छत्रिणो  
गच्छन्तीति गदाधरः, किंवा स्वमहिम्ना जालिनी पित्तप्रधाना भवति, श्लेष्म-  
वातजमेहभवत्वेन श्लेष्मवातप्रधाना च; तेन दोषत्रयप्रधानत्वात् सर्वदा सा

भवति, । अन्यस्त्वाह,—तीव्रदाहत्वं पित्तोत्कटत्वं च पैत्तिकमेहजायां जालि-  
न्यामवगन्तव्यम् अन्यमेहजा त्वन्यदोषोत्कटा निर्दाहा च । अत एव चरके  
जालिनी कफोल्बणा निर्दाहा एव पठिता । तद्यथा,—“शराविका कच्छपिका  
जालिनी चेति दुःसहाः । जायन्ते ता ह्यतिवलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम् ॥  
स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्त्रावा महाश्रया । रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्म-  
च्छिद्रा च जालिनी” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । न चातिप्रसक्तिः,  
उक्तं हि चरके समर्थ्यते, अस्मिंश्च समाधाने ये यन्मया इत्यादि न व्याह-  
न्यते । चरकभोजवचनयोश्चाविरोधार्थं यत्नान्तरं मृग्यम् । कार्तिकस्त्वाह,—  
पाककाले पित्तोत्कटत्वं, “तस्माद्भि सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथास्त्रय  
एव दोषाः” ( सु. सू. स्था. अ. १७ )—इति वचनात्; एतच्च सर्वत्रावि-  
शेषान्नाद्रियन्ते ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

आ०—पिडकानामारम्भकारणमाह—य इत्यादि । ये मेहा यन्मया यद्दोषारब्धास्तेषां मेहा-  
नामेताः पिडकास्तन्मयास्तदोषमया वाच्याः । श्लेष्मजेषु श्लेष्मजाः, पित्तजेषु पित्तजाः, वात-  
जेषु वातजाः । कदाचित्प्रमेहान् विनाऽपि वातादिदुष्टमेदसः पुरुषस्य जायन्ते, एतास्तावन्न  
ज्ञायन्ते, यावद्वास्तुपरिग्रहो=वास्त्वधिष्ठानं न भवति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अथासाध्यपिडकानां लक्षणानि ।

असाध्यपिडकालक्षणमाह—

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः ।

सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥

( सु० नि० अ० ६ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने प्रमेह-प्रमेहपिडका-निदानं समाप्तम् ॥

म०—गुदे इत्यादि । सोपद्रवा इति उपद्रवाश्च तृट्कासादयः । यथाह  
चरकः—“तृट्-कास-मांससंकोच-मोह-हिक्का-मद-ज्वराः । विसर्प-मर्मसंरोधाः  
पिडकानामुपद्रवाः” ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । पिडकास्तु प्राये-  
णाधः-काय एव, दोषदूष्याणामधःप्रसरणात्, “रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्व-  
मुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः”—( सु. चि. स्था. अ. १२ ) इति वचनाच्च ।  
केचिदाहुः—स्त्रीणां प्रमेहो न भवतीति । तथाच तन्त्रान्तरे,—“रजःप्रसे-  
कान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति । सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्यतः  
स्त्रियः”—इति । किंतु स्त्रीषु प्रमेहदर्शनात्, एतद्धेतुबलादन्यरोगासंभवंत्वाच्चै-  
तत् प्रायोवादमाश्रित्योक्तम् । मेहनिवृत्तिलक्षणं च सुश्रुते पठितम् । तद्यथा,—  
“प्रमेहिणो यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम् । विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं  
प्रचक्षते” ( सु. चि. स्था. अ. १२ )—इति ॥ ३६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम् ।

आ०—पिडकानामसाध्यलक्षणमाह—गुद इत्यादि । अंसे=बाहुमूले, मर्मसु शारीरोक्तेषु, सोपद्रवाः उपद्रवाश्च तृट्कासादयश्चरकोक्ताः । यदुक्तम्,—“तट्कासमांससंकोचमोहहिकामदञ्जराः । विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः”—इति । पिडकास्तु प्रायेणाधःकाय एव भवन्ति, दोषदूष्याणामधःप्रक्रमणात् ‘रसायनीनां च दौर्बल्यात् नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति दोषाः’ इति वचनात् ! केचिदाहुः—‘स्त्रीणां प्रमेहो न भवति’ इति । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्ध्यति । कृत्स्नं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः”—इति । किंतु स्त्रीषु प्रमेहेहेतुदर्शनादेतद्वेदनाऽन्यरोगासंभवाच्चैतत्प्रायोवादमाश्रित्योक्तम् । प्रमेहनिवृत्तिलिङ्गं च सुश्रुते पठितं, तद्यथा—“प्रमेहिणां यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम् । विशदं कटुतिक्तं च तदारोग्यं प्रचक्षते” इति । मेहरक्तपित्तयोर्व्यक्तिमाचष्टे वाग्भटः—“हारिद्रवर्णं रक्तं वा मेहप्राग्रूपवर्जितम् । यो मूत्रयेन्न तं मेहं रक्तपित्तं तु तं विदुः”—इति ॥ ३६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्याविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम् ॥ ३३ ॥

### अथ मेदोनिदानम् ।

(Obesity)

अथ मेदोरोगस्य हेतु-सम्प्राप्ति-लक्षणानि ।

“विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः” इति मेदःकीर्तनात् पिडकानन्तरं मेदोनिदानमाह—

अव्यायाम-दिवास्वप्न-श्लेष्मलाहार-सेवितः ।

मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ॥ १ ॥

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः ।

मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकमसु ॥ २ ॥

क्षुद्रश्वास-तृषा-मोह-स्वप्न-क्रथन-सादनैः ।

युक्तः क्षुत्-स्वेद-दुर्गन्धैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥ ३ ॥

मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।

अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥ ४ ॥

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।

चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥



तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।  
 विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥  
 एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।  
 एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥  
 मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।  
 विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥  
 मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।  
 अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मेदोनिदानं समाप्तम् ॥

म०—“विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः” इत्यत्र मेदःसंकीर्तनात् मेदो-  
 दुष्टेरभिधानं, मेदोदुष्ट्या च स्थौल्यम् । मधुरोऽन्नरस इति मधुरमाय आम  
 इवान्नरसः संभवन् स्नेहान्मेदो जनयति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्,—“आम इवान्नरसो  
 मधुरतरश्च भवति”—इत्यादि । ननु, मेदस्विनस्तीक्ष्णान्नित्वात् कथमाय इवा-  
 न्नरसो भवति ? यदुक्तं चरकेण,—“चरन् सन्धुक्षयत्यग्निम्” ( च. सू. स्था.  
 अ. २१ )—इति । अग्नौ च मन्दे आमोत्पादः, यदाह,—“आमाशयस्थः काया-  
 भेदोर्बल्यादविपाचितः । आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः”—इति ।  
 उच्यते, श्लेष्मलाहाराध्यशनशीलत्वेन कदाचित् कालव्यतिक्रमभोजनेन च  
 बहुविकारकरणाभिव्यापत्तेरन्नरसस्यामतुल्यता, अथवा मधुरतरान्नरसोपलितेऽ-  
 न्नवहस्रोतसि सर्व एवान्नरसो मधुरतरो निष्पद्यते, यथा पित्तयुक्तेऽन्नवहस्रोतसि  
 मधुररसस्यापि विदाहः । यदुक्तं,—“स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य  
 तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते” ( सु. सू. स्था. अ. ४६ )—  
 इति; स चामतुल्यत्वादाय इत्युच्यते । अशक्तः सर्वकर्मस्त्विति मेदसः सौकु-  
 मार्यात् । क्षुद्रश्वासः ‘रूक्षायासोद्भव’ इत्यादिनाऽभिहितः । क्रथनमकस्मादुच्छ्वा-  
 सावरोधः । चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमिति मेदोरुद्धमार्गत्वात् कुम्भकारपवनन्या-  
 येनान्तर्बलवान् वृद्धो वायुरग्निं दीपयति । अतिवृद्धस्तु वायुरग्निवैषम्यजनकः ।  
 विकारांश्चाप्नुते घोरानिति वातविकाराणामन्यतमान्; कालव्यतिक्रमात् भोज-  
 नकालव्यतिक्रमात् । विकारान् दारुणानिति प्रमेहपिडका-ज्वर-भगन्दर-विद्र-  
 धि-वातरोगाणामन्यतमान् । अयथोपचयोत्साह इति अयथावन्मांसोपचय  
 उत्साहश्च यस्य स तथा ॥ १-९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मेदोनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—“विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः” इति कीर्तनात् पिडकान्तरं मेदोनिदानमाह—तस्योत्पत्तौ हेतुमाह—अव्यायामेत्यदि । अव्यायामादिसेविनः पुरुषस्य प्रायो बाहुल्येन आम इव मधुरोऽन्नरसः संभवन् स्नेहान्मेदो जनयति । उक्तं च सुश्रुते—“आम इवान्नरसो मधुरतरश्च भवति”--इति । ननु मेदस्त्विनस्तीक्ष्णामित्वात्कथमांम इवान्नरसो भवति । यदुक्तं चरके—“चरसंधुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि”--इति, अग्नौ च मन्दे आमोत्पादः, यदाह—“आमाशयस्थः कायामेदोर्वित्यादाविपाचितः । आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः”--इति । उच्यते—श्लेष्मलाहाराध्यशनशीलत्वेन कदाचित्कालव्यतिक्रमभोजनेन च तस्य महाविकारोदयः, “विकारांश्चाप्नुते घोरान्कांश्चित्कालव्यतिक्रमात्” इति; अथवा मधुरतरान्नरसोपलितेऽन्नवहे स्रोतसि सर्व एवान्नरसो मधुरतरो निष्यद्यते, यथा पित्तयुक्तान्नवहे स्रोतसि मधुरस्यापि विदाहः, यदुक्तम्—“स्रोतस्य ब्रवहे पित्तं पक्वौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते”--इति । स चामतुल्यत्वादाम इत्युच्यते । तस्यातिवृद्धां शक्तिमाह—मेदसेत्यादि । अन्ये धातवो रसादयः शुक्रान्ताः न पुण्यन्ति, मेदश्चीयते वृद्धिं गच्छति । तस्यापि प्रवृद्धस्योपद्रवानाह—क्षुद्रेत्यादि । श्वासनिदानोक्तः क्षुद्रश्वासः स्वप्नः=निद्रा, कथनमक्रस्मात् श्वासावरोधः, अन्ये—कथनं तस्य कण्ठे घुर्घुररवः सादनं शरीरस्य, क्षुत्=छिन्ना, अल्पप्राणो=हीनबलः, अल्पमैथुनः शुक्रस्यावृद्धित्वात् । तस्य स्थानसंश्रयमाह—मेद इत्यादि । सुगमम् । तस्यातिवृद्धस्य बहेर्दीप्तितामाह—मेदसेत्यादि । मेदोरुद्धमार्गत्वात् यदि कुम्भकारपवनन्यायेनान्तर्बलवानतिप्रवृद्धो वायुर्विशेषादग्निं दीपयति, दीप्ताग्नित्वादाहारमभिलषति । अतिप्रवृद्धस्तु वायुरग्निवैषम्यकृत् स्यात् कांश्चिद्विकारान् वातविकारानामन्यतमान्, घोरान् दारुणान् । कालव्यतिक्रमादिति भोजनकालव्यतिक्रमात्, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातरोगाणामन्यतमान् । कोष्ठान्तः रुद्धमार्गत्वात्प्रवृद्धौ विनाशाय भवत इत्यत आह—एतावित्यादि । विशेषात्प्रवृद्धावेतौ रोगोत्पादकौ भवतः । एतौ हि स्थूलं नर नाशयतः, यथा दावाभिर्वनम् । पुनरतिप्रवृद्धस्य मेदसो विशेषहेतुमाह—मेदसीत्यादि । विकारान् पूर्वोक्तानेव । स्थूललक्षणमाह—स्फिक् ऊर्ध्वोरुपरितनो भागः, अयथावन्मांसोपचय उत्साहश्च यस्य स तथा ॥ १-९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायासातङ्कदर्पणाख्यायां

मेदोनिदानम् ॥ ३४ ॥

अथोदरनिदानम् ।

अथोदररोगस्य मुख्यं निदानम् ।

उदरोत्सेधसाधर्म्यादुदरनिदानम् । उदरस्य विशेषेण वह्निदुष्टिजन्यत्वमाह—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।

अजीर्णान्मलिनैश्चात्रैर्जायन्ते मलसंचयात् ॥ १ ॥

( वा० नि० अ० १२ )

म०—रोगा इत्यादि । अभिमान्यं च दोषत्रयजनकम् । यदुक्तम्—“वर्षास्वभिबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः” ( च. सू. स्था. अ. ६ )—इति । मलिनै-

रिति अत्यर्थदोषजनकैर्विरुद्धाध्यशनादिभिः । मलसंचयादिति मला दोषा पुरीषादयश्च, तेषामतिवृद्धत्वात् । तन्त्रान्तरं च—“अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः”—इति । यद्यपि मन्दाग्नित्वमलिनान्नत्वयोः प्रत्येकमपि दोषत्रयजनकत्वमस्ति तथाऽप्यत्रोभयहेतुजनकत्वेन दोषदुष्टिप्रकर्षः ख्याप्यते, अत एव दुष्टिप्रकर्षख्यापनार्थं मलसंचयादित्यत्र संपूर्वं कृतवान् ॥ १ ॥

आ०—उदरोत्सेधसाधर्म्यादुदरनिदानम् । उदरस्य विशेषेण वह्निजन्यदुष्टित्वमाह—रोगा इत्यादि । अत्रोदरस्थो रोगोऽभ्युदरशब्देनोच्यते । उक्तं च—“तात्स्थितद्रुर्मताभ्यां च तत्समीपतयाऽपि च । तत्साहचर्याच्छब्दानां वृत्तिरेषा चतुर्विधा ”—इति । अग्निमान्द्यं दोषत्रयजनकम् । यदुक्तम्—“तेषामग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः ”—इति । मलिनैरिति अजीर्णादत्यर्थदोषजनकैर्विरुद्धाध्यशनादिभिः । मलसंचयादिति मला दोषाः पुरीषादयश्च तेषामतिवृद्धत्वात् । उक्तं च तन्त्रान्तरे—“अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ”—इति यद्यप्यत्र मन्दाग्नित्वमलिनान्नत्वयोः प्रत्येकमपि दोषत्रयजनकत्वमस्ति, तथाऽप्यत्रोभयहेतुजनकत्वेन दुष्टिप्रकर्षः ख्याप्यते ॥ १ ॥

### अथोदररोगस्य संप्राप्तिः ।

संप्राप्तिमाह—

रुद्धा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।

प्राणाभ्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ २ ॥

( च० चि० अ० १८ )

म०—रुद्धेत्यादि । स्वेदाम्बुवाहीनीति सेवदवहानि अम्बुवहानि च । अनयोश्च भेदः, “उदकवहानां स्रोतसां तालुमूलं क्लोम च; स्वेदवहानां स्रोतसां भेदो, मूलं, लोमकूपाश्च” ( च. वि. स्था. अ. ५ ) इत्यनेनोक्तो ज्ञेयः । स्रोतोरोधश्चात्र बहिरेव न पुनरन्तः । यदुक्तं चरके—“स्वेदस्तु बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्यायति”---(च. चि. स्था. अ. १३) इति । अत एवोदरपूर्णता अन्नरसेन । प्राणाग्नीति पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्याप्यग्नेः पुनर्दोषकृतं सुतरां मान्द्यं बोधयति । दोषसञ्चयगतेनापि वायुना प्राणापानयोर्दूषणं न विरुद्धं, यतो वायुना वाय्वन्तरदुष्टिः क्रियत एव । सुश्रुते तु पूर्वरूपमस्योक्तं, तद्यथा—“तत्पूर्वरूपं बल-वर्ण-काङ्क्षा-बली विनाशो जठरे हि राज्यः । जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो वस्तौ रुजः पादगतश्च शोथः” ( सु. नि. स्था. अ. ७ ) इति ॥ २ ॥

आ०—तस्याः संप्राप्तिमाह—रुद्धेत्यादि । दोषाः स्वेदाम्बुवाहीनि स्रोतांसि रुद्ध्वा प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य उदरमुत्पादयन्ति । स्वेदाम्बुवाहीनीति, अनयोश्च भेदः—उदकवहानां स्रोतसां तालु-

मूलं क्लोम च, स्वेदवहानां मेदो मूलं रोमकूपाश्चेत्यनेन प्रोक्तो ज्ञेयः । स्रोतोनिरोधश्च बहिरेव न पुनरन्तः । यदुक्तं चरके—“ स्वेदश्च बाह्येषु मार्गेष्वभिहतगतिस्तिग्मगतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्या-  
यति ”—इति । अत एवोदरपूर्णताऽन्नरसेन । प्राणाऽग्नीति प्राणो वायुरग्निश्च, अपानो वायुः, एतान् । पुनरग्निं संदध्येत्यभिधानेन मन्दस्वामेः पुनर्दोषकृतं सुतरां मान्द्यं बोधयति । दोषसंचयगतेनापि वायुना प्राणापानयोर्दूषणं न विरुद्धं, यतो दुष्टेन वायुनाऽदुष्टस्यान्तर्वायोर्दुष्टिः क्रियत एव । अस्य तु पूर्वरूपं सुश्रुते पठितं, तद्यथा—“ तत्पूर्वरूपं बलवर्णकांक्षाबलीविनाशो जठरे च राज्यः । जर्णापरिज्ञानविदाह-  
वत्यो बस्ती रुजः पादगतश्च शोथः ”—इति ॥ २ ॥

अथोदररोगस्य सामान्यलक्षणानि ।

सर्वेषामुदराणां सामान्यलक्षणमाह—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलामिता ।

शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥ ३ ॥

दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ।

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहवद्धक्षतोदकैः ॥ ४ ॥

संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ।

( सु० नि० अ० ७ )

म०—आध्मान मित्यादि । दुर्बलामितेति मन्दोऽग्निर्यद्यप्यत्र हेतुस्तथाऽप्य-  
मेरतिशयदौर्बल्यं लिङ्गत्वेन ज्ञेयम् । उदराण्यष्टाविति यकृद्वात्युदरस्य प्लीहो-  
दरेण सार्धं समानचिकित्स्यतया तथोत्पत्तिविशिष्टदकोदरात् क्रमेण भूतदको-  
दरस्यापि समानलिङ्गाचिकित्सितत्वेनाभिन्नत्वात्, अष्टावेवोदराणि भवन्ति ।  
प्लीहोदरादीनि च यद्यपि चत्वारि दोषजानि, तथाऽपि हेतु-लिङ्ग-चिकित्सा-  
भेदात् पृथगुक्तानि ॥ ३ ॥ ४ ॥—

आ०—सर्वेषामुदराणां सामान्यलक्षणमाह—आध्मानमित्यादि । मन्दोऽग्निर्यद्यप्यत्र हेतुः,  
तथाऽप्यमेरतिशयदौर्बल्यं लिङ्गत्वेन ज्ञेयम् । सदनं सादः । वातपुरीषयोः सङ्ग इति अप्रवृत्तिः ।  
तेषां संख्यामाह—पृथगित्यादि । वातपित्तकफैस्त्रयः, त्रिभिरेकः, प्लीहा वद्धेन क्षतेन उदकेनै-  
ककः, एवमष्टावेवोदराणि । यकृद्वात्युदरस्य प्लीहोदरेण सह समानचिकित्सिततया समानलिङ्गत्वे-  
नाभिन्नत्वादष्टावेवोदराणि भवन्ति, नतु यकृद्वात्युदरं पृथक् । प्लीहोदरादीनि च यद्यपि चत्वारि  
दोषजानि, तथाऽपि हेतुलिङ्गचिकित्साभेदात् पृथगुक्तानि; तेषां लिङ्गानि पृथक् शृणु ॥ ३ ॥ ४ ॥—

अथ वातोदरस्य लक्षणानि ।

वातोदरलक्षणमाह—

तत्र वातोदरे शोथः पाणि-पन्-नाभि-कुक्षिषु ॥ ५ ॥

कुक्षि-पार्श्वोदर-कटी-पृष्ठ-रुक् पर्वभेदनम् ।

शुष्ककासोऽङ्गमर्दांऽधोगुरुता मलसंग्रहः ॥ ६ ॥  
 श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद् वृद्धि-ह्रास-वत् ।  
 सतोद-भेदमुदरं तनु-कृष्ण-सिरा-ततम् ॥ ७ ॥  
 आध्मातद्वतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।  
 वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतो गतिः ॥ ८ ॥

( वा ० नि० अ० १२ )

म०—तत्रेत्यादि । अकस्माद् वृद्धि-ह्रास-वदिति अनियतवृद्धि-ह्रास-युक्तमुदरम् ।  
 आध्मातद्वतिवदिति वातपूर्णचर्मपुटवदिति ॥ ६-८ ॥

आ०—तत्र वातोदरलक्षणमाह—तत्रेत्यादि । हस्तपादादिषु श्वयथुः । कुक्ष्यादिषु च पीडा,  
 उदरस्य वाम-दक्षिण-भागे कुक्षिः, पर्वभेदनं=सन्धिस्फुटनं, अधो=नाभेरधः पक्षाशये गुरुता,  
 मलसंग्रहः=पुरीषस्याप्रवृत्तिः । त्वगादिषु श्यावारुणत्वम्, आदिशब्देन नख-नेत्रग्रहणम् ।  
 अकस्माद्वृत्तिह्रासवदिति दृतिश्चर्मखल्ली, हस्ताहतवातपूर्णद्वतिवत् शब्दं करोति, उदरमिति शेषः ।  
 सर्वतोगतिः=सर्वकोष्ठगतो वायुः सरुक्शब्दो धावति ॥ ५-८ ॥

अथ पित्तोदरस्य लक्षणानि ।

पैत्तिकमाह—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृद कटुकाऽऽस्यता ।  
 भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादाबुदरं हरित् ॥ ९ ॥  
 पीत-ताम्र-सिरा-नद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।  
 धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १० ॥

( वा० नि० अ० १२ )

म०—पित्तेत्यादि । दह्यत इति उदरमात्रं दह्यते । दाहस्तु सकलदेहस्यैव  
 बोद्धव्यः । धूमायते=धूम इवोर्ध्वमेति । क्षिप्रपाकमिति क्षिप्रपाकाज्जलोदरतां  
 यातीत्यर्थः । प्रदूयते=व्यथते ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पित्तोदरेत्यादि । तिक्तास्यता=तिक्तमुखत्व, 'कटुकास्यता' इति पाठा-  
 न्तरम् । भ्रमोऽत्र शङ्खादौ पीतज्ञानमिति, हरित् शाकवर्णनम् । दह्यत इति उदरमेव दह्यते, दाह-  
 स्तत्र सकलदेहस्यैव बोद्धव्यः । धूमायते धूममिवोर्ध्वमेति । क्षिप्रपाकाज्जलोदरतां यातीत्यर्थः । प्रदूयते  
 व्यथते ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ कफोदरस्य लक्षणानि ।

श्लैष्मिकमाह—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वाप-श्वयथु-गौरवम् ॥

निद्रोत्कलेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ॥ ११ ॥

उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत् ।

चिराभिवृद्धिं कठिनं शीतस्पर्श गुरु स्थिरम् ॥ १२ ॥

( वा० नि० अ० १२ )

आ०—श्लैष्मिकमाह—श्लेष्मेत्यादि । अङ्गसदनमङ्गसादः, स्वापः अङ्गानामेव; अन्ये आसीन-  
प्रचलायितम् । गौरवमङ्गानाम् । निद्रा=निद्राबाहुल्यम् । उत्कलेशो=हृल्लासः । स्तिमितं=निश्च-  
लम्, शुक्लसिरानद्धम् । चिराभिवृद्धिरिति चिरपाक इत्यर्थः । गुरु=गौरवयुक्तम् । स्थिरं=  
गुडगुडाशब्दरहितम् ॥ ११ ॥-१२ ॥

अथ सन्निपातोदरस्य लक्षणानि ।

सन्निपातोदरमाह—

स्त्रियोऽन्नपानं नख-लोम-मूत्र-विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।

यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बु-दूषीविष-सेवनाद्वा १३॥

तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुयुः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।

तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशषतः कुप्यति दह्यते च ॥१४॥

स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च

दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव,

( वा० नि० अ० १२ )

म०—स्त्रिय इत्यादि । स्त्रीग्रहणमविवेकिसंनिहितजनोपलक्षणम् । गरं=  
संयोगजं विषम् । दुष्टाम्बु=सगर-प्राणि-तृण-पर्णादि-कोथयुतं, विषमेवाग्न्याद्यु-  
पहतं अन्दप्रभावं वा दूषीविषमुच्यते । यदुक्तं,—“जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा  
दावान्नि-वाता-ऽऽतप-शोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविष-  
तामुपैति” ( सु. क. स्था. अ. २ )—इति । तेनाशु रक्तमिति विषस्याभेयत्वेन  
रक्तदुष्टिः । कुपिताश्च दोषा इति स्वभावाद्दोषत्रयप्रकोपकं विषं भवति । तत्

शीतवातादिषु कुप्यतीति । दूष्योदरं कीर्तितमेतदेवेति एतदेव-सन्निपातोदरं दूष्योदरं कीर्तितं, न पुनरधिकमित्यर्थः । रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरं; किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति १३-१४

आ०—सन्निपातिकमाह—स्त्रिय इत्यादि । स्त्रीग्रहणमविवेकिजनोपलक्षणं, स्त्रियो नखरो-  
मादिभिर्युक्तं यस्मै अन्नपानं प्रयच्छन्ति, असाधुवृत्ताः—सौभाग्यमिच्छन्त्यः कार्याकार्याविचार-  
विमुखाः, आर्तवमरजः । शत्रवो वा यस्मै गरं=संयोगजं विषम् । दुष्टमन्त्रु सविषकोटवृणपणादि-  
कोथयुक्तम् । दूषीविषं विषमेव वाय्वभ्याद्युपहतं यदल्पप्रभावं, विषपीतस्य वा विष्मूत्रं तद् दूषीविष-  
मुच्यते; दुष्टान्त्रुदूषीविषयोः सेवनाद्वा । तेनाशु रक्तं दुष्टं भवति, विषस्याग्नेयत्वेन रक्तस्य दुष्टिः ।  
क्षुपिताश्च दोषा इति स्वभावाद्दोषत्रयप्रकोपकं विषं भवति । सुघोरं भृशं कष्टकारि । जठरमित्युदर-  
विकारम् । तच्छ्रुतिवातादिषु कुप्यति कोपं गच्छति, दूषीविषस्य तत्रैव कोपात् । दृढते=सतप्यते  
मूर्च्छति विषयोगात् प्रसक्तं=निरन्तरम् । दूष्योदरं कीर्तितमेतदेवेति एतदेव सन्निपातोदरं कीर्तितं;  
न पुनरधिकमित्यर्थः । रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरम्, अथवा—परस्परं दूषयन्तीति दोषा  
एव दूष्यास्तैः कृतमुदरं दूष्योदरम् ॥ १३-१४ ॥—

अथ प्लीहोदरस्य लक्षणानि ।

( Splenic Enlargement. )

प्लीहोदरमाह—

प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ १५ ॥

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।

प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥ १६ ॥

तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोत्र ।

मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।

सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्वात्युदरं तदेव ॥ १७ ॥

( सु० नि० अ० ७ )

म०—प्लीहेत्यादि । असृक्कफश्चेत्यसृग्दुष्टचैव तत्तुल्यकारणतया पित्तदुष्टि-  
रप्युच्यते, विदाहिना रक्तं पित्तं च दूष्यते; अत एव पश्चात् वक्ष्यति,—‘कफपि-  
त्तलिङ्गैरुपद्रुतः’—इति । अत्र पित्तस्य लिङ्गं मन्दज्वरः, कफस्य लिङ्गं मन्दा-  
मित्रमिति गदाधरः । प्लीहोदर एव यकृद्वात्युदरस्यावरोधं दर्शयन्नाह—  
सव्यान्यपार्श्वे इत्यादि । सव्यान्यपार्श्वे=दक्षिणपार्श्वे । तदेवेति—तादृशमेव,



प्लीहोदरसममेव न विलक्षणमित्यर्थः । यकृद्वालयति=दोषैर्भेदयतीति यकृद्वा-  
ल्युदरम् ॥ १५-१७ ॥

आ०-प्लीहोदरमाह--अभिप्यन्दीत्यादि दोष-धातु--मल--स्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम् ।  
असृक्कफश्चेति असृग्दुष्टयैव तुल्यकारणतया पित्तदुष्टिरुच्यते । विदाहिना रक्तं पित्तं च दूष्यति । अत  
एव वक्ष्यते--‘कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः’ इति । तत्र पित्तस्य लिङ्गं मन्दो ज्वरः, कफस्य लिङ्गं मन्दा-  
मित्रत्वमिति गदाधरः । प्लीहोदर एव यकृद्वाल्युदरस्यावरोधं दर्शयन्नाह--सव्येत्यादि । सव्यान्यपार्श्वे  
दक्षिणे, तदेवेति तादृशमेव, तेन प्लीहोदरेण सममेव, न विलक्षणमित्यर्थः यकृद्वालयति दोषैर्भेदयतीति  
यकृद्वाल्युदरम् ॥ १५-१७ ॥

अथात्र दोषाणां सम्बन्धः ।

तत्र दोषसंबन्धमाह—

उदावर्त-रुजा-ऽऽनाहैर्मोह-तृड्-दहन-ज्वरैः ।

गौरवा-ऽरुचि-काठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥ १८ ॥

( वा० नि० अ० १२ )

म०-उदावर्तेत्यादि । उदावर्त-रुजा-ऽऽनाहैर्वातं, मोह-तृड्-दहन-ज्वरैः पित्तं,  
गौरवा-ऽरुचि-काठिन्यैः कफं जानीयात् ॥ १८ ॥

आ०-तत्र दोषसंबन्धमाह--उदावर्तेत्यादि । तत्र=प्लीहोदर-यकृद्वाल्युदरयोः पृथग्लक्षणल-  
क्षितान् मलान् वातादीन् क्रमेणोदावर्तादिभिर्लिङ्गैर्विद्यात् । तत्र उदावर्तरुजानाहैर्वातं, मोहतृड्  
दहनज्वरैः पित्तं, गौरवारुचिकाठिन्यैः कफं जानीयात् ॥ १८ ॥

अथ बद्धगुदोदरस्य लक्षणानि ।

( Intestinal Obstruction. )

बद्धगुदमाह—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।

संचीयते तस्य मलः सदोषः शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥ १९ ॥

निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।

हन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदति ॥ २० ॥

( सु० नि० अ० ७ )

म०-यस्यान्त्रमन्नैरित्यादि । उपलेपिभिः=पिच्छिलैरन्नैः शाकशालुका-  
दिभिः । पिहितं=विबद्धम् । यथावदिति=यथार्हम् । मलः=पुरीषम् । सदोष

इति दोषत्रयसहितः । नाज्जाभित्यन्त्रनाज्याम् । संकरवदिति=संमार्जनीक्षिप्य-  
माणतृणाद्यवकरो यथा चीयते क्रमेण तथत्यर्थः । बद्धगुदमिति गुदोपरि  
अन्त्रस्य बद्धत्वाद्वद्धगुदम् । यदुक्तं चरके,—“पक्ष्मवालैः सहाग्नेन भुक्तैर्बद्धायने  
गुदे” ( च. चि. स्था. अ. १३ )—इति । पुरीषायतनस्य बद्धत्वात् हन्ना-  
भिमध्येऽन्नपाकस्थाने वृद्धिः गुदमात्रनिरोधे तु मलदोषैर्गुदाद्ध्वमेवोदरवृद्धिः  
स्यात् ॥ १९ ॥ २० ॥

आ०—बद्धगुदमाह—यस्येत्यादि । यस्य पुंसोऽन्त्रमुपलेपिभिः पिच्छिलैरन्नैः शाकादिभिर्वा  
यथावदिति यथार्हं पिहितं बद्धं भवति । अथवाऽन्त्रे मलः पुरीषः, प्रदोषः दोषत्रयसहितः शनैःशनैः  
संचयीते संमार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरो यथा वृद्धिं नीयते क्रमेण तथैवेत्यर्थः । तस्य गुदे पुरीषं  
निरुध्यते कृच्छाच्चाल्पमलं निरेति=निःसरति । बद्धगुदमिति गुदोपरि अन्त्रस्य बद्धत्वाद्वद्धगुदम्  
यदुक्तं चरके,—“ पक्ष्मवालैः सहाग्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ”—इति । पुरीषायतनस्य बद्धत्वात् ।  
हन्नाभिमध्य इति अन्नपाकस्थाने वृद्धिः, गुदमात्रनिरोधे तु मलदोषैर्गुदाद्ध्वमेवोदरे वृद्धिः  
स्यात् ॥ १९ ॥ २० ॥

अथ परिस्राव्युदरस्य लक्षणानि ।

( Ulceration of the bowel. )

क्षतोदरमाह—

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा ।  
तस्मात्सुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः २१  
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दालयति चातिमात्रम् ।  
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टम्,

( सु० नि० अ० ७ )

म०—शल्यमित्यादि । शल्यं=कण्टकशर्करादि । अन्नोपहितमन्नयुक्तम् ।  
भुक्तभागतमिति अर्थतः पाकाशयात्; विलोभेनागतमन्त्रं भिनत्ति, ऋज्वागतं  
हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम् । अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्रं भिद्यते ।  
यदुक्तं चरके,—“शर्करा-तृण-लोष्टास्थि-कण्टकैरन्नसंयुतैः । भिद्येतान्त्रं यदा  
भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा” ( च. चि. स्था. अ. १३ )—इति । सुत इति  
गलितः । स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय इति बहु यथा भवति तथाऽन्त्रात् सुतः;  
दोषजेषु पुनरुपस्त्रेहन्यायेनाल्प एव स्रावो भूयः पुनः पुनः गुदतश्च स्रवेत् ।

१ सम्मार्जनी = बुहारी, सफैया इति—लोके प्रसिद्धा । २ अवकरः = कवरा, कूडा, करकट इत्यादि-  
भामाभिः प्रसिद्धः ।

तुशब्दश्चार्थे, भूयःशब्दोऽत्रावर्तनीयः; तेनोक्ता व्याख्या साध्वी भवति । ननु, भिन्नान्त्रातिर्यगत्र स्त्रावनिर्गमः; तत्कथं 'स्त्रावः स्त्रवेद्वै गुदतस्तु भूय' इत्युपपद्यते ? नैवं, सच्छिद्रान्त्रमार्गेण बहिर्गतस्यातिवृद्धस्य पुनरागमनादुपस्नेहन्यायाद्वा गुदतः स्त्राव उपपन्न एव । चरकेऽप्युक्तम्,—“पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम्” ( च. चि. स्था. अ. १३ )—इति । स्त्रावेण द्रवस्य निम्नगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमोति; एतच्छिद्रोदरं जलोदरमिति भण्यते इति गदाधरः । यतश्चरकेणोक्तम्,—“तदधो नाभेः प्रायोऽभिनिर्वर्तमानं जलोदरं स्यात्” ( च. चि. स्था. अ. १३ )—इति । तदन्ये नानुमन्यन्ते, यतश्छिद्रोदरं शीघ्रं जलोदरतां यातीत्यभिप्रायेण चरकेणोक्तम्, अन्यथा दकोदरं पृथङ् न स्यात् ॥ २१ ॥

आ०—श्चतोदरमाह—शल्यमित्यादि । शल्यं कण्टकशकरास्थिकाष्ठादिकम् । अन्नोपहितमन्नयुक्तं, भुक्तमागतमित्यर्थतः पक्वाशयात्, विलोपेन निर्गतमन्त्रं भिनत्ति विदारयति ऋज्वागतं शल्यमपि नान्नभेदकम् । अन्यथा वेति जृम्भणेनात्यक्षितस्यान्त्रं भिद्यते । यदुक्तं चरके—“शर्करातृणलोष्टास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः । भिद्यतेऽन्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यक्षणेन च”—इति । सुत इति गलितः । स्त्रावः स्त्रवेद्वै गुदतस्तु भूय इति भूयो बहु यथा भवति तथाऽन्त्रात् सुत इति ननु, भिन्नान्त्रातिर्यगत्र स्त्रावो युक्तः, तत्कथं स्त्रावः स्त्रवेद्वै गुदतस्तु भूय इत्युपपद्यते ? नैवं, सच्छिद्रान्त्रमार्गेण स्त्रावस्य निर्गमत्वाद्बहिष्कृतस्यातिवृद्धस्य पुनर्गमनादुपस्नेहन्यायाद्वा गुदतः स्त्राव उपपद्यत एव । चरकेऽप्युक्तं “पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम्” इति । तेन स्त्रावेण द्रवस्य निम्नगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमोति निस्तुद्यते शूलेन दात्यत इव । एतत् परिस्त्रायुदरमन्ये छिद्रोदरमाहुः ॥ २१ ॥

अथ जलोदरस्य लक्षणानि ।

( Ascites )

उत्पत्तिविशिष्टं दकोदरमाह—

दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ २२ ॥

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथ वा निरूढः पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्बहानि ॥ २३ ॥ स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ।

स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च । ॥

यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥ २४ ॥

( सु० नि० अ० ७ )

म०—यः स्नेहपीत इत्यादि । स्नेहपीत इति कर्तरि कः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः । दूष्यन्तीति स्वकर्मसु दुष्टानि भवन्ति । तद्बहानि=उदकवहानि ।

तेष्विति=उदकवहस्रोतःसु । पूर्ववदिति=यथा पूर्वमुक्तम् । अन्नरस उपस्ते-  
हन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थ इति जेज्जटः । गदाधर-  
स्त्वाह-क्षतान्नोदरे यथा अधोनाभेरुदराभिवृद्धिर्गुदस्त्रावश्च तथा जलोदरेऽपि  
भवतीति । ननु, सर्वेषामेवोपस्तेहन्यायेन बहिर्निःसृतान्नरसस्रूलत्वात् कथम-  
नुदकत्वम् ? नैवं, तेषु हि प्रथमतो नातिमन्दत्वादग्नेरन्नरसस्याल्पत्वाच्चानु-  
दकत्वम्, अल्पत्वेन तद्व्यपदेशात् । अत्र तु प्रागेव भूरिजलोत्पत्तिरिति  
विशेषः । समाततं वेदनया विस्तार्यमाणमिवोदरं भवति । यथा दृतिः  
क्षुभ्यतीति दृतिरिव जलपूर्णा क्षुभ्यतीति, अन्तर्जलचलमिव धत्ते । शब्दा-  
यते=गुडगुडायते ॥ २२-२४ ॥

आ०-दकोदरमाह-दकोदरमित्यादि स्नेहपीत इति कर्तरि कः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः ।  
तस्य तद्वहानि स्रोतांसि दूष्यन्तीति स्वकर्मण्यसमर्थानि भवन्ति । तद्वहानीति उदक-  
वहानि । अथवा स्नेहोपलिप्तेषु तेष्वेवोदकवहस्रोतःसु, पूर्ववदिति क्षतान्नोदरे यथा नाभेरधः  
उदराभिवृद्धिः, गुदस्त्रावस्तथा जलोदरे भवतीति । ननु सर्वेषामेव बहिर्निःसृतान्नरसस्रूलत्वा-  
त्कथमनुदकत्वम्, ? उच्यते-तेषु हि प्रथमतो नातिमन्दत्वादग्नेरन्नरसस्याल्पत्वाच्चानुदकत्वं, स्वल्प-  
त्वेनाव्यपदेशात्; अत्र तु प्रागेव जलं भवतीति विशेषः । तदुदरं स्निग्धं भवति, तथा  
महत्, तथा परिवृत्तनाभि=उच्छलितनाभि, समाततं वेदनया विस्तीर्णमिवोदरं भवति । यथा  
दृतिः क्षुभ्यतीति दृतिरिव जलपूर्णा क्षुभ्यतीति, अन्तर्जलचलनमिव धत्ते, कम्पते वेति कम्पन-  
मतिशयेन चलनं, शब्दायते=गुडगुडायते ॥ २२-२४ ॥

अथोदररोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

उदररोगस्य साध्यत्वादिलक्षणमाह—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।

बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ २५ ॥

पक्षाद्भृङ्गगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।

प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥ २६ ॥

( च० चि० अ० १८ )

म०-जन्मनैवेत्यादि । जन्मनैवोदरमिति उत्पन्नमात्रेणैव । अजातो-  
दकस्योदरस्य लक्षणं चरकेऽवगन्तव्यं, तद्यथा,—“अशोथमरुणाभासं संशब्दं  
नातिभारिकम् । सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम् ॥ नाभिं विष्टम्भ्य  
पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति । हृद्-वङ्क्षण-कटी-नाभि-गुद-प्रत्येकशूलिनः ॥  
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके । लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे  
संहते विशि ॥ अजातोदकमित्येतैर्युक्तं विज्ञाय लक्षणैः”—(च. चि. स्था.)

अ. १३ ) इति । अत्र कर्कशमिति वेगवन्तम् । जातोदकलक्षणं च चरके यथा,—“कुक्षेरतिमात्रं वृद्धिः सिरान्तर्धानगमनं, उदकपूर्णवृत्तिसमानक्षोभस्पर्शनं च भवति”—( च. चि. स्था. अ. १३ ) इति । पक्षादित्यादि । बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय भवतीति । जातोदकं पक्षात् । प्रायोग्रहणेन कदाचित् पक्षादूर्ध्वमपि न विनाशाय, तथा शल्यशास्त्राभिमतया चिकित्सया कदाचिज्जातोदकं छिद्रान्त्रं बद्धगुदं च सिध्यतीति दर्शयति । जातोदकं छिद्रान्त्रं च विनाशाय पक्षादूर्ध्वमिति संबन्ध इति केचित् ॥ २५ ॥ २६ ॥

आ०—उदरस्यासाध्यत्वमाह—जन्मनेत्यादि । उत्पत्तिमात्रेणैव कष्टसाध्यं तदुदरं बलिनः पुरुषस्य अजातान्बु=अजातोदकं सत् यत्नतः साध्यकृच्छ्रत्वादिति । उदाराणां विशेषेणासाध्यत्वमाह—पक्षादित्यादि । बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय भवति । जातोदकं पक्षात्, जातोदकलक्षणं चरके—“कुक्षेरतिमात्रं वृद्धिः सिरान्तर्धानमुदकपूर्णं सक्षोभस्पर्शनं भवति” इति । प्रायोग्रहणेन कदाचित्पक्षादूर्ध्वमपि छिद्रान्त्रं बद्धगुदं च सिध्यतीति ॥ २५ ॥ २६ ॥

अथ साध्यानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यत्वम् ।

साध्यतयाऽभिहितानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यतामाह—

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्न-तनु-त्वचम् ।

बल-शोणित-मांसाग्नि-परिक्षीणं च वर्जयेत् ॥ २७ ॥

( च० चि० अ० १८ )

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेष-शोथा-तीसार-पीडितम् ।

विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

( सु० सू० अ० ३४ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदरनिदानं समाप्तम् ॥

म०—शूनाक्षमित्यादि । ‘उदरिणम्’ इति शेषः । कुटिलोपस्थमिति वक्रमेहनम् । उपक्लिन्नतनुत्वचमिति उपक्लिन्ना तन्वी त्वक् यस्य तम् । अग्निपरिक्षीणमिति अग्निक्षयश्च यद्यप्युदरे पूर्वमेव भवति, तथाऽप्यत्र विशेषेणाग्निक्षयो लक्षणान्तरयुक्तश्चासाध्यतालिङ्गं संभवतीति ज्ञेयम् ॥ २७ ॥ २८ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायामुदरनिदानं समाप्तम् ।

आ०—पुनरप्यसाध्यमाह—शूलेत्यादि । अत्रोदरेणेति शेषः । कुटिलोपस्थं=कुटिलमेहनम् । उपक्लिन्नतनुत्वचमिति उपक्लिन्ना तन्वी त्वक् यस्य तम् । तथाऽग्निपरिक्षीणमाग्निक्षयश्चाप्युदरे पूर्वमेव भवति, तथाऽप्यत्र विशेषेणाग्निक्षयो लवणान्तरयुक्तश्चासाध्यतालिङ्गं भवतीति ज्ञेयम् । पुनरप्यसाध्यलक्षणमाह—पार्श्वेत्यादि । भग्नं पार्श्वं । विरिक्तमपि पूर्यमाणोदरमित्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामाप्तद्वर्षणाख्यायामुदरनिदानम् ॥ ३५ ॥

अथ शोथनिदानम् ।

(1) Swelling. (2) Dropsy.

अथ शोथस्य सम्प्राप्तिः ।

उदरे शोथस्योपद्रवत्वेनोक्तत्वात्तदनन्तरं शोथनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह—

रक्त-पित्त-कफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिराः ।

नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्-मांस-संश्रयम् ॥ १ ॥

उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः ।

सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥ २ ॥

दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि ।

( वा० नि० अ० १३ )

म०—रक्तपित्तकफानित्यादि । रक्त-पित्त-कफान् स्वहेतुभिः स्वातन्त्र्येण दुष्टान्=कुपितान्, दुष्टः=स्वहेतुकुपितो वायुर्बहिःसिराः=बाह्या अगम्भीराः सिरा नीत्वा=गमयित्वा, तैः रक्त-पित्त-कफै रुद्धगतिरावृतमार्गो वायुरुत्सेधमुच्छ्रायं कुर्यादिति योजना । बहिः-सिराशब्देनात्रागम्भीरतयोक्तानां स्रोतसामपि ग्रहणम् । त्वङ्मांससंश्रयमित्यनेन व्रणशोथाद्भेदं दर्शयति, अष्टसु व्रणवास्तुषु व्रण-शोथस्य संभवात् । यदुक्तं सुश्रुतेन—“त्वङ्मांससिरास्त्रायवस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि भवन्ति”—( सु. सू. स्था. अ. २२ ) इति । संहतं=संहतात्मकम् । कुतः संहतात्मकमित्यत आह—निचयादत इति । अतोऽस्मात् पूर्वोक्तात् रक्तसहितदोषत्रयसमुदायात् एतेन रक्तसहितत्रिदोषजन्यत्वमस्योक्तं भवति । सर्वमित्यादि । सर्वमिति पूर्वेण संबध्येत, सर्वमुत्सेधं शोथमाहु-रित्यर्थः । हेतुविशेषैरिति दोषत्रयाभिघातप्रभृतिभिः कारणभेदैर्यो रूपभेदस्तस्मात् सर्वं नवात्मकमाहुरिति पूर्वक्रियया संबन्धः । ‘सर्वहेतुविशेषैः’ इति पाठान्तरे सर्वेषां हेतुविशेषैरित्यर्थः । द्वयैरिति द्वन्द्वैः, सर्वैस्त्रिभिः ॥ १ ॥ २ ॥—

आ०—उदरे शोथस्योपद्रवत्वेनोक्तत्वात् तदनन्तरं शोथनिदानम् । अस्य संप्राप्तिमाह—रक्तेत्यादि । स्वहेतुभिः स्वातन्त्र्येण दुष्टान् कुपितान् रक्तपित्तकफान् स्वहेतुदुष्टः कुपितो वायुर्बहिःसिराः बाह्या अगम्भीराः सिराः नीत्वा गमयित्वा तैः रक्तपित्तकफै रुद्धगतिरावृतमार्गो वायुरुत्सेधमुच्छ्रायं कुर्यादिति योजना । बहिःसिराशब्देन अगम्भीरतया उत्तानस्रोतसामपि ग्रहणम् । त्वङ्मांससंश्रयमित्यनेन व्रण शोथाद्भेदं दर्शयति, पच्यतो व्रणस्य वास्तून्यष्टौ, शोथस्य त्वङ्मांसे, इति भेदः । तदुक्तम्—“त्वङ्मांससिरास्त्रायवस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि भवन्ति”—इति । अष्टसु व्रणवास्तुषु

त्रणशोथस्य संभवात् । संहतं संहतात्मकं, कुतः संहतात्मकमित्याह—निचयात् । अतः पूर्वोक्तात् रक्तघहितदोषत्रयसमुदायात् ; एतेन दोषत्रयजन्यत्वमस्योक्तम् । तस्य संख्यामाह—सर्वमिति । पूर्वेण संबध्यते, सर्वमुत्सेवं शोफमित्याहुरित्यर्थः । हेतुविशेषैर्दोषत्रयाभिघातप्रभृतिकारणभेदैर्यो रूपभेदः तस्मान्नवात्मकमाहुरिति पूर्वक्रियया संबन्धः, ‘सर्वहेतुविशेषैः’ इति पाठान्तरे सर्वेषां शोथानां हेतुविशेषैरित्यर्थः । दोषैरिति पृथक् त्रिभिर्दोषैस्त्रयः, मिलितैर्द्वयैस्त्रयः, अभिघातेनैकः, विषेण चैकः ॥ १ ॥ २ ॥—

अथ शोथरोगस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥ ३ ॥

( वा० नि० अ० १३ )

म०—तदित्यादि । दवथुरुपतापः । सिरायामः=सिरामसरणवत् पीडा ॥ ३ ॥

आ०—पूर्वरूपमाह—तदित्यादि । दवथुश्चक्षुरादिषु तीव्रदाहः, यदुक्तं चरके—“ दवथुश्चक्षुरादिभ्यस्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते ” । सिरायामः सिरामसरणवत् पीडा ॥ ३ ॥

अथ शोथरोगस्य कारणानि ।

पूर्वरूपानन्तरं कामचारान्निदानमाह—

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।

दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥

अशांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः ।

मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ५

म०—शुद्ध्यामयेत्यादि । शुद्धिर्वमनविरेचनादिः, आमयाः=ज्वरादयः, अभुक्तमभोजनं विगुणं च भोजनं, तैः कृशानामवलानां च क्षारादिसेवा निजस्य श्वयथोहेतुः । दध्यादयः स्वतन्त्रा एव हेतवः, आममपक्वं, दुष्टं=दोषजनकं मन्दकनवोदकादि, गरं=संयोगजं विषम् । अचेष्टा=निष्क्रियत्वम् । न च देहशुद्धिरिति शोधनार्हेऽपि दोषे देहाशुद्धिः । मर्मोपघात इह दोषकृत एव ज्ञेयः, बाह्यहेतुजस्तु मर्मोपघात आगन्तुशोथहेतुरेव । विषमा प्रसूतिरामगर्भपतनादिका मिथ्योपचारोऽसम्यक्करणमसम्यगुपचारः । प्रतिकर्मणां=वमनादीनाम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

आ०—अथ कारणमाह—शुद्धीत्यादि । शुद्धिर्वमनादिः, आमया ज्वरादयः, असुक्तमभोजनम्, एतैर्यै कृशास्तथा अवलाश्च, तेषां क्षीरौदिसेवनं निजस्य श्वयथोः कारणं; दध्यादि तु स्वतन्त्रमेव कारणम् । आममपक्वं, दुष्टं दोषजनकं मण्डकनवोदकादि, गरं संयोगजं विषं, अचेष्टा निष्क्रियत्वम्,



न च देहुशुद्धिरिति शोषनाहंऽपि दोषे तत्र देह'वादिः । मर्मोपघात इह दोषकृत एव ज्ञेयः, बाह्यहेतुजश्च  
मर्मोपघात आगन्तुद्योफहेतुरेव । विषमा प्रसूतिरिति आमगर्भपतनादिका । प्रतिकर्मणां वमनादीनां  
मिथ्योपचारः असम्यगुपचारः ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ शोथस्य सामान्यलक्षणानि ।

सामान्यलिङ्गमाह—

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम् ।

सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ६ ॥

म०—सोत्स्यादि । सगौरवमिति अनवस्थितत्वविशेषणं, तथा सोत्सेधमिति  
च ॥ ६ ॥

आ०—तस्य सामान्यलक्षणमाह—सगौरवमित्यादि । ऊष्मसंतापयुक्तं सिराकृशत्वं तासा-  
मलाभात् ॥ ६ ॥

अथ वातजशोथस्य लक्षणानि ।

वातशोथलिङ्गमाह—

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः

सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।

प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो

दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥ ७ ॥

म०—चल इत्यादि । तनुत्वक्=अवहलत्वक् । असितः=कृष्णः । सुषुप्तिः=  
स्पर्शाज्ञता, हर्षो=क्षिणिक्षिणिवद्देना, किंवा रोमहर्षः । अनिमित्ततः प्रशा-  
म्यतीति वायोश्चलत्वेन कदाचिन्निमित्तं विनाऽपि लीनो भवति । निमित्तत इति  
पाठे स्नेहोष्णमर्दनादेर्निमित्ततः प्रशाम्यति=उपशमं प्राप्नोतीति, उपशयार्थमेत-  
दुक्तम् । प्रोन्नमति प्रपीडितः इति प्रपीडितः सन्नन्तरुन्नमतीत्यर्थः । दिवाबलीति  
दिवा बलवान्, नत्वबली । स्नेहोष्णमर्दनाद्यैश्च प्रशाम्येत्, स च वातिकः,  
“यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति”—( च. सू. स्था. अ. १८ ) इति  
चरकवचनात् ॥ ७ ॥

आ०—अथ वातशोथलक्षणमाह—चलइत्यादि । चलः=स्थानात् स्थानान्तरगतिः, तनुत्वक्=  
अवहलत्वक्, परुषः=कर्कशः, अरुणः=रक्तवर्णः, असितः=कृष्णः, सुषुप्तिः=स्पर्शाज्ञान, हर्षो=लोम-  
हर्षः, अनिमित्ततः प्रशाम्यतीति वायोश्चलत्वेन च कदाचिन्निमित्तं विनाऽपि विलीनो भवति, प्रोन्न-  
मति प्रपीडित इति प्रपीडितः सन्नन्तरमुन्नमतीत्यर्थः । दिवाबली=दिवाबलवान्, यदुक्तं चरके—  
“यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रशाम्यति”—इति ॥ ७ ॥

अथ पित्तजशोथस्य लक्षणानि ।

पैत्तिकमाह—

मृदुः सगन्धोऽसित-पीत-रागवान्  
 भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृषा-भदान्वितः ।

य उष्यते स्पष्टरुगक्षिरागकृत्

स पित्तशोथो भृश-दाह-पाकवान् ॥ ८ ॥

म०—मृदुरित्यादि । उष्यते इति दह्यते ॥ ८ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—मृदुरित्यादि । मृदुस्पर्शः, गन्धयुक्तः, अक्ष्णो रोगकृत्, अति-  
 शयदाहपाकवान् ॥ ८ ॥

अथ कफजशोथस्य लक्षणानि ।

कफजमाह—

गुरुः स्थिरः पाण्डुरोचकान्वितः

प्रसेक-निद्रा-वमि-वह्नि-मान्द्य-कृत् ।

स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो

न चोन्नमेद्रान्निवली कफात्मकः ॥ ९ ॥

म०—गुरुरित्यादि । अरोचकान्वित इति अरोचकव्याधिसहचारी । कृच्छ्र-  
 जन्मप्रशम इति चिरोत्पत्तिविनाशः । रात्रिबलीति रात्रौ स्रोतोऽवरोधजेन देह-  
 क्लेदेनाचेष्टया च कफस्य वृद्धत्वात्तज्जः शोथो बलवान् भवति; दिवा तु स्फुट-  
 स्रोतासि शरीरे सचेष्टे च न कफो बली भवति, किं तर्हि वायुः, तेन तज्जः शोथो  
 दिवा बली भवति ॥ ९ ॥

आ०—कफजमाह—गुरुरित्यादि । स्थिरः=अचलः, प्रसेको=लालास्रावः, स कृच्छ्रजन्मप्र-  
 शम इति स्रोतोऽवरोधजेन देहक्लेदेन अचेष्टया च कफस्य वृद्धत्वात्तज्जः शोथो बलवान् भवति । दिवा  
 स्फुटस्रोतासि शरीरे चेष्टायुक्ते च कफो न बली वायुस्तेन तस्मात् तज्जः शोथो दिवाबली भवति ॥ ९ ॥

अथ द्वि-त्रि-दोषज-शोथस्य लक्षणानि ।

व्यामिश्रौषधविधानार्थं कापि कापि प्रकृतिसमसम्भवेता अपि शिष्यहितैषि-  
 तया द्वन्द्वसन्निपाता अतिदेशेन पृच्छन्ते, ये तु विकृतिविषमसम्भवेतास्तान् कण्ठ-  
 स्वेण पठति; अतोऽतिदेशेन द्वन्द्वत्रयसन्निपातानाह—

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्रुयथुः स्याद् द्विदोषजः ।

सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥ १० ॥

म०—निदानाकृतिसंसर्गादित्यादि । व्यामिश्रलक्षण इति मिलितवाता-  
दित्रयलिङ्गः । अनेनैव सर्वाकृतिरित्यस्यार्थे सिद्धे तदभिधानं वातादिप्रत्येकं  
कृत्तलिङ्गनियमार्थम् ॥ १० ॥

आ०—द्वन्द्वजत्रयसन्निपातजमाह—निदानेत्यादि । द्विदोषयोर्निदानलक्षणसंसर्गयोः द्विदो-  
षजा ज्ञेयाः । सन्निपातात् सर्वाकृतिः, व्यामिश्रलक्षणः मिलितवातादित्रयलिङ्गः ॥ १० ॥

अथाभिघातजशोथस्य लक्षणानि ।

अभिघातजं श्वयथुमाह—

अभिघातेन शस्त्रादि-च्छेद-भेद-क्षता-दिभिः ।

हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लात-कपिकच्छुजैः ॥ ११ ॥

रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।

भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥ १२ ॥

( वा० नि० अ० १३ )

म०—अभिघातेनेत्यादि । अभिघातेन यः शोथः स शस्त्रादिभिर्भवति ।  
हिमानिलोदध्यनिलैरिति हिमानिलैरुदध्यनिलैः, उदधिः=समुद्रः । भल्लात-  
कपिकच्छुजै रसैः शूकैरिति भल्लातकरसैः कपिकच्छुः शूकैश्च । कपिकच्छुः=  
शूकशिम्बी ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०—अभिघातजशोथमाह—अभिघातेनेत्यादि । स श्वयथुःशस्त्रादिभिः कृतो भवति हिमा-  
निलः=शीतवायुः, उदध्यनिलः=समुद्रवातः, भल्लातकरसैः कपिकच्छुशूकैः कपिकच्छुः शूकशिम्बी,  
एतेषां स्पर्शात्, प्रसरणशीलः, भृशोष्मा=अतिशयसन्तापकृत, पित्तश्वयथुलक्षणः ॥ ११॥ १२ ॥

अथ विषजशोथस्य लक्षणानि ।

विषजमाह—

विषजः सविष-प्राणि-परिसर्पण-मूत्रणात् ।

दंष्ट्रा-दन्त-नखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ १३ ॥

विड्-मूत्र-शुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।

विषवृक्षानिलस्पर्शाद्भ्रूयोगावचूर्णनात् ॥ १४ ॥

मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाह-रुजा-करः ।

( वा० नि० अ० १३ )

म०—विषज इत्यादि । सविषप्राणिनः=सर्पादयस्तेषां परिसर्पणं=  
भ्रमणं तस्मात्, सविषप्राणिनां मूत्रणाच्च । दंष्ट्रादन्तेति दंष्ट्रा=कुटिला  
'दाह' इति ख्याता; तद्विपरीतश्च दन्तो, गोचलीवर्दन्यायात् । विषमूत्र-  
शुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरादिति सविषप्राणिनां विषमूत्राद्युपहतं मलवच्च

वस्त्रं यत्तस्य संस्पर्शात् । अवलम्बी=अधोगमनशीलः । शीघ्रः=शीघ्रोत्पत्तिः ।  
अयं चागन्तुरपि विशिष्ट-लिङ्ग-चिकित्सोपयोगात् पृथक् पठितः ॥ १३ ॥ १४ ॥--

आ०—विषजशोथलक्षणमाह—विषजइत्यादि । सविषप्राणिनः सविषा ये जन्तवः शतपदी-  
ल्लतादयः, तेषां शरीरोपरि सर्पणं मूत्रणं च द्वयमपि श्वयथोर्हेतुः दंष्ट्रादन्तेति दंष्ट्रा  
कुटिलाकारा 'दाढ' इति लोके, दन्ता अग्रे भवाः, अन्ये दंष्ट्रिदन्तनखेति पठन्ति, तत्र  
दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयः, नखाः प्रसिद्धाः । अविषप्राणिनां मनुष्यादीनामप्याभिघातः शोथहेतुः ।  
विष्मूत्रेत्यादि सविषप्राणिनां विष्मूत्राद्युपहतमलवद्वस्त्रस्य संस्पर्शात्, अन्ये 'मलवद्वस्तु'  
इति पठन्ति, तत्र सविषप्राणिनां विष्मूत्रशुक्रोपहतत्वेनैतद्यन्मलवद्वस्तु तस्य सम्पर्कादि-  
त्यर्थः । सविषा ये वृक्षास्तेषां योऽनिलः, तस्य स्पर्शादपि । गरः=कृत्रिमविषं तस्यावचूर्ण-  
नात्, तस्य शरीरस्पर्शादित्यर्थः । मृदुः=मृदुस्पर्शः, चलः=स्थानान्तरगतिः, अवलम्बी=अधो-  
गमनशीलः, शीघ्रः=शीघ्रोत्पत्तिः ॥ १३ ॥ १४ ॥

अथ शोथस्य स्थानानि ।

यत्रस्था दोषा यत्र देशे शोथं कुर्वन्ति तमाह--

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ १५ ॥

पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।

कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ १६ ॥

( सु० चि० अ० २३ )

म० दोषा इत्यादि । ऊर्ध्वमिति उरः प्रभृत्यूर्ध्वदेहे । मध्य इति उरःपक्वा-  
शयमध्ये । अध इति पक्वाशयादधः । सर्वसरं=सर्वशरीरसरणशीलम् ॥ १५ ॥ १६ ॥

आ०—यस्मिन् दश दोषाः शोथं कुर्वन्ति तमाह—दोषा इत्यादि । ऊर्ध्वमिति उरःप्रभृ-  
त्यूर्ध्वदेहे । मध्य इति उरःपक्वाशयमध्ये, अध इति पक्वाशयादधो वर्चःस्थानं पुरीषाशयः, सर्व-  
शरीरसरणशीलम् ॥ १५ ॥ १६ ॥

अथ शोथस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

अतःपरं कृच्छ्रादिभेदमाह—

यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः ।

अर्धाङ्गः रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्व परिसर्पति ॥ १७ ॥

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च ।

यस्य चात्रे रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥ १८ ॥

( सु० चि० अ० २३ )

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः ।

पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम् ।

नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥ १९ ॥

( वा० नि० अ० १३ )

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च ।

स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् २० ॥

इति श्रीमाधवकरविराचिते माधवनिदाने शोधनिदानं समाप्तम् ।

म०—यो मध्यदेश इत्यादि । मध्यदेहगस्य कष्टत्वं तद्देशगशोधप्रभावात् । सर्वग इति सर्वदेहगामी । ‘सर्वज’ इति पाठान्तरे सर्वजः=सान्निपातिकः । रिष्ट-भूत इति रिष्टतुल्यः, भूतशब्द उपमाने; यथा—मातृभूतः पितृभूत इति । व्याधेरेवात्र रिष्टभूतत्वं तस्य च निमित्तकृतत्वात् भूतशब्द उपात्त इति कार्तिकः । अन्ये तु भूतशब्दं स्वरूपवचनमाहुः । यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयमेतत्; चकारात् स्त्रियाश्च उपरिजो योऽधो याति स गृह्यते, तथा गृह्यजो यः सर्वगः । वचनं हि —“यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गो भवेत् । पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम्”—( च. सु. स्था. अ. १८ ) इति । अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः, एतेनायमर्थः—शोथस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः, ते च—“श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिरोचकः । हिक्का-ऽतीसार-कासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि”—( सु. चि. स्था. अ. २३ ) इति सुश्रुतोक्ताः । चरकेऽप्युक्तम्—“छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरो-ऽतीसार एव च । सप्तकोऽयं स दौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः”—( च. चि. स्था. अ. १८ ) इति । अथवा अन्यमुपद्रवं करोतीति अन्योपद्रवकृन्निदानं, नान्योपद्रवकृदनन्योपद्रवकृत, ततः स्वनिदानात्, ‘जातः’ इति शेषः, तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः । पाण्डुरोगादौ तु यः शोथः पादसमुत्थितः सोऽन्योपद्रवकृतो निदानान्तराज्जातः साध्य एव । ‘आननोपद्रवगत’ इति पाठान्तरे अयमर्थः—पादयोरुत्थितः पूर्वं पश्चादाननमुपद्रवेण प्रसारेण उपद्रवत्वेन वा गतः । तथा च तन्त्रान्तरम्—“पादप्रवृत्तश्च यथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम् । स्त्रीणां वक्त्रादधो याति वस्तिजश्च न सिध्यति”—इति । क्षारपाणिनाऽप्युक्तम्—“ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम् । उभयं वस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः”—इति । गुह्यज इति वस्तिजातः । द्वयमिति नरं नारीं च । असाध्यः पुरेरित इति ‘अर्धाङ्गे रिष्टभूत’ इत्यादिना ॥ १७ ॥ २० ॥

इति कण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शोधनिदानं समाप्तम् ।

आ०--अतः स्थानाश्रयत्वे कृच्छ्रादिभेदनाह—य इत्यादि । मध्यगश्चयथोः कष्टसाध्यत्वं तद्देशप्रभावात् । सर्वगः इति सर्वदहगामी, 'सर्वज' इति पाठान्तरं, तत्र सान्निपातिकः । रिष्टभूत इति रिष्टतुल्यः, भूतशब्दो व्युपमाने, यथा मातृभूतः पितृभूत इति । यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयमेतत्, चकारात् स्त्रियाश्चोपरिजो योऽधो याति स गृह्यते, तथा गुह्यजो यः सः सर्वगः । उपद्रवविशेषस्यासाध्यत्वमाह—श्वास इति । यस्यैतानि सन्ति श्वयथौ सति तं परिवर्जयेत् । स्थानभेदनासाध्यत्वमाह—अनन्येत्यादि । न अन्योपद्रवाः अनन्योपद्रवाः शोफस्योपद्रवास्तैः कृतः, ते च सुश्रुतोक्ताः—'श्वासः पिपासा दार्ढर्यं ज्वरश्छर्दिरोचकः । हिक्कातीसारकासाश्च योथिनं क्षययन्ति हि'—इति चरकेऽप्युक्तम्—'छर्दिः श्वासोऽबचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च । सप्तकोऽयं सद्दार्ढर्यः शोथोपद्रवसंग्रहः'—इति । अथवा अन्यमुपद्रवं करोतीति अन्योपद्रवकृत् निदानं, न अन्योपद्रवकृत् अनन्योपद्रवकृत्, ततो निदानाज्जात इत्यनेन शोफजनक-निदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः । पाण्डुरोगादौ तु यः शोफः सोऽन्योपद्रवकृतो निदानाज्जातः साध्य एव । पादसमुत्थितः पुरुषं हन्ति नारीं तु मुखजो हन्ति, गुह्यजो बस्तिर्संजातः, द्वयमिति नरं नारीं च । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—'पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम् । वक्रादधस्ताद् द्योयाति बस्तिजश्च न सिध्यति ।' क्षीरपाणिनाऽप्युक्तम्—'जर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखा-स्त्रियम् । उभयोर्बस्तिर्संजातः शोथो हन्ति न मृदायः'—इति । साध्यासाध्यलक्षणमाह—नक्व इति नवो नवोत्थानः, उपद्रवरहितः, उपद्रवाः पूर्वोक्ताः श्वासादयः, तैर्मुक्तः सः साध्यः, असाध्यः पूर्वैरित ऊर्ध्वाङ्गे रिष्टभूतः ॥ १७—२० ॥

इत्यातङ्कदर्पणे निदानव्याख्याने शोथनिदानम् ॥ ३६ ॥

### अथ वृद्धिनिदानम् ।

( Orchitis )

अथ वृद्धिरोगस्य संप्राप्तिः ।

शोथत्वसामान्याच्छोथानन्तरं वृद्धिरभिधीयते । वृद्धेः संप्राप्तिमाह—

क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथ-शूल-करश्चरन् ।

मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥ १ ॥

प्रपीड्य धमनीवृद्धिं करोति फलकोषयोः ।

दोषास्र-मेदो-मूत्रान्नैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥ २ ॥

मूत्रान्नजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ।

( वा० नि० अ० ११ )

म०—क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुरित्यादि । अनूर्ध्वगतिरधोगतिर्वायुः मुष्कौ प्राप्य चरन्—गच्छन्, वङ्क्षणतो—मेदूजङ्घासन्धेः सकाशात्; फलकोषाभि-

वाहिनीरिति फलं च कोषश्च फलकोषौ, अथवा फलयोः कोषौ, तद्वहा धमनीश्च प्रपीड्य=संदूष्य, वृद्धिं करोति । फलकोषयोरिति द्विवचनमुपलक्षणं, तेनैक-कोषेऽपि दृश्यमाना वृद्धिः संगता । स वृद्धिरिति “क्लिच्त्तौ च संज्ञायाम्”—इत्यनेन किजन्तो वृद्धिशब्दः पुल्लिङ्गः, क्लिन्नन्तस्तु स्त्रीलिङ्गः । वृद्धिः कुरण्डो-ऽभिधीयते । संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां सप्तधेति वचनं न्यूनाधिक-संख्यानिरासार्थं, तेन द्वन्द्वजादिवृद्धेरधिकाया निरासः; असंभवस्तु तस्या व्याधिरुपभावात् सूत्रान्त्रवृद्धयोर्वातवृद्धयन्तर्भावात् न्यूनसंख्यानिरासार्थमन-योर्वातजत्वेऽपि निमित्त-चिकित्सा-भेदात् पृथगभिधानं, निमित्तभेदनिबन्धन-एव व्याधिभेदः । यदुक्तम्—“दोष-दूष्य-संसर्गादायतनविशेषात् निमित्तत-श्चैषां व्याधीनां भेदः” (सु. सू. स्था. अ. २४)—इति । अत आह—सूत्रा-न्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलमिति ॥ १ ॥ २ ॥—

आ०—शोथाधिकाराद् वृद्धिरभिधीयते । वृद्धेः संप्राप्तिमाह—क्रुद्ध इत्यादि । अनूर्ध्वगतिर्वायुः अधोगतिर्वातो मुष्कौ प्राप्य चरन् गच्छन्, वङ्क्षणतो मेदजङ्घासन्धेः सकाशात्, फलकोषाभिवाहि-नीरिति फलं च कोषश्च फलकोषौ, अथवा फलयोः कोषौ फलकोषौ, तद्वहा धमनीः प्रपीड्य संदूष्य वृद्धिं करोति, फलकोषयोरिति द्विवचनमुपलक्षणं, तेनैकफलकोषेऽपि दृश्यमाना वृद्धिः संगता । वृद्धिः ‘कुरण्ड’ इति लोके । वृद्धः संख्यामाह—दोषेत्यादि । दोषत्रयैस्त्रयः, रक्तेनैकः, मेदसा-चैकः, सूत्रेणैकः, एवं सप्त । संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पुनः सप्तधेति वचनं न्यूनाधिक-संख्यानिरासार्थं, द्वन्द्वजाया अपि वृद्धेरनिरासः, द्वन्द्वजायास्त्वसम्भवो व्याधिरुपभावात्, सूत्रान्त्रवृद्धयोर्वात-वृद्धयन्तर्भावात् न्यूनसंख्यानिरासः, अनयोर्वातजत्वेऽपि निदानचिकित्साभेदात् पृथगभिधानं, निदान-भेदनिबन्धन एव व्याधिभेदः । उक्तं च—“दोषदूष्यसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां व्याधीनां भेदः” इति । अत एव सूत्रान्त्रजावपि वातात्, तत्र हेतुभेदत एव भेदः केवल इति-वृद्धिशब्दः पुल्लिङ्गो वा ॥ १ ॥ २ ॥

अथ वातजादिमूत्रजान्तवृद्धीनां क्रमेण लक्षणानि ।

वातजादीनां मूत्रजान्तानां वृद्धीनां क्रमेण लक्षणान्याह—

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ॥ ३ ॥

पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्तादाहोष्मपाकवान् ।

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥ ४ ॥

कृष्णस्फोटवृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः ।

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥ ५ ॥



मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ।

अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ् मृदुः ॥ ६ ॥

मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः ।

( वा० नि० अ० ११ )

म०--वातेत्यादि । अहेतुरुगिति अनिमित्ततो दाहादिरुक् । रक्तजे 'कृष्ण-स्फोटावृत इति' पित्तजवृद्धिलिङ्गादधिकं; तेन हेतु-लिङ्ग-चिकित्सा-भेदाद्रक्त-जवृद्धिः पृथग्गण्यते । भेदोजे तालफलोपम इति पक्वतालफलमिव नीलवर्तुलः । मूत्रजे मूत्रकृच्छ्रमिति मूत्रकृच्छ्रवत् वेदना । चालयन् फलकोषयोरिति फलको-षयोश्चालयन् चलो भवन्नितस्ततो गच्छन् सोऽधः स्यात् । चालयन्निति स्वार्थिको णिच् ॥ ३-६ ॥--

आ०--वातजमाह-वातेत्यादि । दृतिश्चर्मखलिः, अनिमित्ततो भेदतोदादिरुक् । पित्तज-माह-पक्वेत्यादि । पक्वोदुम्बरसंकाशः=पक्वोदुम्बरफलाभः, तथा दाहादियुक्तः । कफवृद्धि-माह-कफादित्यादि । कफाद् वृद्धिः शीतः=शीतस्पर्शः, तथा गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनो-ऽश्मवत्, अल्परुक्=मन्दवेदनः । रक्तजमाह-रक्तेत्यादि । रक्तजो वृद्धिः, कृष्णस्फोटैश्चितः पित्तवृद्धिलिङ्गैश्च पक्वोदुम्बरसंकाशादिभिर्युतो भवेत् । अत्र तु कृष्णस्फोटावृत इति पित्तवृद्धि-लिङ्गादधिकं, तेन हेतुभेदचिकित्साभेदाद्रक्तजो वृद्धिः पृथग्गण्यते । भेदोजमाह-कफवत्कफवृद्धिलक्षणः तालफलोपम इति पक्वतालवर्तीलवर्तुलः । मूत्रजमाह-मूत्रेत्यादि । मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजो भवति, गच्छतः पुंसः जलपूर्णदृतिवत् क्षोभं याति पूरितो भवति, सरुक्=सव्यथः, मृदुः=मृदुस्पर्शः । मूत्रकृच्छ्रमिति मूत्रकृच्छ्रवेदनः । फलकोषयोरिति फलकोषयोश्चालयन् चलो भवन्नित-स्ततो गच्छन् सोऽधः स्यात् । चालयन्निति स्वार्थिको णिच् । 'वल्यं फलकोशयोः' इति पाठे फलकोशयोरधस्ताद्वल्यं कङ्कणं स्यात् ॥ ३-६ ॥--

अथान्त्रवृद्धेर्लक्षणानि ।

( Hernia )

अन्त्रवृद्धिमाह—

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥ ७ ॥

धारणेणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ।

क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥ ८ ॥

१ मूत्रजवृद्धिः = Hydrocele.

पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।

कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥ ९ ॥

उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवती स वायुः ।

प्रपीडितोऽन्तःस्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च सुक्तः ॥ १० ॥

अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

( वा० नि० अ० ११ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥

म०—वातकोपिभिरित्यादि । धारणं वेगस्योपस्थितस्य, ईरणमप्राप्तस्य । क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैरिति बलवद्विग्रहधनुराकर्षणादिभिः । क्षुद्रान्त्रावयवमिति वृह-  
दन्त्रव्युदासार्थम् । विगुणीकृत्येति संकुचीकृत्य । द्विगुणीकृत्येति पाठान्तरे संको-  
चेन द्विगुणीकृत्य । स्वनिवेशात्=स्वस्थानात् । तदा वङ्क्षणसन्धिस्थः सन्  
वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपं साध्यं श्वयथुं करोति, तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा काला-  
न्तरेण फलकोषं गच्छतीति । तां मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीमुपेक्ष्यमा-  
णस्य=अचिकित्सितपुरुषस्य । अत्र भोजः—“अन्त्रं द्विगुणमादाय जन्तोर्न-  
यति वङ्क्षणम् । वङ्क्षणात्तद्विजायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते”—इति । प्रध्मापयन्निति=  
उच्छूनयन् । असाध्योऽयमिति कथम् ? यतोऽस्य चिकित्साऽभिहिता, नैवम्,  
अप्राप्तफलकोषायामयं चिकित्साविधिः । प्राप्तफलकोषा त्वसाध्याः याप्यायां  
वा तस्यां चिकित्साविधिः । यदुक्तं भोजे—“याप्यां तामन्त्रजां विदुः”—  
इति । ब्रध्ननिदानं तु तन्त्रान्तरे पठ्यते । तद्यथा—“अत्यभिष्यन्दिगुर्व-  
न्नेसेवनान्निचयं गतः । करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥ ज्वर-  
शूलाङ्गसादादृचं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्”—इति ॥ ७-१० ॥—

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वृद्धिनिदानं समाप्तम् ।

आ०—अन्त्रवृद्धिमाह=वातेत्यादि । वातकोपिभिराहारैः रुक्षतिककषायादिभिरासेवितै-  
स्तथा शीततोयावगाहनैस्तथा धारणेरणभारादिभिरन्यैश्च क्षोभणैः क्षोभितः=कुपितः पवनो  
वायुर्यदा=यस्मिन् काले । क्षुद्रान्त्रावयवं ( मूत्रशकृद्वात्रेकदेशं ? ) स्वनिवेशात्=स्वस्थानात्,  
द्विगुणीकृत्याऽधो नयेदिति पिण्डार्थः । अन्ये विगुणीकृत्येति पठन्ति । धारणमुपस्थितवेगस्य,  
ईरणमप्राप्तवेगस्य, क्षोभणैः पूर्वोक्तैः, अन्यैरिति बलवद्विग्रहैः धनुराकर्षणादिभिः, विषमाङ्गप्रवर्तनैः  
विषमत्वेन शरीरमोटनैः, पवनो वङ्क्षणसन्धिस्थः सन्, वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपमसाध्यं श्वयथुं करोति ।  
तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा कालान्तरेण फलकोषं गच्छति । तां मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवती तदोपे-

अमाणस्याचिकित्सतः पुरुषस्य । यदाह भोजः—“अन्नं द्विगुणमादाय, जन्तोर्नयति वङ्क्षणम्, वङ्क्षणात्तद्भुजायुक्तं फलकोशं प्रपद्यते”—इति । स च द्वयधुः करेण पीडितः सशब्दं प्रयाति, मुक्तः सन्नाध्मापयन् पूरयन् पुनरायाति । असाध्यमाह—यस्येत्यादि । आश्लेषात्=संयोगात्, वातसंचयात् मुष्कयोरन्त्रवृद्धिर्भवति । अयमसाध्यः, कथं तर्हि चिकित्सा ? अप्राप्तफलकोशा-  
याश्चिकित्साविधिः, प्राप्तफलकोषा त्वसाध्या । याप्यायां वा चिकित्साविधिः । यदुक्तं भोजे—‘वाप्यां  
तामन्त्रजां विदुः’ इति । ब्रध्ननिदानं तु तन्त्रान्तरे पठ्यते, तद्यथा—“अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नपेवनाग्नि-  
चर्यं गतः । करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसंधिषु । ज्वरशूलाग्निसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्”—  
इति ॥ ७--१० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यकृतायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां-  
वृद्धिनिदानम् ॥ २७ ॥

अथ गलगण्ड-गण्डमाला-ऽपची-ग्रन्थ्यर्बुदनिदानम् ।

( Goitre. )

अथ गलगण्डरोगस्य निदानम् ।

वृद्धियुक्तमुष्कसमानलिङ्गत्वात्तदनन्तरं गलगण्डनिदानम् । तस्य सामा-  
न्यलिङ्गमाह—

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।

महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥ १ ॥

म०—निबद्धः श्वयथुरित्यादि । निबद्धोऽनुबन्धवान् मुष्कवदण्डवत् । भोजे  
ऽप्युक्तम्—“महान्तं शोथमल्पं वा हनु-मन्या-गलाश्रयम् । लम्बन्तं मुष्कवद्दृष्ट्वा  
गलगण्डं विनिर्दिशेत्”—इति ॥ १ ॥

आ०—वृद्धियुक्तमुष्कसाधर्म्यात्तदनन्तरं गलगण्डनिदानम् । तस्य सामान्यलिङ्गमाह—निबद्ध  
इत्यादि । निबद्धोऽनुबन्धवान्, मुष्कवत् अण्डवत् । यदुक्तं भोजेन—“महान्तं शोथमल्पं वा हनुम-  
न्यागलाश्रयम् । लम्बन्तं मुष्कवद्दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्”—इति ॥ १ ॥

अथ गलगण्डरोगस्य संप्राप्तिः ।

तस्य संप्राप्तिमाह—

वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव भेदः ।

कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ २ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०—वात इत्यादि । वातकफभेदांस्त पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन  
त्रय एव गलगण्डाः, पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात्; चातुर्थकज्वरवत् ।

चातुर्थके हि वचनम्,—“चातुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः । जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः”—( च. चि. स्था. अ. ३ ) इति । क्रमशः इत्यनेन शनैरेव वर्धनं दर्शयति । स्वलिङ्गैः समन्वितमिति ‘निबद्धः श्वयथुः’ इत्यादिनोक्तगलगण्डलिङ्गैरन्वितम् ॥ २ ॥

आ०—तस्य संप्राप्तिमाह—वात इत्यादि । वातकफमेदांसि पृथगलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव गलगण्डाः पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिसंभावात् । मन्ये उभे कण्ठसन्धौ । क्रमशः इति शनैर्द्विर्दि-  
शिता । स्वलिङ्गैः वातकफमेदोलक्षणैः समन्वितमिति ॥ २ ॥

अथ वातिकगलगण्डस्य लक्षणानि ।

वातजमाह—

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु ।  
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्धयपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥३॥  
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ।

( सु० नि० अ० ११ )

म०—तोदान्वित इत्यादि । चिरवृद्धिरिति विकारप्रभावात् वातजोऽपि चिरेण वर्धते । यदृच्छया पाकमियादिति कारणाप्रतिनियमेन कदाचित् पाकं याति । कारणाप्रतिनियमश्च बाह्योऽभिप्रेतः, आभ्यन्तरस्तु पाककारणं पित्तं रक्तं च नियतमेव । कदाचिदिति न सर्वकालम् । “यदृच्छया चैव भवेत् कदाचित्—” इति पाठान्तरे ‘पाक’ इति शेषः ॥ ३ ॥—

आ०—वातिकमाह—तोदान्वित इत्यादि । तोदः पीडाविशेषः, कृष्णसिरावृतः, पारुष्ययुक्तः= स्पर्शनकर्कशः । चिरवृद्धिरिति व्याधिप्रभावात् वातजोऽपि चिरेण वर्धते । कारणाप्रतिनियमेन कदाचित् पाकं गच्छति । कारणाप्रतिनियमश्च बाह्योऽभिमतः, आभ्यन्तरं तु पाककारणं पित्तं रक्तं च नियतमेव । कदाचिदिति न सर्वकालम् । ‘यदृच्छया चैव भवेत्’ इति पाठान्तरम् । तत्र ‘पाक’ इति शेषः ॥ ३ ॥—

अथ कफजगलगण्डस्य लक्षणानि ।

श्लेष्मजमाह—

स्थिरः सवर्णो गुरुरग्रकण्डूः शीतो महंश्चापि कफात्मकस्तु ॥४॥  
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ।  
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालु-गल-प्रलेपः ॥५॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०—स्थिर इत्यादि । सवर्ण इति प्रकृतिसमवर्णः ॥ ४ ॥ ५ ॥

आ०—श्लैष्मिकमाह—स्थिरेत्यादि । स्थिरो=निश्चलः, सर्वाणः=प्रकृतिवर्णः, महान् स्थूलः । मन्दरुजेत्यादि कदाचिद्यदा प्रपच्यते तदा मन्दरुज एव प्रपच्यते, पाककाले पीडा न भवतीत्यर्थः । प्रलेप इति श्लेष्मणा लिप्त इव ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ मेदोजगलगण्डस्य लक्षणानि ।

मेदोजमाह—

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्ठगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च ।  
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥ ६ ॥  
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ।  
( सु० नि० अ० ११ )

म०—स्निग्ध इत्यादि । देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्त इति देहक्षये क्षयं, देहवृद्धौ च वृद्धिं यातीत्यर्थः । गलेऽनुशब्दमिति अनुनादं करोति । “गले तु शब्दम्”—इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ६ ॥—

आ०—मेदोजमाह—स्निग्ध इत्यादि । अनिष्ठगन्धो, अलाबुवत् तुम्बीफलवत्, अल्पमूलस्तनुमूलः । देहानुरूपक्षयवृद्धिः—देहक्षये क्षयं कार्यं, देहवृद्धौ वृद्धिं यातीत्यर्थः । गलेऽनुशब्दमिति अनुनादं=प्रतिशब्दं करोति । “गलेन शब्दम्” इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ६ ॥—

अथ गलगण्डस्यासाध्यलक्षणानि ।

असाध्यतामाह—

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥ ७ ॥  
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च ।  
( सु० नि० अ० ११ )

कृच्छ्राच्छ्वसन्तमित्यादि । कृच्छ्राच्छ्वसन्तं=दुःखेन श्वासविमोक्षकारिणम् । भिन्नस्वरं=स्वरभेदवन्तम् ॥ ७ ॥—

आ०—असाध्यमाह—कृच्छ्रादित्यादि । दुःखेन श्वासविमोक्षकारक, मृदुसर्वगात्रं शिथिलं सर्वगात्रम्, अतिक्रान्तवत्सरं, भिन्नस्वरं स्वरभेदवन्तम् ॥ ७ ॥—

अथ गण्डमालारोगस्य लक्षणानि ।

( Scrofula )

स्थानतुल्यतया गण्डमालाभिहैवाह—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥ ८ ॥  
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ।  
( सु० नि० अ० ११ )

म०—कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैरित्यादि । कर्कन्धुः=शृगालकोलिः, कोलं=बृहद्दरम् । मेदःकफाभ्यामिति मेदो=दूष्यं, कफो=दोषोऽत्रारम्भकः, मेदः=

कफौ प्राधान्येनोक्तौ; तेन वातपित्तसंबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । यदाह भोजः—  
“वात-पित्त-कफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य  
मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रन्थयस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः ।  
तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षः-कक्ष-मन्या-गलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान् कुर्वते ग्रन्थीन्  
सा त्वपची मता । तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्गतसन्धिषु ॥ गण्डमालां  
विजानीयादपचीतुल्यलक्षणम् ।”—इति । स्याद्गण्डमालेति मालातुल्यगण्डयो-  
गात् गण्डमाला । गलमात्र एव गण्डमाला चरके पठिता । यथा—“मेदःकफा-  
च्छोणितसंचयोत्थो गलस्य मध्ये गलगण्ड एकः । स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च  
गण्डैः” ( च. चि. स्था. अ. १२ ) इति ॥ ८ ॥—

आ०—स्थानतुल्यतया गण्डमालामिहैवाह—कर्कन्धुर्लघुवदरं, कोलं बृहद्वद-  
रम् । अंसौ बाहुमूले, मन्या शिरोधः, वङ्क्षंण जानूहसन्धिः । मेदःकफाभ्यामित्यादि ।  
मेदो दूष्य, कफो दोषोऽत्रारम्भकः, मेदःकफौ च प्राधान्येनोक्तौ, तेन वातपित्तसञ्चयोऽप्यत्र द्रष्ट-  
व्यः । यदाह भोजः—“वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य  
मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रन्थितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः । तान्दोषानूर्ध्वगो वक्षः  
कक्षमन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान्कुर्वते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता । व्यामिश्रदोषसंजाता  
कृच्छ्राभ्या प्रकीर्तिता ॥ तासां वातोत्तरा रुक्षा वातेवेदनयाऽन्विता । क्षिप्रपाकसमुत्थाना  
दाहयुक्ता च पैत्तिकी ॥ गूढपाका च कठिना कफात् स्निग्धाऽल्पवक्करा । मेदोविकारा श्लैष्मिकी  
च विशेषादतिमार्दवा ॥ अपची कण्ठमन्यासु कक्षवङ्क्षणसन्धिषु । तां तु मालाकृतिसमां कण्ठ-  
हृदन्तसन्धिषु ॥ कण्ठमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणम् ।”—इति । स्याद्गण्डमालेति मालातुल्यग-  
ण्डाभ्या गण्डमाला । गलमात्र एव चरके गण्डमाला पठिता, यथा—“मेदःकफाच्छोणितसंचयो-  
त्थो गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः । स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः”—इति ॥ ८ ॥—

### अथापचीरोगस्य लक्षणम् ।

गण्डमालातुल्यतया अपचीमाह—

ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥  
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः १०

म०—ते ग्रन्थय इत्यादि । ते इति गण्डमालारम्भकदोषदूष्यकृता ये ग्रन्थ-  
यस्त एवेत्यर्थः । कालानुबन्धं चिरमिति चिरकालानुबन्धम् । सैवापचीति  
तादृशी=अमालारूपा अपची भण्यते । सैवापचीति इति शब्देनाभिहितत्वात्  
प्रवदन्तीति क्रियायोगेऽपि न द्वितीया । अपचीनिरुक्तिश्चापरापरोपचीयमान-  
तया । अत एव “चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति”—( सु. नि. स्था. अ. ११ ) इति

सुश्रुतः । चयप्रकर्षश्चापरापरभवनेनैव, साधुत्वं च नैरुक्त्येन विधिना । यदुक्तम्—“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥”-इति । अत एवोक्तम्-नश्यन्ति भवन्ति चान्य इति । साध्याः स्मृता इति छेदः । पीनसादिभिरुपद्रवैरसाध्याः । अयं तु ग्रन्थिश्चरके गण्डमालायामस्ति; संग्रहकारेण तु गण्डमालयासह तुल्यत्वादपच्या अपच्यामेव ग्रन्थिः पठितः ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०-गण्डमालातुल्यतयाऽपचीमाह-त इत्यादि । गण्डमालारम्भकदोषदूष्यकृता ये ग्रन्थयस्त एवेत्यर्थः । अवाप्तपाकाः=लब्धपाकाः, कालानुबन्धमिति चिरकालसम्बन्धम् । सैवापचीति तादृशी आमलकरूपा अपची भण्यते । सैवापचीति-इतिशब्देनाभिहितत्वात्प्रवदन्तीत्यादिक्रियायोगेऽपि न द्वितीया । तस्य साध्यत्वमाह-साध्येत्यादि । साध्याः स्मृता इति पूर्वग्रन्थेन सम्बन्धः, ‘स्रवन्ति नश्यन्ति चान्ये’ इत्यादिपीनसादिभिरुपद्रवैर्युता असाध्याः ॥ ९-१० ॥

अथ ग्रन्थिरोगस्य निदानम् ।

( Tumour )

अनन्तरमपचीगुडकतुल्यतया ग्रन्थिमाह—

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च ।  
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ ११ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०-वातादय इत्यादि । वात-पित्त-कफाः प्रत्येकं दुष्टाः; दुष्टिश्चात्र वृद्धिरेव न क्षयः, क्षीणानां विकारकरणाक्षमत्वात् । यद्येवं तर्हि कथं वातादिक्षये मन्दचेष्टादयः ? उच्यते, तत्क्षये विरोधि-दोषकोपात्; यथा-मधुरस्निग्धादिभिर्वति क्षीणे तत्समानत्वात् श्लेष्मा प्रकुप्यति । वचनं हि,—“वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्”—इति । संदूष्य मेदश्च मांसमसृक् सिराश्चेत्यनेन मेदोजः कफसंबन्धाद्यो भवति तथा सिराजोऽपि वायुना सिरादुष्ट्या यो जन्यते स उच्यते । एवं पञ्चग्रन्थयः । तथेति संदूष्य । मांसमसृगिति अत्रासृजः क्रमोलङ्घनेन पाठोप्राधान्यप्रतिपादनार्थः, विसर्पे तु शोणितमेव प्रधानम् । अत एव क्वचित् चकारमप्राधान्यसूचकं निवेश्य ‘असृक् च’ इति पाठः । चरके तु ग्रन्थिः वातकफज एव ग्रन्थिविसर्पशब्देनोक्तः । वृत्तोन्नतमिति वृत्तं वर्तुलम्, उन्नतम्=उच्छूनम् । विग्रथितं कठिनं, ककखटं वा; विग्रथितत्वादेव ग्रन्थिरिति संज्ञा ॥ ११ ॥

आ०-अपचीगण्डकरूपतया ग्रन्थिकामाह-वातादय इत्यादि । वाताः यो वातपित्तकफाः, प्रत्येकं दुष्टाः मांसमसृक् संदूष्य शोथं कुर्वन्तीति सम्बन्धः । एतेन त्रया ग्रन्थय उक्ताः, दुष्टिश्चात्र



बुद्धिरेव, न क्षयः, क्षीणानां विकारकरणाक्षमत्वात्, संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्चैत्यनेन मेदोजः  
सिराजश्चैवं द्वौ, संदूष्य मांसमसृगित्यत्रासृजः क्रमोलुङ्घनेन पाठोऽप्राधान्यप्रतिपादनार्थं, वृत्तं=वर्तुलम्,  
उन्नतं=ऊच्छ्रुतं, विप्रथितं=विच्छिद्य प्रथितं, अतो विप्रथितत्वादेव ग्रन्थिसंज्ञा ॥ ११ ॥

अथ वातजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

अनिलग्रन्थिमाह-

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च ।

कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् १२

( सु० नि० अ० ११ )

म०-आयम्यत इत्यादि । आयम्यते=आकृष्य दीर्घीक्रियते । वृश्च्यतीति  
छिनत्तीव, अत्र दिवादेराकृतिगणत्वात् श्यन्प्रत्ययः । प्रत्यस्यते=क्षिप्यते,  
मथ्यति=आलोडयतीव, अत्रापि पूर्ववत् समाधानम् । भिद्यते=विदीर्यत इव ।  
अस्रं=स्रावम् ॥ १२ ॥

आ०-वातिकमाह आयम्यत इत्यादि । आकृष्य दीर्घीक्रियत इव, वृश्च्यति छिनत्तीव, तुद्यते  
शूलेनेव, प्रत्यस्यसे क्षिप्यते, मथ्यति आलोडयतीव, भिद्यते विदीर्यत इव ॥ १२ ॥

अथ पित्तजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

पित्तग्रन्थिमाह-

दन्दह्यते धूष्यति वृश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।

रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०-दन्दह्यत इत्यादि । दन्दह्यते=अत्यर्थं दह्यते अग्निनेव । पापच्यते=भृशं  
पच्यत इव क्षारेण, किंवा उत्कथ्यत इव । प्रज्वलतीव=ज्वलन् भस्मीभवतीव १३ ॥

आ०-पैत्तिकमाह-दन्दह्यत इत्यादि । अग्निना दह्यत इव, धूष्यति धूमायत इव, चूष्यते  
शृङ्गेणेव, पापच्यते भृशं पच्यत इव क्षारेण, किंवा उत्कथ्यत इव । ज्वलतीव ज्वलनेनेव भस्मीभ-  
वति, वर्णेन रक्तः अथवा पीतः, भिन्नः सन् अतीवातिशयेन दुष्टं रक्तं स्रवति ॥ १३ ॥

अथ कफजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

कफग्रन्थिमाह-

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहननोपपन्नः ।

चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ १४ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०-शीत इत्यादि । अविवर्णः=प्रकृतिवर्णः, ईषद्विवर्ण इति कश्चित्  
पाषाणवत् संहननोपपन्न इति पाषाणवत् कठिन इत्यर्थः, किंवा पाषाणवत्  
भवति । संहननोपपन्न इति संहतान्वितो महानित्यर्थः ॥ १४ ॥

आ०—शैष्मिकमाह—शीत इत्यादि । अविवर्णः प्रकृतिवर्णः, पाषाणवत् संधातान्वितो महान्वित्यर्थः । भिन्नः सन् शुक्लं वनं पूयं स्रवेत् ॥ १४ ॥

अथ मेदोजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

मेदोजग्रन्थिमाह—

शरीर-वृद्धि-क्षय-वृद्धि-हानिः स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च ॥  
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याक-सर्पिः-प्रतिमं तु मेदः ॥ १५ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०—शरीरेत्यादि । शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिरिति शरीरवृद्धिक्षयान्यां यथाक्रमं वृद्धिहानी यस्य स तथा । मेदोजेष्वेवं युक्तिः धातुस्वभावात् चिरस्थायित्वाद्वा । गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेद इति भिन्ने सति पिण्याकस्तिलकल्कः, सर्पिरत्र स्त्यानं, तत्सदृशं मेदः स्रवति । भोजेन तु मेदोजग्रन्थेः संप्राप्तिः पठ्यते । यथा,—“मेदो वायुर्यदा मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि । तत्र मेदोभवग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः ॥ कृशः कृशे महान् स्थूले ग्रन्थिर्भिन्नश्च पीडितः । तिलकल्कनिभः स्यावो घृतवच्चास्य जायते ॥”—इति ॥ १५ ॥

आ०—मेदोजमाह—शरीरवृद्धिक्षयान्यां यथाक्रमं वृद्धिहानी यस्य स तथा । भिन्ने सति पिण्याकसर्पिः सदृशं मेदो गच्छति स्रवतीत्यर्थः । पिण्याकस्तिलकल्कः, सर्पिरत्र स्त्यानम्, तत्सदृशं मेदो गच्छति । उक्तं च भोजे—“मेदो वायुर्यदा मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि । तत्र मेदोभवो ग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः ॥ कृशः कृशे महान् स्थूले ग्रन्थिर्दिहलश्च पीडितः । तिलकल्कनिभः स्यावो घृतवच्चास्य जायते ॥”—इति ॥ १५ ॥

अथ सिराजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

सिराजग्रन्थेः संप्राप्तिमाह—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम् ॥  
संकुच्य संपिण्ड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥  
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ॥  
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ १७ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०—व्यायामजातैरित्यादि । संकुच्यति अन्तर्भावितोऽत्र प्यर्थः, तेन संकुच्येत्यर्थः । संपिण्ड्येति संहतीकृत्य । उन्नतमाशु वृत्तमिति अस्य सामान्यलक्षणेनैव सिद्धे पुनस्तदुक्तिरतिशयार्थम् । स च सिराजो ग्रन्थिर्यादि सरुज-

श्चलश्च स्यात्तदा कृच्छ्रसाध्यः । स चारुजश्चापीत्यादिना न साध्यः । स चेति चकारेणारुजत्वादिधर्मयोगादपरेऽपि ग्रन्थयोऽसाध्या इति सूचयति । यदुक्तं भोजे,—“पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलास्त्यजेत् । कपोल-गल-मन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च सन्धिषु ॥”—इति । अन्ये तु मांसासृग्भ्यां षष्ठं ग्रन्थि वदन्त एवं पठन्ति,—“मांसासृजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं त्वथ लक्षणज्ञैः”—इति । किंत्वनाषोऽयं पाठः, भोजादिसमानतन्त्रेष्वदृष्टत्वात् ॥ १६ ॥ १७ ॥

आ०—सिराजग्रन्थेः संप्राप्तिमाह—व्यायामेत्यादि । तस्तारति बलवद्विग्रहादिभिः सिराप्रतानं सिराभ्यो निर्गतं सूक्ष्मसिराजालम् । संकुच्येति अन्तर्भाषितोऽत्र ण्यर्थः, तेन संकोच्येत्यर्थः । संपीड्य संहतीकृत्य, उन्नतमुच्चं, वृत्तं वर्तुलम् । स तु सिराजो ग्रन्थिः यदि सारुजश्चलः, स्यात्तदा कृच्छ्रसाध्यः । तस्यासाध्यत्वमाह—स इति । चकारेणारुजादिधर्मयोगादपरेऽपि ग्रन्थयोऽसाध्या इति सूचयति । यदुक्तं भोजेन—“पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन्मर्मजांश्च चलास्त्यजेत् । कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च संधिषु ॥” इति ॥ १६ ॥ १७ ॥

अथार्बुदरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

( Malignant Growth )

मांसशोणितदूष्यसाधर्म्यादर्बुदाभिधानम् । तस्य संप्राप्तिमाह—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य ।

वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्धचपाकम् १८॥

कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥१९॥

तजायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि तदा भवन्ति ।

( सु० नि० अ० ११ )

गात्रप्रदेशे क्वचिदित्यादि । क्वचिदेवेत्यनेनानियतदेशे, न पुनरपचीवन्त्रियतदेशे । ‘संमूर्च्छिता’ इति पाठान्तरे संमूर्च्छिता वृद्धाः, दूष्यसंसृष्टा इति कार्तिकः । मांसमसृक् प्रदूष्येति सर्वार्बुदसाधारणं दूष्यं, मांसार्बुद-मेदोर्बुदयोस्तु विशेषेण मांसदुष्टिः, मांसार्बुद-मेदोर्बुदयोरपि तद्दूषको दोषोऽस्ति, तेन तत्रापि दोषकर्तृतया संप्राप्तिरियं भवति । मांसोच्छ्रयमिति मांसोच्छ्रयतया प्रतीयमानम् । मेदोजेऽपि मांसमुद्गतं भवति । अत्यगाधमिति दूरानुप्रविष्टम्, अत एवानल्पमूलमित्युक्तम् । वातादिभिस्तदर्बुदं जायते=भवति, तेन षडर्बु-

दानि भवन्ति । ग्रन्थेः समानानीति वात-पित्त-कफ-भेदो-ग्रन्थिभिर्वात-पित्त-कफ-भेदोर्बुदानां लक्षणानि समानानि, शोणितज-मांसजयोस्तु लक्षणं पृथक् वक्ष्यति ॥ १८ ॥ १९ ॥

आ०—अथार्बुदान्याह । तस्य संप्राप्तिमाह—गात्रेत्यादि । कचिदेवेति अनियतदेशे न पुनरपची-वन्नियतप्रदेशे । संमूर्छिता इति पाठान्तरे वृद्धाः । मांसमसृक् प्रदूष्येति सर्वार्बुदेषु साधारणं दूष्यं, मांसार्बुदभेदोर्बुदयोश्च विशेषेण मांसभेदोदुष्टिः, वृत्तं=वर्तुलं, मृदुं=मृदुस्पर्शं, मांसभेदआश्रयत्वात् । अत्यगाधं=दूरानुप्रविष्टम्, अत एवानल्पमूलमित्युक्तम् । तस्य संख्यामाह—वातेनेत्यादि । वाता-दिभिस्तदर्बुदं जायते=भवति; तेन षडर्बुदानि भवन्ति । ग्रन्थेः समानानीति वातपित्तकफभेदोज-ग्रन्थिभिर्वातपित्तकफभेदोर्बुदानां लक्षणानि समानानि । शोणितजमांसजयोस्तु लक्षणं पृथ-क्पठ्यते ॥ १८ ॥ १९ ॥

अथ रक्तार्बुदस्य लक्षणानि ।

रक्तार्बुदमाह—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च संकुच्य संपिण्डय ततस्त्वपाकम् ॥  
सास्त्रावमुन्नहति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धम् ।  
करोत्यजसं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु ॥ २१ ॥  
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

( सु० नि० अ० ११ )

म०—दोषः प्रदुष्ट इत्यादि । संकुच्येति अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः । अपाकमी-षत्पाकं, तेन सास्त्रावमित्युपपन्नं भवति । दोष उन्नहति=उच्छिन्नो भवति । सास्त्रावमीषत्सावम् । मांसपिण्डमाशुवृद्धं शीघ्रवर्धनं, मांसाङ्कुरैराचितं करोति, तथा अजसं रुधिरप्रवृत्तिमपि करोति; रुधिरं चात्राधिष्ठानभूतं सिरागतं प्रवर्तते न तु पाकात्, ईषदेव सावस्य क्लेदरूपस्योक्तत्वात् । किंवा उन्नहतीत्यन्तर्भावि-तण्यर्थः, तेन मांसपिण्डमुन्नाहयति=उद्धृतं करोति । 'दोषाः प्रदुष्टा' इति पाठ-पक्षे 'सास्त्रावमुन्नह हि' इति पाठः । उन्नह=उन्नाह्य, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् । हि पादपूरणे ॥ २० ॥ २१ ॥—

आ०—रक्तार्बुदमाह—दोष इत्यादि । संकुच्येति अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः । अपाकमिति ईषत्पाकं, तेन सास्त्रावमित्युपपन्नं भवति । दोषः प्रदुष्टः उन्नहति उच्छिन्नो भवति । अजसं रुधिरप्रवृत्तिमतिरुधिरं चाधिष्ठानभूतं प्रवर्तते, न तु पाकात्, ईषदेव सावस्य क्लेदरूपस्योक्तत्वात् । सुश्रुतोक्तैः रक्तक्षयोपद्रवैः पाण्डुः स्यात् ॥ २० ॥ २१ ॥—

अथ मांसार्वुदस्य सम्प्राप्तिः ।

( Myoma )

मांसजन्यसंप्राप्तिमाह—

मुष्टिप्रहारादिभिरिदितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोधम् २२॥

अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।

प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ २३ ॥

मांसार्वुदं त्वेतदसाध्यमुक्तम्,—

( सु० नि० अ० ११ )

म०—मुष्टिप्रहारादिभिरित्यादि । अश्मोपमं=पाषाणवत् कठिनम् । अप्रचाल्यं=स्थिरम् । यद्यपि रक्तमांसार्वुदयो रक्तमांसयोर्हेतुत्वेनोक्तिस्तथाऽपि रक्तजे पित्तं, मांसजे वायुरारम्भकः, एवमपि ताभ्यां घृतदुग्धन्यायेन व्यपदेशः । मांसपरायणस्य=मांसाशनशीलस्य । तस्य चातिमात्रं मांसवृद्धिः, “मांसं मांसेन वर्धते” इत्यभिधानात् ॥ २२ ॥ २३ ॥—

आ०—मांसजस्य संप्राप्तिमाह—मुष्टित्यादि । मुष्टिप्रहारादिभिरिदितेऽङ्गप्रदेशे, अनन्यवर्णम्, अपाकं पाकरहितम्, अश्मोपमं पाषाणवत्कठिनम्, अप्रचाल्यं स्थिरम् । यद्यपि रक्तमांसार्वुदयो रक्तमांसयोर्हेतुत्वेनोक्तिः, तथाऽपि रक्तजे पित्तं, मांसजे वायुरारम्भकः, एवमपि ताभ्यां घृतदुग्धन्यायेन व्यपदेशः । मांसपरायणस्य मांसभक्षणशीलस्य, तस्य चातिमात्रं मांसवृद्धिः “मांसं मांसेन वर्धते” इति वचनात् । एतन्मांसार्वुदमसाध्यम् ॥ २२ ॥ २३ ॥—

अथार्वुदरोगस्य साध्यासाध्यविचारः ।

साध्येष्वप्यसाध्यप्रकारानाह—

साध्येष्वपीमानि तु वर्जयच्च ।

संप्रसृतं मर्मणि यच्च जात स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥ २४ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

म०—साध्येष्वपीत्यादि । संप्रसृतं=सावयुक्तं, सावश्चात्रापाकित्वेऽपि त्वग्वदरणात् मनागवगन्तव्यः । स्रोतःसु=नासादिषु । अचाल्यं=स्थिरम् ॥ २४ ॥

आ०—साध्येष्वप्यसाध्यप्रकारानाह—साध्येष्वित्यादि । साध्येष्वपि इमानि अर्बुदानि वर्जयेत् । संप्रसृतं सावयुक्तम् । सावश्चात्रापाकित्वेऽपि त्वग्वदरणात् मनागवगन्तव्यः । स्रोतस्तु सिरादिषु अचाल्यं=स्थिरम् ॥ २४ ॥

अथ अध्यर्बुदरोगस्य लक्षणम् ।

अध्यर्बुदमाह—

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तद्वर्बुदमर्बुदज्ञैः ।

यद्वर्बुदजातं युगपत् क्रमाद् वा द्विर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् २५

( सु० नि० अ० ११ )

म०—यज्जायत इत्यादिना । अधिकमर्बुदमध्यर्बुदम्, एतद्विर्बुदमेव, यद्वर्बुदजातं युगपत् क्रमादेति द्वन्द्वजातं युग्मेन जातं, युगपदेकदा क्रमेण वा । तद् द्विर्बुदं न साध्यम् । तथाच भोजः—“अर्बुदे त्वर्बुदं जातं द्वन्द्वजं चानुजं च यत् । तद् द्विर्बुदमिति ज्ञेयं तच्चासाध्यं विनिर्दिशेत् ॥”—इति ॥ २५ ॥

आ०—अध्यर्बुदमाह—यदित्यादि । अधिकमर्बुदमध्यर्बुदम्, एतद् द्विर्बुदमेव । यद्वर्बुदजातं युगपदेकदा क्रमेण वा तत् द्विर्बुदं न साध्यम् । तथा च भोजः—“अर्बुदे त्वर्बुदे जातं द्वन्द्वजं चानुजं च यत् । द्विर्बुदमिति ज्ञेयं तच्चासाध्यं विनिर्दिशेत् ॥”—इति ॥ २५ ॥

अथर्बुदस्यापाके कारणानि ।

अर्बुदानां पाकाभावे हेतुमाह—

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु ।

दोषस्थिरत्वाद्वथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥ २६ ॥

( सु० नि० अ० ११ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गलगण्डगण्डमालापची-

ग्रन्थर्बुदनिदानं समाप्तम् ॥

म०—न पाकमायान्तीत्यादि । सर्वार्बुदानि पित्तरक्तजान्यपि न पाकमायान्ति, कुत इत्यत आह—कफाधिकत्वात् मेदोबहुत्वाच्च । ननु, अपच्यामपि विशेषतः कफमेदसी अधिके, अथ च तस्याः पाकोऽस्त्येव, इत्यत आह—दोषस्थिरत्वादिति ।—अपच्यां कालान्तरेण हि रक्तपित्तमधिकं पाकमारभते, तच्चेह दोषस्थिरत्वात् सदा सदृशदोषत्वात् ग्रथितत्वाच्च न पाकारम्भकम्, । अन्ये तु दोषस्थिरत्वादिति दोषोच्छ्वायरूपशोथकाठिन्यादित्याहुः; तदप्रयोजनकम्, अन्यत्र दोषोच्छ्वायशोथकाठिन्येऽपि पाकदर्शनात् । अथ कुतो यथोक्तहेतुसंपदित्याह—निसर्गतस्त्विति ।—निसर्गतो व्याधिस्वभावात् । भोजेऽप्युक्तम्,—“न पच्यते स्थिरत्वाच्च ग्रथितत्वात् स्वभावतः”—इति ॥ २६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां गलगण्ड-गण्डमाला-अप-

चीग्रन्थर्बुद-निदानं समाप्तम् ।

आ०--अर्बुदानां पाकाभावे हेतुमाह--नेत्वादि । सर्वार्बुदानि पित्तरक्तजान्यपि न पाकमायान्ति, कुत इत्याह--कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च । ननु, अपच्यामपि कफमेदसी अधिके, अथ च तस्याः पाकः कालतोऽस्येवेत्याह--दोषस्थिरत्वादिति कालान्तरेण हि रक्तपित्तमधिकं पाकमारभते । ननु, इह दोषस्थिरत्वात् सदृशदोषत्वात् ग्रन्थितत्वाच्च न पाकारम्भकत्वम्, अथ कुतो यथोक्तहेतुसंपदित्याह--निसर्गतस्त्विति । निसर्गतो व्याधिरस्वभावात् । भोजेऽप्युक्तम्--“न पच्यते स्थिरत्वाच्च ग्रथितत्वात्स्वभावतः”-इति । तेषामर्बुदानामिति ॥ २६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यभिरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

गलगण्ड-गण्डमाला--ऽपची-ग्रन्थ्यर्बुद-निदानम् ॥

अथ श्लीपदनिदानम् ।

(Elephantiasis)

अथ श्लीपदरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

उत्सेधसाधर्म्यादर्बुदेन सह कफसंबन्धाव्यभिचारसाम्याच्चाथ श्लीपदनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह--

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथोनृणां पादगतः क्रमेण ।  
तच्छ्लीपदं स्यात् कर-कर्ण-नेत्र-शिश्नौष्ठ-नासास्वपि केचिदाहुः १

म०--य इत्यादि । वङ्क्षणावस्थानमेवास्य पूर्वरूपम् । क्रमेणेति शनैः शनैः । तच्छ्लीपदं स्यादित्यनेन निरुपाधिरेवेयं संज्ञेति दर्शयति, अन्ये शिलावत् पदं श्लीपदमिति वदन्ति, नैरुक्त्येन च विधिना साधुत्वम् । करकर्णादिगतश्लीपदानां यथोक्तसंप्राप्त्यभावात् केचिदाहुरिति परमतेनोक्तिः ॥ १ ॥

आ०--उत्सेधसाधर्म्यादर्बुदेन सह कफसंबन्धाव्यभिचारसाधर्म्याच्च श्लीपदनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह--य इत्यादि । वङ्क्षणावस्थानमेवास्य पूर्वरूपम् । क्रमेणेति शनैः । वङ्क्षणमूरुमेदू सन्धिः, वङ्क्षणस्थः श्वयथुः भृशार्तिसहितश्चरणं गच्छतीत्यर्थः, तत् श्लीपदं स्यादित्यनेन पारिभाषिकी निरुपाधिरेवेयं संज्ञेति । अन्ये शिलावत् पदं श्लीपदमिति वदन्ति । केचिदाहुरिति परमतेनोक्तिः ॥ १ ॥

अथ वातजश्लीपदस्य लक्षणम् ।

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम् ।

अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ २ ॥

आ०--वातजमाह--अनिमित्तमित्यादि । अकारणेनैवं पीडा । बहुशो वारंवारं ज्वरः, श्वेद सुगमम् ॥ २ ॥



अथ पित्तजश्लिपदस्य लक्षणम् ।

पित्तजं पीतसंकाशं दाह-ज्वर-युतं मृदु ।

आ०—पित्तजमाह—पीतसंकाशं=पीतावभासं,=मृदु=मृदुस्पर्शम् ॥

अथ कफजश्लिपदस्य लक्षणम् ।

श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ३ ॥

आ०—श्लैष्मजमाह—स्निग्धवर्णमिति । स्निग्धवद्वर्णो यस्य, चिक्रणमित्यर्थः । पाण्डु=पीतश्वेतम् ३

अथैषामसाध्यत्वम् ।

एषामसाध्यतामाह—

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते ।

अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥ ४ ॥

म०—वल्मीकमिवेत्यादि । संजातं प्रवृद्धं सत् वल्मीकवद्बहुशिखराकारं ग्रन्थिभिरुपचितं यद्भवति तदसाध्यम् । अन्ये तु पुनरमुं ग्रन्थिं कफजल-क्षणत्वेन वर्णयन्ति; तत्र मनो धिनोति, सुश्रुते वल्मीकवज्जातस्यासाध्य-त्वेनाभिधानात् । तद्यथा,—“तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकमिव संजातं संप्रसृतमिति वर्जनीयानि भवन्ति” ( सु. नि. स्था. अ. १२ )—इति । अब्दात्मकमित्यादि ।—अब्दात्मकं=संवत्सरातीतम्, अब्दमेकमिति पाठे तु ‘अतिक्रान्तम्’ इति शेषः । महादिति अत्यन्तमुच्छूनम् । वर्जनीयं विशेषत इति प्रत्याख्येयम् ॥ ४ ॥

आ०—एषामसाध्यतामाह—वल्मीकमित्यादि । वल्मीकवद्बहुशिखराकारग्रन्थिभिरुपचितं यद्भवति तदसाध्यम् । अन्ये पुनरमुं ग्रन्थिं कफजलक्षणत्वेन वर्णयन्ति; तत्र मनो धिनोति, सुश्रुते वल्मीकवज्जातस्यासाध्यत्वेनाभिधानात् । तद्यथा,—“तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकवज्जातं संप्रसृतमिति वर्जनीयानि भवन्ति”—इति सर्वात्मकं=त्रिदोषजम् । अन्ये अब्दात्मकमिति पठन्ति, तत्रातिक्रान्त-वत्सरमित्यर्थः । महत्=अत्यन्तमुच्छूनम् । वर्जनीयं विशेषत इति प्रत्याख्येयम् ॥ ४ ॥

अथ श्लिपदेषु कफस्य प्राधान्यम् ।

श्लिपदेषु कफस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—

त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लिपदानि कफोच्छ्रयात् ।

गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना ॥ ५ ॥

म०—त्रीण्यप्येतानीत्यादि । ननु, यद्यव्यभिचारी सर्वत्र कफः कथं तर्हि एकदोषजत्वव्यपदेशः, सर्वस्य द्विदोषजत्वप्रसङ्गात् ? उच्यते, अनुबन्धोऽत्र कफः, न त्वनुबन्धः, एतेनात्र न द्विदोषजप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

आ०—श्लोपदेषु कफस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—त्रीणीत्यादि । त्रीणि त्राताजादीनि यतो गुरुत्वं च श्लेष्मणा विना न स्यात् । ननु, यद्येवं तर्हि कथमेकदोषजव्यपदेशः, सर्वस्य द्विदोषजत्वप्रसङ्गात्, उच्यते—कफोऽत्रानुबन्धरूपः, न त्वनुबन्धः । तेन, न द्विदोषजत्वप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अथ श्लोपदरोगस्योत्पत्तौ देशविशेषाः ।

श्लोपदसंभवहेतुं देशमाह—

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वतुषु च शीतलाः ।

ये देशास्तेषु जायन्ते श्लोपदानि विशेषतः ॥ ६ ॥

म०—पुराणोदकेत्यादि । अनूपदेशे हि सलिलं पतितं बहूदकं निम्नतया न शोषमुपयाति; जाङ्गले तु आग्नेयोन्नतभूभागत्वात् न पुराणोदकभूयिष्ठता । स्तिमितस्यानूपस्य मन्दातपत्वेनोष्णतावपि शीततेत्यत उक्तं—सर्वतुषु च शीतला इति । करकर्णादिगतश्लोपदसंदेहे कोपद्वारेण ज्वरेण श्लोपदावधारणं करणीयम् ॥ ६ ॥

आ०—श्लोपदसंभवे हेतुनिर्देशमाह—पुराणोदकेत्यादि । पुराणोदकभूयिष्ठा इति अनूपदेशे सलिलं पतितं बहूदकं निम्नभूभागतया न शोषमुपयाति, अतोऽनूपदेशस्य पुराणोदकभूयिष्ठता, जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागतया सलिलं पतितं न तिष्ठति । स्थितमपि रूक्षोष्णशुष्कदेशस्य शोषमुपयाति, इति जाङ्गलदेशस्य न पुराणोदकभूयिष्ठता । सर्वेष्वपि ऋतुषु शीतला ये देशाः हिमवत्प्रदेशाः ॥ ६ ॥

अथ श्लोपदरोगस्य पुनरप्यसाध्यलक्षणम् ।

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य ।

सास्त्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने श्लोपदनिदानं समाप्तम् ।

म०—यदित्यादि । अत्युन्नतसर्वलिङ्गमिति येषां दोषेणारब्धं श्लोपदं तस्यात्युन्नतानि=अतिवृद्धानि सर्वाणि लिङ्गानि यत्र तत्तथा । सकण्डुरमिति अत्यन्तकण्डुमत् । श्लेष्मयुतमिति श्लेष्मानुगम् ॥ ७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां श्लोपदनिदानं समाप्तम् ।

आ०—पुनरसाध्यतामाह—यदित्यादि । श्लेष्मलाहारो=मधुरादिः, विहारो=दिवास्वप्नादिः, कफप्रकृतिकस्य सास्त्रावमास्त्रायुतम् । अत्युन्नतसर्वलिङ्गं येन दोषेणारब्धं श्लोपदं, तस्यात्युन्नतानि इमान्यतिप्रवृद्धानि सर्वाणि त्रिदोषलिङ्गानि यत्र तत्, सकण्डुरं=कण्डूयुतं, श्लेष्मयुतं श्लेष्मणोपगतम् ॥ ७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

श्लोपदनिदानम् ।

## अथ विद्रधिनिदानम् ।

(Abscess.)

अथ विद्रधिरोगस्य संप्राप्तिः ।

शोथत्वसामान्यात् विद्रधिनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह--

त्वग्-रक्त-मांस-मेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।

दोषाः शोथं शनैर्वोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ १ ॥

महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम् ।

स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः पथिधश्च सः ॥ २ ॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।

षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

(सु० नि० अ० ९)

म०-त्वग्रक्तमांसमेदांसीत्यादि । घोरमित्यन्येभ्योऽपि शोथसमुत्थानेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्य आशुकारित्वाद्धारुणम् । उच्छ्रिता भृशमिति अत्यर्थं वृद्धाः । अस्थिसमाश्रिता इत्यनेन स्थानसंश्रयोऽभिहितः । उच्छ्रिता भृशमित्यनेन प्रकोप आविष्कृतः, एतेनैवान्तरीयकतया चयप्रसरावप्याक्षितौ मन्तव्यौ । महामूल-मस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गम्भीरमूलम् । रुजावन्तमिति उत्पत्तावेव रुजाप्रकर्षवन्तं, अतिशयने मतुष । वृत्तमित्यादि । वृत्तं=वर्तुलम् । आयतं=दीर्घम् । वृत्तायताभ्यां ग्रन्थ्यादिविलक्षणता । विद्रधिरिति ख्यात इति इतिशब्देन निरुपाधिसंकेतमात्रा विद्रधिसंज्ञेति दर्शयति । चरके तु विदाहप्रकर्षाद्विद्रधिसंज्ञा । यदुक्तम्--“स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते” (च. सू. स्था. अ. १७)-इति ॥ १-३ ॥

आ०-शोथसामान्याद्विद्रधिनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह-त्वगित्वादि । घोरमन्येभ्यः शोथसमुत्थानेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्य आशुकारित्वाद्धारुणम् । उच्छ्रिता भृशमिति अत्यर्थं वृद्धाः, अस्थिसमाश्रिता इति स्थानसंश्रयोऽर्थोऽभिहितः, उच्छ्रिता भृशमित्यनेन प्रकोप आविष्कृतः । महामूलं=अस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गम्भीरमूलम् । रुजावन्तमुत्पत्तावेव रुजाप्रकर्षवन्तम् । वृत्तं वर्तुलम्, आयतं दीर्घं वृत्तत्वायतत्वाभ्यां ग्रन्थ्यादिविलक्षणता कथिता, विद्रधिरिति ख्यात इति इतिशब्देन निरुपाधिसंकेतमात्रा विद्रधिरिति संज्ञेति दर्शयति, चरके तु विदाहप्रकर्षाद्विद्रधिसंज्ञा । यदुक्तम्--“सर्वैः शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीति निरूप्यते”-इति । स षट्प्रकारः-त्रिभिर्दोषैश्चयः, सन्निपातेनैकः, क्षतेनैकः, असृजाऽप्येक इति षट् । षण्णामपि लक्षणं कथ्यते ॥ १-३ ॥

अथ वातजविद्रधेर्लक्षणानि ।

वातिकमाह—

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

म०—कृष्ण इत्यादि । विषमो भृशमिति कदाचिदल्पः कदाचिन्महान् । चित्रोत्थानप्रपाक इति चित्रौ नानाविधौ वायोर्विषमक्रियत्वादुद्भूतप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ४ ॥

आ०—वातिकविद्रधिलक्षणमाह—कृष्ण इत्यादि । विषमो भृशमिति कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, भृशमतिशयेन । चित्रोत्थानप्रपाक इति चित्रौ नानाविधौ वायोर्विषमक्रियत्वादुद्भूतप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ४ ॥

अथ पित्तजविद्रधेर्लक्षणानि ।

पैत्तिकमाह—

पक्वोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

म० पक्वेत्यादि । ज्वरदाहावुत्थानकाल एव, पाककाले तु प्रकर्षवन्तौ ताविति विशेषः ॥ ५ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—पक्वेत्यादि । पक्वोदुम्बरसदृशः, श्यावः=श्यामवर्णः, ज्वरदाहौ उत्थानकाल एव त्वातां, पाककाले तु तावेव प्रकर्षवन्तौ, क्षिप्रमुत्थानप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ५ ॥

अथ कफजविद्रधेर्लक्षणानि ।

कफजमाह—

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।

चिरमुत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः ॥ ६ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

म० शरावेत्यादि । शरावसदृश इति महत्त्वसूचनपरम् ॥ ६ ॥

आ०—श्लेष्मजमाह—शरावेत्यादि । शरावसदृश इति महत्त्वसूचनपरम् । चिरमुत्थानप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ६ ॥

अथ पाकानन्तरं सञ्जातास्त्रावस्य लक्षणम् ।

पाकानन्तरं संभूतास्त्रावलिङ्गमाह—

तनु-पीत-सिताश्चैषामास्त्रावाः क्रमशः स्मृताः ।

( सु० नि० अ० ९ )

म० तनुपीतसिताश्चैषामित्यादि । क्रमश इति यथाक्रमं; तेन वातेन तनुः, पित्तेन पीतः, कफेन सितः; तनुस्त्रावे वातानुरूपो वर्णो ज्ञेयः ॥—

आ०--तेषां दोषभेदेन स्त्रावानाह--वन्वित्यादि । क्रमश इति क्रमेण--वातेन तनुः, पित्तेन पीतः, क्लेष्मणा सितः; तनुस्त्रोव वातानुरूपो वर्णो ज्ञेयः ॥

अथ सान्निपातिकविद्रधेर्लक्षणानि ।

सान्निपातजमाह—

नाना-वर्ण-रुजा-स्त्रावो घाटालो विषमो महान् ॥ ७ ॥

विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः ।

( सु० नि० अ० ९ )

म० नानेत्यादि । नानावर्णरुजास्त्राव इति नानाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नाना बहुविधा वर्णाः कृष्ण-पीत-शुक्ल-वर्णाः, रुजाः तोद-दाह-कण्डादिकाः, तनु-पीत-सिता आस्त्रावाश्च यस्य स तथा । अन्यत्र शोथे पाककाले नानारुजा, अत्र तु सर्वदा । घाटाल इति घाटा अस्यास्ति स घाटाल इति मत्वर्थीयो लच्, अत्युच्छ्रिताग्रत्वेन घाटाल इव । विषमोऽसाध्यत्वात् । विषमं पच्यत इति चि-राचिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा भवति तथा पच्यत इति । विषमम्=असमम् । ननु, विषमपाकित्वं वातिके विद्रधावुक्तं, तथाऽनुपक्रान्ते च शोथे, यथा--“योऽभ्युत्थितोऽल्पो यदि वा महान् स्यात् क्रियां विना पाकमुपैति शोथः । विशालमूलो विषमो विदग्धः स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः॥” (सु. सू. स्था. अ. १७)—इति; अतः संशये कथं मिथो भेदप्रतीतिः ? उच्यते, वातिके अप्रतीकारेणैव विषमपाकित्वम्, इह पुनः प्रतीकारोऽपि वैषम्यं; वातिके तु पाक-मात्रवैषम्यं, न तु गाम्भीर्यादिना, अतो वातिकः साध्यः ॥ ७ ॥—

आ०--सान्निपातिकमाह--नानेत्यादि । नाना बहुविधाः कृष्णपीतशुक्ल वर्णाः, तोददाहकण्डा-दिरुजाः, तनुपीतसिताः स्त्रावा यस्य स तथा । अन्यत्र शोथे पाककाले नाना रुजाः, अत्र तु सर्वदा । घाटाल इति घाटा अस्यास्तीति घाटालः, मत्वर्थीयो लच्, अत्युच्छ्रिताकृतित्वेन घाटाल इव । विष-मोऽसाध्यत्वात् विषमं पच्यत इति चिराचिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा भवति तथा पच्यते७

अथाभिघातजविद्रधेर्लक्षणानि ।

अभिघातजस्यागन्तोः संप्राप्तिमाह—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥ ८ ॥

क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ ९ ॥

आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—तैस्तैरित्यादि । तैस्तैरिति काष्ठ-लोष्ठ-पाषाणादिभिः, अभिहत इति अलुतरक्तस्य मथित-पिच्छितादेरुपलक्षणं, क्षत इति सुतरक्तस्य छिन्नभिन्नादेः; द्वयोरभिहतयोरपथ्यकारिण इति विशेषणम् । क्षतोष्मेति क्षतशब्दस्य हिंसा-मात्रपरिग्रहात् क्षताभिहतयोरप्यूष्मा क्षतोष्मशब्देनोच्यते । वायुविसृत इति क्षते रक्तक्षयात् अभिहते अभिघातादेव वातकोपः, कुपितेन वातेन हेतुभूतेन विसृतः प्रसृतो वायुविसृतः । यद्यप्ययं वात-पित्त-रक्तजस्तथाऽपि प्रागभिघातसंभव-त्वेनागन्तुः, वात-पित्त-रक्तजानां जनकत्वेनैव विलक्षणाऽस्य संप्राप्तिः । पित्त-विद्रधिलक्षण इति अत्रोक्तज्वरादिव्यतिरिक्तसंस्थानवर्णवेदनादिपित्तविद्रधिलिङ्गयुक्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—अभिघातजस्यागन्तोर्विद्रधेः संप्राप्तिमाह—तैस्तैरित्यादि ।—काष्ठलगुडपाषाणादिभिः, अभि-हत इति अलुतरक्तस्य मथितपिच्छितादेरुपलक्षणम् । द्वयोरभिहतक्षतयोरपथ्यकारिण इति योज्यम् । क्षतोष्मेत्यादि क्षतस्य हिंसात्वमात्रपरिग्रहात् क्षताभिहतयोरप्यूष्मा क्षतोष्मशब्देनोच्यते । वायुविसृत इत्यादि । वातेन विस्तारितः क्षतेन रक्तक्षयात्, अभिहते अभिघातादेव वातकोपः, कुपितेन वातेन हेतुभूतेन विसृतः प्रसृतः रक्तं पित्तम् ईरयेत् कोपयेत् । यद्यप्ययं वातपित्तरक्तजस्तथाऽपि प्रागभिघात-सम्भवत्वेनागन्तुः । पित्तविद्रधिलक्षण इति अत्र ज्वरदाहव्यतिरिक्तसंस्थानवर्णवेदनादिपित्तलक्षण इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ रक्तजविद्रधेर्लक्षणानि ।

रक्तजमाह—

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्र-दाह-रूजाकरः ॥ १० ॥

पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—कृष्णेत्यादि । पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन लब्धावपि दाहज्वरौ तीव्र-दाविशेषार्थमुक्तौ । श्याव इति पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन प्रसक्तस्य पकोदुम्बरसं-

काशस्यापवादः । भोजनप्रभृतयस्तु धातुरक्तजं विद्रधिं परित्यज्य मक्कल-  
संज्ञयाऽऽर्तवलक्षणरक्तजं पठन्ति । तेषां मते आर्तवजेन सह षड्विद्रधयः, सुश्रुते  
तु धातुरक्तजोऽपि तथा मक्कलसंज्ञकोऽपि विद्रधिः सामान्येन रक्तज एवेति षड्वि-  
द्रधय इति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥—

आ०—रक्तजविद्रधिमाह—कृष्णेत्यादि । कृष्णः=कृष्णवर्णः, स्फोटावृतः=पिडकायुक्तः,  
श्यावः=श्याववर्णः, अन्ये 'कृष्णस्फोटावृतः' इति पठन्ति, तत्र कृष्णैः स्फोटैरावृतः  
पित्तविद्रधिलक्षणनिर्देशेन यद्यपि दाहज्वरौ लब्धौ, तथाऽप्यत्रातिदाहज्वरख्यापनार्थमुक्तम् । भोज-  
नप्रभृतयस्तु धातुरक्तजं विद्रधिं परित्यज्य मक्कलसंज्ञमार्तवलक्षणरक्तजं पठन्ति । तेषां मते आर्तवजेन  
सह षड्विद्रधयः । सुश्रुते तु धातुरक्तजोऽपि तथा मक्कलजोऽपि विद्रधिः सामान्येन रक्तज एवेति  
षड्विद्रधय इति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥—

अथान्तर्विद्रधेर्लक्षणानि ।

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं साध्यतामसाध्यतां च प्रतिपादयितुमाभ्यन्तर-  
विद्रधिमाह—

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥ ११ ॥

वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।

गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्गयोस्तथा ॥ १२ ॥

वृक्कयोः प्लीहि यकृति हृदि वा क्लोन्नि वाऽप्यथ ।

तषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १३ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ।

गुदे वातनिरोधश्च बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ १४ ॥

नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ।

कटी-पृष्ठ-ग्रहस्तीव्रो वङ्गणोत्थे तु विद्रधौ ॥ १५ ॥

वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीहयुच्छ्वासावरोधनम् ।

सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते ।

श्वासो यकृति हिक्का च क्लोन्नि पेपीयत पयः ॥ १६ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

म०—पृथगित्यादि । इयमधिकविधानार्थमुक्ताऽपि संप्राप्तिर्विद्रधेः पुनरुच्यते ।  
आभ्यन्तरस्य रक्तजस्य तथाऽऽगन्तोश्च विद्रधेर्दोषेण व्यपदेशादियमेव तत्रापि



संप्राप्तिर्ज्ञेयेति कश्चित् । बाह्यागन्तुवदाभ्यन्तरागन्तुसंप्राप्तिरित्यर्थः । क्षतजस्याभ्यन्तराभावान्न निर्दिष्टः क्षतज इति तु जेज्जटः । गुल्मरूपिणमिति गुल्मवत्संहतम् । एतदाभ्यन्तरविद्रधीनां सामान्यरूपं, विशेषलक्षणं तु बाह्यविद्रधिलक्षणैरेव ज्ञेयम् । वल्मीकवत् समुन्नद्धं=समन्तादुन्नतम्, एतदपि पच्यमानावस्थायां सर्वेषां समानम् । वस्तिमुख इति वस्तिमुख एव, विद्रध्याधारभूतमांसादिसंभवात्; न वस्तौ, तस्य तनुत्वात् । आटोपो=रुजापूर्वकक्षोभः । मारुतकोपनामिति मार्गावरोधादयोः कोपः । वृक्कयोरिति वृक्कमग्रमांसम् । सर्वाङ्गप्रग्रहः=प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वसिराधिष्ठानत्वात् हृदयस्य । क्लोम्नीति क्लोम=वृक्कादूर्ध्वपिपासास्थानम् । पेपीयते पय इति पुनः पुनर्जलं पातुमिच्छतीत्यर्थः ॥ ११-१६ ॥

आ०--अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं साध्यासाध्यतां च शपयितुमन्तर्विद्रधीनाह—पृथगित्यादि । दोषा=वातादयः पृथग्=भिन्नाः, संभूय=मिलित्वा वा, अन्तर्मध्ये, गुल्मरूपिणं गुल्मवत्संहतं, वल्मीकवत्समुन्नतं, वल्मीकं=भूमौ कृमिविशेषैः कृतं, तद्वत्समन्तादुन्नतम् । स्थानसंश्रयमाह—गुद इत्यादि । वस्तिमुख इति वस्तिमुखाश्रितमांसादौ; न च वस्तौ तनुत्वात्, कुक्षौ=पार्श्वयोरधोभागे, वङ्क्षणयोः=ऊरुमेढ्रसंधयोः । वृक्कौ=मांसपिण्डद्वयम्, एको वामपार्श्वे स्थितः, द्वितीयो दक्षिणपार्श्वे स्थितः, प्लीहा=उदरस्य वामपार्श्वे स्थितः, यकृतं=कालखण्डं दक्षिणपार्श्वस्थं, हृदयं=कमलमुकुलाकारमधोमुखं, क्लोम=कालखण्डाधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकं प्रसिद्धम् । तेषामाभ्यन्तराणां विद्रधीनां लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैरुक्तानि । प्रत्येकं स्थानसंश्रयत्वेन रूपमाह—गुद इत्यादि । गुदेनार्ते विद्रधौ वातनिरोधो भवति, तथा वस्तौ कृच्छ्रमूत्रता अल्पमूत्रता च । ताभ्यां हिक्का तथा आटोपो=रुजापूर्वकः क्षोभः, कुक्षौ मारुतकोपनामिति मार्गरोधात् वायोः प्रकोपः, वङ्क्षणोत्थे विद्रधौ तीव्रः कटीपृष्ठग्रहो भवति । वृक्कयोरित्यादि । वृक्कमग्रमांसं, पार्श्वसंकोचः=पार्श्वोत्पाटनमिव, प्लीहि उच्छ्वासावरोधनं भवति । तथा हृदीति हृदयोत्थे विद्रधौ सर्वाङ्गप्रग्रहादय उपद्रवा भवन्तीत्यर्थः । तीव्रो=दुःसहः, सर्वेषामङ्गानां प्रकर्षेण ग्रहणमिव सर्वाङ्गप्रग्रहः=प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वाधिष्ठानत्वात् हृदयस्य, यकृति जाते विद्रधौ उवासस्तथा हिक्का च भवति । क्लोम्नीत्यादि । वृक्कादूर्ध्वं पिपासास्थानं क्लोम, पेपीयते पय इति पुनः पुनर्जलं पातुमिच्छति ११-१६.

अथ विद्रधीनां सावमार्गाः ।

सावनिर्गममार्गमाह—

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूध्वमितरे त्वधः ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०--नाभेरित्यादि । उपरिजा=वृक्कप्लीहादिजाः । यान्ति=स्रवन्ति । नाभिजस्तूभयमार्गस्त्रावी, ऊर्ध्वाधःसावश्च तथागतित्वात् वातस्य । यदाह हारीतः-

“ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नराणां प्रवर्ततेऽसृक्कसहितोऽपि पूयः । अधः प्रभिन्नेषु च पायुमार्गात्, द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु”-इति । इतर इति नाभिवस्ति-वङ्क्षणजाः ॥-

आ०-स्त्रावनिर्गममाह--नाभेरित्यादि । उपरिजाताः वृक्क्रीहादिजाः पक्वाः सन्त ऊर्ध्वं यान्ति स्रवन्ति, नाभिजस्तूभयमार्गस्त्रावी, ऊर्ध्वाधःस्त्रावश्च तथागतित्वाद्वातस्य । तथा च हारीतः-“ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नराणां प्रवर्ततेऽसृक्कसहितश्च पूयः । अधः प्रभिन्नेषु तु पायुमार्गाद्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु”-इति ॥-

अथ विद्रधीनां साध्यासाध्यत्वम् ।

साध्यत्वादिकमाह-

अधःस्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ १७ ॥  
हन्-नाभि-वस्ति-वज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।  
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ १८ ॥  
( सु० नि० अ० ९ )

साध्या विद्रधयः पञ्च विवज्यः सान्निपातिकः ।  
आम-पक्क-विद्रग्ध-त्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥ १९ ॥  
( वा० नि० अ० ११ )

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दि-हिक्का-तृषाऽ-न्वितम् ।  
रुजा-श्वास-समायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ २० ॥  
( सु० सू० अ० ३३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विद्रधिनिदानं समाप्तम् ।

म०-अध इत्यादि । अधःस्रुतेष्विति स्वयमेव । यदा नाभ्यादिजा भिन्ना अधः स्रवन्ति तदा जीवति । स्रुतेषूर्ध्वं न जीवतीति ऊर्ध्वं पूयस्यासम्यङ्निर्गमान्न जीवनम् । हन्नाभिवस्तिवज्या इति ग्रीहक्कोमादिजाः । भिन्नेषु बाह्यत इति वैद्य-व्यापारेण भिन्नेषु । अन्ये मर्माद्याशयजेषु स्वयमेव भिन्नेष्विति व्याचक्षते, अन्तर्भिन्नेष्वप्यधःस्त्राविषु जीवनोक्तेः । नेतरेष्विति हन्नाभिवस्तिजेषु भिन्नेषु तेषां मर्मत्वात् बाह्या आभ्यन्तरा वा वज्याः । कदाचनेति पाके अपाके वा । तथा च भोजः-“असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः

सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु वस्तिजः ॥ त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो  
मर्मसमीपजः । अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरि नाभिजः”-इति ।  
अत्र मर्मजशब्देन हृदयनाभिजावुच्येते । वद्वनिष्यन्दमिति वद्वसूत्रम् ।  
एतद्वस्तिजे प्रायः ॥ १७-२० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विव्रधिनिदानं समाप्तम् ।

आ०-सावविषयसाध्यासाध्यत्वमाह---हृदित्यादि । भिन्नेषु बाह्यत इति वैद्यव्यापारेण  
भिन्नेषु कदाचिदैववशात् पुरुषो जीवेत् । अन्ये मर्माद्याशयजेषु स्वयमेव भिन्नेष्विति व्याचक्षते ।  
अन्तर्भिन्नेष्वप्यधःकाविषु जीवन्तोक्तेः । नेतरेष्विति तद्वन्नाभिवस्तिजेषु भिन्नेषु, तेषां मर्मत्वात् बाह्या  
आभ्यन्तरा वा वर्ज्याः । कदाचनेति पाके अपाके च । तथा च भोजः-“असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः  
पक्वोऽपक्वश्च विव्रधिः । सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु वस्तिजः ॥ त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो  
मर्मसमीपजः । अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः॥”-इति । अत्र मर्मशब्देन हृदयनाभिजावु-  
च्येते । साध्यासाध्यत्वमाह-पञ्च इति । वातिकपैत्तिककृमिपिकागन्तुरक्तजा इति । अयं बाह्येषु  
विषयः त्रिदोषजस्त्वसाध्यः । तेषां विव्रधीनामाभ्यन्तरेष्वसाध्यत्वमाह-आध्यातामित्यादि ।  
वद्वनिष्यन्दं=वद्वसूत्रम्, एतद्वस्तिजे प्रायः । शेषं सुगमम् । अत्र केचित्तन्त्रान्तरोक्तं स्तनविव्रधिल-  
क्षणं पठन्ति, तद्यथा-“एवमेव स्तनसिरा विकृताः प्राप्य योषिताम् । सूतानां गर्भिणीनां च  
संभवेच्छ्रुयथुर्वनः॥स्तने सदुग्धे चाप्तासृग्वाह्यविव्रधिलक्षणः । नाडीनां सूक्ष्मरन्ध्रत्वात्स कन्यानां  
न जायते ॥ १७-२० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां साधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
विव्रधिनिदानम् ॥

अथ व्रणशोधनिदानम् ।

(Inflammation of wound)

अथ व्रणशोधस्य लक्षणम् ।

प्रायेण चिकित्सासाधक्यात् भाविव्रणत्वसंबन्धतुल्यत्वाच्च व्रणशोध-  
निदानमाह—

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।

षड्विधः स्यात् पृथक्-सर्व-रक्ता-ऽऽगन्तु-निमित्त-जः ॥१॥

शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः ।

विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥ २ ॥

म०-एकदेशोत्थित इत्यादि । षड्विध इति संख्याकथनं द्वन्द्वजनिषे-  
धार्थम् । प्रागुक्तैरिति आमपकैषणीयोक्तैः, तत्र हि “वातश्चयथुररुणः कृष्णो

वा परुषो मृदुरनवस्थितः” ( सु. सू. अ. १७. )—इत्यादिना षट् शोथ-  
लक्षणान्युक्तानि । विशेषः कथ्यते चैषामीति तत्रानुक्तो विशेषः कथ्यत इत्यर्थः ।  
पक्वापक्वादिनिश्चय इति अत्रादिशब्देन पच्यमानस्य परिग्रहः ॥ १ ॥ २ ॥

आ०—व्रणचिकित्सासामान्याद्वाविप्रणत्वसंबन्धतुल्यत्वाच्च व्रणशोथनिदानारम्भः । तेषां  
प्राग्रूपेण संख्यामाह—एकेत्यादि । एकदेशे शोथः एतद्व्रणपूर्वरूपम् , स च षड्विधः—त्रिभिर्दो-  
षैस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, रक्तेनैकः, अन्य आगन्तुकः अभिघातजः, एवं षट् । षड्विधः इति  
संख्याकथनं द्वन्द्वजनिषेधार्थम् । तेषां लक्षणनिर्देशं दर्शयन्नाह—प्रागुक्तैरिति । शोथनिदानोक्तैश्च,  
‘रसस्तनुत्वक्परुषारुणादिकैः’ इत्यादि । सांप्रतं पक्वापक्वादिनिश्चय इत्यत्रादिशब्देन  
पच्यमानावस्थायाः ॥ १ ॥ २ ॥

अथ व्रणशोथस्य वातादिभेदेन विशेषलक्षणानि ।

वातादिभेदेन विशेषलक्षणमाह—

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।

कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

म०—विषममित्यादि । पित्तवदिति पित्तशोथवदचिरं पच्यते ॥ ३ ॥

आ०—तमेव विशेषमाह—विषममित्यादि । श्वयथोरेकदेशे अर्धे वा, पित्तोत्थोऽचिरं शीघ्रं,  
कफजश्चिरं चिरकालं, रक्तागन्तुजयोः पित्तवत् पित्तशोफवदचिरं पच्यते ॥ ३ ॥

अथामव्रणशोथस्य लक्षणानि ।

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।

मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ ४ ॥

आ०—आमशोथलक्षणमाह—मन्देति । मन्दोष्मता=ईषदुष्णता, त्वक्सवर्णता=त्वक्सदृश एव  
वर्णः ॥ ४ ॥

अथ पच्यमानव्रणशोथस्य लक्षणानि ।

पच्यमानलक्षणमाह—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।

पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥

भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।

पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥

सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।

आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥ ७ ॥

न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत् ।

ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

म०--दह्यत इत्यादि । पच्यमानशोथे पित्तलिङ्गान्येव भूयसा भवन्ति, विदाहस्य पित्तप्रकोपजत्वात्; विदाहश्चात्र दोषादीनामेव । तेन ज्वर-तृष्णा-  
ऽरुच्यादयोऽत्र पित्तलिङ्गानि । छिद्यत इति द्विधा क्रियत इव । भिद्यत इति  
। विदार्यते । सोषाचोष इति उषा=दाहः, चोषः=पार्श्वस्थाग्निसंतापवद्व्यथा, ताभ्यां  
सह वर्तते यः स तथा ॥ ५-८ ॥

आ०--व्रणशोफस्य पच्यमानावस्थामाह--दह्यत इत्यादि । पच्यमानशोफे पित्तलिङ्गान्येव  
भूयसा भवन्ति, विदाहः पित्तप्रकोपात्, ज्वरतृष्णारुच्यादयोऽपि पित्तलिङ्गानि, अग्निना  
दह्यत इव, क्षारेण पच्यत इव, पिपीलिकाभिर्दृश्यत इव, छिद्यते द्विधाक्रियत इव, शस्त्रेण  
भिद्यत इव, दण्डेन ताड्यत इव, अन्तर्मध्ये, हस्तेन पीड्यत इव, सूचीभिर्विध्यत इव ।  
उषा=एकदेशिको दाहः, चोषः=पार्श्वस्थिताग्निसंतापवद्व्यथा, ताभ्यां सह वर्तते यः स तथा,  
विवर्णः=म्लानः, अङ्गुल्या इवावघट्यते चाल्यते । आसने तथा शयने तथा स्थाने ऊर्ध्व-  
भवन् वृश्चिकविद्धवत् शान्तिं न गच्छेत् । आध्मातवस्तिवत् वायुपूर्णवस्त्याख्यमूत्रकोशवत्,  
ज्वरयथुः सततो भवति, त्वक्स्कोचरहित इत्यर्थः । ज्वरतृष्णादयश्चोषद्वया भवन्ति पच्यमा-  
नव्रणशोफे ॥ ५-८ ॥

अथ परिपक्वव्रणशोथस्य लक्षणानि ।

पक्वलक्षणमाह—

वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।

प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।

वस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥

पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।

भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥ ११ ॥

म०--वेदनोपशम इत्यादि । दाहादिवेदनोपशान्तिः, विदाहोपशमेन पित्त-  
स्याबलवत्त्वात् । तोदः कण्डूश्चात्र वातकफलिङ्गम् । प्रादुर्भावो वलीनामिति  
मांसशैथिल्याद्वलीसंभवः । उपद्रवाणां प्रशम इति पित्तकोपजनिता उषा-

चोष-तृष्णा-ऽरुच्यादयो रोगा एव उपद्रवास्तेषां प्रशमः । निम्नता स्वरूपतः, अङ्गुलिपीडनाद्वा । स्फुटनं त्वचाभिति किञ्चित्त्वगवदरणम् । वस्ताविवेत्यादि । वस्तिश्चर्मपुटकं, पूयस्येत्यत्र 'संचार' इति शेषः । अयमर्थः—वस्तौ यथा-ऽम्बुसंचारस्तथा शोथेऽङ्गुलिपीडिते सति पूयस्य संचारः । पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडित इति एकमन्तं देशम् अन्ते अवयवे पीडिते पीडयति अवगाहते, 'पूय' इति शेषः ॥ ९-११ ॥

आ०—पकावस्थस्य शोफस्य लक्षणमाह—वेदनोपशम इत्यादि । विदाहोपशमेन पित्तस्याबलत्वात् । अलोहितः पाण्डुः धूसरो वा, यदुक्तं सुश्रुते—“पाण्डुताऽल्पशोथता” इति । प्रादुर्भावो वलीनामिति मांसशैथिल्याद्वलीभूतमिव इति । तोदः कण्डूश्चात्र वातकफलिङ्गम् । उपद्रवाणामित्यादि । पित्तकोपजनिता उपाचोषतृष्णारुच्यादय उपद्रवास्तेषामुपशमः । निम्नता स्वरूपतोऽङ्गुलिनिपीडनाद्वा । स्फुटनं त्वचाभिति किञ्चित्त्वगवदरणम् । वस्ताविवेत्यादि—वस्तिश्चर्मपुटकम् । पूयस्येत्यत्र 'संचार' इति शेषः । अयमर्थः—वस्तौ यथाऽम्बुसंचारः, तथाऽङ्गुलिपीडिते शोथेऽपि पूयस्य संचारः । एकमन्तं देशम्, अन्ते अवयवे पीडिते पीडयति अवगाहते । 'पूय' इति शेषः । भक्ताकाङ्क्षेति वेदनापगमादेव ॥ ९-११ ॥

अथ पाककाले दोषाणां सम्बन्धः ।

एकदोषारब्धेऽपि शोथे पाककाले सर्वदोषसंबन्धमाह—

नर्तेऽनिलाद् रुद्धं न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः ।  
तस्माद्धि सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथान्नय एव दोषाः ॥१२॥

( सु० सू० अ० १७ )

म०—नर्तेऽनिलाद्रुग्मित्यादि । रुग्नुजा=तोदादिरूपा । सुश्रुते—“त्रिभिरेतैः शोणितचतुर्थैश्च शरीरमिदं धार्यते” ( सु. सू. स्था. अ. २१ )—इति द्वितीयं दर्शनं शोणितप्राधान्याख्यापकमाश्रित्योक्तम्,—“कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य । पचत्यतः शोणितमेव पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः” ( सु. सू. स्था. अ. १७ )—इति । अत्र दर्शने पित्तं विदाहकुपितं शोणितं दूष्यं कर्मभूतं पचति; वातकफौ वशे कृत्वा=क्रोडीकृत्य, हीनार्थो वा वशेशब्दः, वातकफौ हीनौ कृत्वेत्यर्थः । शोणितं कर्तृभूतं वा, तेन पचत्यनुकूलत्वाद्विवक्षितं; पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः । गम्भीरपाके शोथे सकलामपच्यमानलक्षणानुदयादज्ञायमाने लक्षणान्तरमुक्तं सुश्रुतेन । तद्यथा—“कफजेषु खलु शोथेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदस-मस्तं पकलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति भिषङ्मोहमुपैति । यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोथता, अल्परुजता, अश्मवद्धनता च, न तत्र मोहमुपेयात्” ( सु. सू.

स्था, अ. १० )—इति । अख्यार्थः— यदा राग-दाहादि-वेदनासमुदायानन्तरं त्वक्सर्वणतादीनि भवन्ति तदा व मोहनज्ञानतादुपेयात्, त्वक्मेवेति निश्चिनुयात् । गद्वाधरेण तु त्वक्सर्वणतादीनि संशयहेतुल्लुक्तानि; यतस्तेन “गम्भीरपाकि-  
त्वादन्तः पाको बहिः पुनरत्वकसावर्ण्यं, गम्भीरपाकित्वादेव बहिः क्षीतता, कफारब्धत्वान्मन्दरुजताऽववच्च घनता”-इत्यभिधाय “शेषं पक्कलक्षणेर्जानी-  
यात्”-इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

आ०—एकदोषारब्धेऽपि दोषे पाककाले सर्वदोषसम्बन्धमाह—नेत्यादि । अनिलाद्वाताहते रुङ् न भवति, पित्तं विना पाको न भवति, कफं विना पूयो न भवति, तस्माद्धेतोः सर्वे दोषाः परिपाककाले त्रिभिरेव दोषैः पाकं गच्छन्ति । रक्तं रुजा तोदादिरूपा, शेषं लुगमम् । लुध्रते—‘त्रिभिरेतैः शोणितचतुर्थैः शरीरमिदं धार्यते’ इति द्विविधं निदर्शनं शोणितप्राधान्यख्याप-  
कमाश्रित्योक्तम् मतान्तरमाह—कालान्तरेणेत्यादि । पित्तप्रकोपप्रसरस्थानसंग्रहकालावधिना अभि-  
समन्ततो भावेनाभ्युदितं कुपितं पित्तं, पित्तमत्र दोषो ज्ञेयः, शोणितं दूष्यं, तु शब्दोऽत्र पुनरर्थे, वातकफौ वशे कृत्वा आत्मसात् कृत्वा, पाकक्रियायां पित्तस्य प्राधान्यात् । पूर्वमते कफान् पूयः, अत्र तु शोणितादिभिरिति तात्पर्यार्थः ॥ १२ ॥

अथ निःशेषानिःसृतस्य पूयस्य दोषः ।

अविनिःसृतस्य पूयस्य दोषमाह—

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य ।  
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ १३ ॥  
( सु० सू० अ० १७ )

म०—कक्षमित्यादि । कक्षं समासाद्येति कक्षं=तृणादिगहनम् ॥ १३ ॥

आ०—अनिर्हृतस्य पूयस्य दोषं दर्शयन्नाह—कक्षमित्यादि । कक्षं=तृणादीनां समूहं स्नायु-  
मूलाः सिराः, वाय्वीरितः=वायुप्रेरितः ॥ १३ ॥

अथ व्रणस्यामपकादिज्ञानाज्ञाने गुणदोषौ ।

आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक् ।  
जानीयात् स भवेद् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥ १४ ॥  
यश्छिनत्स्याममज्ञानाद् यो वा पक्वमुपेक्षते ।  
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ १५ ॥  
( सु० सू० अ० १७ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने व्रणशोधननिदानं समाप्तम् ।

म०—श्वपचाविव=चाण्डालाविव, मन्तव्यौ=ज्ञातव्यौ । शेषास्तस्करवृत्तय इति  
लोभमात्रप्रयुक्तत्वात्तस्करा इव शेषाः ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां व्रणशोधननिदानं समाप्तम् ।



आ०—आमादिलक्षणज्ञाने गुणमज्ञाने च दोषं दर्शयन्नाह—आममित्यादि । आममपक्वं, विद्वद्मानं पच्यमानं, सम्यक् पक्वं च, यो भिषक् जानीयात् स वैद्यो भवेत् आयुर्वेदवित् स्यात्, शेषा अन्ये आमादिज्ञानवर्जिताः लोभमात्रप्रयुक्तत्वात्तत्करा एव । पक्वापक्वयोश्छेदनाच्छेदनेन वैद्यदोषमाह— य इत्यादि । श्वपचश्चाण्डालः, स हि सर्वमक्षित्वात् श्वानमपि पचति । शेष सुगमम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिधानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
व्रणशोधनिदानम् ॥

अथ शारीरव्रणनिदानम् ।

(Ulcer)

अथ व्रणस्य भेदाः ।

शोथानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानमाह—

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः ।

दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥ १ ॥

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्त्रावो महारुजः ।

तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ २ ॥

तृष्णा-मोह-ज्वर-क्लेद-दाह-दुष्टचवदारणैः ।

व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रवैश्च पूतिकैः ॥ ३ ॥

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।

पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ ४ ॥

रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्,—

( च० चि० अ० १३ )

म०—द्विधेत्यादि । 'व्रण गात्रविचूर्णने'—इत्यस्माद्गात्रोर्व्रणस्य साधुत्वमुक्तम् । व्रणनिरुक्तिश्च सुश्रुतेन कृता । यथा—“वृणोति यस्माद्गृहेऽपि व्रणवास्तु न नश्यति । आदेहधारणाज्जन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते” ( सु. सू. स्था. अ. २१ ) इति । अन्य इत्यागन्तुः । आगन्तुव्रणे यद्यपि दोषस्तत्कालं तदात्वेन संचय-कोप-प्रसरण-शाली विकारकरणसमर्थः कल्पयितुं शक्यते, तथाऽपि सप्तरात्रं क्षतोष्मनिर्वापणाय मधुसर्पिरुपयोगात् शीतक्रियाविधानाच्च निजव्रणविलक्षण-चिकित्सार्थं व्यपदिश्यते ॥ १-४ ॥—

आ०—व्रणशोकानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानम् । तेषां भेदमाह—द्विधेत्यादि । ‘व्रण  
गात्रविच्छूर्णने’ इत्यस्माद्धातोः व्रणस्य निरुक्तिः । व्रणनिरुक्तिश्च सूत्रते कृता । यथा—“वृणोति  
यस्माद्ब्रूहेऽपि व्रणवास्तु न नश्यति । आदेहधारणाजन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते” —इति । शारीरागन्तु-  
भेदतो व्रणो द्विधा ज्ञेयः, तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्यः शारीरः, स च दोषैः पवन-कफ-पित्त-शोणित-  
संनिपातैः स्यात्, अन्य इत्यागन्तुः शस्त्रादिक्षतसंभवो भवति । वातिकमाह—स्तब्ध इत्यादि ।  
स्तब्धः=अचलः, तुद्यते शूलेनेव, श्यावः=शाववर्णः । पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । एतैर्लिङ्गैः पित्तकृद्-  
जानीयात् । छेद=आर्द्रता, दाहदुष्टिः=दाहवान्, अवधारणं त्वक्स्फोटनम्, पूतिकैर्दुर्गन्धैः । कफज-  
माह—बद्धित्यादि । बहुपिच्छः=भूयःपिच्छलः, स्तिमितो=निश्चलः, अल्पसंक्लेदः=ईषदाद्रः ॥१-४॥—

अथ रक्तजव्रणे दोषाणां सम्बन्धः ।

रक्तस्यैकैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह—

द्वि-त्रि-जः स्यात्तदन्वयैः ।

म०—द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरित्यादि । रक्तान्वयैः एकैकदोषैर्द्वन्द्वैश्च;  
रक्तान्वितैरेकैकदोषैर्द्विजो व्रणः, रक्तान्वितैर्द्वन्द्वत्रयैस्त्रिजः; एवं दोषत्रयेऽपि  
रक्तसंबन्ध ऊहनीयः, एवं पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति ।  
अथवाऽयमर्थः—तदन्वयैर्दोष-द्वन्द्व-त्रयान्वयैः, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजो=द्वन्द्वजो  
व्रणः, दोषत्रयान्वयेन त्रिजः=सन्निपातजः ॥—

आ०—रक्तस्यैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह—रक्त इत्यादि । रक्तव्रणा भवति, रक्तस्त्रावो वा ।  
द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति रक्तानुगैः पृथग्दोषैर्द्वन्द्वैश्च, तेन पृथग्दोषैः सरक्तैः द्विजः द्वन्द्वजैः सरक्तै-  
स्त्रिजः, एवं त्रिदोषजेऽपि रक्तः संबन्धनीयः । तद्यथा—वातजः पित्तजः, श्लेष्मजः संघातजः,  
रक्तजः, वातपित्तजः, वातश्लेष्मजः, पित्तश्लेष्मजः, एवमष्टौ, शोणितसंबन्धात् सप्त, वातशो-  
णितसंबन्धात् सप्त, पित्तशोणितजः, श्लेष्मशोणितजः, वातपित्तशोणितजः, वातश्लेष्मशोणि-  
तजः, पित्तश्लेष्मशोणितजः, सन्निपातक्षतज इति, एवं दोषाणां भेदेन पञ्चदशधा प्रसर उक्तः ।  
अथवा तदन्वयैः दोषत्रयान्वयैः, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजः द्वन्द्वजो व्रणः, दोषत्रयान्वयेन त्रिजः  
सन्निपातिको व्रण इत्यर्थः ॥—

अथ व्रणानां साध्यासाध्यत्वम् ।

साध्यत्वादिकमाह—

त्वङ्-मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥ ५ ॥

धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः ।

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥ ६ ॥

सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

( च० चि० अ० १३ )

म०—त्वगित्यादि । सुखे देश इति मर्मरहिते देहावयवे । अनुपद्रव इति  
उत्थरतृष्णाद्युपद्रवरहितः । धामत इति हिताहितज्ञस्य । काले सुखे इति

हेमन्ते शिशिरे च । अन्यतमैरिति उक्तानां गुणानां मध्ये एकतमैर्गुणैः  
॥ ५ ॥ ६ ॥—

आ०—व्रणस्य सुखसाध्यत्वमाह—त्वगित्यादि । त्वङ्मांसजः, सुखे देशे मर्मरहिते देहावयवे,  
अनुपद्रवः ज्वरतृष्णाद्युपद्रवरहितः, धीमतः अतरलबुद्धेः । सुखे काले हेमन्ते शिशिरे च । व्रणस्य कष्ट-  
साध्यत्वमाह—गुणैरित्यादि । प्रागुक्तानां गुणानां मध्ये अन्यतमैर्गुणैर्हीनः रहितः, त्वङ्मांसजा-  
दीनामित्यर्थः । स व्रणः कष्टसाध्यः । असाध्यमाह—सर्वैरित्यादि । सर्वैस्त्वङ्मासांसजादिकैर्गुणैः  
रहितः, निरुपक्रमः अनुपक्रान्तः ॥ ५ ॥ ६ ॥—

अथ दुष्टव्रणस्य लक्षणम् ।

दुष्टव्रणलिङ्गमाह—

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्साव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥ ७ ॥  
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः ।

( च० चि० अ० १३ )

म०—पूतिरित्यादि । पूयातिदुष्टासृक्सावीति पूययुक्तमतिदुष्टं रक्तं सततं  
स्रवतीत्यर्थः । उत्सङ्गी=कोटरवान् । चिरस्थितिरित्यनेन बहुलदोषसंबन्धं  
दर्शयति । तथा चोक्तम्—“अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः व्रणाः प्रदूष्यन्ति,  
वृद्धत्वादोषाणाम्” (सु. सू. स्था. अ. २२)—इति । दुष्टव्रण इत्यत्र ‘परिभावित’  
इति शेषः । अतिगन्धादिरिति । आदिशब्देन वर्ण-साव-वेदना-ऽऽकृतयो गृहीताः,  
अतिशब्देन च विशिष्यन्ते । शुद्धलिङ्गविपर्यय इति वक्ष्यमाणशुद्धलिङ्ग-  
विपरीतः पूतिरित्यादियोगादेव । ‘पूतिपूयातिदुष्टासृक्सावि’—इति क्वचित् पाठे  
पूतिशब्दः पूयदुष्टासृग्विशेषणम् ॥ ७ ॥—

आ०—दुष्टव्रणलक्षणमाह—पूतिरित्यादि । पूतिः=शटितः, “पूतिपूयातिदुष्टासृक्सावि” इति  
क्वचित्पाठः, तत्र पूतिशब्दः पूयदुष्टासृग्विशेषणं, पूययुक्तमतिदुष्टरक्तं सततं स्रवतीत्यर्थः ।  
चिरस्थितिरित्यनेन बहुलदोषसंबन्धं दर्शयति । तथा चोक्तम्—“अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ता व्रणा वृद्धत्वा  
दोषाणां प्रदूष्यन्ति”—इति । दुष्टो व्रण इति कथितः अतिगन्धादिः, आदिशब्देन वर्णासाववेदनाकृतयो  
गृह्यन्ते । शुद्धलिङ्गविपर्यय इति वक्ष्यमाणशुद्धलक्षणविपरीतः ॥ ७ ॥—

अथ शुद्धव्रणस्य लक्षणानि ।

शुद्धव्रणलक्षणमाह—

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥ ८ ॥  
सुव्यवस्थो निरासावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः ।

( च० चि० अ० १३ )

म०—जिह्वेत्यादि । जिह्वातलाभ इति जिह्वातलवदाभा प्रभा यस्य स  
तथा, तलशब्दः स्वरूपवचनः । जिह्वातलाभशब्दश्चात्र मृदुश्लक्ष्णस्निग्ध-

शब्दैः प्रत्येकमभिसंवध्यते; तेन जिह्वातलाभो मृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धश्चेत्प्राहुः ।  
सुव्यवस्थ इति उत्सन्नोत्सङ्गित्वरहितः । निरास्त्राव इति दोषकृतस्त्रावरहितः ।  
चरके तु पठ्यते—“नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्त्रावो न चातिरक्तः । न चोत्सन्नो  
न चोत्सङ्गी शुद्धो रोग्यः परं व्रणः॥” ( च. वि. स्था. ध्य. २५ )—इति,  
तद्वर्णनादत्र निरास्त्रावत्वं दोषकृतस्त्रावहीनत्वं, विगतवेदनत्वं च वाताशुक्त-  
वेदनारहितत्वम् । व्रणस्त्रावकृतवेदनापुक्तत्वं पुनरस्त्येव । अत एव रूढलिङ्गे  
अरुजमित्युक्तम् ॥ ८ ॥—

आ०—रूढमूलक्षणमाह—जिह्वेत्यादि । जिह्वातलवदाभा प्रभा यस्य स तथा । तलशब्दः स्वरूप-  
वचनः, जिह्वातलाभशब्दश्चात्र मृदुश्लक्ष्णस्निग्धशब्दैः सह प्रत्येकमभिसंवध्यते; तेन जिह्वातलाभो मृदुः  
श्लक्ष्णः स्निग्धश्चेति प्राहुः । सुव्यवस्थ इति शोभनाकृतिः, तेन उत्सन्नोत्सङ्गित्वरहितः, किंतु सम इत्यर्थः ।  
निरास्त्राव इति दोषकृतस्त्रावहीनः । यदुक्तं चरके—“नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्त्रावो न चातिरक्तः । न  
चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोग्यः परं व्रणः॥” इति ॥ ८ ॥—

अथ रुह्यमाणव्रणस्य लक्षणानि ।

रुह्यमाणलक्षणमाह—

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥ ९ ॥

स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

( सु० सू० अ० २३ )

म०—कपोतेत्यादि । कपोतवर्णप्रतिमा इति पाण्डुधूसराः । स्थिराः=  
अदरणाः । ‘चिपिटिकावर्ण’ इति पाठान्तरे चिपिटिका=मांसचेली, तद्वर्णः॥९॥—

आ०—रोहणोन्मुखव्रणलक्षणमाह—कपोतेत्यादि । यस्य व्रणस्यान्ताः प्रान्ताः कपोतवर्ण-  
प्रतिमाः, पाण्डुधूसरा इत्यर्थः । क्लेदेन वर्जिताः । स्थिरा अचलाः कठिना इत्यर्थः । “चिपिटिका-  
वन्तः” इति पाठे चिपिटिका नांसचेली चर्मवलीति यावन्, ‘करोचडी’ इति लोके, ता दिश्यन्ते  
येषां ते चिपिटिकावन्तः ॥ ९ ॥—

अथ सम्यग्रूढस्य लक्षणानि ।

सम्यग्रूढलक्षणमाह—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥ १० ॥

त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ।

( सु० सू० अ० २३ )

म०—रूढवर्त्मानमित्यादि । रूढवर्त्मानमिति वर्त्म व्रणमार्गो व्रणवास्तु  
रूढो यस्य तम् । अन्तःपूयाभावादशूनमरुजं च । त्वक्सवर्णं त्वचा समानवर्णम् ।

समतलमिति समं तलेन जिह्वातलेन करतलेन वा, अग्रन्थिमित्यनेन उपरि उच्छ्र-  
जताया निषेधः, समतलेन त्वधोनिम्नताया निषेधः ॥ १० ॥—

आ०—रूढव्रणलक्षणमाह—रूढवर्त्मानमित्यादि । वर्त्म व्रणमार्गो व्रणवास्तु स रूढो यस्य तम्,  
अग्रन्थि ग्रन्थिरहितम्, एतेन उपरि उत्सन्नताया निषेधः । अशूनं श्वयथुरहितम्, अरुजं पीडारहितं,  
त्वक्सवर्णं त्वचा समानवर्णम् । समतलमिति समं तलेन जिह्वातलेन करतलेन वा, समतलशब्देन  
त्वधोनिम्नताया निषेधः ॥ १० ॥—

अथ व्रणानां कृच्छ्रसाध्यत्वम् ।

व्याधिविशेषेण व्रणस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ ११ ॥

व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ।

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः सवेत् ॥ १२ ॥

आगन्तुजो व्रणः सिद्ध्येन्न सिद्ध्येदोषसंभवः ।

( सु० सू० अ० २३ )

म०—कुष्ठिनामित्यादि। कुष्ठविशेषेणात्यन्तदोषदूषितरक्तादिदूष्यत्वेन सर्वदा  
दुष्टिरधिकेति कृच्छ्रसाध्यत्वम् । विषजुष्टानामिति दूषीविषार्तानाम् । शोषे मधु-  
मेहे च धातुक्षयात्, व्रणे च रक्तस्त्रावादाहारसंयमनादधिका दुष्टिः । वसां मेदो-  
ऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः सवेदिति मज्जा=अस्थिस्नेहः, मस्तुलुङ्गं=घृतिका ।  
न सिद्ध्येदोषसंभवः इति दोषैरतिदूषितानां वसादीनां स्त्रावस्य बहुव्यापत्ति-  
करत्वात् ॥ ११ ॥ १२ ॥—

आ०—व्याधिविशेषेण व्रणस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—कुष्ठिनामित्यादि । कुष्ठविशेषेणात्यन्तदोषदूषि-  
तरक्तादिदूष्यत्वेन सर्वदा दुष्टिरधिकेति कृच्छ्रत्वम् । विषजुष्टानां दूषीविषार्तानां, शोथे मधुमेहे च धातु-  
क्षयाद् व्रणे रक्तस्त्रावाच्चाहारसंयमाच्चाधिकदुष्टिः । पुनः कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—व्रसेत्यादि ।  
वसां=मांसस्नेहः, । मज्जाऽस्थिस्नेहः, मस्तुलुङ्गो=मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः, वसादीनां स्त्रावादागन्तुजे  
व्रणे कृच्छ्रत्वं वा, किंतु दोषजे व्रणेऽसाध्यत्वं, दोषैरतिशयदूषितानां वसादीनां स्त्रावस्य बहुव्यापत्ति-  
करत्वात् ॥ ११ ॥ १२ ॥—

अथ व्रणानां गन्धविशेषेणासाध्यत्वम् ।

रिष्टरूपां गन्धविकृतिमाह—

मद्यागुर्वाज्य-सुमनः-पद्म-चन्दन-चम्पकैः ॥ १३ ॥

सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

म०—मद्यागुर्वाज्येत्यादि । सुमना=जाती, सगन्धाः=समानगन्धाः, दिव्य-  
गन्धाः=अपरिकल्पिताद्भुतपारिजातादिगन्धाः ॥ १३ ॥—

आ०—रिष्टरूपां गन्धविकृतिमाह—मद्येत्यादि । मद्यं=प्रासिद्धम्, अगुरु=गन्धद्रव्यम्, आङ्गं=घृतं सुमना=जाती, पद्मं=कमलं, मद्यादिभिः समानगन्धाः ॥ १३ ॥—

अथ व्रणानामसाध्यलक्षणानि ।

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥ १४ ॥  
 दहन्ते चान्तरत्यर्थं बहिःशीताश्च ये व्रणाः ।  
 दहन्ते बहिरत्यथ भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥ १५ ॥  
 प्राण-मांस-क्षय-श्वास-कासा-ऽरोचक-पीडिताः ।  
 प्रवृद्ध-पूय-रुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥ १६ ॥  
 क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।  
 वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ १७ ॥  
 व्रणे श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरात् ।  
 तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥ १८ ॥

( सु० उ० अ० १९ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ।

म०—ये च मर्मस्वसंभूता इति । मर्मसु न जाता अपि भृशवेदनाः, मर्म-  
 जातत्वेन हि भृशवेदनावत्त्वं युक्तम् । प्राणमांसक्षय इति प्राणक्षयेण शक्तिक्षयः,  
 मांसक्षयेण चोपचयक्षयः । अनुक्तमप्यशेषं रिष्टं संगृह्यन्नाह—क्रियाभिरित्यादि  
 ॥ १४-१८ ॥

इति श्रीकिण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ।

आ०—पुनश्चासाध्यत्वमाह—य इत्यादि । मर्मसु न जाता अपि भृशवेदनाः स्युः, मर्मजात-  
 त्वेन हि भृशवेदनत्व युक्तम् । ये बहिः शीतलाः, अन्तर्मध्ये अत्यर्थं दहन्ते । पुनश्चासाध्यलिङ्ग-  
 त्वमाह—प्राणेत्यादि । प्राणक्षयः=शक्तिक्षयः, मांसक्षयः=उपचयक्षयः, मर्मसु=पायु-नाभि-  
 हृदयादिषु । पुनश्चासाध्यत्वमाह—क्रियाभिरित्यादि । पादचतुष्टयान्विताभिः ॥ १४-१८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

शारीरव्रणनिदानम् ॥

अथ सद्योव्रणनिदानम् ।

( Wounds )

अथागन्तुव्रणानां लक्षणानि ।

शारीरव्रणमभिधायागन्तुव्रणमाह-

नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।

भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिञ्चितमेव च ।

वृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०-नानाधारमुखैरित्यादि । नाना धारा मुखानि च येषां तानि तथा । स्थानविशेषोऽपि शस्त्रनिपाततुल्यत्वेनाकृतिविशेषे हेतुरित्यत उक्तम्-नानास्थान-निपातितैरिति ॥ १ ॥ २ ॥

आ०-अथ शारीरव्रणमभिधायागन्तुमाह-नानेत्यादि । नानाधारमुखैः शस्त्रैः, नाना-स्थाननिपातितैः, एभिर्नानाकृतयो व्रणा भवन्ति, मे मत्सकाशात्तान् व्रणान् निबोध जानीहि । तत्पाङ्क्तिव्यमाह-छिन्नमित्यादि । एवं छिन्नादिभेदेन आगन्तवः षड्विधा भवन्ति ॥ १ ॥ २ ॥

अथ छिन्नव्रणस्य लक्षणम् ।

( Out-wound )

छिन्नलक्षणमाह-

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।

गात्रस्य पातनं तद्धि छिन्नमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०-तिर्यगित्यादि । तिर्यगिति तिर्यग्व्यवस्थितः । छिन्नः=छेदसंपन्नः । ऋजुरवक्रः । गात्रस्य पातनमिति गात्रावयवस्य तदेकदेशरूपस्य वा गात्रस्य पातनम् ॥ ३ ॥

आ०-तत्र छिन्नलक्षणमाह-तिर्यगित्यादि । यो व्रणस्तिर्यक् छिन्नोऽथवा ऋजुश्छिन्नः सन्नायतो भवेत्, तिर्यगिति तिर्यग्व्यवस्थितः, छिन्नः छेदसंपन्नः । 'तिरश्चीनः' इति पाठान्तरे स एवार्थः, ऋजुरवक्रः । अनयोर्द्वयोरप्यायत इति विशेषणम् । गात्रस्य पातनमिति गात्रस्यावय-वस्य तदेकदेशरूपस्य वा गात्रस्य पातनम् । उल्लनस्तु व्याचष्टे-शस्त्रादिप्रहारेण गात्रस्य हस्तादेः पातनं, चकारादपातनं च ॥ ३ ॥



अथ भिन्नव्रणस्य लक्षणानि ।

( Rupture )

भिन्नलक्षणमाह—

शक्ति-दन्तेषु-खद्गाग्र-विषाणैराशयो हतः ।

यत् किञ्चित् प्रलवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ४ ॥

( सु० वि० अ० २ )

य०—शक्तीत्यादि । विषाणं=दन्तः शृङ्गं च । एतद्विन्नलक्षणं पारिभाषिकं, तेन व्यथ एवाशयदेशे भेद उच्यते, आशयदेशरहिते तु व्यथः । यत्किञ्चिदित्यादि । यस्य मूत्ररुधिरादेर्य आशयो भिन्नः स तत् प्रलवेत्, तेन वस्तिभिन्नो मूत्रं रुधिराशयो रुधिरमिति ॥ ४ ॥

उ०—भिन्नलक्षणमाह—शक्तीत्यादि । शक्त्यादिभिराशयो हतः सन् यत्किञ्चित् प्रलवेत् तद्विन्नलक्षणमुच्यते । कुन्तो=भलः, विषाणं=दन्तः शृङ्गं च, एतद्विन्नलक्षणं पारिभाषिकं, तेन व्यथ एवाशयदेशे भेद उच्यते, आशयरहिते तु देशे व्यथः । यत्किञ्चित् प्रलवेदिति किमपि निर्देष्टव्यमित्यर्थः । यस्य मूत्ररुधिरादेर्य आशयो भिन्नः स तत् प्रलवेत्, तेन वस्तिभिन्नो मूत्रम्, उदरं भेदः, पुरीषाशयः पुरीषं, रुधिराशयो रुधिरमिति ॥ ४ ॥

अथावयवविशेषाणां कोष्ठसंज्ञत्वम् ।

तत्र तत्र विकाराश्च ।

यत्र भूयसामाशयानां स्थाने भेदव्यपदेशस्तमाह—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।

हृदुण्डुकः कुण्डुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ।

मूत्रमार्ग-गुदा-ऽऽस्येभ्यो रक्तं प्राणाच्च गच्छति ॥ ६ ॥

मूर्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।

विण्-मूत्र-वात-सङ्गश्च स्वेदासावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥

लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।

हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥ ८ ॥

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।

आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥

पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च ।

अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥ १० ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—स्थानानीत्यादि । आमस्य स्थानमाशयः, अग्नेः पच्यमानाशयः, मलस्य पक्वाशयः, मूत्रस्य वस्तिः, रुधिरस्य यकृतप्लीहानौ, हृत्=हृदयम्, उण्डुक= इक्षुरसपाकमलवद्यः शोणितमलस्तज्ज उण्डुकः, स चान्त्रदेशे व्यवस्थितः पुरीषाधानमिति, फुफ्फुस इति हृदयस्य वामपार्श्वे ( रक्ताधारः ) 'फुफ्फुस' इति ख्यातः । मूत्रमार्ग—गुदा-ऽऽस्येभ्यो रक्तं व्राणाच्च गच्छतीति वस्त्यादौ भिन्ने मेहेन-गुदाभ्यां रक्तं निःसरति, आमाशयादिभेदे तु मुखव्राणाभ्यां रक्तनिर्गमः । स्वेदास्त्राव इति स्वेदस्यात्यन्तस्रुतिः । पार्श्वयोश्चापीति शूलमिति संबन्धः ॥ मे इत्यव्ययं मत्त इत्यर्थः । आमाशयस्थ इत्यादि आध्मानं रक्तावततत्वाद्वायोः । रुजा=शूलम् । गौरवं रक्तबहुत्वात् । अधःकाये विशेषेण शीततेति व्याधिप्रभावात् ॥ ५-१० ॥

आ०—यत्र भूयसामाशयानां स्थाने भेदव्यपदेशस्तमाह—स्थानानीत्यादि । स्थानशब्दः आमादीभिः प्रत्येकं सम्बध्यते, आमस्य स्थानमाशयः, अग्नेः पच्यमानाशयः, पक्वस्य पक्वाशयः, मूत्रस्य वस्तिः, रुधिरस्य यकृतप्लीहानौ, हृत् हृदयं, उण्डुक इक्षुरसपाकमलवच्छोणितमलः तज्ज उण्डुकः, स चान्त्रदेशे व्यवस्थितः पुरीषाधानम् । फुफ्फुस इति हृदयस्य वामपार्श्वे फुफ्फुस इति ख्यातः । आमादीनां स्थानानि कोष्ठ इत्यभिधीयते । भिन्नकोष्ठस्य सामान्यलिङ्गमाह—तस्मिन्नित्यादि । तत्र वस्त्यादौ भिन्ने मेहेनगुदाभ्यां रक्तं निःसरति, आमाशयादिभेदे तु मुखव्राणाभ्यां रक्तनिर्गमः, ज्वरमूर्च्छादय उपद्रवा भवन्ति, विण्मूत्रवातानां सङ्गोऽप्रवृत्तिः, स्वेदास्त्रावः स्वेदस्यास्रुतिः, मुखस्य लोहगन्धता, हृत्पार्श्वयोः शूलमिति सम्बन्धः । अत्रापि मे मत्तो विशेषशृणु । रक्तपूर्णभेदलक्षणमाह—आमाशयस्थ इत्यादि । अतिमात्रमाध्मानं आध्मातवस्तिरिवोदरपूर्णता, दारुणं= मारणात्मकम् । पक्वाशयस्थितस्य रक्तस्य लक्षणमाह—पक्वेत्यादि । रुजा=शूलम् । गौरवमिति नाभेरधो बोद्धव्यम् । अधःकाये विशेषेण शीततेति व्याधिप्रभावात् ॥ ५-१० ॥

अथ विद्धव्रणस्य लक्षणम् ।

( Punctured wound )

विद्धलक्षणमाह—

सूक्ष्मास्यशल्यभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना ।

उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद् विद्धमिति निर्दिशेत् ॥ ११ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—सूक्ष्मास्यशल्येत्यादि । आशयं विनेति उक्तमाद्याशयं विना । उत्तुण्डितम् अनिर्गतशल्योपलक्षणं, तेनानुत्तुण्डितमुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते, निर्ग-

तेन च निर्गतमुखं विद्धं सर्वथा निर्गतं च गृह्यते; तेन तन्त्रान्तरे “विद्धमुत्तुण्डितमनुत्तुण्डितं भिन्नं निर्भिन्नम्”—इति यच्चतुष्प्रकारमभिहितं तत् सर्वं संगृहीतम् ॥ ११ ॥

आ०—विद्धलक्षणमाह—सूक्ष्मेत्यादि आशयं विना सूक्ष्माक्ष्येन शल्येन यदङ्गमभिहतम् उत्तुण्डितम्=उन्नमितत्वङ्मांसम् ईषद्दृष्टमुखं वा, निर्गतं=निर्गतशल्यम्, उत्तुण्डितमनिर्गतशल्योपलक्षणम् । तेनानुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते, निर्गतेन च विनिर्गतमुखं विद्धं सर्वदा निर्गतं च गृह्यते, तेन तन्त्रान्तरे विद्धमुत्तुण्डितमनुत्तुण्डितं भिन्नं निर्भिन्नमिति चतुःप्रकारमभिहितं तत्संगृहीतम् ॥ ११ ॥

अथ क्षतव्रणस्य लक्षणम् ।

( Contused wound )

क्षतमाह—

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।

विषमं व्रणमङ्गे यत् तत्क्षतं त्वभिधीयते ॥ १२ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—नातिच्छिन्नमित्यादि । नातिच्छिन्नमिति नावगाढच्छेदम् । नातिभिन्नमिति नातिविदीर्णाशयम् । उभयोर्लक्षणान्वितमिति स्तोकच्छेदस्तोकावदरणयोगादुभयलक्षणयुक्तम् । विषमं व्रणमङ्गे यदिति अङ्गवैषम्यकरं व्रणं यत्तत् क्षतम् ॥ १२ ॥

आ०—क्षतलक्षणमाह—नेत्यादि । नातिच्छिन्नमिति नावगाढच्छिन्नं, नातिभिन्नमिति नातिविदीर्णाशयम् । उभयोरिति छिन्नभिन्नयोरित्यर्थः । तेन स्तोकच्छेदस्तोकावदरणयोगादुभयलक्षणयुक्तम् । विषमं व्रणमङ्गे इति अङ्गे वैषम्यकरं व्रणं यत्तत्क्षतमिति ॥ १२ ॥

अथ पिञ्चितव्रणस्य लक्षणम् ।

पिञ्चितलक्षणमाह—

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।

सास्थि तत् पिञ्चितं विद्यात् मज्जरक्त-परिप्लुतम् ॥ १३ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—प्रहारेत्यादिना । प्रहारो मुद्रादिना, पीडनं कषाटादिना । पृथुतामिति चिपिडताम् । मज्जरक्तपरिप्लुतमित्यनेन व्रणभावात् मज्जरक्ताग्नौ दर्शयति । तेन यत् व्रणं पिञ्चितं, तद्गमस्य तथा सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयम् ॥ १३ ॥

आ०—पिच्चितलक्षणमाह—प्रहारेत्यादि । प्रहारो मुद्रादिना, पीडनं करादिना, पृथुतां=विपु-  
लतां, सास्थि=अस्थिखण्डान्वितं, मज्जरक्तपरिप्लुतमित्यनेन व्रणभावान्मज्जरक्तागमं दर्शयति, तेन  
यद् व्रणं पिच्चितं तद्भ्रमस्य तथा सद्योव्रणस्य चिकित्साविषयम् ॥ १३ ॥

अथ घृष्टव्रणस्य लक्षणम् ।

( Excoriation )

घृष्टलक्षणमाह—

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।

उषा-स्त्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥ १४ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—घर्षणादित्यादि । घर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना । विगतत्वचमिति पाठं  
त्यक्त्वा विगतत्वचेति पाठः साधुः, विगतत्वचोपलक्षितमङ्गम् । उषा=ऊष्म-  
निर्गमवद्यथा ॥ १४ ॥

आ०—घृष्टलक्षणमाह—घर्षणादित्यादि । यदङ्गं घर्षणात् । कर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना अभि-  
घाताद्वा विगतत्वचं भवति, अन्ये 'विगतत्वचा' इति पाठं पठन्ति, विगतत्वचा लक्षित-  
मङ्गम् । उषा ऊष्मानिर्गमवद् व्यथा ॥ १४ ॥

अथ सशल्यव्रणस्य लक्षणम् ।

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च ।

मृदूद्रतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥ १५ ॥

( सु० चि० अ० २ )

आ०—सशल्यव्रणलक्षणमाह—श्यावमित्यादि । श्यावं=शाववर्णम् । मुहुर्वारंवारं, शोणि-  
तस्त्रावयुक्तं, मृदु=कोमलम्, उद्रतं तुम्ब्याकारावस्थितबुद्बुदेन सदृशं मांसं यस्य तं, सरुजं  
पीडायुक्तम् ॥ १५ ॥

अथ कोष्ठभेदस्य लक्षणम् ।

कोष्ठभेदमाह—

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।

कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥ १६ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०—त्वच इत्यादि । त्वच इति सप्त त्वचः । सिरादीनीति मांसस्त्राव्यस्थिस-  
न्धीनि । परिहृत्य वेति परिहारपक्षेऽपि कोष्ठभेदस्य संगतत्वात् ; सिराव्यध-

लिङ्गं चात्रैव “सुरेन्द्रगोपप्रतिमम्”-इत्यादिना व्यक्तीभविष्यति । उक्तानिति प्रनष्टशल्यविज्ञानीये । तत्र ह्युक्तं, “कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखाद्भवति” ( सु. सू. स्था. अ. २६ )--इति ॥ १५ ॥

आ०-कोष्ठभेदमाह-त्वच इत्यादि । सप्त त्वचः, सिरादीनि सिरामांसस्नाय्वस्थि-सन्धीनि भित्त्वा, परिहृत्य वेति संत्यज्य वा । उक्तानिति प्रनष्टशल्यविज्ञानीये । तत्र ह्युक्तं, “कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखाद्भवति”-इति ॥ १६ ॥

अथासाध्यकोष्ठभेदस्य लक्षणम् ।

असाध्यकोष्ठभेदलिङ्गमाह--

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डु-शीत-पाद-करा-ऽऽननम् ।

शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

( सु० चि० अ० २ )

म०-तत्रेत्यादि । तत्र कोष्ठे अन्तर्लोहितमिति अभ्यन्तरस्थितरक्तम्, अनिः-सूतरक्तमिति यावत् । आनद्धमित्यानाहवन्तम् ॥ १७ ॥

आ०-असाध्यकोष्ठान्तर्भेदलिङ्गमाह-तत्रेत्यादि । कोष्ठे अन्तर्लोहितं अभ्यन्तरस्थितरक्तम्, अनिःसूतरक्तमिति । पाण्डूनि शीतानि पादकराननानि यस्य तं, तथा । आनद्धम्, आनाहयुक्तम् १७

अथ मांस-शिरा-स्नाय्वस्थि-सन्धि-मर्मसु जातानां क्षतानां

सामान्यलक्षणानि ।

मांस-शिरा-स्नाय्वस्थि-सन्धि-मर्मसु पञ्चसु क्षतेषु सामान्य-लिङ्गमाह--

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च ।

स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजा वातकृताश्च तास्ताः १८

मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।

दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥ १९ ॥

( सु० सू० अ० २५ )

म०-भ्रम इत्यादि । विचेष्टनं=विरुद्धचेष्टनं करचरणादिक्षेपादिकम् । ग्लानिर्वलक्षयः । स्रस्ताङ्गता=अङ्गसन्धिविसंसवद्यथा । मूर्च्छनमिन्द्रियमोहः । इन्द्रियार्थोपरम=इन्द्रियाणां स्वविषयेषु रूपादिषु उपरमो=ग्रहणाशक्तिः । दशार्धसंख्येषु=पञ्चसु ॥ १८ ॥ १९ ॥

आ०—मांससन्धिसिरास्नायवस्थिमर्मसु पंचसु क्षतेषु सामान्यलिङ्गमाह—भ्रम इत्यादि । भ्रम-  
श्चक्रारूढस्यैव, पतनं भूमौ, प्रमोहः=मनोमोहः, विचेष्टनं विरुद्धचेष्टनं चरणक्षेपणादिकं,  
ग्लानिः बलक्षयः, सस्ताङ्गता अङ्गसंधिविहंसवद्वयथा, शरीरशैथिल्यं वा मूर्च्छनमिन्द्रियसंमोहः,  
प्रमोहस्तु मनोमोहः, ऊर्ध्ववात इति उद्गारबाहुस्य, वातकृता रुजस्तास्ता दण्डापतानका-  
क्षेपकाद्याः । सर्वेन्द्रियार्थोपरमः स्वविषयेषु रूपादिषु उपरमो ग्रहणेऽशक्तिः, दशार्धसंख्येषु  
पञ्चसु ॥ १८ ॥ १९ ॥

अथ मर्मरहितानां सिरादीनां विद्वलक्षणानि ।

सिरादयो मर्मरूपा अमर्मरूपाश्च सन्ति, तत्र पूर्वं मर्मरहितानां सिरादीनां  
विद्वलिङ्गमाह-

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं सवेत् तत् क्षतजश्च वायुः ।  
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान् सिरासु विद्धास्वथ वाक्षतासु  
कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।  
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् २१  
शोषाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः सर्वत एव शोथः ।  
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥ २२ ॥  
घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम् ।  
भिषग् विपश्चिद् विदितार्थमूत्रस्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥

( सु० सू० अ० २५ )

म०—सुरेन्द्रगोपेत्यादि । यथोक्तानि शोणितवर्णनीयोक्तान् । तत्र  
चोक्तं,—“तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति” ( सु. सू. स्था.  
अ. १४ )—इति । विद्धासु वाणादिना । क्षतासु खड्गादिना । कौब्ज्यं=कुब्जता ।  
तुमुला=गहनाः । सन्धिष्वचलाचलेष्विति अचलेषु=निश्चेष्टेषु, चलेषु=चेष्टा-  
वत्सु, सन्धयश्चलाचलभेदेन द्विविधाः । तथाच सुश्रुतः,—“शाखासु हन्वोः  
कट्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः । शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः”  
( सु. शा. स्था. अ. ९ )—इति ॥ २०—२३ ॥

आ०—सिरादयो मर्मरूपा अमर्मरूपाश्च सन्ति, तत्र मर्मरहितसिरादिविद्वलिङ्गमाह—सुरेन्द्रे-  
त्यादि । इन्द्रगोपो=वार्षिकः कीटः, तत्क्षयजः तस्य रुधिरस्य क्षयाज्जातो वायुः, यथोक्तानिति  
शोणितवर्णनीयोक्तान्, तथा चोक्तम्—“तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपकादींश्च करोति”—इति ।

विद्रातु वाणादिना, क्षतासु, खङ्गादिना । स्नायुविद्वमाह—कौञ्ज्यमित्यादि । यस्य कौञ्ज्यादि-  
चिह्नं भवति, तं पुरुषं स्नायुविद्वं व्यवस्येत्=जानीयात् । कौञ्ज्यं कुञ्जता, तच्च अन्तर्व-  
हिरायामजं द्विधा, अवयवावसादः=अवयवानां स्वकर्मण्यसामर्थ्यं, क्रियास्वशक्तिः=सर्वशरी-  
रस्थोत्क्षेपणापक्षेपणप्रसारणाकुञ्चनक्रियाणामशक्तिः । दुमुला गहनाः, अन्ये तु वातपित्तकफ-  
जनिता एकत्र व्याकुलीभूतवेदनास्तुमुला उच्यन्ते इति वदन्ति । सन्धिविद्वमाह—शोफे-  
त्यादि । चलाचलेषु सन्धिषु क्षतेषु सत्सु शोफातिवृद्ध्यादिलिङ्गं स्यात् । सन्धयस्तु चलाचल-  
भेदात् द्विविधाः । तथाचोक्तं सुश्रुते—“शास्त्रासु हन्वोः कर्त्र्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः । शोफास्तु सन्धयः  
सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः” इति । कर्मोपरमः कर्मोपरतिः । अस्थिविद्वमाह—घोरा इत्यादि ।  
तमस्थिविद्वं जानीयात्, सर्वास्ववस्थासु शयनासनादिकासु, विदितार्थसूत्रः अधिगतशल्य-  
तन्त्रः ॥ २०—२३ ॥

अथैषां मर्मविद्वानां लक्षणातिदेशः ।

मर्मरहितानां सिरादीनां विद्वलक्षणमभिधाय सिरादिमर्मविद्वलिङ्गमतिदेश-  
यन्नाह—

यथास्वमेतानि विभावयेच्च लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

( सु० सू० अ० २५ )

स०—यथास्वमेतानीत्यादि । विभावयेच्चेति चकारो भिन्नक्रमे; तेन एतानि  
लिङ्गानि तथा सामान्यलिङ्गानि च जानीयादित्यर्थः ॥—

आ०—मर्मरहितानां सिरादीनां विद्वलिङ्गमभिधाय सिरादिमर्मविद्वलिङ्गमतिदेशेनाह—यथास्व-  
मित्यादि । विभावयेच्चेति चकारोऽत्र भिन्नक्रमे, तेनैतानि मर्मविद्वसिरालिङ्गानि तथा सामान्यलिङ्गानि  
भ्रमप्रलापादीनि पूर्वोक्तानि च यथास्वं जानीयादित्यर्थः ॥—

अथ मांसक्षतस्य लक्षणम् ।

अनुक्तमांसमर्मणो विद्वस्य लिङ्गमाह—

पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् २४

( सु० सू० अ० २५ )

स०—पाण्डुर्विवर्ण इत्यादि । ननु, सिरादिविद्वलिङ्गवत् मांसविद्वलिङ्गमपि  
पूर्वं कुतो नोपदिष्टम् ? उच्यते, केवलमांसविद्वस्यावदुव्यापत्करत्वात् पूर्वमनु-  
पादानम् ॥ २४ ॥

आ०—मांसमर्मविद्वलिङ्गमाह—पाण्डुरित्यादि । विवर्णो=विच्छायः । ननु, सिरादिविद्व-  
लिङ्गवन्मांसविद्वलिङ्गमपि पूर्वं कुतो नोपदिष्टम् ? उच्यते,—केवलमांसविद्वस्यावदुव्यापत्करत्वात् ।  
पूर्वमनुपादानम् ॥ २४ ॥



अथ सर्वेषां व्रणानां सामान्योपद्रवाः ।

सर्वव्रणानामुपद्रवानाह—

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।

मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥

कासश्छर्दिंरतीसारो हिकका श्वासः सवेपथुः ।

षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥ २६ ॥

( च०चि० अ० १३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥

म०—विसर्प इत्यादि ॥ २५ ॥ २६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ।

आ०—सर्वव्रणानामुपद्रवानाह—विसर्प इत्यादि । व्रणरुजो=व्रणपीडाः, वेपथुः=कम्पः २५॥२६

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
सद्योव्रणनिदाम् ॥ ४३ ॥

अथ भग्ननिदानम् ।

(Fracture)

अथ भग्नस्य भेदाः ।

आगन्तुसामान्याद्भग्ननिदानम् । द्विविधं हि भग्नं सव्रणभग्नं च, तत्र सव्र-  
णमभिधायाव्रणमाह—

भग्नं समासाद्विविधं हुताश काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।

उत्पिष्ट-विशिष्ट-विवर्तितं च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च ॥ १ ॥

म०—भग्नं समासादित्यादि । हुताश इति अग्निवेशसंबोधनं, चरकैः  
हुताशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते, एकदेशेनापि समुदायप्रतीतेः । काण्डे च सन्धौ  
चेति सन्धिविच्छिन्नमेकं, द्वितीयं काण्डभग्नं; काण्डमस्थिकाण्डः, काण्डेन च  
नलक-कपाल-वल्लय-तरुण-रुचकानां ग्रहः, तत्र भग्नं काण्डे भग्नं; द्वयोरस्थोः  
सन्धानं सन्धिः, तद्विश्लेषः=सन्धिमुक्तम् । तत्र सन्धाविति सन्धौ मुक्ते लिङ्ग-  
मभिधीयते इति शेषः । ननु कथं सन्धिमुक्तं भग्नमुच्यते ? अस्त्रां हि भङ्गो

युक्तः । उच्यते, अस्थिविश्लेषोऽत्र भग्नोऽभिप्रेतः, स च काण्डभग्ने सन्धिमुक्ते चास्तीति न दोषः ॥ १ ॥

आ०—आगन्तुत्वसामान्याद्भग्नमाह—भग्नमित्यादि । तं चागन्तुव्रणं समासात् द्विविधमाहुः, कथमित्याह—काण्डे भग्नं तथा सन्धौ चेति; सन्धिविविच्छिन्नमेकं, काण्डमस्थिकाण्डः, काण्डेन च नलककपालवलयतरुणरुचकानां ग्रहणं, तत्र भग्नम् काण्डे भग्नम् । द्वयोरस्थनोः सन्धानं सन्धिः, तद्विश्लेषः सन्धिमुक्तम् । सन्धिमुक्तस्य षाड्विध्यमाह—उत्पिष्टेत्यादि । तत्र सन्धाविति तत्र=तयोः काण्डभग्नसन्धिभग्नयोर्मध्ये, सन्धौ मुक्तेऽपि 'लिङ्गमभिधीयत' इति शेषः । उत्पिष्टादिभेदेन षोढा भवति । ननु, कथं सन्धिमुक्तं भग्नमुच्यते ? अस्मां भङ्गो युक्तः, उच्यते, अस्थिविश्लेषोऽत्र भग्नोऽभिप्रेतः, स च काण्डभग्ने सन्धिमुक्ते चास्तीति न दोषः ॥ १ ॥

अथ सन्धिभग्नस्य लक्षणानि ।

सन्धिभग्नस्य सामान्यलिङ्गमाह—

प्रसारणा-ऽऽकुञ्चन-वर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम् ।

सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गम्—

म०—प्रसारणेत्यादि । प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुगिति प्रसारणादिषु उग्रा रुक् । वर्तनं=निष्क्रियतयाऽवस्थानम् ॥—

आ०—तत्र सन्धिमुक्तस्य सामान्यलक्षणमाह—प्रसारणेत्यादि । प्रसारणादिषु उग्रा रुक्=व्यथा, वर्तनमिति निष्क्रियतयाऽवस्थानम् । एतत्सामान्यलिङ्गम् ॥—

अथोत्पिष्टादीनां लक्षणानि ।

उत्पिष्टादिलिङ्गमाह—

उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥ २ ॥

विशेषतो रात्रिभवा रुजा च, विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम् । विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्राः, तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥ ३ ॥ क्षिप्तेऽतिशूलं विषमत्वमस्थोः क्षिप्ते त्वयो रुग् विघटश्च सन्धेः ।

म०—उत्पिष्टसन्धेरित्यादि उत्पिष्टं=द्राभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम् । श्वयथुः समन्तादिति उभयभागे शोथः, उभयतः सन्ध्यस्थोर्ध्वपितत्वात् । विशेषतो रात्रिभवा रुजा चेति अभिघातकुपित एव रात्रौ शैत्येनात्यन्तं वृद्धो वायुः रुजां करोति । अत्र चूर्णितत्वेन मार्गावरणात् वातकोप इत्यर्थः । विश्लिष्टजे इति विश्लिष्टजाते सन्धिमुक्ते, विश्लिष्टं=मनाक् सन्धिविश्लेषः ॥—

१ विश्लिष्टजसन्धिभङ्गः = Dislocation.

लतामात्रं, विश्लिष्टमिति भावे कः । तौ चेति=विश्लिष्टे रात्रिरुजा-समन्ता-  
च्छोथौ; समन्ताच्छोथोऽप्यत्राल्पो बोध्यः, सन्धेरनभिघातात् । सन्धिविक्रि-  
यया अस्थोरपसृतत्वात् । मध्यनिम्नत्वं, “उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न  
घटयेत्”—( लु. चि. स्था. अ. २ ) इति वचनात्; मनाग्विक्रियया वा ।  
रुजा च नित्यमिति सर्वदा रुजा बलवती भवतीत्युत्पिष्टाद्विशेषः । विवर्तिते  
इति ‘सन्धौ’ इति शेषः, विवर्तिते=विपरीतं वर्तिते, विवर्तनं सन्धौ द्वयोर-  
स्थोर्विवृतिर्विभ्रमणमनार्जवता । पार्श्वरुजश्च तीव्रा इति अत्यक्तसन्धिस्थानयोः  
पार्श्वसन्ध्यस्थोः पार्श्वगतत्वात्तीव्राः पार्श्वरुजः । तिर्यग्गत इति तिर्यक्क्षिप्ते ।  
अत्र ह्येकं सन्ध्यस्थि सन्धिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्याति । क्षिप्तेऽतीति अतिक्षिप्ते;  
‘ऊर्ध्वम्’ इति शेषः । अत्र ह्येकास्थिविक्रियया उभयास्थिविक्रियया वा द्वयो-  
रप्यस्थोः परस्परातिक्रमणं दूरगमनं वा; विश्लिष्टे तु मनाक् शिथिलतामात्रं;  
अधःक्षिप्ते तु किञ्चिदधोगमनमिति विशेषः । ‘विषमाश्च सक्थोः’ इति पाठे  
तु ‘रुज’ इति शेषः । क्षिप्ते त्वधोरुग्विघटश्च सन्धेरिति अधःक्षिप्ते रुक्=रुजा,  
सन्धेर्विघटश्च=विघटनम् । ‘विरुद्धचेष्टा विघटस्य’ इति पाठान्तरे विघटितस्य  
सन्धेरित्यर्थः । अत्र अधोऽस्थिगमनम् । अधः क्षिप्तवदूर्ध्वं क्षिप्तस्याप्यभिधाने  
प्राप्ते, अनुक्तिरतिक्षिप्तेऽवरोधात् ॥ २ ॥ ३ ॥—

आ०—विशिष्टलिङ्गमाह—उत्पिष्टसन्धेरिति । उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणं,=ध्वययुः  
समन्तादिति उभयभागे शोफः, उभयतः सन्ध्यस्थनोर्घर्षणात् । विशेषत इत्याद्यभिघातकुपित एव रात्रौ  
शैत्येनात्यन्तं वृद्धो वायुः रुजं करोति, अत्र चूर्णितत्वेन मार्गावरणाद्वातप्रकोप इत्यर्थः । विश्लिष्ट-  
माह—विश्लिष्टज इत्यादि । विश्लिष्टे सन्धिमुक्ते तौ च नित्यं रुजा च भवति । विश्लिष्टं मनाक्  
सन्धिविक्लेषः, शिथिलतामात्रं; विश्लिष्टमिति भावे कः । तेनाल्पः शोफो बोद्धव्यः । तौ चेति  
रात्रिरुजासमन्ताच्छोथौ, समन्ताच्छोथोऽप्यत्राल्पो बोध्यः सन्धेरनभिघातात् । सन्धिविक्रियया अस्थो-  
रपसृतत्वान्मध्यनिम्नत्वम् । “ उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् । जवनं प्रतिपिष्टं च  
भग्नं यत्तद्विवर्जयेत् ”—इति । मनाक् विक्रियया वा । रुजा च नित्यमिति सर्वदा रुजा बलवती  
भवतीत्युत्पिष्टाद्विशेषः । विवर्तितमिति, सन्धाविति शेषः । विवर्तिते विपरीतं वर्तिते, विव-  
र्तनं सन्धौ द्वयोरस्थोर्विवृतिर्विभ्रमणमनार्जवता । पार्श्वे रुजाश्च तीव्राः सन्ति, अत्यन्तसं-  
धिस्थानयोः पार्श्वसन्ध्यस्थोः पार्श्वगतत्वात्तीव्राः पार्श्वरुजः, चकारात् सन्धिसंश्रययो-  
रध्यस्थनोर्व्यावर्तनेन पाञ्चर्षोपगमनाद्विषमाङ्गतेति डल्लणः । तिर्यगित्यादि—तिर्यक् क्षिप्ते,  
सन्धाविति शेषः । अत्र ह्येकसन्ध्यस्थि सन्धिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्याति । अतिक्षिप्तमाह—क्षिप्त  
इत्यादि । क्षिप्ते ऊर्ध्वमिति शेषः । अत्र तु द्वयोरपि अस्थोः परस्परातिक्रमणं, दूरगमनं वा, विश्लिष्टे  
तु मनाक् शिथिलतामात्रमिति भेदः । अधः क्षिप्ते तु किञ्चिदधोगमनमिति विशेषः । शूलं विषममिति  
कदाचिद्धीनं कदाचिद्विबुद्धम् । ‘विषमाश्च सक्थोः’ इति पाठान्तरम् । तत्र रुजा इति शेषः ।  
अधः क्षिप्तमाह—क्षिप्ते त्वित्यादि । अधः क्षिप्तेऽवोगते सन्धौ रुक् रुजा, सन्धेर्विघटश्च, विघटो विव-

टनम् । विरुद्धचेष्टा विघटस्य' इति पाठान्तरे विघटितस्य सन्धेरित्यर्थः । अत्राधोऽस्थिगमनम् । अधः क्षितत्रदूर्ध्वक्षितस्याप्यभिधाने प्राप्तेऽनुकिरतिक्षितेऽवरोधात् ॥ २ ॥ ३ ॥—

अथ काण्डे भग्नस्य भेदाः, लक्षणानि च ।

अतः परं काण्डे भग्नमभिधीयते---

काण्डे त्वतः कर्कटका-ऽश्वकर्ण-विचूर्णितं पिच्छितमस्थिछल्लिका ।  
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम् ।  
छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धिः  
संपीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दन-तोद-शूलाः ।  
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥६॥

म०—काण्डे त्वत इत्यादि । काण्डे इत्यत्र भग्नमिति शेषः । अतः इति अतः परम् । कर्कटकेति उभयोः पार्श्वयोर्निषीदनेनावनतम् अत एव मध्ये ग्रन्थिरिवोन्नतं, कर्कटतुल्यत्वात् कर्कटकम् । अश्वकर्णेति अश्व-कर्णवत् विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम् । विचूर्णितमिति क्षुण्णमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम् । पिच्छितमिति यन्त्रितं बहुशोथम् । अस्थिछल्लि-केति छल्लं=वलकलं तदत्रास्तीति अस्थिछल्लिका, अत्र मत्वर्थीयष्टिकन् । अत्र तु आ न भवति, वृद्धेरनित्यत्वात् । एषा पार्श्वगतस्तोकास्थिविक्षेपाद्भवति । 'अस्थिछल्लितम्' इति वा पाठः, छल्लमस्य संजातमिति छल्लितम् । काण्डेषु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नमभिधीयते, प्रसारणे कम्पमानं काण्डभग्नम् । यद्यपि काण्डे भग्नं सर्वमेव कर्कटादि, तथाऽपि विशिष्टे काण्डभग्ने काण्डभग्नसं-ज्ञेयं बोद्धव्या । यथा-जाङ्गलशब्दो जङ्गलाद्यष्टविधमांसवर्गे सामान्ये, विशेषे पुनरेणादावेव च वर्तते । अतिपातितमिति अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपाति-तम् । मज्जागतमिति अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानं निःसार-यतीति मज्जागतम् । स्फुटितं स्तोकं विदीर्णं शूकदूर्णमिव वेदनावत् । वक्र-मिति अविभुक्तास्थि कुब्जीभूतं वक्रम् । वक्रताऽपि भग्नत्वं ज्ञेयम् । छिन्नं द्वि-धेति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यत्; एकं विदीर्णं संलग्नं, अपरं विदीर्णं द्विधाभूतम् ; अन्यस्तु विपुलैकविदरणमित्याह; सुश्रुते एतत् पाटितसंज्ञम् । काण्डे भग्नस्य द्वादशविधत्वं नियमयति-काण्ड इति । अत्र भग्नमिति शेषः । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, स चावधारणार्थं, तेन छिन्नमित्यत्र संबध्यते । छिन्न-मेव द्विधा, न कर्कटादि ॥ ४-६ ॥

आ०—अतः परं काण्डे भग्नमाह--काण्डे त्वित्यादि । छिन्नं द्विधा काण्डे इत्यत्र भग्नमिति शेषः । अत इति अतः परम् । कर्कटकेति उभयोः पार्श्वयोः निषीदनेनावनतम्, अत एव मध्ये ग्रन्थि-

रिवोज्ञतं कर्कटतुल्यत्वात्कर्कटकम् । अश्वकर्णेति अश्वकर्णवद्विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम् । विचूर्णितमि-  
तिक्षुण्णमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम् । पिञ्चितमिति यन्त्रितं बहुशोथम् । अस्थिच्छलित्कोति-  
छलं वत्कलं, तदत्रास्तीति अस्थिच्छलित्का, एषा पार्श्वगतस्तोकास्थ्यवयवविशेषाद्भवति । “अस्थि-  
च्छलितम्” इति वा पाठः । छल्लमस्य जातं छलितम् । काण्डेषु भग्नमित्यादि । अनेन काण्डभग्न-  
मित्यभिधीयते । प्रसारणे कम्पमानं काण्डभग्नम् । यद्यपि काण्डे भग्नं सर्वमेव कर्कटकादि, तथाऽपि  
विशिष्टे काण्डे भग्ने संशयं बोद्धव्या । अतिपातितमिति अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम् । मज्जागत-  
मिति अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानं निःसारयतीति मज्जागतम् । स्फुटितं स्तोकं बहुधा  
विदीर्णं शुकपूर्णमिव वेदनावत् । वक्रमिति अविमुक्तस्थि कुब्जीभूतं वक्रं, वक्रताऽपि भग्नत्वं श्रेयम् ।  
छिन्नं द्विधोति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यत् । कश्चिदेकतरपाश्वलभमपरत्र विदीर्णमित्याह,  
अन्यश्च विपुलैकविदीर्णम्, एतच्च सुश्रुते पाठितसंज्ञम् । काण्डे भग्नस्य द्वादशविधत्वं नियमयति-द्वादशधाऽपि  
काण्ड इति काण्डे; इत्यत्र भग्नमिति शेषः । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, च चावधारणार्थः, तेन छिन्न-  
मित्यत्र सम्बध्यते, छिन्नमेव द्विधा, न कर्कटकादि । सामान्येनेन काण्डभग्नलक्षणमाह-अस्ताङ्गते-  
त्यादि । काण्डे भग्नस्यैतच्चिह्नं अस्ताङ्गता शोफरुजयोरतिवृद्धिः । सम्पीड्यमाने हस्तादिना  
मृदिते सति शब्दः, स्पर्शासहश्च, तथा स्पन्दनतोदशूला भवन्ति । सर्वासु शयनासनादिका-  
स्ववस्थासु शर्मलाभो न भवति ॥ ४-६ ॥

अथ काण्डे भग्नस्य नामानुसारिलक्षणम् ।

काण्डे भग्नस्य द्वादशप्रकारादप्यधिकत्वमाह--

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥७॥

म०-भग्नमित्यादि । समासतो नामभिरेव तुल्यमिति संक्षेपतो नामा-  
नुरूपमेतदवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

आ०-काण्डे भग्नस्य द्वादशप्रकारादप्यधिकत्वमाह-भग्नमित्यादि । संक्षेपतो नामानुरूपमे-  
तदेवावगन्तव्यं, यस्येदंशास्थि भग्नं तस्यैव नामेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ काण्डे भग्नस्य कष्टसाध्यत्वम् ।

कष्टसाध्यतामाह--

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।

उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ८ ॥

( सु० नि० अ० ३ )

म०-अल्पेत्यादि । वातात्मकस्येति वातप्रकृतेः । उपद्रवैरिति उपद्रवाः=  
ज्वराध्मान-मूत्र-पुरीष-सङ्गादयः ॥ ८ ॥

आ०-भग्नस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह-अल्पाशित इति ।—आहाररहितस्य, अनात्मवतोऽप-  
त्याशिनः, वातात्मकस्य वातप्रकृतेः । उपद्रवैरित्यादि उपद्रवा ज्वर-मोह-मूत्र-पुरीष-सङ्गादयः ॥ ८ ॥

अथ काण्डे भग्नस्यासाध्यत्वम् ।

असाध्यतामाह—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।

जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद् हि विचक्षणः ॥ ९ ॥

असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।

भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शङ्खे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥ १० ॥

( सु० नि० अ० १५ )

म०—भिन्नं कपालमित्यादि । भग्नमिति वाच्ये भिन्नमिति यत् कृतं, तत् कपालानां प्रायशो भेदात् । अत एवोक्तं,—“कपालानि विभज्यन्ते” ( सु. शा. स्था. अ. ५ )—इति । ननु, कट्यस्थः कपालसंज्ञाया अभावात् कथमुच्यते भिन्नं कपालं कट्यामिति ? तदुक्तं सुश्रुते,—“जानु- नितम्बांस-गण्ड-तालु-शंख-वङ्क्षण-शिरःसु कपालानि” ( सु. शा. स्था. अ. ५ )—इति, उच्यते, नितम्ब-ग्रहणेन तत्र कटीग्रहणाददोषः; अथवा सर्वं कपालसंज्ञितम् अस्थिभिन्नम् तथा कट्यां चास्थिभिन्नं वर्जयेत् । असंश्लिष्टकपालं चेति तु नियमार्थम् ; तेन ललाटे कपालस्यासंश्लिष्टस्यासाध्यत्वम्, नान्यथा भिन्नस्येति । भिन्नं कपालमिति काण्डे-भग्नमेतत् । सन्धिमुक्तमिति नानाविधमपि सन्धिमुक्तं कट्यां न सिध्यतीति । च्युतमिति अधः क्षिप्तम्, अन्यस्तु विश्लिष्टमाह; अथवा कट्यां सन्धिमुक्तं च्युत-लक्षणं न सर्वम् । जघनं प्रतिपिष्टं चेति जघनस्थाने पिष्टमुत्पिष्टमेतत्तथा च्युत-मिति च । सन्धिमुक्तं पुनर्विशेषार्थमुक्तम्, विशेषाभिधानादन्यस्य कटीसन्धिमुक्त-स्य कदाचित् साध्यता सूच्यते, अत एव चिकित्सिते “ततः स्थानस्थिते सन्धौ” ( सु. चि. स्था. अ. ३ )—इति वक्ष्यति । असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यदिति यथा अविद्यमानसंश्लेषं यत् कपालं, तथा ललाटे चूर्णितं च यत् विघटितसन्धि तदसाध्यम् । भग्नमिति सामान्येन सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं गृह्यते । अन्ये तु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नविशेषं “प्रसारणे कम्पमानम्” इत्यनेनोक्तं वद-न्ति । उक्तं च भालुकिना,—“शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्डे भग्नं मरणाय”—इति । स्तनान्तरे=उरसि, मूर्ध्नि=चूडास्थाने ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—असाध्यतामाह—भिन्नमित्यादि । भग्नमिति वाच्ये भिन्नमिति यत्कृतं, तत्कपालानां प्रायशो भेदात् । यदुक्तमिदं—कपालानि विभज्यन्ते इत्यादि । ननु, कट्यस्थः कपालसंज्ञाया अभावात् कथमुच्यते भिन्नं कपालं कट्यामिति ? यदुक्तं सुश्रुते,—“जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरस्सु-कपालानि” इति । उच्यते—नितम्बग्रहणेन तत्र कटीग्रहणाददोषः, अथवा—सर्वं कपालसंज्ञितम् अस्थिभिन्नं, छेदात्तथा कट्यां चास्थिभिन्नं च वर्जयेत् । सन्धिमुक्तमित्यादि नानाविधमपि सन्धिमुक्तं कट्यां न सिध्यति । तथा कट्यां च्युतमिति अधःक्षिप्तं, संज्ञेयम् । पिष्टमु-



त्पिष्टमसंज्ञं च, जघनं प्रति लक्ष्यकृतं न सिध्यति । पुनर्वर्ज्यं भग्नमाह--असंश्लिष्टमित्यादि ।  
यथा तथा अविद्यमानसंश्लेषं यत् कपालं तथा चूर्णितं यत् विघटितसन्धि तदसाध्यम् । भग्न-  
मिति सामान्येन सन्धिमुक्तं काण्डे भग्नं च गृह्यते, अन्ये तु भग्नमिति काण्डे भग्नमाहुः । यदुक्तं भाडु-  
किना--“ शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्डे भग्नं मरणाय”-इति । स्तनान्तरे उरसि, स्तनग्रहणेन  
स्तनान्तरं बोद्धव्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ सर्वेषां भग्नानामनवधानादसाध्यत्वम् ।

सर्वेषामनवधानतोऽसाध्यत्वमाह—

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात् ।

संक्षोभाद् वाऽपि यद् गच्छेद् विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० १५ )

म०—सम्यगित्यादि । सन्धितं=संयमितम् । दुर्निक्षेपनिबन्धनादिति दुःस्था-  
पनात्तथा दुष्टबन्धनात् । संक्षोभाद्वेति । अभिघातभयादिसंक्षोभात् । अयमर्थः—  
सम्यक् संयमितमपि दुःस्थापनात्, सुन्यस्तमपि दुष्टबन्धनात्, सुन्यस्तं=सुब-  
द्धमपि संक्षोभाद्विकृतमसाध्यम् ॥ ११ ॥

आ०—सर्वेषामनवधानतोऽसाध्यत्वमाह- सम्यगित्यादि । दुर्निक्षेपनिबन्धनात् । दुःस्थापनात् दुष्ट-  
बन्धनात् । संक्षोभाद्वेति अभिघातभयादिसंक्षोभात् । अयमर्थः—सम्यक् संयमितमपि दुष्टबन्धनात्तथा  
सुन्यस्तं सुबद्धमपि संक्षोभात् विकृतमसाध्यम् ॥ ११ ॥

अथास्थिविशेषेण भग्नविशेषः ।

अस्थिविशेषेण भग्नविशेषमाह—

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च ।

कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥ १२ ॥

( सु० नि० अ० १५ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भग्ननिदानं समाप्तम् ॥

म०—तरुणास्थीनीत्यादि । नम्यन्ते=वक्रीभवन्ति, तेनात्र वक्रलक्षणं भग्नम् ।  
घ्राणकर्णाक्षिपुटेषु तरुणं कोमलमास्थि । भिद्यन्ते नलकानि चेति अस्थ्यन्तरानु-  
प्रवेशाद्भिद्यन्ते, अतिपातितलक्षणेन च भग्नेन नलकानि युज्यन्ते; अन्ये तु द्वाद-  
शविधमपि भग्नमत्रेच्छन्ति । कपालानि विभज्यन्त इति कपालेषु विदरणलक्षणो  
भग्नः । ‘विभिद्यन्ते’ इति पाठान्तरम्; अर्थस्तु स एव । रुचकानि दन्ताः, तेषु  
स्फुटितलक्षणो भग्नः । अस्थीनि पञ्चविधानि तरुण-नलक-कपाल-वलय-रुचक-  
भेदात् । रुचकानि चेति चकारात् वलयान्यपि स्फुटितानि भवन्तीति । एतत्  
सुश्रुते स्फुटितं भग्नम् ॥ १२ ॥

इति श्रीकण्डदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भग्ननिदानं समाप्तम् ।



आ०—अस्थिविशेषेण भग्नविशेषमाह—तरुणेत्यादि । घ्राणकर्णाक्षिकूटेषु तरुणास्थीनि कोमला-  
स्थीनि, नम्यन्ते वक्रीभवन्ति । अत्र वक्रलक्षणं भग्नम् । भिद्यन्ते नलकानीत्यादि । अस्थ्यन्तरानुप्रवेशा-  
द्भिद्यन्ते, अतिपातितलक्षणेन च भग्नेन नलकानि युज्यन्ते । अन्ये तु द्वादशविधमपि भग्नमात्रमिच्छन्ति-  
कपालेषु विदरणलक्षणो भग्नः । रुचकानि दन्ताः, तेषु स्फुटितलक्षणो भग्नः । अस्थीनि पञ्चविधानि,  
तरुणनलककपालवलययरुचकभेदात् । चकाराद् वलयान्वपि स्फुटन्तीति ज्ञेयम् । एतच्च सुश्रुते स्फुटितं  
भग्नम् ॥ १२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

भग्ननिदानम् ॥ ४४ ॥

अथ नाडीव्रणनिदानम् ।

( Sinus, Fistula )

अथ नाडीव्रणस्य संप्राप्तिः ।

भग्नस्यापि व्रणस्योपेक्षया नाडी भवति, अतोऽनन्तरं नाडीमाह—

यः शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो

यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।

अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य

स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥ १ ॥

( सु० नि० अ० १० )

म०—यः शोथमित्यादि । उपेक्षत इति पीडनशोधनादिकं न करोति । प्रचुर-  
रपूय इत्यनेन गम्भीरपाकित्वमुक्तम् असाधुवृत्तः=अहिताहाराचारः । स्थानानि  
पूर्वविहितानीति व्रणास्त्रावविज्ञानीयोक्तानि त्वङ्-मांस-सिरा-स्नायु-सन्ध्यस्थि-  
कोष्ठ-मर्माणि ॥ १ ॥

आ०—भग्नस्यापि व्रणस्योपेक्षया नाडीसंभवात्तदनन्तरं नाडीमाह—य इत्यादि । योऽतिपक्वं  
शोफमाममित्युपेक्षते पीडनशोधनादीनि न करोति, अथवा—यः पुरुषः प्रचुरपूयं व्रणमुपेक्षते इति  
संवन्धः । प्रचुरपूयमित्यनेन गम्भीरपाकित्वं दर्शयति । असाधुवृत्तः अहिताहाराचारः । स पूयः  
तस्य पूर्वोक्तान्यपि व्रणास्त्रावविज्ञानीयोक्तानि त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणि स्थानानि विदा-  
र्यन्तिः प्रविशति ॥ १ ॥

अथ नाडीशब्दस्य निरुक्तिः ।

तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरिष्यते तु

नाडीव यद् वहति तेन मता तु नाडी ।

( सु० नि० अ० १० )

म०—तस्येति पूयस्य । नाडीवेति अन्तःशुषिरलतादिनाडीवत् ।—

आ०—तस्येत्यादि । पूयस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते, इष्यते चेति चशब्दो नाडीनिरुक्ति-  
पक्षान्तरसमुच्चये, तामेव नाडीनिरुक्तिमाह--नाडीत्यादि । येन हेतुना नाडीव=प्रणालीव यद्व-  
द्वाति, तेन हेतुना नाडी मतेत्यर्थः । अन्तःशुभिरनाला नाडी ॥—

अथ नाडीव्रणस्य संख्याः ।

तासां कालान्तरसंभवेन दोषानुबन्धेन संख्यामाह—

दोषैस्त्रिभिर्भवति स पृथगेकशश्च  
समूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥ २ ॥

( सु० नि० अ० १० )

म०—दोषैस्त्रिभिरित्यादि । दोषैः पृथक् तिस्रः । एकशश्च समूर्च्छितैरिति  
प्रत्येकं वृद्ध्या मिश्रीभूतैस्त्रिभिश्चतुर्थी; कार्तिकस्तु सन्निपतितैरित्यध्याहार्य  
एकशश्च सन्निपतितैरन्या । समूर्च्छितैः संश्लिष्टैरपरास्तिस्रः । अत एवोक्तं सुश्रुते,—  
“दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्” ( सु०  
चि. स्था. अ. ५ )—इति । व्यतिकरप्रभवा द्वन्द्वप्रभवाः; अपिचकारौ सार्थ-  
कावित्याहुः । न चोक्तपञ्चसंख्याहानिः, अस्मिन् पक्षेऽतिदेशेनोक्तयोर्द्वन्द्वसन्नि-  
पातयोः सर्वत्रागणनात् । शल्यनिमित्ततोऽन्येति आगन्तुरपरेत्यर्थः । इति पञ्च  
नाड्यः ॥ २ ॥

आ०—तासां कालान्तरसंभवेन दोषानुबन्धेन संख्यामाह—दोषैरित्यादि । त्रिभिर्दोषैस्तिस्रः—  
शल्यनिमित्ततोऽन्येति आगन्तुरित्यर्थः । एवं पञ्च नाड्यः ॥ २ ॥

अथ वातजनाड्या लक्षणम् ।

वातजामाह—

तत्रानिलात् परुष-सूक्ष्म-मुखी-सशूला  
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—तत्रेत्यादि । अधिकं स्रवति क्षपास्त्विति शैत्येन वातवृद्धे रात्रावधिकं  
स्रवणम् ॥—

आ०—तत्र वातजमाह—तत्रेत्यादि । परुषं कर्कशं सूक्ष्मं मुखं यस्याः सा तथा, शैत्येन वात-  
वृद्धिरतो रात्रावधिकं स्रवति ॥—

अथ पित्तजनाड्या लक्षणम् ।

पित्तजामाह—

पित्तात् तृषा-ज्वर-करी परिदाहयुक्ता  
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

म०—पित्तादित्यादि । अधिकमुष्णमहःसुचेति दिवा औष्ण्येन पित्तकोपात् ॥३॥

आ०—पित्तजामाह—पित्तादित्यादि । परिदाहः=समन्ताद्दाहः, अधिकमुष्णम्, अहःस्विति दिव-  
सेषु, औष्ण्येन पित्तप्रकोपात् ॥ ३ ॥

अथ कफजनाड्या लक्षणम् ।

कफजामाह—

ज्ञेया कफाद् बहु-घनार्जुन-पिच्छिला-ऽऽस्रा  
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—ज्ञेयेत्यादि । बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा इति अत्रार्जुनः=श्वेतः, घनः=  
सान्द्रः, आस्राशब्दः=आस्रावशब्दैकदेशपाठः, पदेऽपि पदैकदेशप्रयोगात् ।  
यथा “जे मोष्ठपदानाम्”—इत्यत्र जे इत्यनेनैव जात इत्युच्यते । पिच्छि-  
लास्रुरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । आस्राशब्दः संपदादिषु पाठात् क्विबन्तः । तुग-  
भावस्त्वागमानित्यत्वात् ॥—

आ०—श्लेष्मजामाह—ज्ञेया इत्यादि । बहुरधिकः, घनः सान्द्रः, अर्जुनः श्वेतः, पिच्छिलः  
आस्राः=आस्रावो यस्यां स तथा । आस्राशब्देन आस्राव उच्यते । अन्ये ‘पिच्छिलास्राः’ इति  
पठन्ति । अत्राप्ययमेवार्थः । आस्राशब्दः संपदादिस्त्वाक्क्विबन्तः, तुगभावस्त्वागमानित्यत्वात् । रज-  
नीप्रवृद्धेति शैत्येन श्लेष्मणः प्रकोपात् ॥—

अथ त्रिदोषजनाड्या लक्षणम् ।

त्रिदोषजामाह—

दाह-ज्वर-श्वसन-मूर्च्छन-वक्रशोषाः  
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ॥ ४ ॥  
तामादिशेत् पवन-पित्त-कफप्रकोपाद्  
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम् ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—दाहेत्यादि । अभिहितानीति मृत्येकं वातादिजनाडीकथितानि ।  
असुक्षयकरीमिति मारणात्मिकां, कालरात्रिं=मरणकारिणीं यमभगिनीमिव ।  
‘गतिं त्वसुहराम्’ इति पाठान्तरम् ॥ ४ ॥—

आ०—त्रिदोषजामाह—दाहेत्यादि । अभिहितानीति पूर्वोक्तदोषत्रयलक्षणानि असुक्षयकरी-  
मिति मारणात्मिकाम् । कालरात्रिमिवेति मृत्युरूपामिव ॥ ४ ॥—

अथ शल्यजनाड्या लक्षणानि ।

शल्यनिमित्तामाह ।

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु  
स्थानेषु शल्यमचिरेण गार्तं करोति ॥ ५ ॥  
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं  
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम् ।

( सु० नि० अ० ९ )

म०—नष्टमित्यादि । नष्टमदृश्यमानम् । कथंचिदिति वेगक्षयादिकारणा-  
नामनियमार्थमुक्तम् । अनुमार्गं=मार्गं लक्ष्यकृत्य । केचित् 'अणुमार्गम्' इति  
पठित्वा शल्यविशेषणतया योजयन्ति । किन्त्वस्मिन् पक्षेऽणुमार्गत्वेनैव शल्य-  
स्यादर्शने प्रयुक्ते कथंचिदिति निरर्थकं स्यात् । उदीरितेष्विति त्वगादिषु ।  
फेनिलं फेनवन्तम् । मथितमुन्मथितम् । उष्णमुष्णस्पर्शम् । एते च धर्माः प्रसा-  
रणाकुञ्चनादौ चलता शल्येन मांसादिक्षोभेण भवन्ति ॥ ५ ॥—

आ०—शल्यनिमित्तामाह—नष्टमित्यादि । नष्टमदृश्यमानम्, कथंचित् प्रमादात्, अनुमार्गं मार्गं  
लक्ष्यकृत्य । केचिद् 'अणुमार्गम्' इति पठन्ति । तत्र शल्यविशेषणतया योजयन्ति । उदीरितेष्विति त्व-  
ङ्मांसादिषु पूर्वोक्तेषु । सा नाडी, फेनिलं फेनवर्णम्, उन्मथितम्, उष्णमुष्णस्पर्शम्, एते च धर्माः  
प्रसारणादौ चलता शल्येन मांसादिक्षोभेण भवन्ति ॥ ५ ॥—

अथ नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

असाध्यत्वादिकमाह—

नाडी त्रिदोषप्रभवान सिध्येत्  
शेषाश्चतस्रः खलुः यत्तसाध्याः ॥ ६ ॥

( सु० नि० अ० ९ )

ज्ञाते श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् ॥

म०—नाडीत्यादि । ननु, नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येदिति पुनरुक्तम्, असुक्ष्मकरीमित्यनेनैवासाध्यत्वस्योक्तत्वात् । नैवम्, अयं ग्रन्थः सुश्रुतेन निदानस्थानोक्तमेव त्रिदोषनाड्या असाध्यत्वमनूद्य तदन्यासां शेषत्वनिश्चयेन यत्र साध्यत्वप्रतिपादनाय चिकित्सिते पठितः, स एवात्र माधवकरेण लिखित इत्यदोषः ॥ ६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् ।

आ०—असाध्यमाह—नाडीत्यादि । शेषाः वातपित्तकफशल्यजा इति ॥ ६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां नाडी-  
व्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४५ ॥

अथ भगन्दरनिदानम् ।

(Fistula in Ano.)

अथ भगन्दरस्य पूर्वरूपाणि ।

नाडीविशेषत्वात् संख्यासाम्याच्च भगन्दरनिदानम् । भगन्दरपूर्व-  
रूपपिडकामाह—

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्त्तिकृत् ।

भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥ १ ॥

म०—गुदस्येत्यादि । क्षेत्रे=देशे । सैव भिन्ना भगन्दरः । निरुक्तिरस्य सुश्रुतेन कृता । तद्यथा--“गुद-भग-वस्ति-प्रदेशदारणात् भगन्दराः” ( सु. नि. स्था. अ. ४ )-इति । भगशब्दो गुदाद्युपलक्षणम् । भोजेऽप्युक्तम्, “भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्ति तथैव च । भगवद्द्वारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भग-न्दरः”-इति । पूर्वरूपं त्वस्य सुश्रुते पठ्यते; यथा--“कटी-कपाल-वेदना गुदकण्डुर्दाहः शोथश्च गुदस्य भवति” ( सु. नि. स्था. अ. ४ )-इति । एतत् सामान्यं पूर्वरूपम् । कटीकपालमत्र कटीफलकम् । पञ्चविध इति संख्या-कथनं रक्तज-द्वन्द्वज-भगन्दरसंभावनानिरासार्थम् ॥ १ ॥

आ०—नाडीविशेषसंख्यासामान्याद्व्रणवदुपक्रमाद्वाऽतोऽनन्तरं भगन्दरनिदानम् । तस्या-  
वस्थानसंश्रयत्वेन लक्षणमाह—गुदस्येत्यादि । क्षेत्रे देशे, पार्श्वतः=समीपतः, पिडका, सव भिन्ना भगन्दरार्त्तिकृत्, तस्य च निरुक्तिः सुश्रुतेन कृता—गुदभगवस्तिप्रदेशदारणाद्भगन्दरः—  
इति । भगन्दरशब्दे भगशब्दो गुदाद्युपलक्षणः, भोजेऽप्युक्तम्—“भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्ति तथैव च । भगवद्द्वारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः”-इति । पूर्वरूपं त्वस्य सुश्रुते पठितम्, यथा—“कटीकपालवेदना गुदकण्डुर्दाहः शोथश्च गुदस्य भवति”—इति । एतत्सामान्यं पूर्वरूप-  
मिति । कटीकपालमत्र कटीफलकम् । स च पञ्चविधः—दोषैस्त्रयः, सात्रेवातेनैकः, शल्येन चापरः, एवं पञ्चविधसंख्याकथनं रक्तजद्वन्द्वजभगन्दरसंभावनानिरासार्थम् ॥ १ ॥

अथ शतपोनकारुयभगन्दरस्य लक्षणम् ।

शतपोनकमाह—

कषायहृक्षैस्त्वतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडिकां करोति याम् ।  
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ॥२॥  
तत्रागमो मूत्र-पुरीष-रैतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ।

म०—कषायेत्यादि । अपानदेश इति गुददेशे । उपेक्षणादिति विम्लापनाद्य-  
करणात् । रुजा च भिन्नेति रुजा रुजान्विता, अर्श आदेराकृतिगणत्वादत्र,  
भिन्ना=विदीर्णा । व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेदिति शतपोनकतुल्यत्वात् शतपो-  
नकः । शतपोनकश्चालनिका, सहस्रधारा इत्यन्ये । किंवा शतपोनकः शूकदोषे  
पठितो विकारः, “छिद्वैरणमुखैः”—इत्यादिना, किंतु यदि शूकदोषपठितशत-  
पोनकतुल्यत्वमस्य तदा छिद्वैरणमुखैरित्यादिनिमित्तस्योभयत्र पठितत्वात् किं  
तत्सादृश्यप्रवृत्तये संज्ञा, सा वा एतत्सादृश्यप्रवृत्तेति दुर्विज्ञानात्तत्रापि चाल-  
निकातुल्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यमानेन जेज्जटेन चालनिकांतुल्य-  
त्वमत्र वर्णितम् । शतपोनकवदनेकमुखत्वे वातिकभगन्दरस्वभाव एव हेतुः ॥२॥—

आ०—वातिकशतपोनकमाह—कषायेत्यादि । उपेक्षणादिति विम्लापनाद्यकरणात् । रुजा-  
च भिन्नेति रुजा रुजान्विता, भिन्ना विदीर्णा । शतपोनकतुल्यत्वान्छतपोनकः शूकदोषपठितो  
विकारः, । चालनिकातुल्यत्वमस्य शतपोनकवदनेकमुखत्वेन । तत्र च वातिकभगन्दरस्वभाव  
एव हेतुः, शतपोनकोऽस्य नाम ॥ २ ॥—

अथोष्ठशिरोधराख्यभगन्दरस्य लक्षणानि ।

उष्ट्रग्रीवलक्षणमाह—

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं  
करोति रक्तां पिडिकां गुदाश्रिताम् ॥ ३ ॥  
तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं  
भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥ ४ ॥

म०—प्रकोपणैरित्यादि । तदाशुपाकाहिमपूतिवाहिनीमिति तदेति तत्काले,  
पित्तजत्वेनाशुपाका च सा अहिमपूतिवाहिनी उष्णपूतिवाहिनी च सा आशुपा-  
काहिमपूतिवाहिनी ताम् । अत्र पिडिकावस्थागतगलवक्रत्वेन उष्ट्रग्रीवाकारत्वं,  
तेनोष्ट्रग्रीवसंज्ञा ॥ ३ ॥ ४ ॥

आ०—पित्तजमुष्ट्रग्रीवमाह—प्रकोपणैरित्यादि । उष्णपूतिदुर्गन्धवाहिनीम् । अत्रापि पिडि-  
कावस्थागतगलवक्रत्वेन उष्ट्रग्रीवाकारत्वं, तेनोष्ट्रग्रीवसंज्ञा ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथ परिस्त्राविभगन्दरस्य लक्षणानि ।

परिस्त्राविणमाह—

कण्डूयनो घनस्त्रावी कठिनो जन्दवेदनः ।

श्वेतावभासः कफजः परिस्त्रावी भगन्दरः ॥ ६ ॥

म०—कण्डूयन इत्यादि । परिस्त्रावी कफजः, स च घनस्त्रावयोगात् परिस्त्रावी ॥ ६ ॥

आ०—परिस्त्राविसंज्ञं कफजं भगन्दरमाह—कण्डूयन इत्यादि । परिस्त्रावी भगन्दरः कफजः, स च घनपरिस्त्रावयोगात्परिस्त्रावी । कण्डूयनः=कण्डुबहुलः ॥ ६ ॥

अथ शम्बूकावर्ताख्यभगन्दरस्य लक्षणानि ।

सन्निपातजं शम्बूकावर्तमाह—

बहु-वर्ण-रुजा-स्त्रावा पिडका गोस्तनोपमा ।

शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥ ६ ॥

म०—बहुवर्णरुजास्त्रावेत्यादि । प्रत्येकदोषजभगन्दरपठितवर्णवेदनाः स्त्रावश्च । शम्बूकावर्तवत् पूर्णनद्याः शम्बूकावर्तवदावर्तनं वेदना दोषगति-विशेषाद्भवतीति शम्बूकावर्तः । तथा च भोजः—“नदीनां परिपूर्णानां शम्बूकावर्तका यथा । समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिताः”—इति ॥ ६ ॥

आ०—सन्निपातजं शम्बूकावर्तमाह—बह्वित्यादि । बहुवर्णीति प्रत्येकदोषजभगन्दरपठितवर्णवेदनास्त्रावी, शम्बूकावर्तवत्=लघुशङ्खवत्, पूर्णनद्याः शम्बूकावर्तो यथा आवर्तनं वेदना दोषगतिविशेषाद्भवतीति शम्बूकावर्तः । तथा च भोजः—“नदीनां परिपूर्णानां शम्बूकावर्तका यथा । समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिताः”—इति ॥ ६ ॥

अथोन्मार्गिभगन्दरस्य लक्षणानि ।

उन्मार्गिभगन्दरमागन्तुमाह—

क्षताद् गतिः पायुगता विवर्धत

ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते ।

प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-

र्त्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥ ७ ॥

म०—क्षताद्गतिरित्यादि । क्षतादिति कण्टकादिघातात् । विदार्यतं इति ते क्रिमयो विदार्य मार्गं कुर्वत इति योजना । अनेकधा मुखैरनेकमुखैः । अत्रोन्मार्गेण=क्रिमिकृतविमार्गेण पुरीषादिगमनादुन्मार्गिसंज्ञा ज्ञेया । तन्त्रान्तरे त्वर्शोभगन्दरः पठितः । तद्यथा—“कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः । अर्शोमूले ततः शोथः कण्डूदाहार्तिमान् भवेत् ॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्



मूलमर्शसः । स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः—इति । अयमन्यतमस्मिन् शतपोनकादीनां दोषलक्षणदर्शनादन्तर्भाव्यः ॥ ७ ॥

आ०—उन्मार्गिभगन्दरमागन्तुमाह—क्षतादित्यादि । क्षतात् कण्टकादिघातात्, ये कुमयो विदार्य मार्गं प्रकुर्वन्त इति योजना । अनेकधा मुखैरनेकमुखैर्वर्णैः । अत्रोन्मार्गेण कुमिकृतविमार्गेण पुरी-  
पादिनिर्गमादुन्मार्गिसंज्ञा प्रतीता । तन्त्रान्तरे त्वर्शोभगन्दरः पठितः, यथा—“ कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः । अर्शोमूले ततः शोफः कण्डुदाहार्तिमानभवेत् ॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः । स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः—इति । अयं शतपोनकादीनां दोषलक्षण-  
दर्शनादन्तर्भाव्यः ॥ ७ ॥

अथ भगन्दरस्य साध्यासाध्यलक्षणानि ।

प्रतीकारप्रयत्नायाह—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।

तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥ ८ ॥

( सु० नि० अ० ४ )

म०—घोरा इत्यादि । दुःखा इति दुःखप्रदाः । क्षतजश्च विशेषत इति क्षतजोऽपि विशेषमनेकव्रणयोगं क्रिमिसंभवादिकं च वीक्ष्यासाध्यः, अत एव चिकित्सिते असाध्यतां प्रतिज्ञाय क्रियां वक्ष्यति । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, विशेषतोऽतिशयादसाध्य इत्यर्थः । यापनार्थं क्रियाविधिरिति । कचिद् ‘क्षतजश्च भगन्दरः’—इति पाठः । क्षतजो विशेषतः साधयितुं घोरः असाध्य एव, स्थावरूपविशेषस्य युक्तत्वादिति गदाधरः ॥ ८ ॥

आ०—असाध्यलक्षणमाह—घोरा इत्यादि । क्षतजोऽपि विशेषमनेकव्रणयोग्यं क्रिमिसंभवादिकं वीक्ष्यासाध्यः ॥ ८ ॥

अथ भगन्दरस्यासाध्यलक्षणानि ।

अवस्थायामसाध्यतामाह—

वात-मूत्र-पुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।

भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ९ ॥

( सु० नि० अ० ४ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भगन्दरनिदानं समाप्तम् ।

म०—वातमूत्रपुरीषाणीत्यादि । भगन्दरात्स्रवन्त इत्यत्र ‘अमी विशेषा’ इति शेषः ॥ ९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भगन्दरनिदानं समाप्तम् ।

आ०—अवस्थायामसाध्यतामाह—वातेत्यादि । भगन्दरात्स्रवन्त इत्यत्र ‘अमी विशेषा’ इति शेषः । अमी वाताद्या विशेषा भगन्दरात्स्रवन्तस्तमातुरं विनाशयन्ति ॥ ९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामाप्तद्वर्णणाख्यायां

भगन्दरनिदानम् ॥ ४६ ॥

अथोपदंशनिदानम् ।

Soft Chancre Syphilis. )

अथोपदंशस्य कारणानि ।

स्थानप्रत्यासत्तेरुपदंशनिदानमाह—

हस्ताभिघातान्नख-दन्त-पातादधावनाद् रत्यतिसेवनाद् वा ।

योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्रे पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

म०—हस्तेत्यादि । नख-दन्त-पातादिति बलवदनुरागोदयात् नखदन्तच्छे-  
दस्थानत्वेनानुक्तेऽपि मेहने नखदन्तपातः, यदुक्तं कामशास्त्रे—“शास्त्रस्य विष-  
यस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः । प्रवृत्ते रतिचक्रे तु न शास्त्रं नापि च क्रमः”  
( का. सू. सां. अ. अ. २ )—इति । कलहादिवशाद्वा मेहने नखदन्तपातः ।  
अधावनादप्रक्षालनात् । रत्यतिसेवनादिति व्यवायस्यात्यन्तसेवनात् । योनि-  
प्रदोषादिति दीर्घ-कर्कश-रोमादियोगाद्योनिदुष्टेः । शिश्रे=मेहने । विविधापचारै-  
रिति अशुद्ध-सलिल-प्रक्षालन-ब्रह्मचारिणीगमनादिभिः । उपदंशसंज्ञा च दंश-  
नोपाधिभन्तरेणापि रूढा बोद्धव्या । यद्यप्यभिघातक्षते मेहने उपदंश आगन्तुः  
षष्ठः संभाव्यते, तथाऽपि तस्य दोषलिङ्गयुक्ततया दोषज एवान्तर्भावः ॥ १ ॥

आ०—व्रणत्वत्तामान्यात्स्थानप्रत्यासन्नत्वादुपदंशनिदानम् । तस्य हेतुमाह—हस्तेत्यादि ।  
नखदन्तपातादिति बलवदनुरागोदयात् प्रबलकामरागवशात् । कामिनां मेहने दन्तनखपातो  
भवति । यदुक्तं कामशास्त्रे—“शास्त्रस्य विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु न शास्त्रं  
नापि च क्रमः”—इति । कलहादिवशाद्वा मेहने नखदन्तपातः, अधावनादप्रक्षालनात् रत्युपसेवनादिति  
व्यवायस्यात्यन्तसेवनात्, योनिप्रदोषात् अल्पमहाद्वारदीर्घकर्कशरोमसंकीर्णदेशत्वादयोनिदोषात्,  
रोगप्रभृतेर्वा योनिदुष्टेः । विविधापचारैरिति क्षाराण्यमलिनाम्भःप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः ।  
पञ्चोपदंशा इति वातेन, पित्तेन, शोणितेन, कफेन, संनिपातेन—एवं पञ्च । यद्यप्य-  
भिघातक्षते मेहने उपदंश आगन्तुः षष्ठः संभवति, तथाऽपि तस्य दोषलिङ्गयुक्ततया दोषज एवान्तर्भावः ॥

अथ वातिकोपदंशस्य लक्षणानि ।

सर्तोदभेदैः स्फुरणैः सकृच्छणैः स्फोटैर्व्यवस्यत् पवनोपदंशम् ।

आ०—वातजोपदंशलक्षणमाह—सर्तोदेत्यादि । भेदो द्विधा क्रियत इव । व्यवस्यत्=ज्वली-  
यात् ॥—

अथ पैत्तिकोपदंशस्य लक्षणानि ।

पैत्तिकमाह—

पीतैर्वहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन,—

म०—पीतैरित्यादि । स्फोटैरित्यनुसञ्जनीयम् । एवमुत्तरत्रापि ॥—

आ०--पित्तजमाह--पीतैरित्यादि । पित्तै रक्तैर्वेति विकल्पः, पित्तेन बहुक्लेदयुतैः आर्द्रता-  
बहुलैः, स्फोटैरिति शेषः ।--

अथ रौधरोपदंशस्य लक्षणानि ।

रक्तजमाह--

—रक्तात् पिशितावभासैः ॥ २ ॥

स्फोटैः सकृष्णै रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।

सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्धनैः स्रावयुतैः कफन ॥ ३ ॥

म०--रक्तादित्यादि । रक्तात् पिशितावभासैरिति मांसवत्ताम्रैः स्फोटैः  
रक्ताच्छोणितात् उपदंशं व्यवस्येत् । 'रक्तैः' इति पाठान्तरे रक्तैः शोणितैः ॥ २ ॥ ३ ॥

आ०--रक्तजमाह--रक्तात् पिशितावभासैरिति मांसवत्ताम्रैः स्फोटैः रक्तात्=शोणितात् उपदंशं  
व्यवस्येत् । 'रक्तैः' इति पाठान्तरम्, तत्र रक्तैः शोणितैः । कफजमाह--सकण्डुरैः कण्डूयुतैः  
महद्भिः महत्परिग्रहैः, धनैर्निविडैः, स्फोटैरिति शेषः ॥ २ ॥ ३ ॥

अथ सान्निपातिकोपदंशस्य लक्षणानि ।

सन्निपातजमाह--

नानाविध-स्राव-रुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ।

म०--नानाविधेत्यादि । नानाविधस्रावरुजोपपन्नमिति प्रत्येकदोषोक्त-  
स्राववेदनायुक्तम् । त्रिमलोपदंशमिति त्रिदोषोपदंशम् ॥--

आ०--सन्निपातजमाह--नानेत्यादि । प्रत्येकदोषोक्तस्राववेदनायुक्तम् । त्रिमलोपदंशमिति त्रिदो-  
षोपदंशमसाध्यमाहुः ॥--

अथासाध्योपदंशस्य लक्षणानि ।

असाध्यतामाह--

विशीर्णमांसं किमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च ॥ ४ ॥

म०--विशीर्णेत्यादि । मुष्कावशेषमिति विशीर्णसमस्तमेहनमांसत्वेनाव-  
शिष्टफलकोषमात्रम् ॥ ४ ॥

आ०--वर्ज्यमाह--विशीर्णेत्यादि । विशीर्णमांसं--शटितमांसं, कृमिभिः प्रजग्धं=भक्षितं,  
मुष्कावशेषमिति शीर्णसमस्तमेहनमांसत्वेनावशिष्टफलकोषमात्रम्, एवमुक्तलक्षणोपदंशं परि-  
वर्जयेत् ॥ ४ ॥

अथ पुनरुपदंशस्यासाध्यलक्षणानि ।

उपक्रमे चिकित्साकरणार्थमाह---

संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः ।

कालेन शोथ-क्रिमि-दाह-पाकैर्विशीर्णशिक्ष्णो ग्रियते स तेजः ॥ ५ ॥

म०--संजातेत्यादि । विषये प्रसक्त इति अतिव्यवत्परतः, कालेन=चिर-  
कालेन ॥ ५ ॥

आ०--उपक्रमे चिकित्साकरणार्थमाह--संजातेत्यादि । यो मूढो विषये प्रसक्तः व्यववाहितत्परः= स तेजोपदंशेन कालेन=कालान्तरेण ग्रियते शोथादिभिरुपद्रवैः प्रशीर्णशिक्ष्णः=नालित-  
मेहनः ॥ ५ ॥

अथ लिङ्गवर्त्याख्यरोगस्य लक्षणानि ।

एकस्थानत्वेनात्र लिङ्गार्श आह---

अंकुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितैः ।

क्रमेण जायते वर्तिस्तान्नचूडशिखोपमा ॥ ६ ॥

कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा ।

( सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा । )

लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उपदंशनिदानं समाप्तम् ॥

म०--अंकुरैरित्यादि । अंकुरैरंकुरसदृशैरीषदीर्घैः, संघातैर्मसप्रतानैः, 'संजातैः' इति पाठे 'मांसैः' इति शेषः । तान्नचूडशिखोपमा इति तान्नचूडः= कुक्कुटः, तच्चूडातुल्या । सन्धाविति मेढ्रन्ध्रसन्धौ, सर्वसन्धिगतेत्यनेन सर्वसन्धेरुक्तत्वात् । एषा त्रिदोषजा; अत एव 'सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा' इति क्वचित् पाठः । सुश्रुते क्वचित् स्त्रीणामप्युपदंशः पठ्यते । यथा । "मेढ्रसन्धौ व्रणाः केचित् केचित्सर्वाश्रयास्तथा । कुलत्थाकृतयः केचित् केचित् पद्मदलोपमाः ॥ रुजादाहार्तिबहुलाः कृष्णास्तोदसमन्विताः । शीघ्रं केचिद्विसर्पन्ति शनैः केचित्तथाऽपरे । स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः" इति । किंतु समानतन्त्रेष्वदर्शनादेतदनार्थमाहुः ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायामुपदंशनिदानं समाप्तम् ।

आ०—एकस्थानत्वेनात्र लिङ्गार्थ आह अङ्कुरैरित्यादि । अङ्कुरसदृशैरीषदीर्घसंघातैः मांसप्र-  
तानैः । अन्ये सन्धाविति मेढ्रन्ध्रसन्धौ, सर्वसन्धिगतेत्यनेन सर्वसन्धेरुक्तत्वात्, एषा त्रिदोषजा,  
अत एव—“सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा” इति क्वचित्पठ्यते । सुश्रुते तु क्वचित्  
श्रीणामप्युपदेशाः पठ्यन्ते । तद्यथा—“मेढ्रसन्धौ त्रणाः केचित्केचित्सर्वाश्रयास्तथा । कुलस्थाकृतयः  
केचित्केचित्पद्मदलोपमाः ॥ रुजादाहार्तिवहुलाः कृष्णस्तोदसमन्विताः । स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उप-  
देशाः सुदारुणाः”—इति । किंतु समानतन्त्रेष्वदर्शनादेतदनार्थमाहुः ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायामुप-  
देशनिदानम् ॥ ४७ ॥

अथ शूकदोषनिदानम् ।

अथ शूकरोगस्योत्पत्तिक्रमः ।

समानस्थानत्वाच्छूकदोषनिदानमाह—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।

व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥ १ ॥

म०—अक्रमादित्यादि । शूको=जलशूकः, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवः  
सशूकः, तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक  
उच्यते; तस्य दोषो वैकृतमसम्यकरणत्वात्, ततो वा दोषो वातादिः, तत्कृतो वा  
विकारः, “दोषा अपि व्याध्याख्यां लभन्ते”—इत्यागमात्, अत एव शूकदोष-  
विवरणे शूकदोषनिमित्ता व्याधय एव बोद्धव्याः । एवं च यत्र ‘कुम्भिका रक्त-  
पित्तोत्था’ इत्यादिकारणान्तरोपवर्णनं तत् शूककृतरक्तपित्तादिरूपं ज्ञेयम् ।  
अन्ये त्वादिशब्दलोपात् शूकादिदोषनिदानमाहुः । आदिशब्देन दुष्टयोनि-  
गूढान्तर्लोभदुर्भगागमनादि गृह्यते; तत्र मनोहरम्, ‘वृद्धिं योऽभिवाञ्छति’ इत्यनेन  
विशेषणेन दुष्टयोन्यादेरयोग्यस्य ग्रहीतुमनर्हत्वात् । अन्ये तु दुष्टयोन्यादीन्युपदे-  
शहेतुत्वेनोक्तत्वात् नानुमन्यन्ते; तदनैकान्तिकम्, एकजातीयहेतूनामनेकरोग-  
करणदर्शनात् । अक्रमादित्यनुचितवृद्धिक्रमात्; अनुचिता च वृद्धिर्भूतिविकार-  
करजलशूकयोगानामाचरणात्, जलशूकयोगानां वात्स्यायनादौ विस्तरः ।  
यथा—“ भल्लतकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदह्य मतिमान् सह  
सैन्धवेन । एतद्विरूढवृहतीफलतोयपिष्टमालेपनं महिषविड्मलीकृतेऽङ्गे ॥ स्थूलं  
महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफः करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ति”—इत्यादि । यच्च  
जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्धनम् । यदुक्तम्—‘अश्वगन्धा-  
वरी-कुष्ठ-मांसी-सिंहीफलान्वितम् । चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत् ॥

स्तन-लिङ्ग-कर्ण-पालि-वर्धनं श्रक्षणादिदम्”—इति । गदाधरस्त्वाह—  
लिङ्गवृद्धिरेव कामपरायणनिन्दितपुरुषैः क्रियमाणा अक्रमः । दश चाष्टौ चेति  
अष्टादश, संख्येयनिर्देशादेव लब्धायां संख्यायां पुनस्तदुक्तिः समूहपिडकादौ  
द्वित्वशङ्कानिरासार्थम् ॥ १ ॥

आ०—समानस्थानत्वाच्छूकदोषनिदानारम्भः । तस्य संप्राप्तिमाह—अक्रमादित्यादि । शूको  
जलशूकः, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवो जीवविशेषः स शूकः, तत्प्रधानो लिङ्गवृद्धौ वात्स्यायनादि-  
ब्राह्मोक्तो योगः शूकदोष उच्यते, तन्मुख्यत्वात् लिङ्गवृद्धौ अन्येऽपि योगाः शूकाः कथ्यन्ते,  
तस्य दोषो विकारः, शूकस्य कारणत्वात्, “कचिदोषा अपि व्याध्याख्यां लभन्ते” इत्यागमात्,  
अत एव शूकदोषविवरणे शूकदोषनिमित्तत्वाद् व्याधय एव वक्तव्याः । अत्र शूकजो इति शूक-  
दोषजा व्याधयः । अक्रमादिति अनुचितवृद्धिक्रमात्, अनुचिता वृद्धिः भूरिविकारकरजलशूक-  
योगानामाचरणात्, जलशूकयोगानां वात्स्यायनादौ विस्तरः । यथा—“मल्लूतकास्थिजलशूकमथा-  
वज्रव्रतमन्तर्विदह्य मतिमान्सह सैन्धवेन । एतद्विरूढवृद्धीफलतोषपिष्टमालेपनं महिषविडविमलीकृ-  
तेऽङ्गे ॥ स्थूलं महत्तरतुरङ्गमनुल्यमाशु शेफं करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ते” —इत्यादि । यच्च  
जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं, तदुचितमेव लिङ्गवर्धनम् । यदुक्तम्—“अश्वगन्धावचाकुष्ठमांसीसिंही-  
फलान्वितम् । चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत् ॥ स्तनलिङ्गकर्णपालिवर्धनं श्रक्षणादिदम्”—  
इति । शेरुसो=लिङ्गस्य । गदाधरस्त्वाह—लिङ्गवृद्धिरेव कामपरायणनिन्दितपुरुषैः क्रियमाणा  
अक्रमः । दश च अष्टौ चेति अष्टादश, संख्येयनिर्देशादेव लब्धायां संख्यायां पुनस्तदुक्तिः समूह-  
पिडकादौ द्वित्वसंख्यानिरासार्थम् ॥ १ ॥

अथ सर्षपिकाया लक्षणम् ।

सर्षपिकामाह—

गौरसर्षपसस्थाना शूकदुर्भुगहेतुका ।

पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥ २ ॥

म०—गौरेत्यादि । शूकदुर्भुगहेतुकेति दुर्भुगशूकहेतुकंत्यर्थः । पिडकादिषु  
उभयवचनमिति (?) परनिपातः । दुर्भुगो=दुरवचारितः । ‘शूकदुर्भुगहेतुका’  
इति पाठान्तरे शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता चेत्यर्थः ॥ २ ॥

आ०—वातश्लेष्मजनितां सर्षपिकानाह—गौरेत्यादि । गौरसर्षपसुस्थाना । शूकदुर्भुगहेतु  
केति दुर्भुगशूकहेतुकेत्यर्थः । ‘पिडकादिषु उभयवचनम्’ इति परनिपातः । दुर्भुगो दुरवचारितः ।  
‘शूकदुर्भुगहेतुकी’ इति पाठान्तरम् । तत्र शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता चेत्यर्थः ॥ २ ॥

अथाष्टीलिकाया लक्षणम् ।

अष्टीलिकामाह—

कठिना विषमैर्भुगैर्वायुनाऽष्टीलिका भवेत् ।

म०—कठिनेत्यादि । विषमैर्भुगैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन संबध्यते ।  
विषमैरिति अग्रशस्तैः । अष्टीलिका=लौहकारस्य भाण्डीविशेषः, तत्तुल्यत्वा-  
दष्टीलिका ॥—

आ०—अष्टीलिकामाह—काष्ठिनेत्यादि । विषमैर्मूर्ध्नैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन संबध्यते ।  
विषमैः अप्रवास्तैः, मुसैर्वक्रैः । अष्टीलिका लोहकारभाण्डविशेषः, तत्तुल्यत्वादष्टीलिका सा च वातेन ।—

अथ ग्रथितस्य लक्षणम् ।

ग्रथितमाह—

शूकैर्यत् पूरित शश्वद् ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—शूकैरित्यादि । शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितमिति शूकैः सर्वदा पूरितं  
लिङ्गं यत् ग्रन्थिलं तत् ग्रथितमित्यर्थः, ग्रन्थितुल्यत्वात् ग्रथितसंज्ञा ॥ ३ ॥

आ०—कफाद् ग्रथितमाह—शूकैरित्यादि । शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं ग्रथितमित्यर्थः । ग्रथि-  
तत्वाद् ग्रथितसंज्ञा । शश्वदिति अहरहः । शूकपूरणं शेषलि, एतेनैकदिनान्तरपूरणं प्रशस्त-  
मिच्छन्ति कामतन्त्राचार्याः । नित्यपूरणाद् ग्रथितनाम्नो रोगस्योत्पत्तेः ॥ ३ ॥

अथ कुम्भिकाया लक्षणम् ।

कुम्भिकामाह—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—कुम्भिकेत्यादि । कुम्भी=कुम्भीदुलता, तस्याः फलं कुम्भी, तद्वि-  
तस्य लुक्, “इवे प्रतिकृतौ” इति कन् । कुम्भीफलवत् कुम्भिका । अशुमेति  
शुभं शुक्लं तद्विरोधे नञ्, कृष्णेत्यर्थः । ‘आशुजा’ इति पाठान्तरम् ॥—

आ०—रक्तपित्ताभ्यां कुम्भिकामाह—कुम्भिकेत्यादि । कुम्भिका=कुम्भकारी, तस्याः फलं  
कुम्भी, तद्वितस्य लुक् “इवे प्रतिकृतौ” इति कन्, कुम्भीफलवत् कुम्भिका, तथा जाम्बवास्थिनिभा=  
जम्बूफलास्थिसदृशी, अशुभा=शुभं शुक्लं न शुभा अशुभा, कृष्णेत्यर्थः । सा च रक्तपित्तज-  
निता । ‘आशुजा’ इति पाठान्तरम् ॥—

अथालज्या लक्षणम् ।

अलजीमाह—

तुल्यजां त्वलजीं विद्याद् यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—तुल्यजामित्यादि । तुल्यजामिति प्रमेहपिडका अलजी तत्तुल्यसं-  
भवा, सा च रक्ताऽसिता स्फोटचिता । तुल्यत्वमेव विवृणोति—यथाप्रोक्ता-  
मिति, अलजी यथा प्रोक्ता यादृशलक्षणा तथेयमपीत्यर्थः । एषा च कारण-  
चिकित्साभेदात् प्रमेहं विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता ज्ञेया ॥ ४ ॥

आ०—अलजीमाह—तुल्यजामित्यादि । विचक्षणः अलजीपिडकां विद्यात् । किंभूताम् ?  
तुल्यजामिति । प्रमेहपिडका अलजी, तत्तुल्यसम्भवा । सा च रक्तासितस्फोटचिता । तुल्यत्वमेव



विवृणोति—यथाप्रोक्तमित्यादि । सा अलजी यथाप्रोक्ता शाब्दलक्षणा तथेवमपीत्यर्थः । यत्र च कारणचित्तितामेदात् प्रमेह विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता हेया । इयमपि दुष्टशूक-वचाराणाञ्जेषा ॥ ४ ॥

अथ मृदितस्य लक्षणम् ।

मृदितमाह—

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—मृदितमित्यादि । पीडितमिति अधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयम्, पीडितं 'लिङ्गम्' इति शेषः, संरब्धं=सशोथम् ॥—

आ०—मृदितमाह—मृदितमित्यादि । संरब्धं सशोथं तन्मृदितं मृदिताद्यं रोमाकान्तं ज्ञेयम्, पीडितामित्याधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयम् ॥—

अथ संमूढपिडकाया लक्षणानि ।

संमूढपिडकामाह—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पाति-तशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिञ्चितावनते । अत्रापि 'वातकोपात्' इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

आ०—संमूढपिडकामाह—पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पाति-तशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे अत्यर्थं पिञ्चितावनते संमूढपिडका स्यात् । अत्रापि वातप्रकोप इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

अथाधिमन्थस्य लक्षणानि ।

अधिमन्थमाह—

दीर्घा बह्वचश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।

सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना-रोमहर्ष-कृत् ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० १४ )

म०—दीर्घा इत्यादि । कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्रापि सामान्येन शूकदोषाभिहिते शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः । वेदनारोमहर्षकृदिति वेदनया रोमहर्षं करोति ॥ ६ ॥

आ०—अधिमन्थमाह—दीर्घा इत्यादि । दीर्घा विस्तीर्णाः, बह्वचः बहुलाः कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्र सर्वेष्वपि सामान्येन शूकदोषेषु शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः । वेदनया रोमहर्षं करोति इति वेदनारोमहर्षकृत् । अधिमन्थ इति संज्ञा ॥ ६ ॥

आ०—अष्टीलिकामाह—काठिनेत्यादि । विषमैर्मुमैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन संबध्यते । विषमैः अप्रशस्तैः, मुमैर्वक्रैः । अष्टीलिका लोहकारमाण्डविशेषः, तत्तुल्यत्वादष्टीलिका सा च वातेन ।—

अथ ग्रथितस्य लक्षणम् ।

ग्रथितमाह—

शूकैर्यत् पूरित शश्वद् ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—शूकैरित्यादि । शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितमिति शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं यत् ग्रन्थिलं तत् ग्रथितमित्यर्थः, ग्रन्थितुल्यत्वात् ग्रथितसंज्ञा ॥ ३ ॥

आ०—कफाद् ग्रथितमाह—शूकैरित्यादि । शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं ग्रथितमित्यर्थः । ग्रथितत्वाद् ग्रथितसंज्ञा । शश्वदिति अहरहः । शूकपूरणं शेषसि, एतेनैव दिनान्तरपूरणं प्रशस्तं मिच्छन्ति कामतन्त्राचार्याः । नित्यपूरणाद् ग्रथितनाम्नो रोगस्योत्थातः ॥ ३ ॥

अथ कुम्भिकाया लक्षणम् ।

कुम्भिकामाह—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—कुम्भिकेत्यादि । कुम्भी=कुम्भीडुलता, तस्याः फलं कुम्भी, तद्वि-  
तस्य लुक्, “इवे प्रतिकृतौ” इति क्व । कुम्भीफलवत् कुम्भिका । अशुमेति  
शुभं शुक्लं तद्विरोधे नञ्, कृष्णेत्यर्थः । ‘आशुजा’ इति पाठान्तरम् ॥—

आ०—रक्तपित्ताभ्यां कुम्भिकामाह—कुम्भिकेत्यादि । कुम्भिका=कुम्भकारी, तस्याः फलं  
कुम्भी, तद्वितस्य लुक् “इवे प्रतिकृतौ” इति क्व, कुम्भीफलवत् कुम्भिका, तथा जाम्बवास्थिनिभा=  
जम्बूफलास्थिसदृशी, अशुभा=शुभं शुक्लं न शुभा अशुभा, कृष्णेत्यर्थः । सा च रक्तपित्तज-  
निता । ‘आशुजा’ इति पाठान्तरम् ॥—

अथालज्या लक्षणम् ।

अलजीमाह—

तुल्यजां त्वलजीं विद्याद् यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—तुल्यजामित्यादि । तुल्यजामिति प्रमेहपिडका अलजी तत्तुल्यसं-  
भवा, सा च रक्ताऽसिता स्फोटचिता । तुल्यत्वमेव विवृणोति—यथाप्रोक्ता-  
मिति, अलजी यथा प्रोक्ता यादृशलक्षणा तथेयमपीत्यर्थः । एषा च कारण-  
चिकित्साभेदात् प्रमेहं विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता ज्ञेया ॥ ४ ॥

आ०—अलजीमाह—तुल्यजामित्यादि । विचक्षणः अलजीपिडकां विद्यात् । किंभूताम् ।  
तुल्यजामिति । प्रमेहपिडका अलजी, तत्तुल्यसंभवा । सा च रक्तासितस्फोटचिता । तुल्यत्वमेव

विवृणोति—यथाप्रोक्तमित्यादि । सा अलजी यथाप्रोक्ता बाह्यलक्षणा तथेयमपीत्यर्थः । एषा च कारणचिकित्साभिदात् प्रमेह विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता ज्ञेया । इयमपि दुष्टशूका-  
वचात्प्राज्ञेया ॥ ४ ॥

अथ मृदितस्य लक्षणम् ।

मृदितमाह—

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—मृदितमित्यादि । पीडितमिति अधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयम्, पीडितं 'लिङ्गम्' इति शेषः, संरब्धं=सशोथम् ॥—

आ०—मृदितमाह—मृदितमित्यादि । संरब्धं सशोफं तन्मृदितं मृदितस्य रोगाच्चान्तं ज्ञेयम्, पीडितामित्याधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयम् ॥—

अथ संमूढपिडकाया लक्षणानि ।

संमूढपिडकामाह—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पाति-  
तशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिच्छितावनते । अत्रापि 'वातकोपात्'  
इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

आ०—संमूढपिडकामाह—पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यत्राधिकारात् पातित-  
शके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे अत्यर्थं पिच्छितावनते संमूढपिडका स्यात् । अत्रापि वातप्रकोप इत्य-  
नुवर्तते ॥ ५ ॥

अथाधिमन्थस्य लक्षणानि ।

अधिमन्थमाह—

दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।

सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना-रोमहर्ष-कृत् ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० १४ )

म०—दीर्घा इत्यादि । कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्रा-  
पि सामान्येन शूकदोषाभिहिते शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः । वेदनारोमहर्षकृदिति  
वेदनया रोमहर्षं करोति ॥ ६ ॥

आ०—अधिमन्थमाह—दीर्घा इत्यादि । दीर्घा विस्तीर्णाः, बह्व्यः बहुलाः । कफासृग्भ्यामिति  
शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्र सर्वेष्वपि सामान्येन शूकदोषेषु शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः ।  
वेदनया रोमहर्षं करोति इति वेदनारोमहर्षकृत् । अधिमन्थ इति संज्ञा ॥ ६ ॥

अथ पुष्करिकाया लक्षणानि ।

पुष्करिकामाह—

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्त-शोणित-संभवा ।

पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥ ७ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—पिडकेत्यादि ॥ ४ ॥

आ०—पुष्करिकामाह—पिडकाभिश्चित्त्यादि । या पिडकैव पिडकाभिश्चिता व्याप्ता । पद्म-  
कर्णिकसंस्थानेति कमलकोशतुल्या, पुष्करिकेति संज्ञा पित्तशोणिताद्विज्ञेया ॥ ७ ॥

अथ स्पर्शहान्याख्यशूकरोगस्य लक्षणानि ।

स्पर्शहानिमाह—

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—स्पर्शहानिं त्वित्यादि ॥—

आ०—स्पर्शहानिमाह—स्पर्शहानिमित्यादि । स्पर्शहानिनामानं व्याधिविशेषं, शूकदूषितं शूकेन  
दुष्टिं नीतं रक्तं जनयेत् ॥—

अथोत्तमाया लक्षणानि ।

उत्तमामाह—

सुद्रमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ॥ ८ ॥

व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—सुद्रमाषेत्यादिना । एषोत्तमा व्याधिः शूकाजीर्णनिमित्तजा भवति,  
शूकाजीर्णं पुनः पुनर्दुर्बचारितशूकविकृतिरूपमेव । ‘व्याधिरेषोत्तमा नाम’ इति  
पाठान्तरे एषोत्तम इति निर्देशः पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात् साधुः ॥ ८ ॥—

आ०—उत्तमामाह—व्याधिरित्यादि । एषा उत्तमा नाम व्याधिः शूकाजीर्णनिमित्तजा भवति  
शूकाजीर्णं पुनः पुनर्दुर्बचारितशूकविकृतिरूपमेव, तदेव निमित्तं ततो जायत इति । “व्याधिरेषो-  
त्तम” इति निर्देशः पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात्साधुः ॥ ८ ॥—

३ एतच्च—“पिडकाभिश्चिता या च” इति पाठाभिप्रायेण । २ अत्र पादपूर्त्यर्थं “सौऽचि लोपे चत्  
पादपूरणम्” इति सपादसप्ताध्यायीस्थशास्त्रेण सुलोपे सति “आद् गुणः” इति गुणविधौ प्रति-  
बन्धकाभावात् “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्यस्य विषयाभावेनात्रास्यानित्यत्वकल्पनया गुणविधानस्य  
समाधानं व्यर्थमेवेति व्याकरणाः ॥

अथ शतपोनकस्य लक्षणानि ।

शतपोनकमाह—

छिद्रैरणमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ॥ ९ ॥

वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—छिद्रैरणमुखैरित्यादिना । छिद्रैरिति दुरवचारितशूकदोषजनितवात-  
शोणितजैः । चित्तमुपचितम्, अत एव चिकित्सायां लेखनोपदेशः । शतपोनक-  
श्चालनिका, तत्तुल्यत्वात् शतपोनकः ॥ ९ ॥—

आ०—शतपोनकमाह—छिद्रैरित्यादि । यस्य लिङ्गं छिद्रैः सूक्ष्ममुखैः समन्ततः=सर्वतश्चितं  
व्याप्तं, स व्याधिः शतपोनको ज्ञेयः । छिद्रैरिति दुरवचारितशूकजनितवातशोणितजैः । शतपोनक-  
श्चालनिका, तत्तुल्यः शतपोनकः ॥ ९ ॥—

अथ त्वक्पाकस्य लक्षणानि ।

त्वक्पाकमाह—

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वर-दाह-कृत् ॥ १० ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—वातपित्तकृत इत्यादि । शूकदोषेषु कचित् कस्यचित् दोषस्याभिधानं  
शूकविशेषादाहाराचारभेदाच्च समर्थनीयम् ॥ १० ॥

आ०—त्वक्पाकमाह—वातेत्यादि । वातपित्तकृतः त्वक्पाकनामा व्याधिर्ज्ञेयः, स च ज्वरदाह-  
करोति । अयं च दुरवचारितशूकदूषितवातपित्तज इत्यर्थः । शूकदोषेषु कचित् कस्यचित् दोषस्या-  
भिधानं शूकविशेषादाहारादिभेदाच्च समर्थनीयम् ॥ १० ॥

अथ शोणितार्बुदस्य लक्षणानि ।

शोणितार्बुदमाह—

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम् ।

यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तत् शोणितार्बुदम् ॥ ११ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—कृष्णैः स्फोटैरित्यादिना । पिडकाभिरिति स्वल्पाभिर्निपीडितं लिङ्ग-  
मिति बोद्धव्यम् । यस्य वास्तुरुज इति वास्तु व्रणाधिष्ठानं, तत्र रुजः, अगाधो-

च्छ्रितमांसशोथत्वात् । 'वस्तिरुजश्चोग्रा' इति पाठान्तरम् । अर्बुदं=दुरवचारितशूकजशोणितकृतम् ॥ ११ ॥

आ०—शोणितार्बुदमाह—कृणौरित्यादि । पिडकाभिरिति स्वल्पाभिः निपीडितं लिङ्गमिति बोद्धव्यम् । यस्य वास्तुरुज—इति वास्तु त्रणाधिष्ठानम् । तत्र उग्रा रुजः, अगाधोच्छ्रितमांसशोथत्वात् । 'वस्तिरुजश्चोग्राः' इति पाठान्तरम् । अर्बुदम्=दुरवचारितशूकजशोणितकृतम् ॥ ११ ॥

अथ मांसार्बुदस्य लक्षणानि ।

मांसार्बुदमाह—

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम् ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—मांसदोषेणेत्यादि । मांसदोषेणेति शूकपातानन्तरं प्रहारादिना कृतेन मांसदोषेण ॥—

आ०—मांसार्बुदमाह—मांसदोषेणेत्यादि । शूकपातानन्तरं प्रहारादिना कृतेन मांसदोषेण, अत्रापि शोणितं हेतुः, मांसार्बुदसंज्ञा ॥—

अथ मांसपाकस्य लक्षणानि ।

मांसपाकमाह—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥ १२ ॥

विद्यात्तं मांसपाकं तु सवदोषकृतं भिषक् ।

( सु० नि० अ० १४ )

म०—शीर्यन्ते यस्येत्यादि । शीर्यन्ते=गलन्ति, सर्वाश्च वेदना इति वात-पित्त-कफजाः ॥ १२ ॥—

आ०—मांसपाकमाह—शीर्यन्ते इति । शीर्यन्ते=गलन्ति, सर्वाश्च वेदना इति वात-पित्त-कफजा, अयं त्रिदोषजः ॥ १२ ॥—

अथ विद्रध्याख्यशूकरोगस्य लक्षणानि ।

विद्रधिमाह—

विद्रधिं सन्निपातन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥ १३ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—विद्रधिमित्यादि । सन्निपातेन यथोक्तमिति 'नानावर्णरुजास्त्रावः' इत्यादिना सन्निपातजविद्रधिलक्षणं विद्रधिमिह जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

आ०—विद्रधिमाह—यथोक्तमित्यादि । सन्निपातविद्रधिलक्षणेन जानीयात् । विद्रधिनिदानोक्त-  
'नानावर्णरुजास्त्रावः' इत्यादिना ॥ १३ ॥

अथ तिलकालकस्य लक्षणानि ।

तिलकालकमाह—

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा ।

पातितानि पचन्त्याशु मेहं निरवशेषतः ॥ १३ ॥

कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।

सन्निपातसमुत्थास्तु तान् विद्यात् तिलकालम् ॥ १५ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

म०—कृष्णानीत्यादि । चित्राणीति नानावर्णानि । सविषाणीति शूकानां सविषत्वेऽपि विशेषार्थमुक्तम् । कालानीति कृष्णानि, कृष्णतिलतुल्यत्वात्तिल-  
कालकसंज्ञा । शीर्यन्ते=गलन्ति ॥ १४ ॥ १५ ॥

आ०—तिलकालकमाह—कृष्णानीत्यादि । यस्य पुंसः शूकानि कृष्णानि, अथवा चित्राण,  
अथवा सविषाणि, तानि संहत्याशु शीघ्रं निरवशेषतः समग्रं मेहं पचन्ति, कृष्णानि कृष्ण-  
वर्णानि, चित्राणीति शुक्लपीतनीलादिनानावर्णानि, सविषाणीति शूकानां सविषत्वेऽपि विशेष-  
ार्थमुक्तम्, तथा कालानीति कृष्णानि परिणततिलफलवर्णानि भूत्वा शीर्यन्ते गलन्ति, तान् सन्निपा-  
तजान् तिलकालकान् विद्यात्, कृष्णतिलतुल्यवर्णत्वात्तिलकालकसंज्ञा ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथैष्वसाध्यरोगाणां नामानि ।

शूकदोषेष्वसाध्यानाह—

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥ १६ ॥

( सु० नि० अ० १४ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूकदोषनिदानं समाप्तम् ।

म०—तत्र मांसार्बुदमित्यादि । यच्चेति चकारोऽयं भिन्नक्रमः, स च न  
सिध्यतीत्यनन्तरं द्रष्टव्यः, तेन साध्यताऽप्येषामचिरत्वादिना भवति, अत एव  
प्रत्याख्याय चिकित्साविधानमुपपन्नमिति गदाधरः । दुर्ज्ञानात् साध्ये एव  
असाध्यतारोपादसंपूर्णावस्थायामसाध्येऽपि क्रियासिद्धेश्च मां निवर्ततां भिषगिति  
प्रत्याख्याय चिकित्सां कारुणिकतया आचार्य उपदिशतीति मन्तव्यम् ॥ १६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूकदोषनिदानं समाप्तम् ।

आ०—शूकदोषेष्वसाध्यतामाह—तत्रेत्यादि । तत्र तेषु शूकदोषेषु मध्ये यन्मांसार्बुदं, तथा  
विद्रधिः, तथा ये च तिलकालकाः स्युः, एते न सिध्यन्ति । यत् चेति चकारो भिन्नक्रमः, स च न  
सिध्यतीत्यनन्तरं द्रष्टव्यः । तेन साध्यताऽप्येषामचिरत्वादिना भवति, अत एव प्रत्याख्याय चिकित्सा-  
विधानमुपपन्नमिति गदाधरः ॥ १६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायां मातङ्गदर्पणाख्यायां शूकदोषनिदानम् ॥ ४८ ॥



अथ कुष्ठनिदानम् ।

( Skin Diseases. )

अथ कुष्ठोत्पत्तौ हेतवः ।

अष्टादशसंख्यारूपेण तुल्यत्वात् कुष्ठनिदानमुच्यते । विशेषेण कुष्ठजनकं निदानमाह—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रव-स्निग्ध-गुरूणि च ।

भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ १ ॥

व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।

घर्म-श्रम-भया-ऽऽर्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥ २ ॥

अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।

नवान्न-दधि-मत्स्यातिलवणाम्ल-निषेविणाम् ॥ ३ ॥

माष-मूलक-पिष्टान्न-तिल-क्षीर-गुडाशिनाम् ।

व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रा च भजतां दिवा ॥ ४ ॥

विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।

( च० चि० अ० ७ )

म०—विरोधीनीत्यादि । विरोधीनि “न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्” ( च. सू. स्था. अ. २६ ) इत्यादिनोक्तानि । भजतामिति पूर्वेण संबध्यते आगतामिति उपस्थितवेगाम् । वेगांश्चान्यानिति सूत्रपुरीषादिवेगान् । व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वेति भुक्त्वा, व्यायाममतिर्युज्य, सन्तापमतिर्युज्य । निषेविणामिति एतयोरेव सेवनशीलानाम्, निषेविणामित्यनेन सह प्रथमतः संबन्धे कृद्योगलक्षणा षष्ठी स्यात्, ततश्च व्यायामस्यातिसन्तापस्यातिनिषेविणामिति प्रयोगः प्रसज्येत । ‘शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्’ इति पाठान्तरे शीतोष्णादीनां यदा येन क्रमेण सेव्यत्वमुक्तं, तद्वैपरीत्येन तान् सेव्यमानानां; शीतोष्णलङ्घनाहारानित्यनन्तरं प्रतीति द्रष्टव्यं, तेन शीतोष्णादीन् प्रति यः क्रमस्तं मुक्त्वा एतेषामेव निषेविणाम् । घर्मश्रमभयार्तानामिति—घर्मादिभिरार्तत्वे सति द्रुतमविश्रम्य शीताम्बुसेविनाम् । घर्म=आतपः । अजीर्णाध्यशिनामिति अजीर्णमाममन्नम्, अपक्वमिति यावत्, तद् भुञ्जानानाम्, अध्यशिनामाहारे एवापरिणते भुञ्जानानाम् । अशिनामिति अजीर्णाधिशब्दाभ्यां सह संबध्यते । पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्चकर्माणि क्रियमाणे अपचारिणाम् ।

नवान्नदधिमत्स्यातीति अतिशब्दो नवान्नादिभिः सर्वैः संबध्यते । व्यवायं चाप्यजीर्ण इति विदग्धरूपे अजीर्णे । धर्षयतामिति अभिभवताम् । पापं कर्म च कुर्वतामित्यनेनैव विप्रादिधर्षणे लब्धे पुनस्तद्वचनं विशेषार्थम् ॥ ४ ॥—

आ०—अष्टादशरूपसंख्यातुल्यत्वात्कुष्ठनिदानमुच्यते । विद्वारेण दुष्टजनकं निदानमाह—विरोधीनीत्यादि । एतदाचरतां नृणां कुष्ठानि जायन्ते इति संबन्धः । विरोधीनि=हीनलक्षणादीनि भजतामिति संबध्यते । आगतामिति उपस्थितवेगां छाद, तथा वेगांश्चात्मानमिति मूत्रपुरीषादिवेगान्, प्रतिघ्नतां=प्रतिघातं कुर्वताम् । व्यायाममतिघ्नतापमतिभुक्त्वेति भुक्त्वा व्यायामसंतिर्युज्य सन्तापमतिरुच्य निषेविणामिति । एतयोरेव सेवनशीलानां, निषेविणामित्यनेन प्रथमतः सम्बन्धेन कृद्योगवक्ष्यामि इति स्यात् ; तत्र व्यायामस्यातिसन्तापस्यातिनिषेविणामिति प्रयोगः प्रसज्यते । शीतंत्यादि शीतोष्णादीनां तु यदा येन क्रमेण सेव्यत्वमुक्तं, तद्वैपरीत्येन ताम् सेवमानानाम् । धर्म=आतपः । अजीर्णाध्यशिनामित्यादि । अजीर्णमनग्निपक्वमन्नं, चर्वणमिति यावत्, तद्भोजिनाम् । अध्यशिनां, आहार एवापरिणते भुञ्जानानाम् । अशिनामिति अजीर्णाधिभ्यां सह सम्बध्यते । पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्च कर्माणि वमनविरेकादीनि, तेषामपचारिणां=व्यापस्त्वयोगिनाम् । नवान्नदधिमत्स्यातीति, अतिशब्दो नवान्नादिगुडानैः प्रत्येकं सम्बध्यते । व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने इत्यादि । व्यवायं=मैथुनं, विदग्धरूपे अजीर्णे; दिवा च निद्रां भजताम् । धर्षयतामिति अभिभवताम् । पापं कर्म च कुर्वतामित्यनेनैव विप्रादिधर्षणे लब्धे पुनस्तद्वचनं विशेषार्थप्रतिपादकम् ॥ ४ ॥

अथ कुष्ठरोगे दोष-द्रव्याणां संग्रहः ।

दोष-द्रव्य-संग्रहमाह—

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥ ५ ॥

द्रवयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।

अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥ ६ ॥

( च० चि० अ० ७ )

म०—वातादय इत्यादिना । वातादीनां त्रित्वे प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्वकुष्ठेषु मिलितानामेव त्रयाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थम् । द्रव्यसंग्रह इति द्रव्यमारम्भकं कारणमुच्यते; यथा,—“रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा”—( च. सू. स्था. अ. १ )—इति । अर्थलब्धमपि सप्तकमिति पदं सर्वत्र सप्तकनियमार्थं पुनरुक्तम् । ननु, विसर्पाणां समुत्पादे एतावत्येव सामग्री, यदुक्तम्—“रक्तं लसीका त्वङ् मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः”—( च. चि. स्था. अ. २१ ) इति । लसीकया च

तत्रोदकमुच्यते, तत् किंनिबन्धनः कुष्ठविसर्पयोर्भेदः ? उच्यते, कुष्ठं चिरक्रियैः स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबलरक्तपित्तैः; कुष्ठे गुरुप्रधर्षणपरद्रव्यापहारादयो निमित्तं न विसर्पे । अन्ये त्वाहुः-विसर्पा वातादिभिरेकैकशोऽपि भवन्ति, यदुक्तम्—“पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्व-जास्त्रयः” ( च. चि. स्था. अ. २१ )—इति, कुष्ठं तु त्रिदोषजमेवेति । किं त्वेतत्समाधानं त्रिदोषजत्वेऽपि विसर्पाणामेकदोषजकुष्ठवदेकदोषजत्वकीर्तनं संगतमिति न मनोहरम् । अतः कुष्ठानीति अत इत्यस्मात् दोषदूष्यसमुदायात् । सप्त चैकादशैव चेति विच्छेदपाठेन सप्तानां महाकुष्ठत्वमेकादशानां क्षुद्रत्वमिति बोधयति ॥ ५ ॥ ६ ॥

आ०—दोषदूष्यसंग्रहमाह—वातादय इत्यादि । वातादीनां त्रित्वे प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्व-कुष्ठेषु मिलितानामेव त्रयाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थम् । द्रव्यसंग्रह इति द्रव्यमारम्भकं कारणमुच्यते । यथा—‘रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा’—इति । अर्थलब्धमपि सप्तकमिति पदं सर्वत्र सप्तकनि-यमार्थं पुनरुक्तम् । ननु, विसर्पाणामप्युत्पत्त्यादौ एतावत्त्वेव सामग्री । यदुक्तम्—“रक्तं लघीका त्व-ङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः”—इति तत्कुष्ठविसर्पयोः को भेदः ? उच्यते, कुष्ठं चिरक्रियैः स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबल-रक्तपित्तैः, कुष्ठे गुरुप्रधर्षणपरद्रव्यापहारादयो निमित्तं, न विसर्पे । अन्ये त्वाहुः—विसर्पा वातादिभिरे-कैकशोऽपि भवन्ति, यदुक्तम्—“पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः” इति । कुष्ठं त्रिदोषजमेवेति किंत्वयं समाधिः त्रिदोषजत्वेऽपि विसर्पाणामेकदोषजकुष्ठवदेकदोषजत्वकीर्तनं संगतमिति न मनोहरम् । कुष्ठसंख्यामाह—अत इत्यादि । अत इत्यस्माद्दोषदूष्यसमुदायात्सप्त तथा एकादश कुष्ठानि जायन्ते । सप्त चैकादशैविति विच्छेदपाठेन सप्तानां महाकुष्ठत्वमेकादशानां क्षुद्रत्व-मिति बोधयति ॥ ५—६ ॥

अथ महाकुष्ठानां सप्तधात्वम् ।

कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेऽपि उत्खण्डोषेण सप्तप्रकारतामाह—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग् द्वन्द्वैः समागतैः ।

सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥ ७ ॥

( वा० नि० अ० १४ )

म०—कुष्ठानित्यादि । दोषैः पृथक् त्रयः, द्वन्द्वैस्त्रयः, समागतैः सन्निपातै-रेक इति सप्तत्वम् । व्यपदेशोऽधिकत्वत इति यथा—वातेन कुष्ठं कापाल-मित्यादि ॥ ७ ॥

आ०—कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेऽप्युद्वेकदोषेण सप्तप्रकारत्वमाह—कुष्ठानित्यादि कुष्ठानि । सप्तधा सप्तप्रकाराणि, कथमित्याह पृथग्दोषैः वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा, त्रीणि, तथा तैरेव दोषैर्द्वन्द्वैर्वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, कफपित्ताभ्यां त्रीणिः, तथा तैरेव दाषः समागतै

सन्निवृत्तितैरेकम्, इति सप्तत्वम् । तन्वेवं सत्येकदोषज द्विदोषजं कुष्ठं तत्सर्वं त्रिदोषजं स्यादित्याह—सर्वेवित्यादि । सर्वेष्वपि कुष्ठेषु त्रिदोषजेषु सत्त्वधिकत्वं तत्त्वतः=अधिकत्वादव्य-  
पदेशो=निर्देशः कार्यः, सन्निपातस्य समविषमत्वान्, यथा—वातेन कुष्ठं काराळमित्यादि॥ ७ ॥

अथ कुष्ठानां पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

अति-श्लक्ष्ण-खर-स्पर्श-स्वेदास्वेद-विवर्णताः ।

दाहः कण्डुस्त्वचि स्वापस्तौदः कोठोन्नतिर्भ्रमः ॥ ८ ॥

व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः ।

रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम् ॥ ९ ॥

रोमहर्षोऽसृजः काष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् ।

( वा० नि० अ० १४ )

म०—अतिश्लक्ष्णेत्यादिना । अतिश्लक्ष्णः=अतिमसृणः, खरो=रूक्षः, अति-  
श्लक्ष्णो वा खरो वा स्पर्शः ( खरः=कर्कशः, ) स्वेदास्वेदौ=स्वेदवहस्रोतोऽवरो-  
धानवरोधकृतौ । स्वापः=स्पर्शाज्ञानम् । कोठोन्नतिः=वरटीदंष्ट्रसंकाशः शोथः  
कोठः, तस्योन्नतिः । शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव । निमित्तेऽल्पेऽतिको-  
पनमिति अन्यथाऽपि दुष्टशोणितत्वाद्ब्रणानां देहगतानामल्पेऽपि हेतौ कोपः ।  
कुष्ठलक्षणमग्रजमिति कृष्टानां पूर्वरूपमित्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥—

आ०—पूर्वरूपमाह—अतीत्यादि । अतिश्लक्ष्णादिकं कुष्ठलक्षणमग्रजमिति कृष्टानां पूर्व-  
रूपमित्यर्थः । अतिश्लक्ष्ण इति अतिमसृणः, खरो रूक्षः, अतिश्लक्ष्णो वा खरः स्पर्शः । स्वेदा-  
स्वेदाविति स्वेदवहस्रोतोवरोधानवरोधकृतौ । विवर्णताः=वैवर्ण्यं, दाहः=सार्वाङ्गीणः, कण्डूः  
त्वचि, स्वापः स्पर्शाज्ञानं, कोठोन्नतिः वरटीदंष्ट्रसंकाशः शोफः कोठस्तस्योन्नतिः, श्रमो-  
ऽनायासजः । शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः व्रणानामेव । अल्पेऽपि निमित्ते कोपो  
व्रणानाम् ॥ ८ ॥ ९ ॥—

अथ सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणानि ।

(Leprosy)

सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणमाह—

कृष्णारुणकपालाभं यद् रूक्षं परुषं तनुः ॥ १० ॥

कापालं तोदबहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।

रुग्-दाह-राग-कण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥ ११ ॥

उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥ १२ ॥

कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ॥ १३ ॥

यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।

स श्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥ १४ ॥

सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्गजो घृष्टं विमुञ्चति ॥ १५ ॥

प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।

यत् काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥ १६ ॥

त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नव सिध्यति ।

(च० चि० अ० ७)

म०—कृष्णारुणकपालाभमित्यादि । कृष्णारुणकपालाभं=कृष्णारुणकपालवर्णम् । कपालं=कर्कराशकलम् । परुषं=खरस्पर्शम् । तनु=तनुत्वक्, विषमं=दुश्चिकित्स्यम् । रोमपिञ्जरमिति रोमभिः पिञ्जरं कपिलरोममित्यर्थः । स्थिरं=कठिनम् । स्त्यानमाद्रिं सजलं वा । उत्सन्नमण्डलमुद्गतमण्डलम् । कृच्छ्रं=कृच्छ्रसाध्यम् । अन्योन्यसंयुक्तमिति अपरापरैर्भिलितम् । ऋष्यजिह्वासंस्थानमिति ऋष्यो=नीलाण्डो हरिणः, तस्य जिह्वाकारम् । पुण्डरीकदलोपममिति पुण्डरीकं=रक्तपद्मं तत्पत्रोपमं, तेन सश्वेतं रक्तपर्यन्तम् । सरागमिति सलोहितं, मध्ये श्वेतलोहितमित्यर्थः । श्वेतं ताम्रमिति श्वेतलोहितात्मकम् । प्रायश्चोरसीत्युरसि तद्बाहुल्येन भवति, कफप्रधानत्वात् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि भवति । यत् काकणन्तिकावर्णमिति काकणन्तिका=गुञ्जा, गुञ्जासवर्णत्वेन च मध्ये कृष्णमन्ते रक्तम्, अथवा मध्ये रक्तमन्ते कृष्णम् । कुष्ठत्वेनैव त्रिदोषलक्षणत्वे सिद्धे त्रिदोषलिङ्गमिति पुनरुक्तं प्रबलदोषत्रयलिङ्गत्वोपदर्शनार्थम् । इति सप्त महाकुष्ठानि । महत्त्वं चैषां शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहन-बहुदोषजत्व-क्रियाभूयस्त्व-योगात् ॥ १०-१६ ॥

आ०—सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणमाह—कृष्णेत्यादि । कृष्णारुणा ये स्फुटितवर्णाः खण्डास्तद्वर्णम्, अन्ये कृष्णारुणकपालशर्करावर्णमाहुः । रूक्षं=रूक्षस्पर्शं, परुषं खरस्पर्शम् । तनु तनुत्वक्, तोद-

बहुलं=तोदाढ्यं, विपनं दुश्चिकित्स्यम् । औदुम्बरं कुष्ठमाह-रुगित्यादि । त्वग्दाहरागकण्डू-  
मिर्युक्तं, रोमशिखरमिति रोमभिः पिञ्जरं कफिलरोम इत्यर्थः । उदुम्बरफलाभासं=पक्रोदुम्बरवर्णम् ।  
मण्डलकुष्ठमाह-श्वेतमित्यादि । एवंविधं कुष्ठं मण्डलं मण्डलसंज्ञयोच्यते, श्वेतं रक्तं तदाभासं  
स्थिरं कठिनं, स्थानं सान्द्रं सदलं वा, उत्तन्नमण्डलम्=उन्नतमण्डलं, कृच्छ्रं कृच्छ्रसाध्यम्, अन्योन्यसं-  
क्तमिति, परस्परैर्मिलितम् । ऋक्षजिह्वामाह-कर्कशमित्यादि । कर्कशं खरस्पर्शम् । ऋक्षो नीलाण्डो-  
हरिण इति, अन्ये ऋक्षः 'रीछ' इत्याहुः तज्जिह्वाकारम् । पुण्डरीकमाह-सश्वेतमिति ।  
पुण्डरीकं=श्वेतकमल, तस्योपमं, तेन सश्वेतं रक्तपर्यन्तं मध्ये श्वेतं प्रान्तेषु रक्तम् । सोत्सेव-  
मुन्नतम् । सरागमिति प्रान्तेऽधिकरागप्रतिपादकं, सरागमित्यत्र 'सदाहम्' इति क्वचित्पाठः  
सिध्मलक्षणमाह-इवेतमित्यादि । श्वेतं ताम्रमिति श्वेतलोहितात्मकं, तनु अघनं, यत् घृष्टं सद्रजश्चूर्णं  
मुञ्चतीति । प्रायश्चोरसीत्यादि । उरसि बाहुव्येन भवति, कफप्रधानत्वात् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि  
बोद्धव्यम् । काकणमाह-यदित्यादि । काकणन्तिक्का गुञ्जा, तत्समवर्णत्वेन मध्ये कृष्णमन्तेऽतिरक्तम्,  
अथ वा-रक्तमन्ते कृष्णं, तथा सपाकं, तथा तीव्रवेदनं, तथा त्रिदोषलिङ्गं, तत् काकणाख्यं कुष्ठं  
नैव सिद्धयति । कुष्ठवेनैव त्रिदोषलिङ्गत्वे सिद्धे त्रिदोषलिङ्गमिति पुनरुक्तं तत् प्रवलदोषत्रयलिङ्गोपद-  
र्शनार्थम् । इति सप्त महाकुष्ठानि । महत्वं चैत्रां शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहनबहुलदोषजन्यत्वाक्रियामूय-  
स्त्वयोगात् ॥ १०-१६ ॥

अथैकादशक्षुद्रकुष्ठानां लक्षणानि ।

अतः परमेकादशक्षुद्रकुष्ठान्युच्यन्ते--

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपम् ॥ १७ ॥

तदेककुष्ठं, चर्मख्यं बहुलं हस्तिचर्मवत् ।

श्यावं किण-खरस्पर्शं परुषं किंदिभं स्मृतम् ॥ १८ ॥

वैपादिकं पाणि-पाद-स्फुटनं तीव्रवेदनम् ।

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डरलंसकं चितम् ॥ १९ ॥

सकण्डू-राग-पिडकं दद्रुमण्डलमुद्रतम् ।

रक्तं सशूलं कण्डूमत् स्फोटं यद् गलत्यपि ।

तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥ २० ॥

सूक्ष्मा बह्वयः पीडकाः स्राववत्यः

पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः ।

सैव स्फोटैस्तीव्रशहैरुपेता

ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥ २१ ॥

स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम् ॥ २२ ॥

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ।

( च० चि० अ० ७ )

म०—अस्वेदनमित्यादि । महावास्तु=महास्थानम् । मत्स्यशकलोपममिति मत्स्यस्य त्वक्सदृशम् । चर्माख्यं=चर्मकुष्ठम् । बहलमपत्तलम् । किणखरस्पर्शमिति किणो=व्रणस्थानम् । परुषं=रूक्षम् । वैपादिकमिति विपादिकायाः स्वाथऽण् । गण्डैरिति स्फोटैः । दद्रुमण्डलमिति मण्डलरूपतयोत्पादात् दद्रुमण्डलमिति कीर्तनम् । ननु, कथमस्य चरके क्षुद्रत्वेनाभिधानं, सुश्रुते महाकुष्ठे दद्रोरुक्तत्वात्; तथा सिध्म चरके महाकुष्ठे, सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठे दर्शितम् । उच्यते—असिता दद्रुरवंगाढमूला सुश्रुते महाकुष्ठम्, असितेतरदद्रुश्चरकेऽनवगाढमूला क्षुद्रकुष्ठम्, सुश्रुते असितेतरदद्रा विसर्पकुष्ठेऽन्तर्भावः, विसर्पणयोगात्; तथाऽवगाढं सिध्म चरके महाकुष्ठं, सिध्मपुष्पिका तु त्वङ्मात्रगता सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठम्, असितद्रौ असितसिध्मनोऽवरोध इति गदाधरः । जेज्जटस्त्वाह चरकोक्तं सिध्मैव सुश्रुते दद्रुशब्दाभिहितं, नामभेदः केवलं परं न वस्तुभेदः, सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानीत्याविरोधः । किंत्वियमसाध्वी व्याख्या, लक्षणवैलक्षण्यात्; किंच चरकसुश्रुतयोः कुष्ठं प्रति बहुप्रकारो विरोधः, तथाहि—सुश्रुतोक्तमरुणं न चरके पठ्यते, मण्डलं चरकोक्तं न सुश्रुते, क्षुद्रकुष्ठे चरकोक्तचर्माख्यालसक-शतारु-प्रभृतीनि न सुश्रुते, सुश्रुतोक्तक्षुद्रकुष्ठा रक्तसादयश्च न चरके; तस्मादयं समाधिरुचितः । कुष्ठानामसंख्येयत्वमिति केचित् चरके, केचित् सुश्रुते कुष्ठप्रकारा उच्यन्ते । उक्तं हि चरके—“कुष्ठं सप्तविधम्, अष्टादशविधम्, असंख्येयं वा” ( च. नि. स्था. अ. ५ ) इति । यद्गलत्यपीति गलति=विदीर्यते । शतारुरिति बहुव्रणयोगान्वितं नाम । सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिकेति । अत्र कफकार्यं कण्डूः, बहुस्रावत्वं पितात्, श्यावत्वं वातात्, एवं सर्वत्र दोषत्रयलिङ्गमूहम् । ननु, एककुष्ठमारभ्य विचर्चिकापर्यन्तेन द्वादश क्षुद्रकुष्ठानि भवन्ति, तत्कथमेकादश इति ? उच्यते, विचर्चिकैव पादयोर्भवन्ति विदारणयोगाद्विपादिका भवति, तेन न संख्यातिरेकः । तथा च भोजः—“दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपादसमाश्रिताः । पिडकां जनयन्त्याशु दाह-कण्डू-समन्विताम् ॥ दाल्यते



त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका । पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका—इति गदाधरः । अन्ये त्वाहुः—सैव स्फोटैस्तीव्रदाहै रित्यभिधानेन पामैव तीव्रदाहवृहत्स्फोटयुक्ता कच्छूर्न ततो भिन्नेति ॥१७-२२॥

आ०--अतः प्रभृत्येकादश क्षुद्रकुष्ठान्याह—तत्र चर्मकुष्ठमाह—अस्वेदनमित्यादि । तदेक-  
कुष्ठं नाम, अस्वेदनं=स्वेदंरहितं, महावास्तु=महाविष्टानम् । मत्स्यशकलोपममिति मत्स्यत्वद्वयण्ड-  
सदृशम् । चर्मकुष्ठमाह—हस्तिचर्मवत्, बहुलमपत्तलम् । किट्टिभमाह—श्यावमित्यादि । तत् किट्टि-  
भनाम कुष्ठं स्मृतम् । श्यावं=श्याववर्णं, किणखरस्पर्शमिति किणो=त्रणस्थानं, तद्वत् खरस्पर्श-  
कर्कशं, परंपरं लक्षं, किट्टिभाख्यं कुष्ठम् । वैपादिकमाह—पाणिपादयोः स्फुटनं=विदारणं, वैपा-  
दिक कुष्ठम् । अलसकुष्ठमाह—कण्डूमद्भिरिति । गण्डैः=स्फोटैः, चितं=युक्तं, अलसकाख्यं  
कुष्ठम् । दद्रुमण्डलमाह—सकण्डूरागाः=कण्डूरागसंयुक्ताः पिडका यत्र तत् सकण्डूरागपिडकं,  
तथा उद्गतमुत्सर्गम्, एवंविधं मण्डलं यत् तद् दद्रुनाम कुष्ठम् । ननु, कथमस्याश्चरके क्षुद्रत्वेना-  
भिधानं, सुश्रुते महाकुष्ठत्वेनेति, तथा सिध्म चरके महाकुष्ठे, सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठे दर्शितम् ? उच्यते—असिता  
दद्रुवगाढमूला सुश्रुते महाकुष्ठम्, असितेतरदद्रा विसर्पकुष्ठेऽन्तर्भावः, विसर्पयोगात् । तथा सिध्म-  
चरके महाकुष्ठे, सिध्मपुष्पिका तु त्वङ्मात्रगता सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठमित्यादि । चर्मदलमाह—रक्तमिति ।  
दलयति=विदारयति, अस्पर्शसहं च वस्त्रादिस्पर्शनाक्षमं, तच्चर्मदलनाम । पामामाह—सूक्ष्मा  
इति । एवंविधाः पिडकाः पामा इत्युक्ता वैद्यैरित्यर्थः । बह्वयः=प्रभूताः, स्नाववत्यः=स्नावयुक्ताः,  
कण्डूमत्यः=कण्डूयुक्ताः । कच्छुमाह—सैवेति । सैव=पामा पाण्योः=हस्तयोः । स्फिचोः=कटि-  
प्रान्तयोश्च कच्छुः कथ्यते । तीव्रदाहैः=तीव्रसंतापैः, स्फोटैरित्यर्थः । स्फोटमाह—स्फोटा इति ।  
सुगमम् । शतारुमाह—रक्तमिति । शतारुरिति बहुव्रणयोगान्वितं नाम । विचर्चिकामाह—सकण्डू-  
रिति । सकण्डूः पिडका भवेत् । श्यावा वर्णतः, बहुस्त्रावा=भूरिप्रस्त्रवा । अत्र कफकार्यं कण्डूः,  
बहुस्त्रावत्वं पित्तात्, श्यावत्वं वातात्, एवं सर्वत्र दोषत्रयलिङ्गमूह्यम् । नन्वेककुष्ठमारभ्य विचर्चिका-  
पर्यन्तेन द्वादश कुष्ठानि भवन्ति, तत् कथमेकादशेत्युच्यते—विचर्चिकैव पादयोर्भवन्ती विदारणयो-  
गाद् विपादिका कथ्यते, तेन न संख्यातिरेकः । तथा च भोजः—“दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपाद-  
समाश्रिताः। पिडकां जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताम् ॥ दह्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विच-  
र्चिका । पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका—”इति ॥ २२ ॥

अथ वातजादिकुष्ठानां लक्षणानि ।

दोषत्रयनियतं कुष्ठलिङ्गमाह—

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्ठं सवेदनम् ॥ २३ ॥

पित्तात् प्रकथितं दाह-राग-स्त्रावान्वितं मतम् ।

कफात् क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डू-शैत्य-गौरवम् ॥ २४ ॥

द्रिलिङ्गं द्रन्दजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

म०—खरं श्यावारुणमित्यादि । श्यावारुणमिति श्यावं वा अरुणं वा  
भवति । चरके कुष्ठमधिकृत्य दोषविशेषकुष्ठजनकहेतूनां परस्परं ज्ञाप्यज्ञापक-

त्वमुक्तम्, यथा—“कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनः कुष्ठानि । ज्ञायन्ते ते हेतुं हेतुस्तांश्च प्रकाशयति” ( च. चि. स्था. अ. ७ ) इति ॥ २३ ॥ २४ ॥—

आ०--दोषत्रयनियतं कुष्ठलिङ्गमाह—खरमित्यादि । इयावं अरुणं वा भवति, सवेदनं=वेदना-युक्तं, एतद्वातकुष्ठं जानीयात् । पित्ताच्च प्रकथितं=शटितमिव । कलेदि=किलब्रतायुक्तं, घन=निविडम् । द्वन्द्वजे कुष्ठे द्विदोषलिङ्गं, सान्निपातिके त्रिदोषलिङ्गम् ॥ २३ ॥ २४ ॥—

अथ रसादिसप्तधातुगतकुष्ठानां लक्षणानि ।

इदानीमुत्तरोत्तरसप्तधातुगतकुष्ठस्य लक्षणं क्रमेणाह—

त्वक्स्थ वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥ २५ ॥

त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।

कण्डूर्विषूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रित ॥ २६ ॥

बाहुल्यं वक्रशोषश्च कार्कश्यं पिङ्कोद्गमः ।

तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥ २७ ॥

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।

मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥ २८ ॥

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु किमिसंभवः ।

स्वरोपघातश्च भवेदस्थि-मज्ज-समाश्रिते ॥ २९ ॥

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्ट-शोणित-शुक्रयोः ।

यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥ ३० ॥

( सु० नि० अ० ५ )

म०--त्वक्स्थे वैवर्ण्यमित्यादि । त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिधीयते, धातु-प्रस्तावात्; त्वक्शब्देन रसस्याभिधाने तात्स्थ्यात् । जेज्जटस्तु त्वचमे-वाह । बाह्यायास्त्वचश्चरके उदकधरत्वेनोक्ते रसग्रहणस्यानर्हत्वाद्वितीया-ऽसृग्धराऽत्रोक्ता । उदकाच्च रसो भिन्नः, तथा ह्युक्तम्—“उदकं दशा-ञ्जलिमितं, रसो नवाञ्जलिमितः” ( च. चि. स्था. अ. ७ ) । रसं विहाय रक्ताद्युक्तिश्च प्रागेव रसं क्रोडीकृत्य तिर्यक्सिरागतैर्दोषैः कुष्ठजननात्, सिरासु रक्तव्यवस्थितेऽपि तस्याशयः । साक्षाद्रस इत्यनभिधानाद्बृहत्कुष्ठं रसगतं न भवतीति नाशङ्कनीयम् । यतः सुश्रुतेनैवोक्तम्—“तेषां तु महत्त्वं सर्वधात्वनु-सारित्वात्” ( सु. नि. स्था. अ. ५ )—इति, सर्वशब्देन च रसस्यापि ग्रहणम् ।

भोजेऽप्युक्तम्,—“प्रदुष्टाः प्रच्युता दोषा रसासृङ्मांससंश्रिताः । कुष्ठानि जनयन्त्याशु शरीरेषु शरीरिणाम्”—इति “त्वक्क्षौद्रो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्” इत्येतत् केचित् शोणितगतस्यैव लिङ्गं मन्यन्ते, अन्ये रसगतस्येति । इह रौक्ष्यं स्वेदातिप्रवृत्तिलोमहर्षश्च कुष्ठारम्भकदोषैः स्वेदवहस्रोतोदुष्ट्या भवति । यदुक्तम्,—“स्वेदवाहिषु दुष्टेषु पारुष्यं रोमहर्षणम् । अतिस्वेदनमस्वेदः परिदाहश्च जायते”—इति । विषूयक इति विशेषेण पूययोगित्वम् । कौण्यं=करभङ्गः । अङ्गानां संभेद इति अङ्गानां भङ्गः । प्रागुक्तानि तथैव चेति रस-रक्त-मांस-धातुगतकुष्ठलिङ्गानीत्यर्थः; एतच्चैकत्राभिहितमपि क्रमेण परापरधातुदुष्टौ पूर्वपूर्वधातुदुष्टिलिङ्गव्यापनपरं, न्यायस्य समानत्वात् । यदुच्यते,—“समानेष्वर्थेष्वेकत्राभिहितो विधिरन्यत्राप्यासंजनयिः” इति शुक्रगतकुष्ठलिङ्गमाह—दम्पत्योरित्यादि कुष्ठं शुक्रगतमपत्येन व्यज्यत इत्यर्थः । अत्र शुक्रदुष्टिलक्षणप्रस्तावेन तत्तुल्यकार्या स्त्रीगताऽऽर्तवदुष्टिरप्युक्ता । तदपीत्यपिशब्दात् पूर्वोक्तान्यपि रसादिमज्जान्तगतकुष्ठलिङ्गानि भवन्ति । कुष्ठितमिति संजातं कुष्ठमस्येति तारकादित्वादिनञ्च । अत्र दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपधातादपत्यजनकं, परन्तु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम् ॥ २५-३० ॥

आ०—इदानीमुत्तरोत्तरसतधातुगतकुष्ठलक्षणं क्रमेणोच्यते—त्वगित्यादि । त्वक्शब्देनात्र रक्षो वाच्यः, धातुप्रस्तावात्; त्वक्शब्देन रसस्याभिधानं, तात्स्थ्यात् । बृहम् कुष्ठं रसगतं न भवतीति न शङ्कनीयं, यतः सुश्रुतेनोक्तम्—“तेषां तु महत्त्वं सर्वधात्वनुसारित्वात्”—इति । अतः सर्वशब्देन रसस्यापि ग्रहणम् । भोजेऽप्युक्तम्—प्रदुष्टाः प्रच्युता दोषा रसासृङ्मांससंश्रिताः । कुष्ठानि जनयन्त्याशु शरीरेषु शरीरिणाम्—” इति । वैवर्ण्यमङ्गानां विवर्णता । रौक्ष्यं च स्वेदातिप्रवृत्तिलोमहर्षश्च कुष्ठारम्भकैर्दोषैः स्वेदवहस्रोतोदुष्ट्या भवति । यदुक्तम्—“स्वेदवाहिषु दुष्टेषु पारुष्यं रोमहर्षणम् । अतिस्वेदनमस्वेदः परिदाहश्च जायते”—इति । रक्तगतमाह—कण्डूरित्यादि । विषूयक इति विशेषेण पूययोगित्वम् । मांसगतमाह—बाहुल्यमित्यादि । बाहुल्यं=स्थूलमंडलता, स्फोटः=स्वचः स्फुटनं, स्थिरत्वमजलत्वम् । सेदोगतमाह—कौण्यमित्यादि । कौण्यं=करभङ्गः, गतिक्षयो=गमनाशक्तिः, अङ्गानां संभेदः=अङ्गभङ्गः क्षतप्रसरणं, प्रागुक्तानि रसरक्तमांसगतलिङ्गानि एतच्चैकत्राभिहितमपि क्रमेण परापरधातुदुष्टौ पूर्वपूर्वधातुदुष्टिलिङ्गव्यापनपरं, न्यायस्य समानत्वात् । यदुच्यते—“समानेष्वर्थेष्वेकत्राभिहितो विधिरन्यत्राप्यासंजनयिः”—इति । अस्थिमज्जगतमाह—नासेत्यादि नासाया भङ्गेऽत्रदरणम्, अक्षिरागो=नेत्रलौहित्यं, क्षतपुः कृमिसंभूतिः स्वरहानिश्च । शुक्रगतकुष्ठलिङ्गमाह—दम्पत्योरित्यादि । दम्पत्योः=स्त्रीपुरुषयोः, कुष्ठबाहुल्यात् शुक्रमार्तवयोर्दुष्टिः, शुक्रगतकुष्ठमपत्येन व्यज्यत इत्यर्थः । अत्र शुक्रदुष्टिलक्षणप्रस्तावेन च तत्तुल्यकार्या स्त्रीगतार्तवदुष्टिरप्युक्ता । तदपीत्यपिशब्दात् पूर्वोक्तान्यपि रसादिमज्जान्तगतकुष्ठलिङ्गानि भवन्ति, अन्ये कुष्ठिलमिति पठन्ति; तत्रापि स एवार्थः । तत्र दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपधातादपत्यजनकं, परं तु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम् ॥ २५-३० ॥

अथ कुष्ठस्य साध्यादि भेदाः ।

साध्यादिभेदमाह—

साध्यं त्वग्-रक्त-मांस-स्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।

मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जा-ऽस्थि-संश्रितम् ॥ ३१ ॥

क्रिमि-तृड्-दाह-मन्दाग्नि-संयुक्तं यत् त्रिदोषजम् ।

प्रभिन्नं प्रसृताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ॥ ३२ ॥

पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् ।

( सु० सू० अ० ३३ )

म०—साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थमित्यादि । वातश्लेष्माधिकं च यदिति एककुष्ठ-  
किटिभादिवर्ज्यम् । मज्जास्थिसंश्रितमिति अत्र मज्जास्थिप्रत्यासत्त्या शुक्रगत-  
स्थाप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् । प्रभिन्नमिति विदीर्णम् । पञ्चकर्मगुणातीतमिति पूर्व-  
रूपक्रियया सह रसादिधातूनां चतुर्णां क्रियाकलापाः पञ्चकर्माणि, तेषां गुणा  
वीर्याणि, तान्यतीतो यः स तथा, अस्थिमज्जागत इत्यर्थः; ताश्च क्रियाः पूर्व-  
रूपे शोधनमुभयतः, त्वक्प्राप्ते शोधनालेपनादि, रक्तप्राप्ते शोधना-ऽऽलेपन-कषा-  
यपान-शोणितावसेकादि, एवं मांस-मेदसोरपि द्रष्टव्यमिति । अथवा पञ्चकर्माणि  
वमनादीनि, तेषां गुणाः फलानि, तान्यतीतः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥—

आ०—इदानीं धात्वनुक्रमेऽपि साध्यादिभेदमाह—साध्यमित्यादि । त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्ले-  
ष्माधिकं च यत्तत् साध्यं, वातश्लेष्माधिकं च यदिति चर्मैककुष्ठकिटिभसिध्मालसविपादिका  
वातश्लेष्मज्जाः साध्याः, मेदोगतं द्वन्द्वजं याप्यम्, अस्थिमज्जाश्रयं वर्ज्यम् । अत्र मज्जास्थिप्र-  
त्यासत्त्या शुक्रस्य तद्रतस्याप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् । पुनश्चासाध्यलक्षणमाह—कृमीत्यादि । प्रभिन्नं  
विदीर्णं, प्रसृताङ्गं=प्रस्रावयुक्तशरीरं, हतस्वरं=घर्घरस्वरं, पञ्चकर्मगुणातीतं पञ्चकर्माणि वमना-  
दीनि तेषां गुणाः फलानि, तानि निष्फलीकृत्य जातम् ॥ ३१-३२ ॥—

अथ कुष्ठेषु दोषाणां सम्बन्धः ।

कुष्ठेषु चिकित्सार्थं प्रधानं दोषमाह—

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात् ॥ ३३ ॥

मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋष्याख्यं वातपित्तजम् ।

चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ॥ ३४ ॥

वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद् ददुशतारुषी ।

पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥ ३५ ॥

सर्वैः स्यात् काकणं पूर्वत्रिकं दद्दु सकाकणम् ।

पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥ ३६ ॥

म०—वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि । विचर्च्यपि कफात्तथेति श्लेष्मपित्तात्, तेन दद्दुप्रभृति चर्मदलान्तं श्लेष्मपित्तजमित्यर्थः । पूर्वत्रिकमिति कापालोदुम्बर-मण्डलाख्यम्, अतः सप्तमहाकुष्ठादन्यत् क्षुद्रकुष्ठम् ॥ ३३—३६ ॥

आ०—दुष्टेषु चिकित्सार्थं दोषप्राधान्यमाह—वातेनेत्यादि । सुगमम् । अन्यदपि दोषप्राधान्यमाह—चर्मैति । दद्दुशतारूपी द्वे कुष्ठे न केवलं श्लेष्मपित्तात्, यावत्पुण्डरीकं तथा विस्फोटं तथा पामा तथा चर्मदलं जायते, तथेति श्लेष्मपित्तात्; तेन दद्दुप्रभृति चर्मदलान्तं श्लेष्मपित्ताधिकसंनिपातजमित्यर्थः । सर्वैरिति सर्वैस्त्रिभिरेव समेदोपैः काकण नाम कुष्ठमुत्पद्यते एतानि अष्टादश कुष्ठानि भवन्ति तेषां मध्ये पूर्वं त्रिकमिति कापालोदुम्बरमण्डलाख्यं दद्दु काकणं पुण्डरीकमृक्षजिह्वं चेति महाकुष्ठानि स्युः । अतः सप्तमहाकुष्ठादन्यत् क्षुद्रकुष्ठं बोद्धव्यम् ॥ ३३—३६ ॥

अथ किलासकुष्ठस्य लक्षणम् । (Levcoderma)

त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह—

कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत् ।

निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ ३७ ॥

वाताद् रूक्षारुणं पित्तात् ताम्रं कमलपत्रवत् ।

सदाहं रोमविध्वंसि कफात् श्वेतं घनं गुरु ॥ ३८ ॥

सकण्डूरं क्रमाद् रक्त-मांस-मेदःसु चादिशेत् ।

वर्णैर्नैवेदगुभयं कृच्छं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३९ ॥

( वा० नि० अ० १४ )

म०—कुष्ठैकसंभवमित्यादि । कुष्ठेन सह एकं=समानं विरुद्धाशनपापकर्मादिसंभवो=निदानं यस्य तत्तथा, कुष्ठेन सह समानचिकित्सितत्वं च बोद्धव्यम्, “कुर्याच्चास्मै कुष्ठोक्तं विधानम्” इति वचनात् । चरके त्वस्य हेतु-विशेषोऽपि पठ्यते, यथा—“वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरु-धर्षणं च । पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्” (च. चि. स्था. अ. ७)—इति । किलासमेव मांस-मेदः-समाश्रयणयोगत्वाद्दहणं श्वित्रं च भण्यते, त्वग्गतमेव किलासं, तस्य लक्षणं निर्दिष्टमपरिस्रावीति । स्रावो हि रक्तादिदुष्ट्या भवति, तेनास्य त्वग्गतत्वेन स्रावाभावः । उक्तं च—

“त्वग्गतं च यदस्मावि तत् किलासं प्रकीर्तितम्”—इति । त्रिधातुद्वयसंश्रयमिति त्रिधातुसंश्रयो दोषस्तथा रक्त-मांस-भेदांसि संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत्तथा; अथवा त्रिधातु-रक्त-मांस-भेदांसि उद्धवाय संश्रयो यस्य तत्तथा, दोषास्तु सर्वसाधारणत्वाल्लभ्यन्ते एव । ननु, यदि धातुत्रयाभितं किलासं तत्कथं “यदा त्वचमतिक्रम्य तद्धातूनवगाहते । हित्वा किलाससंज्ञां च कुष्ठसंज्ञां लभेत्तदा”—इति विश्वाभिन्नवचनं किलाससंज्ञाप्रतिक्षेपकं न विरुध्यते ? तथा—“त्वग्गतमेव किलासम्” ( लु. नि. स्था. अ. ५ )—इति सुश्रुतेऽवधारणं विरुद्धम् ? उच्यते, विश्वाभिन्नवचनस्य तावदयमर्थः प्रत्येतव्यः—यदोक्त-रक्तादिगतसमस्त-कुष्ठलक्षणजनकतया धातूनवगाहते तदा न तत् किलासं, किं तर्हि कुष्ठजनक-हेत्वन्तरवृंहितदोषोपप्लवात् धातून् दूषयेत्, तथा हेतु-लक्ष्य-लक्षणमरुणादिकुष्ठं तत्; अन्यदितर-रक्तादिगतकुष्ठलिङ्गव्यतिरिक्तमुत्पादसमकालभावि-रक्तताम्रादिवर्णतामात्रकारकं रक्तादिगतदोषजन्यं किलासमेव, अन्यथा रक्तादिगतकिलासलक्षणेन चरकोक्तेन विरोधः स्यात् । स यदाह—“दोषे रक्ताभिते रक्तं ताम्रं मांससमाभिते । श्वेतं भेदःस्थिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ( च. चि. स्था. अ. ७ )”—इति । चरके हि किलासस्येव धातुत्रयसंबन्ध-कृतवर्णेन दारुणादिसंज्ञान्तरमात्रं कृतम्, सुश्रुतेऽपि त्वग्गतमेवेत्यनेन रक्तादिदुष्ट्या विशिष्टरक्तादिगतमहाकुष्ठलिङ्गरहितत्वं, तथा क्षुद्रकुष्ठव-द्युगपदक्त-लसीका-त्वङ्-मांस-दूषकत्वविरहः ख्याप्यते; अथवा एवकारोऽयोग-व्यवच्छेदे यथा नीलं सरोजं भवत्येवेति, उक्तप्रकारेण धातुत्रयमात्रगत्वेनैकदोष-जत्वेन चास्य कुष्ठाद्भेदः, “श्वित्रसंज्ञां लभेत्तदा” इति जेजटपाठे तु श्वित्रसंज्ञा-मात्रव्यवहारः किलासस्य, न पुनरर्थभेदः कश्चिदिति । भालुकिना तु धातु-भेदेन किलासस्य संज्ञान्तरं दर्शितम्—“वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम् । भेदःश्वितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम्”—इति । तथा चरकेऽपि—“दारुणं वारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः” ( च. चि. स्था. अ. ७ )—इति । तेनेहापि तथा बोद्धव्यम् । क्रमादक्त-मांस-भेदःसु चादिशेद्वर्णेनैवेदगुभयमिति ईदृशमेव वर्णेनाहण-ताम्र-श्वेतेन किलासं रक्त-मांस-भेदसु यथाक्रमेणादिशेत् । उभय-मिति व्रणजं दोषजं च तच्छ्वित्रं भवति, तथा च भोजः—“श्वित्रं तु द्विविधं विद्यादोषजं व्रणजं तथा । तत्र मिथ्योपचाराद्वि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा । परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत् परजमु-च्यते । तदात्मजं विजानीयाद्यदेहेष्वनिलादिजम्”—इति । रक्तादिधातुत्रयगतस्य च किलासस्य दूष्यप्रभावाद्यस्य कस्यापि दोषजस्य संबन्धनियता एवारुणा-द्वयो वर्णा बोद्धव्याः । यदि तु तत्र दोषनियतो वर्णः कल्प्यते तदा वर्णातिदेशो



व्यर्थः स्यात्, वाताद्रूक्षारुणभित्यादिनैव सिद्धत्वात् । यद्येवं दोषेणात्र वर्णाभिधानं विफलं ? निर्विषयत्वात्; नैवम्, त्वङ्मात्रगते किलासे दोष-  
वर्णस्य चरितार्थत्वात् । हन्त तर्हि कथं रक्तादिगतत्वमस्य निश्चेतव्यम् ?  
त्वग्गते स्वभावेनारुणादिवर्णस्य सद्भावेन सन्दिग्धत्वात् । उच्यते, क्रमेणा-  
रुणादिवर्णोत्पादाद्रक्तादिगतत्वं निश्चेतव्यम्, उत्पत्तिभावे त्वरुणादियोगात्क-  
र्मागतत्वमिति ॥ ३७—३९ ॥

आ०—त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह—कुष्ठैकसंभवमिति । कुष्ठेन सह एकः समानः  
विरुद्धाशनपापकर्मादिसंभवो निदानं यस्य तत्तथा, कुष्ठतुल्यनिदानमित्यर्थः । कुष्ठेन सह समान-  
चिकित्सितत्वं च बोद्धव्यम् । “ कुर्याच्चास्मै कुष्ठदृष्टे विधानम् ”—इति वचनात् । चरके त्वस्य  
हेतुविशेषोऽपि पठ्यते, यथा—“ वचांस्तथ्यानि कृत्स्नभावो निन्दा गुरुणां गुरुवर्धनं च । पापक्रिया  
पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्—” इति । किलासमेव मांसमेदःसमाश्रयगयोगि-  
त्वाद्धारणं श्वित्रमिति भण्यत । त्वग्गतमेव किलासं, तस्य लक्षणं निर्दिष्टम्—अपरिह्रावीति । ह्रावो हि  
रक्तादिदुष्टया भवति, तेनास्य त्वग्गतत्वेन ह्रावाभावः । उक्तं च—“ त्वग्गतं तु यदह्रावि तत्किलासं  
प्रकीर्तितम् ”—इति । त्रिधातुद्रवसंश्रयमिति त्रिधातु-शब्देन पृथग्दोषाः, त्रिधातुः संश्रयो यस्य  
तत्तथा, अथवा—त्रिधातुः रक्तमांसमेदांसि, तेन वातादिना पृथगुद्रव उत्पादस्तथा रक्तमांसमेदांसि  
संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तद्यथा । वातादिना धातुसंश्रयभेदेन वर्णभेदमाह—वातादित्यादि । वातात्  
श्वित्रं रूक्ष स्पर्शतः, अरुणं रक्तं वर्णतः । पित्तादित्यादि । पित्तात् श्वित्रं कमलपत्रवत् पद्म-  
दलमिव तान्नं वर्णेन भवेत् । तथा सदाहं दाहयुक्तम् । रोमविध्वंसि रोमघाति । कफादिति  
कफात् श्वित्रं श्वेतं शुद्धं, घन सान्द्रं, तथा गुरु अङ्गेनानुभूयते, तथा सह कण्ठा वर्तते इति  
सकण्ठु=कण्ठयुक्तम् । क्रमाद्रक्तमांसमेदस्तु चादिशेत्, वर्णेनैवेदगुणमिति ईदृशमेव  
वर्णेनारुणताग्रश्वेतेन किलासं रक्तमांसमेदस्तु यथाक्रमेणादिशेत् । उभयमिति व्रणजं दोषजमिति  
तत् श्वित्रं भवति । तथा च भोजः—“ श्वित्रं तद्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा । तत्र मिथ्योपचाराद्धि  
व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं द्विविधं प्रोक्तमात्मजं परजं तथा । परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत्परजमु-  
च्यते ॥ तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्—” इति ॥ ३७—३९ ॥

अथास्य साध्यासाध्यत्वम् ।

तस्य साध्यत्वमसाध्यत्वं चाह—

अशुक्लोरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम् ।

अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥ ४० ॥

गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ।

वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥ ४१ ॥

( वा० नि० अ० १४ )

• म०—अशुक्लेत्यादि । अशुक्लोऽम=कृष्णरोम, अबहुलं=तनु, असंश्लिष्टं=  
परस्परमसंयुक्तम् । अनग्निदग्धजं=अग्निदग्धजं यत्र भवति, एतत् सा-



ध्यम् । अतोऽन्यथा अतोऽन्यथोक्तसर्वप्रकारमसाध्यम्, चरकेऽप्येवंविधस्या-  
साध्यत्वमुक्तम् । यथा,—“यच्छुक्करोम बहुलं यत् संलग्नं परस्परम् । यच्च  
वर्षगणोपेतं तच्छिष्टं नैव सिध्यति” ( च. चि. स्था. अ. ७ )—इति । गुह्य-  
पाणितलौष्ठेष्विति तलमत्र पादतलं, सुश्रुते “अन्ते” जातम्, इति सामा-  
न्येन निर्देशात् ॥ ४० ॥ ४१ ॥

आ०—तस्य साध्यासाध्यत्वमाह—अशुक्लेत्यादि । अशुक्लरोम=यावन्न रोमाणि शुक्लानि  
भवन्ति, अबहुल=तनु, असंश्लिष्टं=मिथः परस्परमसंयुक्तम्, अग्निदग्धजं यन्न भवति; एतत्साध्यम्  
अतोऽन्यथा=उक्तप्रकारविपरीतमसाध्यम् । यदुक्तं चरके—“यत् शुक्करोम बहुलं यत्संलग्नं परस्परम् ।  
यच्च वर्षगणोपेतं तच्छिष्टं नैव सिध्यति ॥ ” इति । असाध्यमाह—गुह्येत्यादि । एषु स्थानेष्वनवम-  
पि त्याज्यम् गुह्यं=लिङ्गं, तलमात्रं पादतलम् ॥ ४० ॥ ४१ ॥

अथ संक्रामकरोगाणामुपसंख्यानम् ।

कुष्ठस्य संसर्गजप्रसङ्गेन सर्वानेव संसर्गजान् रोगानाह—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शाद् निःश्वासात् सहभोजनात् ।

एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ ४२ ॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरात्ररम् ॥ ४३ ॥

( सु० नि० अ० ५ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कुष्ठनिदानं समाप्तम् ।

म०—प्रसङ्गादित्यादि । प्रसङ्गो=मैथुनम्, अथवा प्रसङ्गः=सातत्यम्,  
तेन कृतात् गात्रसंस्पर्शादेः । औपसर्गिकरोगा इति औपसर्गिकाः पापरोगा-  
दयो भूतोपसर्गजाश्च । संक्रामन्ति=आविशन्ति । रोगसंक्रान्तिश्च कुष्ठिप्रभृति-  
पापिजनसंसर्गेण पापसंक्रान्तेर्विकारप्रभावाद्वा बोद्धव्या ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इति श्रीकृष्णदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां कुष्ठनिदानं समाप्तम् ।

आ०—कुष्ठस्य संसर्गजत्वप्रसङ्गेनैव संसर्गजान् रोगानाह—प्रसङ्गादित्यादि । प्रसङ्गो मैथुनं,  
अथवा प्रसङ्गो नैरन्तर्यं, तेन कृतात् गात्रस्पर्शादेः । औपसर्गिकरोगादयो भूतोपसर्गजा रोगाः ।  
संक्रामन्ति आविशन्ति । रोगसंक्रान्तिश्च कुष्ठिप्रभृतिपापिजनसंसर्गेण पापसंक्रान्तेर्विकारप्रभावाद्वा  
बोद्धव्या ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यप्रणीतायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

कुष्ठनिदानम् ॥ ४९ ॥

[ शीतपित्तोदरदकोठनिदानम् ] मधुकोशातङ्कदर्पणाभ्यां सहितम् ।

( ४७९ )

अथ शीतपित्तोदरदकोठनिदानम् ।

अथ शीतपित्तरोगस्य संप्राप्तिः ।

त्वग्दुष्टिदोषत्रयजन्यत्वसामान्यात् कुष्ठानन्तरं शीतपित्तोदरदिनिदानम् ।  
तस्य दोषत्रयजन्यत्वमाह—

शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ ।

पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥ १ ॥

अ०—शीतमारुतसंस्पर्शादित्यादि । पित्तेन सह संभूयेति स्वहेतूपचि-  
तेन पित्तेन संभूय=मिलित्वा । बहिरन्तरिति बहिस्त्वचि, अन्तः=शोणितादौ,  
विसर्पतः=प्रसरतः ॥ १ ॥

आ०—त्वग्दुष्टिदोषत्रयजन्यत्वसामान्यात्कुष्ठानन्तरं शीतपित्तादिनिदानम् । तस्य दोषत्रयजन्यत्व-  
माह—शीतेत्यादि प्रदुष्टौ=कुपितौ कफमारुतौ स्वहेतूपचितेन पित्तेन सह मिलित्वा बहिस्त्वचि,  
अन्तः शोणितादौ, विसर्पतः प्रसरतः ॥ १ ॥

अथ शीतपित्तस्य पूर्वरूपाणि ।

पूर्वरूपमाह—

पिपासा-ऽरुचि-हृत्तास-देहसादा-ऽङ्गगौरवम् ।

रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥ २ ॥

अ०—पिपासेत्यादि । रक्तलोचनता प्रभावात् । पूर्वरूपस्य लक्षणमिति  
पूर्वरूपस्य स्वरूपमित्यर्थः; न तु लक्षणमत्र लिङ्गं, पिपासादिव्यतिरिक्तस्य  
पूर्वरूपस्याभावात् ॥ २ ॥

आ०—तस्य पूर्वरूपमाह—पिपासेत्यादि । अत्र रक्तलोचनता प्रभावात् । पूर्वरूपस्य लक्षणमिति  
पूर्वरूपस्योपलम्भनं, न तु लक्षणं लिङ्गं; पिपासादिव्यतिरिक्तस्य पूर्वरूपस्याभावात् ॥ २ ॥

अथोदररोगस्य लक्षणानि ।

उदरदलक्षणमाह—

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः ।

सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दि-ज्वर-विदाह-वान् ॥ ३ ॥

उददमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।

वाताधिकं शीतपित्तमुदरस्तु कफाधिकः ॥ ४ ॥

म०-वरटीत्यादि । सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवानिति अत्र कण्डूः कफात्, तोदो वातात्, छर्दि-ज्वर-विदाहाः पित्तादिति दोषत्रयलिङ्गम् । अनयोः=शीतपित्तोदरयोः समानसंस्थानत्वेऽपि वाताधिकं शीतपित्तं, कफाधिक उदरः ॥ ३ ॥ ४ ॥

आ०-उदरलक्षणमाह-वरटीत्यादि । वरटी=कीटविशेषः, तदष्टसदृशाकारः, वह्निः शरीरे शोथो जायते । अत्र कण्डूः कफात्, तोदो वातात्, छर्दिज्वरविदाहाः पित्तादिति दोषत्रयलिङ्गम्, अपरे शीतपित्तमित्याहुः । अनयोर्दोषद्वयाधिकत्वमाह-वाताधिकमित्यादि । अनयोः शीतपित्तोदरयोः समानसंस्थानत्वेऽपि वाताधिकं शीतपित्तं, कफाधिक उदरः ॥ ३ ॥ ४ ॥

अथोदररोगस्य लक्षणान्तरम् ।

उदरस्य धर्मान्तरमाह-

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः ।

शैशिरः कफजो व्याधिरुदद इति कीर्तितः ॥ ५ ॥

म०-सोत्सङ्गैरित्यादि । उत्सङ्गैः=मध्यनिम्नैः, शैशिर इति शिशिरसंभवः ५

आ०-उदरस्य धर्मान्तरमाह-सोत्सङ्गैरित्यादि । मध्यनिम्नैः, शैशिरः=शिशिरसंभवः ॥ ५ ॥

अथ कोठरोगस्य लक्षणानि ।

त्वग्दुष्टिसाम्यादत्रैव कोठोऽभिधीयते-

असम्यग्बमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहः ।

मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।

उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शीतपित्तोदरकोठनिदानं समाप्तम् ।

म० असम्यग्बमनेत्यादि । असम्यक्त्वं बमनस्यायोगमिथ्यायोगादिना, तथोदीर्णानां पित्तश्लेष्मान्नानां निग्रहो=वेगविधारणं, तैर्मण्डलानि जायन्ते स कोठः । अथवाऽयमर्थः, -असम्यग्बमनोदीर्णो=पित्तश्लेष्माणौ, तथाऽन्ननिग्रहः=उपस्थितवेगस्यान्नस्य निग्रहः छर्दिनिग्रह इति यावत्, तैर्हेतुभिर्भवन्ति । बमनस्य चासम्यक्त्वमयोगमिथ्यायोगाभ्यां ज्ञेयम्, अतियोगस्य तु पित्त-

श्लेष्मकोठाकरत्वात् । एतेन हेतु-लक्षण-भेदाद्भिन्नः कोठ उदर्दात् । कोठो= निरनुबन्धः । तथा चोक्तम्,—“क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः”—इति । सानुबन्धः=उत्कोठोऽभिधीयते । सानुबन्धता च पुनःपुनर्भवेन ॥ ६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शीतपित्तोदरकोठनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—त्वग्दोषसामान्याद्त्रैव कोठः प्रोच्यते । सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते । अस-  
म्यक्त्वं वमनस्यायोगमिथ्यायोगादिना, उदीर्णानि प्रेरितानि पित्तश्लेष्मान्नानि तेषां निग्रहैः  
शरीरे मण्डलानि=वर्तुलकमलादीनि, अतिरूण्डुमन्ति, लौहित्ययुक्तानि, बहूनि च  
जायन्ते, अथवाऽयमेवायः—असम्यक्त्वमनेनोदीर्णौ पित्तश्लेष्माणौ, तथाऽन्ननिग्रहः उपस्थितवेग-  
स्यान्नस्य निग्रहः छर्दिनिग्रह इति यावत्, तैर्भवन्ति । वमनस्य चासम्यक्त्वमयोगमिथ्या-  
योगाभ्यां श्रेयम्, अतियोगस्य पित्तश्लेष्मकोपकत्वात्, एतेन हेतुलक्षणभेदाद्भिन्नः कोठ  
उदर्दादिति । कोठो निरनुबन्धः, तथा चोक्तम्,—“क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति  
निगद्यते तज्ज्ञैः—” इति । सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते । सानुबन्धता च पुनःपुनर्भवने-  
नेति ॥ ६ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

शीतपित्तोदरकोठनिदानम् ।

### अथाम्लपित्तनिदानम् ।

(Acidity.)

अथाम्लपित्तस्य सहेतुकं स्वरूपम् ।

कोठहेतौ पित्तश्लेष्मोल्लेखात् पित्तश्लेष्ममिलनरूपस्याम्लपित्तस्य निदानम् ।  
निदानपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—

विरुद्ध-दुष्टाम्ल-विदाहि-पित्तप्रकोपि-पानान्न-भुजो विदग्धम् ।  
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥१॥

म०—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धं=शीरमत्स्यादि, दुष्टं=व्यापन्नमन्नं, विदाहि-  
स्थाने विदग्धेति पाठान्तरे विदग्धं=भर्जितं; पित्तप्रकोपिपानान्नभुज इति  
पित्तप्रकोपि पानं=तक्रसुरादि, अन्नमाशुधान्यमाषादि; पित्तप्रकोपिपानान्न-  
ग्रहणेनैवाम्लविदाहिनो ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषार्थं, ‘पित्तप्रकोपणाद्य-  
न्नभुज’ इति पाठान्तरे आदिशब्दात् कफादिप्रकोपणमन्नं गृह्यते । एवंविध-  
पानान्नमुपभुञ्जानस्य विदग्धं=कुपितं, स्वहेतूपचितं पुरा यदिति वर्षासु जलौ-  
षधिगतविदाहादिभिः स्वहेतुभिरुपचितं=संचयमापन्नम् । यदुक्तं,—“वर्षा-

स्वम्लविपाकित्वादद्रिषधिभिस्तथा” ( च. चि. स्था. अ. ३ )-इति । विदा-  
हाद्यम्लगुणोद्भूतं पित्तमम्लपित्तम् ॥ १ ॥

आ०—कोष्ठहेतौ पित्तकफोल्लेखात् पित्तकफमिलितरूपस्याम्लपित्तस्यातोऽनन्तरं निदानम् । तत्र  
निदानपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि, दुष्टं व्यापन्नमन्नम् ।  
विदाहिस्थाने “विदग्ध” इति पाठान्तरं, तत्र विदग्धं भर्जितम् । पित्तप्रकोपिपानान्नभुज इति पित्त-  
प्रकोपि पानं तक्रसुरादि, अन्नमाशुधान्यमाषादि, “पित्तप्रकोपणाद्यन्नभुजः” इति पाठान्तरे आदिश-  
ब्दात् कफादिप्रकोपणमन्नं गृह्येत, एवंविधपानान्नं भुञ्जानस्य विदग्धं कुपितं, स्वहेतूपचितं पुरा यदिति  
वर्षासु जलौषधिगतविदाहादिभिर्हेतुभिः उपचितं संचयमापन्नं, यदुक्तम्—“वर्षास्वम्लविपाकित्वादद्रि-  
षधिभिस्तथा” इति । पित्तप्रकोपिपानान्नग्रहणेनैवाम्लीवदाहिनो ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं  
विशेषार्थम् ॥ १ ॥

अथाम्लपित्तस्य लक्षणानि ।

तस्य लिङ्गमाह—

अविपाक-क्लमोत्क्लेश-तिक्ताम्लोद्गार-गौरवैः ।

हृत्-कण्ठ-दाहा-ऽरुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद् भिषक् ॥ २ ॥

म० अविपाकेत्यादि । अविपाक इत्याहारापाकः, क्लमोऽनायासजः श्रमः  
अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं, वातकफावप्यत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ ॥ २ ॥

आ०—तस्य लिङ्गमाह—अविपाकेत्यादि । अविपाकः=आहारापाकः, क्लमोऽनायासजः श्रमः,  
अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं, वातकफावप्यत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ ॥ २ ॥

अथाधोगताम्लपित्तस्य लक्षणानि ।

तस्य कदाचिदध-ऊर्ध्व-गमनभेदाद् द्विविधस्याधोगतिं तावदाह—

तृड्-दाह-मूर्च्छा-भ्रम-मोह-कारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम् ।

हृल्लास-कोठानलसाद-हर्ष-स्वेदाङ्गपीतत्व-करं कदाचित् ॥ ३ ॥

म०—तृड्दाहेत्यादि । मूर्च्छा=सर्वथा ज्ञानशून्यत्वं, मोहो=विपरीतज्ञानम् ।  
प्रयात्यधो वेत्यत्र वाशब्दो भाव्यूर्ध्वगमनापेक्षया । विविधप्रकारमिति हरित्-  
पीत-कृष्ण-रक्तादिवहुवर्णत्व-दुर्गन्धित्व-योगान्नानाविधम् । कदाचिदिति न  
सर्वकालम् ॥ ३ ॥

आ०—तस्य कदाचित् कायोर्ध्वाधोगमनभेदाद्विविधस्याधोगतिं तावदाह—तृडित्यादि । अधो  
विविधप्रकारं कदाचित्प्रयाति, तथा तृड्दाहादिकारे, तथा हृल्लासादिकरं, मूर्च्छा=सर्वथा ज्ञान-  
शून्यत्वं, मोहोऽत्र विपरीतं ज्ञानम् । प्रयात्यधो वेत्यत्र वाशब्दा भाव्यूर्ध्वगमनापेक्षया, विवि-  
धप्रकारमिति हरितपीतकृष्णरक्तादिवहुवर्णत्वदुर्गन्धित्वयोगान्नानाविधम् । कदाचिदिति न सर्वकालम् ॥ ३ ॥

अथोर्ध्वगामिनोऽम्लपित्तस्य लक्षणानि ।

ऊर्ध्वगतिमाह—

वान्तं हरित्-पीतक-नील-कृष्णमारक्त-रक्ताभमतीव चाम्लम् ।  
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥  
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवर्षिं कदाचित् ।  
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठ-हृत्-कुक्षि-दाहं शिरसो रुजं च ॥ ५ ॥  
कर-चरण-दाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम् ।  
जनयति कण्डू-मण्डल-पिडका-शत-निचितगात्र-रोगचयम् ॥६॥

म०—वान्तमित्यादि । नीलं=स्निग्धकृष्णं, कृष्णं=मर्दानजनवद्रूक्षकृष्णम्, आरक्तमीषल्लोहितं, रक्तमन्तल्लोहितम् । मांसोदकाभमिति मांसधावनतोयाभं, कृष्णलोहितमित्यर्थः । विविधं रसेनेति रसेन=लवण-कटु-तिक्ताख्येन नाना-रूपम् । करोति तिक्ताम्लवर्षिमिति तिक्तस्य अम्लस्य वा वर्षिं करोति । उद्गारमेवंविधमेवेति । अत्र करोतीति संबध्यते । एवंविधमिति=अम्लतिक्तम् । कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं चेति । अत्रापि करोतीति संबध्यते । कण्डू-मण्डल-पिडका-शत-निचितगात्र-रोगचयमिति कण्डूदिनिचितगात्रं च रोगचयं चेति द्वन्द्वः, तेन कण्डूदिनिचितगात्रं रोगचयं च करोतीत्यर्थः, रोगचयो-ऽविपाकोत्क्लेशादिः ॥ ४-६ ॥

आ०—ऊर्ध्वगतिमाह—वान्तमित्यादि । हरित्=शाकपत्राभम्, नीलं=चाषपक्षप्रभं, स्निग्धकृष्णं कृष्णमञ्जनाभम्, आरक्तमीषल्लोहितं, रक्तमन्तल्लोहितं, मांसोदकाभं=मांसधावनतोयाभम्, अच्छं=निर्मलम् । विविधं रसन लवणकटुतिक्ताख्येनानुरूप करोति । आहारस्यावस्थामाह—भुक्त इत्यादि । भुक्ते आहारे विदग्धे अथवा कदाचिदभुक्तेऽपि सति तिक्ताम्लवर्षिं करोतीति संबध्यते । अम्लपित्ते कफपित्तवत्सामान्यमाह—करेत्यादि कफपित्तं करचरणदाहादिकं जनयति, तथा कण्डूमण्डलपिडकाचितगात्ररोगनिचयमिति कण्डूदिनिचितगात्रं च रोगनिचयश्चेति द्वन्द्वः । तेन कण्डूदिनिचितगात्रं रोगचयं करोतीत्यर्थः । रोगचयः=अविपाकोत्क्लेशादि ॥ ४-६ ॥

अथाम्लपित्तरोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

साध्यत्वादिकमाह—

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यन्नात् संसाध्यते नवः ।

चिरोत्थितो भवेद् याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित् ॥७॥

म०—रोग इत्यादि । कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचिदिति हिताहाराचार-शीलिनः कस्यचिच्चिरोत्थितोऽपि कृच्छ्रसाध्यः ॥ ७ ॥

आ०--साध्यत्वादिकमाह--रोग इत्यादि । अयमम्लपित्ताख्यो रोगो नवः सन् यत्नात्संसा-  
ध्यते, चिरोत्थितो याप्यो भवेत् । कस्यचिदित्यादि । अहिताहाराचारशीलिनः कस्यचिच्चिरो-  
त्थितोऽपि कृच्छसाध्य इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथात्र वातश्लेष्मणोः सम्बन्धः ।

तत्रैव केवलानिल-कफानिल-कफमात्राणां संसर्गमाह--

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत् ।

दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ ८ ॥

कम्प-प्रलाप-मूर्च्छा-चिमिचिमि-गात्रावसाद-शूलानि ।

तमसो दर्शन-विभ्रम-विमोह-हर्षाण्यनिलकोपात् ॥ ९ ॥

कफनिष्ठीवन-गौरव-जडता-ऽरुचि-शीत-साद-वमि-लेपाः ।

दहन-बल-साद-कण्डू-निद्राश्चिह्नं कफानुगते ॥ १० ॥

उभयमिदमेव चिह्नं मारुत-कफ-संभवे भवत्यम्ले ।

( तिक्ताम्ल-कटुकोद्गार-हृत्-कुक्षि-कण्ठ-दाह-कृत् ॥११॥ )

भ्रमो मूर्च्छा-ऽरुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा ।

प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ।

म०--सानिलमित्यादि । भिषङ्मोहकरमिति तस्योर्ध्वाधःप्रवर्तमानत्वेन  
छर्द्यतीसाराभ्यां सकाशाद्भेदस्य दुर्ज्ञेयत्वात् वैद्यमोहकरत्वम् । साद-वमि-  
लेपा इत्यत्र सादोऽङ्गसादः, लेपः=श्लेष्मलिप्तास्यता । दहन-बल-सादेति साद-  
शब्दो दहन-बलाभ्यां संबध्यते ॥ ८-१२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ।

आ०--तस्मिन्ननिलकफसंसर्गमाह--सानिलमित्यादि । तच्चांम्लपित्तं सानिलं=सवातं,  
सानिलकफं=सवातकफं लक्षयेत् । दोषलिङ्गेन=वात-पित्त-कफ-लिङ्गेनेत्यर्थः । यतस्तद्विष-  
ङ्मोहकरं=वैद्यभ्रान्तिजनकं, तस्योर्ध्वाधःप्रवर्तमानत्वेन छर्द्यतीसाराभ्यां भेदस्य दुर्ज्ञेयत्वात् ।  
सानिलस्याम्लपित्तस्य लक्षणमाह--कम्पेत्यादि । वातयुतेऽम्ले कम्पाद्यस्तथा तमोदर्शनादयो  
भवन्ति । कफानुगतस्य लक्षणमाह--कफेत्यादि । कफानुगतेऽम्ले कफनिष्ठीवनादिलिङ्गं स्यात् ।  
सादवमिलेपा इति सादः अङ्गसादः, लेपः कफलिप्तास्यता । दहनबलसादेति सादशब्दो दहनबलाभ्यां  
संबध्यते, अन्यत्सुगमम् ॥ ८-१२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्याया-  
मम्लपित्तनिदानम् ॥ ५१ ॥



अथ विसर्पनिदानम् ।

( Erysipelas. )

अथ विसर्परोगस्य हेतवो भेदाश्च ।

अम्लपित्तसंभवच्छर्दिवेगविधातद्रक्तदुष्टौ सत्यां विसर्पोत्पत्तेर्हेतुसाम्यात्त-  
दनन्तरं विसर्पनिदानम् । छर्दिवेगविधातस्य रक्तदूषकत्वे चरकवचनं यथा--  
“छर्दिवेगप्रतीधातात्काले चानवसेवनात् । शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं संप्रदू-  
ष्यति” (च. सू. स्था. अ. २४) इति । तस्य निदानपूर्विकां संख्यां निरुक्तिं चाह-

लवणाम्ल-कटूष्णादि-संसेवा-दोषकोपतः ।

विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥ १ ॥

पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ।

वातिकः पैतिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ॥ २ ॥

चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ॥ ३ ॥

यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।

( च० चि० अ० ११ )

म०-लवणाम्लेत्यादि । ‘विसर्पो न ह्यसंस्पृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते’-इति  
वचनात् लवणाम्लादिकं विशेषेण रक्तपित्तनिदानमुक्तम् । संसेवया=सततसे-  
वया दोषकोपः=संसेवादोषकोपस्ततः, अत्र आदिग्रहणात् चरकोक्तानां हरि-  
तशाक-शिण्डाकी-प्रभृतीनां ग्रहणम् । सप्तधेति उल्वणैकैकदोषजास्त्रयः, सन्नि-  
पातज एकः, त्रयो द्वन्द्वजाः, इति सप्तप्रकारत्वमुक्तम् । सर्वतः परिसर्पणादिति  
सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः, विविधं सर्पणाद्विसर्पः । यदुक्तं चरके,-  
“विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः  
परिसर्पणात्”-( च. चि. स्था. अ. २१ ) इति ॥ १-३ ॥

आ०-अम्लपित्तसंभवच्छर्दिवेगविधातद्रक्तदुष्टौ सत्यां विसर्पोत्पत्तेर्हेतुसामान्याच्चानन्तरं विसर्पनि-  
दानमाह-छर्दिवेगविधातस्य च रक्तदूषकत्वे चरकवचनं यथा-छर्दिवेगविधातात् काले चानवसेवनात्  
शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं संप्रदूष्यति-”इति । तस्य निदानपूर्विकां संख्यां निरुक्तिं चाह-लवणे-  
त्यादि लवणादिभिर्विसर्पो रोगो भवति, स सप्तधा ज्ञेयः । विसर्पो न ह्यसंस्पृष्टो रक्तपित्तेन” इति  
वचनात्लवणादिकं विशेषेण रक्तपित्तनिदानमुक्तम् । एषां सन्ततसेवया दोषकोपः । आदिग्रहणाच्चरको-  
क्तहरितशाकशिण्डाकीप्रभृतीनां ग्रहणम् । सप्तधेति उल्वणैकैकदोषजास्त्रयः, सन्निपातज एकः, द्वन्द्व-  
जास्त्रय इति सप्तप्रकारत्वम् । सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः, विविधं सर्पतीति विसर्पः । यदुक्तं चरक-

“विविधं सर्पाति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पोथ वा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्—” इति । संख्यासंप्राप्तिमाह—पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रय इत्यादि सुगमम् । आग्नेय इत्यादि सुगमम् ॥ १—३ ॥

अथ विसर्पाणां समुत्पत्तौ दूष्य-दोष-सम्बन्धस्तल्लक्षणानि च ।  
सर्वेषामेव रक्तादिदूष्यचतुष्टय-दोषत्रय-जन्यत्वमाह—

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥ ४ ॥

विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ५ ॥

शोथ-स्फुरण-निस्तोद-भेदा-ऽऽयासार्ति-हर्षमान् ।

पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥ ६ ॥

( च० चि० अ० ११ )

कफात् कण्डूयुतः सिग्धः कफज्वरसमानरुक् ।

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥ ७ ॥

( वा० नि० अ० १३ )

म०-रक्तमित्यादि । विसर्पस्य समानसामग्रीकत्वेऽपि कुष्ठाद्भेदः कुष्ठा-  
ध्याये एव निरूपितः । दोषशब्देनैव वातादिग्रहणे सिद्धे मला इति यत्  
कृतं, तदत्यर्थदुष्ट्या शरीरमलिनीकरणत्वं दोषाणां प्रतिपादयितुम् । सन्नि-  
पातजेऽसाध्यत्वमपि “सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति” ( छु. नि. स्था.  
अ. १० )-इति वचनात् । तेन विकृतिविषमसम्भवेतत्त्वमस्य । चरके त्वन्तर्ज-  
बहिर्जभेदेन विसर्पः पठितः । यदाह-“मसोपघातात् संमोहादयनानां विष-  
हृनात् । तृष्णातियोगाद्देगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ विद्याद्विसर्पमन्तर्जभाशु  
चाग्निबलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्वाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः” ( च. चि.  
स्था. अ. २१ )-इति ॥ ४-७ ॥

आ०-सर्वेषामेव रक्तादिदूष्यचतुष्टयजन्यत्वमाह-रक्तमित्यादि । विसर्पस्य समानसामग्रीकत्वे-  
ऽपि कुष्ठाद्भेदः कुष्ठाध्याय एव निरूपितः, दोषग्रहणेनैव वातादिग्रहणे सिद्धे मला इति यत् कृतं  
तदत्यर्थदुष्ट्या शरीरमलिनीकरणत्वं दोषाणां प्रतिपादयितुम् । लसीका=जलं, त्वक्शब्देनात्र रसस्य  
सप्तधातुषु क्लृप्तत्वात् । वातजं विसर्पमाह-तत्रेत्यादि । वातज्वरसमव्यथ इति ‘वैपथ्यविषमो  
वेगः’ इत्यादिकः । निस्तोदः=शूलेन तुद्यत इव, भेदो=विदीर्यत इव, अर्तिः=पीडा, आयामो=  
विस्तारवान्, हर्षो=रोमहर्षः । पैत्तिकमाह-पित्तादित्यादि । द्रुतगतिः=शीघ्रगतिः । पित्तज्वर-  
लिङ्ग इति ‘वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च’ इत्यादिकः । अतिलोहितोऽतिरक्तः । कफजमाह-कफादित्यादि ।

कफज्वरसमानरुक् इति “स्तैमित्यं स्तिमितो वेगः” इत्यादिकः । सान्निपातिकमाह—सन्निपातेत्यादि । सर्वदोषलक्षणैर्युक्त इत्यर्थः । सन्निपातजेऽसाध्यत्वमुक्तं “सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति” इति वचनात् । तेन विवृतिविषमसमवेतत्वमस्य । चरके त्वन्तर्जवाहिर्जभेदेन विसर्पः पठितः । यदाह—“मर्मोपतापात्संमोहादयनानां च घट्टनात् । तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् । विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्ब्रह्मामन्यद्विद्यात्स्वलक्षणैः—” इति ॥ ४—७ ॥

अथाग्निविसर्पस्य लक्षणानि ।

आग्नेयविसर्पमाह—

वातपित्ताज्ज्वर—च्छर्दि—मूच्छा—ऽतीसार—तृड—भ्रमैः !

ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥ ८ ॥

करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।

यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ ९ ॥

शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।

अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतं स च ॥ १० ॥

मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।

व्यथतेऽङ्गं हरेत् संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ ११ ॥

हिक्रां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।

क्वचिच्छर्मरतिग्रस्तो भूमि—शय्या—ऽऽसनादिषु ॥ १२ ॥

चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनो—देह—ग्रमोहवान् ।

दुष्प्रबोधोऽश्रुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥ १३ ॥

( वा० नि० अ० १३ )

म०—वातपित्तादित्यादि । दीप्ताङ्गारावकीर्णवदिति ज्वलदङ्गारेणैव व्याप्तमङ्गं मन्यते । शान्ताङ्गारासित इति निर्वाणाङ्गारवत् कृष्णवर्णः स देशो भवति । नीलो रक्तो वेति स देशःस्निग्धनीलो रक्तो वा भवति । अग्निदग्ध इवेति अग्निदग्धदेश इव । शीघ्रगत्वादिति शीघ्रकारित्वात् । मर्मानुसारी=हृदयाद्यनुसारी । व्यथतेऽङ्गमित्यत्रान्तर्भावितोऽप्यर्थः, तेन व्यथयतीत्यर्थः । निद्रां चेत्यत्र हरेदिति संबध्यते । शर्म=सुखम् । दुष्प्रबोधोऽश्रुते निद्रामिति निद्रां=मरणरूपां प्राप्नोति ॥ ८—१३ ॥

आ०—वातपित्तजमाग्नेयं विसर्पमाह—वातपित्तादिति । वातपित्तजोऽयं संज्ञेयः । ज्वरादिभिरुपद्रवैर्युतः । दीप्ताङ्गारावकीर्णवदिति ज्वलदङ्गारेणैव व्याप्तमङ्गं मन्यते । शान्ताङ्गारासित

इति निर्वाणाङ्गारवत्कृष्णवर्णः, नीलः चापपक्षिवद्वा रक्तो वा स देशो भवति । आमिदग्ध इवेति आशु=शीघ्रममिदग्ध इव स्फोटैरुपचीयते=वृद्धिं नीयते, क्षीप्रगत्वात्=क्षीप्रकारित्वात्, द्रुतं=शीघ्रं, स विसर्पः, मर्मानुसारी=दृढयानुसारी, अतीव बलवान् वातः । व्यथतेऽङ्गमिति अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः, तेन व्यथयतीत्यर्थः । निद्रां संज्ञां च हरेन्नाशयेत् । श्वासं हिक्कां च ईरयेत्=प्रकोपयेत् । ईदृशीमवस्थां गतो ना पुरुषः, क्वचिच्छर्म सुखं न प्राप्नोति, केषु भूमिशय्यासनादिषु, स्वतः=आत्मनैव, क्लिष्टः=पीडितः, चेष्टमानो विद्वतां चेष्टां कुर्यात्, दुःखप्रबोधः मनोदेहश्रमोद्भवां निद्रां मरणरूपाम्, अश्नुते=प्राप्नोति ॥ ८-१३ ॥

अथ ग्रन्थिविसर्पस्य लक्षणानि ।

ग्रन्थिविसर्पमाह—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा त बहुधा कफम् ।  
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्-सिरा-स्नायु-मांसगम् ॥ १४ ॥  
दूषयित्वा तु दीर्घाणु-वृत्त-स्थूल-खरात्मनाम् ।  
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्र-रुग्-ज्वराम् ॥ १५ ॥  
श्वास-कासा-ऽतिसारा-ऽऽस्यशोष-हिक्का-वमि-भ्रमैः ।  
मोह-वैवर्ण्य-मूर्च्छा-ऽङ्गभङ्गाग्नि-सदनैर्युताम् ॥ १६ ॥  
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफ-मारुत-कोपजः ।

( वा० नि० अ० १३ )

म०—कफेन रुद्ध इत्यादि । कफेनेति स्वहेतुकुपितेन, पवनः स्वहेतुकुपितः, तेन कफ-मारुत-जत्वमस्योपपन्नं भवति । भित्त्वा तं बहुधा कफमिति कफं विस्तार्य । रक्तं वेति दूषयित्वेत्यनेन वक्ष्यमाणेन संबध्यते । दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनामिति वृत्तं=वर्तुलं, स्थूलमुच्छूनं, खरं=कठिनम्, एवंपाणां ग्रन्थीनां मालां करोति, अयं च ग्रन्थिवीसर्पः सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पच्यते ॥ १४-१६ ॥

आ०—कफमारुतजं ग्रन्थिवीसर्पमाह—कफेनेत्यादि । कफेन स्वहेतुकुपितेन, स्वहेतुकुपितः पवनः, कफं भित्त्वा=विदार्य, रक्तं च दूषयित्वेत्यनेन वक्ष्यमाणेन सम्बध्यते, वृद्धरक्तस्य=मनुष्यस्य । त्वक्सिरास्नायुमांसगमिति रक्तविशेषणम् । दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनामिति अणु=सूक्ष्मं, वृत्तं=वर्तुलं, स्थूलमसूक्ष्मं, खरं=कठिनम्, एवं रूपाणां ग्रन्थीनां मालां करोति ॥ १४-१६ ॥

अथ कर्दमविसर्पस्य लक्षणानि ।

(Phlegmonous Erysipelas)

कर्दमविसर्पमाह—

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥ १७ ॥  
अद्भावसादविक्षेपौ प्रलेपा-ऽरोचक-भ्रमाः ।

मूर्च्छाऽग्निहानिर्भेदोऽस्थां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥ १८ ॥

आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।

प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुह् ॥ १९ ॥

पिडकैरवकीर्णोऽतिपीत-लोहित-पाण्डुरैः ।

स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥ २० ॥

गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ।

पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्ट-स्नायु-सिरा-गणः ॥ २१ ॥

शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमारुह्यमुशन्ति तम् ।

( बा० नि० अ० १३ः )

म०—कफपित्तादित्यादि । स्तम्भ इति गात्रस्य स्तब्धता, आमोपवेशन-  
भामस्य वर्चसस्त्यजनम् । स च सर्पति प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशमिति कफ-  
पित्तयोराभाशयस्थत्वात् प्रायेणामाशये भवन्नेकदेशव्यापी भवतीत्यर्थः । पिड-  
कैरिति पिडकाभिः । मलिन इति मलदिग्धः । गम्भीरपाक इत्यन्तः पाकः,  
प्राज्योष्मा=प्रचुरोष्मा । स्पष्टस्नायुसिरागण इति पूतिमांसगलनेन स्नाय्वादीनां  
स्पष्टता । कर्दमारुह्यमुशन्ति तमिति तं कर्दमसारूप्यात् कर्दमारुह्यमिच्छन्ति  
॥ १७-२१ ॥

आ०—कफपित्तात्मकं कर्दमविसर्पमाह—कफपित्तादयं ज्ञेयः । स्तम्भो गात्रस्य स्तब्धता,  
अङ्गावसादः=अङ्गखेदः, विक्षेपः=अङ्गानामितश्चेतश्च प्रेरणम् । इन्द्रियगौरवमिति चक्षुरा-  
दीनां गौरवम् । आमोपवेशनमित्यादि । आमस्य=वर्चसस्त्यजनम् । लेपः=स्रोतसां शुषि-  
राणां लिप्तं स्लेष्मादिना । प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेति कफपित्तयोराभाशयस्थानत्वात्, प्रायेणामा-  
शये भिन्नेकदेशव्यापी भवतीत्यर्थः । न चातिपीडाकरः । पिडकैः=पिडकाभिरवकीर्णो=व्याप्तः  
किंभूतैः ? अतिपीत-लोहित-पाण्डुरैः । असितः=कृष्णः, मेचकाभः=अञ्जनाभः, मलिनो=मल-  
दिग्धः । गम्भीरपाक इति अन्तःपाकः, प्राज्योष्मा=प्रचुरोष्मा । स्फुटस्नायुसिरागण इति पूतिमां-  
सपगमेन स्नाय्वादीनां स्फुटता । कर्दमारुह्यमुशन्ति तं कर्दमसारूप्यात् कर्दमारुह्यं कथयन्ति १७-२१ ॥

अथ क्षतविसर्पस्य लक्षणानि ।

(Traumatic Erysipelas.)

क्षतविसर्पमाह—

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥ २२ ॥

वीसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्वितम् ।

स्फोटैः शोथ-ज्वर-रुजा-दाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥ २३ ॥  
ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं कृमः ।  
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥ २४ ॥

( सु० नि० अ० १० )

म०—बाह्यहेतोरित्यादि । अयं च पित्तजे विसर्पेऽन्तर्भावनीयः, तेन न संख्याधिक्यम् । तथा च भोजः,—“शस्त्रप्रहारैस्तैस्तैस्तु व्याड-दन्त-नखैरपि । क्षते वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिनः ॥ रक्तं पित्तं च कुपितं व्रणमाशु प्रपद्यते । कुरुतस्ते समेते तु व्रणशोथ सुदारुणम् ॥ आचितं तनुविस्फोटैः कृष्णैः पीतक-सान्निभैः । पित्तवीसर्पवह्निङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत्”—इति ॥ २२-२४ ॥

आ०—क्षतजमाह—बाह्यहेतोरित्यादि । श्यावलोहितं वर्णेन । अयं क्षतजो विसर्प पित्तजे-ऽन्तर्भावनीयः, तेन न संख्याधिक्यम् । तथा च भोजः,—“शस्त्रप्रहारैस्तैस्तैस्तु व्याड-दन्त-नखैरपि । क्षते वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिनः । रक्तं पित्तं च कुपितं व्रणमाशु प्रपद्यते । कुरुतस्ते समेते तु व्रणोत्सेधं सुदारुणम् ॥ आचितं व्रणविस्फोटैः कृष्णपीतसमन्वितैः । पित्तवीसर्पवत् क्लिङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत्”—इति । विसर्पोपद्रवानाह—ज्वरेत्यादि । मांसदरणं=मांसविदरणम् । शेषं सुगमम् ॥ २२-२४ ॥

अथ विसर्पस्य साध्यासाध्यलक्षणानि ।

साध्यत्वादिकमाह—

सिध्यन्ति वात-कफ-पित्त-कृता विसर्पाः

सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।

पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः

कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥ २५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विसर्पनिदानं समाप्तम् ।

म०—सिध्यन्तीत्यादि । पित्तात्मकोऽञ्जनवपुरिति अत्यन्तमुद्रितपित्तो-ऽञ्जनसमवर्णतनुः, अग्निविसर्परूपो न साध्य इति व्याख्यानयन्ति । कृच्छ्राश्च मर्मास्विति असाध्यत्वेन कृच्छ्रत्वं बोद्धव्यम् । यदाह भोजः,—“वर्ज्यस्तु क्षतज-स्तेषां सन्निपाताच्च यो भवेत् । भिषजा जानता त्याज्याः सर्व एव तु मर्मजाः”—इति ॥ २५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विसर्पनिदानं समाप्तम् ।

आ०—साध्यासाध्यानाह—सिद्धयन्तीत्यादि । एकैकदोषजनितास्त्रयः साध्याः, त्रिदोषजः क्षतजश्चासाध्यः । पित्तात्मकोऽङ्जनवपुरिति पैत्तिको योऽत्यन्तमुद्रिक्तपित्तत्वादङ्जनसवर्णः सोऽसाध्यः, अग्निविसर्पो न साध्यः; कृच्छ्राश्च मर्मस्विाति असाध्यत्वं कृच्छ्रत्वेन बोद्धव्यम् । तथा च भोजः—“त्याज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपाताच्च यो भवेत् । भिषजा जानता त्याज्याः सर्व एव तु मर्मजाः—” इति ॥ २५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
विसर्पनिदानम् ॥

अथ विस्फोटनिदानम् ।

अथ विस्फोटकरोगस्य हेतवः ।

प्रायेण दोषदूष्यचिकित्सासाम्याद्विस्फोटनिदानमाह—

कट्मल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।

तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥ १ ॥

त्वचमाश्रित्य ते रक्त- मांसा-ऽस्थीनि प्रदूष्य च ।

घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥ २ ॥

म०—कट्वित्यादि । अजीर्णाध्यशनातपैश्चेति अजीर्णाशनमपक्वद्रव्यस्याशनम्, अध्यशनमजीर्णे भोजनम्, अथवा अजीर्णं स्वरूपतो हेतुरध्यशनं च । ऋतुदोषेणेति शीतोष्णादीनामतियोगेन । विपर्ययेणेति ऋतुविपर्ययश्च ऋतुस्वभावस्यान्यथाभावः । एभिर्हेतुभिर्यथासंभवं प्रत्येकं दोषत्रयप्रकोपो बोद्धव्यः । ज्वरपुरःसरानित्यनेन ज्वरस्य पूर्वरूपतां दर्शयति ॥ १ ॥ २ ॥

आ०—प्रायेण दोषदूष्यचिकित्सितत्वतुल्यत्वादतोऽनन्तरं विस्फोटनिदानारम्भः, तस्य निदानमाह—कट्वित्यादि । अजीर्णाशनमपक्वद्रव्याशनम् । अध्यशनमजीर्णभोजनम् । अथर्तुदोषेण विपर्ययेणेति शीतोष्णादेरतियोगेन ऋतुदोषः, ऋतुविपर्ययः ऋतुस्वभावस्यान्यथाभावात्; एभिर्हेतुभिः यथासंभवं प्रत्येकं दोषत्रयप्रकोपो बोद्धव्यः । विस्फोटकसंप्राप्तिमाह—त्वचमित्यादि । ज्वरपुरः सरानित्यनेन ज्वरस्य पूर्वरूपतां दर्शयति ॥ १ ॥ २ ॥

अथ विस्फोटकानां लक्षणानि ।

विस्फोटकस्वरूपमाह—

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः ।

क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥ ३ ॥

शिरोरुक् शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम् ।

सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ४ ॥



ज्वर-दाह-रुजा-स्त्राव-पाक-तृष्णाभिरन्वितम् ।

पीत-लोहित-वर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ ५ ॥

छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डू-काठिन्य-पाण्डुताः ।

अवेदनश्चिरात् पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ॥ ६ ॥

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।

कण्डू-स्तै मित्य-गुरुभिर्जानीयात् कफवातिकम् ॥ ७ ॥

कण्डूर्दाहो ज्वरच्छर्दिरेतैस्तु कफपैतिकः ।

म०—अग्निदग्धनिभा इत्यादि । रक्तपित्तजा इति सर्वत्रैव विस्फोटे रक्त-  
पित्तयोरव्यभिचारित्वम्, यथा शूले वातस्य, वातानुबन्धोऽप्यत्र बोद्धव्यः । यदाह  
भोजः,—“यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि । अग्निदग्धनिभान् स्फो-  
टान् कुरुतः सर्वदेहगान् ॥ सज्वरान् सपरीदाहान् विद्यात् विस्फोटकांस्तु तान्”  
—इति ॥ ३—७ ॥—

आ०—विस्फोटकसामान्यलिङ्गमाह—अग्नीत्यादि । सज्वरा इति ज्वरस्तेषां पूर्वरूपत्वेन  
ज्ञेयः । रक्तपित्तजा इति सर्वविस्फोटेषु रक्तपित्तयोरव्यभिचारित्वं सूचितं शूलेषु वातस्येव ।  
यदुक्तं भोजे—“यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि । अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः  
सर्वदेहगान् ॥ सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान्—” इति । कचिदिति कचि-  
च्छरीरदेशे । वातिकविस्फोटमाह—शिर इत्यादि । शूलं=शरीरस्य तोदरूपम्, पर्वभेदनं=सन्धि-  
स्फुटनम् । पैत्तिकमाह—ज्वरेत्यादि । सुगमम् । श्लैष्मिकमाह—छर्दि-त्यादि । कफजप्रसङ्गात्  
कफपैत्तिकमाह—कण्डू-रत्यादि । एतैर्लक्षणैः कफपैत्तिको ज्ञेयः । वातपैत्तिकमाह—वातेत्यादि ।  
सुगमम् ॥ ३—७ ॥

अथ सान्निपातिकविस्फोटकस्य लक्षणानि ।

सान्निपातिकलक्षणमाह—

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥ ८ ॥

दाह-राग-तृषा-मोह-च्छर्दि-मूर्छा-रुजा-ज्वराः ।

प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात् त्रिदोषजः ॥ ९ ॥

म०—मध्य इत्यादि । मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते चेति मध्ये निम्नोऽन्ते चोन्नत  
इत्यर्थः । निम्नोन्नत (?) इति प्रयोगोऽसिद्धस्यानित्यत्वेन । एवं संपूर्णलक्षणो  
यस्त्रिदोषजः सोऽसाध्यः ॥ ८ ॥ ९ ॥

आ०—त्रिदोषजमाह—मध्य इति । मध्ये निम्नः, अन्ते चोन्नत इत्यर्थः । अल्पप्रपाकत्वं  
इति अल्पपाकवानित्यर्थः । मोह इन्द्रियाणाम् । एवं संपूर्णलक्षणो यस्त्रिदोषजः सोऽसाध्यः ८॥९॥

अथ रक्तजविस्फोटकस्थ लक्षणानि ।

रक्तजलक्षणमाह--

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जा-विद्रुमसन्निभाः ।  
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥ १० ॥  
न त सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।  
एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥  
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥

म०-रक्ता इत्यादि । रक्तसमुत्थाना इति लक्ष्यपदं, वेदितव्यास्तु रक्ते-  
नेति लक्षणपदम्, अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति यथा; अयमर्थः-रक्तसमुत्थानाश्च  
विस्फोटा भवन्ति ते च कथं विज्ञेया इत्यत उक्तं वेदितव्यास्तु रक्तेनेति; अथवा  
रक्तसमुत्थाना इति रक्तं समुत्थापयन्तीति निरुच्य रक्तच्छर्दनमभिमतमाचा-  
र्यस्य, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति पदस्य कारणद्योतकस्याव्यवस्थानात् । घोरोऽत्य-  
न्तदुःखदः । भूर्युपद्रव इति अत्र विसर्पोक्त एवोपद्रवो ज्ञेयः ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विस्फोटनिदानं समाप्तम् ।

आ०-रक्तजमाह-रक्ता इत्यादि । रक्ता=रक्तवर्णाः, रक्तसमुत्थाना इति रक्तसमुत्थानाश्च  
विस्फोटा भवन्तीत्यर्थः । ते च पित्तहेतुभिः कुपितेन रक्तेन वेदितव्याः, रक्तेनेति लक्षणपदं यथा-  
ऽश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति । घोर इति अत्यन्तदुःखप्रदः । भूर्युपद्रव इति बहूपद्रवः, अत्र विसर्पोक्ता  
एवोपद्रवा ज्ञेयाः ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणव्याख्यायां-

विस्फोटनिदानम् ॥ ५३ ॥

अथ मसूरिकानिदानम् ।

(Small-Pox)

अथ मसूरिकारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

विस्फोटप्रभेदत्वात् प्रायेण तुल्यनिदानत्वाच्च मसूरिकानिदानम् । तस्या  
निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह--

कम्टूल-लवण-क्षार-विरुद्धाध्यशनाशनैः ।  
दुष्ट-निष्पाव-शाकाद्यैः प्रदुष्ट-पवनोदकैः ॥ १ ॥

क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देहो दोषाः समुद्भूताः ।

जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ २ ॥

मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।

म०—कट्फल्लेत्यादि । विरुद्धाध्यशनाशनैरिति विरुद्धैरन्नैरध्यशनैश्च, 'विरुद्धाध्यशनेन तु' इति पाठो वा । दुष्टनिष्पावशकाद्यैरिति दुष्टं=व्यापन्नमन्नं, निष्पावः=शिम्बिबीजम्, आद्यशब्दान्मध्वालुकादिग्रहणम् । प्रदुष्टपवनोदकैरिति विषकुसुमादिसंस्पर्शात् प्रदुष्टः पवनस्तथोदकं च तैः । क्रूरग्रहेक्षणाच्चेतिशनैश्चरादयो देशक्षोभकराः क्रूरग्रहास्तेषामीक्षणात् । दुष्टरक्तेन सङ्गता इत्यनेन रक्तस्य कट्मलादिभिर्हेतुभिर्विशेषेण कोपं दर्शयति । अत एवोक्तं तन्त्रान्तरे—“पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् । तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥ मसूर-मुद्ग-माषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि । मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः”—इति ॥ १ ॥ २ ॥

अथ मसूरिकाया पूर्वरूपाणि ।

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिभ्रमः ॥ ३ ॥

त्वचि शोथः सर्वैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

अथ वातजमसूरिकाया लक्षणानि ।

वातजामाह—

स्फोटाः श्यावारुणा रुक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥ ४ ॥

कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।

सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः कुमः ॥ ५ ॥

शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुविसंयुता ।

म०—स्फोटा इत्यादि । चिरपाका इति विकारप्रभावात् ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ पित्तजमसूरिकाया लक्षणानि ।

पित्तजामाह—

रक्ताः पीतासिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥ ६ ॥

भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।

विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥ ७ ॥  
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

म०—रक्ता इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति तीव्रश्चण्डवेगः, सुदारुणो= बहुदुःखेनातिदुःसहः ॥ ६ ॥ ७ ॥—

अथ रक्तजमसूरिकाया लक्षणानि ।

रक्तजामाह—

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥ ८ ॥

म०—रक्तजायामित्यादि । एते विकाराः पित्तलक्षणा इति पित्तजमसूरी-  
लक्षणत्वेन उक्ता 'रक्ताः पीतासिताः स्फोटा' इत्यादयो ये ये विकारास्ते रक्त-  
जायां भवन्ति । अत्र कफजामनुक्तवैव पित्तजाया अनन्तरं रक्तजायाः उक्तिः  
पित्तलक्षणस्यातिदिष्टस्याव्यवहितत्वेन सुखग्रहणार्थं, रक्तरससम्भवात् रक्तमल-  
त्वाद्वा पित्तस्य पित्तजामभिधाय अस्याः कथनं, सर्वत्र कृतस्य समर्थनाय ॥ ८ ॥

आ०—रक्तजामाह—रक्तजायामित्यादि । एते विकाराः पित्तमसूरिकालक्षणत्वेन ये उक्ताः  
'रक्ताः पीतासिताः स्फोटाः' इत्यादयो ये विकाराः ते रक्तजायां भवन्ति ॥ ८ ॥

अथ कफजमसूरिकाया लक्षणानि ।

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग् गात्रगौरवम् ।

हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रा-ऽऽलस्य-समन्विताः ॥ ९ ॥

श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः ।

मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

आ०—कफजामाह—श्वेता, इत्यादि । सुगमम् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ सान्निपातिकमसूरिकाया लक्षणानि ।

सान्निपातिकलक्षणमाह—

नीलाश्विपिडविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजाः ।

चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥ ११ ॥

कण्ठरोधा-ऽरुचि-स्तम्भाः प्रलापा-ऽरति-संयुताः ।

दुश्चिकित्स्या समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥ १२ ॥

म०—नीला इत्यादि । चिपिडविस्तीर्णा इति चिपिडश्चिउडा इति ख्यातः,  
द्वितद्वस्तृताः । चर्मसंज्ञिताः इति 'चर्मदल' इति ख्यातः ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०—सन्निपातजामाह—नीला इत्यादि । नीलाश्चावपक्षप्रतिमाः । चिपिटविस्तीर्णा-  
इति चिपिटविस्तीर्णा इति ख्याताः, तद्वद्विस्तृताः । मध्ये निम्ना इत्युक्ते प्रान्तोन्नतत्वं ज्ञेयम् ।  
प्रभूताः=प्रचुराः कण्ठरोधः=कण्ठग्रहः, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणं, दुश्चिकित्स्याः=असाध्याः,  
चर्मसंज्ञिता इति 'चाघमांस' इति ख्यातः ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ रोमान्तिकाया लक्षणानि ।

( Measles. )

मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकामाह—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।

कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

म०—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि । रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका  
इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

आ०—मसूरिकायाः प्रकारान्तरं रोमान्तिकामाह—रोमेत्यादि । रोमकूपोच्छ्रयाः  
रागिण्य इति लोहितः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

अथ रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लक्षणानि ।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः ।

स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।

साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।

गात्रशूल-तृषा-कण्डू-ज्वरा-रति-समन्विताः ॥ १६ ॥

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किञ्चिदुन्नताः ।

घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवदनाः ॥ १७ ॥

संमोहा-ऽरति-संतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ।

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किञ्चिदुन्नताः ॥ १८ ॥

मज्जोत्था भृश-संमोह-वेदना-रति-संयुताः ।

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥

भ्रमरेणेव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ।

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥ २० ॥

स्तैस्त्रित्यारति-संमोह-वाहोन्माद-समन्विताः ।

शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥

निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।

दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥

म०-तोयबुद्बुदसंकाशा इत्यादि । अत्र दुष्टद्रव्यप्रभावात् तोयबुद्बुद-  
संकाशादीनि दोषलक्षणानि भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरभावात्; अत एव  
वक्ष्यति, -‘दोषमिश्राश्च सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः’-इति । त्वक्शब्देनात्र  
रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, अल्पदोषसंबन्धाद्भक्त-  
जाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात् । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोष-  
दुष्टेः । मेदोजायां कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति,  
अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्जाः । क्षुद्रा इत्यादिना अस्थि-मज्ज-गतयोः समानं  
लिङ्गम् । मज्जोत्था इत्यत्र मज्जाग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणम्, आधारत्वात्; अत  
एव वक्ष्यति, -‘अमरेणेव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः’-इति । मर्मधाम्नीति  
मर्मस्थानानि । पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम् । दृश्यते न तु जीवित-  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम् । अस्य न्यायस्य समान  
तया अस्थि-मज्ज-गतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

आ०-रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाया लिङ्गमाह-तोयेत्यादि । अत्र दुष्टद्रव्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसं-  
काशादीनि लक्षणानि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरभावात् । अत एव वक्ष्यति-  
“दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः-” इति । त्वक्शब्देनात्र रसो गृह्यते, धातु-  
गतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, स्वल्पदोषसंबन्धात् । रक्तजामाह-रक्तोत्था इत्यादि ।  
अत्यर्थं चेन्न दुष्टा तद्वा साध्या । अत्रापि स्वल्पदोषानुबन्धत्वेन साध्यत्वम् । मांसस्था-  
माह-मांसस्था इत्यादि । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोषदुष्टेः । मेदोगतामाह-  
मेदोजा इत्यादि । मृद्वो=मृदुस्पर्शाः, घोरज्वरपरीता इति दारुणज्वरो यतः । संमोह  
इन्द्रियाणाम् । कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तं कृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति । अस्थि-  
मज्जगतामाह-क्षुद्रा इत्यादि । अत्र अस्थिमज्जागतयोः समानं लक्षणं ज्ञेयम् । मज्जोत्था इत्यत्र  
मज्जाग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणमाधारत्वात्, क्षुद्राः=तन्व्यः, गात्रसमा=शरीरसमवर्णाः, चिप्पिटाः=  
चिउडाकाराः, अत एव वक्ष्यति-“अमरेणेव विद्वानि भवन्त्यस्थीनि सर्वतः”-इति । मर्मधा-  
मानि=मर्मस्थानानि हृदयादीनि । शुक्रगतामाह-पक्वाभा इत्यादि । पक्वाकारा=अननुपक्वा ।  
अन्ये ‘पक्वाभाः’ इति पठन्ति, तत्र कर्दमाभाः । श्लेष्णाः=मसूणाः । चिह्नं दृश्यते न तु जीवित-  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजायामसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

अथ सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः ।

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।

आ०—सन्निपातजामाह—नीला इत्यादि । नीलाश्चावपक्षप्रतिमाः । चिपिटविस्तीर्णा-  
इति चिपिटविस्तीर्णा इति ख्याताः, तद्वद्विषयताः । मध्ये निम्ना इत्युक्ते प्रान्तोन्नतत्वं ज्ञेयम् ।  
प्रभूताः=प्रचुराः कण्ठरोधः=कण्ठग्रहः, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणं, दुश्चिकित्स्याः=असाध्याः,  
चर्मसंज्ञिता इति 'चाधमांस' इति ख्यातः ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ रोमान्तिकाया लक्षणानि ।

( Measles. )

मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकामाह—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।

कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

म०—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि । रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका  
इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

आ०—मसूरिकायाः प्रकारान्तरं रोमान्तिकामाह—रोमेत्यादि । रोमकूपोच्छ्रयाः  
रागिण्य इति लोहितः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

अथ रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लक्षणानि ।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः ।

स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।

साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।

गात्रशूल-तृषा-कण्डू-ज्वरा-रति-समन्विताः ॥ १६ ॥

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किञ्चिदुन्नताः ।

घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः स्रवदनाः ॥ १७ ॥

संमोहा-ऽरति-संतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ।

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किञ्चिदुन्नताः ॥ १८ ॥

मज्जोत्था भृश-संमोह-वेदना-रति-संयुताः ।

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥

भ्रमरेणैव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ।

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥ २० ॥



स्वैमित्यारति-संमोह-दाहोन्माद-समन्विताः ।

शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥

निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।

दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥

अ०-तोयबुद्बुदसंकाशा इत्यादि । अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात् तोयबुद्बुद-  
संकाशादीनि दोषलक्षणानि भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरेभावात्; अत एव  
वक्ष्यति, 'दोषमिश्राश्च सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः'-इति । त्वक्काशब्देनात्र  
रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, अल्पदोषसंयन्धाद्रक्त-  
जाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात् । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोष-  
दुष्टेः । मेदोजायां कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति,  
अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्जः । क्षुद्रा इत्यादिना अस्थि-मज्ज-गतयोः समानं  
लिङ्गम् । मज्जोत्था इत्यत्र मज्जग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणम्, आधारत्वात्; अत  
एव वक्ष्यति, 'अमरेणैव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः'-इति । मर्मस्थानानीति  
मर्मस्थानानि । पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम् । दृश्यते न तु जीवित-  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम् । अस्य न्यायस्य समान  
तया अस्थि-मज्ज-गतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

आ०-रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाया लिङ्गमाह-तोयेत्यादि । अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसं-  
काशादीनि लक्षणानि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरेभावात् । अत एव वक्ष्यति-  
"दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः--" इति । त्वक्काशब्देनात्र रसो गृह्यते, धातु-  
गतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, स्वल्पदोषसंयन्धात् । रक्तजामाह-रक्तोत्था इत्यादि ।  
अत्यर्थं चेन्न दुष्टा तदा साध्या । अत्रापि स्वल्पदोषानुबन्धत्वेन साध्यत्वम् । मांसस्था-  
माह-मांसस्था इत्यादि । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोषदुष्टेः मेदोगतामाह-  
मेदोजा इत्यादि । सृक्को=जुदुस्पृक्षाः, घोरज्वरपरीता इति दाहणज्वरो यतः । संमोह  
इन्द्रियाणाम् । कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तं कृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति । अस्थि-  
मज्जगतामाह-क्षुद्रा इत्यादि । अत्र अस्थिमज्जगतयोः समानं लक्षणं ज्ञेयम् । मज्जोत्था इत्यत्र  
मज्जग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणमाधारत्वात्, क्षुद्राः=तन्मयः, गात्रसमा=शरीरसमवर्णाः, चिपिटाः=  
चिउडाकाराः, अत एव वक्ष्यति--"अमरेणैव विद्वानि भवन्त्यस्थीनि सर्वतः"--इति । मर्मधा-  
मानि=मर्मस्थानानि हृदयादीनि । शुक्रगतामाह-पक्वाभा इत्यादि । पक्वाकारा=अनलुपक्वा ।  
अन्ये 'पक्वाभाः' इति पठन्ति, तत्र कर्दमाभाः । श्लक्ष्णाः=मसूणाः । चिह्नं दृश्यते न तु जीवित  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजायामसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

अथ सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः ।

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।

आ०—सन्निपातजामाह—नीला इत्यादि । नीलाश्चापपक्षप्रतिमाः । चिपिटविस्तीर्णा-  
इति चिपिटविस्तीर्णा इति ख्याताः, तद्वद्विस्तृताः । मध्ये निम्ना इत्युक्ते प्रान्तोन्नतत्वं ज्ञेयम् ।  
प्रभूताः=प्रचुराः कण्ठरोधः=कण्ठग्रहः, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणं, दुश्चिकित्स्याः=असाध्याः,  
चर्मसंज्ञिता इति 'चाघमांस' इति ख्यातः ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ रोमान्तिकाया लक्षणानि ।

( Measles. )

मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकायाह—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।

कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

म०—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि । रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका  
इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

आ०—मसूरिकायाः प्रकारान्तरं रोमान्तिकामाह—रोमेत्यादि । रोमकूपोच्छ्रायाः  
रागिण्य इति लोहितः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

अथ रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लक्षणानि ।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः ।

स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।

साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।

गात्रशूल-तृषा-कण्डू-ज्वरा-रति-समन्विताः ॥ १६ ॥

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किञ्चिदुन्नताः ।

घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः स्रवदनाः ॥ १७ ॥

संमोहा-ऽरति-संतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत् ।

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किञ्चिदुन्नताः ॥ १८ ॥

मज्जोत्था भृश-संमोह-वेदना-रति-संयुताः ।

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥

भ्रमरेणैव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ।

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥ २० ॥

स्तेमित्यारति-संमोह-दाहोन्माद-समन्विताः ।

शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥

निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।

दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥

म०—तोयबुद्बुदसंकाशा इत्यादि । अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात् तोयबुद्बुद-  
संकाशादीनि दोषलक्षणानि भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टरेभावात्; अत एव  
वक्ष्यति,—‘दोषमिश्राश्च सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः’—इति । त्वक्काशदेनात्र  
रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, अल्पदोषसंबन्धाद्वक्त-  
जाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात् । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोष-  
दुष्टेः । मेदोजायां कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति,  
अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्जः । क्षुद्रा इत्यादिना अस्थि-मज्ज-गतयोः समानं  
लिङ्गम् । मज्जोत्था इत्यत्र मज्जग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणम्, आधारत्वात्; अत  
एव वक्ष्यति,—‘भ्रमरेणैव विद्वानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः’—इति । मर्मधामानाति  
मर्मस्थानानि । पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम् । दृश्यते न तु जीवित-  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम् । अस्य न्यायस्य समान  
तथा अस्थि-मज्ज=गतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

आ०—रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाया लिङ्गमाह—तोयेत्यादि । अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसं-  
काशादीनि लक्षणानि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टरेभावात् । अत एव वक्ष्यति—  
“दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः—” इति । त्वक्काशदेनात्र रसो गृह्यते, धातु-  
गतप्रस्तावात् । त्वग्गताः साध्याः, स्वल्पदोषसंबन्धात् । रक्तजामाह—रक्तोत्था इत्यादि ।  
अत्यर्थं चेन्न दुष्टा तद्वा साध्या । अत्रापि स्वल्पदोषानुबन्धत्वेन साध्यत्वम् । मांसस्था-  
माह—मांसस्था इत्यादि । मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोषदुष्टेः । मेदोगतामाह—  
मेदोजा इत्यादि । सृङ्गवो=दुदुत्पर्शाः, घोरज्वरपरीता इति दाहज्वरो यतः । संमोह  
इन्द्रियाणाम् । कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तं कृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति । अस्थि-  
मज्जगतामाह—क्षुद्रा इत्यादि । अत्र अस्थिमज्जागतयोः समानं लक्षणं ज्ञेयम् । मज्जोत्था इत्यत्र  
मज्जग्रहणादस्थनोऽपि ग्रहणमाधारत्वात्, क्षुद्राः=तन्व्यः, गात्रसमा=शरीरसमवर्णाः, चिह्निताः=  
चिह्नाकाराः, अत एव वक्ष्यति—“भ्रमरेणैव विद्वानि भवन्त्यस्थीनि सर्वतः”—इति । मर्मधा-  
मानि=मर्मस्थानानि हृदयादीनि । शुक्रगतामाह—पक्वाभा इत्यादि । पक्वाकारा=अननुपक्वा ।  
अन्ये ‘पक्वाभाः’ इति पठन्ति, तत्र कर्दमाभाः । श्लक्ष्णाः=मसूणाः । चिह्नं दृश्यते न तु जीवित-  
मिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजायामसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४-२२ ॥

अथ सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः ।

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।

श्लेष्म-पित्त-कृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥ २३ ॥

एता विनापि क्रियया प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥

आ०—धातुगतानां दोषजानामपि साध्य-त्वमाह -स्वगता इत्यादि । रसगताः ॥ २३ ॥

अथासाध्यमसूरिकाणां लक्षणानि ।

वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्म-वात-कृताश्च याः ।

कृच्छ्रसाध्यतयास्तस्माद् यत्नादेता उपाचरेत् ॥ २४ ॥

असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम् ।

प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिजम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥

लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसंनिभाः ।

आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥ २६ ॥

म०—वातजा इत्यादि । वातजादयः सन्निपातोत्थान्ता असाध्याः । एतासां संमूर्च्छनविशेषजनितवक्ष्यमाणप्रवालादिवर्णयोगादसाध्यत्वम्, तेनैत-  
द्वर्णविरहे वातजायाश्चिकित्साविविरण्युक्त उपपद्यत इति केचित् । अन्ये  
तु वातजादय एताः स्वरूपत एवासाध्याः, चिकित्सोक्तिस्तु वातजादीनां  
महात्ययनिषेधार्थम्, लिङ्गान्तरसंभवार्थं च तासां वक्ष्यामि लक्षणमित्युक्तमि-  
त्याहुः । तासामिति असाध्यवातजादीनाम् । लोहजालसमा इति जालं=  
जालकं गुडकमिति यावत्, तद्वत्कृष्णवर्णाः । अतसीफलसंनिभा इति  
उमाफलवर्णतुल्यवर्णाः । अनुक्तवर्णान्तरसंग्रहार्थमाह--आसां बहुविधा  
इत्यादि । दोषभेदत इति वातापत्ताददोषविशेषात्, दृष्टिविशेषादि-  
त्यन्ये ॥ २४--२६ ॥

आ०—कष्टसाध्या आह--वातजा इत्यादि । एता वातजादयः स्वरूपत एव कष्टसाध्याः,  
चिकित्सितोक्तिस्तु वातजाया महात्ययनिषेधार्थम् । असाध्या आह--असाध्या इत्यादि ।  
तासामिति वातादीनाम् । दोषद्वयसंमूर्च्छनाद्विशेषवर्णत्वेन लक्षणमाह--प्रवालेत्यादि ।  
लोहजालनिभाः लोहजालकं=लोहगुलिकं, तद्वत्कृष्णवर्णाः, काश्चिदतसीफलतुल्यवर्णाः ।  
अनुक्तवर्णान्तरसंग्रहार्थमाह--आसामित्यादि । आसां मसूरिकाणां वर्णा बहुविधा जायन्ते ।  
कथमित्याह--दोषभेदत इत्यादि । वातपित्तादिदोषविशेषात्, दृष्टिविशेषादित्यर्थः ॥ २४--२६ ॥

अथ सर्वासां मसूरिकाणामावस्थिकलक्षणानि ।

सर्वमसूरिकाणामावस्थिकं लिङ्गमाह--

कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

प्रलापश्चातिरमूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥ २७ ॥

सुखेन प्रसवेद् रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा ।

कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ २८ ॥

मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः ।

लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्याद्भ्रमं भेषजम् ॥ २९ ॥

म०—कास इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति अत्र सुदारुण इति परेण संबध्यते, तेन सुदारुणः प्रलापः । अतिघूर्णता=जिह्वायनम् । तथा घ्राणेन चक्षुषेत्यत्र रक्तं स्रवेदिति संबध्यते । श्वसितीति श्वासो भवति ॥ २७-२९ ॥

आ०—तासामावस्थिकलक्षणमाह—कास इत्यादि । प्रमोह इन्द्रियाणाम् । ज्वरस्तीव्र इति तीव्रवेगः । सुदारुणो=घोरः; अन्ये सुदारुण इति परेण संबध्यत इत्याहुः, तेन सुदारुणः प्रलापः । अतिघूर्णता जिह्वायनम् । तथा घ्राणेन चक्षुषेति अत्र रक्तं प्रस्रवदिति संबध्यते । श्वसितीति श्वासो भवति ॥ २७-२९ ॥

अथ मसूरिकायाः सामान्यासाध्यलक्षणानि ।

सामान्येनासाध्यत्वमाह—

मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निश्चसेत् ।

स भृशं त्यजति प्राणान् तृषार्तो वायुदपितः ॥ ३० ॥

म०—मसूरिकाभिभूतो य इत्यादि । घ्राणेन निश्चसेदिति मुखव्यतिरेकेण घ्राणेनैव निश्चसेत्, सर्ववाक्यानामवधारणफलत्वात् ॥ ३० ॥

आ०—सामान्येन साध्यतामाह—मसूरिकेत्यादि । यो मसूरिकाभिभूतो नरो भृशं घ्राणेन निश्चसेदिति मुखव्यतिरेकेण घ्राणेनैव निश्चसेत्, सर्ववाक्यानामवधारणत्वत्, तथा यः प्रदूषितो मसूरिकाभिः पीडितो नरो भृशं तृषार्तो भवति, स तथाविधो नरः प्राणांस्त्यजति ॥ ३० ॥

अथ मसूरिकाया उपद्रवाः ।

मसूरिकाया उपद्रवमाह—

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके ।

तथाऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मसूरिकानिदानं समाप्तम् ।

म० मसूरिकान्ते इत्यादि । दुश्चिकित्स्य इति दुःशब्दोऽयं निषेधे, तेन असाध्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मसूरिकानिदानं समाप्तम् ।

आ०—मसूरिकाया उपद्रवमाह—मसूरिकान्त इत्यादि । कूर्परे=जानुकूर्परे, मणिबन्धने=घुटिकायाम्, असफलके=पार्श्वयोरुपरि, दुश्चिकित्स्य इति असाध्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

क्षारीरव्रणनिदानम् ॥

अथ क्षुरोगनिदानम् ।

अथाजगलिकारोगस्य लक्षणम् ।

विसर्पादीनामक्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानामभिधानेन क्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम् । ननु, यदि क्षुद्रत्वनेषां हेतु-लक्षण-चिकित्साल्पत्वेन तर्हि अभिरोहिणी-वल्मीकादीनां त्रिदोषजत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं क्षुद्रत्वम्? नैवम्, बाहुल्येन तावत्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्; किंवा अवान्तरभेदाविरहः क्षुद्रत्वम्, येनात्र वक्तव्यानामजगलिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिस्ख्याभेदेन व्रणज्वरादिवन्निर्देशः, किंतु प्रत्येकं स्तोक्-संख्यायाऽभिधानं तेषाम् । अन्यस्त्वाह-क्षुद्रशब्दोऽल्पे रौद्रे च वर्तते, तेन यथा-योग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—“क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ता-श्चेरुरन्यैः समं मृगैः”—इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । एवमप्यजगलिकाहिपूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजा सुद्वसंनिभाः ।

कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगलिकाः ॥ १ ॥

(सु० नि० अ० १३)

म०—स्निग्धेत्यादि । भोजे तु मूषिका-कर्ण-मुष्क-कोश-फलार्शः-प्रभृतयोऽधिकविकाराः पञ्चान्ते ते च सुक्षुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तम्, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥ १ ॥

आ०—क्षुद्ररोगाणां मसुरिकारम्भकत्वादतोऽनन्तरं क्षुद्ररोगनिदानारम्भः । क्षुद्रा=लघवः तिलकालकाभिप्रायेण, अभिरोहिणी-वल्मीक-प्रभृतीनामभिप्रायेण क्षुद्राः=तीक्ष्णाः, अन्य-स्त्वाह-क्षुद्रशब्दः स्वल्पे रौद्रे च प्रवर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते, रौद्रे च क्षुद्र-शब्दो यथा—“अपि क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चेरुरन्यैः समं मृगैः” इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । अथवा पूर्वाचार्यपठिता पारिभाषिकीयं संज्ञा, काथ-पाक्य-संज्ञावत् । एषां संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारा अत्र वक्तव्याः क्रमेण दर्शयति । तेष्वजगलिकामाह-स्निग्धेत्यादि । सवर्णा=शरीरसमवर्णा, ग्रथिताकारत्वेन व्यवस्थिता, प्रायेण बालानामन्येषामप्यजगलिका भवति ॥ १ ॥

अथ यवप्रख्याया लक्षणम् ।

यवप्रख्यामाह—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिताः ।

पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ २ ॥

(सु० नि० अ० १३)

म०—यवाकारेत्यादि । यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥ २ ॥

आ०—यवप्रख्यामाह—यवाकारेत्यादि । यववन्मध्ये स्थूला अन्तर्निम्ना ॥ २ ॥

## अथान्नालज्या लक्षणम् ।

अन्नालजीमाह—

वनाजवर्गं पिडकासुन्नतां परिमण्डलाम् ।

अन्नालजीमरूपपूर्णां तां विद्यात् कफदाहजाम् ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

अ०—वनाजित्यादि । अन्नालजी ज्ञायुगता भोजवचनादवगन्तव्या । यदुक्तम्,—“क्षेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्रामरूपस्यामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्नालजीं तु ताम्”—इति ॥ ३ ॥

आ०—अन्नालजीमाह—अन्नालजी वहिर्वक्ररहिता अन्तर्मुखी स्नाय्याश्रिता च । यदुक्तं भोजेन—“क्षेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्रामरूपस्यामकण्डुराम् । आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्नालजीं तु ताम्”—इति ॥ ३ ॥

## अथ विवृताया लक्षणम् ।

विवृतामाह—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम् ।

विवृतमिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

अ०—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतायां विवृतासंज्ञा ॥ ४ ॥

आ०—विवृतामाह—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतया विवृतेति संज्ञा ॥ ४ ॥

## अथ कच्छपिकाया लक्षणम् ।

कच्छपिकालक्षणमाह—

प्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोपमाः ।

कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

अ०—प्रथिता इत्यादि । दारुणाः कठिना । मध्योन्नतत्वेन पर्यन्ताल्ल-  
त्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

आ०—कच्छपिकामाह—प्रथिता इत्यादि दारुणाः कठिनाः, मध्ये उन्नतत्वेन पर्यन्ते नत-  
त्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥



अथ क्षुद्ररोगनिदानम् ।

अथाजगलिकारोगस्य लक्षणम् ।

विसर्पादीनामक्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानामभिधानेन क्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम् । ननु, यदि क्षुद्रत्वमेषां हेतु-लक्षण-चिकित्साल्पत्वेन तर्हि अभिरोहिणी-वल्मीकादीनां त्रिदोषजत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं क्षुद्रत्वम्? नैवम्, बाहुल्येन तावत्, छत्रिणो गच्छन्ती-तिवत्; किंवा अवान्तरभेदविरहः क्षुद्रत्वम्, येनात्र वक्तव्यानामजगलिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिसंख्याभेदेन ब्रणज्वरादिवन्निर्देशः, किंतु प्रत्येकं स्तोक्-संख्ययाऽभिधानं तेषाम् । अन्यस्त्वाह-क्षुद्रशब्दोऽल्पे रौद्रे च वर्तते, तेन यथा-योग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—“क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ता-श्चरन्त्यैः समं मृगैः”—इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । एवमप्यजगलिकाहिपूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजा सुद्रसंनिभाः ।

कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगलिकाः ॥ १ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—स्निग्धेत्यादि । भोजेतु मूषिका-कर्ण-मुष्क-कोश-फलार्शः—प्रभृतयोऽधिकविकाराः पच्यन्ते ते च सुक्षुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तम्, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥ १ ॥

आ०—क्षुद्ररोगाणां मसूरिकारम्भकत्वादतोऽनन्तरं क्षुद्ररोगनिदानारम्भः । क्षुद्रा=लघवः तिलकालकामिप्रायेण, अभिरोहिणी-वल्मीक-प्रभृतीनामभिप्रायेण क्षुद्राः=तीक्ष्णाः, अन्य-स्त्वाह-क्षुद्रशब्दः स्वल्पे रौद्रे च प्रवर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते, रौद्रे च क्षुद्र-शब्दो यथा—“अपि क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चरन्त्यैः समं मृगैः”—इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । अथवा पूर्वाचार्यगठिता पारिभाषिकीयं संज्ञा, काथ-पाक्य-संज्ञावत् । एषां संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारा अत्र वक्तव्याः क्रमेण दर्शयति । तेष्वजगलिकामाह-स्निग्धेत्यादि । सवर्णा=शरीरसमवर्णा, ग्रथिताकारत्वेन व्यवस्थिता प्रायेण बालानामन्येषामप्यजगलिका भवति ॥ १ ॥

अथ यवप्रख्याया लक्षणम् ।

यवप्रख्यामाह—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।

पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ २ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—यवाकारेत्यादि । यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥ २ ॥

आ०—यवप्रख्यामाह—यवाकारेत्यादि । यववन्मध्ये स्थूला अन्तर्निम्ना ॥ २ ॥

अथान्त्रालज्या लक्षणम् ।

अन्त्रालजीमाह—

वनामवक्रां पिडकासुन्नतां परिमण्डलाम् ।

अन्त्रालजीमल्पपूर्यां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—वनामवक्रा इत्यादि । अन्त्रालजी स्नायुगता भोजवचनादवगन्तव्या । यदुक्तम्,—“क्षेष्मानिलौ भित्तौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्राजल्पपूर्यामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्”—इति ॥ ३ ॥

आ०—अन्त्रालजीमाह—अन्त्रालजी वहिर्वक्राहिता अन्तर्मुखी स्नाय्वाश्रिता च । यदुक्तं भोजेन—“कफानिलौ भित्तौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्राजल्पपूर्यामकण्डुराम् । आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्—”इति ॥ ३ ॥

अथ विवृताया लक्षणम् ।

विवृतामाह—

विवृतास्यां महादाहं पक्वोदुम्बरसंनिभाम् ।

विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतायां विवृतासंज्ञा ॥ ४ ॥

आ०—विवृतामाह—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतया विवृतेति संज्ञा ॥ ४ ॥

अथ कच्छपिकाया लक्षणम् ।

कच्छपिकालक्षणमाह—

प्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोपमाः ।

कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—प्रथिता इत्यादि । दारुणाः कठिना । मध्योन्नतत्वेन पर्यन्ताल्लपत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

आ०—कच्छपिकामाह—प्रथिता इत्यादि दारुणाः कठिनाः, मध्ये उन्नतत्वेन पर्यन्ते नतत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

अथ क्षुद्ररोगनिदानम् ।

अथाजगल्लिकारोगस्य लक्षणम् ।

विसर्पादीनामक्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानामभिधानेन क्षुद्र-हेतु-लक्षण-चिकित्सितानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम् । ननु, यदि क्षुद्रत्वमेषां हेतु-लक्षण-चिकित्साल्पत्वेन तर्हि अभिरोहिणी-वल्मीकादीनां त्रिदोषजत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं क्षुद्रत्वम्? नैवम्, बाहुल्येन तावत्, छत्रिणो गच्छन्ती-तिवत्; किंवा अवान्तरभेदविरहः क्षुद्रत्वम्, येनात्र वक्तव्यानामजगल्लिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिसंख्याभेदेन व्रणज्वरादिवन्निर्देशः, किंतु प्रत्येकं स्तोक-संख्यायाऽभिधानं तेषाम् । अन्यस्त्वाह-क्षुद्रशब्दोऽल्पे रौद्रे च वर्तते, तेन यथा-योग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—“क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ता-श्चरन्त्यैः समं मृगैः”—इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । एवमप्यजगल्लिकाहिषूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजा सुद्रुसंनिभाः ।

कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥ १ ॥

(सु० नि० अ० १३)

म०—स्निग्धेत्यादि । भोजेतु मूषिका-कर्ण-मुष्क-कोश-फलार्शः-प्रभृतयोऽधिकविकाराः पठ्यन्ते ते च सुश्रुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तम्, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥ १ ॥

आ०—क्षुद्ररोगाणां मसूरिकारम्भकत्वादतोऽनन्तरं क्षुद्ररोगनिदानारम्भः । क्षुद्रा-लघवः तिलकालकाभिप्रायेण, अभिरोहिणी-वल्मीक-प्रभृतीनामभिप्रायेण क्षुद्राः=तीक्ष्णाः, अन्य-स्त्वाह-क्षुद्रशब्दः स्वल्पे रौद्रे च प्रवर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते, रौद्रे च क्षुद्र-शब्दो यथा—“अपि क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चेहःसमं मृगैः” इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । अथवा पूर्वाचार्यपठिता पारिभाषिकीयं संज्ञा, काथ-पाक्य-संज्ञावत् । एषां संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारा अत्र वक्तव्याः क्रमेण दर्शयति । तेष्वजगल्लिकामाह-स्निग्धेत्यादि । सवर्णा=शरीरसमवर्णा, ग्रथिताकारत्वेन व्यवस्थिता, प्रायेण बालानामन्येषामप्यजगल्लिका भवति ॥१॥

अथ यवप्रख्याया लक्षणम् ।

यवप्रख्यामाह—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।

पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ २ ॥

(सु० नि० अ० १३)

म०—यवाकारेत्यादि । यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥ २ ॥

आ०—यवप्रख्यामाह—यवाकारेत्यादि । यववन्मध्ये स्थूला अन्तर्निम्ना ॥ २ ॥

## अथान्त्रालज्या लक्षणम् ।

अन्त्रालजीमाह—

घनामवकां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम् ।

अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥ ३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—घनमित्यादि । अन्त्रालजी स्नायुगता भोजवचनादवगन्तव्या । यदुक्तम्,—“क्षेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्रामल्पपूयाभकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्”—इति ॥ ३ ॥

आ०—अन्त्रालजीमाह—अन्त्रालजी बहिर्वक्राहिता अन्तर्मुखी स्नाय्वाश्रिता च । यदुक्तं भोजेन—“कफानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽवक्रामल्पपूयाभकण्डुराम् । आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्—”इति ॥ ३ ॥

## अथ विवृताया लक्षणम् ।

विवृतामाह—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम् ।

विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतायां विवृतासंज्ञा ॥ ४ ॥

आ०—विवृतामाह—विवृतास्यामित्यादि । पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतया विवृतेति संज्ञा ॥ ४ ॥

## अथ कच्छपिकाया लक्षणम् ।

कच्छपिकालक्षणमाह—

प्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोपमाः ।

कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—प्रथिता इत्यादि । दारुणाः कठिना । मध्योन्नतत्वेन पर्यन्तालपत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

आ०—कच्छपिकामाह—प्रथिता इत्यादि दारुणाः कठिनाः, मध्ये उन्नतत्वेन पर्यन्ते नतत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

अथ वल्मीकस्य लक्षणम् ।

वल्मीकलक्षणमाह—

ग्रीवांस-कक्षा-कर-पाद-देशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः ।  
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम्  
मुखैरनेकैः स्फुटि-तोद-वद्भिर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः ।  
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ७

( सु० नि० अ० १३ )

म०—ग्रीवांसेत्यादि । वल्मीकवदित्यनेन प्रचुरशिखरत्वेन समुच्छ्रितत्वं  
दूरावगाढमूलत्वं च ख्याप्यते । अत एव चिकित्सायामवगाढमूलशोधनार्थम-  
भिक्षाराभ्यां चिकित्सेदित्युक्तम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०—वल्मीकमाह—ग्रीवेत्यादि । वल्मीकवदित्यनेन प्रचुरशिखरित्वमुच्छ्रितत्वं दूरावगाढमूल-  
त्वं च ख्याप्यते, अत एव चिकित्सायामवगाढमूलशोधनाय “अभिक्षाराभ्यामुपचरेत्” इत्युक्तम् ।  
निष्प्रत्यनीकमसाध्यम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथेन्द्रविद्याया लक्षणम् ।

इन्द्रविद्यामाह—

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।

इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद् वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ ८ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—पद्मकर्णिकवदित्यादि । पद्मकर्णिकवन्मध्ये इति पद्मवराटवत् ॥ ८ ॥

आ०—इन्द्रविद्यामाह—पद्मेत्यादि । पद्मकर्णिकावत् मध्ये पिडकाभिः युक्ताम् ॥ ८ ॥

अथ गर्दभिकाया लक्षणम् ।

गर्दभिकामाह—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।

रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद् वातपित्तजाम् ॥ ९ ॥

म०—मण्डलमित्यादि । गर्दभिका यद्यपि समानतन्त्रे न पठ्यते तथाऽपि  
सर्वत्र सुश्रुतेऽभिधीयते; अविगीतपाठेन व्यवस्थितैव ॥ ९ ॥

आ०—गर्दभिकामाह—मण्डलमित्यादि । वृत्तं=वर्तुलम् । उत्सन्नमुन्नतम् ॥ ९ ॥

अथ पाषाणगर्दभस्य लक्षणम् ।

( Mumps )

पाषाणगर्दभलक्षणमाह—

वात-श्लेष्म-समुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः ।

स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥ १० ॥

म०—वातैत्यादि । स्थिरः=कठिनः, पाषाणवत् कठिन्यात् पाषाणगर्दभः ।  
पाषाणगर्दभः “गलवट्ट” इति ख्यातः ॥ १० ॥

आ०—पाषाणगर्दभमाह—वातैत्यादि । स्थिरः=कठिनः ॥ १० ॥

अथ पनसिकाया लक्षणम् ।

पनसिकामाह—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।

स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद् वातकफोत्थिताम् ॥ ११ ॥

म०—कर्णस्येत्यादि । एषा भाजे ‘समन्ततः’ इति वचनात् कर्णस्य  
बहिरपि भवतीति केचिद्व्याचक्षते । यदुक्तम्,—“कफवातौ प्रकुपितौ मांस-  
माश्रित्य कर्णयोः । समन्ततः परिस्तब्धां कुरुतः पिडकां स्थिराम् ॥ विषमां  
दाहसंयुक्तां विद्यात् पनसिकां तु ताम्”—इति । तत्तु न सम्यक्, समन्तत इत्यस्य  
कर्णाभ्यन्तर एवोपपन्नत्वात् । दृश्यते बाह्यरन्ध्रे शालूकाकारेयमिति केचित् ।  
अस्यां वातकफजायां भोजे दाहपाठो विकृतिविषमसमवायादधिष्ठानभूतरक्त-  
प्रभावाद् वाऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥

आ०—पनसिकामाह—कर्णस्येत्यादि । भोजे ‘समन्ततः’ इति वचनात् कर्णस्य बहिरपि भवतीति  
व्याचक्षते । यदुक्तम्,—“कफवातौ प्रकुपितौ मांसमाश्रित्य कर्णयोः । समन्ततः परिस्तब्धां कुरुतः पिडकां  
स्थिराम् ॥ विषमां दाहसंयुक्तां विद्यात्पनसिकां तु ताम्” इति ॥ ११ ॥

अथ जालगर्दभस्य लक्षणम् ।

जालगर्दभलक्षणमाह—

विसर्पवत् सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान् ।

दाह-ज्वर-करः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

म०—विसर्पवदित्यादि । अपाकवानिति ईषत्पाकवान्, पित्तकृतत्वेन  
सर्वथापाकाभावस्यायुक्तत्वादिति चक्रः, किंतु पाकरहित एवायमुपलभ्यते ।

पित्तादित्युद्भूतपित्तात्, तेन भोजोक्तं पित्तोत्खणदोषत्रयजन्यत्वमस्याविरुद्धं भवति । स यदाह,—“पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः । श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पिणं सदाहं च तृष्णा-ज्वर-समन्वितम् । विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्”—इति । जलुकर्णस्त्वाह—“पित्ताधिकस्तत्र तीव्रदाहो रक्तपाको विसर्प-ज्वर-करो जालगर्दभः”—इति । अयमग्नि-वात इति ख्यातो विकारः ॥ १२ ॥

आ०—जालगर्दभमाह—अपाकवानित्यादि । ईषत्पाकवान्, पित्तकृतत्वेन; सर्वथा पाकाभावस्या-युक्तत्वादिति चक्रः; किंतु पाकरहित एवायमुपलभ्यते, तेन भोजोक्तं पित्तोत्खणदोषत्रयजन्यत्वमस्याविरुद्धं भवति । स यदाह—“ पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः । श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम् । विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्—” इति ॥ १२ ॥

### अथरिवेष्टिकाया लक्षणम् ।

इरिवेष्टिकालक्षणमाह—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्र-रुजा-ज्वराम् ।

सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेष्टिकाम् ॥ १३ ॥

म०—पिडकामित्यादि । सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गामिति सर्वात्मिकाम्=सर्व-दोषजाम् । सर्वात्मिकामित्यनेनैव सर्वलिङ्गत्वे सिद्धे पुनः सर्वलिङ्गामिति वचनं विकृतिविषमसमवायारब्धलिङ्गव्यतिरेकेण प्रत्येकदोषलिङ्गयुक्ततां ख्यापयति ॥ १३ ॥

आ०—इरिवेष्टिकामाह—पिडकामित्यादि । उत्तमाङ्गस्थां=शिरोगताम् । सर्वात्मिकामित्यनेनैव सर्वलिङ्गत्वं सिद्धं, पुनः सर्वलिङ्गामिति ग्रहणं विकृतिविषमसमवायारब्धलिङ्गव्यतिरेकेण प्रत्येकदोषलिङ्गयुक्ततां ख्यापयति ॥ १३ ॥

अथ कक्षाया लक्षणानि ।

( Herpes Zoster, Boils. )

बाहु-पार्श्वास-कक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।

पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

आ०—कक्षामाह—बाह्वित्यादि । कक्षामिति नामतः प्रासिद्धाम् ॥ १४ ॥



अथ गन्धमालाया लक्षणम् ।

गन्धमालायाह—

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम् ।

त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रवक्षन्ते ॥ १६ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—एकामित्यादि । एकामेतादृशीमिति कक्षोक्तैककृष्णस्फोटसदृशीम् १६

आ०—गन्धमालावाग्नीमाह—एकामित्यादि । स्फोटसदृशीम् ॥ १५ ॥

अथामिरोहिणीरोगस्य लक्षणम् ।

अमिरोहिणीलक्षणमाह—

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्त मांसदारणाः ।

अन्तर्दाह-ज्वर-करा दीप्तपावकसंनिभाः ॥ १६ ॥

सप्ताहाद् वा दशाहाद् वा पक्षाद् वा हन्ति मानवम् ।

ताममिरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥ १७ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—कक्षेत्यादि । सप्ताहाद्वा दशाहाद्वेत्यभिधानमसाध्यत्वस्यापकमनुपक्रमाद्बोद्धव्यम् । उपक्रमात् पुनरियं साध्यैव, अत एवास्याश्चिकित्साभिधानं चरकेणाप्यमिरोहिणीं प्रत्यभिहितम्,—“सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः” ( च. सू. स्था. अ. १८ )—इति । तन्त्रान्तरमपि,—“पित्तरक्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान् । कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्र-दाह-रुजा-ज्वरान् ॥ मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् । पक्षादशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी” —इति । वात-पित्त-कफाधिक्याद्यथाक्रमं सप्ताहादिविकल्पः ॥ १६ ॥ १७ ॥

आ०—अमिरोहिणीमाह—कक्षेत्यादि । अस्यामसाध्यत्वमनुपक्रमाद्बोद्धव्यम्, उपक्रमात्पुनरियं साध्या; अत एवास्याश्चिकित्साभिधानं चरकेणाप्यमिरोहिणीं प्रत्यभिहितम् । “सन्ति ह्येवंविध रोगाः साध्या दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः—” इति । तन्त्रान्तरमपि—“रक्तपित्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान् । कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान् ॥ मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् । पक्षादशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी—” इति । वातपित्तकफाधिक्याद्यथाक्रमं सप्ताहादिविकल्पः; तेन वाताधिकैः सप्ताहात् पित्ताधिकैर्दशाहात्कफाधिकैः पक्षादि-यूह्यम् ॥ १६ ॥ १६ ॥

अथ चिप्पाख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम् ।

(Whitlow)

चिप्पमाह—

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम् ।

कुर्वते दाहपाकौ च तं व्याधि चिप्पमादिशेत् ॥ १८ ॥

तदेवाल्पतरैर्दोषैः पुरुषं कुनखं वदेत् ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० १३ )

म०—नखेत्यादि । तं व्याधिं चिप्पमिति चिप्पमङ्गुलीवेष्टकमिति ख्यातम् । चरके त्वक्षतनामायं विकारः । यदुक्तम्,—“रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदोषी भृश-दाह-पाकः” ( च. चि. स्था. अ. १२ )—इति ॥ १८ ॥ १९ ॥

आ०—चिप्पमाह=नखमांसेत्यादि । तन्त्रान्तरेऽङ्गुलीवेष्टकमिति ख्यातम् । चरके त्वक्षतनामायं विकारः । यदुक्तम्—“ रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदोषाद्भृशदाहपाकः” इति । अन्ये तु “तमेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि” इत्यधिकं ग्रन्थमधीयते । तदेव चिप्पमिति । सुगमम् ॥ १८ ॥ १९ ॥

अथानुशयीरोगस्य लक्षणम् ।

अनुशयीलक्षणमाह—

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ।

पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥ २० ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—गम्भीरामित्यादि । गम्भीरामित्यन्तःपाकेन । अल्पसंरम्भामित्यल्पशोथाम् ॥ २० ॥

आ०—अनुशयीमाह—गम्भीरामित्यादि । अन्तः पाकेन गम्भीराम् । अल्पसंरम्भामिति स्वल्पशोथाम् । “कफादन्तःप्रपाकान्तां विद्यादनुशयीं भिषक्” इति केचन पाठं पठन्ति । उपरिस्थितां मस्तके स्थितामिति व्याचक्षते ॥ २० ॥

अथ विदारीरोगस्य लक्षणम् ।

विदारीलक्षणमाह—

विदारीकन्दवद् वृत्ता कक्षावङ्मणसि धिषु ।

विदारिका भवेद् रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥ २१ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—विदारीत्यादि । विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा इत्यत्र केचिदसर्वजा असर्वलक्षणेति उभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजा

इति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः । तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा सन्निपातमात्रेण न भवतीति वाक्यार्थः । किंत्वयं पक्षो यद्यभिमतः स्यादाचार्यस्य, तदा व्यक्त्यर्थे 'षड्विधा हेतुदोषजा' इति पदं कृतं स्यात् । किंच बहुप्रपञ्चत्वेन क्षुद्रत्वासङ्गतिश्च । अपरे असर्वजा सर्वलक्षणा' इति पठन्ति; तदपि न संगतम् सर्वदोषैर्न भवति अथ सर्वदोषलक्षणा भवति हन्त तर्हि लिङ्गिनमन्तरेण लिङ्गप्रादुर्भावप्रसङ्गः । अन्ये तूत्तरपद एव नञः प्रयोगात् "सर्वजाऽसर्वलक्षणा" इति वदन्ति; तत्र यदि सर्वेषां लक्षणानि सर्वलक्षणानि तान्यविद्यमानानि यस्यामिति, तदा कथं लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनः परोक्षस्य परिच्छेदोदयः । अथ सर्वाणि च तानि लक्षणानि अविद्यमानानि यस्यामिति, सन्निपातजत्वेऽप्यसंपूर्णलक्षणेत्यर्थः । एतदपि न सङ्गतम् यद्ययं पक्षोऽभीष्टः स्यात् तदाऽसर्वलक्षणेति न वक्तव्यमत्र स्यात् सर्वत्र न्यायस्यास्य समानत्वात्; हेत्वनुरूपकोपचलेन हि सर्वत्र सर्वाधाल्पलिङ्गसङ्गतिः, असंपूर्णलक्षणत्वेन दोषाणां हीनबलत्वं समवृद्धागमनारम्भकत्वं वा शक्यमेवास्मिन् पक्षे वक्तुं, किन्तु तन्नाद्रियन्ते; ततश्चोभयत्रापि नञः प्रयोगं विना सर्वजा सर्वलक्षणेति पाठो युक्तः । सर्वजेत्यभिधायापि सर्वलक्षणेति वचनमिरिवेल्लिकायां प्रकृतिसमसमवायजन्यवातादिलक्षणदर्शनार्थं, तेन विकृतिविषमसमवायजन्यासाध्यत्वादिलक्षणानि न भवन्ति । अस्मिन्नपि पाठे सर्वजा सर्वैरेकादिप्रकारैर्वातादिभिर्जन्यते, एवं सर्वलक्षणातिवक्तुं पार्यते, किन्तु क्षुद्ररोगत्वादोषभेदेन गणना न युक्ता । चरके त्वियं कफमारुतजा पठ्यते । यदुक्तम्—“ज्वरान्विता वङ्क्षण-कक्ष-सन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या । विदारिका सा कफमारुताभ्याम्” ( च. चि. स्था. अ. १२ ) इति । तेनात्राप्यल्पपित्तयुक्तकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम् । यथा—ज्वरयोगेनाल्पपित्तत्वम् । यदुक्तम्,—“ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्युष्मणा विना” ( च. चि. स्था. अ. १ )—इति । “विदारीमिति तां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणां” इति पाठान्तरे न कश्चिद् व्याख्यानप्रपञ्चः ॥ २१ ॥

आ०—विदारिकालक्षणमाह—विदारीत्यादि । सर्वजा सर्वलक्षणेत्यत्र केचिदसर्वजा असर्वलक्षणेत्युभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजेति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः । तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा न सन्निपातमात्रेण भवतीति वाक्यार्थः । किंत्वयं यदि पक्षोऽभिमत आचार्यस्य स्यात्, तदा व्यक्त्यर्थे षड्विधा द्वयेकदापजेति पदं कृतं स्यात् । किंच, बहुप्रपञ्चत्वेन क्षुद्रत्वासंगतिश्च । अपरे “सर्वजा सर्वलक्षणा” इति पठन्ति, तदपि न संगतं, न सर्वदोषैर्भवति अथ सर्वदोषलक्षणा भवति हन्त तर्हि लिङ्गिनमन्तरेण लिङ्गप्रादुर्भावप्रसङ्गः । अन्ये तु उत्तरपद एव नञः प्रयोगात् ‘सर्वज (अ) सर्वलक्षणा’ इति पठन्ति । तत्र यदि सर्वेषां लक्षणानि सन्नि-

लक्षणानि तान्यविद्यमानानि वक्ष्यामिति; तदां कथं लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनः परोक्षस्य परिच्छेदोदयः । अथ सर्वाणि च तानि लक्षणानि च तानि अविद्यमानानि यस्याम् । संनिपातजत्वेऽप्यसंपूर्णलक्षणैत्यर्थः । एतदपि न संगतं, यद्यर्थं पक्षोऽभीष्टः स्यात्तदा असर्वलक्षणेति न वक्तव्यमत्र स्यात्, सर्वत्र न्यायस्य स्यात्त्वात् । तदुक्तं—“दोषे विपक्षे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः ”—इति । हेत्वनुरूपकोपबलेन हि सर्वत्र समीचीनलिङ्गसंगतिः । असंपूर्णलक्षणत्वेन दोषाणां हीनबलत्वं समवृद्धानामनारम्भकत्वं वा शक्यमेवास्मिन्पक्षे वक्तुं, किन्तु तन्नाद्रियन्ते, ततश्चोभयत्रापि नञः प्रयोगं विना “सर्वजा सर्वलक्षणा” इति पाठो युक्तः । सर्वजेत्यभिधायपि सर्वलक्षणेति वचनभिरिवेष्टिकायामिव प्रकृतिसमसमवायु जन्मवातदिलक्षणदर्शनार्थं, तेन विकृतिविषमसमवायजन्यासाध्यत्वादिलक्षणानि न भवन्ति । अस्मिन्नपि पाठो सर्वजा सर्वैरेकादिप्रकारैर्वातादिभिर्जन्यते, एवं सर्वलक्षणेति च वक्तुं पांथ्यते, किन्तु क्षुद्ररोगत्वाद्दोषभेदेन रागजा न युक्ता । चरके त्विदं कफमास्तजा पठ्यते । यदुक्तं—“ज्वरान्विता बद्धक्षणाक्षसन्धौ वर्तिर्विरतिः कठिना मता या । विदारिका सा कफमास्ताभ्याम्” इति । तेनात्राप्यल्पपित्तयुक्तकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम् । ज्वरयोगेनाल्पपित्तत्वं चरके द्रष्टव्यम् । यदुक्तम्—“ऊष्मा पित्ताद्रुते नास्ति चरः नास्यूष्मणा विना” इति । “विदारिमिति तां विद्यात्सर्वजां सर्वलक्षणां” इति पाठान्तरे न कश्चित्पाख्यानप्रसङ्गः ॥ २१ ॥

अथ शर्कराख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम् ।

शर्करामाह—

प्राप्य मांस-सिरा-स्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।

ग्रन्थि करोत्यसौ भिन्नो मधु-सर्पि-र्वसा-निभम् ॥ २२ ॥

स्रवत्यास्त्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः ।

मांसं संशोष्य ग्रथितां शकरां जनयेत् ततः ॥ २३ ॥

दुर्गन्धिं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।

स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्यात् शर्कराबुदम् ॥ २४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—प्राप्येत्यादि इयमेव शर्कराबुदस्य हेतुः । अस्यां कफानिलौ दोषौ, मांस-सिरा-स्नायु-भेदांसि दूष्याणि । अनिलस्तत्र वृद्धिं गत इति पूर्वमेव तावद्बुद्धोऽनिलो धातुक्षयेण वृद्धिमतिशयेन गतः मांसं विशोष्य काठिन्यात् शर्करा-तुल्यां शर्करां जनयति । अतः शर्करायास्तुल्यं शर्कराबुदं भवति । दुर्गन्धिं क्लिन्नमित्यादिना शर्करोत्पन्नं शर्कराबुदलक्षणं, शर्कराबुदं च शर्करावस्थैवेत्येक एवायं विकारः, तेन न संख्यातिरेकः । नानावर्णमिति घृतभेदोवसावर्णं रक्तम् तत इति शर्कराबुदादेव । भोजेऽपि पठ्यते,—“तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृत-भेदो-निभं सिराः । स्रवन्ति स्त्रावमनिशं तदा स्याच्छर्कराबुदम् ”—इति । तमेवेति ग्रन्थिम् ॥ २२-२४ ॥

आ०—शर्करामाह—प्राप्येत्यादि । अस्यां कफानिलौ दोषौ, मांससिरास्त्रायुमेदांसि दूष्याणि, अनिलस्तत्र वृद्धिं गत इति पूर्वमेव तावदृद्धोऽनिलो धातुक्षयात् पुनर्वृद्धिमतिशयं गतः । मांसं विशोष्य काठिन्यात् शर्करातुल्यां शर्करां जनयति । शर्करा पाषाणकर्करः । शर्करार्बुदमाह—दुर्गन्धित्यादि । शर्करार्बुदं शर्करैर्बुदत्वेनावस्थितेत्येक एवायं विकारः, तेन न संख्यातिरेकः । नानावर्णमिति घृतमेदोवसावर्णं, तत इति शर्करार्बुददेशे, अत्र सप्तम्यर्थे पञ्चमी, भोजेऽपि पठ्यते—“तमेव भिक्षुं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं सिराः । स्रवन्ति स्रावमनिशं तदा स्याच्छर्करार्बुदम्” इति । तमेवेति—ग्रन्थिम् ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथ पाददार्या लक्षणम् ।

पाददारीमाह—

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थलक्षयोः ।

पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत् ॥ २५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—परिक्रमणशीलस्येत्यादि । परिक्रमणम्=पादविहरणम्, दारी=दारणमात्रम्; विपादिकाकुष्ठं तु पिडका सविदारणेति भेदः ॥ २५ ॥

आ०—पाददारीमाह—परिक्रमणशीलस्येत्यादि । पादविहरणशीलस्य, दारी विदरणमात्रं, विपादिकाकुष्ठं तु पिडकानां विदरणमिति भेदः ॥ २५ ॥

अथ कदरस्य लक्षणम् । ( Corn. )

कदरमाह—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।

ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥ २६ ॥

( सू० नि० अ० १३ )

म०—शर्करोन्मथित इत्यादि । कदरं=कोलाष्ठीति ख्यातम् । कोलवदित्यस्य स्थाने कीलवदिति पाठान्तरम् । कदरं हस्तेऽपि भवति । तथा च भोजः—“हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम् । मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः । शर्कराकदरं कैचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्”—इति । कोलवदिति बदरवत् ॥ २६ ॥

आ०—कदरमाह—शर्करेत्यादि । पादे शर्करा=घटकर्परखण्डादयः, तामिहन्मथिते=पीडिते कण्टकादिभिर्वा क्षते कोलवदुत्सन्नो ग्रन्थिर्जायते, तत्कदरं नाम; कोलवदिति स्थाने “कीलवत्” इति पाठान्तरम् । कदरं हस्तेऽपि भवति । यदुक्तं भोजेन—“हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम् । मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः । शर्कराकदरं कैचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्” इति । कोलवत् बदरवत् ॥ २६ ॥

## अथालसकस्य लक्षणम् ।

अलसकलक्षणमाह—

हिमाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डू-दाह-रुजान्वितौ ।  
दुष्टकर्मसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥ २७ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—हिमेत्यादि । अयं कफरक्तजो विकारः “पाकुंया” इति ख्यातः ।  
अथ कण्डुः कफस्य, दाहरुजे रक्तस्य ॥ २७ ॥

आ०—अलसकलक्षणमाह—हिमेत्यादि । अयं च कफरक्तजो विकारः; तत्र कण्डूः कफस्य, दाहरुजे रक्तस्य ॥ २७ ॥

## अथेन्द्रलुप्तस्य लक्षणम् ।

( Baldness or Falling of Hair )

इन्द्रलुप्तस्य लक्षणमाह—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।  
प्रचयावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥ २८ ॥  
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।  
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥ २९ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—रोमकूपेत्यादि । एतन्निभिर्दोषैः सशोणितैः स्वभावान्नियतकाल-  
व्यापारैर्भवति । एतच्च स्त्रीणां न भवतीति विदेहवचनाद्व्याख्यानयन्ति ।  
यदुक्तम्,—“अत्यन्तसुकुमाराङ्गयो रजो दुष्टं खवन्ति च । अव्यायामरता  
यस्मात्तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः—” इति । अव्यायामाद्वातपित्तयोरकोपेन  
नातिरोमच्युतिः, रजःसावेण च स्रोतोऽवरोधाभावाच्च पुनानामपि रोम्णां  
पुनर्विरोहः; किंतु स्त्रीष्वपि खलितिर्दृश्यात् प्रायिकं विदेहवचनम् । खा-  
लित्यं रुह्येति च तस्य पर्यायकथनम् । तथाच भोजः,—“तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः  
खर्वीं रुह्यां च केचन”—इति । कार्तिकस्त्वाह,—“ इन्द्रलुप्तं शमश्रुणि  
भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे”—इति । आगमस्त्वत्र  
नास्ति ॥ २८ ॥ २९ ॥

आ०—इन्द्रलुप्तमाह—रोमेत्यादि । एतन्निभिर्दोषैः सशोणितैः स्वभावान्नियतकालव्यापारैर्भवति,  
मूर्च्छितं=वृद्धिगतम्, प्रचयावयति=पातयति । ततोऽन्येषामसंभव इति अन्यगंरोम्णामप्रादुर्भावः ।

एतच्च स्त्रीणां न भवति विदेहवचनादिति व्याख्यानयन्ति, यदुक्तम्--“ अत्यन्तपुङ्गवमाराङ्गयो रजो दुष्टं स्रवन्ति च । अध्यायामरता यस्मात्तस्मान्न खिलतिः स्त्रियाः--” इति । खल्वीं रुद्धां च केचन इति । खालित्यं रुद्धेति च तस्य पर्यायकथनम् कार्तिकस्त्वाह--“इन्द्रजित् इमश्रुणे भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुद्धा च सर्वदेहे” इति । आगमस्त्वत्र नास्ति ॥ २८ ॥ २९ ॥

अथ दारुणकस्य लक्षणम् ।

दारुणलक्षणमाह--

दारुणा कण्डुरा रुक्षा केशधूमिः प्रपाटयते ।

कफ-मारुत-कोपेन विद्यादारुणकं तु तम् ॥ ३० ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०--दारुणेत्यादि । दारुणेति कठिना । कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तं तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः--“यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा” इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्ति तु रक्तात्, अर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । यदुक्तम्--“रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चेन्नास्ति न चास्ति रुक्”-इति । दारुणं रुक्खीति लोके ॥ ३० ॥

आ०--दारुणमाह--दारुणेत्यादि । प्रपाटयते=पुटपुटायते, कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तम्, तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः--“यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा” इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्ति तु रक्तात्, अर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । दारुणकं रुक्खीति लोके ॥ ३० ॥

अथारुणिकाया लक्षणानि ।

अरुणिकामाह-

अरुणि बहुवक्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु ।

कफासृक्किमिकोपेन नृणां विद्याऽरुणिकाम् ॥ ३१ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०--अरुणीत्यादिना अरुणीति व्रणाः ३१ ॥

आ०--अरुणिकामाह--अरुणीत्यादि । नृणां पुरुषाणां कफासृक्किमिकोपेन मूर्ध्नि=मस्तके बहुवक्राणि तथा बहुक्लेदाने, अरुणीति व्रणा भवन्ति, तामहांषां विद्यात् ॥ ३१ ॥



अथ पलितस्य लक्षणम् ।

(Premature grey hair)

पलितमाह-

क्रोध-शोक-श्रम-कृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।

पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ ३२ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०-क्रोधेत्यादि । शरीरोष्मेति देहाग्निः । पित्तं चेति पित्तमपि शिरोगतं पलितहेतुः । ननु, पित्तमेवामिः, तत्र तत्र पित्तस्य पाचकत्वेनाभिधानात्; यदुक्तमानं सुश्रुतः;—“न पाकः पित्तादते” ( सु. सू. स्था. अ. १७ )—इति, तथा—“पित्ते तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा” ( सु. सू. स्था. अ. २१ )—इति, तथा एवम् “न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेये तु पित्ते दहन-पचन-कारणादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते अन्तराग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामः न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः” ( सु. सू. स्था. अ. २१ )—इति; चरकाचार्योऽप्याह,—“दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णादेहमार्दवम् । प्रभाप्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम्” ( च. सू. स्था. अ. १८ )—इति; पाकस्यान्यथानुपपत्त्या चाग्नेरङ्गीकारः; किंच भेदेऽग्नौ पित्तकरपरीचादिद्रव्योपयोगादमेवर्द्धिः, पित्तभित्कूलशीतमधुरादिद्रव्योपयोगाच्चोपशम उपलभ्यते; यदि हि पित्ताद्विघ्नोऽग्निः स्यात्तदा पित्तस्य वृद्धिहासानुविधानमस्यानुपपन्नं स्यात्, न हि तुहिनकरभण्डले हिमभाजि अहिमोपलम्भः, अतुहिनमण्डले अहिमभाजि भगवति भास्करे अभिमतहिमोपलम्भः, यद्यतो भिन्नं तत्ततो भेदेनोपलभ्यते; यथा सागरावजगरः, न चैवं पित्तादग्निः, तत्कुतः पित्तादग्नेः पृथगुपादानमिति ? अत्र प्रत्यभिधीयते—न तावदन्तराग्निः पित्तादभिन्नः, भेदसाधकप्रमाणस्य भूयः सद्भावात्; तथाह्यभेदे “समदोषः समाग्निश्च” ( सु. सू. स्था. अ. १५ ) इत्यत्र, “समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रयौ” इत्यत्र च दोषपदलब्धत्वादग्नेः पृथगुपादानमसङ्गतं; तीक्ष्णः पित्तेन चेति स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतं; यत्पुनः “न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः” इत्याद्युक्तं तद्भेदमेव साधयति, उपचाराभिधानात्, न ह्यभेदे उपचारः संभवति । यदप्यग्नेः पित्तवृद्धिहासानुविधानमभिहितं तदप्रयोजकं, भेदेऽपि समानत्वेन तदुपपत्तेः । यथा कफवृद्धिहासकरसौम्याभेयद्रव्याभ्यां शुक्रस्य वृद्धिहासौ दृष्टौ, न च कफशुक्रयोरैक्यं; किंच घृतं पित्तशमनमग्नेश्च दीपनं, पित्तस्य संचयादौ नाग्रेवर्द्धिः, पेयादिकं चाग्निकरं, न पित्तकृत्

ततश्च पित्ताद् विलक्षणोऽन्तरग्निः । स च द्रवतेजःसमुदायात्मकस्य पित्तस्य तेजोभागो न बहिरनलवद्द्रस्माङ्गाराकारः, समुदायतश्च समुदायी अन्य एव कर्चरणादिभ्य इव शरीरम्; अत्यन्तभेदेन चाग्रहणम्, तस्य नित्यसंश्लेषणशालित्वात् । पित्तस्य तेजोऽंशः एव पाच ( व ) कः, तदाह भोजः,—“दृढमृष्णोचितं ह्येतत् पित्तोष्मा पचतीति यत् । मर्च्छितो रसवीर्याभ्यां समानव्यानसंहितः”—इत्यारभ्य, “तस्मात् तेजोग्रं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान् । स कायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनः” इति । पित्तैकदेशत्वात्तेजसि पित्तोपचारमाश्रित्य लुश्रुतेनोक्तम्,—“न पाकः पित्तादृते”—इति, तथा—“न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः”—इति । एवमन्यदप्यग्नेरभेदसाधकं वचनं समाधेयम् । ननु, यदि तीक्ष्णः पित्तेनेत्युक्तं, तत् कथं पित्तेनैवाग्नेः प्रशसनमभिधीयते यदुक्तं चरके,—“कटुजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम् । आह्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्” ( च. चि. स्था. अ. १५ )—इति । उच्यते यदा कटुकेन रूक्षोष्णेन पित्तं वृद्धं भवति, तदा तेजोभागरूपायाः पित्तस्यावस्थाया उल्वणत्वात् तीक्ष्णः पित्तेनेति सङ्गतम्; यदा अम्ललवणेन स्निग्धोष्णेन कफानुगमनभाजा वृद्धं पित्तं तदा पित्तस्य द्रवावस्थाया उद्रिक्तत्वात् निर्वापणमग्रेरुक्तमिति । जलुर्कर्णेऽप्युक्तम्—“कुपितेन वायुना दीपस्येवाग्नेर्निर्वापणं, पित्तेनोष्णजलवत्, कफेनाम्बुवत्”—इति । ततश्च युक्तमग्नेः पृथगुपादानमिति । अग्निश्च पित्तगतत्वेन क्रोधकृतो भवत्येव, क्रोधेन पित्तकोपात्; शोकश्चमाभ्यां तु जनितवातेन शरीरोष्मणोऽपि विक्षेपणात् शिरोगतत्वं, तेनानिलोऽपि लभ्यते, पित्तं च साक्षादुपात्तम्, चकारेण श्लेष्मापि केशशुक्लताकरो गृह्यते । एतेन दोषत्रयसहितशरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थश्चरकोक्तार्थेन सह संवादी भवति । यदाह,—“तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितं नरस्य । किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद् हरित्प्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्” ( च. चि. स्था. अ. २ )—इति । एतच्चाकालजपलितव्यापकं लक्षणम् । कालजे तु क्रोधादिग्रहणं कारणान्तरोपलक्षणं, तेन वयः परिणामकृतश्चोष्मा दोषत्रययुक्तः कालजपलितहेतुः । अन्यथा कालजपलितस्य संग्रहो न स्यात् । किंवा कालजं स्वभाविकत्वादेव नोच्यते । अन्ये तु पित्तगतश्चेच्छरीरोष्मा तत् किमुभयोरुपादानेनेत्यभिधाय शरीरोष्मा पित्तं चेति कर्तृद्वयमाचक्षते; तेन नात्रैकस्मिन् विषये समुच्चयः, किं तर्हि विषयभेदात् । कर्तृद्वयं; तत्र शरीरोष्मा वैकृतं पलितं करोति, पित्तं च प्राकृतं पित्तप्रकृतेः पलितं करोति । यदुक्तम्,—“पित्तप्रकृतिरकालज-वली-पलित-युक्तश्च भवति”—इति । एवं स्वाभाविकजरापलितमपि

पित्तेनैवास्य हेतोः क्लृप्तत्वात् । न चोष्णकृतत्वेन पलितस्यादोषजत्वमसङ्गः,  
ऊष्मणः पित्तधर्भत्वेन पित्तेऽन्तर्भावात् ॥ ३२ ॥

आ०—पलितमाह—क्रोधेत्यादि । क्रोधादिकृतेन शरीरोष्मणा शिरोगतेन वैकृत—पित्तेन  
वयःकृतं तु प्राप्तेनेत्यर्थः । अन्ये तु पित्ताभ्योर्भेदवादिन उभाभ्यां मन्यन्ते कालजलक्षणम्, अन्येपि  
त्रिभिरेव दोषैः स्यादिति कथयन्ति । शोकश्रमाभ्यां जनितवातेन शरीरोष्मणो विक्षेपाच्छिरोगतत्वं  
तेनानिलोऽपि लभ्यते, पित्तं च साक्षादुपात्तं, चकारेण श्लेष्मापि केशशुक्लातकारको गृह्यते । एतेन दोष-  
सद्वत्तहितः शरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थः यदाह चरकः—“तेजोनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु  
क्षुर्यात्खलति नरस्य । किञ्चित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्वरित्प्रभत्वं च शिरोरुहणाम्”----इति ॥ ३२ ॥

अथ युवानपिडकाया लक्षणम् ।

(Acne)

युवानपिडकालक्षणमाह—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफ-मारुत-रक्तजाः ।

युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिकाः ॥ ३३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—शाल्मलीत्यादि । युवानपिडका लोके “वरण्डका” उच्यते, यूना-  
माननपिडका युवानपिडका, पृषोदरादित्वान्नकारलोपः, एषा च यूनामेव,  
मुख एव, स्वभावात् ॥ ३३ ॥

आ०—यौवनपिडकामाह—शाल्मलीत्यादि । एषा स्वभावाद्यूनामेव मुखे भवति । मुखे  
दूषिका=मुखकान्तिहारकाः, युवानपिडका=यूनामाननपिडकाः । पृषोदरादित्वान्नकारस्य  
लोपः ॥ ३३ ॥

अथ पद्मिनीकण्टकस्य लक्षणम् ।

पद्मिनीकण्टकमाह—

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम् ।

पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥ ३४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—कण्टकैरित्यादि । तदाख्यामिति पद्मिनीकण्टकाख्यम् ॥ ३४ ॥

आ०—पद्मिनीकण्टकमाह—कण्टकैरित्यादि । पद्मिनीकण्टकसदृशैः कण्टकैराचितं वृत्तादिलक्षणं  
यन्मण्डलं भवति, तत्तदाख्यामिति पद्मिनीकण्टकाख्यम् ॥ ३४ ॥

अथ जतुमणेर्लक्षणम् ।

जतुमणिमाह—

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम् ।

सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥ ३५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—सममित्यादि । समं=मसृणम् । उत्सन्नमुद्गतम् । अयं “जटुल” इति लोके प्रसिद्धः । कफरक्तजमिति प्राधान्येनोक्तं, तेन चरकोक्तं त्रिदोषजत्वमप्यस्योपपन्नं भवति । यदुक्तं तेन,—“कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयो वातोत्तरैस्त्रिभिः । अरुजं त्वपरैरुक्तं लक्ष्मेत्याहुर्भिषग्वराः” —इति । सहजं लक्ष्म चैकेषामिति एकेषामाचार्याणां मतेन सहजं लक्ष्म=लक्षणं स्त्रीपुंसयोरङ्गभेदेन शुभाशुभफलप्रदं भवति । सहजं=शरीरेण सह जातं जन्मकालप्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

आ०—जतुमणिमाह—सममित्यादि । समं मसृणम्, उत्सन्नमुद्गतम् । अयं ‘जटुल’ इति लोके प्रसिद्धः । कफरक्तजमिति प्राधान्येनोक्तं, तेन चरकेणोक्तं त्रिदोषजत्वमप्यस्य भवति । यदुक्तं तेन,—“कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयो वातोत्तरैस्त्रिभिः । अरुजं त्वपरैरुक्तं लक्ष्मेत्याहुर्भिषग्वराः” इति । एकेषामाचार्याणां मते सहजं लक्ष्म लक्षणं स्त्रीपुंसयोरङ्गभेदेन शुभाशुभफलप्रदं भवति । सहजं शरीरेण सह जातं जन्मकालप्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अथ मषकस्य लक्षणम् ।

( Warts. )

मषकलिङ्गमाह—

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते ।

माषवत् कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥ ३६ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—अवेदनमित्यादि । स्थिरं=कठिनमिति गयदासः; अचलमिति युक्तम्, भोजे मृद्विति पाठात् । मषकमादिदेशेदिति माषशब्दात् “इवे प्रतिवृत्तौ” इति कन्, नैरुक्त्येन च विधिना ह्रस्वत्वम् । अत्र चकारेण कफमेदसी समुच्चीयेते । तथाच भोजः,—“वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी । श्लक्ष्णं मृदु सवर्णं च कुरुतो मषकं वदेत्”—इति ॥ ३६ ॥

आ०—मषकमाह—अवेदनमित्यादि । स्थिरमचलं भोजे मृद्विति पाठात् । अत्र चकारेण कफमेदसी समुच्चीयेते । तथाच भोजः,—“वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी । श्लक्ष्णं मृदु सवर्णं च कुरुते मषकं वदेत् ” इति ॥ ३६ ॥

अथ तिलकालकस्य लक्षणम् ।

( Mole )

तिलकालकलक्षणमाह—

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।

वात-पित्त-कफोच्छोषात्तान् विद्यातिलकालकान् ॥३७॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—कृष्णानीत्यादि । ‘वातपित्तकफोच्छोषात्’ इति पाठे वातपित्ताभ्यां हेतुभ्यां कफस्योच्छोषः=शोषणं तस्मात् । अन्ये चरकं दृष्ट्वा ‘वातपित्तासृगुच्छोषात्’ इति पठन्ति । तथाच चरकः—“यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति । तिलका विप्लवा व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते” ( च. सू. स्था. अ. १८ )—इति; अस्मिन् वचने वातोऽप्यवगन्तव्यः; तेनापि शोषस्य क्रियमाणत्वात् । अन्येऽपि तन्त्रान्तरं दृष्ट्वा ‘वातपित्तकफोत्सेकात्’ इति पठन्ति । उत्सेकादित्युद्रेकात् । तथा हि तन्त्रान्तरम्—“मारुतः पित्तमादाय कफरक्त-समाश्रितः । चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः”—इति; किंत्वस्मिन्नपि तन्त्रे कफरक्तसमाश्रित इत्यनेन कफरक्तयोराश्रितवातेन पित्त-सहितेनोच्छोषादेवतिलकालके काष्ण्यस्य संभवोऽवगम्यते, ततश्च “वातपित्तकफोच्छोषात्” इति पाठो युज्यते । “वातपित्तरसोद्रेकात्” इति पाठान्तरम् ॥३७॥

आ०—तिलकालकलक्षणमाह—नीलिनीत्यादि । शरीरत्वक्समानि=नोदृतानीत्यर्थः । वातपित्तकफोद्रेकादित्यत्र “वातपित्तकफोच्छोषात्” इति पाठे वातपित्ताभ्यां हेतुभ्यां कफस्योच्छोषः शोषणं तस्मात् । अन्ये तु “वातपित्तासृगुच्छोषात्” इति पठन्ति । तत्र वातपित्ताभ्यां रक्तस्य शोषादित्यर्थः । अतएव तिलकालके काष्ण्यम्, तथाच चरकः—“यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति । तिलका विप्लवो व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते” इति । अस्मिन् वचने वातोऽप्यवगन्तव्यः; तेनापि शोषस्य क्रियमाणत्वात् । अन्ये तन्त्रान्तरे दृष्ट्वा “वातपित्तकफोत्सेकात्” इति पठन्ति । उत्सेकादिति उद्रेकात् । तथाहि तन्त्रान्तरे—“मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः । चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः”—इति ॥ ३७ ॥

अथ न्यच्छस्य लक्षणम् ।

न्यच्छलिङ्गमाह—

महद् वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम् ।

नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥ ३८ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—महद् वेत्यादि । असितं=कृष्णम् । “नीरुजं मण्डलम्” इत्यस्य स्थाने ‘सहजं मण्डलम्’ इति केचित् पठन्ति, तेन जन्मकालप्रवृत्तं न्यच्छमिच्छन्ति,

अत एव न्यच्छस्य पर्याये लाञ्छनमिति तैः पठ्यते । यथा,—“न्यच्छं लाञ्छ-  
नमुच्यते”—इति । लाञ्छनं=लक्षणम् । अत्र भोजवचनात् पित्तरक्तान्वितो  
वायुः कारणम् । यदाह,—“रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा ।  
जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत्” इति । अत्र श्यावत्वपक्षे मुखे-  
तरदेश एव संभवेन बहुलत्वेन व्यङ्गाद् भेदोऽवगन्तव्यः ॥ ३८ ॥

आ०—न्यच्छमाह—महदित्यादि श्यावं=शुक्लानुविद्धं कृष्णवर्णम्, असितं=कृष्णम्, “नीरुजं  
मण्डलम्” इत्यस्य स्थाने ‘सहजं मण्डलम्’ इति केचित् पठन्ति, तेन जन्मकालप्रवृत्तं न्यच्छमिच्छन्ति,  
न्यच्छस्य पर्यायो लाञ्छनमिति तैः पठ्यते । अभिधाने—“न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते” इति । अत्र भोज-  
वचनात् पित्तरक्तान्वितो वायुः कारणम्, यदाह—“रक्तपित्तान्वितः” इत्यादि ॥ ३८ ॥

अथ व्यङ्गस्य लक्षणम् ।

व्यङ्गलिङ्गमाह—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः ।

मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥ ३९ ॥

नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ।

( सु० नि० अ० १३ )

म०—क्रोधायासेत्यादि । श्यावमिति शुक्लानुविद्धकृष्णवर्णम् । अस्य  
“छयावक” इति “मेछेता” इति च लोके ख्यातिः ॥ ३९ ॥—

आ०—व्यङ्गमाह—क्रोधेत्यादि । श्यावं=शुक्लानुविद्धकृष्णवर्णम् । ‘मुखछाई’ इति लोके ॥ ३९ ॥—

अथ नीलिकाया लक्षणम् ।

नीलिकालक्षणमाह—

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥ ४० ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—कृष्णमेवंगुणमित्यादि । एवंगुणमिति नीरुज-तनुक-मण्डलधर्मः,  
व्यङ्गोक्तदोषोऽत्रापि बोद्धव्यः, संसृच्छनविशेषात्तु नीलत्वकारी । कृष्णन्यच्छा-  
दतिकृष्णत्वेन भिन्ना नीलिका, व्यङ्गनीलिकयोस्तु व्यक्त एव भेदः—श्यावो  
व्यङ्गः, कृष्णा नीलिका, भोजे तु नीलिका गात्र एवोक्ता । यदुक्तम्,—“मारुतः  
क्रोधहर्षाभ्यामूर्ध्वगो मुखमाश्रितः । पित्तेन सह संयुक्तः करोति वदनत्वचि ॥

नीरुजं तनुकं श्यावं व्यङ्गं तमिति निर्दिशेत् । कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्—इति ॥ ४० ॥

आ०—नीलिकामाह—कृष्णमित्यादि । एवंगुणमिति नीरुजं तनुकं मण्डलधर्मकम् । व्यङ्गोक्तो दोषोऽत्रापि बोद्धव्यः; समूर्च्छनविशेषात्तु नीलत्वकारी । कृष्णन्यच्छादतिनीलत्वेन भिन्ना नीलिका, व्यङ्गनीलिकयोस्तु व्यक्त एव भेदः—श्यावो व्यङ्गः, कृष्णा नीलिका । भोजे तु नीलिका गात्र एवोक्ता । यदुक्तम्—“मारुतः क्रोधहर्षभ्यामूर्ध्वगो मुखमाश्रितः । पित्तेन सह संयुक्तः करोति वदनत्वाच्च ॥ नीरुजं तनुकं श्यावं व्यङ्गं तमिति निर्दिशेत् । कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्”—इति ॥ ४० ॥

अथ परिवर्तिकाया लक्षणम् ।

(Paraphymosis.)

मेदूगताभिघातजे रोगत्रये परिवर्तिकामाह—

मर्दनात् पीडनाद् वाऽति तथैवाप्यभिघाततः ।

मेदूचम यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥ ४१ ॥

तदा वातोपसृष्टत्वात् तच्चर्म परिवर्तते ।

मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४२ ॥

सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् ।

सकण्डूः कठिना वापि सव श्लेष्मसमुत्थिता ॥ ४३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—मर्दनादित्यादि । पीडनाद्वाऽतीत्यतिशब्दो मर्दनपीडनाभ्यां सह संबध्यते । अतियोगादेव ते वातं कोपयतः । सर्वतश्चरन्निति व्यानः, “सर्वतश्चरः” इति पाठे स एवार्थः । परिवर्तत इति सर्वतो विवर्तते । कोश इति चर्मकोशः । परिवर्तिकेति वृत्तुधातोः “रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्”—इति ण्वुल् ( वृत्त-णक-आप् ) एवमवपाटिकायां च बोद्धव्यम् । अस्यां वातजायामपि पित्तानुबन्धाद्वाहपाकौ भवतः, कफसंबन्धस्तु सकण्डूः कठिना वापीत्यादिनाऽभिहितः । भोजेऽप्युक्तम्,—“मणेरधो मेदूचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत् । सशूलतो-ददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका । श्लेष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना ”—इति ॥ ४१—४३ ॥

— आ०—लिङ्गपरिवर्तिकामाह—मर्दनादित्यादि । अतिशब्दो मर्दनपीडनाभ्यां प्रत्येकमभिसंब-ध्यते । अतियोगादेव ते वातं कोपयतः । “सर्वतश्चरन्” इति पाठे स एवार्थः । परिवर्तत इति



सर्वतो विवर्तते । कोश इति चर्मकोशः । परिवर्तिकाख्योऽयम् । अस्यां वातजायां पित्तानुबन्धाद्वाह-  
पाकौ भवतः, कफसम्बन्धात् कण्डूः कठिना वा । यदुक्तं भोजे--“मणेरधो मेढूचर्मः व्यानस्तु परिवर्त-  
येत् । सगूलतोददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना”-  
इति ॥ ४१—४३ ॥

### अथावपाटिकाया लक्षणम् ।

अवपाटिकामाह-

अल्पीयःखां यदा हर्षाद् बलाद् गच्छेत् स्त्रियं नरः ।  
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्धर्तिते बलात् ॥ ४४ ॥  
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

( सु० नि० अ० १३ )

म०-अल्पीयःखामित्यादि । अल्पीयःखामित्यल्पतरं खं योनिमुखं यस्याः  
सा तथा, कन्या हि अनार्तवा अल्पीयःखा भवति । अत्र हेत्वन्तरं हस्ताभि-  
घातादपि वेति । उद्धर्तित इति ऊर्ध्वं वर्तिते । यस्यावपाट्यते इति स्वयमेव  
विदीर्यते । एषा च पृथक् दोषत्रयेणानुबध्यते । तथाच भोजः,-मर्दनादभिघ-  
ताद् वा कन्यायोनिप्रपीडनात् । लक्ष्यते यदि मेढूस्य चर्म दर्भैरिव क्षतम् ॥  
ज्ञेयाऽवपाटिका सा तु पृथग् दोषैः समन्विता । वातात् सा परुषा रूक्षा शूल-  
निस्तोद-कारिणी ॥ पित्तात् सदाहा रक्ताद् वा दाह-तृष्णा-समन्विता । श्लैष्मिकी  
कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना”-इति ॥ ४४ ॥-

आ०-अवपाटिकामाह--अल्पीयःखामित्यादि । अल्पतरं खं योनिमुखं यस्याः सा तथा, कन्या  
ह्यनार्तवा अल्पीयः खा भवति । हस्ताभिघातादिति हेत्वन्तरम् । उद्धर्तित इति ऊर्ध्वं वर्तिते । यस्याव-  
पाट्यते इति स्वयमेव विदीर्यते । एषा पृथग्दोषत्रयेणानुबध्यते । तथाच भोजः--“मर्दनादभिघाताद्वा  
कन्यायोनिप्रपीडनात् । लक्ष्यते यदि मेढूस्य चर्म दर्भैरिव क्षतम् ॥ ज्ञेयाऽवपाटिका सा तु पृथग्दोषैः  
समन्विता । वातात्सा परुषा रूक्षा शूलनिस्तोदकारिणी ॥ पित्तात्पीता सरक्ता वा दाहतृष्णासम-  
न्विता । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना”-इति ॥ ४४ ॥-

### अथ निरुद्धप्रकशस्य लक्षणम् ।

( Phymosis. )

निरुद्धप्रकशमाह-

वातोपसृष्टे मेढ्रे वै चर्म संश्रयते मणिम् ॥ ४५ ॥  
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।  
निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ॥ ४६ ॥

मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियत न च ।

निरुद्धप्रकाशं विद्यात् सरुजं वातसंभवम् ॥ ४७ ॥

( स० नि० अ० १३ )

म०—वातोपसृष्ट इत्यादि । संश्रयत इति समग्रं श्रयते, अत्रैव नीयत इत्यर्थः । अवपाटिका त्वरुढा चर्मसंकोचान्निरुद्धप्रकाशो भवतीति ब्रुवते, सन्निरुद्धगुदवत् स्वतन्त्रोऽपि भवतीति शक्यते वक्तुम्; निरुद्धप्रकाश इत्यस्मिन्नर्थे निरुद्धप्रकाशः, नैरुक्तेन च रूपसिद्धिः । मूत्रस्रोतः संकुचितचर्मपीडनेन मणेः स्वल्पद्वारत्वान्मूत्रस्रोतो रुणद्धि । अवेदनमित्यस्य स्थाने सवेदनमिति केचित् । अत्र भोजाभिप्रायेण व्याचक्षते—एकदा निरुद्धे स्रोतसि सवेदनमन्यदा तु प्रकाशे मन्दधारं प्रवर्तते, मणिश्च नावदीर्यते मत्रेणेति । तथा च भोजः—“मेढ्रान्ते चर्मणि यदा मारुतः कुपितो भृशम् । द्वारं रुणद्धि स शनैः प्रकाशश्च मुहुर्भवेत् ॥ मूत्रं मूत्रयते कृच्छ्रात् प्रकाशस्तु यदा भवेत् । वातोपसृष्टमेढ्रस्तु मणिर्न च विदीर्यते । निरुद्धं च प्रकाशं च व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्”—इति । सुश्रुते तु निरुद्धप्रकाशत्वात् निरुद्धप्रकाशः । मणिर्विव्रियते न चेति मणिर्विवृतो न भवति ॥ ४५-४७ ॥

आ०—निरुद्धप्रकाशमाह=वातेत्यादि । वातदुष्टमेढ्रे चर्म संश्रयत इति समग्रं श्रयते, तत्रैव लीयत इत्यर्थः । चर्मसंकोचान्मूत्रस्रोतो रुध्यते, अवपाटिका दुरुढा चर्मसंकोचान्निरुद्धप्रकाशा भवतीति ब्रुवते । सन्निरुद्धगुदवत्स्वतन्त्रोऽपि भवतीति शक्यते वक्तुम् । निरुद्धप्रकाश इत्यस्मिन्नर्थे निरुद्धप्रकाशः, नैरुक्तेन रूपसिद्धिः । अवेदनमित्यस्य स्थाने सवेदनमित्यन्ये भोजाभिप्रायेण व्याचक्षते । एकदा निरुद्धस्रोतसि सवेदनम्, अन्यदा तु प्रकाशे मूत्रं मन्दधारं प्रवर्तते । मणिश्च विदीर्यते मूत्रेणेति शेषः । तथाच भोजः—“मेढ्रान्ते चर्मणि यदा मारुतः कुपितो भृशम् । द्वारं रुणद्धि स शनैः प्रकाशश्च मुहुर्भवेत् ॥ मूत्रं मूत्रयते कृच्छ्रात् प्रकाशस्तु यदा भवेत् । वातोपसृष्टमेढ्रस्तु मणिर्न च विदीर्यते । निरुद्धं च प्रकाशं च व्याधिं विद्यात्सुदारुणम्”—इति ॥ ४५-४७ ॥

अथ सन्निरुद्धगुदस्य लक्षणम् ।

( Stricture of the Rectom. )

मूत्रमार्गरोधकनिरुद्धप्रकाशानन्तरं पुरीषमार्गरोधकं सन्निरुद्धगुदमाह—

वेगसंधारणाद् वायुर्विहतो गुदसंश्रितः ।

निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ४८ ॥

मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीष तस्य गच्छति ।  
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेत विद्यात् सुदारुणम् ॥ ४९ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०-वेगसंधारणादित्यादि । तस्येति गुदस्य । “महत्स्रोत” इति पाठे  
तु महत्स्रोतो=गुदविवरम्, निरुद्धप्रकाशवदत्रापि चर्मसंकोचात् सन्निरुद्ध-  
गुदम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

आ०-सन्निरुद्धगुदमाह-वेगेत्यादि । महत्स्रोतो=गुदविवरं निरुद्धप्रकाशवदत्रापि चर्मसंको-  
चान्निरुद्धगुदम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

अथाहिपूतनस्य लक्षणम् ।

( Pruritus Anii )

अहिपूतनमाह-

शकृद्-मूत्र-समायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।  
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्ड रक्तकफोद्भवा ॥ ५० ॥  
कण्डयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते ।  
एकीभूतं व्रणैघारं तं विद्यादहिपूतनम् ॥ ५१ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०-शकृन्मूत्रेत्यादि । अपान इति गुदे, स्विन्ने=स्वेदवति, अस्नाप्य  
माने=अक्रियमाणक्षालने; स्वेदमलक्लेदादेव कण्डूर्भवतीत्यर्थः । एकीभूतमिति  
अपानं व्रणैः सहैकीभूतम् । अहिपूतनं च बालानामेव भवति, भोजे पुनरिदं  
दुष्टस्तन्यपानादपि भवतीति पठितम् । यदुक्तं,-“दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्या-  
क्षालनेन च । कण्डू-दाह-रुजावद्भिः पिडकैश्च समाचिता ॥ संभवन्ति यथादोषं  
दारुणा अहिपूतना”-इति ॥ ५० ॥ ५१ ॥

आ०-अहिपूतनमाह-शकृदित्यादि । अपाने=गुदे, स्विन्ने=स्वेदवति, अस्नाप्यमाने=अक्रिय-  
माणप्रक्षालने, स्वेदमलक्लेदादेव कण्डूर्भवति । ततः स्फोटः जायते । एकीभूतमिति अपानं व्रणैः  
सहैकीभूतम्, अहिपूतनं बालानामेव भवति, भोजे पुनरिदं दुष्टस्तन्यपानादपि भवतीति पठितम् ।  
यदुक्तम्-“दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च । कण्डूदाहरुजावद्भिः पिडकैश्च समाचिता ॥  
दारुणा च यथादोषं सम्भवत्यहिपूतना ।” इति ॥ ५० ॥ ५१ ॥

अथ वृषणकच्छ्रा लक्षणम् ।

अहिपूतनसमानहेतुलिङ्गतया गुदाश्रयं गुदभ्रंशमुल्लङ्घयानन्तरं वृषणकच्छ्र-  
माह-

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः ।

यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥ ५२ ॥

कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते ।

प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्म-रक्त-प्रकोपजाम् ॥ ५३ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—स्नानोत्सादनहीनस्येत्यादि एषा च निदानविशेषात् प्रायो वृषणभा-  
वित्वात् विशिष्टचिकित्सोपयोगित्वाच्च कुष्ठोक्तकच्छूतो भेदेन पठ्यते ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

आ०—अहिपूतनासमानलिङ्गहेतुतया, गुदाश्रयं गुदभ्रंशमुलङ्घयानन्तरं वृषणकण्डूमाह—स्ताने-  
त्यादि । उत्सादनमाहरणवत्सम् । एषा च स्नानोत्सादनहीनत्वनिदानविशेषात्प्रायो वृषणभावि-  
त्वाद्विशिष्टचिकित्सायोगित्वाच्च कुष्ठोक्तकण्डूतो भिन्ना ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

अथ गुदभ्रंशस्य लक्षणम् ।

( Prolapsus ani )

गुदभ्रंशल्लिङ्गमाह—

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।

रूक्ष-दुर्बल-देहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥ ५४ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

म०—प्रवाहणेत्यादि । प्रवाहणं=प्रकर्षेण कुन्थनम् । “वाह प्रयत्ने” इत्यस्य  
रूपम् । प्रवाहणेनातिवेगोदीरणेन वातकोपः, अतीसारेण तु धातुक्षयात् । यदि  
वा प्रवाहणेनातीसारेण चाधोगतमारुतत्वेन गुदनिर्गमो रूक्षादिदेहस्य ॥ ५४ ॥

आ०—गुदभ्रंशमाह—प्रवाहणेत्यादि । प्रवाहणं=प्रकर्षेण कुन्थनम्, ( हृत्कण्ठबलेन वायो-  
रानयनम् । ? ) “वाह प्रयत्ने” इत्यस्य रूपम् । प्रवाहणेन वातकोपः अतिसारे तु धातुक्षयात् ।  
यदि वा प्रवाहणातिसारेणैव अधोगतमारुतत्वेन गुदनिर्गमो रूक्षादिदेहस्य अथ वातकोपजः ॥ ५४ ॥

अथ सूकरदंष्ट्रकस्य लक्षणम् ।

बराहदंष्ट्रलिङ्गमाह—

सदाहो रक्तपयन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः ।

कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्यात् सूकरदंष्ट्रकः ॥ ५५ ॥

( सु० नि० अ० १३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥

म०—सदाह इत्यादि । अयम् “बराहदाढ” इति लोके प्रसिद्धः ॥ ५५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०—सूकरदंष्ट्रमाह—सदाहेत्यादि । सूकरदंष्ट्र-कारत्वेन सूकरदंष्ट्रकः विसर्पलिङ्गः ‘बराह-  
दाढ’ इति लोके प्रसिद्धः । इति क्षुद्ररोगाश्चत्वारिंशदुक्ताः ॥ ५५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामाप्तद्वयदर्पणाख्यायां क्षुद्ररोगनिदानम् ॥

अथ मुखरोगनिदानम् ।

अथ मुखरोगस्य हतवः ।

रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगनिदानमुच्यते---

आनूप-पिशित-क्षीर-दधि-मत्स्या-ऽतिसेवनात् ।

मुखमध्ये गदान् कुयुः क्रद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥ १ ॥

म०—आनूपेत्यादि । मुखरोगाश्च पञ्चषष्टिर्भवन्ति । यदाह भोजः,--“दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च । नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशामयाः कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपराः”-इति ॥ १ ॥

आ०—रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगारम्भः—आनूपेत्यादि । मुखरोगाः पञ्चषष्टिर्भवन्ति । यदुक्तं भाजः “दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च । नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशामयाः ॥ कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपराः”-इति ॥ १ ॥

अथ वातजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

तत्रादावोष्ठगतेष्वष्टसु वातिकलक्षणमाह--

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ ।

दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥ २ ॥

म०—कर्कशावित्यादि । दाल्येते इति विदार्येते । परिपाट्येते इति किञ्चिदवदीर्णत्वचौ भवत इत्यर्थः ॥ २ ॥

आ०—तत्रादावोष्ठगतानिर्दिशति—कर्कशावित्यादि । कर्कशौ=शाकपत्रसदृशौ, परुषौ=रुक्षौ, स्तब्धौ=निश्चलौ । संप्राप्तानिलवेदनावित्यत्र “कृष्णौ तीव्ररुजान्वितौ” इति पाठान्तरम् । दाल्येते इति विदार्येते, द्विधा भवत इवेत्यर्थः । परिपाट्येते इति किञ्चिदवदीर्णत्वचौ भवत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ पित्तिकौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

पित्तिकलक्षणमाह--

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः ।

सदाह-पाक-पिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥ ३ ॥

( सु० ।चि० अ० १६ )

म०—चीयेते इत्यादि । सरुजाभिरिति पित्तकृतरुजान्विताभिः । यद्येवं सदाहपाकपिडकाविति किमर्थमुच्यते ? पूर्वैव गतार्थत्वात् । नैवम्, पक्षान्तर-

प्रतीत्यर्थं पुनरुच्यते; अन्यर्थः--कदाचित् पित्तरुजान्वितबहुपिडकाचितावोष्ठौ कदाचित् दाहपाकान्वितपिडकाचितौ वा भवतः; अन्यस्त्वाह--अनतिभिन्नार्थत्वादभक्तशब्दार्थत्वाच्च दाहपाकातिशयदर्शनार्थं पिडकानुवादः ॥ ३ ॥

आ०--पित्तिकमाह--चीयेते इत्यादि । सरुजाभिः=पित्तकृतरुजान्विताभिः, दाहपाकावपि पित्तकृतौ तत्कथमुच्यते सदाहपाकपिडकाविति ? नैवं, दाहपाकातिशयदर्शनार्थं पिडकानुवाद इति ॥ ३ ॥

अथ कफजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

कफजमाह--

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।

भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छलौ शीतलौ गुरू ॥ ४ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०--सवर्णाभिरित्यादि । सवर्णाभिरिति ओष्ठसमानवर्णाभिः । अवेदनौ=ईषद्वेदनौ ॥ ४ ॥

आ०--लैण्मिकमाह--सवर्णाभिरित्यादि । ओष्ठसमानवर्णाभिः, अवेदनौ=ईषद्वेदनौ ॥ ४ ॥

अथ त्रिदोषजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

सान्निपातिकलक्षणमाह--

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।

सान्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥ ५ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०--सकृदित्यादि । सकृदिति कदाचिद्विकृतिवशादेवं भवति । अनेकपिडकाचिताविति वातादिवेदनान्वितबहुपिडका, अनेकवर्णपिडकाचितावित्यन्ये; अनेकाश्च वर्णा वातादीनां कृष्ण-पीत-श्वेताः, अत्र पक्षे सकृत्कृष्णावित्यादिपिडकातोऽन्यत्र कल्पनीयम् ॥ ५ ॥

आ०--सान्निपातिकमाह--सकृदित्यादि । कदाचिद्विकृतिवशादेवं भवति । अनेकपिडकाचिताविति वातादिवेदनान्वितबहुपिडका, अनेकवर्णपिडकान्वितावित्यन्ये ॥ ५ ॥

अथ रक्तजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

रक्तजमाह--

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ६ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०--खर्जूरेत्यादि । खर्जूरफलवर्णाभिरित्यनेन वर्णमात्रेणैव साधर्म्यं प्रतिपाद्यते, यदि तु सर्वात्मना साधर्म्यमभीष्टं स्यात्, तदा "खर्जूरफलतुल्याभिः" इत्येवोच्येत । रक्तोपसृष्टाविति रक्तदूषितौ ॥ ६ ॥

आ०—रक्तजमाह—खर्जूरत्यादि । खर्जूरफलवर्णाभिरित्यनेन वर्णमात्रेणैवं साम्भं, नतु सर्वात्मनाः  
अन्यथा खर्जूरफलतुल्याभिरित्येवोच्येत । रक्तोपसृष्टाविति रक्तदूषितौ ॥ ६ ॥

अथ मांसजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

मांसजमाह—

गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्धतौ ।

जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥ ७ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—गुरू स्थूलावित्यादि । जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्तीति क्रिमयोऽप्यत्र  
उच्छ्रिता भवन्ति । उभयतो मुखादिति मुखविवरमपेक्ष्योभयभागयोः, सूक्-  
णीप्रदेशयोरिति यावत् । मुखादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी “उभयतो मुखा” इति पाठा-  
न्तरे उभयसूक्कणीभागो मुखमाश्रयो येषां ते तथा । द्विमुखा इत्यन्ये ॥ ७ ॥

आ०—मांसजमाह—गुरूस्थूलावित्यादि । मुखविवरमपेक्ष्योभयभागयोः सूक्किणीप्रदेशयोरिति यावत् ।  
‘उभयतोमुखाः’ इति पाठान्तरं, तत्र द्विमुखाः जन्तवः क्रिमयोऽन्यत्रमूर्च्छन्ति उच्छ्रिता  
भवन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ मेदोजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

मेदोजमाह—

सर्पिर्मण्ड-प्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू ।

अच्छं स्फटिकसंकाशमास्त्रावं स्रवतो भृशम् ॥ ८ ॥

तयोर्व्रणो न संरोहेत् मृदुत्वं च न गच्छति ।

( सु० चि० अ० १६ )

म०—सर्पिर्मण्डप्रतीकाशावित्यादि । सर्पिर्मण्डप्रतीकाशविति सर्पिर्मण्डो  
घृतस्योपरितनस्वच्छभागः, तत्प्रतीकाशौ=तत्सदृशौ । तयोरिति तादृशयोः ॥ ८ ॥

आ०—मेदोजमाह—सर्पिरित्यादि । सर्पिर्मण्डो=घृतस्योपरितनः स्वच्छो भागः, तत्प्रतीकाशौ=  
तत्सदृशौ । तयोरित्यादि—तादृशयोः ॥ ८ ॥—

अथाभिघातजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

अभिघातजमाह—

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ॥ ९ ॥

ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ।

( सु० चि० अ० १६ )

म०—क्षतजाभावित्यादिना । अत्र कफरक्तयोरप्यनुबन्धो बोद्धव्यः ।  
यदुक्तं भोजे,—“क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ । भवतः सपरिस्रावौ



कफ-रक्त-प्रदूषितौ"—इति । वायुरप्यत्राभिघाताल्लभ्यते, अयं चाभिघातजशो-  
थात् । यथोक्तलक्षणकारणभेदेन तथा वातिकोष्ठप्रकोपणादपि कफरक्तरूपहेतु-  
भेदयोगाद्भिद्यते ॥ ९ ॥—

आ०—अभिघातजमाह—ओष्ठावित्यादि । पर्यवदीर्येते=पाट्येते खण्डीक्रियेते । अत्र कफ  
पित्तयोरनुबन्धो ज्ञातव्यः । यदुक्तं भोजे—“क्षतावभिहतौ चापि र ओष्ठौ सवेदनी । भवतः सपरि-  
स्त्रावी कफरक्तप्रदूषितौ”—इति । वातजः केवलः स्वकारणकुपितः, अत्र तु वायुरभिघाताल्लभ्यते;  
तयोरयमेव भेदः । एवमष्टावोष्ठगताः ॥ ९ ॥—

अथ शीतादस्य लक्षणानि ।

दन्तमूलगतान् पञ्चदश व्याकरोति, तत्र शीतादमाह—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते ।

दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रकुदीनि मृदूनि च ॥ १० ॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।

शीतादो नाम स व्याधिः कफ-शोणित-संभवः ॥११॥

( सु० चि० अ० १६ )

म० शोणितमित्यादि । दन्तवेष्टेभ्य इति दन्तबन्धनमांसेभ्यः । अकस्मा-  
दिति अभिघातादिनिमित्तं विना । “शीर्यन्त” इत्यस्य स्थाने, “पच्यन्त ” इति  
गदाधरः, व्याचष्टे च “स्वयम्” इति शेषः । पचन्ति च परस्परमित्यन्योन्यं  
पचन्ति, पाकोष्प्रदूषितशोणितसंचरणेन ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—दन्तमूलगतान् पञ्चदश व्याकरोति—शोणितमित्यादि । यस्य दन्तवेष्टेभ्यः=दन्तबन्धन-  
मांसेभ्यः, अकस्मादिति अभिघातादिनिमित्तं विना, रक्तं प्रवर्तते; दन्तमांसानि दुर्गन्धीनि ईष-  
दूषितानि क्लेदयुक्तानि मृदूनि च भवन्ति, तथा शीर्यन्ते=गलन्ति, ‘शीर्यन्त’ इत्यस्य स्थाने  
‘पच्यन्ते’ इति गदाधरः, व्याचष्टे च ‘स्वयं’ इति शेषः । पचन्ति च परस्परमिति अन्योन्यं च  
पचन्ति, पाकोष्प्रदूषितशोणितसंचरणेन । स शीतादो नाम व्याधिरिति ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ दन्तपुष्पटकस्य लक्षणम् ।

दन्तपुष्पटकमाह—

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।

दन्तपुष्पटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥ १२ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—दन्तयोरित्यादि । अयं च दन्तयोस्त्रिष्वित्यभिधानात् द्वित्रि-  
दन्तनियतः, कफरक्तजत्वेऽपि शौषिराद्भिन्नोऽयम्, रुजालालासावाभावात् ॥१२॥

आ०—दन्तपुष्पुटकमाह—दन्तयोरित्यादि । दन्तयोर्द्वयोः त्रिषु वाऽनियतः कफरक्तजः, शौषिराद्विन्नोऽयं रुजालालाभावात् ॥ १२ ॥

अथ दन्तवेष्यस्य लक्षणम् ।  
( **Piorrhoea** )

दन्तवेष्यमाह—

स्रवन्ति पूयरुधिर चला दन्ता भवन्ति च ।

दन्तवेष्यः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसम्भवः ॥ १३ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—स्रवन्तीत्यादि । स्रवन्ति पूयरुधिरमित्यत्र “दन्तमूलानि” इति शेषः । चला दन्ता भवन्ति चेति चकारेण पचन्ति चेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

आ०—दन्तवेष्यमाह—स्रवन्तीत्यादि । अत्र ‘दन्तमूलानि’ इति शेषः । चला दन्ता भवन्तीति चेति चकारेण पचन्ति इति द्रष्टव्यम्, स व्याधिर्दन्तवेष्यो विज्ञेयः ॥ १३ ॥

अथ शौषिरस्य लक्षणम् ।

शौषिरलिङ्गमाह—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।

लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः ॥ १४ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—श्वयथुरित्यादि । नामत इति प्रसिद्धितः ॥ १४ ॥

आ०—शौषिरमाह—श्वयथुरित्यादि दन्तमूलेषु श्वयथुः पीडावान् कफरक्तोत्थो लालास्रावी स शौषिरो नाम नामतः प्रसिद्ध इति ॥ १४ ॥

अथ महाशौषिरस्य लक्षणम् ।

महाशौषिरलिङ्गमाह—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।

यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥ १५ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—दन्ता इत्यादि । तालु चाप्यवदीर्यते इत्यत्र चकारेण दन्ता ओष्ठौ चाप्यवदीर्यन्ते इति बोद्धव्यम् । सप्तरात्राच्चायं मारकः । यदाह भोजः,—“सदाहो दन्तमूलेषु शोथः पित्तकफानिलात् । जातः कफं क्षपयति क्षीणे तस्मिन्—

स्तु शोणितम् ॥ विवृद्धमनिशं दन्तान् ताल्वोष्ठमपि दारयेत् । महाशौषिर इत्ये-  
तत् सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्—इति । यस्मिन् शौषिरे एवमपि भवति स महाशौषिर  
इति गदाधरः ॥ १५ ॥

आ०—महाशौषिरमाह—दन्ता इत्यादि । यस्मिन् व्याधौ वेष्टेभ्यो दन्ताश्चलन्ति, तालु  
चाप्यवदीर्यते इति अत्र चकारेण दन्तावोष्ठी चाप्यवदीर्यते इति व्याख्यानयन्ति । सप्तरात्राचार्य  
मारकः । यदाह भोजः—“सदाहो दन्तमूलेषु शोफः पित्तकफानिलात् । जातः कफं क्षयति  
क्षीणे तस्मिन्शोणितम् ॥ विवृद्धमनिशं दन्तास्ताल्वोष्ठमपि दारयेत् । महाशौषिर इत्येतत्सप्-  
तरात्रान्निहन्त्यसून्”—इति । सर्वजः=सर्वदोषजः । यस्मिन् शौषिरे एवमपि भवति, स महाशौषिर  
इति गदाधरः ॥ १५ ॥

अथ परिदरस्य लक्षणम् ।

परिदरमाह—

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् घृवति चाप्यसृक् ।  
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥ १६ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—दन्तमांसानीत्यादि । दन्तमांसस्य परिदारणात् परिदरसंज्ञा ॥ १६ ॥

आ०—परिदरमाह—दन्तेत्यादि । यस्मिन् मांसानि शीर्यन्ते, घृवति चाप्यसृगिति रोगी  
लोहितं श्रुत्करोतीत्यर्थः । स व्याधिः परिदरो ज्ञेयः । कथंभूतः ? पित्तासृक्कफजः । दन्तमांसपरि-  
दारणात्परिदरसंज्ञा ॥ १६ ॥

अथोपकुशस्य लक्षणम् ।

उपकुशलक्षणमाह—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च ।  
(आघटिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ।)  
(आध्मायन्ते स्मृते रक्ते मुखं प्रति च जायते ॥)  
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥ १७ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—वेष्टेष्वित्यादि । ताभ्यामिति दाहपाकाभ्याम् । सोपकुश इति निर्दे-  
शोऽसिद्धस्यानित्यत्वात् साधुः, तेन स उपकुश इत्यर्थः ॥ १७ ॥

१ अत्र यद् वक्तव्यं तन्मया पूर्वं ( ४६० तमे पत्रे ) शूकदोषनिदाने उक्तमाख्यव्याधिव्याख्याद-  
रूपे विष्णुभ्यां प्रपञ्चितम् ॥

आ०—उपकुशलक्षणमाह—वेष्टेष्वित्यादि । वेष्टेषु=दन्तवेष्टनमांसेषु दाहः पाकश्च स्यात् । ताभ्यामिति दाहपाकाभ्यां दन्ताश्चलन्ति ( आघटिता=आचालिताः शोणितं स्रवन्ति, मन्दरुजः रक्ते स्रुते सति, ते तस्याध्मायन्ते मुखं पूति च भवति । ) ताभ्यामित्यत्र 'तेभ्यः' इति पाठे, तेभ्यो=दन्तवेष्टेभ्यः । उपकुश इति निर्देशोऽसिद्धत्वात्साधुः, तेनोपकुश इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ वैदर्भस्य लक्षणम् ।

वैदर्भलिङ्गमाह—

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ।

चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥ १८ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—घृष्टेष्वित्यादि । संरम्भ इति शोथः, वेदनापाकौ वा ॥ १८ ॥

आ०—वैदर्भलिङ्गमाह—घृष्टेष्वित्यादि । दन्तमूलेषु=दन्तमांसेषु दन्तकाष्ठादिना घृष्टेषु सत्सु महान् संरम्भो जायते, संरम्भ इति शोफः वेदनापाकौ वा, दन्ताश्च चला भवन्ति, स व्याधिरभिघातजो वैदर्भाख्यः ॥ १८ ॥

अथ खलिवर्धनस्य लक्षणम् ।

( Extra Tooth )

खलिवर्धनलिङ्गमाह—

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ।

खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥ १९ ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—मारुतेनेत्यादि । जाते रुक् च प्रशाम्यतीति उत्थिते अधिके दन्ते प्रभावाद् वेदनाया अभावः ॥ १९ ॥

आ०—खलिवर्धनलिङ्गमाह—मारुतेनेत्यादि । मारुतेन=वायुना तीव्रवेदनोऽधिको दन्तो जायते, रुक् प्रशाम्यतीति उत्थितेऽधिकदन्ते प्रभावाद् वेदनाया अभावः । असौ विकारः खलिवर्धनसंज्ञः ॥ १९ ॥

अथ करालस्य लक्षणम् ।

कराललक्षणमाह—

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः ।

करालान् विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥ २० ॥

( सु० चि० अ० १६ )

म०—शनैरित्यादि । करालान्=विषमान् । करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रहकारेण पठितः, तेन न सुश्रुतोक्तपञ्चदशसंख्याहानिः ॥ २० ॥

आ०—कराललक्षणमाह—शनैःशनैरित्यादि । वायुर्दन्तसमाश्रितः सन् शनैःशनैर्दन्तान् कराल-  
न्विपमान् विकटान् कुरुते, स व्याधिः करालो न सिद्ध्यति । करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रह-  
कारेण पठितः, तेन न सुश्रुतोक्तपञ्चदशसंख्याहानिः ॥ २० ॥

अथाधिमांसकस्य लक्षणम् ।

अधिमांसकमाह—

हानव्ये पश्चिमे दन्त महान् शोथो महारुजः ।

लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ।

( सु० चि० अ० १६ )

म०—हानव्य इत्यादि । अधिमांसक इति संज्ञायां कन् । हानव्य इति  
हनुकुहरे । पश्चिम इत्यवसानजे, अन्तजे इति यावत् ॥—

आ०—अधिमांसकमाह—हानव्य इत्यादि । हनुभवे पश्चिम इति अवसानजे=अन्तज इति यावत् ।

अथ दन्तनाडीनां लक्षणानि ।

पञ्चदन्तनाडीराह—

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ २१ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

भ०—दन्तेत्यादि । नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता इति नाडीनिदाने यथोक्ता  
वात-पित्त-कफ-सन्निपाता-ऽऽगन्तु-निमित्तास्तथा दन्तमांसगता अपि नाड्यः ।  
एताश्च नाडीव्रणसमानलक्षणा अपि शालाक्यसिद्धान्तेन संख्यापूरणाय  
चिकित्साभेदाच्च पुनरुक्ताः ॥ २१ ॥

आ०—नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता इति नाडीनिदाने यथोक्ता वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमि-  
त्तजाः तथा दन्तमूलगता अपि नाड्यः । एताश्च नाडीव्रणसमानलक्षणा अपि शालाक्यसिद्धान्तेन  
संख्यापूरणाय चिकित्सितभेदाच्च पुनरुक्ताः । तासां मध्ये त्रिलिङ्गा नाडी असाध्या ॥ २१ ॥

अथ दालनाख्यदन्तरोगस्य लक्षणम् ।

दन्तगतेष्वष्टसु दालनमाह—

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायत ।

दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥ २२ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—दीर्यमाणेष्वित्यादि । सदागतिनिमित्तज इति सदागतिर्वायुः, तस्मा-  
न्निमित्ताज्जात इति । सदागतिनिमित्तत इति वक्तव्ये सदागतिनिमित्तज इति

यत्कृतं तद्वलवद्वेतुजन्यवातकृतत्वबोधनार्थमिति कार्तिकः, केवलवातजत्व-  
ख्यापनार्थमित्यन्यः ॥ २२ ॥

आ०—दन्तगतान्ध्री प्राह, तत्र दालनमाह—दीर्यमाणेष्वित्यादि । दन्तेषु दीर्यमाणेष्विव=  
द्राल्यमानेष्विव भृशं रुजा भवति, स दालनो नाम व्याधिः । कथंभूतः ? सदागतिनिमित्तज  
इति सदागतिर्वायुः, तस्मान्निमित्ताज्जातः; सदागतिनिमित्तत इति वक्तव्ये सदागतिनिमित्तज इति यत्  
कृतं, तद्वलवद्वेतुजवातकृतत्वबोधनार्थमिति कार्तिकः, केवलवातजत्वख्यापनार्थमित्यन्ये । असाध्योऽयं  
व्याधिः ॥ २२ ॥

अथ क्रिमिदन्तकस्य लक्षणम् ।

( Carries of Tooth. )

क्रिमिदन्तकमाह—

कृष्णच्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः ।

अनिमित्तरुजो वाताद् विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥ २३ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—कृष्णच्छिद्र इत्यादि । कृष्णच्छिद्र इति दुष्टरक्तजक्रिमिकृतशो-  
थपाकद्वारेण कृष्णच्छिद्र इत्यर्थः । अन्ये “कृष्णश्चित्र” इति पठन्ति, चित्र  
इति चित्रवान्, अर्शआदित्वादच् । स्रावीति दन्तमूलेषु स्रावो बोद्धव्यः,  
दन्तानां नीरसत्वेन स्रावाभावात् । अनिमित्तरुज इति अवघट्टनादिनिमित्तं  
विनैव महारुजत्वेन रुजावानिति कार्तिकः ॥ २३ ॥

आ०—क्रिमिदन्तकमाह—कृष्णेत्यादि । कृष्णः=कृष्णदन्तकः, छिद्र=इति छिद्रवान्, अर्श  
आदित्वादच् । क्रिमिकृतच्छिद्रत्वात्सच्छिद्रदन्त इत्यर्थः । चलश्चलदन्तः । स्रावी तु  
दन्तमूलेषु स्रावो बोद्धव्यः दन्तानां नीरसत्वेन स्रावाभावात् । ससंरम्भः=सश्वयथुः ।  
अनिमित्तरुज इति अवघट्टनादिनिमित्तं विनैव महारुजत्वेन रुजावानिति, स तथाविधो वातात् क्रिमि  
दन्तको ज्ञेयः ॥ २३ ॥

अथ भञ्जनकस्य लक्षणम् ।

भञ्जनकलक्षणमाह—

वक्रं वक्रं भवद् यस्य दन्तभङ्गश्च जायते ।

कफ-वातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥ २४ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—वक्रमित्यादि । वक्रं वक्रमिति दन्तभङ्गकारिणा दोषेण वक्र-  
स्यापि वक्रत्वम् ॥ २४ ॥

आ०-दन्तभञ्जनलक्षणमाह-वक्रमित्यादि । यस्मिन् रोगे दन्तभङ्गकारिणा दोषेण वक्रं स्यापि वक्रत्वं भवेत् दन्तभङ्गश्च भवेत् । जायते इत्यत्र 'तीव्ररुक्' इति पाठान्तरम् । स व्याधिर्भञ्जनक इति ख्यातः । कथंभूतः? कफवातकृतः । असाध्योऽयं व्याधिः ॥ २४ ॥

अथ दन्तहर्षस्य लक्षणम् ।

( Irritation in the Tooth. )

दन्तहर्षलक्षणमाह—

शीत-रूक्ष-प्रवाताम्ल-स्पर्शानामसहा द्विजाः ।

पित्त-मारुत-कोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥ २५ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०-शीतेत्यादि । “शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च । यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात्”—इति श्लोकान्तरं पठन्ति । तत्र दन्तहर्षस्य वातजत्वेऽपि उष्णासहत्वं व्याधिप्रभावात्, कफरक्तावृतत्वाद् वा बोद्धव्यम् ॥ २५ ॥

आ०-दन्तहर्षमाह-शीतेत्यादि । यस्य द्विजा=दन्ताः शीतस्य=भक्ष्यस्य प्रवातस्य=प्रचण्ड-वातस्याम्लस्यासहा=अक्षमा भवन्ति, स नामतः=प्रसिद्धितः कफमारुतकोपेन दन्तहर्षो ज्ञेयः । भक्ष्य इत्यत्र “रूक्ष” इति पाठान्तरम् ॥ २५ ॥

अथ दन्तशर्कराया लक्षणम् ।

( Tartar )

दन्तशर्करालक्षणमाह—

मलो दन्तगतो यस्तु पित्त-मारुत-शोषितः ।

शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥ २६ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०-मल इत्यादि । “शर्करेव खरस्पर्शा” इत्यस्य स्थाने “सा दन्तानां गुणहरी” इति क्वचित् पठ्यते, दन्तानां गुणस्य शुक्लत्व-दृढत्वादिकस्य हरणशीला ॥ २६ ॥

आ०-दन्तशर्करालक्षणमाह-मल इत्यादि । यो दन्तगतो मलः कफमारुतशोषितो भवति सा दन्तशर्करा । तथा च वाग्भटः—“अधावनान्मलो दन्ते कफवातेन शोषितः । पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा साऽप्युपेक्षिता”—इति । शर्करेव खरस्पर्शेत्यत्र स्थाने “सा दन्तानां गुणहरी” इति क्वापि पठ्यते दन्तानां गुणस्य शुक्लदृढत्वादिकस्य हरणशीला ॥ २६ ॥



अथ कपालिकाया लक्षणम् ।

कपालिकालक्षणमाह—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।

कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी ॥ २७ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—कपालेष्वित्यादि । कपालेष्विवेति मलसहितदन्तावयवेषु काठिन्यात् कपालतुल्येषु; दन्तमल एव कठिने=कपालप्राये दीर्यमाणे सैव शर्करा=कपालिका । सदेति बाल्यादौ । अत्रावकाशे हनुमोक्षः सुश्रुते दन्तदेशसामीप्यादन्तपीडनाच्च पठितः, स इह संग्रहकारेण मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः, पठितस्तु हनुग्रहसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात् । यदुक्तम्, “वाताभिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते । निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितं तत्र गच्छति ॥ सम्यक् तमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्”—इति ॥ २७ ॥

आ०—कपालिकालक्षणमाह—कपालेष्वित्यादि । दन्तानां कपालेषु=मलसहितदन्तावयवेषु काठिन्यात्कपालतुल्येषु दीर्यमाणेषु सैव शर्करा कपालिका ज्ञेया । दन्तमूलः स च कठिने=कपालप्राये दीर्यमाणे इति उल्लेखः । सदेति बाल्यादौ । दन्तविनाशिनी । “दहन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह” इति केचित्पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः अत्रावकाशे हनुमोक्षः सुश्रुते दन्तदेशसामीप्यादन्तपीडनाच्च दन्तरोगः पठितः, स इह संग्रहकारेण मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः, पठितस्तु संग्रहे हनुग्रहसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात् । यदुक्तम्—“वाता (भारा) भिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते । निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितं तत्र गच्छति । सम्यक् तमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्”—इति ॥ २७ ॥

अथ श्यावदन्तस्य लक्षणम् ।

( Black or Necrosed Tooth )

योऽसृङ्गिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।

श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥ २८ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

आ०—श्यावदन्तकमाह—यं इत्यादि । यो दन्तोऽसृङ्गिमिश्रेण पित्तेनाशेषतो दग्धः तथा श्यावतामथवा नीलतां गतो भवति, स श्यावदन्तको ज्ञेयः । श्यावदन्तक इति संज्ञायां कन् । असाध्योऽयं व्याधिः ॥ २८ ॥

अथ दन्तविद्रधेर्लक्षणम् ।

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।

सदाह-रुक् स्रवेद् भिन्नः पूयासं दन्तविद्रधिः ॥ २९ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

अथ जिह्वारोगाणां लक्षणानि ।

संप्रति जिह्वागतानाह—

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।

पित्तेन दह्यत्युपचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।

कफेन गुर्वी बहुला चिता च मांसोच्छ्रयः शाल्मलिकण्टकामैः ३० ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—जिह्वाऽनिलेनेत्यादि । स्फुटितेति मनाग्विदीर्णा । प्रसुप्तेति सुप्तेव, रसस्यानवबोधात् । शाकच्छदनप्रकाशेति शाकतरुपत्रवत् कण्टकाचितेत्यर्थः; शाको=मरुजद्रुमः । पैत्तिककण्टकलक्षणे दह्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वात् साधु । अयं च रोगो जाड्यीति ख्यातः ॥ ३० ॥

आ०—संप्रति जिह्वागतानिर्दिशति । तत्र वातकण्टकानाह— जिह्वेत्यादि । अनिलेन जिह्वा स्फुटितेति मनाग्विदीर्णा भवेत्, तथा सुप्तेति सुप्तेव रसस्यानवबोधादचेतनेत्यर्थः । शाकच्छदनप्रकाशेति शाकतरुपत्रवत्कण्टकचितेत्यर्थः । शाको मरुजद्रुमः । पैत्तिककण्टकलक्षणमाह—पित्तेनेत्यादि । पित्तेन जिह्वा परिदह्यते । दह्यतीति आत्मनेपदस्यानित्यत्वात् साधु । तथा सरक्तैः कण्टकैर्व्याप्ता । अयं च रोगो जाड्यीति ख्यातः । 'पित्तात्सदाहैरुपचीयते तु दीर्घैरिति पाठान्तरे पित्ता-ज्जिह्वा एवंविधैः कण्टकैर्व्याप्यते । कफकण्टकानाह—कफेनेत्यादि । कफेन दूषिता जिह्वा गुर्वी बहुला स्थूला शाल्मलिकण्टकामैर्मांसोच्छ्रयैर्मांसाङ्कुरैश्चिता व्याप्ता भवतीति सम्बन्धः ॥ ३० ॥

१ “अनुदात्तेष्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्, चक्षिडो डित्करणञ्ज्ञापकात्” इति श्रीभट्टोजीदी-क्षितोक्तेभ्यांदिदशगणपठितानां धातूनामनित्यत्वेऽपि “भावकर्मणोः” इत्येतच्छास्त्रविहितस्यात्म-नेपदस्यानित्यत्वरूपेण पूर्वोक्तमुक्तेरप्रसक्त्यै नैतत्प्रयोगस्य साधुत्वसाधने किञ्चिद्विनिगमनाभावाद् विचारणीयेयं मधुकोषकारस्य वाचो युक्तिः । तस्याः साधुत्वासाधुत्वं तु सहृदयाः सुधियः एवानुस-न्धयतामिति ॥ केचिदत्रेत्यं समादधति—यत् कण्ठादेशाकृतिगणत्वादेतत् सूत्रपादामिति

अथालासरोगस्य लक्षणम् ।

अलासमाह—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।

जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—जिह्वेत्यादि । प्रगाढ इति प्रकर्षेण गाढो दारुण इत्यर्थः । तेन “जिह्वा-  
गतेष्वलासस्तु” इत्यादिना अलासस्यासाध्यतोक्ता सूच्यते । कफरक्तमूर्तिरिति  
कफरक्ताभ्यां हेतुभ्यां लब्धमूर्तिः । कफरक्तज इत्यर्थः । जिह्वास्तम्भेन वायुर-  
प्यत्र बोद्धव्यः, भृशपाकेन पित्तम्, अतस्त्रिदोषजो ज्ञेयः, अत एवास्यानुपक्रमे-  
णासाध्यत्वम्, कफरक्तयोस्तु प्राधान्येनाभिधानम् । “अधोगतः” इति पाठा-  
न्तरे जिह्वाया अधोगतः ॥ ३१ ॥

आ०—अलासमाह जिह्वातल इत्यादि । यो जिह्वातल श्वयथुः, सोऽलासनामा विकारः स तु  
शोकः प्रवृद्धो जिह्वां स्तम्भयति, जिह्वा मूले भृशं पाकं प्राप्नोति । प्रगाढ इति प्रकर्षेण गाढ  
दारुण इत्यर्थः । तेन जिह्वागतेष्वलासस्त्वित्यादिना अलासस्यासाध्यतोक्ता सूच्यते । कफरक्ताभ्यां  
लब्धमूर्तिः कफरक्तज इत्यर्थः, जिह्वास्तम्भेन तु वायुरप्यत्र बोद्धव्यः, भृशं पाकेन पित्तम्, अतः  
त्रिदोषजोऽयम्, अत एवास्यानुपक्रमेणासाध्यत्वम्, कफरक्तयोस्तु प्राधान्येनाभिधानम् । “अधोगतः”  
इति पाठान्तरे जिह्वाया अधोगतः ॥ ३१ ॥

अथोपजिह्वाया लक्षणम् ।

(Ranulla)

उपजिह्विकामाह—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वासुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः ।

लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—जिह्वाग्ररूप इत्यादि । सचोष इति चोषः साक्षादग्निसम्बन्धेनोपतापः  
चोषश्चात्र रक्तयोनिना पित्तेन ॥ ३२ ॥

आ०—उपजिह्विकामाह—जिह्वेत्यादि । उन्नम्य=ऊर्ध्वीकृत्य, एतेन जिह्वाया अधो भवती-  
त्युक्तं, जिह्वाग्ररूपः=जिह्वाग्रसन्निभः, कफरक्तमूलः=कफरक्तकारणम् । सचोष इति चोषः साक्षा-  
दग्निसम्बन्धेनोपतापः, चोषश्चात्र रक्तयोनिना पित्तेन, भिषग्भिः सा उपजिह्विका पठिता ॥ ३२ ॥

अथ कण्ठशुण्डी लक्षणम् ।

(Elongated Uvula.)

तालुगतेषु कण्ठशुण्डीमाह—

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो

दीर्घः शोथो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।

तृष्णा-कास-श्वास-कृत् तं वदन्ति

व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥ ३३ ॥

म०—श्लेष्मासृग्भ्यामित्यादि । ध्मातवस्तिप्रकाश इति वायुपूरितचर्मपुट-  
तुल्यः ॥ ३३ ॥

आ०—तालुगतानाह । तत्र गलशुण्डिकामाह—श्लेष्मेत्यादि । श्लेष्मरक्ताभ्यां तालुमूले  
प्रवृद्धस्तथा दीर्घः प्रलम्बः शोफः कण्ठशुण्डीति गलशुण्डीति नाम्नाऽयं व्याधिः पठितः ।  
ध्मातवस्तिप्रकाश इति वायुपूरितचर्मपुटकतुल्यः ॥ ३३ ॥

अथ तुण्डिकेरी लक्षणम् ।

तुण्डिकेरीलक्षणमाह—

शोथः स्थूलस्तोद-दाह-प्रपाकी

प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु ।

( सु० नि० अ० १६ )

म०—शोथ इत्यादि । प्रागुक्ताभ्यामिति श्लेष्मासृग्भ्याम् । तुण्डिकेरी=  
वनकार्पासीफलम्, तत्तुल्यशोथतया तुण्डिकेरी । तोददाहाभ्यामिह वातपित्तानु-  
बन्धो ज्ञेयः ॥—

आ०—तुण्डिकेरीलक्षणमाह—शोफ इत्यादि । प्रागुक्ताभ्यामिति कफासृग्भ्यां, तुण्डिकेरी वन-  
कार्पासीफलं, तत्तुल्यशोफतया तुण्डिकेरी । तोददाहाभ्यामत्र वातपित्तानुबन्धोऽस्ति ॥—

अथाध्रुषस्य लक्षणम् ।

अध्रुषलक्षणमाह—

मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो

ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ॥ ३४ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—मृदुरित्यादि । शोणितोत्थ इति रक्तसमुत्थः ॥ ३४ ॥

आ०—अध्रुषलक्षणमाह—मृदुरित्यादि । स्तब्धादिलक्षणः शोथः अध्रुषो ज्ञेयः । अध्रुष इति  
छन्दोनुरोधात् । लोहितोत्थ इति रक्तसमुत्थः ॥ ३४ ॥

अथ कच्छपस्य लक्षणम् ।

कच्छपलक्षणमाह—

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा

रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु ।

( सु० नि० अ० १६ )

म० कूर्मोन्नत इत्यादि । अवेदन इत्यल्पवेदनः । अशीघ्रजन्मेति चिरजः ॥

आ०--रक्तचपलक्षणमाह--कूर्मेत्यादि । कूर्मोत्सन्नः=कूर्मवदुन्नतः, अवेदन=इत्यव्ययः, अक्षी-  
ब्रजन्मेति चिरजः मन्दानुसारीत्यर्थः, अरक्तः पाण्डुरः ।—

अथ ताल्वर्बुदस्य लक्षणम् ।

ताल्वर्बुदमाह—

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं  
विद्याद् रक्ताद्वर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ ३५ ॥  
दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये  
कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः ।

( मु० नि० अ० १६ )

म० पद्माकारमित्यादि । पद्माकारमिति पद्मकर्णिकाकारम् । तथाच  
भोजः,—“उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका । पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा  
चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्म-रक्त-समुत्थानं तताल्वर्बुदसंज्ञितम्”—इति । रक्तजत्वा-  
ल्लोहितम् । प्रोक्तलिङ्गमिति पूर्वोक्तरक्तावर्बुदतुल्यलिङ्गमित्यर्थः ॥ ३५ ॥—

आ०--ताल्वर्बुदमाह--पद्माकारमित्यादि । तालुमध्ये उक्तलिङ्गं शोफं रक्तावर्बुदं विद्यात् ।  
कथंभूतं ? पद्माकारं=पद्मकर्णिकाकारम् । तथा च भोजः,—“उपर्येव भवेन्मध्ये यथा पद्मस्य कर्णिका  
पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तालुन्यवर्बुदसंज्ञितम्” इति । प्रोक्त-  
लिङ्गमिति पूर्वोक्तरक्तावर्बुदस्य तुल्यलिङ्गम् । रक्तजत्वाल्लोहितम् असाध्योऽयम् मांससंघातमाह—  
दुष्टमित्यादि । अत्र केचित् “दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं वा ताल्वन्तस्थम् इति पठन्ति ॥ ३५ ॥

अथ तालुपुष्पुटस्य लक्षणम् ।

पुष्पुटमाह—

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्यात्  
मेदोयुक्तात् पुष्पुटस्तालुदेशे ॥ ३६ ॥  
शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः  
श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च ।  
पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं  
तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥ ३७ ॥

( मु० नि० अ० १६ )

म०--नीरुगित्यादि । पुष्पुटस्तालुदेशे इति तालुपुष्पुटः । तालुशब्दोऽत्र  
लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । “तालुशोषस्तुपित्तात्” इति केचित् पठन्ति, पित्तस्यापि

शोषकत्वात् । केचित्तु वक्ष्यमाणं “पित्तं कुर्यात् इति पदमत्रापि संबध्यश्वास-  
श्चोम इति चकारं भिन्नक्रमेण योजयित्वा विभक्तिविपरिणामं च कृत्वा पित्तं  
तालुशोषं कुर्यादिति व्याचक्षते । किंत्वयं भोजेऽपि वातादेव पठितः । यदु-  
क्तम्,—“तालुशोषो भवेद् वातात्”—इत्यादि ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

आ०—तालुपुष्पुटमाह—नीरुगित्यादि । स्थायी=स्थिरः, कोलमात्रः=कोलसमः ‘पुष्पुट’ इति  
तालुनि देशे पुष्पुटः=तालुपुष्पुटः, तालुशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तालुशोषमाह—शोष इत्यादि ।  
तालुन्यत्यर्थं शोथः, तथा तालु दीर्यते, तथा उग्रः श्वासो भवति, सोऽनिलोत्थस्तालुशोषो ज्ञेयः ।  
तालुशोषस्तु पित्तादिति केचित्पठन्ति, पित्तस्यापि शोषकारकत्वात्; किंत्वयं भोजेऽपि वातादेव  
पठितः । तदुक्तम्—“तालुशोषो भवेद्वाताद्वाधिर्यं क्ष्वेडसंयुतम्”—इति । वाग्भटेन तु वातपित्ता-  
भ्यां तालुशोषः पठितः । तथाहि—“वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः”—इति । तालु-  
पाकमाह—पित्तमित्यादि । सुगमम् ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

अथ रोहिणीरोगस्य संप्राप्तिः ।

कण्ठगतास्तु रोहिण्यादयः सप्तदशोच्यन्ते, तत्र पञ्चानां रोहिणीनां सामा-  
न्यसंप्राप्तिमाह—

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ

प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम् ।

गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरै-

र्निहन्त्यसून् व्याधिरियं हि रोहिणी ॥ ३८ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—गलेऽनिल इत्यादि । सर्वरोहिण्यः सन्निपातजाः, उत्कर्षाद्वातजा-  
दिव्यपदेशः । अन्ये तु “पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्” इति पठित्वा  
सुश्रुते एकदोषजत्वमप्याहुः । भोजेऽप्युक्तम्—“वात-पित्त-कफा रक्तमेकशः  
सर्वशोऽपि वा । कण्ठं यदा निषेवन्ते”—इत्यादि । निहन्त्यसूनित्यनेन यद्यपि  
सामान्येनासाध्यत्वमुक्तं तथाऽपि सप्ताहादिना पृथग्दोषत्रयजानाशनुक्रमेणा-  
साध्यत्वम्, एवं रक्तजाया अपि, सन्निपातजायास्तु जन्मनैवासाध्यत्वम् ।  
तदुक्तं भोजेन,—“तालुः शुष्यति कण्ठश्च वातेनायाम्यते यदा । कण्ठेऽस्त्वान्नं  
प्रसज्येत सप्ताहात् स जहात्यसून् ॥ उष्यते चूष्यते पित्तात् धूष्यते  
परिदह्यते । अङ्गरैरिव जह्यात् स प्राणानाशु चतुर्दिनात्”—इति । “कफा-  
दन्तर्बहिः शोथः श्वासः कण्ठश्च बाध्यते । यस्य सोऽसून् त्यजेद् रोगी व्य-  
हद् रोहिणीपीडितः ॥ लक्षणं पित्तरोगिण्या तुल्यं शोणितजन्मनः । सर्वदो-

षकृता या तु सर्वलिङ्गसमन्विता । असाध्यां तां विजानीयाद् रोहिणीं सन्निपातजाम् ॥ एषा सद्यो मारयति तिस्र आद्याः क्रियां विना” इति क्वचित् । भोजे “अन्या सद्यो मारयति” इति पाठः, तदा रक्तजायामप्यसाध्यत्वमायाति । किंत्वयं साध्यैव, यदुक्तम्—“लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः” ( सु. सू. अ. २५ )—इति । तथा,—“साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितभोक्षणम्” ( सु. चि. स्था. अ. २२ ) इत्यनेन रक्तजाया अपि चिकित्सोक्ता, किंच गलगतेष्वेकैव रोहिणी सन्निपातजा “रोहिणी गले” इत्यनेनासाध्योक्ता । भोजे तु “तिस्र आद्याः क्रियां विना” इत्यभिधानं त्रिदोषजत्वेन प्राधान्यजामिमेत्य, खरनादेऽपि सन्निपातजाया एव सद्योमारकत्वमुक्तम् । यदाह,—“सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहाच्छ्लेष्मसमुद्भवा । पञ्चाहात् पित्तसंभूता सप्ताहात् पवनोत्थिता”—इति ॥ ३८ ॥

आ०—कण्ठगतास्तु रोहिण्यादयः सप्तदशोच्यन्ते । तत्र पञ्चानां रोहिणीनां सामान्येन संप्राप्तिमाह गल इत्यादि । गलेऽनिलो वृद्धः, तथा पित्तकफौ मूर्च्छितौ विदग्धौ, मांसं प्रदूष्य तथा शोणितं प्रदूष्य, गलोपसंरोधकरैरङ्कुरैरसूत्रिहन्ति, अयं व्याधिः रोहिणीसंज्ञो ज्ञेयः । सर्वा रोहिण्यः सन्निपातजाः, उत्कर्षात् वातजादिव्यपदेशः । अस्मिन् पाठे तु संख्या वातपित्तकफसम्बन्धिक्रियापदं च न विद्यते । तस्मादन्ये “गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक्समस्ताश्च तथैव शोणितम् । प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान् सृजन्ति यान् साऽमुहरा तु रोहिणी”—इति पठित्वा सुश्रुते एकदोषजत्वमित्याहुः । । पृथगिति तिस्रः, समस्तादेका, एका शोणितात्, एवं पञ्च रोहिण्यः । अमुहराः=प्राणहराः । भोजेऽप्युक्तम्—“वातपित्तकफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा । कण्ठं यदा निषेवन्ते प्रदूष्य चोर्ध्वमागताः ॥ अङ्कुराञ्जनयन्त्याशु जिह्वामूले समन्ततः । रोहिणीं तां विजानीयादाहुः पञ्चविधां तु ताम्”—इति ॥ ३८ ॥

अथ वातजादिरोहिणीनां लक्षणानि ।

वातजादिभेदेन रोहिणीलक्षणमाह—

जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो वे । सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ॥ ३९॥ क्षिप्रोद्गमा क्षिप्र-विदाह-पाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु । स्रोतोविरोधिन्यचलोद्गता च स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ४० गम्भीरपाकिन्यनियार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च । स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—जिह्वेत्यादि । जिह्वासमन्तादिति जिह्वायाः सर्वत इत्यर्थः । वातात्मकोपद्रवगाढयुक्तेति वातात्मका उपद्रवाः=कम्प-विनाम-स्तम्भादयस्तैरति-



शयमनुगता । त्रिदोषजायामनिवार्यवीर्येति क्रिययापि न निवार्य वीर्यमस्याः,  
सद्योभारकत्वादित्यर्थः । त्रितयोत्थितेति दोषत्रयोत्थिता । पित्तलिङ्गातिदेश-  
स्याव्यवहितत्वप्रतीत्यर्थं पित्तरोहिण्यनन्तरं रक्तजाया वक्तुमुचितायाः  
शेषेऽभिधानमितररोहिण्यपेक्षया सुखसाध्यत्वख्यापनार्थमिति केचित् ॥ ३९-४१ ॥

आ०—वातिकरोहिणीलक्षणमाह—जिह्वेत्यादि । ये मांसाङ्कुरा जिह्वासमन्ताद्भवन्ति ते  
भृशवेदनाः, तथा कण्ठनिरोधनाः, सा वातकृता रोहिणी प्रदिष्टा । जिह्वासमन्तादिति  
जिह्वायाः सर्वत्रेत्यर्थः । वातात्मकोपद्रवगाढयुक्त्यादि वातात्मका ये उपद्रवाः कम्पवि-  
नामस्तस्मादयः तीरतिशयमनुगता । पित्तजामाह—क्षिप्रोद्गमेत्यादि । सुगमम् । त्रिदोषजा-  
माह—गम्भीरेत्यादि । त्रिदोषलिङ्गा=दोषत्रयलिङ्गयुक्ता, त्रितयोत्थितेति दोषत्रयोत्थिता । रक्तजा-  
माह—स्फोटैरित्यादि । सुगमम् ॥ ३९=४१ ॥

अथ कण्ठशालूकस्य लक्षणम् ।

कण्ठशालूकलक्षणमाह—

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले कण्ठक-शूक-भूतः ।  
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥  
( सु० नि० अ० १६ )

म०—कोलत्यादि । कण्ठक-शूक-भूत इति कण्ठकवत् शूकवच्च वेदनाजनकः,  
भूतशब्दः उपमानार्थः; किंवा कण्ठकोपलक्षितः शूको जलशूकः, स इव भूतो  
जातः । कठिनगुडकतया शालूकसमत्वेन कण्ठशालूकम् । शालूकं=जलोत्पल-  
कन्दम् ॥ ४२ ॥

आ०—कण्ठशालूकलक्षणमाह—कोलेत्यादि । कण्ठकशूकभूत इति कण्ठकवत् कश्चिच्छूकवच्च  
वेदनाजनकः, भूतशब्द उपमानो; किंवा—कण्ठकोपलक्षितः शूको जलशूकः, स इव भूतो जातः  
कठिनगुडकतया पिशिताङ्कुरचितत्वात् । शालूकं जलोत्पलकन्दम् ॥ ४२ ॥

अथाधिजिह्वकस्य लक्षणम् ।

अधिजिह्वकमाह—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात् जिह्वोपरिष्ठादपि रक्तमिश्रात् ।  
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥ ४३ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—जिह्वाग्ररूप इत्यादि । जिह्वोपरिष्ठादित्यनेन जिह्वातलजातामुप-  
जिह्वां व्यावर्तयति । अपि रक्तमिश्रादिति न केवलात् कफाद् भवति, किंतु रक्त-  
मिश्रादेव कफादित्यर्थः । अपिरवधारणे । आगतपाकत्वेन पित्तमप्यत्र द्रष्ट-  
व्यम् ॥ ४३ ॥

आ०—अधिजिह्विकामाह—जिह्वाग्रेत्यादि । जिह्वोपरिष्ठादित्यनेन जिह्वातलजातामुपजिह्वा व्यावते-  
यति, जिह्वोपरिष्ठादित्यत्र 'जिह्वाप्रबन्धोपरि, इति पाठान्तरे, जिह्वाप्रबन्धस्योपरि जिह्वामूल-  
स्योपरिष्ठादित्यर्थः । अपि रक्तमिश्रादिति । न केवलात् कफात् भवति, किन्तु रक्तमिश्रादेव कफा-  
दित्यर्थः । अपिरवधारणे । आगतपाकत्वेन पित्तमप्यत्र द्रष्टव्यम् ॥ ४३ ॥

अयं वलयस्य लक्षणम् ।

वलयमाह—

बलाश एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।

तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४३ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—बलास एवेत्यादि । बलासः=कफः । अन्नगतिमिति अन्नस्य गतिर्येन  
स्रोतसा सोऽन्नगतिः=अन्नवहमार्गः, अन्नस्य प्रवेशो वा । कफजोऽप्ययं प्रभा-  
वादसाध्यः ॥ ४४ ॥

आ०—वलयमाह—बलाश इत्यादि । बलाशः=कफः । अन्नगतिमिति अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा  
स्रोऽन्नगतिरन्नवहस्रोतः अन्नप्रवेशो वा, तं निवार्य आयतमुन्नतं शोथं करोति, बुधास्तं सर्वथा  
अप्रतिवार्यवीर्यं=विवर्जनीयं वलयाख्यं व्याधिं वदन्ति । कफजोऽप्ययं स्थानप्रभावान् स्वभा-  
वाच्चासाध्यः ॥ ४४ ॥

अथ बलाशस्य लक्षणम् ।

बलाशलिङ्गमाह—

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।

मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाशसंज्ञं निपुणा विकारम् ॥ ४५ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—गल इत्यादि । मर्मच्छिदमिति प्राणायतनहृदयमर्मच्छिदम् ॥ ४५ ॥

आ०—बलाशलिङ्गमाह—गलेत्यादि । प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजाभ्यामुपपन्नं=सहितं  
शोथं कुरुतः, निपुणा=धीमन्तः एनं विकारं बलाशसंज्ञमाहुः । कथंभूतम् ? मर्मच्छिदमिति  
प्राणायतनहृदयमर्मच्छिदम् ॥ ४५ ॥

अथैकवृन्दस्य लक्षणम् ।

एकवृन्दमाह—

वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्युश्च ।

नाम्रैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्वलाश-क्षतज-प्रसूतः ४६ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—वृत्तोन्नत इत्यादि । अन्तः श्वयथुरिति गलस्यान्तर्मध्ये । सदाह इति  
मन्ददाहः, सहशब्द ईषदर्थे । अपाक्यमृदुरिति अपाकी=ईषत्पाकी, अमृदुरी-

वन्मृदुः; अन्ये “अपाकमृदुः” इति पठन्ति, अपाकश्चासौ मृदुश्चेति अपाक-  
मृदुः । वलाशक्षतजप्रसृत इति कफरक्तभव इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

आ०—एकवृन्दमाह—वृन्देत्यादि । सदाहः=मन्ददाहः, सहाशब्द ईषदर्थे अपाकी=ईषत्पाकी  
अमृदुरीपमृदुः । अन्ये ‘अपाकमृदुः’ इति पठन्ति, अपाकश्चासौ मृदुश्चेति अपाकमृदुः । वलाशक्ष-  
तजप्रसृत इति कफरक्तभवः ॥ ४६ ॥

अथ वृन्दस्य लक्षणम् ।

वृन्दमाह—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।

तच्चापि पित्त-क्षतज-प्रकोपाज्ज्ञेयं सतोदं पवनात्मकं तु ४७ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—समुन्नतमित्यादि । वृन्दमेव पवनानुविद्धं सतोदं स्यात् । ननु, सप्त-  
दश कण्ठगता उक्ताः; उक्तं हि,—“सप्तदशामयाः कण्ठे”—इति, वृन्देन सहाष्टा-  
दश स्युः ? उच्यते, एकवृन्दस्यावस्थाविशेष एव वृन्दः, तुल्यस्थानाकृतितो न  
संख्यातिरेकः; यद्यप्येकवृन्दः कफ-रक्तजः, वृन्दस्तु पित्त-रक्तजः पठितः, तथा  
वृन्दस्यैव सतोदत्वेन वातत्मकत्वमुक्तं, तथाप्येकवृन्दस्यावस्थाविशेषत्वेन वृन्दः  
सङ्गच्छत एव, यथा कामलायां तद्विन्नहेतु-लक्षणस्यापि हलीग्रकस्य संग्रहः,  
यथा वातभेदात्प्येन ध्वंसक-विक्षेपकयोरत्यन्ताभेदेऽपि स एव स्यान्न पुनस्तेन  
संग्रहः, भोजेऽप्ययमेकवृन्दज एव पठितः । यदाह,—“श्लेष्म-रक्त-समुत्थानमे-  
कवृन्दं विभावयेत् । तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्त-पित्तजः”—इति । वृन्दज  
इत्येकवृन्दजः । गदाधरस्तु कारणभेदात् धर्मभेदाच्च उत्पन्नत्वेन चैककार्य-  
कारणयोरभेदप्रसङ्गमभिधाय वृन्दशब्दं छन्दोऽनुरोधादादिलोपादेकवृन्द एव  
वर्णयति, तथाच सति समुन्नतमित्यादिना पित्तानुबन्धसहितबहुलरक्तकृतै-  
कवृन्दस्य लक्षणमुच्यते, सतोदं पवनात्मकं चेत्यनेन च वातानुबन्धैकवृन्द-  
लक्षणमिति व्याख्येयम् । परन्तु वृन्दजो वृन्द इति भोजवचनेनासंगतमिदं  
व्याख्यानम् ॥ ४७ ॥

आ०—वृन्दमाह—समुन्नतमित्यादि । ननु, सप्तदशकण्ठगता उक्ताः; उक्तं हि—“सप्तदशामयाः  
कण्ठे” इति, वृन्देन सहाष्टादश स्युः ? उच्यते—एकवृन्दस्यावस्थाविशेष एव वृन्दः तुल्य-  
स्थानाकृतिश्चातो न संख्यातिरेकः । भोजेऽप्ययमेकवृन्दजः एव पठितः । यदाह—“श्लेष्मरक्तसमु-  
त्थानमेकवृन्दं विभावयेत् । तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्तपित्तजः”—इति । वृन्दज इत्येक-  
वृन्दज इति ॥ ४७ ॥

अथ शतघ्नीरोगस्य लक्षणम् ।

शतघ्नीलक्षणमाह—

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।

अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा ४८

( सु० नि० अ० १६ )

म०—वर्तिरित्यादि । अनेकरुगिति वात-पित्त-कफज-तोद-दाह-कण्डादि-वेदनान्वितेत्यर्थः । शतघ्निरूपेति अयःकण्टकाच्छन्ना महती शिला=शतघ्नी, तत्तुल्या । प्राणहरीत्यसाध्या । भोजेऽप्युक्तम्,—“शङ्कुमेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति”—इति ॥ ४८ ॥

आ०—शतघ्नीलक्षणमाह—वर्तिरित्यादि । अनेकरुगिति वातपित्तकफजतोददाहकण्डादिवेदनान्वितेत्यर्थः । शतघ्निरूपेति “अयःकण्टकसंछन्ना शतघ्नी महती शिला” तत्तुल्या । प्राणहरीत्यसाध्या । भोजेऽप्युक्तम् “वात-पित्त-कफा दुष्टा मांसाङ्कुरसमाचिताम् । मध्यकण्टचयां वर्ति जनयन्ति ह्यपेक्षिताः ॥ शङ्कुमेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति”—इति ॥ ४८ ॥

अथ गलायुरोगस्य लक्षणम् ।

गलायुलक्षणमाह—

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽतिरुग् यः कफ-रक्त-मूर्तिः । संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः ॥ ४९ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—ग्रन्थिरित्यादि । कफ-रक्त-मूर्तिरिति कफ-रक्त-जः । सक्तमिवेति लग्नमिव, अशनं=भुक्तम् ॥ ४९ ॥

आ०—गलायुलिङ्गमाह—ग्रन्थिरित्यादि । सक्तमिवेति लग्नमिव, अशनं=भोजनं, संलक्ष्यते, स गलायुसंज्ञो विकारः, स शस्त्रसाध्यः ॥ ४९ ॥

अथ गलविद्रधेर्लक्षणम् ।

गलविद्रधिलिङ्गमाह—

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः । स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥ ५० ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—सर्वमित्यादि । तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्येति प्राणुक्तस्य विद्रधेः सन्निपातजस्य तुल्य इत्यर्थः । स च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, चिकित्साभेदार्थं च पुनः पठितः ॥ ५० ॥

आ०—गलविद्रधिमाह—सर्वमित्यादि । तस्यैवेत्यादिप्रागुक्तविद्रधेः सन्निपातजस्य तुल्य इत्यर्थः  
अयं च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, चिकित्साभेदार्थं च पुनः पठितः ॥ ५० ॥

अथ गलौघस्य लक्षणम् ।

गलौघलक्षणमाह—

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहिन्ता ।  
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यते तु ॥ ५१ ॥  
( सु० नि० अ० १६ )

म०—शोथ इत्यादि । वायुगतेर्निहन्तेति अतिमहत्त्वादुदानवायुगतिरोधक  
इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

आ०—गलौघलक्षणमाह—शोफ इत्यादि । वायुगतेर्निहन्तेत्यादि । अतिमहत्त्वादुदानवायुग-  
तिरोधक इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

अथ स्वरघ्नस्य लक्षणम् ।

स्वरघ्नलक्षणमाह—

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्क-विमुक्त-कण्ठः ।  
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥ ५२ ॥  
( सु० नि० अ० १६ )

म०—य इत्यादि । ताम्यमान इति मूर्च्छा गच्छन्, अथवा तमः पश्यन् ।  
श्वसिति प्रसक्तमिति निरन्तरं श्वसिति । शुष्क-विमुक्त-कण्ठ इति शुष्को=  
नीरसो विमुक्तश्चास्वाधीनः कण्ठो यस्य स तथा । अस्वाधीनता च किमपि  
गिलितुमशक्यतया बोद्धव्या । अनिलायनेष्विति अनिलमार्गेषु कफरुद्धेषु सत्सु  
वायुगतस्रोतसोर्द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्रतानबहुत्वात् । श्वसनादिति वातात् ॥ ५२ ॥

आ०—स्वरघ्नलक्षणमाह—य इत्यादि । प्रसक्तमिति निरन्तरं निःश्वसिति, शुष्कविमुक्तकण्ठ  
इति शुष्को नीरसो विमुक्तश्चास्वाधीनः कण्ठो यस्य स तथा, अस्वाधीनता च किमपि गिलितुमश-  
क्यतया बोद्धव्या । केषु सत्सु ? अनिलायनेष्विति अनिलमार्गेषु कफोपदिग्धेषु=कफरुद्धेषु सत्सु,  
वायुवहस्रोतसोर्द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्रतानबहुत्वात् । स रोगः श्वसनात्=वातात् स्वरघ्नो ज्ञेयः ॥ ५२ ॥

अथ मांसतानस्य लक्षणम् ।

मांसतानलिङ्गमाह—

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।  
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥ ५३ ॥  
( सु० नि० अ० १६ )

म०—प्रतानवानित्यादि । प्रतानवानिति विस्तारवान् । सुकष्ट इति महा-  
दुःखप्रदायी, न तु कृच्छ्रसाध्यः, प्राणप्रणुदिति वचनात्, अथवा पाकतः कष्ट-

साध्यः, समस्तगलोपरोधे तु प्राणप्रणुत् । “स मांसतानः कथितोऽवलम्बी”—  
इत्यस्य—स्थाने “स मांसतानेति विभर्ति संज्ञाम्”—इति पाठान्तरे मांसताने-  
त्यत्र इतिशब्देन प्रातिपदिकार्थस्योक्तत्वाद्विभक्त्यभावः । “विभर्ति संज्ञाम्”  
इत्यस्य स्थाने “निरुणाद्वि चेष्टाम्”—इति कार्तिकः । अस्मिन् व्याख्याने स  
मांसतान इत्यस्यानन्तरं ख्यात इति द्रष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

आ०—मांसतानलिङ्गमाह—प्रतानेत्यादि । प्रतानवानिति विस्तारवान्, सुकष्टः=महादुःखदार्यः  
नतु कृच्छ्राध्यः, प्राणप्रणुदिति वचनात्; अथवा पाकतः कष्टाध्यः, समस्तगलोपरोधे तु प्राणप्रणुत् ।  
अवलम्बी=लम्बनशीलः ॥ ५३ ॥

अथ विदार्या लक्षणम् ।

विदारीलक्षणमाह—

सदाह-तोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूति-विशीर्ण-मांसम् ।  
पित्तेन विद्याद् वदने विदारीं पाश्च विशेषात् स तु येन शेते ॥ ५४ ॥  
( सु० नि० अ० १६ )

म०—सदाहतोदमित्यादि । वदन इति स्वरूपपरमिदम्, अन्तर्गल इत्य-  
नेनैव वदनशब्दस्य लब्धत्वात् । पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते इति स=पुरुषो  
येन=पार्श्वेन विशेषाद्=बाहुल्येन शेते तस्मिन्नेव पार्श्वे विदारी भवतीत्यर्थः ।  
विशेषग्रहणादन्यस्मिन् पार्श्वेऽपि संभवोऽस्याः । विदारीसंज्ञा च मांसविदारणेन ।  
भोजेऽप्युक्तम्,—“पित्तेन जातो वदने विकारः पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ।  
स्नायु-प्रतान-प्रभवो विशेषाद्-दाह-प्रपाक-प्रचुरो विदारी”—इति ॥ ५४ ॥

आ०—विदारीलक्षणमाह—सदाहेत्यादि । पूति-विशीर्ण-मांसं=दुर्गन्ध-शटितमांसम् । वदन  
इति स्वरूपपरमिदम्, अन्तर्गलमित्यनेनैव वदनसंबन्धस्य लब्धत्वात् । पार्श्वे इत्यादि स=पुरुषो येन=  
पार्श्वेन विशेषात्=बाहुल्येन शेते, तस्मिन्=पार्श्वे विदारी भवतीत्यर्थः; विशेषग्रहणादन्यापार्श्वेऽपि संभ-  
वोऽस्याः । विदारीसंज्ञा च मांसविदारणेन, भोजेऽप्युक्तम्,—“पित्तेन जातो वदने विकारः पार्श्वे  
विशेषात् स तु येन शेते । स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषाद् दाह-प्रपाक-प्रचुरो विदारी”—इति ॥ ५४ ॥

अथ सर्वसराख्यमुखरोगस्य लक्षणम् ।

(Stomatitis)

सर्वसराख्योऽभिधीयन्ते—

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद् यस्याचितं सर्वसरः स वातात् ।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ।  
अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥ ५५ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

म०—स्फोटैरित्यादिना । मुखदन्तौष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्वं ज्ञेयम् । स्फोटैरिति, वदनमिति च उत्तरत्र संबन्धनीयम् । आचितं=व्याप्तम् । सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते । केचिद् विदेहोत्तरक्तजसर्वसरलक्षणं पठन्ति । यथा,—“रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः”— इति । अयं च पैत्तिक एवान्तर्भूत इति नेह दर्शित इति ॥ ५५ ॥

आ०—सर्वसरास्त्रयोऽभिधीयन्ते । तत्र वातज सर्वसरमाह—स्फोटैरित्यादि । आचितं=व्याप्तम् । मुखदन्तौष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया तेषां सर्वसरत्वं ज्ञेयम् । स्फोटैरिति, वदनमिति चोत्तरत्र संबन्धनीयम् । पित्तजं सर्वसरमाह—रक्तैरित्यादि । सुगमम् । कफजसर्वसरमाह—अवेदनैरित्यादि । सुगमम् । सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते । केचिद्विदेहोत्तरक्तजसर्वसरलक्षणं पठन्ति । तद्यथा—“रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित्प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः ” इति । अयं च पैत्तिकसर्वसरे प्रदिष्ट एवेति नेह दर्शितः ॥ ५५ ॥

अथासाध्यमुखरोगाणां लक्षणानि ।

ओष्ठप्रकोपादिष्वसाध्यानाह—

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांस-रक्त-त्रिदोष-जाः ।

दन्तमूलेषु वर्ज्यो च त्रिलिङ्गगति-शौषिरौ ॥ ५६ ॥

दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्याव-दालन-भञ्जनाः ।

जिह्वारोगे वलाशस्तु तालव्येष्वुदं तथा ॥ ५७ ॥

स्वरघ्नो वलयो वृन्दो वलाशश्च विदारिका ।

गलौघो मांसतानश्च शनघ्नी रोहिणी गले ॥ ५८ ॥

असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु ।

तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ ५९ ॥

( सु० नि० अ० १६ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मुखरोगनिदानं समाप्तम् ।

म०—ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युरित्यादि । त्रिलिङ्गगतिशौषिराविति त्रिदोषजनाडी त्रिदोषजश्च महाशौषिरोऽसाध्यः । रोहिणी गले इति त्रिदोषजा रोहिणी ॥ ५६-५९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मुखरोगनिदानं समाप्तम् ।



आ०—अवाध्यानाह—ओष्ठेत्यादि । ओष्ठजात्रयः, दन्तमूले द्वौ, दन्तभवेषु त्रयः, जिह्वा-  
लेष्वेकः, तालुन्यप्येक एव, स्वरत्रादयो नव गले, समुदायसंख्या नवदशैवेति । त्रिलिङ्गगति-  
श्रौषिराविति त्रिदोषजनाडी त्रिदोषजश्च महाशीषिरोऽसाधरः । सह दारिणेति विदार्या सह, छन्दो-  
दुरोधाद्दारिणेति निर्देशः, रोहिणी गल इति त्रिदोषजा रोहिणी ॥ ५६-५९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्याविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणख्यायां मुख-  
रोगनिदानम् ॥ ४७ ॥

अथ कर्णरोगनिदानम् ।

अथ कर्णशूलस्य लक्षणम् ।

(Otalgia, Otitis.)

मुखरोगे जिह्वाश्रयरोगोऽभिहितः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानम्, अत इन्द्रिया-  
धिष्ठानदुष्टिसाम्यात् कर्णरोगनिदानमुच्यते, कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं  
श्रोत्रमुच्यते, तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाप्यवयवेषु समुदायोपचारतः  
कर्णव्यपदेशः । तत्र कर्णशूलं कष्टत्वात् प्रागाह—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।  
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः १

( सु० वि० अ० २० )

म०—समीरण इत्यादि । अत्रानयैव संप्राप्त्यार्थतो निदानसंचयाद्याक्षिप्तं;  
यतो निदानात् संचयः, संचयात् प्रकोपः, प्रकोपात् प्रसरः, प्रसरात् स्थान-  
संश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति । कर्णशूलस्य च कष्टत्वं सूच्छाद्युपद्र-  
वयोगात् । यदाह विदेहः,—“सूच्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा ।  
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते भरिष्यतः”—इति । अन्यथाचरन्निति प्रतिलोमं  
चरन् । दोषैरिति कफ-पित्त-रक्तैः, रक्तैःपि रुजाकर्तृत्वात् सामान्येन दोषव्य-  
पदेशः । यथास्वमावृत इति स्वनिदानकुपितदोषैर्व्यथास्वीयलक्षणैरावृतो न तु  
कोपितैर्वायुना; “एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्” इति न्यायात्, यतः  
स्वतन्त्रकुपिता दोषाः संसर्गभाजो भवन्ति, परतन्त्रकुपितास्वनुबन्धरूपा  
भवन्ति । अथवा यथास्वमिति शूलविशेषणं, यथास्वीयमित्यर्थः । दुराचर इति  
दुःखेनार्चयते इति दुराचरः ॥ १ ॥

आ०—मुखरोगे जिह्वाश्रया रोगा अभिहिताः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानम्, अत इन्द्रियाधिष्ठानदुः  
 श्लिषाम्यात्कर्णरोगनिदानमुच्यते । कर्णशब्देन कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते । अत्र  
 यद्यप्येकदेशे रोगः, तथाऽप्यवयवेऽपि समुदायोपचारात्कर्णरोगव्यपदेशः । अत्र कर्णशूलं कष्टसाध्य-  
 त्वात्प्रागाह—समीरण इत्यादि । अत्रानेयव संप्राप्त्याऽर्थेता निदानसंचयाद्याक्षिप्तं बोद्धव्यम् । यतो  
 निदानात् सञ्चयः, सञ्चयात् प्रकोपः, प्रकोपात् सरः, प्रसरात् स्थानसंश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद  
 इति । कर्णशूलस्य च कष्टत्वं मूर्च्छाद्युपद्रवयोगात् । यदाह विदेहः—“मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासः  
 कुत्साऽथै वमथुः सत्वृत् । उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः”—इति । श्रोत्रगतः श्रोत्रं=शङ्कुली-  
 परिच्छिन्नमाकाशः, समीरणो=वायुः, श्रोत्रगतः=श्रोत्रप्राप्तः, अन्यथा चरन्निति प्रतिलोमं चरन्  
 विमार्गग इति वा; चरन् समन्ततः कर्णयोरतीव शूलं करोतीति सम्बन्धनीयम् । कथंभूतो  
 वायुः ? दोषैरिति पित्तकफरक्तैः, रक्तेऽपि रुजादिकर्तृत्वेन दोषसाम्यादोपव्यपदेशः । यथास्वमावृत  
 इति यथास्वमत्र स्वस्य दोषस्यानतिक्रमेण यथास्वं, तेन स्वनिदानकुपितैर्दोषैर्यात्मीयलक्षणावृतो न  
 तु कुपितेन वायुना कोपितैः, अथ वा यथास्वमिति शूलविशेषणं, यथात्मीयमित्यर्थः । स तथा-  
 विधौ रोगः कर्णशूलः कथितः । किंविशिष्टः ? दुरासदो दुर्वारः, ‘दुराचरः’ इति पाठे दुःखेन  
 चर्यते उपचर्यते इति दुराचरः ॥ १ ॥

अथ कर्णनादस्य लक्षणम् ।

(Noises in the Ear.)

कर्णनादमाह—

कर्णस्रोतः स्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान् ।

भेरी-मृदङ्ग-शङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥ २ ॥

( सु० चि० अ० २० )

म०—कर्णस्रोतःस्थित इत्यादि । यदा कर्णस्रोतसि विविधप्रकारेणा-  
 वस्थितो वायुर्भवति तदा तस्य विविधाभिहननादुक्तविविधशब्दश्रवणम्, भेरी-  
 मृदङ्ग-शङ्खानामित्युपलक्षणम्, तेन भृङ्गारादिशब्दश्रवणं च भवति ।  
 यदुक्तं विदेहे,—“शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते । तदा तु विवि-  
 धान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः ॥ भृङ्गार-कौश्वनादं वा मण्डूक-काकयो-  
 स्तथा । तन्त्री-मृदङ्ग-शब्दं वा साम-तूर्य-स्वनं तथा ॥ गीताध्ययनवंशानां  
 निर्घोषं श्वेडनं तथा । अपामिव पतन्तीनां शकटस्यैव गच्छतः ॥ श्वसतामिव  
 सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः”—इति ॥ २ ॥

आ०—कर्णनादमाह—कर्णेत्यादि । भेरी-मृदङ्ग-शङ्खानामित्युपलक्षणं, तेन भृङ्गारादिशब्दग्रहणं  
 च भवति । यदुक्तं विदेहे—“शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते । तदा तु विविधान् शब्दान्-

समीरयति कर्णयोः ॥ भृङ्गारक्रीडनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा । तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा ॥ गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा । अपाभिव पतन्तीनां शकटस्थेयं गच्छतः ॥ श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः ” इति । प्रणादस्यापीडाकरत्वेऽपि रोगाख्या, तिलकालकवन्मनोदुःखजनकत्वात् ॥ २ ॥

अथ बाधिर्यस्य लक्षणम् ।

( Deafness. )

यदा शब्दवह वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति ।

शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते ॥ ३ ॥

आ०—बाधिर्यमाह—यदेत्यादि । शब्दवहं स्रोतः=कर्णशङ्कुलीपरिच्छिन्नमाकाशम्, तद्रत-  
वातजनितमत्रबाधिर्यम्, अपिशब्दाद् रक्तपित्तावरणयोरुपग्रह इति ॥ ३ ॥

अथ कर्णक्ष्वेडस्य लक्षणम् ।

कर्णक्ष्वेडमाह—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम् ।

करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥ ४ ॥

म०—वायुरित्यादि । क्ष्वेडमेव व्याकरोति—वेणुघोषोपमं स्वनमिति । ननु, कर्णनादात् कथमस्य भेदः ? उच्यते, कर्णनादे केवलानिलजे नानाशब्दान् शृणोति, अत्र तु वेणुशब्दमेव नियमेन । तथाऽयं पित्तादिसंसृष्टवातजन्य इति । तथाह विदेहः,—“मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च । कर्णक्ष्वेडं संजनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्”—इति ॥ ४ ॥

आ०—कर्णक्ष्वेडमाह—वायुरित्यादि । ननु ! कर्णनाद-कर्णक्ष्वेडयोः को भेदः ? उच्यते,—कर्णनादे केवलानिलजे नानाशब्दान् शृणोति, अत्र तु वेणुशब्दमेव नियमेन, तथाऽयं पित्तादिसंसृष्टवातजन्यः । तथाच विदेहः,—“मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च । कर्णक्ष्वेडं संजनयेत्क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्”—इति ॥ ४ ॥

अथ कर्णस्रावस्य लक्षणम् ।

( Otorrhoea )

कर्णस्रावमाह—

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रव्येः ।

स्रवेद् हि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ५

( सु० उ० अ० २० )

म०—शिरोऽभिघातादित्यादि । स्रवेद्भि पूयमित्युपलक्षणम्, तेन रक्तजले च स्रवत इति मन्तव्यम्, शिरोऽभिघातजलमज्जनमात्रेण पूयस्यासंभवात् । अथ

वा प्रपाकादिति सर्वत्र संबध्यते; तर्हि न पाकात् पृथक् स्राव उक्तः सर्वत्र पाकस्याविशिष्टत्वादिति कार्तिकः । ननु, पाकात् विद्रवेः स्रावसंभवोऽस्तु, विद्रवौ तु वातेतरदोषस्यापि संभवात् कथमनिलार्दित इत्युक्तम् ? उच्यते, अतिस्रावेणात्रानिलकोपादनिलार्दितत्वं बोद्धव्यम् ॥ ५ ॥

आ०—कर्णस्रावमाह—शिरोभिषातादित्यादि । अत्र पूयमित्युपलक्षणम्, तेन रक्तजले च स्रवत इति मन्तव्यम् । अत्र प्रपाकादिति सर्वत्र संबध्यते, तर्हि न पाकात्पृथक् स्राव उक्तः स्यात्, सर्वत्र पाकस्याविशिष्टत्वादिति कार्तिकः । ननु, पाकाद्विद्रवेः स्रावसंभवोऽस्तु, विद्रवे तु वातेतरदोषस्यापि सद्भावात्तत्कथमनिलार्दित इत्युक्तम् ? उच्यते, अतिस्रावेणात्रानिलकोपादनिलार्दितत्वं बोद्धव्यम् । शिरोभिषातात्, अथवा जले निमज्जतः, अथवा विद्रवेः कर्णविद्रवेः प्रपाकादनिलार्दितः श्रवणः पूयं स्रवेत्, स कर्णसंस्त्रावरुणो रोगः उक्तः ॥ ५ ॥

अथ कर्णकण्डादिरोगाणां लक्षणानि ।

कर्णकण्डादीनाह—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च ।

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥ ६ ॥

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।

तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद् विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ७

( सु० उ० अ० २० )

म०—कर्णप्रतिनाहमाह—स कर्णगूथो द्रवतामित्यादि । विलायित इति स्नेह-स्वेदाभ्यां विलीनीकृतः सन् । घ्राणमुखमिति द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः तेन घ्राणं च मुखं च प्रतिपद्यते इत्यर्थः । अन्ये “घ्राणमुखात्” इति पठन्ति, तदा घ्राणमुखात्=नासासकाशात् प्रतिपद्यते=गच्छतीत्यर्थः । अयं कफजो विकारः, अथवा कर्णगूथशोषे मारुतपित्तव्यापारात्रयाणामपि संबन्धोऽस्ति, तेन सन्निपातजोऽयम्; तथाच विदेहः,—“कफाद् वा मारुताद् वापि सन्निपातेन वा पुनः”—इति । शिरसोऽर्धभेदकृदिति अर्धावभेदशिरोरोगकृत् ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०—कर्णकण्डूमाह—मारुत इत्यादि । सुगमम् । कर्णगूथमाह—पित्तेत्यादि । सुगमम् । कर्णप्रतिनाहमाह—स इत्यादि । यदा स कर्णगूथो विलायित इति स्नेहस्वेदाभ्यां विलीनीकृतो द्रवतां गतः सन् । घ्राणमुखमिति द्वन्द्वैकवद्भावः, तेन घ्राणं मुखं च प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अन्ये ‘ घ्राणमुखाद् ’ इति पठन्ति, तदा घ्राणमुखात् नासासकाशात्प्रतिपद्यते गच्छतीत्यर्थः । तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो विकारो भवेत् । अयं कफजो विकारः, अथवा—कर्णगूथशोषे मारुतपित्तव्यापारात्तयोऽप्यत्र संबन्धोऽस्ति, तेन सन्निपातजोऽयम् । तथाहि

विदेहः—“ कफाद्वा सारुताद्वाऽपि सह पित्तेन वा पुनः ” इति । क्षिरसोऽर्धभेदकृदिति अर्धविभे-  
दक्षिररोगकृत् ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथ क्रिमिकर्णकस्य लक्षणानि ।

(Worms in the Ear)

क्रिमिकर्णकमाह—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः  
सृजन्त्यपत्यान्यथवापि मक्षिकाः ।  
तद्वञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते  
भिषग्भिराद्यैः क्रिमिकर्णको गदः ॥ ८ ॥

( सु० ७० अ० २० )

म०—यदा तु मूर्च्छन्ति=उच्छ्रिता भवन्ति । जन्तवः=क्रिमयः । क्रिमि-  
च्छेदनं च मांस-शोणित-कोथे सति ज्ञेयम्, तदन्तरेण क्रिमीणामसंभवात् । अप-  
त्यानीति डिम्बकान् । तद्वञ्जनत्वादिति क्रिमिलक्षणत्वात् । श्रवणो निरुच्यते  
इति क्रिमिकर्णको गद इति आश्रयाश्रितयोरभेदोपचाराच्छ्रवणः क्रिमिकर्णको  
गदो भण्यते । श्रवणशब्दः पुल्लिङ्गोऽप्यस्तीत्यस्मादेव निर्देशात् प्रतीयते । अयं  
विकारस्त्रिदोषजो मन्तव्यः । तथाच निमिः,—“श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे  
शोणितमांसजे । मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ॥ भक्षयन्तीव  
ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः । क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम्”—  
इति ॥ ८ ॥

आ०—क्रिमिकर्णकमाह—यदेत्यादि । मूर्च्छन्ति उच्छ्रिता भवन्ति, जन्तवः क्रिमयः, क्रिमिमूर्च्छनं  
च मांसशोणितकोथे सति ज्ञेयं, तदन्तरेण क्रिमीणामसंभवात् । अपत्यानि=डिम्बकान् सूक्ष्मक्रिमी-  
निति यावत् । मक्षिका=मम्मणःख्या नीलवर्णाः । आद्यैर्भिषग्भिर्विदेहादिभिः, तद्वञ्जनत्वा-  
दिति क्रिमिलक्षणत्वात्, आश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् श्रवणः क्रिमिकर्णको गदो भण्यते । श्रवणशब्दः  
पुल्लिङ्गोऽप्यस्तीत्यस्मादेव निर्देशात्प्रतीयते । अयं विकारस्त्रिदोषजो मन्तव्यः । तथा च निमिः—“श्लेष्म-  
पित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे । जायन्ते जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः ॥ भक्षयन्तीव  
ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः । क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात्सन्निपातप्रकोपजम्”—इति ॥ ८ ॥

अथ कर्णप्रविष्टकीटादीनां लक्षणानि ।

कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादिलिङ्गमाह—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कणस्रोतः प्रविश्य हि ।

अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥

कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।

कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० २० )

म०—पतङ्गा इत्यादि । शतपद्य इति कारण्डिकाः । निष्पन्दे इति स्थिरे ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—कर्णप्रविष्टकीटपतङ्गादिलिङ्गमाह—पतङ्गा इत्यादि । शतपद्यः कारण्डिकाः । निस्तुद्यते श्राजनेनेव । अन्यत् सुगमम् ॥ ९ ॥ १० ॥

अथ कर्णविद्रधेर्लक्षणम् ।

(Abscess in the Ear.)

कर्णविद्रधिमाह—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।

सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोद-धूमायन-दाह-चोष-वान् ॥ ११ ॥

( सु० उ० अ० २० )

म०—क्षताभिघातप्रभवस्त्वित्यादि ।—क्षतप्रभवोऽभिघातप्रभवश्च, क्षताभिघातप्रभवयोरगन्तुकत्वादेकत्वम्, एवं वातादिजस्यापि दोषजत्वादेकत्वम् । सरक्त-पीता-ऽरुणमस्रमास्रवेदिति अस्रमास्रावम्, सरक्त-पीता-ऽरुण-वर्णत्वं चास्रावस्य वात-पित्त-कफ-संभवात् ॥ ११ ॥

आ०—कर्णविद्रधिमाह—क्षतेत्यादि क्षतप्रभवश्चाभिघातप्रभवश्च, क्षताभिघातप्रभवयोरगन्तुकत्वा-द्वैक्यम् । एवं वातादिजस्यापि दोषजत्वादेकत्वम् । क्षतविद्रधेर्लक्षणमाह—सेत्यादि । अस्रम्=अस्रावम्, रक्त-पीता-ऽरुण-वर्णत्वं चास्रावस्य वात-पित्त-रक्त-संभवत्वात् । धूमायनं=धूमोद्धमन-मिव वेदनाविशेषः, चोष=आचूष्यत इव वेदनाविशेषः । दोषविद्रधेर्लक्षणं तैरेव ज्ञातव्यम् ॥ ११ ॥

अथ कर्णपाकस्य लक्षणम् ।

(Suppuration of the Ear.)

कर्णपाकलक्षणमाह—

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथ-विक्लेद-कृद् भवेत् ।

कर्णविद्रधिपाकाद् वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥ १२ ॥

( सु० उ० अ० २० )

म०—कर्णपाक इत्यादि । कोथ-विक्लेद-कृदिति कोथः=मृतिभावः, विक्लेद=आर्द्रता । ननु, कर्णगूथलक्षणे पित्तेन शोषणमुक्तम्, तत्कथमार्द्रता ? नैवम्,

एवंविकारजनकर्मसहकारिणा द्रवांशोद्विक्तेन पित्तेनार्द्रता, तत्र त्वेतद्विपरीत-  
त्वेन शोषः ॥ १२ ॥

आ०—कर्णपाकलक्षणमाह—कर्णेत्यादि । काथिवक्लेदक्रीडित कोथः=पूतिभावः, विकलेदः  
आर्द्रता । कर्णविद्रधिपाकात्, अथवा अम्बुपूरणात् कर्णपाको जायते । ननु, कर्णगूयलक्षणे  
पित्तेन शोषणमुक्तं, तत्कथमार्द्रता ? मैवम्, एतद्विकारजनकर्मसहकारिणा द्रवांशोद्विक्तेन पित्तेना-  
र्द्रता तत्र त्वेतद्विपरीतेन शोषः ॥ १२ ॥

अथ पूतिकर्णस्य लक्षणम् ।

( Faetid discharge from the Ear. )

पूतिकर्णलक्षणमाह—

पूयं स्रवति पूति वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः ।

म०—पूयमित्यादि । पूतीति क्रियाविशेषणं, वाशब्दोऽत्र समुच्चये, तेनावेद-  
नत्वं सवेदनत्वं वा घनस्त्रावित्वं च समुच्चीयते । घनस्त्रावनियमाच्च कर्णस्त्रावा-  
दस्य भेदः । तथाचोक्तं सुश्रुते—“स्रोतःस्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने  
भृशसंप्रतापिते । अवेदनो वाऽथ सवेदनो वा घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णः”-  
इति ( सु. उ. त. अ. २० ) पूतिमान् कर्णः=पूतिकर्णः ॥—

आ०—पूतिकर्णलक्षणमाह—पूयमित्यादि । पूतीति क्रियाविशेषणम् । वाशब्दोऽत्र समुच्चये, तेना-  
वेदनत्वं सवेदनत्वं वा घनस्त्रावित्वं च समुच्चीयते । घनस्त्रावनियमाच्च कर्णस्त्रावादस्य भेदः । तथा-  
चोक्तं सुश्रुते—“स्रोतःस्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने भृशसंप्रतापिते । अवेदनो वाऽप्यथवा  
सवेदनो घनं स्रवेत्पूति स पूतिकर्णः”-इति पूतिमान् कर्णः पूतिकर्णकः ॥—

अथ कर्णशोथ-कर्णार्बुद-कणाशसां लक्षणान् ।

( Inflammation of the Ear. )

इदानीं संख्यापूरणार्थं कर्णगतशोथार्बुदार्शसामतिदेशेन लक्षणमाह—

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १३ ॥

म०—कर्णशोथेत्यादि । कर्णशोथाश्चत्वारो वात-पित्त-कफ-रक्त-जत्वेन; एव-  
मर्शश्चतुर्विधम्, सहजसन्निपातजार्शोः सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चात्रासंभूति-  
राधारप्रभावात् । अर्बुदं च सप्तविधं वात-पित्त-कफ-रक्त-मांस-भेदः-सिरा-  
निमित्तभेदात्; सिराजस्य वातजावरुद्धस्यात्र पृथग्गणनं शालाक्यसिद्धान्त-  
संवादादिति कार्तिकः । यथा सुश्रुत एव कर्णरोगानन्तरम् “दोषैस्त्रिभिस्तैः  
पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोथान् । शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि



सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु—” ( सु. उ. त. अ. २२ ) इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथेहापि युज्यते; तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः, एवं सहज-रक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शोऽपृथग्गणनीयम्, अर्बुदं च सन्निपातजं सप्तममिति, एवमेभिः सहाष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति ॥ १३ ॥

आ०—कर्णगतशोफार्बुदार्शसामतीतावेक्षणने लक्षणमाह—कर्णेत्यादि । यद्यपि शोफादयः प्राङ्निर्दिष्टाः, तथाऽपि कर्णरोगसंग्रहार्थं साध्यासाध्यविभागार्थं च पुनर्निर्दिष्टाः कर्णशोफाश्चत्वारः वातपित्तकफरक्तजत्वेनेति । एवमर्शश्चतुर्विधम् । सहजसन्निपातजार्शसोः सन्निपातजागन्तुजशोफयोश्चात्रासंभूतिराधारस्य प्रभावात् । अर्बुदं च सप्तविधम्, वातपित्तकफरक्तमांसमेदः-सिरानिमित्तमेदात् । तिराजन्यस्य वातजावरुद्धस्यात्र पृथग्दर्शनं शालाक्यसिद्धान्तसंवादादिति कार्तिकः । यदाह सुश्रुत एव कर्णरोगानन्तरम्—“ दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शसि तथैव शोफान् । शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं स्यात्—” इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथेहापि युज्यते; तेन रक्तजस्य पित्तलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, आगन्तुजस्य च रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोफः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः, एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शसोऽपृथग्गणनीयम् । अर्बुदं च सन्निपातजं सप्तममिति, एवमेभिः सहाष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति ॥ १३ ॥

अथ चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयस्य लक्षणानि ।

इदानीं चरकोक्तं कर्णरोगचतुष्टयं वात-पित्त-कफ-सन्निपात-जमेदादाह—

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।  
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीत-पूति-स्रवणं च पित्तात् १४॥  
वैश्रुत्य-कण्डु-स्थिरशोथ-शुबल-स्निग्ध-स्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च ।  
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः १५॥

( च० चि० अ० १६ )

नादोऽतिरुगित्यादि । अश्रवणमिति अशब्दश्रुतिः । वैश्रुत्यमिति विरुद्धश्रवणम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

आ०—इदानीं चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयं वातपित्तकफसन्निपातजमेदादाह—नाद इत्यादि । सुगमम् । वैश्रुत्येति वैश्रुत्यं=विरुद्ध श्रवणं, स्रुतिः=स्रावः, स्निग्धा स्यात् ॥ १४ ॥ १५ ॥

अथ परिपोटकस्य लक्षणम् ।

कर्णवयवत्वात् कर्णपाल्यास्तद्विकारानाह—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते ।

कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ।

कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥ १६ ॥

( सु० वि० अ० २५ )

म०—सौकुमार्यादित्यादि । सौकुमार्याद्धेतोश्चिरं वर्धनेन त्यक्ते सहसा च वर्धयितुमारब्धे कर्णे शोथः, परिपोटवान् मनाक् त्वगवदरणवानित्यर्थः ॥ १६ ॥

आ०—कर्णवयवत्वात् कर्णपाल्यास्तद्विकारानाह—सौकुमार्यादित्यादि । सौकुमार्याद्धेतोश्चिरोत्सृष्टे चिरं वर्धनेन परित्यक्ते सहसा च वर्धयितुमारब्धे कर्णे शोफः, परिपोटक इति परिपोटवान्, मनाक् त्वगवदरणवानित्यर्थः । अथ उल्लनाभिप्रायः—कर्णे चिरोत्सृष्टे बहुकालमुपेक्षिते सहसा झटिति प्रवर्धिते सति सौकुमार्यात् पाल्यां शोफः सरुगित्यादिलक्षणयुक्तः स्यात्, स वातात् परिपोटको रोगः स्यात्, चिरोत्सृष्टत्वे सौकुमार्यं हेतुः ॥ १६ ॥

अथोत्पातस्य लक्षणम् ।

उत्पातलक्षणमाह—

गुर्वाभरणसंयोगात् ताडनाद् वर्षणादपि ।

शोथः पाल्यां भवेत् श्यावो दाह-पाक-रुजा-ऽन्वितः १७ ॥

रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ।

( सु० वि० अ० २५ )

म०—गुर्वित्यादि । श्यावत्वं व्याधिप्रभावात्, पित्त-रक्तयोः श्यावत्वाजनकत्वात्, किंवा वातानुबन्धादत्र श्यावत्वम् ॥ १७ ॥

आ०—उत्पातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । श्यावत्वं व्याधेः प्रभावात्, पित्तरक्तयोः जनकत्वाभावात्, किंच वातानुबन्धादत्र श्यावत्वम् ॥ १७ ॥

अथोन्मन्थक-दुःखवर्धनयोर्लक्षणानि ।

उन्मन्थकमाह—

कर्णं बलाद् वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ १८ ॥

कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।

उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ १९ ॥

संवर्धमाने दुर्विद्धे कण्डू-पाक-रुजाऽन्वितः ।

शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥ २० ॥

( सु० चि० अ० २५ )

म०—कर्णमित्यादि । स्तब्धत्वं वातकृतम्, कण्डूः कफात्, इति वात-  
कफलिङ्गम् ॥ १८-२० ॥

आ०—उन्मन्थकमाह—कर्णमित्यादि । कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः कोपं याति, स वायुः  
कुपितः सन् कफं संगृह्य स्तब्धं तथा अवेदनं शोफं कुरुते, स कफवातजः उन्मन्थकाख्यो  
रोगः स्यात् । स किलक्षणः ? सकण्डूकः=कण्डूयुक्तः, स्तब्धत्वं वातकृतम्, कण्डूः कफादिति  
वातकफलिङ्गम् । दुःखवर्धनमाह—संवर्धमानं इत्यादि । कर्णे दुर्विद्धे दैवकृतच्छिद्रमतिक्रम्य  
विद्धे संवर्धमाने सति कण्डूादियुक्तः शोफो भवति, पाकश्चात्र दोषत्रयोत्थः । दुःखवर्धनात्  
दुःखवर्धनको नाम रोगः ॥ १८-२० ॥

अथ परिलेहिनो लक्षणम् ।

परिलेहिनमाह—

कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः ।

कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डू-दाह-रुजाऽन्विताः ॥ २१ ॥

कफासृक्क्रिमिसंभूतः स विसर्पन्निव्रतस्ततः ।

लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥ २२ ॥

( सु० चि० अ० २५ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कर्णरोगनिदानं समाप्तम् ।

म०—कफासृगित्यादि । स विसर्पन्निति स इति पिडकात्मको विकारः;  
“विसर्पान्वितः” इति पाठान्तरे विसर्पेणान्वितः । लिहेदिति निर्मासीं करोति  
आच्छादयेद् वा ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कर्णरोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०—परिलेहिनमाह कफेत्यादि । लिहेदिति निर्मासीं करोति उत्सादयाति वा ‘स विसर्पान्वितः’  
इति पाठान्तरे विसर्पेणान्वितः ॥ २१ ॥ २२ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

कर्णरोगनिदानम् ॥ ५७ ॥

१ इदम् “संवर्धमाने” इति पाठानुसारि व्याख्यानम् । एतदेवातिसंगतं प्रतिभाति, “वृधु”  
व्यातोऽर्वादिवात् ।

अथ नासारोगनिदानम् ।

अथ पीनसरोगस्य लक्षणम् ।

( Ozaena )

इन्द्रियाधिकरणविकाराधिकारान्नासारोगनिदानम् । तत्रादौ पीनसमाह—

आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।  
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुस्तं पीनसाक्रान्तमिह व्यवस्येत्  
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥१॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—आनह्यत इत्यादि । आनह्यत इत्याबध्यते, वातशोषितकफेन । प्रक्लिद्यते आर्दीभवति । धूप्यतीति सन्तापमनुभवति, दिवादेराकृतिगणत्वात् धूप्यतीति रूपम् । गन्धरसानिति गन्धान्=सुरभ्यसुरभीन्, आवद्धत्वेन नासायाः; नासारोगारम्भकदोषेण रसनाया अपि दुष्टे रसान् मधुरादीन् न वेत्ति । तं चानिलश्लेष्मभवमिति वातकफजम् । ननु, अन्यत्र पित्तकफजोऽसदृशल्लिङ्गश्च पठ्यते, तद्यथा—“मस्तुलुङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद् विदह्यते । तदाऽसृक् पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं सवेत् ॥ सकण्डू-दाह-पाकं च तं तु विद्याद्वि पीनसम्”—इति, तत् कथं न विरोधः ? नैवम्, संप्राप्तिविशेषेणास्य तथाभाव इति कार्तिकः । तन्त्रान्तरप्रत्ययात् पित्तसंबन्धो लिङ्गविशेषश्चात्र बोद्धव्य इत्यर्थः । गदाधरस्तु तत्संवादात् “अनिलश्लेष्मभवम्” इति पठित्वा श्लेष्म-पित्तज एव न्याय्य इत्याह । प्रतिश्यायसमानलिङ्गमिति कफवातजप्रतिश्याय-तुल्यलिङ्गम् ॥ १ ॥

आ०—इन्द्रियाधिकरणाधिकारान्नासारोगनिदानारम्भः । तत्रैकत्रिंशन्नासारोगाः, तत्र पीनसमाह—  
आनह्यत इत्यादि । आनह्यते=आबध्यते, विशुष्यते वातशोषितकफेन, प्रक्लिद्यते=आर्दीभवति, धूप्यति सन्तापमनुभवति, गन्धान् सुरभ्यसुरभीन्, आवद्धत्वेन नासायाः; नासारोगारम्भकदोषेण रसनायाश्च दुष्टे रसान् मधुरादीन् वेत्ति । तं चानिलश्लेष्मभवमिति वातकफजं ब्रूयात् । नन्वन्यत्र पित्तश्लेष्मजोऽन्यादृशश्च पठ्यते, तद्यथा— “मस्तुलुङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते । तदाऽसृक् पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं सवेत् ॥ सकण्डूदाहपाकं च तं तु विद्याद्वि पीनसम्”—इति, तत्कथं न विरोधः ? नैवम्, संप्राप्तिविशेषेणास्य तथाभाव इति कार्तिकः । तन्त्रान्तरप्रत्ययात् पित्तसंबन्धो लिङ्गविशेषश्च बोद्धव्य इत्यर्थः । प्रतिश्यायसमानलिङ्गमिति कफवातजप्रतिश्याय-तुल्यलिङ्गम् ॥ १ ॥

अथ पूतिनस्यस्य लक्षणम् ।

पूतिनस्यमाह—

दोषैर्विदग्धैर्गल-तालु-मूले संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।

निरेति पूतिर्मुख-नासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम्॥२॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—दोषैरित्यादि । दोषैरिति पित्त-कफ-रक्तैः, रक्तस्यापि दोषतुल्यरूप-त्वाद्दोषत्वम् । विदग्धैरिति पित्तश्लेष्मणोः सरक्तयोरूष्मणा विरुद्धलवणाम्लरसा-पाकेन पूतिभावमापन्नैः । संमूर्च्छित इति उच्छ्रायं नीतः । निरेतीति समीरणं एव, अन्यस्य कर्तृपदस्याभावात् । तं पूतिनस्यमिति नासिकाभवो नस्यः, पूतिर्नस्यो वायुर्यत्र तं पूतिनस्यम् । इहैव विदेहः—“कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाऽक्षिशङ्खजाम् ॥ ततः प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूतिपीतकम् । पूतिनस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वर-प्रदम्”—इति ॥ २ ॥

आ०—पूतिनस्यमाह—दोषैरित्यादि । दोषैः—पित्तकफरक्तैः, रक्तस्यापि तुल्यदोषत्वाद्दोषत्वम् अतो बहुवचनम् । विदग्धैरिति पित्तश्लेष्मणोः सरक्तयोरूष्मणा विरुद्धलवणाम्लरसापाकेन पूतिभाव-मापन्नैः । संमूर्च्छित=उच्छ्रायं नीतः, निरेति=निर्गच्छति, समीरण एव तं पूतिनस्यमिति नासिका-भवो नस्यः, पूतिर्नस्यो वायुर्यत्र । तथा च विदेहः—“कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाऽक्षिशङ्खजाम् ॥ तेन प्रस्यन्दते घ्राणात्सरक्तं पूतिपीतकम् । पूति-नस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम्”—इति ॥ २ ॥

अथ नासापाकस्य लक्षणम् ।

( Pustule in the Nose. )

नासापाकमाह—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूषि कुर्याद् यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।  
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद् विक्लेद-कोथावथवाऽपि यत्र॥३॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—घ्राणाश्रितमित्यादि । अरूषीति घ्राणम् । यस्मिन् विकार इति यस्यां विकृतौ सत्याम् । व्यवस्येत्=जानीयात् । विक्लेदः=आर्द्रता, कोथः=पूति-भावः ॥ ३ ॥

आ०—नासापाकमाह—घ्राणाश्रितमित्यादि । अरूषि=घ्राणम्, यत्रेति यस्मिन्विकारे, दृष्टौ=दर्शने षतौ ॥ ३ ॥

अथ पूयरक्तस्य लक्षणम् ।

दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह—

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशोऽभिहतस्य तैस्तैः ।

नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—दोषैरित्यादि । विदग्धैरिति पित्तरक्ताधिकत्वात् विरुद्धां परिणतिं प्राप्तेः, ललाटाभिघातेन वा पाकं प्राप्तेः । तैस्तैरिति प्रहारपीडनादिभिः ॥ ४ ॥

आ०—दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह—दोषैरित्यादि । विदग्धैरिति पित्तरक्ताधिकत्वाद्विरुद्धां गतिं प्राप्तेः ललाटाभिघातेन वा पाकं प्राप्तेः, तैस्तैरिति प्रहारपीडनादिभिः ॥ ४ ॥

अथ क्षवथुरोगस्य लक्षणम् ।

( Sneezing )

क्षवथुर्दोषागन्तुभेदाद् द्विविधो भवति; तत्र दोषजं प्रागाह—

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिलो नाभिकया निरेति ।

कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—घ्राणाश्रित इत्यादि । मर्मणीति शृङ्गाटके, 'नस्तकयोः' इति पाठान्तरे नासापुटयोः, 'तदाश्रितः सन्' इति शेषः ॥ ५ ॥

आ०—क्षवथुर्दोषागन्तुभेदाद् द्विविधो भवति, तत्र दोषजमाह—घ्राणाश्रित इत्यादि । मर्मणि=शृङ्गाटकाख्ये । 'नस्तकयोः' इति पाठान्तरे नासापुटयोः, तदाश्रितः सन्निति शेषः ॥ ५ ॥

अथागन्तुजक्षवथोर्लक्षणम् ।

आगन्तुजमाह—

तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रतो वा भावान् कटून्कनिरीक्षणाद् वा ।

सूत्रादिभिर्वा तुरुणास्थिमर्मण्युद्धाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—तीक्ष्णोपयोगादित्यादि । तीक्ष्णोपयोगाद्=सजिकादितीक्ष्णद्रव्य-अक्षणात् । भावान् कटूनि कटूनि द्रव्याणि । अभिजिघ्रतो=भृशं जिघ्रतः ।

अर्कनिरिक्षणाद् वा कफविलयनकरत्वात् । तरुणास्थिमर्मणीति तरुणास्थि=नासावंशास्थि, तदेव मर्म तस्मिन् फणामर्मणीत्यर्थः, अभिघातादिना मर्मव्यथाजनकत्वात्; अथवा तरुणास्थि च मर्मणि च शृङ्गाटके, द्वन्द्वैकवद्भावनिर्देशात् । उद्धाटिते=चालिते । अन्य=आगन्तुजः ॥ ६ ॥

आ०—आगन्तुजमाह—तीक्ष्णेत्यादि । तीक्ष्णोपयोगात्=राजिकादिभक्षणात्, भावान् कद्वनिति कटुद्रव्याणि, अतिजिघ्रतो=भृशं जिघ्रतः, अर्कनिरिक्षणाद्वा कफविलयनकरत्वाद्, अथवा सूत्रादीभिः, तरुणास्थिमर्मणीति तरुणास्थि=नासावंशास्थि, तदेव मर्म, अभिघातादिना मर्मवद्वयथाजनकत्वात् उद्धाटितेऽर्धचालिते, अन्यः आगन्तुजः, दोषजागन्तुरेक एव गणनीयः ॥ ६ ॥

अथ भ्रंशथुरोगस्य लक्षणम् ।

भ्रंशथुमाह—

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।  
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्त भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—प्रभ्रश्यत इत्यादि । प्रभ्रश्यते=गलति । विदग्धो लवण इति स्वरूपाख्यानम्, विदग्धत्वादेव कफस्य लवणत्वसिद्धेः । प्राक्संचित इत्यनेन संचयपूर्वकं कोपं दर्शयति, हेतुभूयस्त्वेन चयमन्तरेणापि कोपदर्शनात् । यदुक्तम्—“न केवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम् । अन्यतोऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतो बलात्”—इति ॥ ७ ॥

आ०—भ्रंशथुमाह—प्रभ्रश्यत इत्यादि विदग्धो लवण इति स्वरूपाख्यानं, विदग्धत्वादेव कफस्य लवणत्वसिद्धेः, ‘पित्ततप्त’ इति सुश्रुतपाठः ॥ ७ ॥

अथ दीप्ताख्यनासारोगस्य लक्षणम् ।

दीप्तमाह—

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः ।  
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ८

( सु० उ० अ० २२ )

म०—घ्राणे भृशमित्यादि । प्रदीप्तेवेति प्रज्वलितेव ॥ ८ ॥

आ०—दीप्तमाह—घ्राण इत्यादि । प्रदीप्तेवेति प्रज्वलितेव, विदेहेऽस्य लक्षणम्—“धूमायते यदा नासा चलत्कृष्यति दीप्यते । निश्चरेत्तम उच्छ्वास तं व्याधिं दीप्तमादिशेत्”—इति ॥ ८ ॥



अथ प्रतीनाहस्य लक्षणम् ।

प्रतीनाहमाह—

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

( सु० उ० अ० २२ )

म०—उच्छ्वासमार्गमित्यादि ॥

आ०—प्रतीनाहमाह—उच्छ्वासमार्गमित्यादि ॥—

अथ नासास्त्रावस्य लक्षणम् ।

नासास्त्रावमाह—

घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम् ॥९॥

( सु० उ० अ० २२ )

म०—घ्राणादित्यादि । दोष इति कफः ॥ ९ ॥

आ०—नासास्त्रावमाह—दोष इति कफः । अस्य लक्षणं विदेहे—“स्रोतःशृङ्गाटके श्लेष्मा चितः  
हृदिदित ऊष्मणा ॥ विशेषात्स्यन्दते रात्रौ नासास्त्रावं तु तद्विदुः”—इति ॥ ९ ॥

अथ नासाशोषस्य लक्षणम् ।

( Dryness of Nose. )

नासाशोषमाह—

घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।

कृच्छ्रात् श्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः

( सु० उ० अ० २२ )

म०—घ्राणाश्रिते स्रोतसीत्यादि । अत्र च वायुकृतस्रोतःशोषणेन तद्गत-  
श्लेष्मशोषो बोद्धव्यः, प्रतप्त इत्यनेन पित्तमपि गम्यते, प्रतपनस्य पित्तमन्तरे-  
णासंभवात् । तथाच काश्चित् पठति,—“घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन  
गाढं परिशोषिते च”—इति । प्रतप्त इत्यस्य स्थाने “प्रदीप्ते” इति पाठान्तरे  
स एवार्थः । कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च यस्मिन्निति कष्टेनोच्छ्वासनिःश्वासौ करोति  
यत्रेत्यर्थः ॥ १० ॥

आ०—नासाशोषमाह—घ्राणेत्यादि । नासाशोषस्तु वायुकृतस्रोतः शोषणेन तद्गतश्लेष्मशोषो  
ज्ञेयः । प्रतप्त इत्यनेन च पित्तमपि गम्यते, प्रतपनस्य पित्तमन्तरेणासंभवात् प्रतप्त इत्यस्य स्थाने  
‘प्रदीप्ते’ इति पाठान्तरे स एवार्थः । कृच्छ्राच्छ्वसितौ कष्टेनोच्छ्वासिति श्वासं करोति, यत्रेत्यर्थः । वैदे-  
हेऽस्य लक्षणम्—“वातपित्तौ यदा घ्राणकफरक्तं विशेषयेत् । तदा स्यादुच्छ्वसेन्नासा तस्य शुष्कं  
विधीयते ॥ भृशशुष्कावचूर्णेन नासाशोषं तु तं विदुः”—इति ॥ १० ॥

अधाम-पक्क-पीनसयोर्लक्षणम् ।

चिकित्साभेदार्थं पीनसस्याम-पक्क-लक्षणमाह—

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्त्रावस्तनुः स्वरः ।

क्षामः ऋवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥

आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।

स्वर-वर्ण-विशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

म०—शिरोगुरुत्वमित्यादि । तनुरधनः । स्वरः क्षाम इति अविस्पष्टं वचनम् । ऋवत्यथाभीक्ष्णमिति मुहुर्मुहुर्नासिकया श्लेष्माणं निरस्यतीत्यर्थः । आम-रसान्वितेन दोषेण शिरोगुरुत्वादयः । ‘आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति’ इत्यादि पक्कलक्षणम् । आमलिङ्गैः=शिरोगुरुत्वादिभिरन्वितः श्लेष्मा निमज्जति=लीनो भवति । अयमर्थः—श्लेष्मा तावल्लीनो भवति, आमलिङ्गान्यपि लीनानि भवन्ति, तथाच “तनुत्वमामलिङ्गानाम्” इति सुश्रुतः । “न सज्जति इति पाठान्तरे न सक्तो भवति, न तिष्ठतीति यावत् । तदामलिङ्गान्वितः स्तोकेनामलिङ्गेनान्वितः । घनः=स्त्यानः । खेषु=नासारन्ध्रेषु, स्थितः” इति शेषः; व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनम् । स्वरविशुद्धिः=स्वरभेदाभावः, वर्णविशुद्धिः=प्रकृतिसवर्णता ॥ ११ ॥ १२ ॥

आ०—चिकित्साभेदार्थं पीनसस्यामपक्कलक्षणं कथयन्नाह—शिर इत्यादि । तनुः=अधनः, स्वरः क्षामः=अविस्पष्टवचनः, ऋवेत्तथाभीक्ष्णमिति मुहुर्मुहुर्नासया श्लेष्माणं निरस्यतीत्यर्थः । पक्कलक्षणमाह—आमेत्यादि । आमलिङ्गैः शिरोगुरुत्वादिभिरन्वितः श्लेष्मा, निमज्जति लीनो भवतीति, अयमर्थः—श्लेष्मा विलीनो भवति, आमलिङ्गान्यपि, तथाच—“तनुत्वं चामलिङ्गानाम्” इति सुश्रुते । ‘न सज्जति’ इति पाठान्तरे न सक्तो भवति, न तिष्ठतीति यावत् । स्वरविशुद्धिः स्वरभेदाभावः, वर्णविशुद्धिः प्रकृतिवर्णता ॥ ११ ॥ १२ ॥

अथ प्रतिश्यायरोगस्य संप्राप्तिः ।

(Coryza, Catarrh or Cold in the Nose.)

प्रतिश्यायः पञ्चविधो भवति, वात-पित्त-कफ-सन्निपात-रक्तज-भेदात्; तस्य निदानं द्विविधम्, एकं सद्योजनकं तच्च बलत्वेन चयं नापेक्षत एव; अपरं चयादिक्रमेण जनकं, चयादिक्रमोत्पन्नश्च दोषो गरीयान् सकलशरीरसंभावनयः बद्धमूलत्वात् । तत्र सद्योजनकनिदानपूर्विकां तस्य संप्राप्तिमाह—

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधतुवैषम्यशिरोभितापैः ।

प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुन-बाष्प-धूमैः ।

१ “ऋवेत्तथाभीक्ष्णम्” इति पाठान्तरमनुसृत्यायमित्यर्थं व्याख्याति ।

संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयत् ॥१३॥  
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्  
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥

( च० चि० अ० २६ )

म०—संधारणेत्यादि ।—संधारणं=पुरीषादिवेगधारणम्, रजो=धूलिः,  
शिरोऽभितापः=शिरोऽभितप्यते येन स शिरोऽभितापो धूमादिः, रजो  
धूमादयश्च नासाप्रविष्टाः सन्तो हेतवः । अतिस्वपनं=दिवास्वपनमित्यर्थः ।  
अवश्यया=नुषारेण । संस्त्यानदोषे शिरसीति वनीभूतश्लेष्मणि शिरसि ।  
सुश्रुतेनापि सद्योजनकं निदानं पठितम्, तद्यथा,—“नारीप्रसङ्गः शिरसोऽ  
भितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः । संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः  
प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ” ( सु. उ. त. अ. २४ )—इति । चयादिक्रमेण  
जनकमपि दोषं दर्शयन्नाह—चयं गता इत्यादि । चयं गता इति  
सामर्थ्यात् स्वे स्वे स्थाने, “स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चय इत्यभिधीयते”—इति  
वचनात् । तथैव शोणितमिति चयं गतम् । ननु, यदि स्वस्थानस्थिता दोषाः  
तत् कथं मूर्ध्नि प्रतिश्यायसंभवः ? इत्याह—प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रको-  
पणैरिति ।—विविधैरिति बलवद्विग्रहदिवास्वप्नादिभिः । प्रकोपविशेषश्च  
प्रसरः । यदुक्तम्,—“प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोदितानां  
प्रसरो भवति” ( सु. सू. स्था. अ. २१ )—इति । अत एव, “चय-प्रकोप-  
प्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्”—इत्यत्र प्रकोपमात्रमुपात्तम् । एतेन प्रसरेण  
शिरःसंप्राप्ता दोषाः प्रतिश्यायकराः । अन्ये तु चयं गता मूर्धनीति यथा-  
स्थितमेव योजयन्ति, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यपि संभवात्, त्वक्कसिरा-  
श्रितत्वात् पित्तासृजोः कफस्य च निसर्गतः शिरोवस्थितेः शिरसि चय इति ।  
तत इति प्रकोपविशेषात् प्रसरादनन्तरम् । प्रतिश्याय इति वातं प्रति=  
अभिमुखम्, श्यायो=गमनं कफादीनां यत्र स प्रतिश्यायः । “श्यैङ् गतौ”  
इत्यस्य प्रयोगः । तथाच चरकः,—“घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव  
वा । मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति” ( च. चि. स्था. अ. ८ )  
इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

आ०—एवं नासारोगा दश श्रीकण्ठोक्ताः कथिताः । प्रतिश्यायः पञ्चविधो भवति, वातपित्त-  
कफसन्निपातरकजभेदात्, तस्य संप्राप्तिमाह—संधारणेत्यादि । निदानं द्विविधम्—एकं सद्योजनकम्,  
अपरं चयादिक्रमजातम्, तत्रेदं सद्योजननिदानम् । संधारणं पुरीषादिवेगविधारणं, रजो धूलिः, शिरोऽभि-  
तापः शिरोऽभितप्यते येन स शिरोऽभितापः धूमादिः, रजो धूमादयश्च नासाप्रविष्टाः प्रतिश्यायहेतवः,

आतिस्वप्नं दिवास्वप्नमित्यर्थः । अवश्यया तुपारेण । संस्थानदोषे शिरसीति संहतकके शिरसि ।  
 मुश्रुतेनापि सञ्चोजनकं पठितम् । तद्यथा—“ नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमोरजः शीतभातिप्रतापः ।  
 संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यःप्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ” इति । चयादिक्रमजस्य निदानमाह—चयमि-  
 त्यादि । चयं गता इति स्वे स्वे स्थाने संचयं प्राप्ताः “ स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चयः ”—इति वचनात् ।  
 मारुतादय इति वातपित्तश्लेष्माणः एते तथैव शोणितमपि चयं गतं ततो मूर्ध्नि प्रतिश्याय-  
 करं भवतीति योज्यम् । ननु, यदि स्वे स्वे स्थाने स्थिता दोषास्तत्कथं मूर्ध्नि प्रतिश्यायसंभवः  
 इत्याह—प्रकोप्यमाणा विविधैः प्रकोपैरिति, बलवद्विग्रहादिक्रीधादिदिवास्वप्नादिभिश्च कोपनैः  
 प्रकोप्यमाणाः; प्रकोपविशेषश्च प्रसरः । यदुक्तम्—“ कुपितानां दोषाणां क्रिण्वोदकपिष्टसमवाय  
 इवोद्गतानां प्रसरो भवति ”—इति । अत एवाह—“ चयप्रकोपोपशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ”—  
 इति । अत एव प्रकोपमात्रमुपात्तम् । एवं च प्रसरणस्थानसंश्रयेण शिरःसंप्राप्ता दोषाः प्रतिश्यायकराः ।  
 अन्ये तु चयं गतो मूर्ध्नीति यथावस्थितमेव मन्यन्ते, उदानवायोरुर्ध्वगतिवत्, शिरस्यपि  
 वातसमुद्भवत्वात् । त्वकृशिरामृतत्वात्पित्तासृजोः कफस्य च निसर्गतः शिरोऽवस्थिते शिरसि  
 चय इति । अथवा—सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सरक्ताः, सर्वत्रैतत्कार्यदर्शनात् ।  
 तत इति प्रकोपविशोपात् प्रसरादनन्तरम् । प्रतिश्याय इति वातं प्रति अभिमुखं श्यायो गमनं कफा-  
 दीनां यत्र स प्रतिश्यायः । ‘ श्येङ् गतौ ’ इत्यस्य प्रयोगः । तथा चरकः—“ घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा  
 रुधिरं पित्तमेव च । मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति ॥ प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देह-  
 कर्षणः ”—इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

अथ प्रतिश्यायस्य पूर्वरूपाणि ।

तस्य पूर्वरूपमाह—

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता ।

उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः १५  
 ( सु० नि० अ २४ )

म०—क्षवप्रवृत्तिरित्यादि । उपद्रवाश्चाप्यपरे इति उपद्रवास्तत्कालभाविनो  
 रोगाः, न तु पारिभाषिकाः पश्चात्कालभाविनः; ते च घ्राणधूमायनमन्यादयः ।  
 यदाह विदेहः,—“ पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति । घ्राणधूमायनं  
 मन्यः क्षवथुस्तालुदारणम् ॥ कण्ठध्वंसो मुखस्त्रावः शिरसः पूरणं तथा ”—इति ।  
 पुरःसरा इति पूर्वरूपाणि ॥ १५ ॥

आ०—तस्य पूर्वरूपमाह—क्षवत्यादि । उपद्रवाः=तत्कालभाविनो रोगाः । अपरे इति  
 घ्राणधूमायनमन्यादयः । यदुक्तं विदेहे—“ पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति । घ्राणधूमा-  
 यनं मन्यः क्षवथुस्तालुदारणम् । कण्ठध्वंसो मुखस्त्रावः शिरसः पूरणं तथा ” इति । पुरःसरा इति  
 पूर्वरूपाणि ॥ १५ ॥

अथ वातजादिप्रतिश्यायानां लक्षणानि ।

वातादिप्रतिश्यायालिङ्गान्याह—

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्त्रावप्रसेकिनी ।

गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥

क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्रवैरस्यमेव च ।

भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १७ ॥

उष्णः सपीतकः स्नावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।

कृशोऽतिपाण्डुः संतप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः ॥ १८ ॥

सधूममग्निं सहसा वमतीव स मानवः ।

घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद् बहुः ।

शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः ॥ १९ ॥

कण्ठ-ताल्वोष्ठ-शिरसां कण्डूभिरभिपीडितः ।

( सु० नि० अ० २४ )

म०--आनद्धेत्यादि । आनद्धा=विवद्धा । पिहिता=सपिधानेन । निस्तोदः=सूचिव्यधनवद् व्यथा । शङ्खयोरिति भ्रूपुच्छान्तयोः । सपीतक इति ईषत्पीतः । पित्तप्रतिश्यायवान् मानवः कृशो भवति । अतिपाण्डुर्धूसरः । उष्णाभिपीडित इति उष्णगुणेनाभिपीडित इत्यर्थः ॥ १६-१९ ॥-

आ०-तेषु वातिकमाह-आनद्धेत्यादि । आनद्धा=विवद्धा, आधमानापूरितेवेति यावत् । पिहिता सपिधानेन, तथा गलताल्वोष्ठशोषादयो भवन्ति, निस्तोदः सूचिव्यधनवद्व्यथा-शङ्खयोरिति भ्रूपुच्छान्तयोः । पैत्तिकमाह-सपीतक इत्यादि । ईषत्पीतकः । पित्तप्रतिश्यायवान् मानवः कृशो भवति । अतिपाण्डुर्धूसरः, उष्णाभिपीडित इति उष्णगुणेनाभिपीडितः । श्लैष्मिकमाह-सधूममित्यादि । शुक्लावभासः=धेतवपुः, शूनाक्षः=उच्छूननयनः ॥ १६-१९ ॥-

अथ सान्निपातिकप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ।

सान्निपातजमाह---

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते ॥ २० ॥

संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ।

( सु० नि० अ० २४ )

म०-भूत्वेत्यादि । भूत्वा भूत्वा इति वीप्सया पुनः पुनः संभवं दर्शयति । अन्यतमदोषस्य कालादिनाऽनवधारितेन बलहानेर्निवृत्तिः, अकस्मात् प्रवृत्तिरपि असम्यङ्निवृत्तदाषस्य कालादिना बललाभात् । अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि, तथाऽपि सर्वप्रभवत्वात् प्रत्येतव्यानि । असाध्यश्चायं

दुष्टतां गतः सन्, “नृणां दुष्टप्रतिशयायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः”—इति विदेहवचनात् ॥ २० ॥—

आ०—सन्निपातिकमाह—मृत्वेत्यादि । वीक्षया पुनः पुनः संभवं दर्शयति । अन्यतमदोषस्व कालादिनाऽनवधारितेन बलहानेर्निवृत्तिः, अकस्मात् प्रवृत्तिरपि, असम्यङ्निवृत्तदोषस्य कालादिना बललाभात् । अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि तथाऽपि सर्वप्रभवत्वात् प्रत्येतव्यानि । केचित् “सर्वप्रभवः स्मृतः” इत्यस्याग्रेऽधिकं पादद्वयं पठन्ति, तच्च—“लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे” इति सर्वजे प्रतिशयाये सर्वेषां वातादीनां पीनसानां लिङ्गानि भवन्तीति योज्यम् । असाध्यश्चायं दुष्टतां गतः सन्—“नृणां दुष्टप्रतिशयायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः” इति विदेहवचनात् ॥ २० ॥—

अथ दुष्टप्रतिशयायस्य लक्षणानि ।

एकदोषस्यापि दुरुपचाराद् दोषद्वयानुबन्धेन दुष्टतां गतस्य दोषत्रयसंबन्ध-  
साम्येन सन्निपातजानन्तरं लिङ्गमाह—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥ २१ ॥

पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा ।

निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ॥ २२ ॥

एवं दुष्टप्रतिशयायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् ।

( सु० नि० अ० २४ )

म०—प्रक्लिद्यते पुनर्नासेत्यादि । आनह्यत इति विदह्यते । विव्रियत इति विगतावरणा भवतीत्यर्थः । क्लेद-शोष-पिधान-विवरणानि नैककालं भिन्न-दोषजानि बोद्धव्यानि, तेन विरोधो नोद्भावनीयः । एवमिति इत्थम्भूत-लिङ्गं दुष्टप्रतिशयायं परस्परविरुद्धोपक्रमदोषसंबन्धात् कृच्छ्रसाध्यं जानीयात् । अयं च पञ्चानामेवावस्थान्तरतया अनन्यत्वान्न षष्ठः । ननु, अवस्थान्तर-त्वेऽपि अभिष्यन्दादधिगन्थ इव भिन्नो भविष्यति ? भैवम्, तद्वद्वातादिज-त्वेनानिर्देशात् ॥ २१ ॥ २२ ॥—

आ०—एकदोषस्यापि दुरुपचाराद् दोषद्वयानुबन्धेन दुष्टिं गतस्य दोषत्रयसंबन्धसाम्येन सन्निपात-  
जानन्तरं दुष्टप्रतिशयायलिङ्गमाह—प्रक्लिद्यत इत्यादि । आनह्यत इति विवह्यते, विव्रियत इति विगतावरणा भवति, क्लेदशोषपिधानविवरणानि नैककालं भिन्नदोषजानि बोद्धव्यानि, तेन विरोधो नोद्भावनीयः । इत्थम्भूतलिङ्गं दुष्टप्रतिशयायं परस्परविरुद्धोपक्रमदोषसंबन्धात् कृच्छ्रसाध्यं जानीयात् । अयं च पञ्चानामेवावस्थान्तरतयाऽनन्यत्वान्न षष्ठो गणनीयः । नन्ववस्थान्तरत्वेऽपि अभि-  
ष्यन्दादधिगन्थ इव भिन्नो भविष्यतीति ? नैवं, तद्वद्वातादिजत्वेनानिर्देशात् ॥ २१ ॥ २२ ॥—

अथ रक्तजप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ।

रक्तजलिङ्गमाह—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरोघातप्रपीडितः ।

दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥ २४ ॥

( सु० उ० अ० २४ )

म०—रक्तज इत्यादि । उरोघातप्रपीडित इति उरोघातस्तन्त्रान्तरपठितलक्षणः, तेन प्रकर्षेण पीडितः । तद्यथा—“उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्ण-  
कफो रसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः”—इति । अत्र पित्तप्रति-  
श्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात् पित्तरक्तयोः । तथा च क्वचित् पठ्यते—  
“पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः”—इति ॥ २३ ॥ २४ ॥

आ०—रक्तजप्रतिश्यायलिङ्गमाह—रक्तज इत्यादि । उरोघातः तन्त्रान्तरपठितलक्षणः, तेन प्रकर्षेण  
पीडितः, तद्यथा—“उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफो रसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपी-  
नसः”—इति । अत्र पित्तप्रतिश्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात्पित्तरक्तयोः । तथा च क्वचि-  
त्पठ्यते—“पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः”—इति ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथासाध्यप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ।

अप्रतिक्रियया कालान्तरेण सर्व एव दुष्टप्रतिश्यायो भवति, स चा-  
साध्य इत्याह—

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।

दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २५ ॥

मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।

क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥ २६ ॥

( सु० उ० अ० २४ )

म०—सर्व एवेत्यादि । मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमय इति अत्रेति एषु, बहुव-  
चनान्तात्रलूपत्ययविधिः । अन्ये तु प्रत्यासन्नत्वात् रक्तज एव क्रिमिमूर्च्छनं  
वदन्ति । श्वेता इति कफाधिकत्वात् प्रतिश्यायस्य सर्वत्र कफजा एव श्वेतक्रि-  
मयो भवन्ति । “क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम्” इति क्रिमि-



जशिरोरोगेणह तुल्यं लिङ्गम्, तच्च-“निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्”-इत्यादिना वक्ष्यमाणम् ॥ २५ ॥ २६ ॥

आ०-सर्व एव प्रतिश्याया अप्रतिक्रियमाणाः कालान्तरेण दुष्टतां यान्ति, ते चासाध्या भवन्तीत्यत आह-“सर्व इत्यादि । अत्र एषु प्रतिश्यायेषु, बहुवचनान्ताद्बल । अन्ये तु प्रत्यासन्नत्वात् रक्तज एव किमिच्छन् वदन्ति । श्वेत इति कफाधिकत्वात् । प्रतिश्याये सर्वत्र कफजा एव श्वेताः कृमयो भवन्ति । किमिजो य इत्यादि । किमिजशिरोरोगेण तुल्यं लिङ्गमित्यर्थः । तल्लक्षणम्-“निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्” इत्यादि शिरोरोगनिदाने वक्ष्यमाणम् ॥ २५ ॥ २६ ॥

अथ प्रवृद्धप्रतिश्यायानां विकारान्तरकर्तृत्वम् ।

अतःपरमपरान् विकारान् प्रवृद्धाः प्रतिश्यायाः कुर्वन्ति तानाह--

बाधिर्यमान्ध्यमग्रत्वं घोरान्श्च नयनामयान् ।

शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ २७ ॥

( सु० उ० अ० २४ )

म०-बाधिर्यमित्यादि । घोरान् नयनामयानित्यभिधानादेवान्ध्ये लब्धे विशेषेण तत्करत्वप्रतिपादनार्थमान्ध्यग्रहणम् । अग्रत्वमिति न जिघ्रतीत्यग्र-स्तस्य भावोऽग्रत्वम् । “घ्रा” गन्धोपादाने, इत्यस्मात् “सुपि स्थः” इत्यत्र योगविभागात् कप्रत्ययः ॥ २७ ॥

आ०-अतः परमपरान् यान् विकारान् प्रवृद्धाः प्रतिश्यायाः कुर्वन्ति तानाह-बाधिर्यमित्यादि । वोरनयनामयाभिधानादेवान्ध्ये लब्धे विशेषेण तत्करत्वप्रतिपादनार्थमान्ध्यग्रहणम् । अग्रत्वमिति न जिघ्रतीत्यग्रः, तस्य भावोऽग्रत्वम् । “घ्रा-गन्धोपादाने” इत्यस्मात् “सुपि स्थः” इत्यत्र “सुपि” इति योगविभागात्कप्रत्ययः ॥ २७ ॥

अथान्येऽपि नासारोगाः ।

सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ताः, अत्रापि पीनसमारभ्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ताः, शेषसंख्यापूरणाय अपरान् षोडशनासारोगानाह--

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् ।

चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥ २८ ॥

( सु० उ० अ० २४ )

इति श्रीसाधवकरविरचिते साधवनिदाने नासारोगनिदाने समाप्तम् ॥

म०-अर्बुदं सप्तधेत्यादि । एकैकदोष-रक्त-मांस-मेदः-संभवत्वेन षडर्बुदानि, शालाक्यसिद्धान्तेन सन्निपातजमधिकम्, एवं सप्त । तथाच विदेहः,-

“सर्वलिङ्गं रुजाद्युक्तमर्बुदं विद्धि सर्वजम्”-इति । शोथाश्चत्वारो वात-पित्त-कफ-सन्निपातज-भेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, तच्च रक्तपित्तं चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीयं, तेन न संख्यातिरेकः । अर्बुदादीनां तत्र तत्रोक्तानामत्राभिधानं शालाक्योक्तसंख्यापूरणार्थमाश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च ॥ २८ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥

आ०--सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ताः । तत्र पीनसमारम्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ताः, अपरान् षोडश संख्यापूरणाय नासारोगानाह-अर्बुदमित्यादि । वात-पित्त-कफ-शोणित-मांस-भेदो-जत्वेन षड्विधमर्बुदं, शालाक्यसिद्धान्तेन विदेहेन सन्निपातजमधिकमुक्तम्, एवं सप्त । शोथाश्चत्वारो वातपित्तकफसन्निपातभेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, सहजरक्तजयोरर्शसोर्दोषजेऽन्तर्भावः । रक्तपित्तं चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीयं, तेन न संख्यातिरेकः । अर्बुदादीनामुक्तानामप्यत्राभिधानं शालाक्योक्तसंख्यापूरणाय, आश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च । त्राणार्शोर्बुदयोर्ग्रन्थान्तरे भेद उक्तः, तद्यथा-“शिरो-ललाट-तालूनां गौरवं दुःखनिद्रता । अर्शसामर्बुदानां च दोषैः शेषाकृतिः समा ॥ अर्शसि गोस्तनाकाराण्यर्बुदं कोलसंमितम्”-इति ॥ २८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां नासारोगनिदानम् ॥

## अथ नेत्ररोगाणां निदानम् ।

( Diseases of Eye )

अथ नेत्ररोगस्य हेतवः ।

इन्द्रियाधिष्ठानगतविकारपारिशेष्यान्नेत्ररोगाभिधानम् । एते च नयनरोगा वात-पित्त-कफ-रक्त-सन्निपाता-ऽऽगन्तुजाः सन्तः षट्सप्ततिः । यदाह सुश्रुतः,- “तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कफेनाप्यधिकास्त्रयः । रक्तजाः षोडश प्रोक्ताः सर्वजाः पञ्चविंशतिः । बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः” ( सु. उ. त. अ. १ ) इति । षट्सप्ततिश्चैते रोगा आश्रयभेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह,- “नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः संग्रहेण प्रकीर्तिताः” ( सु. उ. त. अ. १ ) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्,- “विद्याद् व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् । व्यङ्गुलं सर्वतः साधु भिषङ्नयनबुद्धि-दम्” ( सु. उ. तं अ. १ )-इति । व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अन्तः स्वाङ्गु-

ष्टोदरसंमितम्, द्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्यङ्गुलबाहुल्यामिति यदुक्तं तत्र द्यङ्गुलमाननियमं स्वाङ्गुष्टोदरसंमितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः,—स्वेनाङ्गुष्टोदरेण संमितं द्यङ्गुलबहुलम्, द्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चआयामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि “द्यङ्गुलायतं च नयनम्” ( सु. सू. स्था. अ. ३५ )—इत्यातुरोपक्रमणीयोक्तं विरुध्यते ? नैवम्, वर्त्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्यङ्गुलायतमिति न विरोधः । नयनरोगहेतुमाह—

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।  
स्वेदाद् रजो-धूम-निषेवणाच्च छर्देर्विघाताद् वमनातियोगात् ॥ १ ॥  
द्रवात् तथाऽन्नाग्निशि सेविताच्च विड-मूत्र-वात-क्रम-निग्रहाच्च ।  
प्रसक्त-संरोदन-कोप-शोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥  
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।  
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः ॥ ३ ॥

( सु० उ० अ० १ )

म०—उष्णाभितप्तस्येत्यादि । उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्,—शीतावृतदेहस्योर्ध्वगतेनोष्मणा नयनतेजसोऽभिभवाच्चक्षुरोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चोति घर्भ-रजो-धूमनानां नयनसंबन्धानां हेतुत्वम् । छर्देर्विघातात्=वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्तेः । विण्-मूत्र-वात-क्रम-निग्रहात्=विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहात् वेगविधारणात् । प्रसक्त-संरोदन-शोक-कोपादिति प्रसक्तं=निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण=एकर्तुचर्याया अन्यतौ करणेन । क्लेशाभिघातात्=क्लेशः=कायादिदुःखम् तेनाभिसंबन्धात् । बाष्पनिग्रहात्=अश्रुवेगधारणात् । यदुक्तम्—“आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन” इति । नयनरोगसंप्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते,—“सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः” ( सु. उ. त. अ. १ ) इति ॥ १—३ ॥

आ०—इन्द्रियाधिष्ठानगतविकारपारिशेष्यान्नेत्ररोगनिदानम् । एतं च नयनरोगा वातपित्तप्रसक्तसीन्नापातागन्तुजाः पदसप्तातिः । यदाह सुश्रुतः—“ तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कफे-

नाप्यधिकाल्पयः । रक्तजाः षोडश श्रेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः ॥ बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः पद-  
सप्ततिः स्मृता ”-इति । पदसप्ततिश्च रोगा आश्रयभेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह-“ नव संख्या-  
श्रयास्ते स्युर्वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश  
दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ पदसप्ततिर्नेत्ररोगाः संग्रहेण प्रकी-  
र्तिताः ”-इति । तत्र नयनरोगहेतुमाह-उष्णाभितप्तस्थेत्यादि । उष्णेनातपादिना संतप्तदेहस्य  
जलावगाहनात् । तदूष्मणोर्ध्वगतेन तेजसोऽभिभवाच्चक्षुरोगोदयः, यथा मध्यन्दिनोत्फापातः  
सौरकिरणेनाभिभूयते ; दूरेक्षणात्=दूरावलोकनात्, स्वप्रविपर्ययात्=रात्रिजागरणादिव्रात्रमात्  
स्वेदादित्यादि घर्मरजोधूमानां नयनसंबद्धानां हेतुत्वम् । छर्देर्विघातात्=वान्तिवेगविधारणात्, यमना-  
तिवोगादतिवान्तेः । विष्मूत्रवातक्रमनिग्रहात्=विष्मूत्रवातानां क्रमेण शनैःशनैर्ग्रहात् वेगधारणात् । प्रस-  
क्तसरोदनशोककोपात्=प्रसक्तं निरन्तरं कृतसरोदनादित्यर्थः । क्लेशाभिघातात्=क्लेशः=कामादिदुःखं,  
तेन संबन्धात् ; वाष्पग्रहात्=वाष्पं=नेत्राम्बु, तद्वेगाविधारणात्, सूक्ष्मवस्त्वलौकनात्, एतैर्हेतुभि-  
र्नेत्ररोगा जायन्ते । नयनरोगसंप्राप्तिः सुश्रुते पठिता । तद्यथा-“ सिरानुसारिभिर्देवैर्विगुणैरुर्ध्वमार्गैः ।  
जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ”-इति ॥ १ ॥ ३ ॥

अथाभिष्यन्दरोगस्य प्रकाराः ।

( Ophthalmia )

सामान्यपूर्वकत्वात् विशेषस्य, तथा सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्च, आदौ सर्वनय-  
नगतमभिष्यन्दमाह-

वातात् पित्तात् कफाद् रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।

प्रायेण जायत घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥ ४ ॥

म०-वातादित्यादि । घोर इति दुःखसहवेदनः । सर्वनेत्रामयाकर इति  
सर्वेषां नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकर=उत्पत्तिकरत्वादाकरः स्थानम् । अत  
एवाह सुश्रुतः-“प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमलाः”-  
( सु. उ. त अ. १ )-इति ॥ ४ ॥

आ०-सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्य, सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्चादौ सर्वनयनगतमभिष्यन्दमाह-वाता-  
दित्यादि । घोरः=दुःखसहवेदनः । सर्वनेत्रामयाकर इति सर्वेषामेव नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकरः  
स्थानम्, उत्पत्तिकरत्वात् । अत एवाह सुश्रुतः-“ प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्त-  
मूलाः ”-इति ॥ ४ ॥

अथ वाताभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

वाताभिष्यन्दरूपमाह--

निस्तोदन-स्तम्भन-रोमहर्ष-संघर्ष-पारुष्य-शिरोऽभितापाः ।

विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्न नयने भवन्ति ॥५॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०-निस्तोदनेत्यादि । निस्तोदनं=सूचीव्यधनवद् व्यथा, स्तम्भनं=  
जडिमा, संघर्षः=करकरिका, पारुष्यं=रुक्षता, शिरोऽभितापः=शिरोव्यथा ।  
विशुष्कभावो=दूषिकाराहितत्वं, न त्वास्त्रावरहितत्वं, शिशिराश्रुतेत्युक्तेः ॥ ५ ॥

आ०--वाताभिष्यन्दमाह--निस्तोदनं=शूलं तद्वद् व्यथा, स्तम्भनं=जडिमा, सङ्घर्षः=वालु-  
कापूरिता इव करकरिका, पारुष्यं=रुक्षत्वं, शिरोभितापः=शिरोव्यथा, विशुष्कभावो=दूषिकारहितत्वं,  
नेत्रास्त्रावरहितत्वं तु शिशिराश्रुतयुक्तं न घटते ॥ ५ ॥

अथ पित्तिकाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

पैत्तिकलक्षणमाह--

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च ।  
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०--दाहप्रपाकावित्यादि । प्रपाकः=प्रकृष्टपाकः । शिशिराभिनन्दा=  
शीतेच्छा । धूमायनं=धूमस्योद्गमनम् । बाष्पसमुच्छ्रयो=बाष्पबाहुल्यम् ॥ ६ ॥

आ०--पित्तजमाह--दाहेत्यादि । शिशिराभिनन्दा=शिशिरेच्छा, धूमायनं=धूमस्योद्गमनं, बाष्प-  
समुच्छ्रयः=बाष्पबाहुल्यम् ॥ ६ ॥

अथ श्लेष्मिकाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

कफजलिङ्गमाह--

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।  
स्त्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०--उष्णाभिनन्देत्यादि । उपदेहः=पिच्छटबाहुल्यम् । शीतता नेत्रस्य ।  
पिच्छिल इति स्त्रावविशेषणम् । कफाभिपन्ने=कफयुक्ते । नयने=चक्षुषि । भव-  
न्ति=जायन्ते ॥ ७ ॥

आ०--कफजमाह--उष्णेत्यादि । सुगमम् ॥ ७ ॥

अथ रक्तजाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

रक्ताभिष्यन्दलक्षणमाह--

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।  
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ८ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०--ताम्राश्रुतेत्यादि । पित्तस्य लिङ्गानीति पित्ताभिष्यन्दलिङ्गानि ॥ ८ ॥

आ०--रक्तजमाह--ताम्राश्रुतेत्यादि । पित्तस्यापि लिङ्गानि=पित्ताभिष्यन्दस्यापि लिङ्गानि ॥ ८ ॥

अथाधिमन्थस्य लक्षणम् ।

अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।

तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥ ९ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०—वृद्धैरित्यादि । तान्त इति अभिष्यन्दैर्वात-पित्त-कफ-रक्त-जैश्चत्वारोऽधिमन्थाः प्रत्येतव्याः । तीव्रवेदना इति सामान्यलक्षणम् । वेदनाशब्दश्चात्र व्यथामात्रवाची, तेन वातिकाभिष्यन्दाद् वातिक एवाधिमन्थस्तीव्रवातजनिततोदादिसकलवेदनः, एवं पित्तज-कफज-रक्तजश्चाधिमन्थाः प्रत्येतव्याः ॥ ९ ॥

आ०—अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—वृद्धैरित्यादि । वृद्धिं गतैः अप्रतिक्रियमाणत्वात् । तान्त इति अभिष्यन्दैर्वातपित्तकफरक्तजैश्चतुर्भिश्चत्वारोऽधिमन्थाः । तीव्रा वातजा एव सर्वा निस्तोदादिवेदनाः एवं पित्तकफरक्तजाश्चाधिमन्थाः प्रत्येतव्याः ॥ ९ ॥

अथास्य लक्षणान्तरम् ।

अस्यापरं सामान्यलक्षणमाह—

उत्पाद्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।

शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥ १० ॥

( सु० नि० अ० ६ )

म०—उत्पाद्यत इत्यादि । शिरसोऽर्धमित्यत्र पूर्वक्रिये संवध्येते, तेन शिरसोऽर्धमुत्पाद्यते तथा निर्मथ्यते चेत्यर्थः । शिरसोऽर्धं च वेदना व्याधिप्रभावात् । स्वलक्षणैरिति यथोक्तवाताद्यभिष्यन्दलक्षणैः । स चाधिमन्थस्तदात्मकः ॥ १० ॥

आ०—अस्यापरं सामान्यलक्षणमाह—उत्पाद्यत इत्यादि । शिरोर्धं वेदना व्याधिप्रभावात् स्वलक्षणैरिति यथोक्तवाताद्यभिष्यन्दलक्षणैः, स चाधिमन्थस्तदात्मकः ॥ १० ॥

अथात्र दोषभेदेन कालावधिः ।

यावता कालेन मिथ्याचाराद् दृष्टिं हन्ति तमाह—

हन्याद् दृष्टिं श्लेष्मिकः सप्तरात्रादधीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात् ।

आषट्पञ्चात्राद् वातिको वै निहन्यात् मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव

( सु० उ० अ० ६ )

म०—हन्यादित्यादि । सद्य एवेति श्लेष्मणि सप्तरात्रस्योक्तत्वात् सद्यः-शब्देनात्र त्रिरात्रमुक्तम्, वैद्यके हि सद्यःशब्दस्य त्रिरात्र-सप्तरात्र-वाचित्वेन दृष्टत्वात् । कालावधिरत्र व्याधिस्वभावात् ॥ ११ ॥

आ०—वायता कालेन मिथ्याचाराद् दृष्टिं हरति, तदाह--दृश्यादित्यादि । श्लेष्मणि सप्तरात्रस्यो-  
क्तत्वात् सचःसध्देनात्र त्रिरात्रमुक्तम् । कालावधिस्तु व्याधिस्वभावात् ॥ ११ ॥

अथ सामनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

लङ्घनप्रलेपादिविधानार्थम्, अञ्जनादिनिषेधार्थं च, नेत्ररोगस्य सामत्व-  
लक्षणमाह—

उदीर्णवेदनं नेत्रं राग-शोथ-समन्वितम् ।

वर्ष-निस्तोद-शूला-ऽश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥ १२ ॥

( सु० उ अ० ६ )

म०—उदीर्णवेदनमित्यादि । उदीर्णवेदनमुद्गतबहुवेदनम् । वर्षः=कर-  
करिका । लङ्घनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च तन्त्रान्तरम्,—“स्वेदः  
प्रलेपस्तिक्कान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् । लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाच-  
नानि पट् ॥ अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् । नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं  
चापि विवर्जयेत्”—इति ॥ १२ ॥

आ०—लङ्घनप्रलेपनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च नेत्ररोगस्यामलक्षणमाह—उदीर्णेत्यादि ।  
उदीर्णवेदनमुद्गतवेदनम् । वर्षः करकरिकाविशेषः । लङ्घनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च तन्त्रान्तरे  
उक्तम्—“स्वेदः प्रलेपस्तिक्कान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् । लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पक्तिरिष्यते ”—  
इति ॥ १२ ॥

अथ निरामनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

निरामलक्षणमाह—

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।

प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वदोषमादिशेत् ॥ १३ ॥

( सु० उ अ० ६ )

म०—मन्देत्यादि । संरम्भाश्रुप्रशान्ततेति संरम्भः=शोथः तस्य, अश्रुणो=  
नत्रजलस्य च प्रशमः ॥ १३ ॥

आ०—निरामलक्षणमाह—मन्देत्यादि ॥ १३ ॥

अथ सशोथाक्षिपाकस्य लक्षणम् ।

सशोथपाकलिङ्गमाह—

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसंनिभः ।



संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः ।

शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथज ॥ १४ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०--कण्डूपदेहाश्रयुत इत्यादि । पक्वोदुम्बरसन्निभ इति लोहितः । संरम्भीति शोथवान्; कार्तिकस्तु महारम्भवानित्याह; शोथस्त्वनुक्तोऽपि गम्यते, तत्प्रधानत्वात् पाकस्य, उत्तरत्र शोथहीनानीत्यस्याभिधानाच्च । अयं त्रिदोषजः, एवमशोथपाकश्च ॥ १४ ॥

आ०--नेत्रपाकमाह--कण्डूत्यादि । पक्वोदुम्बरसन्निभ इति लौहित्येन । संरम्भी=शोथवान् । कार्तिकस्तु महारम्भवानित्याह; शोथस्त्वनुक्तोऽपि गम्यते, तत्प्रधानत्वात् पाकस्य, उत्तरत्र शोथहीनानीत्यभिधानाच्च । अयं त्रिदोषजः । अशोथमाह--शोथेत्यादि अत्र शोथरहितानि नेत्रपाकलक्षणानि जानीयात् ॥ १४ ॥

अथाधिमन्थस्य लक्षणम् ।

हताधिमन्थलक्षणमाह--

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।

रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥ १५ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०--उपेक्षणादित्यादि । अयं रोगो विदेहे दृष्ट्युत्क्षेपलक्षण एकः, अन्यः सकलनयनशोषलक्षणः पच्यते । तद्यथा,--“अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः । स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति ॥ तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः । नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः”-इति । इदं दृष्टिनिर्गमलक्षणम् । अत एवैतस्मिन्नर्थे सुश्रुते केचित् पठन्ति,--“अन्तः सिराणां श्रसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् । हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः”-इति । विदेह एव सकलाक्षिशोषः पच्यते,--“अथवा शोषयेदक्षि क्षीण-तेजो-बलादयम् । तत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥ हताधिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातकोपतः”-इति । अतः शोषार्थं उपेक्षणादक्षीत्यादि श्लोकोऽवगन्तव्यः । सादयतीति शोषयति रुजाभिरुग्राभिरितिरुजाभिस्तोदादिभिर्महतीभिरुपलक्षितः ॥ १५ ॥

आ०--हताधिमन्थलक्षणमाह--उपेक्षणादित्यादि । सादयति=शोषयति, रुजाभिरिति सतोदरुजाभिः । विदेहेऽयं रोगो दृष्ट्युत्क्षेपलक्षण एकः, अन्यः सकलनयनशोषलक्षणः पठितः । तद्यथा--

“ अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः । स तदा नयनं प्राप्य शक्तिं दृष्टिं निरस्यति ॥ तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः । नयनं निर्वमत्वाशु शूलतोदोऽभिमन्थनैः ”— इत्यर्थं दृष्टिनिर्गमलक्षणः; सकलाक्षिशोषाभिमन्थं विदेहोऽप्याह—“ अथवा शोषवेदक्षि क्षीणतेजो धलादयम् । तत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥ हताभिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातकोपजम् ”— इति ॥ १५ ॥

अथ वातपर्यायस्य लक्षणम् ।

वातपर्यायलिङ्गमाह—

वारंवारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः ।

रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्यायः ॥ १६ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०—वारंवारमित्यादि । पर्यायेण=क्रमेण कदाचिद् भ्रुवि, कदाचिल्लोचने, वायुस्तीव्रां रुजां करोतीति वातपर्यायार्थः + १६ ॥

आ०—वातपर्यायलक्षणमाह—वारंवारमित्यादि । पर्यायेण क्रमेण कदाचित् भ्रुवि, कदाचिल्लोचने वायुः तीव्रां रुजं करोतीति तात्पर्यार्थः ॥ १६ ॥

अथ शुष्काक्षिपाकस्य लक्षणम् ।

शुष्काक्षिपाकमाह—

यत् कूणितं दारुण-रूक्ष-वर्त्म संदह्यते चाविलदर्शनं यत् ।

सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०—यत्कूणितमित्यादि । कूणितमिति निमीलितम् । दारुणं=कठिनं रूक्षं च वातशोषात् वर्त्म यस्य तद्दारुणरूक्षवर्त्म । संदह्यते=सदाहं भवति । आविलदर्शनमाकुलदर्शनम् । सुदारुणं=कृच्छ्रोन्मीलनम् । प्रतिबोधने=उन्मेषणे । सुदारुणं=सुकठिनमिति गदाधरः । शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षीति तच्छुष्केणाक्षिपाकेन उपहतमक्षीत्यर्थः । अयं रोगः सरक्तवातजन्यः । यदाह करालः, “कूणितं खरवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलाविलेक्षणम् । सदाहं सासृजोवाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्”—इति ॥ १७ ॥

आ०—शुष्काक्षिपाकमाह—यदित्यादि । कूणितं=निमीलितम् । दारुणं=कठिनं रूक्षं च वातशोषणाद्वर्त्म यस्य तत् । दारुणं=सुकठिनमिति गदाधरः । शुष्काक्षिपाकोपहतमिति शुष्केणाक्षिपाकेनोपहतमक्षीत्यर्थः । अयं रोगः सरक्तवातजन्यः । यदाह करालः—“कूणितं खरवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलाविलेक्षणम् । सदाहं सासृजो वाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्”—इति ॥ १७ ॥

अथान्यतोवातस्य लक्षणम् ।

अन्यतोवातमाह—

यस्यावटूकर्ण-शिरो-हनु-स्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा ।  
कुर्याद् रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ १८ ॥

( सु० उ० अ० १६ )

अस्येत्यादि । अवटुर्घाटा । मन्ये=ग्रीवापार्श्वसिरे अन्यतो वेति उक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे, सप्तम्यर्थे तसिः । अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानम्, अन्यत्र लोचने भ्रुवि च रुजां करोतीत्यन्यतोवातः । विदेहेऽप्युक्तम्,—“मन्ययोरन्तरे वायुरुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा । करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा । तमादुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः”—इति ॥ १८ ॥

आ०—अन्यतोवातमाह—अस्येत्यादि । अवटुर्घाटा, मन्ये ग्रीवापार्श्वसिरे । अन्यतो वेति उक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे; अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानम्, अन्यत्र लोचने भ्रुवि च रुजां करोति—इत्यन्यतोवातः । विदेहेऽप्युक्तम्,—“मन्ययोरन्तरे वायुरुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा । करोति भेदं निस्तोदं शोथं वाऽक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा ॥ तमादुरन्यतोवातं दृष्टिरोगविदो जनाः”—इति ॥ १८ ॥

अथाम्लाध्युषितस्य लक्षणम् ।

अम्लाध्युषितमाह—

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते ।  
सदाहशोथं सास्त्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०—श्यावमित्यादि । श्यावमीषत्रीलम् । अम्लत इत्यम्लभोजनात् ।  
अम्लाध्युषितमिति पित्ताध्युषितं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १९ ॥

आ०—अम्लाध्युषितमाह—श्यावमित्यादि । पित्तजोऽयं व्याधिः ॥ १९ ॥

अथ सिरोत्पातस्य लक्षणम् ।

( Pannus. )

सिरोत्पातमाह—

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः ।  
मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग् व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥

( सु० उ० अ० १६ )

म०—अवेदना वापीत्यादि । अक्षिराज्य इति अक्षिसिराः । विरज्यन्तीति विरक्ता भवन्ति, विशेषरक्ता भवन्तीत्यर्थः । रक्तजोऽयम् ॥ २० ॥

आ०—सिरोत्पातमाह अवेदनेत्यादि । अक्षिराज्यः=अक्षिसिराः, विरज्यन्ति=विरक्ता भवन्ति, विशेषरक्तवर्णा भवन्तीत्यर्थः । रक्तजोऽयं विकारः ॥ २० ॥

अथ सिराप्रहर्षस्य लक्षणम् ।

सिराप्रहर्षमाह—

मोहात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः ।  
ताम्राभमसं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥ २१ ॥

( सु० उ० अ० ६ )

म०—मोहादित्यादि इति सर्वगताः ॥ २१ ॥

आ०—सिराप्रहर्षमाह—मोहादित्यादि । ताम्रमरुणम्, अँच्छं=निर्मलम् । प्रगाढमित्यातिशयेन अभिवीक्षितुं=द्रष्टुं न शक्नोतीत्यर्थः । इति सर्वनेत्रगताः ॥ २१ ॥

अथ स्रवणशुक्लस्य लक्षणम् ।

( Corneal Ulcer. )

सन्धि-वर्त्म-शुक्ल-कृष्ण-दृष्टि-गतेषु मध्ये प्राधान्यादृष्टिगतेषु वक्तुमुचितेषु स्वल्पवक्तव्यतया दृष्टिमण्डलप्रत्यासत्त्या कृष्णगतविकाराभिधानम् । तत्र स्रवण-शुक्ल-लक्षणमाह—

निमग्ररूपं तु भवेद् हि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद् वै ।  
स्त्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च तत् स्रवणं शुक्लमुदाहरन्ति ॥ २२ ॥

( सु० उ० अ० ५ )

म०—निमग्ररूपमित्यादि । रूपग्रहणमाभासनिषेधार्थं, तेन निमग्ररूपमेव । यत् सूच्येवेत्युपमानं वर्तुलत्वख्यापनाय सूचीव्यधनवद् वेदनादर्शनाय च । स्त्रावं स्रवेदुष्णमिति स्रवेदुष्णमित्येतावतैव लब्धे स्त्रावे पुनः स्त्रावग्रहणं निरन्तरस्त्रावं लक्षयति । अतिशब्दस्तूष्णेन संबध्यत इति कार्तिकः । उष्णस्त्रावता रक्तात्मकत्वात् । शुक्लस्यात्र चात्यन्तरुक्ल बोद्धव्या, स्रवणत्वात् । यदाह अत्रणलक्षणे सुश्रुतः,—“नातिरुगश्रुयुक्तम्” ( सु. उ. त. अ. ५ )—इति । तत् स्रवणं सक्षतं, क्षते तु रुजा युक्तैव, नयने तु सुकुमारे विशेषेणोदाहरन्ति विदेहप्रभृतयः । विदेहेऽप्युक्तम्—“रक्तराजीनिभं कृष्णे छिन्नाभं यच्च लक्ष्यते । सूच्यग्रेणेव तच्छुक्लमुष्णाश्रुस्त्रावि स्रवणम्”—इति ॥ २२ ॥

आ०—अथ कृष्णगताश्चत्वारः । दृष्टिमण्डलप्रत्यासन्नतया कृष्णगतविकाराभिधानम्, तत्र स्रवणशुक्लमाह—निमग्ररूपमित्यादि । रूपग्रहणमाभासनिषेधार्थं, तेन निमग्रस्वरूपमेव यत् सच्या विद्धमिव

प्रतिभाति, सूक्ष्मेवेत्युपमां वर्तुलत्वख्यापनाय, सूचिविद्वेदनादर्शनाय च । स्त्रावं स्त्रवेदुष्ण-  
मिति स्त्रवेदुष्णमेतावतैव लब्धे स्त्रावे स्त्रावग्रहणं निरन्तरस्त्रावं बोधयति । अतिशब्दस्तूष्णेन सम्बध्यत  
इति कार्तिकः । विदेहेऽप्युक्तम्—“रक्तराजीनिभं कृष्णे छिन्नाभं यच्च लक्ष्यते । सूक्ष्मरेणव तच्छु-  
क्लमुष्णाश्रुस्त्रावि सत्रणम्”—इति ॥ २२ ॥

अथ सत्रणशुक्लस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

अस्यासाध्यतया निर्दिष्टस्यावस्थावशेन पाक्षिकीं सिद्धिमाह—

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढ न च संस्त्रवेद् हि ।

अवेदनं वा न च युग्मशुक्लं तत् सिद्धिमायाति कदाचिदेव २३

( सु० उ० अ० ५ )

म०—दृष्टेः समीप इत्यादि । क्षतं हि स्वभावत एव संश्रयोपघातकरम्,  
अतो दृष्टिसमीपे न साध्यम्, उक्तविपर्ययात्तु दृष्टिसमीपेऽपि सुखसाध्यमत्रणम् ।  
न चावगाढमेकत्वगतम् । विपर्ययात्त्ववगाढमप्यत्रणं सिध्यति । अत एवात्रणे  
वक्ष्यति—गम्भीरजातमिति । न च संस्त्रवेदिति न चात्यर्थं स्रवेत्, संश-  
ब्दस्यातिशयार्थत्वात् । अवेदनं=मन्दवेदनं, रक्तस्य कफानुगमात्; वातानुग-  
मादतिवेदनं तु न सिध्यति । युग्मं च क्षतशुक्लं कदाऽपि न सिध्यति ॥ २३ ॥

आ०—अस्यासाध्यातया निर्दिष्टस्यावस्थाविशेषेण पाक्षिकीं सिद्धिमाह—दृष्टेरित्यादि । क्षत स्वभा-  
वत एवाश्रयोपघातकरम्, अतो दृष्टिसमीपे न साध्यम्, उक्तविपर्ययात्तु दृष्टिसमीपेऽपि सुखसाध्याव-  
स्थमत्रणम् । न चावगाढमेकत्वगतं विपर्ययोत्थमवगाढमप्यत्रणं सिध्यति । अत एवात्रणे वक्ष्यति—  
गम्भीरजातमित्यादि । न संस्त्रवेदिति न चात्यर्थं स्रवेत्, अत्र संशब्दस्यातिशयार्थत्वात् । अवेदनं-  
मन्दवेदनं, रक्तस्य कफानुगमात्; वातानुगमादतिवेदनं तु न सिध्यति । युग्मशुक्लमिति क्षतशुक्लं,  
तत् कदाचित् न सिध्यति ॥ २३ ॥

अथात्रणशुक्लस्य लक्षणम् ।

इदानीमत्रणशुक्ललक्षणमाह—

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।

वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमथात्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ २४ ॥

( सु० उ० अ० ५ )

म०—स्यन्दात्मकमित्यादि । स्यन्दात्मकमभिष्यन्दनिमित्तकं, सर्वेषामक्षि-  
रोगाणामभिष्यन्दनिमित्तत्वेऽपि चास्य नियमप्रतिपादनार्थमभिधानम् । वैहाय-  
साभ्रप्रतनुप्रकाशमिति विहायसि स्थितं वैहायसं, “तस्य निवासः” इत्यण्

विहायो=नभः, आकाशस्थिताभवत् प्रतनुप्रकाशमित्यर्थः । एतेनाच्छत्वं प्रतिपाद्यते । शुक्लत्वं तु शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिभावभासमित्यनेनैव लब्धम् । वैहायसाभ्रग्रहणं सजलाभ्रव्यवच्छेदार्थं, तद्वि प्रायः पार्वतं भवतीति कार्तिकः । साध्यतमं = सुखसाध्यम् । ननु, गम्भीरजातमित्यादिना कृच्छ्राभिधानेनैव तद्विपर्ययेण सुखसाध्यत्वावगतिः सेत्स्याति, तत् किं साध्यतमाभिधाने ? नैवम्, असत्यत्र साध्यतमाभिधाने उभयत्रापि कृच्छ्रत्वभ्रान्तिः स्यादतस्तदभिधानम् ॥ २४ ॥

आ०—इदानीमव्रणशुक्ललक्षणमाह—स्यन्दात्मकमित्यादि । अभिष्यन्दनिमित्तजातं, सर्वेषामाक्षिरोगाणमभिष्यन्दनिमित्तत्वेऽप्यस्य—नियमप्रतिपादनार्थमभिधानम् । वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमित्यनेन स्वच्छत्वं प्रतिपाद्यते, शुक्लत्वं तु शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिभावभासत्वेनैव लब्धं, वैहायसाभ्रग्रहणं सजलाभ्रव्यवच्छेदार्थम् । साध्यतमं सुखसाध्यम् ॥ २४ ॥

अथाव्रणशुक्लस्य कृच्छ्रसाध्यत्वम् ।

अव्रणस्यैवावस्थाभेदेन कृच्छ्रत्वमाह—

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्लं चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ।  
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च ॥  
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् २५

( सु० ३० अ० ५ )

म०—गम्भीरजातमित्यादि । गम्भीरजातं=द्वित्रित्वग्गतम् । बहुलं=प्रतनुनोऽभ्राद्धनम् । अव्रणस्यैवावस्थाभेदेनासाध्यत्वमाह—विच्छिन्नमध्यमित्यादि । विच्छिन्नमध्यं=विदीर्णमांसत्वात् सच्छिद्रं, निम्नमिति यावत्, तद्विपर्ययं तु पिशितावृतमुन्नतमांसरूपतया । चलमित्यनवस्थितम् । सिरासूक्ष्ममिति सिरावृतत्वात् सूक्ष्मम् । अन्ये “सिरासक्तम्” इति पठन्ति, व्याचक्षते च — सिरासक्तं यतस्ततश्चलं, सिराणां चलत्वात्; सिरा हि मत्स्यवत् परिवर्तमाना मुडुर्मुडुश्चलन्ति । अन्ये “सिराशुक्लम्” इति पाठान्तरं व्याचक्षते । सिराभिः शुक्लं सिराशुक्लं सिराशुक्लत्वहेतुकं, न हि सिराभवनं शुक्लत्वे हेतुरिति गदाधरः । अदृष्टिकृदिति दर्शनाभावकारि, दृष्टेः समीपे न भवेदित्यस्य विपर्ययोऽयम् । द्वित्वग्गतं=द्विपटलाश्रितम्, एतदपरलिङ्गसहितमसाध्यम्, न तु केवलम्, द्वित्वग्गतस्य कृच्छ्रत्वाभिधानात् । लोहितमन्ततश्चेति मध्ये शुक्लमन्ते लोहितम्, व्रणाकारेण ॥ २५ ॥

आ०—अत्रणस्यैवावस्थाभेदेन कृच्छ्रतामाह—गम्भीरजातमित्यादि । गम्भीरजातं=द्वित्रित्वगतं, बहुलं=प्रतनुतोऽभ्राद् घनम् । अत्रणस्यैवावस्थातोऽसाध्यत्वमाह—विच्छिन्नमेत्यादि । विच्छिन्नमध्यं=विशीर्णमांसत्वात् सच्छिद्रं, निम्नमिति यावत् । तद्विपर्ययं तु पिशितावृतमुन्नतमांसरूपतया । चलमनवस्थितं, सिरासूक्ष्ममिति सिराकृतत्वात् सूक्ष्मम्, अन्ये “सिरासक्तम्” इति पठन्ति । सिरासक्ते यतस्ततश्चलं, सिरा हि मत्स्यवत् परिवर्तमाना मुहुर्मुहुश्चलन्ति । तदाश्रितं शुक्लमपि चलमेव । अदृष्टि-कृदिति दर्शनाभावकारि । द्वित्रित्वगतं द्विपटलाश्रितम्, एतदपरलिङ्गसहितमसाध्यं, न केवलद्वित्रित्वगतस्य कृच्छ्राभिधानात्, सत्रणं त्रित्वगतं चासाध्यमिति ज्ञेयम् । लोहितमन्तत इति ग्रन्थेषु लोहितं वणा-कारेण । चिरोत्थितं चिरकालजम् ॥ २५ ॥

अथास्य प्रकारान्तरेणासाध्यलक्षणानि ।

न केवलमेवंविधं परमसाध्यं किंत्वन्यादृशमपीत्यत आह—

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे यस्मिन् भवेत् मुद्गनिभं च शुक्लम् ।  
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत् तित्तिरिपक्षतुल्यम् २६॥

( सु० उ० अ० ५ )

म०—उष्णाश्रुपात इत्यादि । पिडका च नेत्र इत्यन्तं द्वित्रित्वगतशुक्ले । तथाऽऽह विदेहः—“एकत्वगतमेवं स्यात् द्वित्रित्वगतमिदं भवेत् । चोषोष्ण-स्त्रावदाहास्तु तृष्णा च पिडकोद्गमः”—इति । मुद्गनिभं च शुक्लमित्याकारेण, एतद् त्वगतम् । तथा च विदेहः,—“व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्लं द्वित्रित्वगतं भवेत्” इति । द्वि-त्रि-त्वगतस्याव्रणस्य कृच्छ्रत्वे एतत् पिडकोद्गममुद्गफलाकारत्वे-नैवासाध्यत्वं बोध्यम् । अन्ये पुनः सत्रणशुक्लस्य विच्छिन्नमध्यमित्यादिकम-साध्यलक्षणं वर्णयन्ति । अत्र पक्षे द्वित्रित्वगतमिति केवलमेवासाध्यलक्षणम्, एतन्न चावगाढमित्यस्य विपर्ययः । लोहितमन्ततः । उष्णाश्रुपातः पिडका चेत्यादि द्वित्रित्वगतशुक्ललक्षणमिति । किंत्वियमत्रासङ्गतिः—विच्छिन्नमध्यं=सच्छिद्रमध्यं, तद्यदि सच्छिद्रत्वं सत्रणशुक्लस्याभ्युपगम्यते, तदा निमग्नरूप-मित्यनेनैव सिद्धत्वात् पुनरुक्तं स्यात्, किंच सत्रणशुक्लानन्तरमस्य पाठो वि-फलः स्यात् । अन्ये तु सत्रणाव्रणशुक्लविषयं सामान्यमसाध्यलक्षणमेतदाहुः, यथायोग्यतया कचिल्लिङ्गान्तरयोगेन च व्यवस्थेति च वर्णयन्ति । असाध्यत्वं विदेहादन्येषां मतेनाह—केचिदिस्यादि । तित्तिरिपक्षतुल्यमिति शबलम्, एतच्चा-निषेधादनुमतम् ॥ २६ ॥

आ०—न केवलमेवंविधं परमसाध्यं, किंत्वन्यादृशमपीत्याह—उष्णाश्रुपात इत्यादि । पिडका च नेत्र इत्यन्तं द्वित्रित्वगतं शुक्ले । यदुक्तं विदेहे—“एकत्वगतमेवं स्याद्द्वित्रित्वगतमिदं भवेत् । चोषोष्णस्त्रावदा-



हास्तु तृष्णा च पिङ्कोद्गमः—” इति । मुद्गनिभं च शुक्लमिति आकारेण, एतद्वित्वग्गतं स्यात् । तथा च विदेहः—“व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्लं द्वित्वग्गतं भवेत्—” इति । द्वित्रित्वग्गतस्यात्रणशुक्लस्य कृच्छ्रत्वे एतत् पिङ्कोद्गममुद्गफलाकारत्वेनैवासाध्यत्वं बोद्धव्यम् । असाध्यत्वं विदेहादन्येषां मतेनाह— केचिदित्यादि । तित्तिरिपश्चित्वमिति शबलम् । एतच्चानिषेधादनुवम् ॥ २६ ॥

### अथाक्षिपाकात्ययस्य लक्षणम् ।

इदानीमक्षिपाकात्ययमाह—

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं च ।  
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥२७॥

( सु० उ० अ० ५ )

म०—श्वेत इत्यादि । दोषेण यः कृतः श्वेतः स समाक्रामति । सर्वात्मकं= त्रिदोषजम्, अन्ये तु स्यन्दात्मकमिति पठित्वा अभिष्यन्दात्मकमाहुः । तदा सर्वेषामभिष्यन्दमूलत्वाद्विशेषार्थमभिधानम् ॥ २७ ॥

आ०—इदानीमक्षिपाकात्ययमाह—श्वेत इत्यादि । दोषेण कृतो यः श्वेतः, कुष्णमण्डलं सर्वतः समाक्रामति । सर्वात्मकं त्रिदोषजम्, अन्ये “स्यन्दात्मकम्” इति पठित्वा अभिष्यन्दात्मकमाहुः ॥२७॥

### अथाजकाजातस्य लक्षणम् ।

अजकाजातमाह—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः ।  
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् २८ ॥

( सु० उ० अ० ५ )

म०—अजापुरीषप्रतिम इत्यादि । अजापुरीषप्रतिमः=शुष्काजपुरीषतुल्यः । सलोहित=ईषल्लोहितः । विगृह्य कृष्णमिति स्वोच्छ्रायेण कृष्णदेशं महत्वाद्विच्छिद्य । प्रचय इति प्रकृष्टश्चयः उद्गम इति यावत् । अजकाया मेदोवत् संश्रयस्तृतीयत्वग्गतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः । तथा च विदेहः—कृष्णेऽक्ष्णोर्यद्भवेच्छुक्लं छागलीविट्समप्रभम् । सान्द्र-पिच्छिल-रक्तास्रं त्रित्वग्गमजकेति सा—” इति ॥ इति कृष्णजाः ॥ २८ ॥

आ०—अजकाजातमाह—अजेत्यादि । अजापुरीषप्रतिमः=शुष्कच्छागलीपुरीषतुल्यः । सलोहित इति ईषल्लोहितः, विगृह्य कृष्णमिति स्वोच्छ्रायेण कृष्णदेशं महत्वाद्विच्छिद्य, विदार्येति यावत् । प्रचय इति प्रकृष्टश्चयः, उद्गम इति यावत् । अभ्युपैति समन्तादागच्छति । अजकाय

मेदोवत् संश्रयस्तृतीयत्वगतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः । यदुक्तं विदेहे—“ कृष्णक्षणोर्ध्वद्वये-  
च्छुक्लं छागलीविदुसमप्रभम् । सान्द्रपिच्छिलरक्ताहं त्रित्वग्गमजकेति सा ”—इति । स  
त्रणशुक्ल अक्षिपाकात्ययः अजकाजातः । एवं कृष्णगताश्चक्षुरोगाश्चत्वारः । इति कृष्णजाः ॥ २८ ॥

अथाक्षः प्रथमपटलस्थितदोषाणां लक्षणानि ।

कृष्णाश्रितत्वाद् दृष्टिमण्डलस्य दृष्टिजा उच्यन्ते । दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनो-  
क्तम्—“ मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम् ” ( सु. उ. त. अ. ७ )—इति ।  
अत्र मसूरदलमात्रामिति मसूरार्धदलमात्रां, तथा च निमिः—“ पञ्चभूतात्मिका  
दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मितिः ”—इति । ननु, एवं तर्हि विरुध्यते, यदाह स एव पुनः—  
नेत्रायामत्रिभागं च कृष्णमण्डलमुच्यते । कृष्णात् सप्तमभिच्छिन्ति दृष्टिं दृष्टि-  
विदो जनाः ” ( सु. उ. त. अ. १ )—इति । अत्र कृष्णसप्तभागत्वेन दृष्टे-  
रुक्तत्वात् । उच्यते, कृष्णसप्तभागत्वेनापि मसूरार्धदलप्रमाणा दृष्टिरित्येक  
एवार्थः । ननु, एवमातुरोपक्रमणीयोक्तं “ द्रव्यद्वयगुलायतं नयनं, नयनत्रिभागपरि-  
माणा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम् ” ( सु. सू. स्था. अ. ३५ )  
इति विरुद्धयते । उच्यते, तत्र मण्डलाभिधानेन मण्डलसहिताया दृष्टेरुक्तिः,  
अत्र तु मण्डलरहिताया इति मतभेदाद् वा न विरोधः, । तारकानवमांशो दृष्टि-  
रिति शल्यमतम्, तारकासप्तमांशो दृष्टिरिति शालाक्यसिद्धान्तेन । ननु,  
एवं तर्हि “ दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते ” ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) इति  
शारीरोक्तं विरुध्यते, यतः कृष्णसप्तभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात् कृष्णवृद्ध्या  
तद्वृद्धेः संभवात् । नैवम्, अङ्गान्तर्वर्त्तन बहु वर्धत इत्यभिप्रायेणोक्तम् । “ दृष्टिर्न  
वर्धते ” इति दृष्ट्यां च चत्वारि पटलानि । रसरक्ताश्रयं बाह्यं, द्वितीयं  
मांससंश्रयं, तृतीयं मेदःसंश्रयं, चतुर्थं कालकास्थिसंस्थितम् । तथा च सुश्रुतः—  
“ तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम् । मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं  
त्वस्थि चापरम् । पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते ” ( सु. उ. त.  
अ. १ )—इति । अत्र तेजःशब्देन रक्तं, जलशब्देन च रसो व्याख्यातः । तेषु  
पटलेषु बाह्यादिभेदेनाधिष्ठानविशेषप्रभावात् दोषाणां लिङ्गविशेषमाह—

प्रथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः ।

अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥ २९ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—प्रथमे पटल इत्यादि । प्रथमे पटले=सर्वाभ्यन्तरे पटले कालकास्थि-  
संश्रये; न तु बाह्ये, तत्र प्रथमं दोषलिङ्गानुपलब्धेः, यदि तु कुष्ठादिवद् बाह्यं प्रथमं

प्रदूष्याभ्यन्तरे दोषानुप्रवेशः स्यात्तदा प्रागेव रोगस्तत्रोपलभ्येत, न चैवं दृश्यते ।  
तथा च विदेहः—“दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं समभिद्रुताः—” इत्यारभ्य “एकैकमनुपद्यन्ते  
पर्यायात् पटलान्तरम्”—इति प्रथमे पटल इत्यादिग्रन्थात् । पूर्वं केचित् “सिरा-  
भिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्” (सु. उ. त. अ. १ )—इति श्लोकार्थम्  
संप्राप्तिरूपं पठन्ति सुश्रुते, तच्च “सिरानुसारिभिर्दोषैः ( सु. उ. त. अ. )”  
इत्यनेनैव गतार्थमित्यनार्थं टीकाकारैर्व्याख्यातम् । रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि ।  
कदाचिदथ पश्यतोत्यनेनात्राधिष्ठानविशेषाद् दोषस्याल्पबलता उक्ता भवति ।  
अव्यक्तरूपाण्यपि वक्ष्यमाणभ्रमरारुणवर्णादियुक्तानि वातेन, पित्तेनादित्य-खद्यो-  
तादि-पीत-नील-वर्णानि, कफेन सितवर्णानि, रक्तेन रक्तवर्णानि, सन्निपातेन  
चित्रवर्णानि, एवं द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ पटलेष्वपि व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

आ०—कृष्णाश्रितत्वाद् दृष्टिमण्डलस्य दृष्टिजा उच्यन्ते । दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनोक्तम् । तद्यथा—  
“मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्—” इति । मसूरमात्रां मसूरार्धदलमात्राम् । तथा च निमिः—  
“पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलेन्मिता—” इति । दृष्ट्यां चत्वारि पटलानि—रसरक्ताश्रयं बाह्यं,  
द्वितीयं मांसरक्ताश्रयं, तृतीयं मेदःसंश्रयं, चतुर्थं कालकास्थिश्रितमिति । यदुक्तं सुश्रुते—“ तेजो-  
जलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत्पिशिताश्रितम् । मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वचि चापरम् ॥ पञ्चमां-  
शसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते—” इति । अत्र तेजः—शब्देन रक्तं, जलशब्देन रसो व्याख्यातः । तेषु  
पटलेषु बाह्यादिभेदेनाधिष्ठानविशेषप्रभावाद्दोषाणां लिङ्गविशेषमाह—प्रथम इत्यादि । प्रथमे सर्वा-  
भ्यन्तरे पटले कालकास्थिसंश्रये, नतु बाह्य । तथा च विदेहः—“ यथा दोषाः प्रकुपिताः  
प्राप्य रूपवहे सिरे । दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं समभिद्रुताः ॥ एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात्पटला-  
न्तरम् ” इति । रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि । कदाचिदथ पश्यतोत्यनेनात्राधिष्ठानविशेषाद्दोषस्याल्प-  
बलतोक्ता । अव्यक्तानीति रूपाण्यपि वक्ष्यमाणभ्रमरारुणवर्णादियुक्तानि वातेन, पित्तेनादित्यखद्योतादि  
पीतनीलवर्णानि, कफेन श्वेतचामरगौरवर्णानि, रक्तेन रक्तवर्णानि, सन्निपातेन चित्राणीति । एवं द्वितीय  
तृतीयचतुर्थपटलेष्वपि व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

अथ द्वितीयपटलस्थदोषस्य लक्षणम् ।

द्वितीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ।

मक्षिका मशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥

मण्डलानि पताकांश्च मरीचिं कुण्डलानि च ।

परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥

दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः ।

समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ ३२ ॥  
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ।

( सु० उ० अ० ७ )

म०—दृष्टिर्भृशं विह्वलतीत्यादि । विह्वलति=पुनः पुनरसम्यग्रूपं गृह्णाति, तथा अविद्यमानान् मक्षिकादीन् पश्यति; अथवा मक्षिकेत्यादिना विह्वलत्वमेव व्याक्रियते । जालकानि जालान्येव मरीचीनिति रश्मीन् । परिप्लवानिति मण्डुकादीनां परिसर्वतः प्लवान्=गतीः । विविधानिति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गत-  
श्लेष्मादिदोषवर्णेन नानाविधान्, अन्ये परिप्लवान् विविधानिति नानावर्णान् जलप्लवानित्याचक्षते । गोचरविभ्रमादिति विषयभ्रान्तेः । सूचीपाशं न पश्य-  
तीति सतोऽपि सूक्ष्मस्यानुपलम्भः; सूचीपाशं=सूचीरन्ध्रं, पाशं वा गुणम् ॥ ३०-३२ ॥—

आ०—द्वितीयपटलगतमाह—दृष्टिरित्यादि । द्वितीयं पटलं मांसरक्ताश्रयम् । विह्वलति=पुनः पुनरसम्यग्रूपं गृह्णाति, तथा मक्षिकादीन्यप्यसन्ति यथादोषवर्णानि पश्यति, जालकानि=जालान्येव । मरीचीन्=रश्मीन्, परिप्लवान्=विविधानानाविधान् जलप्लवान् । अथवा विविधानिति ऊर्ध्वाधस्तिर्य-  
ग्गतत्वेन दोषवर्णत्वेन च । वर्षे=वृष्टिः, अभ्रो=मेघः, तमोऽन्धकारः, गोचरविभ्रमात्=विषयभ्रान्तेः, यत्नवान्=कृतयत्नोऽपि, सूचीपाशं सूचीरन्ध्रं, सतोऽपि सूक्ष्मस्यानुपलम्भः ॥ ३०-३२ ॥

अथ तृतीयपटलगतदोषस्य लक्षणम् ।

तृतीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात् तृतीयं पटलं गत ॥ ३३ ॥

महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः ।

कर्ण-नासा-ऽक्षि-हीनानि विकृतानीव पश्यति ॥ ३४ ॥

यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ।

( सु० उ० अ० ७ )

म०—ऊर्ध्वं पश्यतीत्यादि । ऊर्ध्वदर्शनाभिधानादधोदर्शनस्य निषेधसिद्धौ तदभिधानं स्वरूपानुवादार्थम् । ननु, पार्श्वयोरीषदर्शनार्थं किमित्येतन्न भवति ? उच्यते, ऊर्ध्वाधोगतत्वेनैव पार्श्वस्य परिग्रहादिति कार्तिकः । यदेतद्रूपं पश्यति तत् कीदृशमित्यत आह—महान्त्यपीत्यादि । छादितानीव चाम्बरैरिति आवृ-  
तानीव वस्त्रैः । अम्बरे इति पाठान्तरे आकाशे छादितानि केनापि । विकृता-  
नीवेति छिन्न-कर-पादादीनि । अत्र रागप्राप्तिमाह—यथादोषं च रज्येत दृष्टि-

दोषे बलीयसीति, अस्यार्थः—यथायथं दोषवर्णैररुण-पीत-सितादिभिर्युज्यते दृष्टिः, रागश्चात्र वर्णमात्रवचनः । अत एव वक्ष्यति—“कफात् सितः शोणितजः सरक्तः” इति । दोषे बलीयसीति रक्त-मांस-भेदः-सहाये बलवति दोषे, अन्यथा तु तृतीयेऽपि रागो न भवतीति व्यभिचारः सूच्यत इति गदाधरः । ननु, तृतीये कथं रागवर्णनं, बाह्यपटलेनावृते दर्शनासंभवात् ? न चाश्मरीवर्णाभिधानवदायुर्वेदप्रामाण्यार्थं भविष्यतीति, अश्मर्या उत्तरकालमाकृष्टौ तथा प्रतीतेः, इह तु न तादृक् । उच्यते, तृतीयपटलगतस्य दोषस्य तथास्वभावाद् बाह्ये रागो-पलब्धिः, तृतीयपटलादारभ्य रागोदयः । यदाह विदेहः,—“यथास्वं रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रिपटलस्थितैः । चतुर्थपटलप्राप्तैर्मण्डलं रज्यते तु तैः”—इति ३३॥३४॥

आ०—तृतीयपटलगतमाह—ऊर्ध्वमित्यादि । ‘ अम्बरे ’ इति पाठे तत्राकाशे छादितानीव विकृता-नीवेति, छिन्नकर्णनासादीनि । अत्र रागसंप्राप्तिमाह—यथेति । यथायथं दोषवर्णैररुणपीतसितादिभिर्युज्येत दृष्टिः, दोषे बलीयासि रक्तमांसभेदःसहाये बलवति दोषे । तृतीयपटलगतस्य दोषस्य तथास्वभावाद्वा रागोपलब्धिः । तृतीयपटलादारभ्य रागोदय इत्यर्थः । यदाह विदेहः—“ यथास्वं रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रि-पटलस्थितैः । चतुर्थपटलप्राप्तैर्मण्डलं रज्यते तु तैः ” इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

अथान्येऽपि दृष्टिविकाराः ।

अधुनाध ऊर्ध्वमेवं यथाप्रदेशं दृष्टौ दोषावस्थाने यथा न पश्यति यादृग् वा पश्यति तथा दर्शयितुमाह—

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥ ३५ ॥

पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।

समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ॥ ३६ ॥

दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद् ह्रस्वं च पश्यति ।

द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद् बहुधा चानवस्थिते ॥ ३७ ॥

दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा ।

( सु० उ० अ० ७ )

म०—अधःस्थित इत्यादि । समीपस्थं दूरस्थं चेति नैव पश्यतीति संबन्धः । समन्तत इति सर्वतः । संकुलानीवेति अन्यान्यरूपेणैव मिश्राणि । अनवस्थित इति आनयतावस्थान इत्यर्थः ॥ ३५—३७ ॥

आ०—अधुनाऽध ऊर्ध्वमेवं यथाप्रदेशं दृष्टौ दोषाधिष्ठाने यथा न पश्यति यादृग्वा पश्यति तथा दर्शयितुमाह—अधःस्थित इति । दृष्टिमण्डलाधोभागस्थिते दोषे इत्यर्थः । समीपस्थं नैव पश्यति,

तथोपरिस्थिते दोषे दूरस्थं च नैव पश्यतीति संबन्धः । समन्तत इति सर्वतोः । स्थिते दृष्टिः संकुलानि=अन्योन्यरूपेण विमिश्राणि । अनवस्थित इति अनियतावस्थाने इत्यर्थः ॥ ३५-३७ ॥

अथ चतुर्थपटलगतदोषस्य लक्षणानि ।

चतुर्थपटलगतमाह-

तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥ ३८ ॥

रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ।

अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥ ३९ ॥

चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः ।

निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति ॥ ४० ॥

( मु० उ० अ० ७ )

म०-तिमिराख्य इत्यादि । आन्ध्योत्पादकतया तिमिरसाधर्म्यात्तिमिराख्यः; दोषो=रोगः, “दोषा अपि रोगाख्यां लभन्ते” इत्यागमात्; स एव रोगः सर्वतो दृष्टिरोधात्लिङ्गनाश उच्यते; लिङ्गयते=ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गमिन्द्रियं=दर्शनशक्तिः, तत्राशोऽस्मिन्निति लिङ्गनाशः । लिङ्गनाशमतः परं “वदन्ति” इति शेषः । अस्मिन्नपि तमोभूत इति भूतशब्दः सादृश्ये, रूपस्यानुपलम्भादन्वकारसदृशे । नातिरूढे=नातिवृद्धे, अतश्चन्द्रादित्यादीनि भास्वन्ति वस्तूनि पश्यति । अन्तरिक्षे चेत्यस्योपादानं भूमेस्तमोमयत्वात्, तत्र च तमोऽभिभवात्तादृशस्य चक्षुषो दर्शनाशक्तेः ॥ ३८-४० ॥

आ०-चतुर्थपटलगतमाह-तिमिराख्य इत्यादि । चतुर्थः=कालकास्थिश्रितः; तिमिरसाधर्म्यात्तिमिराख्यः, दोषो रोगः, दोषा अपि रोगाख्यां लभन्ते इत्यागमात्, स एव रोगः सर्वतो दृष्टिरोधात्लिङ्गनाश उच्यते । लिङ्गयते ज्ञायते अनेनेति लिङ्गम्, इन्द्रियं दर्शनशक्तिः, तस्य नाशो यस्मिन्निति लिङ्गनाशः । लिङ्गनाशमतः परमित्यतः परतो वदन्तीति शेषः । अस्मिन्नपि तमोभूत इत्यादि भूतशब्दः सादृश्ये, रूपस्यानुपलम्भादन्वकारभूते, नातिरूढे नातिवृद्धेः अतश्चन्द्रादित्यादीनि भास्वन्ति पिण्डीभूतानि ज्वलन्तीव पश्यति अन्तरिक्षे चेत्यस्योपादानं भूमेस्तमोमयत्वात्तादृशस्य चक्षुषो दर्शनाशक्तेः ॥ ३८-४० ॥

अथ तस्यैव लिङ्गनाशस्य ( लिङ्गनाशः=Cataract. “मोतीयो”

इति प्रसिद्धः । ) नामान्तरम् ।

तस्यैव लिङ्गनाशस्य संज्ञान्तरमाह-

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः ।

( मु० उ० अ० ७ )

म०-स एव लिङ्गनाशस्त्वित्यादि । यस्तृतीयपटलस्थितः काचसंज्ञितो दोषः स एवोपेक्षया चतुर्थे पटले पुनर्लिङ्गनाशो नीलिका च । तुशब्दः पुनरर्थे

कुतः पुनरयमृजुरेव ग्रन्थो न लगति—नीलिका-काचाभ्यां पर्यायाभ्यां संज्ञितो नीलिकाकाचसंज्ञित इति; नैषम्, नन्वान्तरे तृतीयपटलस्थिते दोषे काचाभिधानात् । यदाह निमिः,—“काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थितः । चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते ॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा” — इति । अत्रापि तत्प्रत्ययात् तृतीयपटलस्थस्य काचसंज्ञा, चतुर्थ पटलप्राप्तस्य प्रत्याख्येयत्वं प्रत्येतव्यम् । यत् पुनर्लिङ्गनाशोपादानं तत् सकलपर्यायज्ञापकार्थम् । गदाधरस्तु नीलिकाविशेषिता काचसंज्ञा नीलिकाकाचसंज्ञा इत्याह; एतेन तृतीयपटलस्थदोषे काचसंज्ञा, चतुर्थे तु सा नीलिकया विशिष्यते इति फलति । एकजातीयतया त्रिचतुःपटलयोरपि रोगाणां षट्त्वमेव, नतु द्वादशत्वम्, तेन न संख्यातिरेकः । इदमिदानीं चिन्त्यते—तृतीयपटलस्थे दोषे काचसंज्ञा तिमिरसंज्ञा च, तर्हि कथं न षट्संख्याहानिः ? काचात्तिमिरस्य भिन्नत्वात्, उक्तं च “षड् लिङ्गनाशः” इति; अथ मन्यसे, तिमिरात् काचो न भिद्यते, तस्यावस्थान्तरत्वादिति; न, तद्विपरीतसाधकत्वाद्धेतोः; यतोऽभिष्यन्दसिरोत्पाताभ्यामधिमन्थ-सिराहर्षयोरवस्थान्तरत्वेऽपि भिन्नत्वं प्रतीयते । उच्यते—भवत्येवम्, यद्यवस्थान्तरत्वेऽपि विशिष्टनामप्राप्तिस्तयोरिवास्य प्रथमनामपरित्यागात् स्यात्; न चैवम्, “तिमिराख्यः स वै दोषः” इत्यभिधानात्, तथाच “तिमिरे रागिणि”—इति वचनात्; तस्मान्नास्यावस्थान्तरे पूर्वनामपरित्यागः; ततस्तिमिरात् काचस्यावस्थान्तरत्वेऽप्यनन्यत्वं साधु, यथा—सत्यपि यौवनत्वे यज्ञदत्तस्य न स्वाभिधेयहानिः, अतो न संख्यातिरेकप्रसंग इति ॥—

आ०—तस्यैव लिङ्गनाशस्य संज्ञान्तरमाह=स इत्यादि । यस्तृतीयपटलगतः काचसंज्ञितो दोषः, स एव चोपेक्षया चतुर्थपटले पुनर्लिङ्गनाशो नीलकासंज्ञः । तुशब्दः पुनरर्थः; यथोवाच निमिः—“काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थितः । चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते ॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा—” इति अत्रापि तत्प्रत्ययात्तृतीयपटलस्थस्य काचसंज्ञा, चतुर्थपटलप्राप्तस्य च प्रत्याख्येयत्वं प्रत्येतव्यम् । गदाधरस्तु नीलिकाविशेषिता काचसंज्ञा संज्ञाता यस्य स नीलिकाकाचसंज्ञित इत्याह । एतेन तृतीयपटलस्थे दोषे काचसंज्ञा, चतुर्थे तु सा नीलिकया विशिष्यते इति फलति । एकजातीयतया तृतीयचतुर्थपटलगतानां रोगाणां तिमिरकाचनीलकाचसंज्ञाः तद्वत्तामपि षट्त्वमेव, तु द्वादशत्वम् । यथा—सत्यपि यौवनत्वे यज्ञदत्तस्य नात्मनामहानिः, अतो न संख्यातिरेकः, संख्यातिरेकेणैव षड् लिङ्गनाश इति ।

अथ दोषभेदाद् विचित्ररूपदर्शनम् ।

दोषविशेषेण रूपविशेषदर्शनमाह—

वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥ ४१ ॥

आविलान्यरूपाभानि व्याविद्धानीव मानवः ।



पित्तेनादित्य-खद्योत-शक्रचाप-तडिद्-गुणान् ॥४२॥

नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति ।

कफेन पश्येद् रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥४३॥

( पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम् । )

सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ।

पश्येद् रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥ ४४ ॥

स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ।

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति ॥ ४५ ॥

बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्तः ।

हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा ॥ ४६ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—वातेनेत्यादि । अविशेषेण यदुक्तमेतत् वाते तत् सर्वपटलेषु संबध्यते, तुल्यत्वान्यायस्य । व्याविद्धानीव=कुटिलानीव । खद्योतो=ज्योतिरिङ्गणः, शक्रचाप=इन्द्रधनुः, गुणान्=रूपाणि, आदित्यादीनां रूपाणीत्यर्थः । शिखिनो=मयूरान् । सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानीति सलिलप्लवनेनैव स्तिमितानीत्यर्थः । सितानीति श्वेतानि । ननु, रक्तेन कथं सितानीत्युच्यन्ते ? श्लेष्मणः सितरूपस्य दर्शितत्वात् । नैवम्, सितान्यपि कृष्णानि पीतानि पश्यतीति व्याख्यानाददोषः, स इति मानवः । रक्तेन कृष्ण-पीत दर्शनं पित्तसधर्मकत्वाद् रक्तस्य । चित्राणीति नानावर्णानि । विप्लुतानीवेति विपरीतानि । विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुधेत्यादि । अयमर्थः—सन्निपातेन पूर्वप्रकारेण बहुविधानि द्विविधानि वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटले हीनाधिकाङ्गान्यपीति गदाक्षरः ॥ ४१-४६ ॥

आ०—दोषविशेषेण रूपदर्शनमाह—तत्रेत्यादि । व्याविद्धानि=कुटिलानि । पित्तेन रूपदर्शनमाह=पित्तेनेत्यादि । खद्योतो=ज्योतिरिङ्गणः, शक्रचाप=इन्द्रधनुः, गुणानिति रूपाणीत्यर्थः । शिखिनो मयूरान् । कफेन रूपमाह—गौरेत्यादि । श्वेतचामरशुभ्राणि=शुभ्रमेव सदृशानि । असूक्ष्माणि=स्थूलानि । व्यभ्रे चैवाभ्रसंप्लवमिति=अनभ्रे आकाशे मेघोन्नतिं पश्यति । सलिलप्लावितानि=स्तिमितानीत्यर्थः रक्तेन रूपमाह—पश्येदित्यादि । ननु, रक्तेन कथं सितानीत्युच्यते ? श्लेष्मणः सितरूपस्य दर्शितत्वात् । नैवम्, सितान्यपि कृष्णानि पीतानि च पश्यतीति व्याख्यानाददोषः रक्तेन कृष्णपीतदर्शनं पित्तसधर्मकत्वाद्वक्तव्यम् । सन्निपातरूपमाह—सन्निपातेनेति । चित्राणि=

मानवर्णाणि, विप्लवतानि=विपरीतानि, विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुधा चेत्यादि । अयमर्थः—  
बहुधा द्विधा वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटलगते हीनाधिकाङ्गान्यपीति ॥ ४१-४६ ॥

अथ परिम्लायिसंज्ञकस्य तिमिरस्य लक्षणम् ।

पित्तेनापरं परिम्लायिसंज्ञकं तिमिरमाह—

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।

पीता दिशस्तु स्वद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥ ४७ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—पित्तं कुर्यादित्यादि । परिम्लायीति परिम्लायि तिमिरं, एतच्च रक्त-  
मूर्च्छितपित्तकृतं पीतं नीलं बोद्धव्यम् । यदाह सात्यकिः, “एवमेव तु विज्ञेया  
नीलाः पित्तसमुत्थिताः । रक्ताः पित्तोत्थिताः पीताः”—इति । अत्र वचने काच  
इति विशेष्यत्वेन बोद्धव्यम् । मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, प्रसाद-  
रूपत्वात्; तेन मिश्रितम् । अन्ये तु ‘रक्ततेजसा’ इति पठन्ति, रक्तस्य तेजो बलं  
रक्ततेजसः, केचित् “भक्ततेजसा” इति पठन्ति, भक्तस्य=अन्नस्य तेजसा=  
प्रसादेन रसेनेत्यर्थः; रक्ततेजसेत्यत्रापि रक्तार्थं तेजो रक्ततेज इति रस एवा-  
भिधातुं शक्यते, पित्ततेजसेत्यत्रापि पित्तार्थं तेजः पित्ततेजः, पित्तशब्देन  
समानत्वेन तत्प्रसादत्वेन च रक्तमभिधाय पूर्वं एवार्थः कर्तुं शक्यते । तथाच  
विद्वेहः,—“पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च भारुतम्”—इत्यारभ्य “एष  
याप्यः स्मृतः काचो म्लायीनाम्ना शरीरिणाम्”—इति । इदं त्वन्यत्र रक्तपि-  
त्ताभ्यां पठ्यते । यदुक्तम्—“विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम् । तेन  
पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्”—इति, अत्रापि यदि रक्तशब्देन  
रक्तार्थं यत्तद्रक्तमिति कुसृष्ट्या रसोऽभिधीयते, तदा पूर्वेण सह समानार्थ-  
मेवैतद्वचनं स्यादिति । परिम्लायिरोगे तिमिरवतः पुंसो रागग्रहणे लिङ्गमाह—  
पीता दिश इत्यादि । विकीर्यमाणानिति आच्छाद्यमानान् । याप्यश्चायं,  
तथाहि सात्यकिः,—“तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते । अरागि  
तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमश्रितम् ॥ कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात् तृतीये याप्य-  
मुच्यते”—इति ॥ ४७ ॥

आ०—पित्ते ( रक्ते ) न चापरं परिम्लायिसंज्ञितम् तिमिरमाह—पित्तमित्यादि । परिम्लायि-  
रतिमिरं कुर्यात् । एतच्च रक्तमूर्च्छितं पीतं नीलं बोद्धव्यम् । यदाह सात्यकिः,—“एवमेव तु विज्ञेया नीलाः  
पित्तसमुद्भवाः । रक्तपित्तोत्थिताः पीताः”—इति । मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, तस्य  
प्रसादरूपत्वात्, तेन संश्रितम् । अन्ये रक्ततेजसेति पठन्ति, रक्तस्य तेजोबलं रक्ततेजः, तेन रक्ता-

तेजसा रक्तप्रसादेन । कश्चिद्भक्तेजसेति पठति, भक्तेजसा आहारप्रसादेन रसेनेत्यर्थः । रक्ततेजसे-  
त्यत्र रक्तार्थं तेजो रक्ततेजः । इदं त्वन्यत्र रक्तपित्ताभ्यां पठ्यते । यदुक्तम्—“विदधाति परिम्लायि  
पित्तं रक्तेन सङ्गतम् । तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्”—इति । तस्मिन् रूपप्रदणालि-  
ङ्गमाह—पीता दिश इत्यादिना विकीर्यमाणान्=अच्छाद्यमानान्, याप्यश्चायं विकारः, तथाहि  
सात्त्विकः—“तृतीयं पटलं प्राप्ते तिमिरं रागि जायते । अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ।  
कुच्छं द्वितीये पटले तृतीये याप्यमुच्यते”—इति ॥ ४७ ॥

अथ वातादिदोषवशाद् दृष्टेर्वर्णभेदेन तिमिरस्य षड्विध्यम् ।

वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—

विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा ।

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतःपरम् ॥ ४८ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—वक्ष्यामि षड्विधं रागैरित्यादि । सर्वानुगां तिमिरसंज्ञां विहाय  
लिङ्गनाशसंज्ञया कीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥ ४८ ॥

आ०—वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—वक्ष्यामित्यादि । सर्वानुगां  
तिमिरसंज्ञां विहाय लिङ्गनाशसंज्ञायाः संकीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥ ४८ ॥

अथ वातादिरागोद्देशः ।

वातादिरागोद्देशमाह—

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तान् ।  
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥ ४९ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—रागोऽरुण इत्यादि म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तादिति म्लायी=  
पीतनीलो वर्णः । ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत् कथमधुना वातरोगस्या-  
नन्तरोक्तिः ? नैवम्, रागकाले वायुरप्यत्रांशेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थ-  
मिति कार्तिकः । पैत्तिकरूपद्वयस्यैकत्राभिधानेन लाघवं स्यादिति युक्तम्,  
यत्तु प्रागेव न कृतं तदेकविकारशङ्कानिरासार्थम् ॥ ४९ ॥

आ०—वातादिरागोद्देशमाह—राग इत्यादि । म्लायी पीतनीलो वर्णः, विचित्रो नानावर्णः ।  
ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत्कथमधुना वातरोगानन्तरं तस्योक्तिः ? नैवम्, रागकाले वायुरप्यत्रां-  
शेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः ॥ ४९ ॥

नानावर्णीनि, विप्लुतानि=विपरीतानि, विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुधा चेत्यादि । अयमर्थः—  
बहुधा द्विधा वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटलगते हीनाधिकाङ्गान्यपीति ॥ ४१-४६ ॥

अथ परिम्लायिसंज्ञकस्य तिमिरस्य लक्षणम् ।

पित्तेनापरं परिम्लायिसंज्ञकं तिमिरमाह—

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।

पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥ ४७ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०--पित्तं कुर्यादित्यादि । परिम्लायीति परिम्लायि तिमिरं, एतच्च रक्त-  
मूर्च्छितपित्तकृतं पीतं नीलं बोद्धव्यम् । यदाह सात्यकिः, “एवमेव तु विज्ञेया  
नीलाः पित्तसमुत्थिताः । रक्ताः पित्तोत्थिताः पीताः”—इति । अत्र वचने काच  
इति विशेष्यत्वेन बोद्धव्यम् । मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, प्रसाद-  
रूपत्वात्; तेन मिश्रितम् । अन्ये तु ‘रक्ततेजसा’ इति पठन्ति, रक्तस्य तेजो बलं  
रक्ततेजसः, केचित् “भक्ततेजसा” इति पठन्ति, भक्तस्य=अन्नस्य तेजसा=  
प्रसादेन रसेनेत्यर्थः; रक्ततेजसेत्यत्रापि रक्तार्थं तेजो रक्ततेज इति रस एवा-  
भिधातुं शक्यते, पित्ततेजसेत्यत्रापि पित्तार्थं तेजः पित्ततेजः, पित्तशब्देन  
सम्भानत्वेन तत्प्रसादत्वेन च रक्तमभिधाय पूर्वं एवार्थः कर्तुं शक्यते । तथाच  
विदेहः,—“पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च भारुतम्”—इत्यारभ्य “एष  
याप्यः स्मृतः काचो म्लायीनाम्ना शरीरिणाम्”—इति । इदं त्वन्यत्र रक्तपि-  
त्ताभ्यां पठ्यते । यदुक्तम्—“विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम् । तेन  
पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्”—इति, अत्रापि यदि रक्तशब्देन  
रक्तार्थं यत्तद्रक्तमिति कुसृष्ट्या रसोऽभिधीयते, तदा पूर्वेण सह समानार्थ-  
मेवैतद्वचनं स्यादिति । परिम्लायिरोगे तिमिरवतः पुंसो रागग्रहणे लिङ्गमाह—  
पीता दिश इत्यादि । विकीर्यमाणानिति आच्छाद्यमानान् । याप्यश्चायं,  
तथाहि सात्यकिः,—“तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते । अरागि  
तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ॥ कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात् तृतीये याप्य-  
मुच्यते”—इति ॥ ४७ ॥

आ०--पित्ते ( रक्ते ) न चापरं परिम्लायिसंज्ञितम् तिमिरमाह—पित्तमित्यादि । परिम्लायि  
तिमिरं कुर्यात् । एतच्च रक्तमूर्च्छितं पीतं नीलं बोद्धव्यम् । यदाह सात्यकिः,—“एवमेव तु विज्ञेया नीलाः  
पित्तसमुद्भवाः । रक्तपित्तोत्थिताः पीताः”—इति । मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, तस्य  
प्रसादरूपत्वात्, तेन संश्रितम् । अन्ये रक्ततेजसेति पठन्ति, रक्तस्य तेजोबलं रक्ततेजः, तेन रक्ता-

तेजसा रक्तप्रसादेन । कश्चिद्भक्ततेजसेति पठति, भक्ततेजसा आहारप्रसादेन रसेनेत्यर्थः । रक्ततेजसे-  
त्यत्र रक्तार्थं तेजो रक्ततेजः । इदं त्वन्यत्र रक्तपित्ताभ्यां पठ्यते । यदुक्तम्—“विदधाति परिम्लायि  
पित्तं रक्तेन सङ्गतम् । तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्”—इति । तस्मिन् रूपग्रहणालि-  
ङ्गमाह—पीता दिश इत्यादिना विकीर्यमाणान्=अच्छाद्यमानान्, याप्यश्चायं विकारः, तथाहि  
सात्यकिः—“तृतीयं पटलं प्राप्ते तिमिरं रागि जायते । अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ।  
कुच्छं द्वितीये पटले तृतीये याप्यमुच्यते”—इति ॥ ४७ ॥

अथ वातादिदोषवशाद् दृष्टेर्वर्णभेदेन तिमिरस्य षड्विध्यम् ।

वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—

विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा ।

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतःपरम् ॥ ४८ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—वक्ष्यामि षड्विधं रागैरित्यादि । सर्वानुगां तिमिरसंज्ञां विहाय  
लिङ्गनाशसंज्ञया कीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥ ४८ ॥

आ०—वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—वक्ष्यामित्यादि । सर्वानुगां  
तिमिरसंज्ञां विहाय लिङ्गनाशसंज्ञयाः संकीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥ ४८ ॥

अथ वातादिरागोद्देशः ।

वातादिरागोद्देशमाह—

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तान् ।  
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥ ४९ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—रागोऽरुण इत्यादि म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तादिति म्लायी=  
पीतनीलो वर्णः । ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत् कथमधुना वातरोगस्या-  
नन्तरोक्तिः ? नैवम्, रागकाले वायुरप्यत्रांशेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थ-  
मिति कार्तिकः । पैत्तिकरूपद्वयस्यैकत्राभिधानेन लाघवं स्यादिति युक्तम्,  
यत्तु प्रागेव न कृतं तदेकविकारशङ्कानिरासार्थम् ॥ ४९ ॥

आ०—वातादिरागोद्देशमाह—राग इत्यादि । म्लायी पीतनीलो वर्णः, विचित्रो नानावर्णः ।  
ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत्कथमधुना वातरोगानन्तरं तस्योक्तिः ? नैवम्, रागकाले वायुरप्यत्रां-  
शेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः ॥ ४९ ॥

अथात्र वातिकरागस्यैव वैशिष्ट्यम् ।

उद्देशक्रमेण वातिकरागस्यैव विशिष्टलक्षणमाह—

**अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम् ।**

( सु० उ० अ० ७ )

म०—अरुणं मण्डलमित्यादि । अरुणं मण्डलं कीदृशं भवतीत्यत आह—  
स्थूलकाचारुणप्रभमिति ।—स्थूलकाचस्यैव अरुणा प्रभा यस्य तत्तथा; एतेन  
बाहुल्यमरुणत्वं च प्रतिपाद्यते । काचोऽत्रारुणो विवक्षितः ॥

आ०—परिम्लायितिमिररोगमाह—अरुणमित्यादि । स्थूलकाचस्यैवारुणा प्रभा यस्य तत्तथा ।  
काचोऽत्रारुणो विवक्षितः ॥

अथ परिम्लायितिमिरस्य विशेषलक्षणानि ।

परिम्लायिनो विशिष्टलिङ्गमाह—

**परिम्लायिनि रोगे स्यात् म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥५०॥  
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम् ।**

( सु० उ० अ० ७ )

म०—परिम्लायिनीत्यादि । अत्र । गदाधरस्तु ‘रक्तजं मण्डलं दृष्ट्यां  
स्थूलकाचानलप्रभम्’—इति पठित्वा एतदपि परिम्लायिलक्षणमाह, व्याचष्टे  
च— बाहुल्येन स्थूलकाचस्यैव वर्णतः अनलस्यैव प्रभा यस्य तत्तथेति, अन-  
लप्रभत्वेन पीतं मण्डलं भवति, पीतं चेषन्नीलं बोद्धव्यम्, “ म्लायि नीलं च  
मण्डलम् ”—इत्यभिधानात्, तथा “पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव  
च—” इत्युक्तम्, आनीलमीषन्नीलमित्यर्थः । म्लायीति म्लानमिति कार्तिकः ।  
दोषक्षयादिति कर्मक्षयात्, सत्यपि दोषरूपत्वे दर्शनसद्भावात् । ननु, किं तर्हि  
दोषरूपं तादृशमेवावतिष्ठते उत क्षीणं वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, दोषाणां  
कृतकार्याणां तथात्वे दर्शनस्यासंगतत्वात्; अथ द्वितीयस्तदा दोषस्यैव क्षया-  
दित्यापतितम्, किमिति कर्मक्षयादिति स्वीक्रियते ? नैवम्, विना दोषप्रती-  
कारं दर्शनोदयाद् विकारस्वभावादिति कार्तिकः । अन्ये तु कालवशात्  
वातादिदोषस्यैव क्षयात् कदाचिद् दर्शनं स्यादित्याहुः, यतः कालादिजमपि  
विशेषं कचिल्लक्षणत्वेन पठ्येव, दोषशब्देन च कर्मणोऽभिधानमप्रसिद्धं; किंवा  
दोषक्षये एव कदाचित् कर्मक्षयो हेतुरिष्यताम्, कर्मणश्च कदाचित् क्षयो वैचित्र्यात् ।

अथात्रैव कुत एवम् उच्यते, अस्पैवंविधकर्मजन्यत्वादिति । गदाधर-  
पाठे रक्तजमित्यत्र रक्तमित्युपक्षलणम्, तेन रक्तपित्तजम् ॥ ५० ॥—

आ०—परिस्लादिनि तिमिरे दोषक्षयात् कदाचित्तत्र दर्शनं भवतीत्याह—दोषक्षयादिति ।  
कालादिना वातादिदोषस्यैव क्षयात्; अन्ये कर्मसहचरितवातादिदोषक्षयात् ॥ ५० ॥—

अथ लिङ्गनाशस्य विशिष्टलक्षणानि ।

रागोऽरुणोमारुतज इत्यादिसूत्रं पूर्वोक्तं विवृणोति—

अरुणं मण्डलं वातात् चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५१ ॥

पित्ताद् मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च ।

श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्ख-कुन्देन्दु-पाण्डुरम् ॥ ५२ ॥

चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः ।

मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद् विसर्पति ॥ ५३ ॥

प्रवाल-पद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।

दृष्टिरागो भवेत् चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ।

यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ ५४ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—अरुणं मण्डलं वातादित्यादि । पित्तान्मण्डलमानीलमिति आनी-  
लमीषन्नीलं पीतमेव, तेन रक्तसंबन्धे सति कांस्याभम् । पीतमेव चेति रस-  
संबन्धे पीतमेव, कांस्याभमापाण्डुपीतमित्यर्थः । केचिदत्र कफजे पठन्ति—  
“संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्मृतो भवेत्”—इति । शोणितजे प्रवाले-  
त्यादौ प्रवालं स्वनामख्यातं तदाभं, पद्मपत्राभं च रक्तपद्मपुष्पदलाभम् ।  
त्रिदोषजे चित्र इत्यत्र यथास्वं वातादिवर्णविभेदेन चित्रत्वं बोद्धव्यम्, यथा-  
स्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यात्रापि संबन्धात्, तेनायमर्थः—यथायथं वातादीनां  
वर्णभेदेन चित्रवर्णो भवति, उद्देशोक्तवर्णचित्रत्वे साक्षादेतादृशविवरणाभाव  
इति विशेषः । यथास्वं दोषलिङ्गानित्यस्याभिधानं न्यायसिद्धस्यैवार्थस्य  
द्योतनार्थम् । दोषलिङ्गानि वातादीनां क्रमेणारुणादिलिङ्गान्धुक्तेषु ज्ञात-  
व्यानि ॥ ५१—५४ ॥

आ०—तेषामेव मण्डलगतरागमाह—अरुणमित्यादि । पित्तादित्यादि । कांस्याभम्, आपाण्डु  
ईषत्पीतमित्यर्थः । सर्वं चैतत्पित्तम्लायिविषयम् । श्लेष्मणा बहुलमित्यादिकफलक्षणे बहुलं=



वनम् । कमलपत्रस्थजलबिन्दुसदृशं, आतपेऽत्यर्थं संकुचति, छायायां विस्तृतो भवेत्, मृज्यमाने नेत्रे तन्मण्डलं प्रसरति । रक्तजमाह—प्रवालेत्यादि । प्रवालं स्वनामाख्यातं तदाभम् । पद्मपत्राभं= रक्तकमलदलाभम् । त्रिदोषजमाह—दृष्टिराग इत्यादि । यथास्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यात्रापि सम्बन्धः । तेनायमर्थः—यथायर्थं वातादिना चित्रो वर्णो भवति । उद्देशेन सर्वेषां लक्षणमाह—यथास्वमित्यादि । वातादीनां क्रमेणारुणादिलिङ्गान्युक्तेषु ज्ञातव्यानि ॥ ५१—५४ ॥

अथ नेत्ररोगाणां परिगणनम् ।

अतः परमुक्तवक्ष्यमाणविकारयोः संख्याभिधानार्थमाह—

षट् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः ।

( सु० उ० अ० ७ )

म०—षडित्यादि । षट्लिङ्गनाशा इत्युक्तानुवादोऽयम् । षडिमे च रोगा इति पित्तविदग्धदृष्ट्यादयो वक्ष्यमाणाः । ननु, उक्तानुवादो युक्तः, वक्ष्यमाणानां पुनः किमर्थं संख्योक्तिः ? नैवम्, पित्तकफविदग्धदृष्ट्यवस्थान्तराभ्यां दिवान्ध-रात्र्यन्धाभ्यां संख्याधिक्यनिरासार्थम्, अत एव षडेवेत्यवधारणं कृतं, षट् च षडेव इति मिलित्वा द्वादश, अमुं च ग्रन्थं केचिदत्र संग्रहे पठन्त्येव ॥—

आ०—अतः परमुक्तवक्ष्यमाणविकारयोः संख्याभिधानमाह—तथेत्यादि । पित्तविदग्धदृष्टिरित्यादिना दिवान्धः, कफेन चान्य इति रात्र्यन्धः, तथा धूमदर्शी ह्रस्वजाड्य-नकुलान्ध्य-गाम्भीरसंज्ञेति दृष्टिरोगाः वक्ष्यमाणाः पूर्वोक्ताः षट्, लिङ्गनाशा दिवान्धादयो वक्ष्यमाणाः षट् विकाराः । एवं दृष्ट्याश्रया रोगा द्वादश ज्ञेयाः । षडेवेत्येवकारेण कफपित्तविदग्धदृष्टेरवस्थान्तराभ्यां दिवान्धरात्र्यन्धाभ्यां संख्याधिक्यनिरासार्थम् ॥—

अथ पित्तविदग्धदृष्टेर्लक्षणानि ।

( Day Blindness, or Hemaralopia. )

पित्तविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित् ॥ ५५ ॥  
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ।  
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येद् निशि चेक्षते सः ॥ ५६ ॥  
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्तालपभावादपि तानि पश्येत् ।

( सु० उ० अ० ७ )

म०—पित्तेनेत्यादि । दृष्टिः पीता भवेदिति प्रथमद्वितीययोः पटलयोरिति गम्यते, यतः परतः “प्राप्ते तृतीयं पटलम्”—इत्यभिधास्यति । ननु,

यद्येवं कथं तिभिरादस्याः पार्थक्यम् ? उच्यते—तृतीयपटलप्राप्तिमन्तरण वर्णा-  
सद्भावात् । एतच्च सति वर्णे पटलान्तरगतदोषलिङ्गाभावात् प्रत्येतव्यम् ।  
अस्मिन्नेव व्यवस्थाने तादृक् स्वरूपो दोष कथमन्यविकारं करोतीति नाशङ्कनी-  
यम्, तज्जनककर्मणो भिन्नत्वेन सामग्रीभेदात् । अयं दिवान्धः, 'दिवा न पश्येत्'  
इति वचनात् । तानीति रूपाणि । दोषे=पित्ते ॥ ५५ ॥ ५६ ॥—

आ०—पित्तविदग्धदृष्टिलक्षणमाह—पित्तेनेत्यादि । दृष्टिः पीता भवेदिति प्रथमद्वितीयपटलयोर्दोष-  
गतिरवगम्यते । यतः परतः 'प्राप्ते तृतीयं पटलम्' इत्यभिधास्यति । पित्तविदग्धदृष्टेरवस्थान्तरं  
दिवान्धमाह—प्राप्त इत्यादि । अयं दिवान्धो 'दिवा न पश्येत्' इति वचनात् । दोषे पित्ते, रात्रौ  
तु शीतानुग्रहान् रूपाण पश्येत् ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

अथ श्लेष्मविदग्धदृष्टेर्लक्षणानि ।

( Night Blindness, or Nyctalopia. )

श्लेष्मविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि तु मन्यते सः ॥ ५७ ॥  
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ।  
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्यत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥ ५८ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिरित्यादि । एतां च प्रथम-द्वितीय-  
पटलाश्रितः श्लेष्मा जनयति; परतः 'त्रिषु' इत्युक्तेः । तानीति रूपाणि ।  
त्रिषु स्थितोऽल्प इत्यनेन दिवादर्शनं प्रत्यानुकूल्यं ख्याप्यते । यदि हि अनल्पदोषः  
स्यात्तदा दिवाऽपि दर्शनं न भवेदेव । दोषोऽत्र कफः, तस्यैव प्रक्रान्तत्वात्; अयं  
नक्तान्धः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

आ०—श्लेष्मविदग्धदृष्टिमाह—तथेत्यादि । यः श्लेष्मविदग्धदृष्टिः स तानि रूपाणि शुक्लानि  
पश्यति । अत्रापि प्रथमद्वितीयपटलाश्रितत्वं बोद्धव्यम् । अवस्थान्तरं रात्र्यन्धमाह—त्रिष्वि-  
त्यादि । त्रिषु पटलषु स्थितोऽल्पदोषो नक्तान्ध्यं जनयति, रात्रौ न पश्यतीत्यर्थः । सूर्यानुग्र-  
हान् कफाल्पभावान् स दिवाऽनुपश्यति ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

अथ धूमदर्शिनो लक्षणानि ।

धूमदर्शिनो लिङ्गमाह—

शोक-ज्वरा-ऽऽयास-शिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।  
धूम्रांस्तथा पश्यति सवभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥ ५९ ॥

( सु० उ० अ० ७ )

म०—शोकज्वरायासेत्यादि । शोकादिभिः कारणैः कुपितेन पित्तेनाभ्या-  
हता उपहता दृष्टिरिति प्रत्येतव्यम्, अस्य सुश्रुते रोगसंग्रहे पैत्तिकगणेऽभिधा-

नात् । अयं च रोगो बाह्यपटलस्थने दोषेण जन्यत इति गदाधरः, तृतीय-  
पटलाश्रितदोषेणेति कार्तिकः । दिवा धूमान् पश्यति, न तु नक्तम्, तदा पित्त-  
स्य क्षीणत्वादिति व्याख्यानयन्ति ॥ ५९ ॥

आ०—धूमदर्शिनमाह—शोकेत्यादि । शोकादिभिः कारणैः कुपितेन पित्तेनाभ्याहता=उपहता  
दृष्टिरिति प्रत्येतव्यम् । स सधूमकान् धूमेन सह वर्तन्त इति सधूमकास्तान् पदार्थान् पश्यति ।  
अयं च रोगो बाह्यपटलस्थने दोषेण जन्यत इति गदाधरः । द्वितीयपटलाश्रितेन दोषेणेति कार्तिकः ।  
दिवा धूमान् पश्यति, न तु रात्रौ; पित्तस्य क्षीणत्वादिति व्याख्यानयन्तीति ॥ ५९ ॥

### अथ ह्रस्वजाड्यरोगस्य लक्षणम् ।

ह्रस्वजाड्यलक्षणमाह—

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छाद् ह्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत् ।

म०—यो ह्रस्वजाड्य इत्यादि । तेन ह्रस्वजाड्येन ह्रस्वानि रूपाणि दिवा यः  
पश्येत् स ह्रस्वजाड्य इति योजना । अत्र दोषो दृष्टिमध्यगतः । यदुक्तम्—  
“दृष्टिमध्यगते दोषे महद् ह्रस्वं च पश्यति”—इति । अयं पैत्तिकः ॥—

आ०—ह्रस्वजाड्यमाह—य इत्यादि । तेन ह्रस्वजाड्येन ह्रस्वानि रूपाणि दिवा पश्येद् यः स  
ह्रस्वजाड्य इति योजना । अत्र दोषो दृष्टिमध्यगः । यदुक्तम्—“दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद् ह्रस्वं च  
पश्यति”—इति ।—

### अथ नकुलान्ध्यरोगस्य लक्षणम् ।

नकुलान्ध्यसंज्ञमाह—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥ ६० ॥

चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः ।

म०—विद्योतते यस्येत्यादि । नकुलस्य यद्वत् यथा दृष्टिर्विद्योतते वर्णेन  
प्रतिभासते तथाऽस्येत्यर्थः । अतः सर्वदृष्टिमण्डलगतो रागः सर्वदोषवर्णश्च,  
दोषाभिपन्नेत्यत्र दोषशब्दस्याविशेषित्वादभिषब्दस्याभिव्याप्त्यर्थस्य प्रयो-  
गात् । एतौ ह्रस्वजाड्य-नकुलान्ध्यौ चतुःपटलस्थितदोषजन्यौ सरागौ न  
साध्यौ । तथाच विदेहः—“नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः ।  
तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च ॥ विशेषेण भवेयातां द्वौ चतुःपट-  
लाश्रितौ ॥ तौ च संप्राप्तरागत्वादसाध्यौ परिकीर्तितौ”—इति । एतौ च राज्य-  
न्धौ प्रत्येतव्यौ, दिवा ह्रस्व-चित्र-रूपदर्शनाभिधानेन रात्रावदर्शनप्रतीतेः ।  
विदेहेन तु नक्तान्धत्वेऽपि चत्वार इत्युक्तम्, नक्तान्धबाहुल्येन दिवान्धेऽपि  
तत्प्रयोगात्, छात्रिणो गच्छन्तीतिवत् ॥ ६० ॥—

आ०—नकुलान्धमाह—विद्योतत इत्यादि । नकुलस्य दृष्टिः विद्योतते=प्रतिभासते वर्णेन यथ तथा यस्येत्यर्थः । अत्र सर्वदृष्टिमण्डलगतो रागः सर्वदोषवर्णश्च । अभिपन्नेति अभिशब्दस्याभितः प्राप्त्यर्थस्य प्रयोगात् दिवा पश्येदित्युक्तत्वात् रात्रौ न पश्यतीत्यवगन्तव्यम् । एतौ ह्रस्वजाड्यनकुलान्धौ चतुष्पटलस्थितदोषजन्यौ सरागौ न साध्यौ च, तथा विदेहः—“नक्तमन्धास्तु चत्वारः पुरस्तात्परिकीर्तिताः । तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च ॥ विशेषेण भवेयातां तौ चतुष्पटलाभितौ । तौ च संप्राप्तरागत्वात्तस्मादेतौ न सिद्ध्यतः—” इति ॥ ६० ॥—

अथ गम्भीरिकाया लक्षणम् ।

गम्भीरिकालक्षणमाह—

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥ ६१ ॥  
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

म०—दृष्टिरित्यादि । विरूपा=विकृता । श्वसनोपसृष्टा=वातोपगता, संकोचमभ्यन्तरतस्तु यातीति अन्तःसंकोचमेति निमज्जतीत्यर्थः, “संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति” इति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः । इयमविशेषोक्तिः । सकलपटलगतवातजन्या असाध्या, सुश्रुते गम्भीरिका तथेति निर्देशात् ॥ ६१ ॥—

आ०—गम्भीरिकामाह—दृष्टिरित्यादि । विरूपा=विकृता । श्वसनोपसृष्टा वातोपगता । अन्तःसंकुच्यते इति अन्तःसंकुच्यते निमज्जतीत्यर्थः । “संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति” इति पाठान्तरम् । तत्रापि स एवार्थः ॥ ६१ ॥

अथागन्तुजलिङ्गनाशस्य लक्षणानि ।

तदेवं शरीरान् द्वादश दृष्टिगतविकारानभिधाय सनिमित्तानिमित्तभेदादागन्तुबाह्यजौ नयनविकारौ ( लिङ्गनाशौ ) दर्शयन्नाह—

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥ ६२ ॥  
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाद् ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।  
सुरर्षि-गन्धर्व-महोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥ ६३ ॥  
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।  
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥ ६४ ॥

म०—बाह्यौ पुनर्द्वाविहेत्यादि । संप्रदिष्टौ कथितावौपद्रविकाध्याये “तथा बाह्यौ पुनर्द्वा” ( सु. उ. त. अ. १. )—इत्यादिना । बहिर्भवौ बाह्यौ, आगन्तू इत्यर्थः । तत्र सनिमित्तं दर्शयन्नाह—निमित्ततस्तत्रेत्यादि । शिरोऽभितापादिति शिरः अभि=सर्वतस्तप्यते येन विषकुसुमगन्धवाहिपवनस्पर्शादिना स

शिरोऽभितापस्तस्मात्, तेन समस्तशिरस उपतापान्नयनगतरुधिराधिककोपः  
दृष्टेरपि शक्तेर्व्याघातः । अभिष्यन्दनिदर्शन इति रक्ताभिष्यन्दलिङ्ग इति  
गदाधरः, सुश्रुते रोगसंग्रहे सर्वजगणे द्वयोरप्येतयोः पाठात् । सन्निपातजा-  
भिष्यन्दलक्षण इति कार्तिकः । अनिमित्तमाह—सुरर्षिगन्धर्वेत्यादि । अनु-  
पलभ्यमानविशिष्टसुरादिदर्शननिमित्तमाहुः । संदर्शनेन=सम्यग्दर्शनेन, हन्येत=  
हन्तुं संभाव्येत, न त्ववश्यं हन्येतेत्यभिप्रायः । ( दृष्टिरिति दर्शनमुपलब्धिर्हि-  
त्यर्थः, न तु दृष्टिगण्डलं अस्यादृष्टिगतविकारत्वात् । लिङ्गनाशप्रयोगश्चात्र  
रूपग्रहणाभावसामान्यान्नु तु रुढ्या, तस्य चतुर्थपटलस्थितिभिर एव रुढत्वात् । )  
तच्चेदं दर्शनं किमभिष्यन्दवत् सकलगोलकोपघातकम् ; तिमिरत्वाद् दृष्टिमा-  
त्रोपघातकं वेति शङ्कानिरासार्थमाह—तत्राक्षीत्यादि । विस्पष्टमिवेति  
पूर्वावस्थातो विशेषेण प्रसन्नमिव गोलकावच्छिन्नं चक्षुरवभासते । दृष्टि-  
रपि वैदूर्यवर्णा श्यावा दृष्टिः प्रकृतिवर्णेत्यर्थः । विमलेति विगत-  
काचादिमला । अयं तात्पर्यार्थः—पूर्वावस्थातः शक्तिमात्रमुपहन्यते, यतो  
देवादयो हि अवश्यमदूषयन्त एव शक्तिमात्रमुपगन्ति । यदुक्तं चरके—“देवा-  
दयोऽष्टौ हि महानुभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम् । विशन्त्यदृश्यास्तरसा  
यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ” ( च. चि. स्था. अ. ९ )—इति । एतौ च  
बाह्यजौ दृष्ट्याधानां विरूपणीयतया दृष्टिगतावेव, अत एव तदधिकारनिर्दिष्टौ,  
शरीराभिप्रायेण द्वादशविधमुक्तम्, तेन न संख्यातिरेकः । द्वावप्येतावसाध्यौ ॥  
॥ ६२—६४ ॥

आ०—एवं दृष्टिगता द्वादश कथिताः, बाह्याः सन्निमित्तानिमित्तभेदाद्विङ्गनाशाद्—बाह्यावित्यादि ।  
तत्र=तयोर्मध्ये निमित्ततः कथ्यत इत्यर्थः । शिरोऽभितप्यते येन विपकुसुमगन्धवाहिपवनस्पर्शेन  
स शिरोऽभितापः, तस्मात्तेन समस्तमस्तकस्योपघातान्नयनगतरक्तकोपः दृष्टेरपि शक्तिव्याघातः । अभि-  
ष्यन्दनिदर्शनैरिति गदाधरः । सन्निपातभिष्यन्दलक्षणैरिति कार्तिकः । अभिघातजमाह—विदीर्यते  
इति; विदीर्यते=द्विधा भवति, सीदति=म्लानीभवति, हीयते=हीना भवति, अभिघातो=लगुड-  
लोष्टादिजः । अनिमित्तजमाह—सुरर्षीत्यादि । एतेषां संदर्शनेन हन्येत । नयनोपघातमन्तरेण  
दर्शनशक्तिमात्रमुपहतमिति दर्शयन्नाह—तत्राक्षीत्यादि । विस्पष्टं=प्रसन्नम् । वैदूर्यवर्णा=  
श्यामप्रकृतिवर्णा इत्यर्थः । विमलं=दोषजनिततिमिररागजनितकाचादिरहिता । ननु, कथ-  
मिन्द्रियस्य भौतिकस्यादुष्टस्यापि शक्तिनाशः ? उच्यते,—देवादयोऽष्टौ भौतिकेन्द्रियमदूषयन्त  
एव शक्तिमुपगन्ति । यदुक्तं चरके—“ देवादयोऽष्टौ हि महाप्रभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम् ।  
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ—” इति । वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकः, रक्तजः  
सन्निपातिकः, परिम्लायि, एवं षड् लिङ्गनाशाः; दिवान्धः, रात्र्यन्धः, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्यः,  
नकुलान्धः, गम्भीरिका, एवमपरे दृष्टिरोगाः षट्, एवं द्वादश । बाह्यावपरो द्वौ सन्निमित्तानि-  
मित्तौ, एवं चतुर्दश दृष्टिरोगाः ॥ ६२—६४ ॥ ( इति दृष्टिगताः )

अथार्मरोगस्य पञ्चभेदास्तत्र प्रस्तार्यर्मणो लक्षणानि ।

( Pterygium )

अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद् दृष्टिगतानन्तरं शुक्लमण्डल-  
वर्त्म-पक्ष्म-मण्डल-गतानां निदानाभिधानावसरप्राप्तौ वर्त्मादिमण्डलप्रतियोगि-  
तया शुक्लमण्डलस्यान्तर्गतत्वात् सौकुमार्येणानन्तरं कृत्वा च निदानोद्देशारम्भः,  
तत्र प्रस्तारिशब्दाभिधानस्यार्मणो लक्षणमाह—

प्रस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते ।

म०—प्रस्तारीत्यादि । प्रस्तारीति लक्ष्यम्, शेषं लक्षणम् । तनु= अवहलम् । स्तीर्णं=विततम् । श्यावभीषन्नीलम् । रक्तनिभं=रक्तवर्णम् । अत्र श्याव-रक्तयोर्विरोधात् समुच्चयाभावेन विकल्पः । अत एवाह त्रिभिः—“स-  
मन्ताद् विसृतः श्यावो रक्तो वा मांससंचयः । सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्म  
तदुच्यते”-इति । गदाधरणे ईषन्नीललोहितवर्णसमुच्चय एव दर्शितः । सिते= शुक्लभागे ॥—

आ०—चतुर्दशदृष्टिजानन्तरमदूरत्वेन शुक्लजा उच्यन्ते, तत्र प्रस्तारिलक्षणमाह—प्रस्तारी-  
त्यादि । तनु=अवहलं, विस्तीर्णं=प्रस्तारि, प्रसरयुक्तमित्यर्थः । श्यावं=सशुक्ल कृष्णं. रक्तमीपलोहितं  
सिते=शुक्ले अर्धान्नयनस्येति पूरणीयम् ।—

अथ शुक्लार्मणो लक्षणम् ।

शुक्लार्मलक्षणमाह—

सश्वेतं मृदु शुक्लार्मं शुक्ले तद् वर्धत चिरात् ॥ ६५ ॥

म०—सश्वेतमित्यादि । सश्वेतं=किञ्चिच्छ्वेतम् । मृदु=कोमलम् । परतो वक्ष्य-  
माणं मांसमिति पदं सिंहावलोकनन्यायेन संबन्धनीयम् । सशब्दस्याधिकस्यो-  
पादानं सम्यक् श्वेतत्वप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः । शुक्ले=शुक्लमण्डले ।  
चिरात्=चिरकालेन तद् वर्धते, कफजत्वात् ॥ ६५ ॥

आ०—शुक्लार्मलक्षणमाह—सश्वेतमित्यादि । सश्वेतं चिरेण वर्धत इति कफजत्वात् शुक्लार्मं तस्य  
नाम ॥ ६५ ॥

अथ रक्तार्मणो लक्षणम् ।

रक्तार्मलक्षणमाह—

पद्माभं मृदु रक्तार्मं यन्मांसं चीयते सिते ।

म०—पद्माभमित्यादि । पद्माभम्=अरुणपद्मपत्रनिभम् । मृदु=कोमलम्,  
सिते=शुक्लमण्डले । चीयते=वृद्धिमुपैति, एतद् रक्तजम् ॥—

१ अर्मन्, -क्ली० पुं०, ( क्ल+मन् । ) चक्षुरोगविशेषः । इति लिङ्गादिसंग्रहे अर्मरः ॥ वैद्यके नान्तः  
क्लीबलिङ्गोऽयं शब्दः ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे ॥

आ०—रक्तार्मलक्षणमाह—पद्माभमित्यादि । रक्तपद्माभम् । मृदु=कोमलम् । यन्मांसं चीयते इति । मांसमुपचयमुपैति । एतद्रक्तजमिति नयनस्य शुक्लभागे ।

अथाधिमांसार्मणो लक्षणम् ।

अधिमांसार्मलक्षणमाह—

पृथु मृद्रधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ॥

म०—पृथिवित्यादि । पृथु=विततम्, विस्तीर्णमित्यर्थः । बहलं=स्थूलम् । लोहितत्वेन यकृन्निभम्, श्याववर्णसंबन्धोऽप्यत्र ज्ञेयः, यथाऽऽह सुश्रुतः—“विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्”—इति । अत्र श्यावं वेति वाशब्दः समुच्चये, तेन श्यावं लोहितं चेत्यर्थः । एतच्च त्रिदोषजम्, सुश्रुते त्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात् ॥—

आ०—अधिमांसार्मलक्षणमाह—पृथिवित्यादि । पृथु=विस्तीर्णम्, बहलं=स्थूलम् । यकृन्निभमिति द्वेषनीललोहितमित्यर्थः । एतत् त्रिदोषजम् ।

अथ स्नाय्वर्मणो लक्षणम् ।

स्नाय्वर्मलक्षणमाह—

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुक्लं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६६ ॥

म०—स्थिरमित्यादि । स्थिरं=कठिनम् । मांसाढ्यं=बहुमांसम् । शुष्कमविस्त्रावि । इदं च प्रस्तार्यर्मोद्भवम् । तथा च निमिः—“प्रस्तारिणोऽर्मणः स्त्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः । विना स्त्रावं विशुष्कं तत् स्नाय्वर्ममिति प्रकीर्तितम्”—इति । इदं तु सन्निपातजमपि साध्यम् ॥ ६६ ॥

आ०—स्नाय्वर्मलक्षणमाह—स्थिरमिति । स्थिरं=कठिनं, शुष्कमविस्त्रावि । इदं च प्रस्तार्यर्मोद्भवम्, तथा विदेहः—“प्रस्तारिणोऽर्मणः स्त्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः । विना स्त्रावं विशुष्कं च यत्स्नाय्वर्ममिति तद्विदुः”—इति । इदं सन्निपातजम् ॥ ६६ ॥

अथ शुक्त्याख्यनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

शुक्तिकालक्षणमाह—

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च विदन्वो य

शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः

म०—श्यावा इत्यादि । श्यावाः=पाण्डुश्यामाः, पिशितनिभा इति नियमेन भणितः, तेन पिशितस्येव नियमेन भा=दीप्तिर्येषां ते तथा, सा च प्रभा



श्यावा इति समभिव्याहारेण श्याववर्णैव; नत्वत्र मांसस्योपमानत्वं पिशितनि-  
भशब्दोऽभिधत्ते, वक्ष्यमाणार्जुने रुधिरापमशब्दवत्, मांसात्मकत्वादेव शुक्ति-  
कायाः । सितनियता इति सिते=शुक्लमण्डले नियताः शुक्त्याभाः=जलशुक्ति-  
निभाः, वर्णसाम्यात्; अत एव शुक्तिसंज्ञः, अयं पित्तजः । अत्र वाग्भटः-  
“पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसित-श्याव-पीतकान् । मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं  
शुक्लं स दाहरुक् ॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्-भेद-तृद्-ज्वरः” ( वा.  
उ. त. अ. १ )-इति ॥-

आ०-शुक्तिकालक्षणमाह-श्यावाः स्युरित्यादि । श्यावाः=पाण्डुश्यामाः, पिशितनिभाः=पिशित-  
ल्येव नियमेन भा दीप्तिर्येषां ते तथा, शुक्त्याभाः=जलशुक्तिनिभाः, तत्साम्यात् । असितसिताः=असित-  
ताश्च सिताश्चासितसिताः । अयं पित्तजः ।—

अथार्जुनस्य लक्षणम् ।

अर्जुनलक्षणमाह-

एको यः शशरुधिरापमश्च बिन्दुः ।

शुक्लस्थो भव तमर्जुनं वदन्ति ॥ ६७ ॥

( सु० उ० अ० ४ )

म०-एक इत्यादि । एक एव सन् यः शशरुधिरवद्बोहितो बिन्दुरूपश्च  
विकारस्तमर्जुनं वदन्तीत्यर्थः । उक्तं च कल्याणविनिश्चये-“शक्रगोपनिभं  
शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः”-इति । एतेन बिन्दुरूपत्वे नियमो नास्तीति ज्ञेयम् ।  
अत एव रविगुप्ते-“कृष्णभागे सितं बिन्दुं शुक्लं विद्यात् कफात्मकम् । रक्तं  
च शुक्लभागस्थमर्जुनं शोणितोद्भवम्”-इति ॥ ६७ ॥

आ०-अर्जुनमाह-एक इत्यादि । इदं शोणितजम् ॥ ६७ ॥

अथ पिष्टकस्य लक्षणम् ।

पिष्टकलक्षणमाह-

श्लेष्म-मारुत-कोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम् ।

पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसंनिभम् ॥ ६८ ॥

( सु० उ० अ० ४ )

म०-श्लेष्ममारुतकोपेनेत्यादि । पिष्टमिति लक्षणपदम् । पिष्टवदिति आ-  
लेपनपिष्टतुल्यं श्वेतत्वेन । पुनः पिष्टकमिति लक्ष्यपदम् । समुन्नतमुच्छ्रूनम् ।

मलाक्तादर्शसंनिभमिति धूल्यादिम्रक्षितदर्पणतुल्यम् । अयं कफवातजः, अतः कफेनाच्छतया, वातेन किञ्चित् श्यावतया मलाक्तदर्पणनिभत्वमस्येत्यर्थः ॥ ६८ ॥

आ०—पिष्टकमाह—श्लेष्मेत्यादि । पिष्टमिति लक्षणपदम् । पिष्टवदिति आलेपनपिष्टतुल्यं, श्वेतत्वेन । पुनः पिष्टकमिति लक्ष्यपदम् । मलाक्तादर्शसंनिभमिति धूल्यादिम्रक्षितदर्पणतुल्यम् । अयं वातकफजः साध्यश्च ॥ ६८ ॥

अथ जालाख्यनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

सिराजाललक्षणमाह—

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः

सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

म०—जालाभ इत्यादि । अनुलोमविलोमसिरानिचयरचितनिरन्तरविवर-  
गवाक्षिभावात् जालस्येव आभा=आकृतिर्यस्य स तथा । कठिनसिर इत्यनेन  
सिराणामेव संतानोऽयं विकार इति दर्शयति । सरक्त=ईषल्लोहितः, संतनोति=  
आच्छादयतीति संतानः, बहुलवचनात् कर्तरि षञ् । अत्र बिन्दुशब्दोऽनुवर्त-  
नीयः, स सर्वत्र विशेष्यः । जालसंज्ञित इत्यत्र “सिरापूर्व” इति शेषः, तेन  
सिराजालसंज्ञितः इत्यर्थः । अयं च रक्तजः ॥—

आ०—सिराजालमाह—जालाभ इत्यादि । अनुलोमविलोमस्थितसिराविरचितबहुविवरत्वेन  
जालस्येव आभा यस्य स तथा, कठिनसिर इत्यनेन सिराणामेव संतानोऽयं विकार इति दर्शयति ।  
सरक्त इति ईषल्लोहितः । जालसंज्ञित इत्यत्र सिरापूर्वं इति शेषः तेन सिराजालसंज्ञित इत्यर्थः ।

अथ सिराजपिडकाया लक्षणम् ।

सिराजपिडकालक्षणमाह—

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-

स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः सिराजाः ।

( सु० उ० अ० ४ )

म०—शुक्लस्था इत्यादि । सितपिडका इति सितवर्णाः पिडकाः सिरावृताः  
सिराव्याप्ताः । असितसमीपजा इति कृष्णभागाभ्यर्णशुक्लजाः सिरापरिवृत-  
त्वात्सिराजाः, न तु साक्षात् सिराजाता इति गदाधरः । अयं च त्रिदोषजः,  
त्रिदोषजसाध्यप्रकरणेन सुश्रुतेन पठितत्वात् ॥—

आ०—सिराजमाह—शुक्लस्था इत्यादि । सिराभिरावृताः, वास्तुस्थितसिरापरिवृतत्वेन सिराजाः,  
असितसमीपजा इति कृष्णभागान्तः शुक्लजाः सिराजाः, पिडका इति शेषः । एष संनिपातजः  
साध्यश्च ।

अथ बलासग्रथितस्य लक्षणम् ।

बलासग्रथितलक्षणमाह—

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो  
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥ ६९ ॥

( सु० उ० अ० ४ )

म०—कांस्याभ इत्यादि । कांस्यस्येवाभा=दीप्तिर्यस्य स तथा सित इत्यर्थः—  
वारिबिन्दुरिवोच्छूनत्वात् । अमृदुः=कठिनः, कफानिलजत्वात् । तथा च  
विदेहः—“मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः । जलबिन्दुरिवो-  
च्छूनो ह्यमृदुः कफसंभवः ॥ बलासग्रथितं नाम तं शोथं वृत्तमादिशेत्”—इति ।  
'कोषाभ' इति कश्चित् पठति । कोषो मांसकुड्मलं तदाभस्तदाकारः, एतावतोऽ-  
त्यर्थमुच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते, वारिबिन्दुकल्प इति च ईषदुच्छूनताऽपि, नयनसिते=  
शुक्लभागे इत्यर्थः । बलासरूप इत्यत्र ग्रथितशब्दलोपः, तेन बलासग्रथित इति  
संज्ञा । अत्र सिरोत्पात-सिराहर्षौ वाग्भटेन पठितौ । तथा हि—“रक्तराजीनिभं  
शुक्ले उप्यतेऽपि सवेदनम् । अशोथाश्रूपदेहं च सिरोत्पातः सशोणितम् । उपेक्षितः  
सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन् । कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्रीक्षणाक्ष-  
मम्” ( वा. उ. त. अ. १० )—इति ) ॥ ६९ ॥

आ०—बलासग्रथितमाह—कांस्याभ इत्यादि । अमृदुः=कठिनः, वारिबिन्दुकल्प इत्यनेन मनागु-  
च्छूनता प्रतिपाद्यते । “कोषाभः” इति पाठान्तरम् । तत्र कोषो=मांसकुड्मलम्, तदाभः, एते-  
नात्युच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते । अयमर्थः—अत्युच्छूनो वा मनागुत्सन्नो वा । शुक्लत्वं कफजत्वादेव  
लभ्यते । बलाससंज्ञ इत्यत्र पदेऽपि पदैकदेशप्रवृत्तेर्ग्रथितानभिधानम् । अयं च कफजः,  
तथाच विदेहः—“ मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः । जलबिन्दुरिवोच्छूनो मृदुः  
स कफसंभवः । बलासग्रथितं नाम तं शोथं वृत्तमादिशेत्—”इति । एव प्रस्तार्यम् १ शुक्लार्म २  
रक्तार्म ३ अधिमांसार्म ४ स्नाय्वर्म ५ शुक्तिका ६ अर्जुनः ७ पिष्टकः ८ सिराजालः ९  
सिराजः १० बलासग्रथितः ११ इत्येकादश नयनामयाः शुक्लभागजा रोगाः । एवं शुक्लजा  
एकादश ॥ ६९ ॥ इति शुक्लजाः ॥

अथ पूयालसस्य लक्षणम् ।

अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद् वर्त्ममण्डलगतनिदानाभिधाने  
प्राप्ते कर्नीनिकासन्ध्यादानां वर्त्ममण्डलाभियोगितयाऽन्तर्गतत्वेनान्तरङ्गत्वात्

१ वर्तमेति—“वर्त्म नेत्रच्छदेऽध्वनि ” इत्यमरः । वर्ततेऽनेनारिमन् वेति व्युत्पत्तौ “वृत्त वर्तने”  
इत्यस्माद् धातोरौणादिको मनिन् ॥ नकुलकृताश्ववैद्यकेऽपि यथा—“सितासितं च तन्मध्ये नेत्र-  
योर्मण्डलं हि तत् । प्रच्छादनं भवेद् वर्त्म चाक्षिकृतमतः परम् ॥” इति ॥

सन्धिगतनिदानोद्देशारम्भः । ते च सन्धयः षट् । यदाह सुश्रुतः,—“पक्ष्म-  
वर्धगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः । शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा ॥  
कनीनिकागतो ज्ञेयः षष्ठश्चापाङ्गः स्मृतः” ( सु. उ. त. अ. १ )—इति ।  
नासासमीपनेत्रान्तः कनीनिका; चक्षुःपुच्छस्याधो नेत्रान्तोऽपाङ्गः । तत्र पूयाल-  
सलक्षणमाह—

पक्षः शोथः सन्धिजो यः सतोदः सवेत पूयं पूति पूयालसारथ्यः ।  
( सु० उ० अ० २ )

म०—पक्ष इत्यादि । सन्धिज इति कनीनिकासन्धिजः । यदाह विदेहः,—  
“शोथ-वलेद-समाविष्टं तोद-भेद-समाकुलम् । पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ  
कानीनिके नृणाम्”—इति । अयं त्रिदोषजः, सुश्रुतेन साध्यत्रिदोषजप्रकरणे  
पठितत्वात् ॥—

आ०—कनीनिकादिसन्धीनां शुक्लभागप्रत्यासत्त्याऽनन्तरं तद्वतरोगाणामभिधानम् ।  
तत्रादौ पूयालसकमाह—पक्ष इत्यादि । सन्धिज इति कनीनिकासन्धिजः । तथा च निमिः—“शोथ-  
वलेद-समाविष्टं तोद-भेद-समाकुलम् । पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्”—इति ।  
कनीनिकासन्धिश्च नासामनु नेत्रान्तः ।

अथ श्लेष्मोपनाहस्य लक्षणम् ।

श्लेष्मोपनाहलक्षणमाह—

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥७०॥

( सु० उ० अ० २ )

म०—ग्रन्थिरित्यादि । नाल्प इति महान् । अपाक=ईषत्पाकः; अत एव  
सुश्रुतेऽल्पसावः पठितः । दृष्टिसन्धाविति कृष्णदृष्टिमण्डलयोः सन्धावि-

१ पक्षमेति—पक्षयते = परिगृह्यते आतप-तापादिक्रमनेनेति व्युत्पत्तौ “पक्ष परिग्रहे” इति भौवा-  
दिकधातोः करणे मनिञ्चौणादिकः । अक्षिलोम, नेत्रच्छदरोमेति च तस्य पर्यायौ । यथा, श्रीमद्-  
भागवते—( ३. १. ३९. ) “यमाद्युतस्वित् तनयौ पृथायाः, पार्थैर्वृतौ पक्षमभिरक्षिणीव” इत्यादि ॥  
“पक्षमाक्षिलोमि किञ्जल्के तन्वाद्यंशेऽप्यणीयसि” इत्यमरः । विश्वादिष्वप्येवमव ॥ २ कनीनिकेति—  
अत्र “शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च” इति वचनात् कनी-  
निका = चक्षुस्तारा, यथा—“कनी दीप्तौ” इत्यस्माद् धातोर्बाहुलकादीनः, ततश्च स्वार्थे कनि, स्त्रीत्वविव-  
क्षायां टाप् “प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यमुपः” इति पाणिनीयशास्त्रेणैवे कनीनिकेति  
रूपसिद्धिः । नेत्रयोर्दर्पणवत् परप्रतिबिम्बप्रदर्शिकृष्णभागान्तर्बर्तिनो ज्योतिर्मयाल्पवृत्तचिन्दुन एतदर्थस्य  
घाचकत्वे कोशप्रामाण्यं यथा—“तारकाक्षः कनीनिका” इत्यमरः । “कनीनिका तारकेऽक्षः स्यात्-  
कनिष्ठाङ्गुलावपि” इति मेदिनी । एवमेवान्येऽपि विश्व-हलायुधादयः । लोकमुखपारम्पर्येणापि  
शब्दोऽयमस्मिन्नेवार्थे सदा व्यवहृतो दरीदृश्यते । एवं प्रमाणप्राचुर्येणापि सुप्रसिद्धतमेऽस्मिन् शुद्धशब्दे  
समुकोशकारस्थेदं भ्रमावहं नासासमीपेति नेत्रयोर्विशेषणदानवैयर्थ्यं तस्य शारीरज्ञानाभावप्रतिपाद-  
कमिति प्रतीयते । अलमतिवित्तरेण भुत्सु ।

त्यर्थः । कण्डूप्रायः कफप्राबल्यात् । नीरुजोऽल्परुज इत्यर्थः । तथाच विदेहः-  
“वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः । अरुणं कठिनं ग्रन्थि जनये-  
दल्पवेदनम् ॥ श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्, स्रावान् वक्ष्याम्यतः परम्”-इति । वात-  
श्लेष्मजन्यत्वेऽपि श्लेष्मप्राबल्यात् श्लेष्मोपनाहव्यपदेशः । आश्रयप्रभावादरुण-  
त्वमत्र ॥ ७० ॥

आ०-कफोपनाहमाह-ग्रन्थिरित्यादि । नाल्पः=महान्, अपाकी=ईषत्पाकः, अत एव नीरुजो  
ज्ञेयः । यदुक्तं विदेहेन-“ वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः । अरुणं कठिनं ग्रन्थि जन-  
येदल्पवेदनम् ॥ श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्स्रावान्वक्ष्याम्यतः परम्”-इति । वातश्लेष्मजन्यत्वेऽपि  
श्लेष्मोपनाहव्यपदेशः ॥ ७० ॥

अथ चतुर्णां स्रावाणां ( नेत्रनाडीनाम् ) लक्षणानि ।

( नेत्रनाडी=Lachrymal Fistula )

चतुर्णां स्रावाणां संप्राप्तिमाह-

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान् ।  
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ७१

( सु० उ० अ० २ )

म०-गत्वा सन्धीनित्यादि । सन्धीनिति बहुवचननिर्देशात् सर्वनेत्रान्त-  
र्गताश्चत्वारः सन्धयो गृह्यन्ते । अश्रुमार्गेणेति अश्रुवाहिन्यौ धमन्यौ अश्रुमार्गः  
“द्वे चाश्रुवाहिन्यौ” ( सु. शा. स्था. अ. ९ )-इति सुश्रुतः, अश्रुवहधम-  
नीभ्यामित्यर्थः । ननु, यद्यश्रुवहधमनीभ्यां गत्वा दोषाः स्रावानापादयन्ति,  
तत्कथं “सिरानुसारिभिर्दोषैः” इत्याद्युक्ता संप्राप्तिर्न व्याहन्यते, सिराधमन्यो-  
रन्यत्वात् । उच्यते-सामान्यविशेषत्वात् संप्राप्त्यभिधानद्वयस्य; पूर्वा संप्राप्तिः  
सामान्यम्, इतरा च विशेष इति न विरोधः । अथवा “सिराधमनीस्रोतसा-  
मविभागः” ( सु. शा. स्था. अ. ९ ) इति परकीयमतेन सिराधमन्योरैक्या-  
दविरोधः । अस्मिन्नर्थे संप्राप्त्युक्त एवार्थो निष्पत्तीक्रियते । नेत्रनाडीति चक-  
इति वदन्तीति शेषः, अनिषेधादनुमतमिदम् । दोषाः=संनिपात-श्लेष्म-रक्त-पित्ता-  
त्मकाः । लक्षणैर्दोषलक्षणैः । उपेतान्=परीतानिति । गदाधरेण “लक्षणैः”  
इत्यस्य स्थाने “सर्वतः” इति पठितम्, दोषाः परीतान् स्वलक्षणैरित्यर्थविशे-  
षादधिगन्तव्यम् । चतुर्धेति सान्निपातिक-कफज-रक्तज-पित्तजत्व-भेदात्; वात-  
जस्तु स्रावो नास्त्येव, व्याधिस्वभावात्, पित्तजगलगण्डवत् ॥ ७१ ॥

आ०—सावाणां सम्प्राप्तिमाह—गत्वेत्यादि । सन्धीनिति बहुवचननिर्देशात्सर्वत्र च नेत्रान्तर्गता-  
अस्त्वारः सन्धयो ग्राह्याः । अश्रुमार्गेणेति अश्रुवाहिन्यौ धमन्याश्चुमार्गः । काननानिति कनीन-  
सन्धिजान् , कनीनसन्धिश्च नासामनु नेत्रान्तः । तं नेत्रनाडीमित्येव इति मतान्तरम् ॥ ७१ ॥

अथ चतुर्णो सावाणां मध्ये पूयास्त्रावस्य लक्षणम् ।

चतुर्विधस्त्रावमध्ये पूयास्त्रावलक्षणमाह—

पाकात् सन्धौ संस्रवेद् यस्तु पूयं पूयास्त्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।

( सु० उ० अ० २ )

म०—पाकादित्यादि । सर्वजस्त्रिदोषज इत्यर्थः । अस्य प्रत्याख्येयत्वादग्रे-  
उभिधानम्, यद्यप्यन्येऽपि स्त्रावा असाध्यत्वेनोक्तास्तथापि यास्या बोद्धव्याः ।  
“पाकः” इति पाठे पाकः संस्रवेत्=पाकवान् शोथः स्रवेदित्यर्थः, उपचारात्  
पाकस्य क्रियामात्रत्वात् ॥—

आ०—तत्रादौ सन्निपातजस्त्रावमाह—पाकीत्यादि । पाकवान् शोथः संस्रवेदित्यर्थः । पाकस्य  
क्रियामात्रत्वात् ।

अथ कफस्त्रावस्य लक्षणम् ।

श्लेष्मस्त्रावलक्षणमाह—

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु श्लेष्मास्त्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ।

( सु० उ० अ० २ )

म०—श्वेतमित्यादि । सान्द्रं=घनम् ॥ ७२ ॥

आ०—कफस्त्रावमाह—श्वेतमित्यादि सान्द्रं घनं, नीरुजं पीडारहितम् ॥ ७२ ॥

अथ रक्तस्त्रावस्य लक्षणम् ।

रक्तस्त्रावलक्षणमाह—

रक्तस्त्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम् ।

( सु० उ० अ० २ )

म०—रक्तस्त्राव इत्यादि । रक्तकृतस्त्रावो रक्तस्त्रावः ( रक्तस्त्राव इत्यनेनैव  
स्रवेदित्यस्य लब्धत्वात्तदुक्तिर्निरन्तरस्त्रावप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः । न  
चैतत् प्रभूतमित्यनेन गतार्थम् अनिरन्तरतयाऽपि प्रभूतस्त्रावसंभवात् ) । रक्त-  
स्त्राव इत्यनेनैव रक्तजत्वे सिद्धे शोणितजो विकार इति यदुच्यते तदत्यन्तकु-  
पितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम् । कार्तिकस्त्वाह—पित्तलिङ्गपरिग्रहार्थं, पित्तेन सह

तुल्यत्वात् रक्तस्य । तथा च क्वचित् पाठः “ रक्तस्त्रावः पित्तलिङ्गैरुपेतः ” इति ॥—

आ०—रक्तस्त्रावमाह—रक्तेत्यादि । रक्तस्त्रावः शोणितोत्थ इति ग्रहणं प्रभूतस्त्रावसूचनार्थम् । पुनः सरक्तमुष्णमिति यत्तत्प्रकुपितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम् ।

अथ जलस्त्रावापरपर्यायस्य पित्तस्त्रावस्य लक्षणम् ।

जलस्त्रावपर्यायस्य पित्तस्त्रावस्य लक्षणमाह—

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं पित्तात् स्त्रावः संसवेत् सन्धिमध्यात् ॥

( सु० उ० अ० २ )

म०—हरिद्राभमित्यादि । हरिद्राभं=पीतलोहितं बोद्धव्यं, परतः पीतमित्यस्योक्तेः ( जलाभमिति जलवत् स्वच्छम् । उष्णमिति सर्वत्रैव संबध्यते । केचित् “पीतं” इत्यस्य स्थाने “नीलं” इति पठन्ति । यत् “जलाभम्” इत्यस्य स्थाने “जलं वा” इति तदसंगतं, सुश्रुतेनोद्देशावसरे जलस्त्रावनामतयाऽस्योद्देशात्, तद्धि नाम जलवदास्त्रावोऽस्येति योगतः समावेशितम् । यदा तु “जलं वा” इति पाठः स्यात्तदा कदाचिज्जलाभता स्यादिति न सर्वत्र योगव्याप्तिरिति ) सन्धिमध्यादिति अविशेषोक्तेः सर्वसन्धिमध्यादिति बोद्धव्यम् । ननु, वातजस्त्रावः कुतो नोक्तः, वातेन स्त्रावाभावादिति चेत्, नैवम्, वाताभिष्यन्दे शिशिराश्रुतेत्युक्तेर्वातजोऽपि स्त्रावो दर्शितः । उच्यते, विशिष्टे अक्षिप्रदेशे केवलवायोः स्त्रावजनकत्वं संबन्धितव्यमभिधानात् । विदेहेऽपि चत्वार एवोक्ताः,—“ सन्निपातात् कफाद् रक्तात् पित्तात् स्त्रावोऽक्षिसन्धिषु ”—इति ॥ ७३ ॥

आ०—पित्तस्त्रावमाह—हरिद्राभमित्यादि । पीतलोहिताभं, पीतमिति पृथगुक्तेः । सन्धिमध्यादिति अविशेषोक्तेः सर्वसन्धिमध्यात्, वातजः स्त्रावः कुतो नोक्तः ? वाते स्त्रावाभावात् । विदेहेन चत्वार एव स्त्रावा उक्ताः । तद्यथा—“ सन्निपातात् कफाद् रक्तात् पित्तात् स्त्रावोऽक्षिसन्धिषु ”—इति ॥ ७३ ॥

अथ पर्वणीरोगस्य लक्षणम् ।

तदेवमसाध्यानां चतुर्णां स्त्रावाणां लक्षणमभिधाय पर्वणीलक्षणमाह—

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना

रक्ता ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोथा

जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले—

( सु० उ० अ० २ )

ताम्रेत्यारभ्य कृष्णशुक्ल इत्यन्तेन । इयं रक्तजा कफानिलजा च, रक्तजत्वमत्र सुश्रुते दर्शितमाधिक्येन ॥—



आ०—ताम्रा इत्यारभ्य कृष्णः शुक्ल इत्यन्तं पर्वणीलक्षणमाह—ताम्रेत्यादि । ताम्रा=अरुणा, तन्वी=सूक्ष्मा, वृत्तशोफा=वर्तुलकारशोथा ।

### अथालजीरोगस्य लक्षणम् ।

अलजीलक्षणमाह—

ऽलजी स्यात्,

तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गः ॥ ७४ ॥

( सु० उ० अ० २ )

म०—अलजी स्यादित्यादि । तस्मिन्नेवेति शुक्लकृष्णसन्धौ, पूर्वलिङ्गैः पर्वणीलक्षणैरुपेत्यर्थः । ननु, एवं सति स्थानलक्षणयोरभेदेनानयोरभेदः स्यादिति चेत्; तनुत्वस्थूलत्वाभ्यां पर्वणिकालज्योर्भेदात् । तथाच विदेहः—‘शुक्लकृष्णान्तःसन्धौ तु चीयन्तेऽसृक्फानिलाः । पर्वणीपिडका तैस्तु जायते त्वङ्कुरोपमा ॥ ताम्राऽसदाहचोषोष्णपीतकाश्रुसमाकुला । कफपित्ते तु संसृच्छर्च सह रक्तेन मारुतः ॥ शुक्लकृष्णान्तःसन्धौ तु जनयेद् गोस्तनाकृतिम् । पिडकामलजीं तां तु विद्धि तोदाश्रुसंकुलाम्’—इति । कार्तिकस्त्वभेदानुपपत्तिं शङ्कमानः पूर्वलिङ्गैरित्यन्यथा व्याचष्टे, पूर्वोक्तायाः प्रभेहपिडकाया अलज्या लिङ्गैरित्यर्थः । इयं त्रिदोषजा असाध्या ॥ ७४ ॥

आ०—अलजीलक्षणमाह—तस्मिन्नेवेत्यादि । कृष्णशुक्लसन्धावेव पूर्वलिङ्गैरिति पर्वणीका-लक्षणैः, भेदश्चानयोः—तन्त्री पर्वणीका, स्थूलाऽलजीति वदन्ति । तथा च विदेहः—“पर्वणी-पिडका तत्र जायते त्वङ्कुरोपमा । शुक्लकृष्णान्तःसन्धौ च जनयेद्गोस्तनाकृतिम् ॥ पिडकामलजी-तां तु विद्धि तोदाश्रुसंकुलाम्”—इति ॥ ७४ ॥

### अथ किमिग्रन्थैर्लक्षणम् ।

किमिग्रन्थिलक्षणमाह—

किमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः किमयःसन्धिजाताः ।  
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तःसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनदूषयन्तः ॥ ७५ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—किमिग्रन्थिरित्यादि । ( प्रथमं वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भूत्वा क्रमेण वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः संभावितं प्राप्ताः किमयो यत्र कण्डूं कुर्युः स किमिग्रन्थिः । स चायं किमिग्रन्थिर्वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भवति, तथैव स्थित्वा अन्तर्लोचनं=नयनस्याभ्यन्तरं, चरन्ति=भक्षयन्ति, दूषयन्तः सन्त इत्यर्थः ।

अत्रैव विदेहः,—“वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ तु ग्रन्थिः पित्तकफात्मकः । ऊष्मणा पच्यते गाढं तत्र मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥ सुसूक्ष्मजातचरणा वर्त्म-पक्ष्म-समाश्रयाः । ततस्ते पूयसंसृष्टाः पतन्ति क्रिमयस्तथा ॥ लक्षणैर्विविधैर्युक्ताः सन्निपातसमुत्थिताः । क्रिमिग्रन्थिं तु तं विद्याद् देहिनां नेत्रदूषणम्” इति । कार्तिकस्त्वन्यथा पठित्वा व्याचष्टे—) वर्त्मनः पक्ष्मणश्चापि कण्डूं कुर्युरित्यभिधानात् क्रिमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धौ भवतीति गम्यते, कथमन्यथा-ऽन्यत्रावस्थितैः क्रिमिभिरन्यत्र कण्डूर्जन्यते इति एतच्च न सम्यक् वर्त्मशुक्लान्तः सन्धाविति विरोधप्रसंगात् ॥ ७९ ॥

आ०—कृमिग्रन्थिमाह—क्रिमीरित्यादि । वर्त्मनः पक्ष्मणश्च, कण्डूं कुर्युरित्युक्तेः कृमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धावेव प्रतीयते । तेनायमर्थः—कृमयो वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः सन्तः कण्डू कुर्वन्ति, तथा वर्त्मशुक्लान्तःसन्धौ भूत्वाऽन्तर्नयनं दूषयन्तश्चरन्ति । अयं सन्निपातजः तथा विदेहः—“ततः पूयसंसृष्टाः पतन्ति क्रिमयस्तथा । लक्षणैर्विविधैर्युक्ताः सन्निपातसमुत्थिताः । कृमिग्रन्थिं तु तं विद्याद् देहिनां नेत्रदूषणम्” —इति । एवं पूयालसः श्लेष्मोपनाहः, सन्निपातजश्लेष्मरक्तपित्तजाश्चत्वारः स्त्रावाः, पर्वणीका, अलजी, कृमिग्रन्थिर्नवसंख्या एत सन्धिजा इति सन्धिगताः ॥ ७५ ॥

अथोत्सङ्गपिडकाया लक्षणम् ।

अथ सन्धिगतरोगाभिधानानन्तरं पारिशेष्यात् वर्त्मशुक्लान्तः सन्धावित्यत्र वर्त्मनिर्देशेन तद्गतरोगनिदानारम्भः । नयनगोलकावरकं निभेषोन्मेषाश्रयं पटलद्रयं वर्त्म उच्यते । सुश्रुत प्रथमोद्दिष्टत्वेन उत्सङ्गपिडकालक्षणमाह—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या ।

सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥ ७६ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—अभ्यन्तरमुखीत्यादि । वर्त्मन एवाभ्यन्तरे सुखं यस्याः सा तथा । ( ननु, कथं बाह्यत इति ? उच्यते, वास्तूत्सेधेन बहिरप्युन्नततया दर्शनाद्बाह्यत्वं, न तु बाह्यमुखत्वेन ) । बाह्यत इति सप्तम्यर्थे तसिल, एवं वर्त्मन इत्यत्रापि । इयं विदेहसंवादादधरवर्त्मान्तर्जाता बोध्या । ताम्रा=ताम्रवर्णा । सोत्सङ्गा सा उत्सङ्गा=उत्सङ्गिनी, अर्शआदित्वादच्च । उत्सङ्गपिडकेति उत्सङ्गे=क्रोडे बह्व्यः पिडका यस्याः सा ( अन्ये तु सोत्सङ्गा क्रोडीकृतपूया । उत्सङ्गपिडकेति नामेदम् । तत्रापि कुक्कुटाण्डरसपूयता चकाराद् बोद्धव्या ) स्थूलकण्डुरेति स्थूला चासौ कण्डुरा चेति कर्मधारयः, कण्डुरा=कण्डुमती, दोषाणां कफ-

प्राचल्यात् । चकारेणात्र विदेहोक्तकाठिन्यादि संगृहीतम् । तथाच विदेहः—  
“वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते । अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्य-  
तश्चापि दृश्यते ॥ पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः । उत्सङ्ग-  
पिडका नाम काठिना मन्दवेदना ॥ सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोप-  
मम्”—इति । सर्वजेति सन्निपातप्रभवा ॥ ७६ ॥

आ०—सन्धिज्ञानन्तरं वर्त्मजा उच्यते, तत्र वर्त्मोत्सङ्गिनीमाह—अभ्यन्तरमुखीत्यादि ।  
वर्त्मन एवाभ्यन्तरे मुञ्चं यस्याः सा तथा, वर्त्मनो बाह्यताऽपि वास्तुत्वेनैवोपलभ्यते इति । विदेह-  
संवादादधरवर्त्मान्तर्जानां मन्यन्ते । यदाह विदेहः—“वर्त्मोत्सङ्गादधो जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते ।  
अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते ॥ पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः । उत्सङ्ग-  
पिडका नाम काठिना मन्दवेदना”—इति । उत्सङ्गे क्रांते बह्वयः पिडका यस्यां सा तथा, चकाराद-  
त्रापि कुक्कुटाण्डरसतुल्यं स्रवणं बोद्धव्यम् । सर्वजेति सन्निपातप्रभवा । स्थूलकण्डुरेति स्थूला  
चासौ कण्डुरा च सा ॥ ७६ ॥

अथ कुम्भीकाया लक्षणम् ।

कुम्भीकालक्षणमाह—

वर्त्मन्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।

कुम्भीकाबीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥ ७७ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—वर्त्मन्त इत्यादि । पिडका इति बहुवचननिर्देशाद् बह्वयः, भिद्यन्ते=  
विदीर्यन्ते तथा स्रवन्ति च । ध्माता इति भिद्यमानाः स्वयमेव पूर्णोदरा भव-  
न्तीति ध्माताः । कुम्भीकाबीजप्रतिमा इति कुम्भीका=कच्छदेशोद्भवा दाडिम-  
फलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा यासां ता इत्यर्थः; अन्ये ‘कुम्भीकाबीज-  
सदृशा’ इति पठन्ति, तत्र कुम्भीकः=कुम्भाडुलता, तद्बीजमपि दाडिमफल-  
बीजाकारम्, तत्सदृशाः पिडका उच्यन्ते । कुम्भीशब्दात् “इवे प्रतिकृतौ”  
इति कन् । एषा त्रिदोषजा असाध्या च ॥ ७७ ॥

आ०—कुम्भीकामाह—वर्त्मन्त इत्यादि । ध्माता इत्यादि भिद्यमानाः स्वयमेव पूर्णोदरा भव-  
न्तीत्यर्थः । कुम्भीकाबीजप्रतिमा इति कुम्भीका कच्छदेशे दाडिमाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा  
यासां ताः । ‘कुम्भीकाबीजसदृशाः’ इति पाठान्तरम्, तत्र कुम्भीकः कुम्भाडुलता, तद्बीजसदृशा  
इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अथ पोथकीनां लक्षणम् ।

पोथकीनां लक्षणमाह—

स्त्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसंनिभाः ।

रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः ॥ ७८ ॥

( च० उ० अ० ३ )

म०—स्त्राविण्य इत्यादि । स्त्राविण्यो=बहुस्त्रावाः । गुर्व्य इति गौरवयुताः ।  
रुजावत्य इति रक्तसंबन्धात् कफजा अपि वेदनान्विताः ॥ ७८ ॥

आ०—पोथकीलक्षणमाह—स्त्राविण्य इत्यादि । स्त्राविण्यो=बहुस्त्रावाः, कण्डुरा=कण्डूयुक्ताः,  
गुर्व्य इति गौरवयुक्ताः, रुजावत्य इति रक्त सम्बन्धनात् कफजा अपि वेदनान्विताः ॥ ७८ ॥

अथ वर्त्मशर्कराया लक्षणम् ।

वर्त्मशर्करालक्षणमाह—

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता ।

वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥ ७९ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—पिडका येत्यादि । खरा=खरस्पर्शा । सूक्ष्माभिरभिसंवृतेति सूक्ष्माभिः  
प्रकरणात्पिडकाभिर्वेष्टिता । अत्रैव विदेहः—“सुसूक्ष्मपिडकाकीर्णा या स्थूला  
पिडका खरा । जायते सन्निपातात्तु वर्त्मकर्करिकेति सा”—इति ॥ ७९ ॥

आ०—वर्त्मशर्करामाह—पिडकेत्यादि । खरा=कठिना ॥ ७९ ॥

अथाशोवर्त्मनो लक्षणम् ।

( Granular Conjunctivitis. )

अशोवर्त्मलक्षणमाह—

एवार्बुजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः ।

श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीत्येते ॥ ८० ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—एवार्बुजजेत्यादि । एवार्बुः=ग्रीष्मकर्कटी । श्लक्ष्णाः=अकर्कशाः । वर्त्म-  
स्था इत्यविशेषिताभिधानादन्तर्बहिश्च वर्त्मनो भवतीति गम्यते । इयं सन्नि-

पातजा । तथाच निमिः--“नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा । पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत्”-इति ॥ ८० ॥

आ०--अर्शोवर्त्मलक्षणमाह-- एवार्कः ग्रीष्मकर्कटिका । लक्षणा इति अक-  
र्कशः । वर्त्मस्था इत्यविशेषिताभिधानादन्तर्बाह्यश्च वर्त्मनो भवतीति गम्यते । सन्निपातजमिदम् ।  
तथा च निमिः--“नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा । पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म  
कीर्त्यते”-इति । इदं साध्यम् ॥ ८० ॥

अथ शुष्काशंसो लक्षणम् ।

शुष्काशंसलक्षणमाह-

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।

व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्काशंसो नाम नामतः ॥ ८१ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

मं०--दीर्घाङ्कुरः इत्यादि । खरः=कर्कशः । स्तब्धः=कठिनः, शुष्कत्वात् ।  
दारुणः बहुदुःखदत्वात् । अभ्यन्तरोद्भव इति वर्त्माभ्यन्तरस्थितः । अभिवि-  
ख्यातः=कथितः । नामतः=प्रसिद्धितः । सन्निपातजमिदम् । अत्र विदेहः-  
“वर्त्माभ्यन्तर्गतं त्वर्शः शुष्कं स्थूलं च दारुणम् । जायते सन्निपातेन तत् शु-  
ष्काशंसः प्रकीर्तितम्”-इति ॥ ८१ ॥

आ०--शुष्काशंस आह-दीर्घाङ्कुर इत्यादि । खरः=कर्कशः, स्तब्धः=कठिनः, दारुणो=बहुदुः-  
खकरः । अभ्यन्तरोद्भवः इति वर्त्माभ्यन्तरस्थितः । एष व्याधिः शुष्काशंसो नाम अभिविख्यातः=  
कथितः । नामतः=प्रसिद्धितः, सन्निपातजमिदं साध्यं च ॥ ८१ ॥

अथाञ्जननामिकाया लक्षणम् ।

( Stye. )

अञ्जननामिकालक्षणमाह--

दाह-तोद-वती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा ।

मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥ ८२ ॥

( सु० नि० अ० ३ )

मं०--दाहतोदवतीत्यादि । इयं रक्तजा ॥ ८२ ॥

आ०--अञ्जननामिकामाह-दाहेत्यादि । या वर्त्मसंभवा पिडका दाहादिलक्षणा भवति ।  
साऽञ्जननामिका ज्ञेया; इयं रक्तजा साध्या च ॥ ८२ ॥

अथ बहुलवर्त्मनो लक्षणम् ।

बहुलवर्त्मलक्षणमाह--

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।

सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद् बहुलवर्त्म तत् ॥ ८३ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०--वर्त्मोपचीयत इत्यादि । सवर्णाभिस्त्वक्समानवर्णाभिः । एतत् सन्निपातादेव ॥ ८३ ॥

आ०--बहुलवर्त्मलक्षणमाह--वर्त्मेत्यादि । सवर्णाभिरिति त्वग्वर्णसदृशाभिः, एतत्सन्निपातात् ॥ ८३ ॥

अथ वर्त्मबन्धनस्य लक्षणम् ।

वर्त्मबन्धनलक्षणमाह--

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।

न स संच्छादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥ ८४ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०--कण्डूमतेत्यादि । वर्त्मशोथेनोपलक्षितो नरः स चक्षुर्न संच्छादयेत् सम्यक् छादयितुं न शक्नुयादित्यर्थः । एष सन्निपातजः ॥ ८४ ॥

आ०--वर्त्मबन्धकमाह--कण्डूमतेत्यादि । कण्डूयुक्तेन अल्पशूलेन शोथेनैत्यर्थः । न संच्छादयेदिति शोथयोगान्न पिदधाति, एष सन्निपातजः ॥ ८४ ॥

अथ क्लिष्टवर्त्मनो लक्षणम् ।

क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह---

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद् वर्त्म सममेव च ।

अकस्माच्च भवद् रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद् विदुः ॥ ८५ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०--मृद्वल्पवेदनमित्यादि । रक्तजत्वेऽप्यस्याल्पवेदनत्वमधिककफदूषितत्वाद् रक्तस्य । वर्त्मेति विदेहदर्शनाद् वर्त्मद्वयं ग्राह्यम्, अत एव समं=युगपदेवेत्यर्थः । अकस्मादित्यहेतोरनियमेनैवेत्यर्थः । ताम्रमित्यनेनोपात्तेऽपि ॥ लौहित्ये रक्तमित्युपादानं हेत्वनियमप्रयुक्तं कदाचित्कं लौहित्यमिति द्योतयति । अत्रैव विदेहः--“श्लेष्मरक्तेन दुष्टेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम् । बन्धुजीवनिभं वर्त्मः क्लिष्ट-

वर्त्म तदुच्यते”--इति । अन्ये समं=अनुच्छूनं यावदित्याचक्षते । अत्र पक्षे क्लिष्ट-  
त्वं वेदनातियोगादवगन्तव्यम् ॥ ८५ ॥

आ०—क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह—मृद्वित्यादि । समं=त्वेककालं रक्तं=लोहितं भवति परमकस्मा-  
दनियमात् । एतत्कफरक्तजम् । तथा च निमिः—“श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम् ।  
बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते”--इति । अन्ये सममनुच्छूनमिति व्याख्यानयन्ति । अत्र  
क्लिष्टत्वं वेदनाभियोगादवगन्तव्यम् ॥ ८५ ॥

अथ वर्त्मकर्मस्य लक्षणम् ।

वर्त्मकर्मलक्षणमाह----

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद् यदा ।

ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्मस्य ॥ ८६ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—क्लिष्टं पुनरित्यादि । क्लिष्टमिति प्रागुक्तस्य कर्तृत्वेनायमर्थः--क्लिष्टं=  
क्लिष्टवर्त्मैव यदा पित्तलाभ्यासादधिकपित्तं सच्छोणितं विदहेद्=विरुद्धदाहेन  
संयोजयेत् तदा क्लिष्टत्वमापादयति, संक्लेदत्वमापन्नं वर्त्म वर्त्मकर्म उच्यते  
इति योज्यम् । “ततः कृष्णत्वमापन्नम्” इत्यन्ये पठन्ति । तत्र कृष्णत्वं  
शोणितविदाहेनैव । एवं च सति कृष्णत्वेन कर्मसंज्ञासमावेशोऽपि घटत इति ।  
कार्तिकस्त्वन्यथा व्याचष्टे—शोणितमिति कर्तृपदम्, तेन शोणितं पित्तयुक्तं  
कर्तृभूतम् । यदा पूर्वोक्तं क्लिष्टमेव दहेदित्यादि सर्वमपरं समानं पूर्वेण । अस्य तु  
सुश्रुते यत् सान्निपातकत्वमुक्तं तत् कफ-पित्त-रक्तारब्धत्वात् वातकरणत्व-  
स्याश्रुतेः ॥ ८६ ॥

आ०—वर्त्मकर्ममाह—क्लिष्टमित्यादि । प्रागुक्तलक्षणमेव वर्त्म पित्तमिलितं शोणितं कर्तृभूतं  
यदा विदहेत्=दूषयेत्, कफदुष्टे एव रक्ते पित्तलस्योपासनात् पित्तमधिकं तद्गतं, ततः क्लिन्न-  
त्वमापन्नमिति आर्द्रतां गतं वर्त्मकर्म उच्यते । “कृष्णत्वमापन्नम्” इति पाठान्तरे कृष्णत्वं हि  
शोणितविदाहेनैव । अयं पित्ताधिकसान्निपातजः ॥ ८६ ॥

अथ श्याववर्त्मनो लक्षणम् ।

श्याववर्त्मलक्षणमाह----

यद् वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूलं सवेदनम् ।

तदाहुः श्याववर्त्मैति वर्त्मरोगविशारदाः ॥ ८७ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—यद् वर्त्म बाह्यत इत्यादि । बहिरन्तश्च श्यावत्वं वातकृतम् ।  
अथ शूलं च जायत इत्यस्यान्ते “सवेदनं सकण्डु च अल्पक्लेदि त्रिदोषजम्”-



इत्यपि केचित् पठन्ति तदप्युपपन्नम्, कफात् कण्डूः, अल्पकलेदि-  
पित्तात्, सवेदनं वातात् । अत्रैव विदेहः—“दुष्टं श्लेष्मा मरुत् पित्तं वर्त्मनो-  
श्रीयते यदा । अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद् विदुः”—इति । अत्र  
वाताधिकत्वं बोद्धव्यम् ॥ ८७ ॥

आ०—श्याववर्त्मलक्षणमाह—यद्वर्त्मेत्यादि । एतद्वाताधिकदोषत्रयजन्यम् । तथाच निमिः  
“दुष्टं श्लेष्माऽनिलः पित्तं वर्त्मनोऽश्रीयते यदा । अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः”—इति ।  
अत्र श्याववर्त्मेन वाताधिक्यं बोद्धव्यम् ॥ ८७ ॥

अथ प्रकिलन्नवर्त्मनो लक्षणम् ।

प्रकिलन्नवर्त्मलक्षणमाह—

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य रि ।

प्रकिलन्नवर्त्म तद् विद्यात् किलन्नमत्यर्थमन्ततः ॥ ८८ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—अरुजमित्यादि । अरुजमल्परुजम् । बाह्यतः शूनमिति बहि-  
शोथयुक्तम् । किलन्नमत्यर्थमन्तत इति अन्ततः=उपान्ते क्लेदवत् । गदाधरस्तु  
किलन्नमन्तारिति विवृणोति । एतच्च चक्षुष्येण पिष्टाख्यया पठितम् । तथा हि—  
“भृशं प्रक्लिद्यते वर्त्म कण्डूमद् मन्दवेदनम् । विद्यात् प्रकिलन्नवर्त्मेति तत् पिष्टं  
सन्निपातजम्”—इति । यद्येवं कथं विदेहेऽकिलन्नवर्त्म पिष्टाख्यया निर्दिश्यते ।  
यथा—“प्रक्षालितेऽथवा मृष्टे आनह्येत पुनः पुनः । अपरिक्लिन्नवर्त्मेति तत्  
पिष्टमिति निर्दिशेत्”—इति, किंच सुश्रुते प्रकिलन्नवर्त्म श्लेष्मसंग्रहे पठितं  
पिष्टं च सन्निपातजगणे, तत्कथं प्रकिलन्नवर्त्म पिष्टमिति संगतम् ? उच्यते—  
अकिलन्नवर्त्मेव पिष्टम्, तस्य सन्निपातजत्वात्; न तु प्रकिलन्नवर्त्म, तस्य  
कफात्मकत्वात्; यदि तु प्रकिलन्नवर्त्मेव कफोत्वणसन्निपातजं पिष्टत्वेनाभ्युप-  
गम्यते, एतत् ख्यापनाय च तस्य कफजसर्वगणयोर्निवेशः कृत इति स्वी-  
क्रियते, तदा सन्निपातजगणे पित्तेनाकिलन्नवर्त्म न परिगृहीतं स्यात्, ततस्त-  
दपरिग्रहे षट्सप्ततित्वोपसंहारो नेत्ररोगाणां न घटते, पञ्चसप्ततेरभिधानात्,  
पिष्टस्य प्रकिलन्नवर्त्मस्वरूपत्वेनापृथक्त्वात् । ननु, एवं तर्हि कथं “विद्यात्  
प्रकिलन्नवर्त्मेति तत् पिष्टं सन्निपातजम्”—इति समर्थयितव्यम् ? उच्यते,  
( अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः—यदा तदेव प्रकिलन्नवर्त्म श्लेष्मात्मकमेव सत्  
वातपित्ताभ्यां विशेषकाभ्यामुपनिरुध्यते तदा सन्निपातजं सत् अपरिक्लिन्न-  
वर्त्मार्थान्तरमासादयत् पिष्टमित्यभिधीयते तथा चोभयोरप्यविरोधः, उभा-

भ्योमेवापरिकिलन्नवर्त्मन एव पिष्टाख्यत्ववर्णनादिति । अयं च वाग्भटे कफो-  
त्किलन्नाख्यतया निरुद्धः, ) किंच यदि प्रकिलन्नवर्त्म पिष्टं तत् पृथक्त्वेन  
चाकिलन्नवर्त्म अभविष्यत्, तदास्यौपद्रविके सुश्रुतो दोषात्मकत्वेन साध्या-  
दिभेदेन चाभिधानमकरिष्यत्, न च कृतं तस्मादकिलन्नवर्त्मनोऽवस्था-  
न्तरमिति ॥ ८८ ॥

आ०—प्रकिलन्नवर्त्मलक्षणमाह—अरुजमित्यादि । अरुजमल्परुजम्, शूनं यावत् इति बहिः शोथ-  
वत् । किलन्नमत्यन्तमिति अत्यन्तं क्लेदवत्, अन्तत इति उपान्ते । गदाधरस्तु क्लिन्नमन्तरिति विवृणोति ।  
तत्र मध्ये क्लेदवदित्यर्थः । चक्षुष्येणैतत्पिष्टाख्यया पठितम् । तद्यथा—“भृशं प्रक्लिन्नते वर्त्म कण्डू-  
मन्मन्दभेदनाम् । विद्यात्प्रक्लिन्न वर्त्तेति तत्पिष्टं सन्निपातजम्”—इति । तत्पिष्टं वक्ष्यमाणकिलन्नवर्त्मनो-  
ऽवस्थान्तरमवगन्तव्यम् ॥ ८८ ॥

अथापरिकिलन्नवर्त्मनो लक्षणम् ।

अपरिकिलन्नवर्त्मनो लक्षणमाह—

यस्य धौतान्यधौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः ।  
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादकिलन्नवर्त्म तत् ॥ ८९ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—यस्य धौतानीत्यादि । एतद् वाग्भटे पिष्टाख्यम् । संबध्यन्ते  
अन्योन्यं लग्नानि भवन्तीत्यर्थः । तदिदं संबद्धत्वं किं पूयसंपर्कादेव तथा च  
प्रकिलन्नत्वमेव स्यात्तदर्थमाह—अपरिपक्वानितीति । एतदेव पिष्टाख्यम् । अन्यत्र  
क्वचिच्च पिष्टाख्यमन्यथा पठितम्—“पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परि-  
पाद्यते । ताम्रं निर्लोम तच्चापि विशिष्टं पिष्टलक्षणम्”—इति । एतदनादृतम्,  
टीकाकृद्भिरव्याख्यातत्वात् । वाग्भटेन कुकूणकादीनामष्टादशानां पिष्टाख्या  
कृता । वर्त्मानितीति बहुवचनं नेत्रद्वये वर्त्मचतुष्टयत्वेन संगच्छते, तेन नेत्रद्वयगत  
एवायं व्याधिरिति कार्तिकः ॥ ८९ ॥

आ०—अकिलन्नवर्त्मलक्षणमाह—यस्येत्यादि । यस्य वर्त्मानि बहिरन्तश्चापरिकिलन्नानि तथापि  
संबध्यन्ते=आनहन्ते, पिष्टोपदेहेन संलग्नानि भवन्तीत्यर्थः । पक्वान्यपि धौतानि पूयेनावद्धानि  
भवन्तीति तन्निरासायाह—अपरिपक्वानितीति । धौतान्यधौतानीति कोऽयः ? पुनः पुनः  
प्रक्षालितानि । बहुवचनमिह नेत्रद्वयस्य द्वयमिति ख्यापनार्थम् । एताद्विदेहे पिष्टाख्यया  
पठ्यते ॥ ८९ ॥

अथ वातहतवर्त्मनो लक्षणम् ।

( Ptois )

वातहतवर्त्मलक्षणमाह—

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।

एतद् वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥ ९० ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—विमुक्तसन्धीत्यादि । विमुक्तो=विशिष्टो वर्त्मशुक्लगतः सन्धि-  
र्यस्मात् तत्तथा=स्थानच्युतसन्धि । निश्चेष्टं=निमेषोन्मेषरहितम् । सन्धिवि-  
श्लेषादेव तदाश्रयाणां निमेषोन्मेषकारिणीनां सिराणामपि विश्लेषेण निमेषो-  
न्मेषरहितत्वमित्यभिप्रायः । अत एवोक्तं न मील्यते न संकुचतीत्यर्थः । “निमी-  
ल्यत” इति पाठान्तरम्, तत्र निमीलितमेव तिष्ठतीत्यर्थः । इदं युक्तम्, दृष्ट-  
त्वात् । एतद् न साध्यम्, सुश्रुते असाध्यप्रकरणे पठितत्वादिति ॥ ९० ॥

आ०—वातहतवर्त्मनो लक्षणमाह—विमुक्तेत्यादि । अक्षिचिन्तक इति शालाक्यसिद्धान्तवादी,  
विमुक्तसन्धि=स्वस्थानच्युतसन्धि, निश्चेष्ट=निष्क्रियम्, निमेषोन्मेषरहितमित्यर्थः । अत एव न  
मील्यते=न संकोच्यते । एतद्वातजमसाध्यं च ॥ ९० ॥

अथार्बुदस्य लक्षणम् ।

अर्बुदलक्षणमाह—

वर्त्मन्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।

आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमवलम्बितम् ॥ ९१ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—वर्त्मन्तरस्थमित्यादि । वर्त्मनोऽभ्यन्तरस्थं, बाह्येऽप्युन्नतत्वदर्शनाद्वि-  
षमम् । ग्रन्थिभूतं=ग्रन्थिरूपेण स्थितम् । अवेदनमिति ईषदर्थे नञ्, तेन ग्रन्थिरि-  
वाल्पवेदनमित्यर्थः, वेदना च वातानुबन्धेनैव । सरक्तमिति किञ्चिदक्तम् ।  
पित्तानुबन्धात् । अविलम्बितं शीघ्रजन्मेत्यर्थः । केचिदत्र क्रियाविशेषणं  
ब्रुवते, तेनायमर्थः—अविलम्बितं शीघ्रमाचक्षीतार्बुदमिति; किं त्वेतन्न सङ्गतम्,  
अस्य व्याख्यानस्य निष्प्रयोजनत्वात् । अन्ये तु “अवलम्बितम्” इति  
पठन्ति । एतत् सन्निपातजम् अपाकि च, तच्च कफेन ॥ ९१ ॥

आ०—अर्बुदलक्षणमाह—वर्त्मनोरित्यादि । विषममवर्तु ३, ग्रन्थिभूतं=ग्रन्थिरूपेण स्थितम्, अवे-  
दनमल्पवेदनम्, सरक्तमिषड्विहितम्, अविलम्बितम्=अस्रतः, शीघ्रजन्मस्यन्ये । अन्ये ‘अविल-  
म्बितं च’ इति पाठान्तरं पठन्ति । एतत् सन्निपातात् । आचक्षीत=कथयेत् ॥ ९१ ॥

अथ निमेषस्य लक्षणम् ।

(Blepharospasm.)

निमेषलक्षणमाह—

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो सन्धिसंश्रयाः ।

प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद् विदुः ॥ ९२ ॥

(सु० उ० अ० ३)

म०—निमेषिणीरित्यादि । निमेषिणीः=निमेषकारिकाः सिराः । सन्धिसंश्रया इति वर्त्तमानशुक्लता इत्यर्थः । अयमसाध्यो वातजः चक्षुष्येण चोन्मेषिणीः सिरा इत्युक्तम्, यदाह—“उन्मेषिणीः सिरा वायुः प्रविश्य चावतिष्ठते । अत्यर्थं चालयेद् वर्त्तमानं निमेषः स न सिध्यति”—इति ॥ ९२ ॥

आ०—निमेषमाह—निमेषिणीरित्यादि । व्यानो वायुः, निमेषिणीः=निमेषकारिकाः, सिराः प्रविष्टो वर्त्मानि चालयति=विसंस्थलयति । यदुक्तं विदेहे “उन्मेषिणीः सिरा वायुः प्रविश्य चावतिष्ठते । अत्यर्थं चालयेद्वर्त्तमानं निमेषः स न सिध्यति”—इति ॥ ९२ ॥

अथ शोणितार्शसो लक्षणम् ।

(Granular Conjunctivitis.)

शोणितार्शलक्षणमाह—

यः स्थितो वर्त्तमानमध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः ।

तद् रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥ ९३ ॥

(सु० उ० अ० ३)

म०—यः स्थित इत्यादि । अङ्कुराकारो मांसोच्छ्रयोऽङ्कुरः । एतदसाध्यम्, तथा च विदेहः—“वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः । जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्तमानं छिन्नरोहणम् ॥ तत् शोणितार्शसाध्यं स्याद् रक्तसाध्यं नीरुजम्”—इति ॥ ९३ ॥

आ०—शोणितार्शलक्षणमाह—य इत्यादि । एतद् रक्तजमसाध्यम् । तथा च विदेहः—“वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः । जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्तमानं छिन्नरोहणम् ॥ तच्छोणितार्शसाध्यं स्याद् रक्तसाध्यं नीरुजम्”—इति ॥ ९३ ॥

अथ लगणकस्य लक्षणम् ।

लगणलक्षणमाह—

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्तमानभवोऽरुजः ।

लगणो नाम स व्याधिलिङ्गतः परिकीर्तितः ॥ ९४ ॥

(सु० उ० अ० ३)

म०—अपाकीत्यादि । अपाकित्वादिकं श्लेष्मारब्धत्वादेव । तथा च सात्यकिः,—वर्त्तमानपरिष्ठाद् यो ग्रन्थिः कठिनो न विपच्यते । नीरुजो लगणो नाम रोगः श्लेष्मसमुद्भवः—इति ॥ ९४ ॥

आ०—लग्नलक्षणमाह—अपाकीत्यादि । श्लेष्मजनितः । अरुजः=पाडारहितः ॥ ९४ ॥

अथ विसवर्त्मनो लक्षणम् ।

विसवर्त्मलक्षणमाह—

त्रयो दोषा बहिः शोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः ।

प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं विसवद् विसवर्त्म तत् ॥ ९५ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—त्रयो दोषा इत्यादि । बहिः शोथमिति बहिरुच्छ्रितत्वं यथा भवति तथा वर्त्मनोश्छिद्राणि दोषास्त्रयः कुर्युरित्यर्थः । तानि छिद्राणि अन्तर्मुखान्येव यदाह—प्रस्रवन्त्यन्तरुदकमिति छिद्राणीति बहुवचननिर्देशाद् बहुमुखानि, अत्रापि दोषाः कुर्युरिति संबन्धः । अत एव विसवत्=मृणालवत्, तच्चानेक-च्छिद्रयुक्तं भवति तद्वत् । अत्रैव चान्द्रिकाकारः सुश्रुते पठति—“शूनं यद् वर्त्म बहुभिः श्लक्ष्णैश्छिद्रैः समन्वितम् । वर्त्मन्तरे विसमिव विसवर्त्मेति तत् स्मृतम्”—इति । सात्यकिरप्याह,—“विसस्यापाचितस्येव बहुमांससिरामुखम् । विसवर्त्मेति जानीयाद् दुश्चिकित्स्यं त्रिदोषजम्”—इति ॥ ९५ ॥

आ०—विसवर्त्मलक्षणमाह—त्रय इत्यादि । शोथं कुर्युः, छिद्राण्यपि कुर्युरिति सम्बध्यते । विसवदिति विसं=मृणालं यथाऽनेकच्छिद्रमभ्यन्तरस्थिते जले सति स्रवति, तद्वत् । “प्रस्रवति” इति पाठे तद्विसवर्त्मं प्रस्रवतीति सम्बध्यते ॥ ९५ ॥

अथ कुञ्चनस्य लक्षणम् ।

कुञ्चनलक्षणमाह—

वाताद्या वर्त्मसंकोच जनयन्ति मला यदा ।

तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद् विदुः ॥ ९६ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

म०—वाताद्या इत्यादि । मला इत्यस्याभिधानं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थम् यतो मलिनीकरणान्मला इत्युच्यन्ते । कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतम्, तेन सुश्रुतोक्तषट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

आ०—कुञ्चनमाह—वाताद्या इत्यादि । मला इत्यस्याभिधानं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थं, मलिनीकरणान्मला इत्युच्यन्ते । कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकराचार्येण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रु-

लोका षट्सप्ततिसंख्या न हियते, एवं पक्ष्मशातेऽपि बोद्धव्यम् । यदाह सुश्रुतः—“उत्संगिन्यापि बुम्भीका पोथकी वर्त्मशर्करा । तथाऽर्शोवर्त्म शुक्रार्शस्तथैवाञ्जननामिका ॥ बहलं वर्त्मज-  
श्चापि व्याधिवर्त्मविवन्धकः । क्लिष्टकर्मवर्त्मख्यौ श्याववर्त्म तथैव च ॥ प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं  
वर्त्म वातहतं च यत् । अर्बुदं निमिषश्चापि शोणितार्शश्च यत्स्मृतम् ॥ नगणं विसनामा च  
पक्ष्मकोपस्तथैव च । एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंभ्रयाः” इति ॥ ९६ ॥

अथ पक्ष्मकोपस्य लक्षणम् ।

( Trichiasis. )

पक्ष्मकोपलक्षणमाह—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि ।

घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९७ ॥

असिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि ।

पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥ ९८ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

अ०—प्रचालितानीत्यादि । प्रचालितानि=प्रकर्षेण चालितानि, प्रतीपी-  
कृतानीत्यर्थः । पक्ष्माणि=वर्त्मरोगाणि वातचालितानि सन्ति नेत्रं प्रविशन्ति  
अन्तर्मुखानि वर्त्मन इत्यर्थः । तान्यसिते=कृष्णमण्डले, सितभागे=शुक्लमण्डले  
वा, अक्षि घृष्यन्ति घर्षयन्तीत्यर्थः । अत एव संरम्भं=शोथं जनयन्ति । मूलको-  
षात्=पक्ष्मकोशात्; पतन्त्यपीति “पक्ष्माणि” इति शेषः, अपिशब्दान्न पतन्ति च ।  
त्रिदोषजश्चायम्, प्रचालने वातमात्रकारणत्वमुक्तम्, तथा च चन्द्रिकाकारः  
पाठान्तरं पठति,—“पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च । निर्वर्तय-  
न्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते ॥ उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते”-  
इति । अत्र पक्ष्माशयो=वर्त्म । विदेहोऽप्याह—“यस्य वातसम्बन्धेन दोषाः प्रकु-  
पितास्त्रयः”—इत्यादिनेति । कल्याणविनिश्चये उपपक्ष्म पठ्यते,—“पक्ष्मोप-  
रोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोगवान् । रोभैरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैस्त्रिभिः”—  
इति । उपपक्ष्मणि यादृशी पूर्वसिद्धा तादृशी अपराऽन्तर्मुखी पक्ष्मपंक्तिरिति  
भेदः, अस्य पक्ष्मोपरोधविशेषत्वात् समानचिकित्स्यत्वाच्च पृथगिहानभिधा-  
नम् ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

आ०—पक्ष्मकोपमाह—प्रचालितानीत्यादि । मूलस्थानात्पतन्त्यपीति ‘पक्ष्माणि’ इति शेषः, अपि-  
शब्दान्न पतन्त्यपि । अयं सन्निपातजो वाक्यः ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

अथ पक्ष्मशातस्य लक्षणम् ।

( Tinea Tarsi. )

पक्ष्मशातलक्षणमाह-

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत् ।

कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत् ॥ ९९ ॥

(नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्मजास्त्वेकविंशतिः ।

शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ १ ॥

सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ।

बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥

भूय एतान् प्रवक्ष्यामि संख्या-रूप-चिकित्सितैः ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ३ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ।

म०-वर्त्मेत्यादि । पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं, शातयेदुन्मूलयेदित्यर्थः । अयं च कफपौतिकः, कण्डूदाहवत्त्वात् । अत्र कृच्छ्रोन्मीलनं वाग्भटः पठति,—“रोगान् कुर्युश्चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः । सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् ॥ पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च । विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम्’ ( वा. उ. स्था. अ. ८ )-इति । अस्य चकारेण संग्रहः । पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वादयमपि वर्त्मरोगं एव । इति वर्त्मगता एकविंशतिर्व्याधयः समाप्ताः ॥ ९९ ॥ इति वर्त्मगताः ।

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०-पक्ष्मशातलक्षणमाह-वर्त्मेत्यादि । पक्ष्माशयः=पक्ष्ममूलं, शातयेत्=उत्पाटयेत्, कण्डू रक्तपित्तप्रकोपितरक्तात् । तं पक्ष्मशातं व्याधिमादिशेत्=कथयेत् । अयमपि वर्त्मरोगः पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वात् ॥ इति वर्त्मजाः ॥ ९ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणव्याख्यायां

नेत्ररोगनिदानम् ॥ ५९ ॥



अथ शिरोरोगनिदानम् ।

अथ शिरोरोगस्य भेदाः ।

(Headache)

अथ कर्ण-नासा-नेत्राणामधिष्ठानत्वेन शिरसः नयनरोगानन्तरं शिरोरोगनिदानारम्भः । शिरोरोगाश्चैकादश, तत्र कारणभेदेन शिरोरोगभेदं दर्शयन्नाह—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वात-पित्त-कफैस्त्रिभिः ।

सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥

सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥ १ ॥

(सु० उ० अ० २५)

म०—शिरोरोगास्त्रित्यादि । वातपित्तकफैरित्युक्ते गम्यत एव त्रिभिरिति तत्कथं तदुक्तिः? उच्यते—सर्वेषां शिरोरोगाणां सन्निपातजत्वरूपापनार्थं, वातादिभेदश्चोत्कर्षात्; तदुक्तं शालाक्ये,—सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः । औत्कण्ठ्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश’—इति । त्रिभिः सन्निपातेनेति पदद्वयेन प्रकृतिविकृतिसंवेतसन्निपातद्वयमाहुरन्ये । अत्र पक्षे सन्निपातजत्वादेकत्वगणनया न संख्यातिरेकः; त्रिभिरिति पदं पृथक्त्वद्योतनार्थमिति गदाधरः । क्षयेणेति असृग्वसादीनां क्षयेण; क्षयजोऽयं धातुक्षयजनितवातकोपेन सहसाकृतवातजन्यत्वेनाचयपूर्वकः, वातजस्तु संचयप्रकोपजनित इति भेदः; अत एवानुपशयोऽप्यस्य संस्वेदनादिना शुक्रक्षयकृद्देवोपन्यस्तः । शिरोरोगशब्देन शिरोरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते, अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात् ॥ १ ॥

आ०—शिर आश्रित्य श्रवण-नासा-रोगास्तु जायन्ते, तानभिवायाश्रयभूताशिरोरोगाभिधानम् । शिरोरोगाश्चैकादश भवन्ति, तानाह—शिर इत्यादि । वातपित्तकफैरित्युक्ते त्रित्वमभ्युपगम्यत एव, यत्पुनस्त्रिभिरिति ग्रहणं तत्सर्वेषां शिरोरोगाणां सन्निपातजत्वरूपापनार्थम् । वातादिभेदश्चोत्कर्षात् । यदुक्तं—“सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुद्भवाः । औत्कण्ठ्याद्दोषलिङ्गानां कीर्तितास्तद्विदा दश”—इति । क्षयेणाति असृग्वसादीनां क्षयेण; क्षयजस्तत्रैव चति चकारेण तन्त्रान्तरोक्तोऽनन्तवात उपलभ्यते । शिरोरोगशब्देन शिरोरोगतशूलरूपा शिरोरुजाऽभिधीयते । तेन ‘सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकौ इत्यभिधानमुपपद्यते ॥ १ ॥

अथ वातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

वातिकशिरोरोगलक्षणमाह—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम् ।  
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—यस्यानिमित्तमित्यादि । अनिमित्तम्=अतर्कितनिमित्तं, वायोविषम-  
क्रियत्वात्; तेन निमित्तानुषङ्गिणा कालादिनेत्यर्थः । निशि चातिमात्रमिति  
रात्रौ शीतेन वायोराधिस्यत् बहती रुजा भवति, शीतयोनित्वाद् वायोः ।  
बन्धोपतापैरिति बन्धो=बन्धनं वस्त्रादिभिः, उपतापः स्वेदादिभिः, व्यक्त्य-  
पेक्षया बहुवचनम्, एतेनोपशयो दर्शितः । शिरोऽभितापः=शिरोरुजा ॥ २ ॥

आ०—तत्र वातिकमाह—यस्येत्यादि । अनिमित्तमर्तर्कितनिमित्तम्, वायोः विषमक्रियत्वात् ।  
अत्र तीव्रा इत्यभिधानात् पित्तेन मध्या, कफेन मन्दा रुजा । निशि चातिमात्रं बन्धप्रतापैश्च  
भवेद्विशेषः शिरोऽभिताप इति गम्यते । निशि चातिमात्रमिति रात्रौ शैत्याद्वायोराधिक्यात् ।  
बन्धप्रतापैरिति बन्धः उष्णीषादिना, प्रतापः स्वेदेन । शिरोऽभितापः इति शिरोरुजा ॥ २ ॥

अथ पैत्तिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

पित्तजलक्षणमाह—

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेत् शिरो धूप्यति चाक्षिनासम् ।  
शीतेन रात्रौ च भवेत् शमश्च शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ३

( सु० उ० अ० २५ )

म०—यस्योष्णमङ्गारचितमित्यादि । अङ्गारचितं यथैवेति ज्वलदङ्गारा-  
च्छन्नमिवेत्यर्थः । धूप्यति=धूमपूर्णमिव भवतीत्यर्थः धूप्यतीति दिवादेराकृ-  
तिगणत्वत् । अक्षि च नासा च इत्यक्षिनासम्, प्राण्यङ्गत्वादेकवद् भावः । उपशयं  
दर्शयति—शीतेन रात्रौ चेत्यादि ॥ ३ ॥

आ०—पैत्तिकमाह—यस्येत्यादि । अङ्गारचितमिवोष्णं शिरो भवति । नासा धूमावृता  
भवति । “ धूप्यति चापि नासा ” इति पाठान्तरम् । शिर इति पित्तं संतापयतोत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ श्लेष्मिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

श्लेष्मजलक्षणमाह—

शिरो भवेद् यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्ठब्धप्रतो हिमं च ।  
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—शिरो भवेदित्यादि । कफोपदिग्धमिति कफलितम् । गुरु=गौ-  
रवयुतम् । प्रतिष्ठब्धं=वदमिव । हिमं=हिमस्पर्शम् शूनाक्षिकूटमिति वदन-

विशेषणम् । तथा हि चरकः,—“शिरो मन्दरुजं तेन गुरु स्तिमितभारिकम्”  
( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । अत्रापि स्वेदादिनोपशयो ज्ञेयः ॥ ४ ॥

आ०—कफजमाह—शिर इत्यादि । कफोपदिग्धं=कफेन लिप्तं, गुरु=गौरवयुक्तं, प्रबद्धं=वद्धमित्य-  
शून्याक्षिकूटामीति वदनविशेषणम् ॥ ४ ॥

अथ सान्निपातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

सान्निपातिकलक्षणमाह—

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

( सु० उ० अ० २५ )

म०—शिरोऽभिताप इत्यादि । सर्वाणि लिङ्गानि अनन्तरोक्तानि वाता-  
दिलिङ्गानि । ( अयं च सान्निपातो विकृतिविषमसमवेतो ज्ञेयः, अन्यथा  
सर्वेषामेव शिरोरोगाणां त्रिदोषजत्वात् पृथग्भिधानं व्यर्थं स्यात्, अस्य च  
विकृतिविषमसमवेतत्वं कारणभेदात् ज्ञेयं, न तु विरुद्धलक्षणतया; स चायं  
कारणभेद उत्कटसर्वदोषजत्वादेव विज्ञेयः । यथा त्रिदोषजे राजयक्ष्मणि स्वर-  
भेदादिजनकानां वातादीनामुत्कटत्वमिति । उक्तं हि चरके,—“वाताच्छूलं भ्रमः  
कम्पः पित्ताद् दाहो मदस्तृषा । कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे”  
( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति ) ॥

आ०—सान्निपातजमाह—शिर इत्यादि । त्रितयप्रवृत्ते=दोषत्रयसंभूते, उक्तवातादिलिङ्गानां  
मुहुर्मुहुर्भवनात् ।

अथ रक्तजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

रक्तजलक्षणमाह—

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ५ ॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—रक्तात्मक इत्यादि । पित्तसमानलिङ्ग इति पित्तजशिरोरोगतुल्यल-  
क्षणः । पित्तिकलिङ्गाधिकमिह स्पर्शासहत्वम् ॥ ५ ॥

आ०—रक्तजमाह—रक्तात्मक इत्यादि । पित्तजशिरोरोगलक्षणम् । अत्र तु स्पर्शासहत्वम-  
धिकम् ॥ ५ ॥

अथ क्षयजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

क्षयजलक्षणमाह—

असृग्-वसा-श्लेष्म-समीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।

क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।  
संस्वेदन-च्छर्दन-धूम-नस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ६ ॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—असृगित्यादि । वसासृजोः सर्वदेहस्थितत्वाच्छिरसि स्थितिः, श्लेष्म-  
णश्च स्थानमेव शिरः, उदानवायोरुर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यवस्थानं, तेषां क्षयेण  
उग्ररुजत्वं व्याधिप्रभावात्, यतो वृद्धे वायावुग्ररुजा युज्यते न तु क्षीणे,  
यदुक्तम्,—“वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते । कर्मणः प्राकृताद् हानिः”  
( च. सू. स्था. अ. १८ )—इति । अन्यैः पुनरयं पाठः सुश्रुते स्वीकृतः,  
यथा—‘वसाबलासक्षयसंभवानाम्’ इति । युक्तश्चायं पाठः, वातक्षये हि कफ-  
वृद्धौ कफजः शिरोरोगः स्यात्, “वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्” ( च. सू. स्था.  
अ. १८ ) इति वचनात् । किं चैतस्य चिकित्सायामुक्तम्, पाने नस्ये च  
सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम्”—इति । ततश्च समीरणपाठो न सङ्गतः, न हि  
क्षीणे वायौ शमनमुक्तम्, अपि तर्हि वर्धनविधिः, यदुक्तम्,—“क्षीणा वर्ध-  
यितव्याः” ( सु. चि. स्था. अ. ३३ )—इति । वसा देहस्नेहस्योपलक्षणम्,  
तेन भेदो—मज्ज—शुक्र—मस्तिष्काण्यप्यवरुध्यन्ते, तेषां देहस्नेहत्वात् । पित्तमां-  
सादिक्षयजस्तु चयादिक्रमजक्षयकृतवातशिरोरोग एवावरुध्यते, इति गदा-  
धरः । शिरोऽभितापः=शिरोरुजा । संस्वेदन-च्छर्दन-धूम-नस्यैः कफक्षयः,  
नागरादितीव्रधूमेन वसामस्तिष्कादिक्षयः, सिरामोक्षादिभिरसृक्क्षयः, अत  
एवैतैः संस्वेदनादिभिः क्षयजस्य वृद्धिः । अयं विदेहेऽपि पठ्यते—“शून्यं भ्रमति  
रुज्येत शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके”—  
इति । चक्षुष्योऽप्याह,—“स्त्रीप्रसंगादभीघातादथवा देहकर्मणा । क्षिप्रं संजा-  
यते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र  
लक्षयेत्”—इति ॥ ६ ॥

आ०—क्षयजमाह—असृगित्यादि । वसासृजोः सर्वाङ्गतत्वात् शिरसि स्थितिः, कफस्य च  
तत्स्थानमेव । उग्ररुजत्वं व्याधिप्रभावादित्येके । शिरसोऽभिताप इति शिरोरुजा । संस्वेदन-च्छर्दन-  
तीव्रनस्यैः कफस्य क्षयः, नागरादितीव्रधूमेन मस्तिष्कवसादिक्षयः । अत एव तैः संस्वेदनादिभिः  
क्षयजस्य वृद्धिः । अयं विदेहेऽपि पठ्यते—“शून्यं भ्रमति रुज्येत शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छाः  
गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके”—इति ॥ ६ ॥

अथ क्रिमिजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

क्रिमिजमाह—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।

प्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं शिरोऽभितापः क्रिमिभिः स घोरः ७

( सु० उ० अ० २५ )

म०—निस्तुद्यत इत्यादि । निस्तुद्यते सूचीभिरिव तुद्यते । संभक्ष्यमाण-  
मित्यत्र “क्रिमिभिः” इति शेषः, प्रकरणात् । स्फुरतीव=मनाक् चलतीव ।  
प्राणाच्चेति चकारो भिन्नक्रमेण सलिलमित्यत्र संबध्यते, तेन सलिलं पूयं च  
गच्छेत् तथा क्रिमयश्च कदाचिद् गच्छन्तीति, तथाच चरकः,—“क्रिमीणां दर्श-  
नेन च” ( च. सू. स्था. अ. १७ )-इति ॥ ७ ॥

आ०—क्रिमिजमाह—निस्तुद्यत इत्यादि । संभक्ष्यमाणमित्यत्र क्रिमिभिरिति शेषः । स्फुरतीव  
मनाक् चलतीव । प्राणश्च गच्छेदित्यत्र चकारेण क्रिमयश्च गच्छन्तीति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

अथ सूर्यावर्तरोगस्य लक्षणम् ।

सूर्यावर्तलक्षणमाह—

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा ।

विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ।

सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तदुदाहरन्ति ॥८॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—सूर्योदयमित्यादि—सूर्योदये प्रति लक्ष्यकृत्य या रुक्क्षिभ्रुवं समुपै-  
तीति संबन्धः । अक्षिभ्रुवाविति पाठान्तरे प्राण्यङ्गत्वेन प्राप्तेकवद्भावस्याभावः,  
नासिकास्तनयोरितिवत् लक्षणव्यभिचारात् । सूर्योदये=प्रातर्मन्दं मन्दं यथा  
स्यात्तथा रुजा समुपैति, अंशुमता च सूर्येण सह गाढा यथा भवति तथा  
वर्धते । अथमर्थः—यथा सूर्यो वर्धते तथा वेदना प्रवृद्धा भवति, सूर्यस्याप-  
वृत्तौ=सायाह्ने विनिवर्तते=शाम्यतीत्यर्थः; “गाढा” इत्यत्र “गूढा” इति पाठा-  
न्तरं, तदा सूर्यापगमे गूढा रात्रौ लीनेत्यर्थः । सर्वात्मकमिति सन्निपातजम् ।  
व्याधिस्वभावाच्च कालविशेषनियमः । कष्टतमं=कृच्छ्रसाध्यम् । ननु, अयं  
सुश्रुते वातपित्ताभ्यां पठ्यते, तद्यथा—“आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः  
पित्तसंघीरणाभ्याम् । शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नु-  
याच्च” ( सु. उ. त. अ. २५ )-इति । तत्कथं सर्वजत्वम् ? उच्यते—सुश्रुते

औत्कर्षेण व्यपदेश इति न विरोधः । ननु, एवं कथं रात्रौ वायुसमानगुणशीत-  
प्रादुर्भावे वेदनालीनता, दिवसस्याद्यन्तयोर्मन्दरुक्त्वं च ? उच्यते—अत्रापि  
पित्तस्य प्रबलतमत्वात् । यत्तु चिकित्सायां शिरीषमूल-पिप्पलीमूल-वचावपीडा-  
द्यभिहितं तद् व्याधिप्रत्यनीकत्वात् । अथ वातपित्तजत्ववर्णनेन विशिष्टकालभ-  
वने हेतुर्दर्शितो भवति । यतो वातपित्तयोः शीतोष्णात्मकत्वात् पूर्वाह्ने सूर्यवृ-  
द्धिक्रमेण स्रोतसां संकोचक्रमादवरुद्धमार्गयोर्वेदनाकरत्वम्, पराह्ने निवर्तमाने  
सूर्ये तु स्रोतसां विवृतत्वात् स्वमार्गव्याघातविरहेण वेदनाया अजनकत्वमिति-  
युक्तः कालविशेषनियमः । तथाचाह निमिः,—“सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू  
पित्तमारुतौ । कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु ॥ आदित्यतेजसा युक्ते  
निवृत्तेऽपि च भास्करे । स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माऽधिगच्छति । उद्गतो  
मातरिक्षा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते । तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति”-  
इति । वातपित्तजत्वमस्याधिकत्वेन व्यपदेश इति न्यायात् तेन पूर्वेण समं न  
विरोधः । विदेहे सूर्यावर्तविपर्ययोऽपि पठ्यते,—“तत्र वातानुगं पित्तं चित्तं  
शिरसि तिष्ठति । मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद् विवृद्धं शिरोरुजम् ॥ करोति पैत्तिकीं  
घोरां संशाम्यति दिनक्षये । अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते ॥ पित्तं  
शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना । एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः”-  
इति । अयमत्र सूर्यावर्त एवान्तर्भावनीयः चातुर्थिके चातुर्थिकविपर्ययवत् ॥ ८ ॥

आ०—सूर्यावर्तमाह—सूर्योदयमित्यादि । सूर्योदयं प्रति लक्ष्यकृत्य या रुक् अतर्किताऽक्षिभुवं  
समुपैतीति संबन्धः । ‘ गूढा ’ इति पाठान्तरं । तत्र गूढा रात्रौ लीना भवति । सर्वात्मकं सन्निपात-  
जम् । सुश्रुतेऽयं वातपित्ताभ्यां पठ्यते, तत्कथं सर्वजत्वमित्युच्यते ? तत्रौत्कट्येन निर्देशादविरोधः ।  
नन्वेवं रात्रौ कथं वायोः समानगुणशीतप्रादुर्भावे वेदना लीयते, दिवसस्याद्यन्तयोर्मन्दा रुक् ? उच्यते,  
अत्रापि पित्तस्य प्रबलतमत्वात् ॥ ८ ॥

अथानन्तवातरोगस्य लक्षणम् ।

अनन्तवातलक्षणमाह—

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।  
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ९ ॥  
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ।  
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० २५ )

म०—दोषा इत्यादि । मन्या=ग्रीवासिरादयः, तां संपीड्य; घाटासु=ग्रीवा-  
पश्चाद्भागेषु, दोषास्त्रयः एव रुजां=वेदनां सुतीव्रां कुर्वन्ति, तथा अक्षिभ्रुवि शङ्ख-

देशे च स्थितिमारब्धत्वं यो विशेषतः करोति, तथा गण्डपार्श्वे कम्पं हनुग्रहा-  
दिकं च यः करोति, तमनन्तवातमुदाहरन्तीति योज्यम् । गण्डस्य=कपोलस्य,  
पार्श्वे=एकदेशे । हनुग्रहो=वातव्याधिविशेषः । अमुं च सुश्रुते अन्यतोवाते-  
नैव तुल्यत्वादनन्तवातं परित्यज्य दश शिरोरोगा अभिहिताः, एवं तन्त्रातरे-  
ऽपि “कीर्तितास्तद्विदा दश”-इत्यभिधानम्, माधवकरेण तु त्रिदोषजत्वेन  
तदधिककम्प-हनुग्रह-लिङ्गयोगाच्च केवलवातजादन्यतोवाताद् विलक्षण एवा-  
यमिति अनन्तवातोऽधिकः पठितः, भेदो हि भेदवतां कारणभेदाद् विरुद्धधर्मा-  
ध्यासाच्च भवतीति ॥ ९ ॥ १० ॥

आ०—अनन्तवातमाह—दोषा इत्यादि । स्वरुजां=स्वां स्वां रुजाम् । गण्डस्य पार्श्वे=गण्डस्यो-  
पान्तिकदेशे । सुश्रुतेनानन्तवातं परित्यज्य दश शिरोरोगा उक्ताः । तन्त्रान्तरेऽपि दश,—“कीर्ति-  
तास्तद्विदा दश ” इत्यभिधानात् ॥ ९-१० ॥

अथार्धावभेदकस्य लक्षणानि ।

( Hemicrania. )

अर्धावभेदलक्षणमाह—

रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।

वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥ ११ ॥

केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।

मन्याभूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥ १२ ॥

शस्त्रारणिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।

नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ १३ ॥

म०—रूक्षाशनेत्यादि । अध्यशनमजीर्णं भोजनम् । अवश्यायेति अव-  
श्यायो हिममुच्यते, छन्दोऽनुरोधेन यकारलोपो ह्रस्वत्वं चेति व्याचक्षते । कदा-  
चित् सश्लेष्मवातजत्वमिति विकल्पं दर्शयति—केवल इत्यादि । शस्त्रारणिनिभां  
शस्त्रच्छेदनिभां अरणिनिभां च, अरणिरन्युत्थापनकाष्ठयन्त्रं, तस्य मन्थनवत्  
पीडा; किंवा अरणिना कारणेन अग्निरेवोच्यते, तेनाग्निनिभां वेदनाम् ।  
सुश्रुते त्वयं त्रिदोषजः पठितः । तद्यथा—“यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोद-  
भेद-भ्रम-मोह-शूलैः । पक्षाद् दशाहादथवाऽप्यकस्मात् तमर्धभेदं त्रितयाद्  
व्यवस्येत्” ( सु. उ. त. अ. २५ )—इति । अत्र तु केवलोऽनिलः सकफो  
वेत्तुयौत्कर्ष्यादभिधानं, “सोऽर्धभेदः कफानिलात्” इति विदेहेऽप्येवं बोद्धव्यम् ।



अयमुपेक्ष्यमाणो नयनादिकं हन्यादित्याह--नयनमित्यादि । अथैव विदेहः-  
“शिरसोऽन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा । श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोद-स्फु-  
टन-दालनैः ॥ शूलावदारणैर्गाढमर्थं तदवरुध्यते । नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः  
कफानिलात् ॥ तथा त्र्यहात् स पञ्चाहात् पश्चात् मासाच्च देहिनाम्”-इति ।  
सुश्रुते “पवनात् सपित्तात्” इति केचित् पठन्ति । तेन वातपित्तजत्वमस्य ।  
सात्यकिना-“वायुः शिरः-शङ्ख-भ्रूनेत्रमवगृह्य” इत्यादिना वातजत्वमस्य  
दर्शितम् । अन्ये तु सन्निपाताधिकारात् सन्निपातजं पठन्ति, तथा च सुश्रुतः-  
“त्रितयाद् व्यवस्येत्” ( सु. उ. त. अ. २५ ) इति । व्याधिस्वभावादचिरानु-  
बन्धकत्वं सान्निपातिकत्वेऽपि ॥ ११-१३ ॥

आ०--अर्धवभेदकमाह=रुक्षेत्यादि । अध्यशनमजीर्णभोजनं, प्राग्वातः, अवश्यायो=निशा-  
जलम् । शस्त्रारणिनिभामिति शस्त्रच्छेदननिभाम्, अरणिः अग्न्युत्पादनं काष्ठयन्त्रं, तत्कृतमन्थननिर्भां  
वेदनां करोति । सुश्रुते त्वयं दोषत्रयजः पठितः-“यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः  
पक्षाद्दशाहादथ वाऽप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत्”-इति अत्र तु केवलोऽनिलः सकफ  
इत्युक्तः । “सोऽर्धभेदः कफानिलात्” इति विदेहेऽप्येवमेव बोद्धव्यम् । अयमुपेक्ष्यमाणोऽतिप्रवृद्धः  
श्रोत्रे नेत्रे हन्ति ॥ ११-१३ ॥

अथ शङ्खकस्य लक्षणानि ।

शङ्खकलक्षणमाह--

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।  
तीव्ररुग्-दाह-रागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ १४ ॥  
स शिरो विषवद् वेगी निरुन्ध्याशु गलं तथा ।  
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ।  
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ।

म०--रक्तपित्तानिला इत्यादि । दुष्टाश्चयादिमन्तः । मूर्च्छिताः अन्योन्य-  
मेकीभूताः कफोऽप्यत्र बोद्धव्यः, तथा च सुश्रुतः-“शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्ण-  
वेगः कृतानुतापः कफ-पित्त-रक्तैः” ( सु. उ. त. अ. २५ )-इति ( मारकत्वमाह-  
त्रिरात्राज्जीवितं हन्तीति । कुशलेनोपक्रमे क्रियमाणे त्रिरात्रात् परतो जीवत्ये-  
वेत्यत आह--परं त्र्यहाज्जीवतीति । अत्र अहःसम्बन्धिनी रात्रिरुपलक्ष्यते,

तेन त्रिरात्रात् परं जीवतीत्यर्थः । तत् किमस्य त्रिरात्राभ्यन्तरे साध्यत्वमसाध्य-  
त्वं वेत्यत आह—भैषज्यमित्यादि । तदनेन त्रिरात्राभ्यन्तरे विकल्पितासा-  
ध्यत्वम्, त्रिरात्रात् परमसाध्यत्वं दर्शितम् । तत्रैव विदेहः—“चीयते तु तदा  
पित्तं शङ्खयोरनिलं चितम् । निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुत्त्वणम् ॥ ततः  
शङ्खसौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना । सूचिभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥  
शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुण । तृष्णा-मूर्च्छा-ज्वर-करस्त्रिरात्रात्  
परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति”—इति ) ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०—शङ्खकमाह—पित्तेत्यादि । मूर्च्छिताः=प्रवृद्धाः । “शङ्खाश्रितो वार्युरुदीर्घवेगः कृताऽ-  
नुपापः कफपित्तरक्तैः ”—इति सुश्रुतवचनात्कफोऽप्यत्रावगन्तव्यः । त्रिरात्रात्परतो जीवितं  
हन्ति । त्रिरात्रं कुशलवैद्याधिष्ठिते जीवति । त्र्यहादिति त्र्यहं प्राप्य । भेदेऽप्युक्तम्—“कुशले-  
नानुपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति ” । एवं सुश्रुतोक्ता दश शिरोरोगा उक्ताः, अनन्तवातस्त्व-  
त्राधिकः ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
शिरोरोगनिदानं ॥ ५७ ॥

### अथासृग्दरनिदानम् ।

अथ प्रदररोगस्य सहेतुका संख्यारूपा सम्प्राप्तिः ।

स्त्रीपुंसां साधारणान् विकारानभिधायः पुंप्रतिनियतस्योपदंशादेरुक्त-  
त्वात् स्त्रीनियतरोगाभिधानम् । तत्र च योनिव्यापत्तिविशेषेऽप्यार्तवप्रवृत्तिसद्भा-  
वात् प्रथमं दुष्टार्तवप्रवृत्तिस्वरूपं प्रदरमाह—

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद् गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।

यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघातात् शयनादिवा च ।

तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातैश्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥ १ ॥

म०—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धमद्यं=दुष्टमद्यम्, अथवा विरुद्धं=संयोगादिविरुद्धं,  
मद्यं च स्वरूपतः । अजीर्णादपक्वभोजनात् । अतिकर्षणात् लङ्घनाद्यतियो-  
गेन क्षीणधातुत्वात् । तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातैरित्यत्र श्लेष्मणोऽभिधानं श्लेष्म-  
जेऽपि वेदनासूचनार्थम् ॥ १ ॥

आ०—अथ प्रदरनिदानारम्भः । तस्य निदानमाह—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धमद्यं=व्यापन्नं मद्यं किंवा विरुद्धं=क्षीरमत्स्यादि मद्यं च ॥ १ ॥

अथ प्रदररोगस्य सामान्यलक्षणम् ।

तस्य सामान्यरूपमाह—

असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमदं सवेदनम् ।

म०—असृग्दरमित्यादि । सवेदनं=सशूलं, असृग् दीर्यते=च्यवते यस्मिन् नित्यसृग्दरं, तन्त्रान्तरमत्र—“तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विजानीयात् पुरस्तादुक्तलक्षणम्” ( सु. शा. स्था. अ. २ )—इति । तदेवेति आर्तवम् ॥—

आ०—तस्य संख्यासंप्राप्तिमाह—तमित्यादि । वृद्धाः=वृद्धवैद्याः ॥ १ ॥

अथातिप्रवृत्तस्यार्तवस्योपद्रवाः ।

आर्तवातिप्रवृत्तौ उपद्रवानाह—

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।

दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥ २ ॥

( सु० शा० अ० २ )

म०—तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यमित्यादि । रोगाश्च वातजा इति आक्षेपक-कम्पादयः ॥ २ ॥

आ०—उपद्रवानाह—तस्येत्यादि । अतिप्रवृत्तौ=अतिप्रवृद्धौ दौर्बल्यादयः । वातजा इति आक्षेपापत्तानकम्पादयः ॥ २ ॥

अथ श्लेष्मिकादिभेदेन प्रदरस्य विशेषलक्षणानि ।

श्लेष्मिकादिभेदेन विशेषलक्षणान्याह—

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु ।

सपीत-नीलासित-रक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥ ३ ॥

रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातार्तिं वातात् पिशितोदकाभम् ।

सक्षौद्र-सर्पिर्हरिताल-वर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ॥ ४ ॥

तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम् ।

शथत् स्रवन्तीमास्त्रावं तृष्णा-दाह-ज्वरान्विताम् ॥ ५ ॥

क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ।

म०—आममित्यादि । आशम्=आशरसानुविद्धम् । सपिच्छाप्रतिममिति पिच्छा=शाल्मल्यादिनिर्यासः, तत्सदृशं पिच्छिलमित्यर्थः; सशब्द ईषदर्थे । पुलाकतोयप्रतिमं=प्रक्षालितपललतोयसदृशम्, अन्ये पुलाकं गवेधुकमाहुः । पित्तार्तियुक्तं=दाहचिभिचिभादियुक्तम् । भृशवेगि=बहुवेगि । वातार्ति=तोदादिलक्षणम् । पिशितोदकाभं=मांसप्रक्षालनजलसदृशम् । सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णमिति नानावर्णत्वं त्रिदोषकोपादेव । क्षौद्रवर्णं=मनाक्कपिलं, सर्पिर्वर्णं=विलीनघृतवत् किञ्चिदरुणं च, मज्जप्रकाशं=मज्जा=अस्थिस्नेहः तत्समं, कुणपं=शवगन्धि । तच्चाप्यसाध्यमिति चिकित्सानिवृत्त्यर्थम् ॥ ३—५ ॥—

आ०—तत्र श्लेष्मजमाह—आममित्यादि । आममामरससंयुक्तं, सपिच्छाप्रतिमं,=सद्यःस्रुत शाल्यादिमण्डतुल्यं पिच्छिलमित्यर्थः । पुलाकतोयप्रतिमं=गवेधुकान्नवारिवत्, अन्ये पुलाकं तुच्छधान्यमाहुः । पित्तजमाह—सेत्यादि । पित्तार्तियुक्तं=संतापादियुक्तं, भृशवेगि=बहुवारं भूरिप्रवृत्ति । वातिकमाह—रुक्षेत्यादि । पिशितोदकाभं=मांसप्रक्षालनोदकवर्णम् । त्रिदोषमाह—सत्यादि । क्षौद्रवर्णं=मनाक्कपिलं सर्पिर्वर्णं=विलीनघृतवत्, हरितालवर्णं=पीतं, मज्जप्रकाशं=मज्जा-स्थिस्नेहः तत्समं, कुणपं=शवगन्धि, असाध्यमिति चिकित्सानिवृत्त्यर्थम् ॥ ३-५ ॥

अथ विशुद्धान्तवस्य लक्षणम् ।

विशुद्धान्तवलक्षणमाह—

मासाद् निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ॥ ६ ॥

नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।

शशासृक् प्रतिमं यच्च यद् वा लाक्षारसोपमम् ।

तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते ॥ ७ ॥

( सु० शा० अ० २ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने असृग्दरनिदानं समाप्तम् ।

म०—मासादित्यादि । निष्पिच्छदाहार्तीति अपिच्छिलमदाहमशूलादिवेदनम्, एतेन विकृतवातादिलिङ्गरहितमित्यर्थः । पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्रं प्रभूतप्र-  
मवृत्त्या अनुबन्धातीत्यर्थः । अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात् परतोऽप्यनुबन्धाति । तदुक्तं

हारीते—“षोडशदिवसान्यृतुकालः”—इति । विदेहेऽप्युक्तम्—“स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि”—इति । शशासृगित्यादिना वर्णद्वयं वातादिप्रकृतिभेदात् । यच्चाप्सु न विरज्यते इति येनार्तवेन रञ्जितं वस्त्रम् अप्सु प्रक्षालितं सल्लोहितं न भवति तद् विशुद्धम् । तथा च हिरण्याक्षः,—“सुरेन्द्रगोपसंकाशं स्निग्धं च मधुगन्धि च । अपिच्छिलमशीतं च यद् वासो न विरज्येत”—इति॥६॥७॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामसृग्दरनिदानं समाप्तम् ।

आ०--शुद्धार्तवलक्षणमाह—मासेत्यादि । अपिच्छिदाहार्तीति अपिच्छिलम् , अदाहम् , अशूलादिवेदनम् , एतेन विकृतवातादिलक्षणरहितमित्यर्थः । पञ्चारात्रानुवन्धीति पञ्चारात्रं प्रभूतप्रवृत्त्याऽनुबन्धाति यदित्यर्थः । अल्पप्रवृत्त्या पञ्चारात्रात्परतोऽप्यनुबन्धाति । यदुक्तं हारीते—“ षोडशदिवसान्यृतुकालः ”—इति । विदेहोऽप्युक्तवान्—“स्त्रीणामृतुर्भवति षोडश वासराणि ”—इति । पुनश्च शुद्धलक्षणमाह—शशेत्यादि । वर्णद्वयाभिधानं वातादिप्रकृतिभेदेन वर्णभेदात् । यच्चाप्सु न विरज्यत इति यदार्तवं कर्पटगतं सत् अप्सु=जलेषु संयुज्यमानेषु न विवर्णं भवति । अयमर्थः—यत् यौतं सत् वासो न विरज्यति । यदुक्तं हिरण्याक्षे—“इन्द्रगोपसंकाशं स्निग्धं च मधुगन्धि च । अपिच्छिलमशीतं च यद्वासो न विरज्येत ”—इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
प्रदरनिदानम् ॥ ३१ ॥

अथ योनिव्यापन्निदानम् ।

( Diseases of Vagina. )

अथ योनिव्यापद्रोगस्य हेतवः ।

रूपधिकारानुवृत्तेः प्रदुष्टार्तवकार्यत्वाच्च योनिव्यापन्निदानमाह—

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ १ ॥

जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ।

( च० चि० अ० ३० )

म०--विंशतिरित्यादि । रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये, चरकोक्तत्वादस्य वाक्यस्य मिथ्याचारेण=असम्यग्माहाराचारेण, चरतेर्गतिभक्षणार्थत्वात् । प्रदुष्टेनार्तवेनेति वातादिदुष्टरजसेत्यर्थः । तेन बन्ध्यादिष्वार्तवदुष्टिरपि कारणं भवति । बीजदोषात्=मातापित्रोरारम्भकबीजदोषात् । दैवात्=प्राक्तनाधर्मकारणात्, दैवस्य सर्वत्र कारणत्वे सिद्धेऽत्र विशेषेण कारणत्वमुक्तम् ॥ १ ॥—

आ०—योनिप्रवृत्तत्वादसृग्दरस्यानन्तरं योनिव्यापनिदानमाह—विंशतिरित्यादि । व्यापदो= रोगाः रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये, चरकोक्तेः । मिथ्याचारतः=असम्यग्गाहारा वारतः । प्रदुष्टेनार्तवेनेति कुपितवातादिदुष्टेनार्तवेन, बन्ध्यासु अर्तवदुष्टिरपि कारणं भवति । बीजदोषादित्यादि गर्भारम्भकबीजगतार्तवदोषात् । दैवादित्यादि दैवं सर्वत्र साधारणं विशिष्टदृष्टकारणादर्शने सति कार्यदर्शनादुन्नेयम् ॥ १ ॥

अथ वातिकानामुदावर्तादियोनिव्यापत्तीनां लक्षणानि ।

श्लेष्मिका आह—

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण सुञ्चति ॥ २ ॥  
वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद् विप्लुतां नित्यवेदनाम् ।  
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ॥ ३ ॥  
वातला कर्कशा स्तब्धा शूल-निस्तोद-पीडिता ।  
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ४ ॥

( सु० उ० अ० ३८ )

म०—सा फेनिलमित्यादि । सा= योनिः फेनवदार्तवं सुञ्चति । उदावर्तेति उर्ध्वमावृतः समन्ताद्भर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्श आदित्वाद्च् । विप्लुतामिति विप्लुतां वातवेदनया विप्लुतत्वात् । नित्यवेदनां अतिकुपितेनैव वातेनेति । परिप्लुतायामिति परि=सर्वतो वातविकारेण प्लुतत्वात् परिप्लुता संज्ञा । परिप्लुतायां=बाह्याभ्यन्तरवातवेदनाभिर्युक्तायाम् । “ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम्” इत्यत्र “ग्राम्यधर्मे रुचिर्भृशम्” इति पाठान्तरं, तत्र रुचिरभिलाषः; ग्राम्यधर्मे मैथुने । वातलेत्यादि योनिविशेषणम्, वातलया सह पञ्च योनिव्यापदः । वातलायाः पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावायम् । एवं पित्तादिष्वपि बोद्धव्यम् । चतसृष्विति उदावर्ता-वन्ध्या-विप्लुता-परिप्लुतासु ॥२-४॥

आ०—पूर्वं योनिविंशतिव्यापद उक्तास्तासु उदावर्तामाह—सा फेनिलमित्यादि । उद्=ऊर्ध्वम्, आ=समन्तात्, वृत्तः=वर्तुला, योर्यत्र सा तथा । “उदावर्ता” इति पाठान्तरम् । तत्राप्ययमेवार्थः । सा योनिः फेनेनार्तवं सुञ्चति । वन्ध्यामाह—नष्टार्तवं रजो यस्यां सा तथा । विप्लुतामाह—वातदेनाविप्लुतत्वात् । नित्यवेदनां वातजनिततोदवन्ध्यादिनानावेदनायुक्ताम् । परिप्लुतामाह—परिप्लुतायामिति । परि=सर्वतो वातविकारपरिप्लुतत्वात्परिप्लुतेति संज्ञा । ग्राम्यधर्मे मैथुने भृशं पीडा भवति । “ग्राम्यधर्मेऽरुचिः” इति पाठान्तरम् । तत्रारुचिरभिलाषः । वातजामाह—वातलेत्यादि । कर्कशा=स्तब्धा, शूलनिस्तोदपीडितेति । वातलेति योनिविशेषणम् । वातलया सह पञ्चयोनिव्यापदः । वातलेति पृथग्विधानमत्यर्थं वातवेदना-

प्रादुर्भावार्थम् । एवं पित्तलादिष्वपि व्याख्येयम् । आद्यासु चतसृषु वातानुबन्धित्वमाह—  
चतसृष्वपीत्यादि । सदावर्ता--वन्ध्या--विप्लुता--परिप्लुतेति चतसृषु वातवेदना ज्ञेया, वातलायाम-  
धिकाऽतः संज्ञा ॥ २-४ ॥

अथ रक्तक्षयादीनां पैत्तिकव्यापत्तीनां लक्षणानि ।

पैत्तिका आह—

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया ।  
सवातमुद्गिरेद् बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥  
प्रसंसिनी संसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी ।  
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥  
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाह-पाक-ज्वरान्विता ।  
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ ७ ॥

( सु० उ० अ० ३८ )

म०—सदाहमित्यादि । क्षीयते रक्तमिति अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य क्षयः । वामि-  
न्युद्गिरेद्बीजमिति शुक्रं शुद्धमपि वमतीत्यर्थः । प्रसंसिनी संसते इति स्वस्थाना-  
च्च्यवते निःसरतीति यावत् । अत एव “क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् ( सु. उ. त. अ.  
३८ )”—इति चिकित्सितम् । क्षोभिता=विमर्दिता । दुष्प्रजायिनी=दुःखप्रसवा ।  
रक्तसंक्षयादार्तवस्य वायुना क्षयात् । यद्यपि सर्वस्यैवापत्यस्य नाशस्तथापि  
पुत्रस्य प्राधान्यात् पुत्रघ्नीति व्यपदेशः । पित्तलया सह पञ्च पित्तजाः । दाह-  
पाकेत्याद्युपलक्षणं, तेन नीलपीतासितार्तवा च भवतीत्यर्थः । यदुक्तमन्यत्र,—  
“व्यापल्लवणकट्फलक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् । दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीता-  
सितार्तवा”—इति आद्यास्विति रक्तक्षया-वामिनी-प्रसंसिनी-पुत्रघ्नीषु ॥ ५-७ ॥

आ०—अथ पित्तानुबन्धि-न्यः । तत्र रक्तक्षयामाह--सदाहमित्यादि । अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य  
क्षयः, तेन रक्तक्षयेति संज्ञा । वामिनीमाह--सवातमित्यादि । सुगमम् । प्रसंसिनीमाह--  
प्रसंसिनीत्यादि--संसते=स्वस्थानाच्च्यवते, निःसरतीत्यर्थः । क्षोभिता=विमर्दिता, दुष्प्रजायिनी=  
दुःखप्रसवा । स्थितमित्यादि । पुत्रघ्नीतं सर्वापत्यविनाशिन्यस्तथाऽपि पुत्रस्य प्राधान्यादत्र पुत्रघ्नीति  
व्यपदेशः । पित्तलामाह--अत्यर्थमित्यादि । दाहपाकज्वरान्वितेत्युपलक्षणं, तेन नीलपीतासितार्तवा  
च भवतीत्यवगन्तव्यम् । तथा च तत्रान्तरे--“व्यापल्लवणकट्फलक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् । दाहपाकज्व-  
रोष्णार्ता नीलपीताऽसितार्तवा”— इति । चतसृष्वपि पित्तानुबन्धमाह--रक्तक्षया-वामिनी-प्रसंसिनी-  
पुत्रघ्नीषु । पित्तलया सह पञ्चपित्तानुबन्धि-न्यः ॥ ५-७ ॥



अथात्यानन्दादिश्लेष्मिकयोनिव्यापदां लक्षणानि ।

श्लेष्मिका आह—

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति ।

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥ ८ ॥

मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।

बहुशश्चातिचरणा तयोर्वीजं न विन्दति ॥ ९ ॥

श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला ।

चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ १० ॥

( सु० उ० अ० ३८ )

म०—अत्यानन्देत्यादि । ग्राम्यधर्मेण=मैथुनेन । कर्णिन्यां कर्णिकेति कर्णिका=मांसकन्दाकारग्रन्थिः । मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते इति अचरणा सम्यङ्मैथुनाचरणात् पूर्वं=प्रथमं, पुरुषादतिरिच्यते=विरमन्ति, तेन बीजं न गृह्णाति । अत्र अचरणशब्देनोपचारात् तद्वती स्त्री भण्यते । बहुशश्चातिचरणेति बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा सा च श्लेष्मजनितकण्डूभिराजगेव (?) बहुमैथुनाचरणाद्वीजं न धत्ते । अत उक्तम्—तयोर्वीजं न विन्दतीति ।—तयोरिति अचरणातिचरणयोः श्लेष्मलायातिशीतलेत्युपलक्षणम्, न वेदनादिकमपि ज्ञेयम् । तथाच तन्त्रान्तरे,—“कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिचेद् दूषयेत् स्त्रियाः । स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम्”—इति ॥ ८-१० ॥

आ०—अथ श्लेष्मानुबन्धिन्यः । तत्रात्यानन्दामाह—अतीत्यादि । कर्णिनीमाह—कर्णिन्यामित्यादि । बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा, सा च श्लेष्मजनितकण्डूयोगाद्बहुमैथुनाचरणादतिचरणा, बीजं गर्भाङ्कुरजननं न लभते । अत एवोक्तं—तयोर्वीजं न विन्दतीत्यादि । तयोरिति अचरणातिचरणयोः । श्लेष्मलामाह—श्लेष्मलेत्यादि । अतिशीतलेत्युपलक्षणं, तेन वेदनेत्यपि बोद्धव्यम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—“कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं दूषयते स्त्रियाः । स कुर्यात्पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम्”—इति । श्लेष्मानुबन्धत्वमाह—चतसृष्वपीत्यादि । अत्यानन्दा-कर्णिनी-अचरणा-ऽतिचरणासु । एवं श्लेष्मानुबन्धिन्यः पञ्च ॥ ८-१० ॥

अथ सान्निपातिकानां योनिव्यापत्तीनां लक्षणानि ।

सान्निपातिका आह—

अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने ।

अतिकायगृहितायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत् ॥ ११ ॥

विवृता च महायोनिः सूचीवक्राऽतिसंवृता ।  
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ॥ १२ ॥  
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ।  
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥ १३ ॥

( सु० उ० अ० ३८ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिव्यापनिदानं समाप्तम् ॥

म०—अनार्तवेत्यादि । अनार्तवा=रजःशून्या । अस्तनी=ईषत्स्तनी ।  
अतिकायगृहीताया=महामेहनेन गृहीतायाः । अण्डली=अण्डवन्निःसृता योनिः  
विवृता=महायोनिः अतिविवृतमुखी । सूचीवक्रा=अतिसंवृता सूचीरन्ध्राऽतिस-  
ङ्कटमुखी । सर्वलिङ्गसमुत्थानोति सर्वदोषलिङ्गानां समुत्थानं यत्र सा तथा अन्ये  
त्वाहुः सर्वदोषसमुत्थाना सर्वदोषहेतुजेत्यर्थः । चरकोक्ता अधिका रक्तयोन्याद-  
यः सुश्रुतोक्तानामदूरान्तरत्वेनावबोद्धव्याः ॥ ११-१३ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिव्यापनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—सन्निपातजादयः पञ्च । तत्र षण्डीमाह—अनार्तवेत्यादि । अनार्तवा=अरजस्का,  
अस्तनी=ईषत्स्तनी । अण्डलीमाह—अतिकायो=वृहन्मेहनपुरुषः, तेन गृहीताया इति अप्रगल्भयाः,  
अण्डली=अण्डवन्निःसृता योनिः । विवृतामाह—अतिविवृता । सूचीवक्रामाह अतिशयेन सूचीवत्सं-  
कीर्णमुखी संवृता । सन्निपातजामाह—सर्वलिङ्गेत्यादि । सर्वलिङ्गानां समुत्थानं यत्र सा तथा ।  
चतसृष्वपि सर्वलिङ्गानुबन्धमाह—चतसृष्विति । पण्ड्यण्डलीविवृतासूचीवक्रासु । त्रिदोषजाः  
पञ्च । आसामसाध्यतामाह—पञ्चेत्यादि ॥ ११-१३ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
योनिव्यापनिदानम् ॥ ६२ ॥

अथ योनिकन्दनिदानम् ।

(Vaginal Polypus)

अथ योनिकन्दाख्यरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

योन्याश्रयत्वात् योनिकन्दनिदानमाह—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद् व्यायामादतिमैथुनात् ।  
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा ॥ १ ॥

पूय-शोणित-संकाशं निकुचाकृतिसंनिभम् ।

जगयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः ॥ २ ॥

( सु० उ० अ० ८ )

म०—दिवास्वप्नादित्यादि । नखदन्ताद्यैरित्यत्रादिशब्दात् कण्टकादिपरिग्रहः । वाताद्याः कुपिता इति यथानिदानं प्रत्येकं वातादयः कुपिताः । निकुचाकृतिसंनिभमिति वर्तुलमित्यर्थः, अस्यानन्तरं गुडकमिति द्रष्टव्यम्, तेन नपुंसकालिङ्गता सङ्गता भवति । कन्दः प्रायेण जरन्नारीयोनिगतो निकुचाकारो रोगः ॥ १ ॥ २ ॥

आ०—इहैव योनिसंश्लेषत्वेन कन्दनिदानमाह—दिवेत्यादि । नखदन्ताद्यैरित्युपलक्षणम् । आदिग्रहणात् कण्टकादिपरिग्रहः । वाताद्याः कुपिता इति यथानिदानेन वातादयः प्रत्येकं कुपिताः । लकुचाकृतिसंनिभसमेतस्यानन्तरं गुडकमिति द्रष्टव्यम् । कन्दः प्रायेण जरन्नारीयोनिगतो लकुचाकारो रोगः ॥ १ ॥ २ ॥

अथ रक्तवातजादिभेदेन लक्षणानि ।

वातजादिभेदेन रूपमाह—

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।

दाह-राग-ज्वर-युतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥ ३ ॥

नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।

सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥ ४ ॥

इति श्रीमधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ।

म०—रूक्षमित्यादि । नीलपुष्पप्रतीकाशमिति अतसीकुसुमवर्णम् । कफजेऽपि नीलता व्याधिप्रभावादेव, अन्ये तु पौष्टिकलक्षण एव सम्बध्नन्ति, योग्यत्वात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ।

आ०—वातजमाह—रूक्षमित्यादि । सुगमम् । पौष्टिकमाह—दाहेत्यादि । सुगमम् । क्लृप्ति-कमाह—नीलेत्यादि । अतसीकुसुमवर्णम् । एवंविधवर्णता च कफजेऽपि रोगप्रभावात्, अन्ये त्वेतत्पौष्टिके एव सम्बध्नन्ति, योग्यत्वात्, वदन्ति च—“दाहरागज्वरयुतम्” इत्याभिधानादिकल्पितमेतद्वगन्तव्यमिति । सन्निपातिकमाह—सर्वेत्यादि—सुगमम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यप्रणीतायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां

योनिकन्दनिदानम् ॥ ६३ ॥

अथ मूढगर्भनिदानम् ।

(Difficult Labour.)

अथ गर्भपातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

(Abortion.)

योनिस्थानविकारानुवृत्तेः स्त्रीरोगनिदानारम्भः । तत्र गर्भपातनिदानमाह—

भयाभिघातात् तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।

गभ पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

म०—भयाभिघातादित्यादि । एतच्चोपलक्षणं, तेनान्येऽपि सुश्रुतोक्ता ग्राम्यधर्म—यान—वाहन—पतन—स्खलनादयो बोद्धव्याः । पततीति संसमाने, तेन स्त्रावपातयोरपि सशूलं रक्तदर्शनं भवति, एतच्च पूर्वरूपमिति दर्शयति ॥ १ ॥

आ०—अथ स्त्रीविकाराधिकारात् स्त्रीरोगनिदानम् । तत्र गर्भपातहेतुमाह—भयेत्यादि । एतच्चोपलक्षणम् । तेनान्येऽपि सुश्रुतोक्ता ग्राम्यधर्मयानवाहनपतनस्खलनादयो ग्राह्याः । पततीति संसमाने, सशूलं रक्तदर्शनं भवतीति पूर्वरूपकथनम् ॥ १ ॥

अथ गभ-विद्रव-पातयोः कालभेदाद् भेदः ।

एतयोः कालभेदमाह—

आचतुर्थात् ततो मासात् प्रसवेद् गर्भविद्रवः ।

ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ २ ॥

म०—आचतुर्थादित्यादि । गर्भविद्रव इति अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवो भण्यते; स्त्रावो नातिघनत्वात्, पातस्तु घनत्वात् । यत्तु भोजेऽभिहितम्,—“आतृतीयात्ततो मासाद् गर्भः स्रवति शोणितम् । ऊर्ध्वं संघातभूतस्तु गर्भः पतति योषिताम्”—इति । संघातभूतः कोमलाङ्गः, पिण्डितावस्थ इत्यर्थः । अतः सुश्रुते चतुर्थमासेऽप्यदृढत्वात् स्त्रावः कथितः । स्थिरशरीरस्येति कठिनशरीरावयवस्य । पञ्चमषष्ठयोरिति सप्तमे अनुगुणजनने जीवदर्शनायोक्तम्, विगुणजनने तु सप्तमादिमासेष्वपि गर्भपातः । अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद् विप्रसव इति आचार्यप्रामाण्याद् व्यवहाराच्च मन्यन्ते ॥ २ ॥

आ०—स्त्रावपातयोरिदानीं कालनियममाह— आचतुर्थादित्यादि । अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवो भण्यते । यदुक्तं भोजे—“आतृतीयात्ततो मासाद् गर्भः स्रवति शोणितम् ।

उर्ध्वं संघातभूतस्तु गर्भः पतति थोपिताम्” इति । तच्चतुर्थं मासि संयावरूपतया अनभिव्यक्तदृष्टा-  
ज्ञतया सुश्रुतेन स्त्रावपक्षे निक्षिप्तम् । स्थिरशरीरस्थेति कठिनशरीरावयवस्य । पञ्चमपट्योरिति सप्तमे  
अनुगुणजनने जीघनदर्शनायोक्तिः । विगुणजनने तु सप्तमादिमासेष्वपि पातः । सप्तमादिषु तु दोषवैगु-  
ण्याद्विप्रसव इति आचार्यप्रागाण्याद्यवहाराच्च गम्यन्ते ॥ २ ॥

अथ गर्भस्याकालपाते सहेतुकं निदर्शनम् ।

गर्भस्याकालपाते निदानपूर्वकं दृष्टान्तमाह—

गर्भोऽभिघातविपमाशनपीडनाद्यैः ।

पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन ।

म०—गर्भोऽभिघातेत्यादि । पक्वं द्रुमादिवेति दृष्टान्तेनैव दर्शयति,  
तथा वृन्तलग्नं पक्वफलमभिघातेनाकाल एव पतति, तथोक्तहेतुभिरकाले  
गर्भपातः ॥—

आ० गर्भस्याचिरपातं सदृष्टान्तमाह—गर्भ इत्यादि । पूर्णसर्वावयवस्तु प्रसवः समुचिते काले ।

अथ मूढगर्भस्य निदानानि ।

(Difficult Labour.)

उचितप्रसवकाले यथा मूढो गर्भः स्यात्तदाह—

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं

शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥ ३ ॥

म०—मूढ करोतीत्यादि । मूढो=व्यासक्तगतिः, शूलं च योनिजठरादिषु  
“करोति” इति शेषः; मूत्रसंगमित्यत्र करोतीति संबध्यते ॥ ३ ॥

आ०—यथा मूढो गर्भो भवति तदाह—मूढ इत्यादि । मूढो=व्यासक्तगतिः, मूढगर्भं करोति,  
योनिजठरादिषु शूलं च करोति, मूत्रसङ्गं च करोतीति सम्बध्यते ॥ ३ ॥

अथ मूढगर्भस्याष्टौ गतयः ।

(Presentations)

विगुणानिलत्वादसंख्येयत्वेऽपि विशिष्टा अष्टौ गतीराह—

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः

संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम् ।

द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित्

कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥ ४ ॥

एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन

तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः ।

पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-

दित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥ ५ ॥

भुग्नोऽनिलेनेत्यादि । भुग्नो=विगुणीकृतः । बहुवेति कथितप्रकाराद-  
प्यधिकं दर्शयति । द्वारं निरुध्य शिरसेत्येकः प्रकारः, शिरसा विपुलेन द्वारं=  
योनिमुखं पिधाय लग्नो भवतीत्यर्थः । जठरेण कश्चिदित्यपरः, जठरेणोद-  
रेण योनिद्वारं पिधाय सक्तो भवतीत्यर्थः । कश्चित् शरीरपरिवर्तितकुब्जदेह-  
इति शरीरपरिवर्तनेन कुब्जदेहः कश्चित् सक्तो भवति, अनेनान्तःकुब्ज-पृष्ठ-  
कुब्जयोः परिग्रहः । एकेनेति बाहुना, अयं चतुर्थः । तिर्यग्गत इति अर्गलाय-  
मानः । कश्चिदवाङ्मुखोऽन्य इति ग्रीवाभङ्गादधः संलग्नः । पार्श्वापवृत्तगतिरिति  
पार्श्वभङ्गेन विगुणीकृतः पार्श्वनस इति यावत् । एतीति स्वस्थानादपैति, तथैवेति  
अवाङ्मुखः सन् । सुश्रुतेऽप्यष्टधा गतिरेव पठ्यते । यथा, "कश्चिद् द्वाभ्यां सक्थि-  
भ्यां योनिमुखं प्रपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन सकृन्ना, कश्चिदाभुग्नस-  
क्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः, कश्चिदुदर-पृष्ठ-पार्श्वानामन्यतमेन योनि-  
द्वारं पिधायवतिष्ठते, अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभु-  
ग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्त-पाद-शिरोभिः, कश्चिदेकेन सकृन्ना  
योनिमुखमभिप्रपद्यते अपरेण पायुम्" ( सु. नि. स्था. अ. ८ )-इति ॥४॥५॥

आ०-विगुणानिलयोगादसंख्येयां गतिमाह-भुग्न इत्यादि । भुग्नो=विपरीतीकृतः, बहुवेति  
उक्तप्रकारादधिकम् । तत्र व्यवहारयोग्यानष्टौ प्रकारानाह-द्वारमिति । विपुलेन शिरसा योनि-  
मुखं पिधाय लग्नो भवति, इत्येकः प्रकारः । अपरो ध्मातेन जठरेणोदरेण योनिमुखं पिधाय  
सक्तो भवतीति द्वितीयः प्रकारः । कश्चित् शरीरपरिवर्तनेन विपरीतवर्तनेन देहः सक्तो  
भवति, अनेन चान्तःकुब्जपृष्ठकुब्जयोः परिग्रहः, अयं तृतीयः प्रकारः । कश्चिदेकेन बाहुना इति चतुर्थः  
प्रकारः । अपरो बाहुद्वयेनेति पञ्चमः प्रकारः । पार्श्वापवृत्तगतिरिति पार्श्वभङ्गेन विगुणीकृतः  
पार्श्वनस इति यावत् । एतीति स्वस्थानादपैति । तथैवेत्यवाङ्मुखः सन्, एवमष्टधा गतिर्भवति ।  
गर्भस्य चतुरः प्रकारान् पुनराह-अप्यपराश्चतुर्धा इत्यादि । संकीलकादिभेदेन अपरा वक्ष्यमा-  
णाश्चतुःप्रकाराः ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथापरासु चतुर्विधगतिषु संकीलकादीनां लक्षणानि ।

इत्यष्टविधा गतीः प्रदर्श्य चतुःप्रकारेण ये गतिविशेषाः कथितास्तानाह-

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीज-

स्तेषूर्ध्व-बाहु-चरणैः शिरसा च योनिम् ।

सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो  
दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी ।

गच्छेद् भुजद्वयशिराः स च बीजकारव्यो

योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥ ६ ॥

म०—संकीलक इत्यादि । सम्पक्व कीलवत् संकीलकः, स्वार्थे कन् । तेनोर्ध्व-बाहु-चरण-शिरोभिः कीलकवल्लभो योन्यां संकीलकः । पृष्ठेन योन्यां तथैतद्विपरीतेन दृश्यैः हस्त-पाद-शिरोभिः प्रतिखुरः, खुरसाधर्म्यात्; खुरशब्देन हस्तपादाबुध्यते । गच्छेद् भुजद्वयशिरा इति भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य स तथाभूतः सन् यो गच्छेत् स बीजकः कायसङ्गी । भोजेऽप्येता गतयः पठ्यन्ते । तथाहि,—“ऊर्ध्व-बाहु-शिरः-पादो रुन्ध्याद् योनिमुखं तु यः । प्रतिकीलोपमस्थित्या स च कीलकसंज्ञितः ॥ अथस्तात् पार्श्वतो वापि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा । यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरस्तु सः । योनिद्वारात्तु निर्गच्छेद् यश्चैकः स शिरोभुजः । तमाहुर्वीजकं नाम मूढगर्भचिकित्सकाः ॥ योनिमावृत्य यस्तिष्ठेत् परिघो गोपुरं यथा । तथाऽन्तर्गर्भमायान्तं विद्यात् परिघसंज्ञितम्”—इति ॥ ६ ॥

आ०—तानाह-संकीलक इत्यादि । ऊर्ध्व-बाहु-चरण-शिरोभिः कीलितैः योन्यां कायलग्नः संकीलकः । योनिमिति योनिं प्रतिखुरैरिति खुरसाधर्म्यात्खुरशब्देन हस्तपादा उच्यन्ते, तेन हस्तपादैः बहिर्गतैः प्रतिखुर उच्यते, स प्रतिखुरः कायसंगी निरुद्धकायो भवति । बीजकमाह-गच्छेदित्यादि । भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य स तथाभूतः सन् यो गच्छेत् स बीजकः । परिघमाह-यो योनिमावृत्य तिष्ठेत्स परिघः । परिघेण तुल्य इति । परिघोऽङ्गलादण्डः । भोजेऽप्येता गतयः पठ्यन्ते—“ ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो रुन्धन्योनिमुखं तु यः । प्रतिकीलोपमः स्थित्या संकील इति संज्ञितः ॥ अथःपार्श्वगतो वापि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा । यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरस्तु सः ॥ योनिद्वारात्तु निर्गच्छेद्यश्चैकांशशिरोभुजः । तमाहुर्वीजकं नाम मूढगर्भचिकित्सकाः । योनिमावृत्य यस्तिष्ठेत्परिघो गोपुरं यथा । तथाऽन्तर्गर्भमायान्तं विद्यात्परिघसंज्ञितम् ”—इति ॥ ६ ॥

१ प्रतिखुरक = Hands & Feet. २ बीजक = Head Willothlaw

३ परिघ = Transverse.



अथासाध्यमूढ-गर्भ-गर्भिण्योर्लक्षणम् ।

असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा ।

नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥ ७ ॥

( सु० नि० अ० ८ )

म०—अपविद्धशिरा या त्वित्यादि । अपविद्धशिरा शिरो धारयितुमशक्ते-  
त्यर्थः, अवनतशिरा इति गदाधरः । निरपत्रपा=लज्जाशून्या । नीलोद्गतसिरा  
इति नीलवर्णा उद्गता सिरा कुक्षौ यस्याः सा तथा । स चेति गर्भः ॥ ७ ॥

आ०—असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—अपविद्धेत्यादि । अपविद्धशिराः=शिरो धारयितुमशक्ता  
अवनतशिरा इति गदाधरः । निरपत्रपा=लज्जारहिता । नीलोद्गतसिरेति नीला उद्गताः सिराः कुक्षौ  
यस्याः सा तथा, सा गर्भं हन्ति स चेति गर्भस्तामित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ मृतगर्भस्य लक्षणम् ।

मृतगर्भलक्षणमाह—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता ।

भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शून्यताऽन्तर्मृते शिशौ ॥ ८ ॥

( सु० नि० अ० ८ )

म०—गर्भास्पन्दनमित्यादि । अस्पन्दनं=निश्चलत्वं, जीवतो गर्भस्यावय-  
वचलनं भवति । आवीनां प्रणाशः=प्रसववेदनानामभावः, अथवा आवीशब्देन  
प्रसवलिङ्गान्युच्यन्ते, तानि च मूत्रकफप्रसेकादीनि, तेषां नाशः । शून्यतेति उच्छ्र-  
नता, अन्तर्गतस्य मूढगर्भस्याध्मापनेन ॥ ८ ॥

आ०—अथ गर्भिणीरक्षार्थं मृतस्य मूढगर्भस्य परिपीडयार्कषणार्थं लक्षणमाह—गर्भेत्यादि ।  
गर्भास्पन्दनं=गर्भस्याचलत्वम् । आवीनां प्रणाश इति प्रसववेदनानामभावः, अथवा—आवीशब्देन  
प्रसवलिङ्गानि भण्यन्ते, तानि च मूत्रकफप्रसेकादीनि, तेषां नाशः—शून्यतेति उद्धतता, मृतस्य गर्भ-  
स्याध्मापनेन ॥ ८ ॥

अथ गर्भस्य मरणकारणानि ।

तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुःखव्याधिभेदेन द्विविधं मरणहेतुमाह—

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः ।

गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥ ९ ॥

म०—मानसागन्तुभिरित्यादि । उपतापैः=दुःखैः ॥ ९ ॥

आ०—तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुष्टव्याधिभेदेन द्विविधं हेतुमाह—मानसेत्यादि । उपता-  
पेति दुःखैः, तथागन्तुभिरपि पीडितः ॥ ९ ॥

अथ गर्भिण्या अपराण्यप्यसाध्यलक्षणानि ।

अपरमसाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च ।

हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥ १० ॥

( सु० नि० अ० ८ )

अथ मक्कल्लरोगस्य लक्षणम् ।

(Puerperal Diseases)

( वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम् ।

सूताया हृत्-शिरो-वस्ति-शूलं मक्कल्लसंज्ञकम् ॥ ११ ॥ )

इति माधवकरविरचिते माधवनिदाने मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥

म०—योनिसंवरणमित्यादि । योनिसंवरणम्, तन्त्रान्तरपठितो रोगः । तथाहि,—“वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते ॥ बद्धां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्याद् व्याधिमेनं सुदारुणम् ॥ अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम्” इति । सङ्गः कुक्षाविति योनिसंवरणे प्रतिनिवृत्तो वायुर्गर्भाशयं यदा निरुणाद्धि तदा गर्भः कुक्षौ सक्तो भवति स उच्यते—सङ्गः कुक्षाविति । मक्कलो=रक्तमारुतजः शूलविशेषः । यद्यपि प्रसूतायाः शूलं मक्कलमुक्तं लुभ्यते,—“प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरविशोषितं रक्तं मक्कलं करोति” ( सु. शा. अ. १० )—इति, तथाऽपि प्रजातायाश्चेति चकारेणाप्रजाताया अपि शूलं मक्कलमिति । यथोक्ताश्चाप्युद्रवा इति यथोक्ता ये ये उक्तास्ते पुनराक्षेपकश्चासादयः ॥१०॥११॥

० इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ।

आ०—अपरमसाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—योनीत्यादि । योनिसंवरणे सति प्रतिनिवृत्तो वायुर्गर्भाशयद्वारं यदा रुणाद्धि, तदा गर्भः कुक्षौ सक्तो भवति स उच्यते—सङ्गः कुक्षाविति । मक्कलो रक्तमारुतजः शूलविशेषः । योनिसंवरणं तन्त्रान्तरे रोगविशेषः । यथा “वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात्पुनरन्तर्गतोऽनिलः । निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितम् । निरुद्धवदनो-

च्छासो गर्भश्चाशु विपद्यते ॥ विमलः शूनसर्वाङ्गः सर्वाण्येवायनानि च । बद्धां संरुद्धहृदयां नाशय-  
त्याशु गर्भिणीम् ॥ योनिस्ववरणं नाम व्याधिमेतं सुदारुणम् । अन्तकप्रतिमं घोरं नारमेत चिकित्सि-  
तम्”—इति ॥ यथोक्ताश्चाप्युपद्रवास्ते च पुनराक्षेपककासश्वासादयः “पूतिगन्धि तथा स्वेदो जिह्वा  
तालु च शुष्यति । वेपते भ्राम्यति तथा जीवितं चोपरुध्यते ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयान्मूढगर्भं  
चिकित्सकः” ॥ मक्कलुमाह—वायुः प्रकुपित इत्यादि । यद्यपि प्रसूतायाः शूलं मक्कलुमुक्तम् ।  
यदुक्तं सुश्रुते—“प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरवशोषितं रक्तं मक्कलुं करोति” इति, तथापि प्रजाता-  
याश्चेति चकारेणाप्रजाताया अपि शूलं मक्कलुमिति ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
मूढगर्भनिदानम् ॥ ६४ ॥

अथ सूतिकारोगनिदानम् ।

(After-Pains)

अथ सूतिकारोगस्य लक्षणम् ।

क्रमप्राप्तत्वात् सूतिकारोगनिदानारम्भः—

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।

शोथः शूलतिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥ १ ॥

म०—अङ्गमर्द इत्यादि । सूतिकारोगलक्षणमिति सूतिकारोग एव लक्षणम्,  
अङ्गमर्दादिव्यतिरिक्तस्य रोगस्यानभिधानात् । एतेऽङ्गमर्दादयः प्रायेण सूति-  
काया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्ते इत्यर्थः ॥ १ ॥

आ०—सूतिकारोगलक्षणमाह—अङ्गमर्द इत्यादि । सूतिकारोग एव लक्षणम् अङ्गमर्दादि-  
व्यतिरिक्तस्य रोगस्यानभिधानात् । एतेनाङ्गमर्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्त-  
इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ सूतिकारोगस्य हेतवः ।

सूतिकारोगनिदानमाह—

मिथ्योपचारात् संक्लेशाद् विषमाजीर्णभोजनात् ।

सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥ २ ॥

ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः ।

तन्द्राऽरुचि-प्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥ ३ ॥

कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीण-मांस-बलाश्रितः ।  
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥

म०—मिथ्येत्यादि । संक्लेशादिति संक्लिश्यते उत्क्लिश्यते दोषोऽनेनेति संक्लेशो=दोषजनकमन्त्रम् । विषमाजीर्णभोजनादिति विषमभोजनादजीर्णभोजनाच्च । ज्वरातीसारादीनामङ्गमर्दादिभ्यः पृथक् पुनरुपादानं रोगाधिक्रयं कृच्छ्रत्वमुपद्रवत्वं च ख्यापयितुम् । कफवातामयोद्भवा इति तन्द्रारुचिप्रसेकाद्या इत्यस्य विशेषणं मन्यन्ते कोचित् अन्ये सर्वस्य ज्वरातिसारादेः । कफवातजे विकारे सति येषामुद्भवास्ते कफवातामयोद्भवाः ज्वरातीसारादयः कृच्छ्रसाध्या इत्यर्थः । ते सर्वे सूतिकानाम्ना इति ते ज्वरातीसारादयः सर्वे सूतिकाभवत्वेनाश्रयाश्रितयो-रभेदोपचारात् सूतिकानाम्नाच्यन्ते; ते चाप्युपद्रवा ते उपद्रवाश्च भवन्ति उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्य ॥ २--४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—मिथ्योपचारादित्यादि । मिथ्योपचारादिभिः सूतिकाया ये रोगा जायन्ते । संक्लेशादिति संक्लिश्यते उत्क्लिश्यते दोषोऽनेनेति संक्लेशो दोषजनकमन्त्रम् । विषमाजीर्णभोजनादिति विषमभोजनादजीर्णभोजनाच्च । ज्वरातीसारादीनामङ्गमर्दादिभ्यः पृथगुपादानं कृच्छ्रत्वमुपद्रवत्वं च ज्ञापयितुम् । कफवातामयोद्भवा इत्यादि । ते तन्द्रारुचिप्रसेकादयः कृच्छ्रसाध्या इत्यर्थः ते सर्वे सूतिकानाम्ना इत्यादि । ज्वरातीसारादयः सर्वे सूतिकाभवत्वेनाश्रयाश्रितयो-रभेदोपचारात् सूतिकानाम्नाच्यन्ते । ते चाप्युपद्रवा इति, ते उपद्रवाश्च भवन्ति रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्य ॥ २--४ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानटीकायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
सूतिकारोगनिदानम् ॥ ६५ ॥

अथ स्तनरोगनिदानम् ।

(Mammary Inflammation)

अथ स्तनरोगस्य संप्राप्तिः ।

सूतिकारोगाधिकारात् स्तनरोगा उच्यन्ते । पारिभाषिकस्तनरोगसं-  
प्राप्तिमाह—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।  
प्रदृष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥ १ ॥

म०—सक्षीरौ वाऽपीत्यादि । सक्षीरौ गर्भवत्याः, अदुग्धौ वेति दोहदायो-  
गेन प्रसूतायाः, स्तनौ प्राप्येति विवृतधमनीमुखेनाविश्य, स्तनरोगशब्देन स्तन-  
कोप इति प्रसिद्धो रोग उच्यते ॥ १ ॥

आ०—सूत्रिकारोगाधिकारास्तनरोगा उच्यन्ते । पारिभाषिकस्तनरोगसंप्राप्तिमाह—सक्षीरावि-  
त्यादि । गर्भवत्याः सक्षीरौ । अदुग्धौ वेति दोहदायोगेन प्रसूतायाः । स्तनौ प्राप्येति विवृतधमनीमु-  
खेन प्रविश्य । स्तनरोगशब्देनात्र स्तनकोप इति प्रसिद्धो रोग उच्यते ॥ १ ॥

अथास्यातिदैशिकं लक्षणम् ।

तेषां वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानामतिदेशेन लक्षणमाह—

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।

लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ २ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ।

म०—पञ्चानामपीत्यादि । एतत् सुबोध्यम् । आगन्तुस्तनरोगोऽभिघातेन  
शल्येन च । रक्तजस्यासंभवो व्याधिस्वभावात् ॥ २ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥

आ०—तेषां वातकफपित्तसंनिपातागन्तुजानामतिदेशेन लक्षणमाह—पञ्चानामित्यादि । सुगमम् ॥ २ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
स्तनरोगनिदानम् ॥ ६६ ॥

अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम् ।

(Diseased Milk)

अदृश्यस्यापि स्तन्यस्य प्रसिद्धोपमानेन प्रवर्तने हेतुं दर्शयन्नाह—

विंशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ॥

सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

आ०—विंशन्नित्यादि । शुक्रलक्षणं स्तन्यमुच्यत इति शेषः । कुत इत्याह—यथा शुक्र  
विंशस्तेषु छिन्नेष्वपि गात्रेषु न दृश्यते, तस्माद्धेतोः । द्वितीयं हेतुमाह—सर्वदेहाश्रितत्वादिति ।  
शुक्रवत्समस्तशरीराश्रितत्वात् ॥ १ ॥

शुक्रदृष्टान्तेन स्तन्यस्याभ्यन्तरदर्शनं प्रतिपाद्य तैरेव दृष्टान्तेन अहिःप्रवर्तनं  
प्रतिपादयन्नाह—

तदेव चेष्टयुवतेदर्शनात् स्मरणादपि ॥

शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥ २ ॥

सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ॥

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥ ३ ॥

आ०—तदित्यादि । तदेव शुक्रं प्रवर्तते=वर्हिर्निः सरति । संहर्पात्=विशिष्टसंकल्पलक्षणात् । संहर्षे हेतुचष्टयं निर्दिशन्नाह--इष्टयुवतेरित्यादि । इष्टयुवतिदर्शनादिहेतुचतुष्टयेन यः संहर्षः, स सुप्रसन्न एव मनसि भवति, इति मनसोऽपि प्रसन्नस्य कारणत्वं दर्शयन्नाह--सुप्रसन्नेत्यादि । तत्र हर्षणे हेतुः सुप्रसन्नमीप्याद्यनभिभूतं मन उच्यते । शुक्रेण सह प्रस्तुतस्य स्तन्यस्य साधर्म्याद्धेतुं दर्शयन्नाह--आहारेत्यादि । पूर्वं स्तन्यमपि स्त्रियाः प्रवर्तते, शुक्रमाहाररसयोनित्वात् प्रवर्तते, स्तन्यमपि तथा, तस्मात् प्रवर्तते ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु शुक्रमाहाररसयोन्यपि संहर्पात् कारणात् प्रवर्तते, अत्र च किं कारणीमत्याह--

तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि ॥

ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥

स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते ॥ ४ ॥

आ०—तदेवेत्यादि । तदेव स्तन्यं शुक्रवत् संप्रवर्तते । अपत्यसंस्पर्शादिकारणचतुष्टयेऽपि स्नेहो मूलकारणमिति तदेव दर्शयन्नाह--स्नेह इत्यादि । प्रसवे=स्तन्यस्रवणे अत्रापि चत्वारो हेतवः परमेष्ठयुवतिस्थानेऽत्रापत्यग्रहणं, मूलेहेतुहर्षस्थाने स्नेहः, प्रसन्नस्थाने निरन्तरः ॥ ४ ॥

इयं श्लोकचतुष्टयी मधुकोपकारेण न व्याख्याता ।

अथ स्तन्यदुष्टैः सम्प्राप्तिः ।

स्तनाश्रितत्वेन स्तन्यदुष्टिमाह—

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ।

क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥ ५ ॥

म०—गुरुभिर्विविधैरित्यादि । गुरुभिरन्नैर्हेतुभूतैर्ये दुष्टा दोषास्तैः प्रदूषितम् ॥ ५ ॥

आ०—स्तनाश्रितत्वेन स्तन्यस्य दुष्टिमाह--गुरुभिरित्यादि । गुरुभिरन्नैर्हेतुभूतैर्ये दुष्टा दोषास्तैः प्रदूषितं धात्र्याः क्षीरं कुमारस्य नानारोगाय कल्पते । नानारोगानुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथ स्तन्यदुष्टैर्लक्षणानि ।

स्तन्यदुष्टैर्लक्षणमाह—

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम् ।

कट्फल्लवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥ ६ ॥

कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छलम् ।

द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥ ७ ॥

म०—कषायमित्यादि । सलिलप्लावीति सलिले यदुत्प्लवते लाघवात् तत् सलिलप्लावि । एतदुपलक्षणं, तेन तनुत्वाद्यपि बोद्धव्यम् । कटुम्ललवणमिति, कटु=तिक्तं तिक्तेऽपि कटुशब्दप्रवृत्तेरिति वदन्ति । पीतराजीमदिति पीतरेखायुक्तम्, तत्रापि नीललोहिताश्च राज्यो ज्ञेयाः । निमज्जति पित्तदुष्टसंज्ञितम् । संज्ञितमित्यत्र संयुतमिति पाठान्तरम् । तोये निमज्जति गुरुत्वात् । अतिमाधुर्याद्यपि बोध्यम् । प्रसन्नस्य तु साधारणं मधुरपाण्डुत्वम् । अभिघातेनापि स्तन्यं दुष्टं संभवत्येव, किंतु तस्य वातिकस्तन्यलक्षणैरेव संग्रहणं कर्तव्यम् । स्तन्यस्वरूपं च सुश्रुतेनोक्तम् । तद्यथा,—“रसप्रसादो मधुरः पक्काहारनिमित्तजः । कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते” । ( सु. नि. स्था. अ. १० ) इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

आ०—वातिकमाह—कषायमित्यादि । सलिले प्लवते लाघवात्, एतदुपलक्षणम्, तेन तनुत्वाद्यप्युक्तं बोद्धव्यम् । पैत्तिकमाह—कट्वित्यादि । कटु तिक्तम्, तिक्तेऽपि कटुशब्दस्य प्रवृत्तेरिति वदन्ति, पीतराजीमदिति पीतरेखायुक्तम्, अत्रापि नीललोहिताश्च राज्यो बोद्धव्याः । पित्तसंज्ञितमिति पित्तदुष्टमिति संज्ञितम् । श्लेष्मिकमाह—कफदुष्टमित्यादि । तोये निमज्जतीति गुरुत्वात् । अतिमाधुर्याद्यपि बोद्धव्यम् । सांसर्गिकसांनिपातिकावाह द्विलिङ्गमिति । सुगमम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

अथ विशुद्धस्तन्यस्य लक्षणानि ।

आविकृतस्तन्यमाह—

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।

मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥ ८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तन्यदुष्टनिदानं समाप्तम् ॥

म०—अदुष्टमित्यादि । अम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति बोध्यम्, वातादिदुष्टस्याप्येकदेशेनैकीभावोपलम्भात् । अविवर्णमिति अविद्यमानवातादिदुष्टवर्णम् । एतत् समदोषप्रकृतिक्षीरस्य प्रसन्नस्य लक्षणम् । अन्ये त्वविवर्णमित्यत्र नञ् ईषदर्थे, तेन यद् वातादिप्रकृतिवर्णानुविद्धमपि पाण्डुरमल्पदुष्टत्वात् तद् गृह्णन्ति । केचित् पाण्डुरस्थाने “सर्वशः” इति पठन्ति, तदा सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति व्यक्तोऽर्थः । अत्र पक्षे अविवर्णमित्यनेनैवादुष्टशुक्लवर्णता ज्ञेया । प्रसन्नं=प्रकृतिस्थम् ॥ ८ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तन्यदुष्टनिदानं समाप्तम् ॥



आ०—अविकृतं स्तन्यमाह—अदुष्टमित्यादि । अम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति सर्वात्मना जलेन सहैकी-  
भूतं भवतीति बोद्धव्यम् । अविवर्णमिति अविव्यमानवातादिदुष्टवर्णम् ॥ ८ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्प-  
णाख्यायां स्तन्यदुष्टिनिदानम् ॥ ६८ ॥

### अथ बालरोगनिदानम् ।

(Diseases of Children)

अथ वातादिदुष्टस्तन्यपानजातानां बालरोगाणां लक्षणानि ।

बालरोगाणां दुष्टस्तन्येन संभवात् तदनन्तरं तानाह—

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः ।

क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्ध-विड्-मूत्र-मारुतः ॥ १ ॥

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामला-पित्त-रोगवान् ।

तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥ २ ॥

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।

निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥ ३ ॥

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ।

म०—वातदुष्टमित्यादि । वातगदातुर इति वक्ष्यमाणक्षामस्वरादियुक्तः ।  
तृष्णालुरिति तृष्णावान् । लालालुरिति लालास्रावयुक्तः । छर्दन इति स्तन्यवा-  
न्तिकरः ॥ १-३ ॥—

आ०—दुष्टस्तन्यपानसम्भवात् स्त्रीरोगानन्तरं बालरोगमाह—वातदुष्टमिति । सुगमम् ।  
पित्तदुष्टमाह—स्विन्न इत्यादि । तृष्णालुः=तृष्णावान् । कफदुष्टमाह—कफदुष्टमिति । लालालुः=  
लालावान्, तथा श्लेष्मरोगयुक्तः, निद्रया पीडितः, जडः=अपविद्धाङ्गः, शूनवक्त्राक्षः=सशोफ-  
मुखनयनः, छर्दन इति स्तन्यवान्तिकरः ॥ १-३ ॥—

अथ वक्तुमशक्तस्य बालस्याभ्यन्तरिकदुःखविज्ञानम् ।

शिशोर्वक्तुमक्षमस्यान्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाद् लक्षयेद् रुजम् ॥ ४ ॥

स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।

तत्र विद्याद् रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिणिमीलनात् ॥ ५ ॥

कोष्ठे विबन्ध-वमथु-स्तनदंशान्त्रकूजनैः ।

आध्मान-पृष्ठनमन-जठरोन्नमनैरपि ॥ ६ ॥

बस्तौ गुह्ये च विडू-मूत्र-संग-त्रास-दिगीक्षणः ।

स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद् यन्त्राद् मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

म०—शिशोरित्यादि । तीव्रां रुजं बहुरोदनात्, अतीव्रामल्परोदनाल्लक्षयेत् ॥ ४-७ ॥

आ०—शिशोर्वक्तुमक्षमस्यान्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—शिशोरित्यादि । अतिरोदनेन किञ्चिद्रोदनेन च रुजं पीडां विद्यादित्यर्थः । स शिशुर्यं देहदेशं भ्रमत्यर्थं स्पृशेत्, यत्र च देहदेशे स्पर्शनाक्षमः स्यात् स्पर्शं न सहते, तत्र देहदेशे वेदनां जानीयात्, अक्षिनिमीलनात्=नेत्रयोः संकोचनात् शिरसि पीडां विद्यात्, जिह्वौष्ठदशनादिभिर्बालस्य हृदि पीडां विद्यात्, विबन्धादिभिराध्मानादिभिश्च कोष्ठे रुजं विद्यात्, बस्तौ गुह्ये च विष्मूत्रयोः सङ्गेन तथा त्रासेन दिगीक्षणेन च बालस्य रुजं विद्यात् ॥ ४-७ ॥

अथ कुकूणकरोगस्य लक्षणम् ।

(Ophthalmunda in children)

बालानामेव दुष्टस्तन्यपानाद् वर्त्मरोगमाह—

कुकूणकः क्षीरदोषात् शिशूनामेव वर्त्मनि ।

जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥ ८ ॥

शिशुः कुर्याद् ललाटाक्षिकूट-नासा-ऽवघर्षणम् ।

शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥ ९ ॥

म०—कुकूणक इत्यादि । कुकूणकः “कोथ” इति ख्यातः । स्रवेन्मुहुरिति पिच्छिदस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः । न वर्त्मोन्मीलनक्षम इति न वर्त्मचालनपटुः ८-९.

आ०—बालानामेव दुष्टस्तन्यपानाद् वर्त्मरोगमाह—कुकूणक इत्यादि । क्षीरदोषात् कुकूणको नाम रोगः शिशूनामेव वर्त्मनि जायते, न महतां पुंसाम् । तथा च वाग्भटः—“कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पात्तानिमित्तजः”—इति । कुत्सिते कूणिते निमीलिते नेत्रे यस्माद् रोगादसौ कुकूणकः, लोके “कोथः” इत्याख्यातः । तेन कुकूणकेन नेत्रं कण्डूयुक्तं जायते । तथा तन्नयनं स्रवेन्मुहुरिति पिच्छलस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः । ललाटादिमर्दनं कुर्यात् । न वर्त्मोन्मीलनक्षम इति न वर्त्मचालनपटुः ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ पारिगर्भिकस्य लक्षणानि ।

(Pining)

पारिगर्भिकमाह—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिवन्नपि ।

कासाग्निसाद-वमथु-तन्द्रा-काश्यारुचि-भ्रमैः ॥ १० ॥

युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम् ।

रोगं परिभवाख्यं च युज्यात् तत्राग्निदीपनम् ॥ ११ ॥

म०—मातुरित्यादि । पिवन्नपीति अपिशब्दादपिवन्नपि । तमाहुः पारि-  
गर्भिकमिति पारिगर्भिकोऽहिण्डीति ख्यातः; तस्यैव परिभवाख्य इति नामा-  
न्तरम्, बालं परिभवतीति परिभवः, स एव आख्या यस्य तम् । उपशयेनापि  
तज्ज्ञानमाह—युज्यादित्यादि ॥ १० ॥ ११ ॥

आ०—पारिगर्भिकमाह—मातुरित्यादि । कुमारो गर्भिण्या मातुः प्रायो वायोर्बाहुल्येन स्तन्यं  
पिवन्नपीति अपिशब्देन अपिवन्नपि कासादिभिस्तथा कोष्ठवृद्ध्या युज्यते=युक्तो भवति । तदाहुः  
पारिगर्भिकम् अहिण्डीति लोके ख्यातम्; तस्यैव नामान्तरं परिभवाख्यमिति । उपशयेनापि तस्य ज्ञान-  
माह—युज्यात्तत्राग्निदीपनमित्यादि ॥ १० ॥ ११ ॥

अथ तालुकण्टकस्य लक्षणानि ।

(Cellulitis)

तालुकण्टकमाह—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ।

तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ १२ ॥

तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम् ।

तृडक्षि-कण्ठा-ऽऽस्य-रुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ १३ ॥

म०—तालुमांस इत्यादि । अस्यैव लक्षणं तालुपात इत्यादि । तालुपात  
इत्यभ्यन्तरे तालुनोऽधःपातः । कृच्छ्रात् पानमित्यत्र “स्तन्यस्य” इति शेषः ।  
शकृद्द्रवं=भिन्नपुरीषता । ग्रीवादुर्धरता=ग्रीवाया दुःखेन धारणम् । वमिः=  
स्तन्यस्य वान्तिः ॥ १२ ॥ १३ ॥

आ०—तालुकण्टकमाह—तालुमांस इत्यादि । कण्टकाकारत्वेन तालुकण्टकः, निम्नता=गर्ता-  
कारता । तालुपातमाह—तालुपात इत्यादि । तालुपाताख्यो रोगः, तालुनः पतनं संसो यत्र रोगे  
स तथा । कृच्छ्रात्पानमित्यत्र स्तन्यस्येति शेषः । शकृद्द्रवं भिन्नपुरीषता, ग्रीवादुर्धरता ग्रीवाया दुःखेन  
धारणम्, वमिः स्तन्यस्य वान्तिः ॥ १२ ॥ १३ ॥

अथ महापद्मविसर्पस्य लक्षणानि ।

(Eltretas)

महापद्मनामानं विसर्पमाह—

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः।

पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ १४ ॥

शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद् वा गुदं व्रजेत् ।

म०—विसर्पास्त्वित्यादि । बस्तिशीर्षज इति बस्तिजः शीर्षजश्च, शीर्ष= शिरः । पद्मवर्णम् इति लोहितपद्मवर्णः । शङ्खाभ्यां हृदयं यातीति शीर्षजः । पद्मपत्रतुल्यवर्णतां मुखतालुनि बहिर्देशे वेति वदन्ति । हृदयाद् गुदं यातीति बस्तिजः, ऊर्ध्वं हृदयं गत्वा गुदं यातीत्यर्थः । अत्र पद्मसवर्णता बस्तिदेशे गुदे च । वाशब्दश्चात्र व्यवस्थितविकल्पवचनः ॥ १४ ॥—

आ०—महापद्मनामानं विसर्पमाह—विसर्प इत्यादि । बस्तिशीर्षज इति बस्तिजः, शीर्षजश्च, शीर्ष= शिरः, तत्र जातः । पद्मवर्ण इति लोहितपद्मवर्णतुल्यः । शङ्खाभ्यां हृदयं यातीति शीर्षजः । अत्र पद्मवर्णता बस्तिदेशे गुदे च । वाशब्दोऽत्र व्यवस्थितविकल्पवचनः । हृदयाद्गुदं यातीति बस्तिजः, ऊर्ध्वं हृदयं गत्वा गुदे यातीत्यर्थः ॥ १४ ॥—

अथ क्षुद्ररोगोक्ताजगल्ल्यहिपूतनयोर्बालकेषु प्रभाववत्त्वम् ।

अन्यौ द्वौ विकारौ बालानां भवतस्तावाह—

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥ १५ ॥

म०—क्षुद्रेत्यादि । स्निग्धा सवर्णेत्यादिनाऽजगल्लिका । कण्डूयनादित्यादि-  
नाऽहिपूतना ॥ १५ ॥

आ०—अन्यौ द्वौ विकारौ बालानां भवतस्तावाह—क्षुद्रेत्यादि । स्निग्धाः सवर्णाः इत्यादिनाऽजग-  
ल्लिका । कण्डूयनात्ततः क्षिप्रमित्यादिनाऽहिपूतनम् ॥ १५ ॥

अथान्येषामपि रोगाणां बालकेष्वतिदेशः ।

अन्येऽपि विकारा बालानां संभवन्तीत्यतिदेशेन तानाह—

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः ।

बालदेहेऽपि ते तद्वद् विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥ १६ ॥

म०—ज्वराद्या इत्यादि । पुरेरिता इति पूर्वोक्ताः । ते तद्वदिति ते ज्वरादय-  
स्तादृशा ज्ञेयाः । कुशलैरिति विज्ञेः ॥ १६ ॥



अथैषां विशेषलक्षणानि ।

सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥ २० ॥

ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।

दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥ २१ ॥

स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

म०—एकनेत्रस्येत्यादि । एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो धर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः । स्पन्दनकम्पनमिति स्पन्दनं=मनाक् चलनम्, कम्पनम्=ग्रहता वेगेन वेपनम्, स्पन्दनम्, कम्पनं वा भवतीत्यर्थः । वक्रास्यो=वक्रमुखः । रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यतिशयार्थमुक्तम्, एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥ २० ॥ २१ ॥—

आ०—विशेषलिङ्गं तत्र स्कन्दग्रहगृहीतलक्षणमाह—एकेत्यादि । स्कन्दोऽत्र स्कन्दविनोदार्थं रुद्रेण सृष्टो ग्रहः, न पुनर्भगवान् कार्तिकेयः । एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिर्भवति प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो धर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः । स्पन्दनकम्पनमिति । स्पन्दनं मनाक् चलनम्, कम्पनं ग्रहता वेगेन वेपनं वा भवतीत्यर्थः । वक्रास्य इति वक्रमुखः । रक्तगन्धिक इत्येतेन सामान्यलक्षणलब्धमप्यतिशयार्थमुक्तम् ॥ २० ॥ २१ ॥—

अथ स्कन्दापस्मारस्य लक्षणानि ।

स्कन्दापस्मारलक्षणमाह—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति ।

पूय-शोणित-गन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ २२ ॥

म०—नष्टेत्यादि । नष्टसंज्ञो=मूर्च्छितः सन् फेनं वमति, तथा संज्ञावान् सन्नतिरोदिति ॥ २२ ॥

आ०—स्कन्दापस्मारलक्षणमाह—नष्टेत्यादि । नष्टसंज्ञः सन् फेनं वमति, संज्ञावान्=ज्ञानवान् अतिरोदिति, नष्टसंज्ञो=मूर्च्छितः ॥ २२ ॥

अथ शकुनीग्रहगृहीतस्य शिशोर्लक्षणानि ।

शकुनीलक्षणमाह—

सस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः

सास्रावव्रणपरिपीडितः समन्तात् ।

स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-

विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २३ ॥

म०—सस्ताङ्ग इत्यादि । सस्ताङ्ग इति अङ्गसंसवद् व्यथावान् । भयचकित इति भयहेतुर्भयं भयानकमुच्यते, ततश्चकितः, अस्ति भयहेतौ त्रस्यतीत्यर्थः । विहङ्गगन्धिरिति विहङ्गस्येव गन्धो यस्य स तथा, उपमानाच्चेति समासान्त इप्रत्ययः । विहङ्गशब्देन जलचरा मांसादाश्च पक्षिणो गृह्यन्ते, विस्त्रगन्धित्वात् । हिरण्याक्षेऽप्युक्तम्,—“संसाव-दाह-पाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः । सस्ताङ्गो विस्त्रगन्धिः स्याच्छकुन्या पीडितः शिशुः”—इति । सांसावव्रणपरिपीडित इति स्फोटैरेव विदीर्णैर्व्रणरूपमापन्नैः परिपीडितः । स्फोटैश्च प्रचिततनुरिति नवनवैः स्फोटैर्व्याप्ततनुः । क्षत इत्यभिभूतः ॥ २३ ॥

आ०—शकुनीग्रहलक्षणमाह—सस्तेत्यादि । सस्ताङ्गः=अङ्गसंसवनव्यथावान् । भयचकित इति भयहेतुर्भयं भयानकमुच्यते, ततश्चकितः अस्ति भयहेतौ त्रस्यतीत्यर्थः । विहङ्गशब्देन जलचरा मांसादाश्च पक्षिणो गृह्यन्ते विस्त्रगन्धित्वात् । हिरण्याक्षेऽप्युक्तम्—“संसावदाहपाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः । सस्ताङ्गो विस्त्रगन्धिः स्याच्छकुन्या पीडितः शिशुः”—इति । सांसावव्रणपरिपीडित इति स्फोटैरेव विदीर्णैर्व्रणरूपमापन्नैः परिपीडित इत्यर्थः । स्फोटैश्च प्रचिततनुरिति नवनवैः स्फोटैर्व्याप्ततनुः क्षत इत्यभिभूतः ॥ २३ ॥

अथ रेवत्यादिबालग्रहगृहीतानां शिशूनां लक्षणानि ।

रेवत्यादिबालग्रहगृहीतस्य लक्षणान्याह—

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक् ।

भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥ २४ ॥

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् ।

नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥ २५ ॥

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम् ।

स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥ २६ ॥

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता ।

छद्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ २७ ॥

प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः ।

मूत्रगन्धी च वह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥ २८ ॥



छर्दि-स्पन्दन-कण्ठा-ऽऽस्य-शोष-मूर्च्छा-विगन्धिताः ।  
ऊर्ध्वं पश्येद् दशेद् दन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥ २९ ॥  
प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषो मुह्यते चानिशं मुहुः ।  
तं बालमचिराद् हन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥ ३० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने बालरोगनिदानं समाप्तम् ।

म०—रेवतीग्रहलक्षणमाह—व्रणैरित्यादि । व्रणैः=पुराणैः, स्फोटैरिविदी-  
र्णैर्नूतनैः, चित्तं=व्याप्तम् । गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृगिति गात्रमिति कर्तृ-  
पदम्, पङ्कगन्धं=शटितकर्मगन्धम् समासविधेरनित्यत्वादिप्रत्ययो न भवति  
पूतनालक्षणमाह—अतीसार इत्यादि । अस्त इति गृहीत इत्यर्थः ॥ २४-३० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां बालरोगनिदानं समाप्तम् ।

आ०—रेवतीग्रहलक्षणमाह—व्रणैरित्यादि । व्रणैः=पुराणैः, स्फोटैर्नवैः, पङ्कगन्धं कर्म-  
गन्धमसृक् स्रवेत् । पूतनाप्रस्तलक्षणमाह—अतीसार इत्यादि । तिर्यक् वा दक्षिणनेत्रप्रान्त-  
स्यावलोकनम्, उद्विग्नो=व्यग्रचित्तः, अस्तो=गृहीतः । अन्धपूतनया अस्तमाह—छर्दिरित्यादि ।  
वसाया=मांसस्नेहस्य गन्धवान् । शीतपूतनाप्रस्तलक्षणमाह—वेपत इत्यादि । सुगमम् । मुख-  
मण्डलिकाप्रस्तलक्षणमाह—प्रसन्नेत्यादि । उद्धतसिराभिर्व्याप्तसिराः, मूत्रगन्धीति वस्तमूत्रगन्धः,  
बहाशी=बहुभक्षणशीलः । नैगमेयप्रस्तलक्षणमाह—छर्दिरित्यादि । स्पन्दनं=लांलासावः,  
अथवा घर्माम्बुसावः । साध्यासाध्यलक्षणमाह—प्रस्तब्धाक्ष इत्यादि ॥ २४-३० ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यकृतायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणाख्यायां  
बालरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६८ ॥

अथ विषरोगनिदानम् ।

अथ विषस्य द्वैविध्यम् ।

पारिशेष्याद्विषरोगनिदानमुच्यते—

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते ।

मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥ १ ॥

म०—स्थावरमित्यादि । विषादजनकत्वाद्विषं, तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं  
च । मूलाद्यात्मकमिति आद्यं=स्थावरं मूलादिरूपं दशविधं, यदुक्तं सुश्रुते,  
“मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च । निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च  
दशमः स्मृतः” ( सु. क. स्था. अ. )—इति । तत्र क्लीतका-ऽश्वमारक-गुञ्जा-

सुगन्ध-गर्गर-करघाट-विद्युच्छिखा-ऽनन्ता-विजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि, विषपत्रिका-लम्बा-सुरदारु-करम्भ=महाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि, कुमुद्वती-वेणुका-करम्भ-महाकरम्भ-कर्कोटक रेणुक-खद्योतक-चर्मरी-भगन्धा-सर्पघाति-नन्दन-सारपाकानि द्वादश फलविषाणि, वेत्र-कादम्ब-वल्लीज-करम्भ-महाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचक-कर्तरीय-शैलेय-करम्भ-नन्दन-करघाट-वराटकानि सप्त त्वङ्निर्याससारविषाणि, कुमुद्वती-स्तुही-जालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्मभस्म हरितालं च द्वे धातुविषे, कालकूट-वत्सनाभ-सर्प-कपाल=कर्दमक-वैराटक-मूस्तक-महाविष-प्रपौण्डरीक-मूलक-हलाहल-श्याङ्गि-मर्कटकानि त्रयोदश कन्दविषाणि, एतानि प्राणहराणि, एवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावराणि विषाणि भवन्ति । एषां च व्याध-पुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम् । परं सर्पादिसंभवमिति परं जङ्गमं, तच्च षोडशाभिधानम्-दृष्टिनिःश्वास-दंष्ट्रा-नख-मूत्र-पुरीष-शुक्र-लाला-ऽऽर्तव-मुख-संदंश-पर्दित-गुदा-ऽस्थि-पित्त-शूक-शव-भेदात् । पर्दितं=पायुकृतः कुत्सितशब्दः, “पर्द” कुत्सिते शब्दे, इत्यस्य प्रयोगात् । तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमाः सर्पा दंष्ट्राविषाः, मार्जार-मकर-व्याघ्रादयो दंष्ट्रा-नख-विषाः, पिच्छिट-कौण्डिन्यादयो मूत्र-पुरीष-विषाः, सूषिकाः=शुक्रविषाः, वृश्चिक-वरटयुच्छिङ्गटादयो आराविषाः, लूता=लालार्तवविण्मूत्र-शुक्र-मुख-संदंशविषाः, चित्रशीर्षक-शतदारुक-शारिकादयो मुख-सन्दंश-दंष्ट्रा-पर्दित-गुदपुरीष-विषाः, विषहतास्थि-मत्स्यास्थि-प्रभृतयोऽस्थिविषाः, शकुली-मत्स्यादयः पित्तविषाः, सूक्ष्म-तुण्ड-भ्रमरादयः शूकविषाः, कीट-सर्प-देहा गतासवः शवविषाः । एषां च सुश्रुतस्य कल्पस्थाने विस्तरो द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

आ०-पारिशेष्यादिपरोगनिदानमुच्यते । विषादजनकत्वाद्विषं, तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं च । तद्वैविध्यमाह-स्थावरमित्यादि । मूलाद्यात्मकमिति आद्यं प्रथमम्, अदनीयमाद्यामित्यन्ये । स्थावरं मूलादिस्वरूपं दशविधम् । यदुक्तं सुश्रुते-“दशाधिष्ठानमाद्यं स्याद्वितीयं षोडशाश्रयम्”-इति “मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च । निर्यासो घातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः”-इति च । तत्र क्लीतकाश्वमारकगुञ्जासुगन्धगर्गरकरघाटकविद्युच्छिखाऽनन्ताविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि विषपत्रिकालम्बासुरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि, कुमुद्वतीवेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिचन्दनकङ्कोलसारपाकानि द्वादश फलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयशैलेयकरम्भनन्दनकरघाटवराटकानि

१ इदमेव साम्प्रतं “संख्या” सोमल ( शतमल ) इत्यादि नाम्ना प्रसिद्धम् ।

२ “आरशब्देनाद्यं वृश्चिकादिलाङ्गूलस्थितः कण्टको भण्यते, तस्य च स्थूलशूकरूपत्वाच्छूक-ग्रहणेनैव ग्रहणम्, अतएव दृष्टिनिःश्वासेत्यादिसूत्रे “पृथङ्नोदाहृतमारग्रहणम्” इति द्रष्टव्यः ।

सप्त त्वङ्गनिर्याससारविषाणि, कुमुदघ्नीस्तुहीजालक्ष्मीरीणि त्रीणिक्षीरविषाणि फेनाश्म, हरितालं च, धातुविषे, कालकूटवत्सनाभसर्पकपालकर्दमवैराटकमुस्तकशृङ्गीप्रपौण्डरीकमूलकहृत्कालाहलमहाविषमर्क-  
टकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि; एवं पञ्चाशत्स्थावरविषाणि भवन्ति । एषां व्याधयुल्लिङ्गिदिभ्यो  
व्यक्तियानं कर्तव्यम् । परं सर्पादिसम्भवमिति परं जङ्गमं तच्च षोडशाभिधानम् । दृष्टिनिःश्वासदं-  
ष्टानखमूत्रपुरीषशुक्रलालास्पर्शमुखसन्दंशविशर्षितगुदास्थिपित्तशूकशवभेदात् । पर्दितं विशर्षितं पायु-  
कृतः कुत्सित शब्दः । 'शृष्टु शब्दकुत्सायाम्' इत्यस्य प्रयोगात् । तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः  
सर्पाः, भौमास्तु दंष्ट्राविषाः, मार्जारश्वमकरव्याघ्रादयो दंष्ट्रानखविषाः, पिच्छितकौण्डिन्यदयो मूत्र-  
पुरीषविषाः, मृपिकाः शुक्रविषाः । वृश्चिकवरटीमत्स्योच्चिङ्गटादयः आराविषाः, लूता लालास्पर्शवि-  
ष्मूत्रशुक्रार्तवमुखसंदंशविषाः, मक्षिकाजलायुकादयो मुखसन्दंशविषाः, चित्रशीर्षकशतदारुकसारिका-  
दयो मुखसन्दंशदंष्ट्राविशर्षितगुदपुरीषविषाः, विषहतास्थिमत्स्यास्थिप्रभृतयोऽस्थिविषाः शकुलीमत्स्या-  
दयः पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डभ्रमरादयः, शूकविषाः, कीटसर्पदेहा व्यसवः शवविषा इति एषां च  
सुश्रुतस्य कल्पस्थाने विस्तरो द्रष्टव्यः ॥ १ ॥

अथ जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणानि ।

तत्र जङ्गमविषस्य बह्वधिष्ठानत्वेन प्राधान्यात् सर्ववेगानुगतं सामान्यालिङ्ग-  
माह—

निद्रां तन्द्रां क्रुमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।

शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ॥ २ ॥

म०—निद्रामित्यादि । एतत् सुबोध्यम् ॥ २ ॥

अथ स्थावरविषस्य सामान्यलक्षणानि ।

स्थावरस्य सामान्यलिङ्गमाह—

स्थावरं च ज्वरं हिककां दन्तहर्षं गलग्रहम् ।

फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते मृशम् ॥ ३ ॥

म०—स्थावरं चेत्यादि । फेनच्छर्दिरिति फेनस्य छर्दिः ॥ ३ ॥

आ०—तत्र जङ्गमविषस्य सामान्येन लिङ्गमाह—निद्रामित्यादि । फेनच्छर्दीति फेनस्य  
छर्दिरित्यवगम्यते ॥ ३ ॥

अथ विषदातुः पुरुषस्य लक्षणम् ।

विषदातुलक्षणमाह—

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्-चेष्टा-मुख-वैकृतैः ।

जानीयाद् विषदातारमेभिलिङ्गैश्च बुद्धिमान् ॥ ४ ॥

न ददात्युत्तरं पृष्ठो विवक्षुर्मोहमेति च ।  
 अपाथ बहु संकीर्णं भापते चापि मूढवत् ॥ ५ ॥  
 हसत्यकस्मात् स्फोटयत्यङ्गुलीर्विलिखेद् महीम् ।  
 वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते ॥ ६ ॥  
 विवर्णवक्रो ध्यामश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्यपि ।  
 आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम् ॥ ७ ॥  
 वर्तते विपरीतं च विपदाता विचेतनः ।

( सु० क० अ० १ )

म०—इङ्गितज्ञ इत्यादि । अभिप्रायसूचकं ईहितमिङ्गितं तज्ज्ञो वैद्यो वाचा क्रियया मुखवैकृत्यादिना च विषदातारं जानीयात् । एभिर्वैकृत्यलक्षणैः । न ददात्युत्तरं पृष्ठ इति स्वीयासत्कर्मजनितव्यामोहात् । अपार्थमित्यनर्थकम् । संकीर्णमित्यस्फुटम् । हसत्यकस्मादिति अहेतोरपि हसति । भयजवायुजनि- तपर्वव्यथापनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयति । क्रियान्तरकरणसूचनाय महीं विलि- खति । भीतः सन् प्रत्येकं वीक्षते, ध्याम इति दग्धसमवर्णः, किञ्चित्पृष्ठादिकं, वर्तते विपरीत इति वारं वारं परिवर्त्य तिष्ठति ॥ ४—७ ॥

आ०—अवनीपतेः परिकर्मिणो विषमवचारयन्तीति तेषां विपदातृणां लक्षणमाह—इङ्गितज्ञ इत्यादि । अभिप्रायसूचकमीहितमिङ्गितं, तज्ज्ञो वैद्यः वाचा क्रियामुखवैवर्ण्यादिभिर्विपदातारं जानी- यात्, एतैर्लङ्घ्येति वक्ष्यमाणैः । तान्येव लिङ्गान्याह—नेत्यादि । आत्मीयाऽसत्कर्मजनितव्यामो- हात्, अपार्थमिति निरर्थकं, संकीर्णमिति अस्फुटम् । हसत्यकस्मादित्यादि अहासहेतोरपि हसति । भयजवायुसम्भूतपर्वव्यथापनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयति । क्रियान्तरकरणसूचनाय महीं किञ्चित्पृष्ठति । त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते इति स्वपापकर्मोपलम्भमयेनान्योन्यमीक्षते । ध्याम इति दग्धसमवर्णः, मलि- नवस्ववर्ण इति उल्लेखः ॥ ४—७ ॥

अथ मूलादिविषाणां लक्षणानि ।

मूलादिविषाणां प्रमादादुपयुक्तानां प्रत्येकं लक्षणमाह—

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ ८ ॥  
 जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु ।  
 मुष्कशोथः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ ९ ॥

भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च ।  
 त्वक्सार-निर्यास-विषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥  
 आस्यदौर्गन्ध-पारुष्य-शिरोरुक्कफसंस्त्रवाः ।  
 फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुगात्रता ॥ ११ ॥  
 हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ।  
 प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ १२ ॥  
 ( सु० क० अ० २ )

म०—उद्वेष्टनमित्यादि । उद्वेष्टनं=दण्डविमर्दनवद् व्यथा । मूलविषैरपि,  
 एवं पत्रादीनामुक्तानां यावत्संख्याकानामेकं सामान्यलक्षणमवगन्तव्यम् । प्रायेण  
 कालघातीनीति एतानि नवमूलादिविषाणि कालान्तरेण मारकाणि भवन्ती-  
 त्यर्थः । कन्दविषं तु त्रयोदशविधमतितीक्ष्णत्वाद् व्यवायिविकाश्यादिगुणयोगात्  
 तदात्वेन मारकम् ॥ ८-१२ ॥

आ०—नवानां मूलादिविषाणां प्रमादादुपयुक्तानां प्रत्येकं लक्षणमाह—उद्वेष्टनमित्यादि, उद्वेष्टनं  
 दण्डादिमर्दनवद्व्यथा । मूलविषैरुपयुक्तैरपि ॥ पत्रविषलक्षणमाह—जृम्भणमित्यादि । जृम्भणं=  
 जृम्भाबाहुल्यम् । फलविषलक्षणमाह—मुष्केत्यादि । मुष्कयोः श्वयथुः । पुष्पविषलक्षणमाह—  
 भवेदित्यादि । त्वक्सारेत्यादि त्वग्विषैः सारविषैर्निर्यासविषैः पृथक् त्रिभिः । पारुष्यं=खरस्प-  
 र्शत्वं मुखस्यैव, कफसंस्त्रवः श्लेष्मास्त्रावः । क्षीरविषलक्षणमाह—फेनेत्यादि । सुगमम् । धातु-  
 विषमाह—हृत्पीडित्यादि । धातुविषैः=हरितालादिकैः । एषां कालावधिमाह—प्रायेणेत्यादि ।  
 एतानि नव मूलादिविषाणि कालान्तरेण भवन्ति । कन्दविषमपि दशममतितीक्ष्णत्वाद् व्यवायिविकाश्या-  
 दिगुणयोगात्तदात्वेन मारकम् ॥ ८-१२ ॥

अथ विषाक्तशस्त्राघातस्य विषपीतस्य च लक्षणानि ।

विषलिप्तशस्त्रहतस्य लिङ्गमाह—

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद् रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम्  
 कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षताद् मांसं शीर्यते चापि यस्य १३॥  
 तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत् ।  
 लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रैर्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥ १४ ॥

सपीतं गृहधूमामं पुरीषं योऽतिसार्यते ।

केनमुद्रमतै चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥ १५ ॥

म०—सद्य इत्यादि । पच्यते चाप्यभीक्ष्णमिति सद्यस्तावत् पच्यते पश्चादपि पुनः पुनः पाकमेति ॥ १३-१५ ॥

आ०—विपलितशस्त्रहतस्य लिङ्गमाह—सद्य इत्यादि । सद्यस्तावत् पच्यते पश्चादपि पुनः पुनः पाकमेति । दिग्धाहतं=विपलितशस्त्रहतम् । शत्रुभिर्ब्रणसंचारिताविपलक्षणमाह—लिङ्गानीत्यादि । एतायेव पूर्वोक्तानि, अमित्रैः शत्रुभिः, ब्रणे शस्त्रब्रणे, प्रमादात् अनवधानात् । तन्त्रान्तरे विषपतिलक्षणम्—“सर्पात् गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते । फेनमुद्धमते चापि विषपीतं तमाद्दिशेत्” इति ॥ १३-१५ ॥

अथ सर्पाणां कतिचिद् भेदाः ।

स्थावरमभिधाय जङ्गमेष्वतितीक्ष्णत्वेन सर्पविषे वाच्ये तदाश्रयान् सर्पानाह—

वात-पित्त-कफात्मानो भोगि-मण्डलि-राजिलाः ।

यथाक्रमं समाख्याताः द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥ १६ ॥

म०—वातपित्तकफात्मान इत्यादि । भोगी=फणी, मण्डली=मण्डल-वदथाङ्गलाङ्गलादिरूपमण्डलयुक्तः, राजिलश्चित्रदीर्घरेखावान्, एते यथाक्रमं वाताद्यात्मानः वातादिप्रकृतयः । व्यतिकरजान् सर्पान् दर्शयति—द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपाणि इति । द्वयोरन्तरं विशेषो येषु ते तथा । यथा—फणिना मण्डलिन्यां गोनसा जाताः, मण्डलिना गोनसेन च फाणिन्यां कृष्ण-सर्पाः, एवमन्येऽपि जातिसंकरा ऊह्याः । व्यन्तरा इति पाठे स एवार्थः, विशन्दस्य द्वर्थत्वात्; तथा “विभवान्महानाकाशः” इत्यत्र व्याख्यातं, विभवादिति द्विभावात्, द्विभावश्च सर्वमूर्तद्रव्यैः संयोगः सर्वत्र सर्वो-पलम्भश्चेति । द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोः फणिमण्डलिनोर्वातपित्तप्रकृतयो-र्यत् प्रकृतित्वं तन्मिलितप्रकृतित्वमेषामित्यर्थः, वातपित्तप्रकृतयोरथवा द्वयोर्य-दोषयो रूपं तद्रूपमित्यर्थः ॥ १६ ॥

आ०—स्थावरमभिधाय जङ्गमेष्वतितीक्ष्णत्वेन सर्पविषे वाच्ये तदाश्रयान् सर्पानाह—वातेत्यादि । भोगी=फणी, मण्डली=रथाङ्गलाङ्गलादिरूपमण्डलयुक्तः, राजिलश्चित्रदीर्घरेखावान्, एते यथाक्रमं वात-पित्तकफप्रकृतयः । व्यतिकरजान् सर्पान् दर्शयति—द्व्यन्तराद्वन्द्वरूपिण इति । द्व्यन्तराः=द्वयोरन्तरं विशेषो येषु ते तथा, यथा—फणिना कृष्णसर्पेण मण्डलिन्यां गोनसा जाताः, मण्डलिना वा गोन-सेन च फाणिन्यां कृष्णसर्पाः, एवमन्येऽपि जातिव्यतिकरा ऊह्याः । द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोर्यो भावः, तद्वन्त इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ सर्पदंशेषु वातादीनां लक्षणानि ।

भोगिप्रभृतिकृतदंशेषु वातादीनां लिङ्गमाह—

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृतः ।

पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥ १७ ॥

राजिलौथो भवेद् दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः ।

पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक् सर्वश्लेष्मविकारकृतः ॥ १८ ॥

म०—दंशो भोगिकृत इत्यादि । सर्ववातविकारकृदित्यनेनैव कृष्णत्वे सिद्धे तदुक्तिरवश्यंभावित्वख्यापनार्थम्, एवमुत्तरत्रापि पीताद्यभिधानम् ॥ १७ ॥ १८

आ०—भोगिप्रभृतिभिः कृतदंशेषु लक्षणं वातादीनामाह—दंश इति । सर्ववातविकारकृदित्यनेनैव कृष्णत्वे सिद्धे तदुक्तिरवश्यंभाविताख्यापनार्थम् । एवमुत्तरत्रापि पीताद्यभिधानम् ॥ १७ ॥ १८ ॥

अथ विशिष्टदेशादिषु दष्टस्यासाध्यलक्षणानि ।

विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह—

अश्वत्थ-देवतायतन-श्मशान-वल्मीक-सन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।

याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋक्षे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥ १९ ॥

म०—अश्वत्थेत्यादि । याम्ये चेति भरण्याम् । ऋक्षे=नक्षत्रे । मर्मस्त्विति आशुघातिषु । याम्ये चेति चकारेणार्द्रा-ऽऽश्लेषा-मघा-मूल-कृत्तिकानां ग्रहणम् । यदुक्तमन्यत्र—“चैत्यायतन-वल्मीक-श्मशानेषु चतुष्पथे । आर्द्रा-ऽऽश्लेषा-मघा-मूल-कृत्तिका-भरणीषु च ॥ पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दशे मर्मस्वाशुहरेषु च । दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि दूतादिसंपदः”—इति ॥ १९ ॥

आ०—विशिष्टदेशनक्षत्रदष्टस्यासाध्यत्वमाह—अश्वत्थेत्यादि । याम्ये चेति भरण्यां याम्ये इत्यत्र “पित्र्ये” इति पाठः । पित्र्ये=मघायां, ऋक्षे=नक्षत्रे । ये च मर्मसु दष्टाः स्युस्तेऽपि त्याज्याः । मर्मस्त्विति आशुघातिषु । याम्ये चेति चकारेणार्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकादीनां समुच्चयनम् । यदुक्तमन्यत्र—“चैत्यायतनवल्मीकश्मशानेषु चतुष्पथे । आर्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकाभरणीषु च ॥ पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दशे मर्मस्वाशुहरेषु च । दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि दूतादिसंपदः”—इति ॥ १९ ॥

अथ फणिविषस्य कालवशादाशुघातित्वम् ।

दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।

म०—दर्वीत्यादि । दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति अश्वत्थादौ विशेषेण दर्वीकराणामाशुमारकम्, दर्वीकराः=फणिनः । सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति



उष्णसंयोगे सति सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो द्वैगुण्यं भजन्ते; सर्वाणि चोक्तानि । “यथाक्रमेण” इति पाठान्तरे अयमर्थः—सर्वाणि=भोगि-मण्डलिराजिल-विषाणि यथाक्रमेण=यथोद्दिष्टक्रमेण उक्तान्यथैवादिष्वाशुघातीनि । दर्बीकरविषस्य पृथगुपादानं विशेषार्थम् ॥२०॥—

आ०—दर्बीकराणामित्यादि । अथैवादी विशेषेण दर्बीकराणां विषमाशुघातकं, दर्बीकराः कनिनः सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति उष्णसंयोगे सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो वैगुण्यं भजन्ते सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति” इति पाठे सर्वाण्युष्णेपाणि विषाण्युष्णकाले द्विगुणीभवन्ति द्विगुणशक्तीनि भवन्ति । “सर्वाणि चोर्ध्वं द्विगुणीभवन्ति” इत्यपरे पठन्ति । ऊर्ध्वं देश इत्यर्थः । “सर्वाणि चोक्तानि यथाक्रमेण” इति पाठान्तरं, तदायमर्थः—सर्वाणि मण्डलिराजिलविषाणि यथाक्रमेण यथोद्दिष्टक्रमेणोक्तादिवत्थादिष्वाशुघातीनि । दर्बीकरविषस्य पृथगुपादानं विशेषार्थम् ॥—

अथापराण्यप्यसाध्यलक्षणानि ।

एवमपरेष्वपि आशुघातित्वं संभवति, तानाह—

अजीर्ण-ऽऽपित्तातप-पीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥ २०॥  
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि ।

अ०—अजीर्णेत्यादि । अजीर्णपित्तातपपीडितेष्विति अजीर्णिनि दोषत्रय-प्रकोपात्, पित्तातपपीडितयो रौक्ष्यात्, बालवृद्धयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वेन विषवे-गासहत्वात्, बुभुक्षितेष्विति पित्तवृद्ध्या उष्णदेहत्वात्, क्षीणक्षत इति क्षत-क्षीणे बहुलवातदुष्टेः, मेहिनि दोषत्रयप्रकोपात्, कुष्ठयुक्ते रक्तादिदोषात्, रूक्षे वातकोपात्, अबले क्लेशासहत्वात्, गर्भवतीषु गर्भेणोत्क्षिप्तदोषत्वात्, एषु विषमाशुघातीति ॥ २० ॥—

आ०—अपरेषु येषु यथाऽऽशुघातित्वं सम्भवति तानाह—अजीर्णेत्यादि । अजीर्णिनि दोषत्रय-प्रकोपाद्विषमाशुघाति, पित्तातपपीडितयो रौक्ष्यात्, बालवृद्धयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वेन विषवेगासहत्वात् । बुभुक्षितेष्विति वातपित्तवृद्ध्योष्णदेहत्वात् । क्षीणक्षत इति क्षतक्षीणे बहुलवातदुष्टेः, मेहिनि दोषत्रय-प्रकोपात्, कुष्ठयुक्ते रक्तादिदोषात्, रूक्षे वातकोपात्, अबले वेगासहत्वात्, गर्भवतीषु गर्भेणोत्क्षिप्तदो-षत्वात्; एषु विषमाशुघातीति ॥ २० ॥—

अथ सर्पदंष्ट्रस्य सर्वथा वर्जनीयलक्षणानि ।

इदानीं सर्वथा वर्जनीयमाह—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥  
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।  
जिह्वं मुखं यस्य च केशशातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥

कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशो हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः ।  
वर्तिर्धना यस्य निरेति वत्क्राद् रक्तं स्रवेदूर्ध्वं मधश्च यस्य ॥ २३ ॥  
दंष्ट्रानिपाताश्चचतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च ।  
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ २४ ॥  
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

म०—शस्त्रक्षत इत्यादि । राज्यो लताभिश्चेति राज्यो=लेखाः लता-  
भिस्ताडनान्न भवन्ति । तदुक्तमालम्बायने,—“नैति रक्तं क्षताद् यस्य लता-  
घातेन राजिकाः । न लोमहर्षः शीताद्भिर्वर्जयेत्तं विषादितम्”—इति ।  
जिह्वं=वक्रं, स्तब्धमिति कार्तिकः । केशशात इति कर्षणात् केशोत्पाटः ।  
कण्ठभङ्गो=ग्रीवाया अधिधारणम् । हन्वोः स्थिरत्वं=हनुद्वयस्य लग्नत्वम् ।  
वर्तिर्धनेति लालारूपा वर्तिः । रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्येति मुख-नासा-गुदा-  
दिभ्यः शोणितस्रावः दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्चेति चत्वार इति प्राप्ते चतुर इति  
निर्देश आगमविधेरनित्यत्वात्, यथा—“अग्रतश्चतुरो वेदा” इत्यादि ।  
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतमिति उन्मत्तमत्यर्थमुन्मादवन्तम्, उपद्रुतं=ज्वरातिसारा-  
दिभिरत्यर्थमुपद्रुतम् । हीनस्वरं=वक्तुमसमर्थम् । विवर्णं=कृष्णवर्णम् । सा-  
रिष्टं=नासाभङ्गादियुक्तम् । अवेगिनं=गमनादिवेगरहितं, विण्मूत्रादिवेगरहि-  
तमिति कार्तिकः ॥ २१-२४ ॥

आ०—सर्वथा वर्जनीयमाह—शस्त्रेत्यादि । राज्यो लेखाः लताभिस्ताडितेऽङ्गे न संभवन्ति नोच्छ-  
लन्ति । अत्रालम्बायनेऽप्युक्तम्—“नैति रक्तं क्षताद्यस्य लताघाते न राजिकाः । न लोमहर्षः शीताद्भि-  
र्वर्जयेत्तं विषादितम् ”—इति अपरं वर्ज्यमाह—जिह्वामित्यादि । जिह्वं वक्रं, स्तब्धमिति कार्तिकः ।  
केशशातः कर्षणात्केशोत्पाटः, कण्ठभङ्गेन ग्रीवाया अधारणं, हन्वोः स्थिरत्वं हनुद्वयस्य लग्नत्वम् ।  
अपरमपि वर्ज्यमाह—वर्तिरित्यादि । लालारूपा वर्तिर्यस्य मुखान्निगच्छति रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्चेति  
मुखनासागुदमेहनादिभ्यः शोणितस्रावः । दंष्ट्रानिपाताश्चतुर इति चत्वार इति प्राप्तेऽनित्यत्वादागमाभावः ।  
अन्यमपि वर्ज्यमाह—उन्मत्तमित्यादि । उन्मत्तं=उन्मादवन्तं, ज्वरातिसारादिभिरत्यर्थमुपद्रुतं च  
हीनस्वरं वक्तुमसमर्थं, विवर्णं कृष्णवर्णं, सारिष्टं नासाभङ्गादियुक्तम्, अवेगिनं प्रथमादिवेगरहितं, विण्मूत्र  
वेगरहितमिति कार्तिकः ॥ २१-२४ ॥

अथ किञ्चिदवस्थान्तर्गतस्यास्यैव विषस्य दूषीविषसंज्ञा ।

स्थावरजङ्गमविषमेव जीर्णत्वादिभिर्विशेषैर्दूषीविषसंज्ञा लभते; तदाह—  
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥ २५ ॥  
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।

म०—जीर्णमित्यादि । विषघ्नौषधिभिरिति अगदादिभिः । दावाग्निवाता-  
तपशोषितं वेति दावाग्निर्वनाग्निः । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनमिति स्वभावा-  
देव किमपि विषं व्यवायिविकाशिप्रभृतिषु दशसु गुणेषु मध्ये एकद्वित्र्यादिगुण-  
हीनं यदि भवति तदा दूषीविषतामुपैति ॥ २५ ॥

आ०—स्थावरजङ्गमविषमेव जीर्णत्वादिभिः कारणैर्दूषीविषसंज्ञां लभते; तदाह—जीर्णमित्यादि ।  
विषघ्नौषधिभिरिति अगदादिभिर्हृतवीर्यं; दावाग्निवातातपशोषितं चेति दावाग्निर्वनाग्निः स्वभावत इति  
स्वभावादेव किमपि विकाशिव्यवायिप्रभृतिषु दशसु गुणेषु मध्ये एकद्वित्र्यादिगुणहीनं सदूषीविषतः  
प्राप्नोति ॥ २५ ॥

अथ दूषीविषस्य लक्षणानि ।

गुणहीनतामेव कार्येण दर्शयति—

वीर्याल्पभावाद् न निपातयेत् तत् कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि २६  
तेनार्दितो भिन्न-पुरीष-वर्णो वैगन्ध-वैरस्ययुतः पिपासी ।  
मूच्छां भ्रमं गद्गदवाग् वमिं च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद् वा २७ ॥

( सु० क० अ० २ )

म०—वीर्याल्पभावादित्यादि । न निपातयेदिति न मारयति सद्यश्चिरेण  
वा । कफान्वितमिति कफान्वितं सत् सन्दीभूतौष्ण्यादिगुणं न मारयति । वर्षगणा-  
नुबन्धीति अपाकाच्चिरस्थायि । तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्ण इति तेन दूषीवि-  
षेणार्दितो, भिन्नशब्दोऽत्र पुरीषवर्णाभ्यां प्रत्येकमभिसंबध्यते, भिन्नवर्णो=वि-  
वर्णः । वैगन्ध-वैरस्य-युत इति विरुद्धगन्ध-मुखवैरस्ययुक्तः । विचेष्टमानो=  
विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्, अरतिमसुखं लभते ॥ २६ ॥ २७ ॥

आ०—तामेव गुणहीनतां कार्येण दर्शयति—वीर्येत्यादि । तद्वीर्यस्याल्पत्वात् । न निपातयेत्=न  
मारयेत्, सद्यश्चिरेण वा । कफान्वितं सन्मन्दीभूतौष्ण्यादिगुणत्वात् न मारयति वर्षगणानुबन्धि=अपाका-  
च्चिरस्थायि । तेन गररूपेण ये दोषा भवन्ति, तान्दर्शयन्नाह—तेनेति । तेन गररूपेण विषेण  
पीडितो भिन्नपुरीषवर्णादिकः स्यात्, भिन्नशब्दोऽत्र पुरीषवर्णाभ्यां प्रत्येकं संबध्यते । भिन्नवर्णो  
विवर्णः । विगन्धवैरस्ययुत इति विरुद्धगन्धमुखवैरस्ययुक्तः, विचेष्टमान इति विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्,  
अरतिमसुखं लभते ॥ २६ ॥ २७ ॥

अथैतस्य स्थानविशेषस्थित्या विशिष्टलक्षणानि ।

स्थानविशेषेण विशिष्टलिङ्गमाह—

आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।  
भवेत् समुद्धस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ २८ ॥

( सु० क० अ० २ )

म०—आमाशयस्थ इत्यादि । कफावृतत्वेन वातकोप आमाशये, तेन कफवातरोगीत्युक्तम् । अनिलपित्तरोगीति पक्वाशये दुष्टवातसंबन्धेन प्रत्यासन्नस्याशयस्थस्य पित्तस्य कोपः । भवेत् समुद्रस्तशिरोरुहाङ्ग इति अत्राङ्गशब्दात् परं रुहशब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—समुद्रस्तशिरोरुहाङ्गरुहः, शिरोरुहाः=केशाः, अङ्गरुहं=लोम, तदुक्तमालम्बायने,—“सीदन्ति केशलोमानि तस्मिन् पक्वाशयं गते”—इत्यादि । विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग इति मुण्डितपक्षशकुनिसदृशः, एतत् पक्वाशयगतस्यैव लिङ्गम् ॥ २८ ॥

आ०—स्थानविशेषेण विशिष्टलिङ्गमाह—आमाशयस्य इत्यादि । कफावृतत्वेन वातकोपः आमाशये तेन कफवातरोगीत्युक्तम् । अनिलपित्तरोगीति पक्वाशये दुष्टवातसंबन्धेन प्रत्यासन्नाशयस्य पित्तस्य कोपः । भवेत्समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्ग इति अत्राङ्गशब्दात् परं रुहशब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गरुहः शिरोरुहः केशः, अङ्गरुहं लोमेत्यर्थः । तदुक्तमालम्बायने—“सीदन्ति केशलोमानि तस्मिन् पक्वाशयं गते”—इति । विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग इति मुण्डितपक्षशकुनिरिव । एतच्च पक्वाशयगतस्यैव लिङ्गम् ॥ २८ ॥

अथ रसादिधातुगतदूषीविषस्य लक्षणानि ।

तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह—

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।  
कोपं च शीतानीलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥२९॥  
( सु० क० अ० २ )

म०—स्थितं रसादिष्वित्यादि । यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारानिति सुश्रुते व्याधिसमुद्देशीयाध्यायोक्तानन्नाश्रद्धादीन् करोति कोपं च शीतानीलदुर्दिनेषु यातीति कफसंबन्धात् शीतादौ काले कोपं याति । पूर्वं शृणु तस्य रूपमिति पूर्वरूपं शृण्वित्यर्थः ॥ २९ ॥

आ०—तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह—स्थितामित्यादि । यथोक्तान् सुश्रुते व्याधिसमुद्देशीयोक्तान् अन्नाश्रद्धादीन् करोति । कोपं च शीतेत्यादि कफसंबन्धात् शीतादौ काले शीघ्रं कोपं याति । पूर्वं शृणु तस्य रूपमिति पूर्वरूपं शृण्वित्यर्थः ॥ २९ ॥

तदेवाह—

निद्रागुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाङ्गमर्दम् ।

ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोष्ठजन्म ॥ ३० ॥

मांसक्षयं पाद-कर-प्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् ।

दूषीविषं श्वास-तृषा-ज्वरांश्च कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥३१॥

( सु० क० अ० २ )

म०—निद्रेत्यादि । विश्लेषहर्षाविति विश्लेषो=गात्रस्य शैथिल्यम् । हर्षो=रोमहर्षः । एतानि वातकफजानि लिङ्गानि । तत इति पूर्वरूपादनन्तरम् । अन्नमदाविपाकाविति अन्नमदः=अन्ने=भुक्ते मदो=हर्षः अन्नमदः, कार्तिकस्त्वन्नविश्लेषणमन्नमदमाह, अन्नमदो=रसाजीर्णमिति गदाधरः, अविपाकोऽन्नस्यापाकः । पादकरप्रशोथमिति पादे करे च प्रकृष्टं शोथं करोति । “मूर्च्छा तथा छर्दिमथातिसारम्” इत्यस्य स्थाने “प्रलेपकं छर्दिम्” इत्यादि पाठान्तरे प्रलेपकं स्वेदप्रवृत्त्या पिच्छिलं गात्रं, ज्वरविशेषं वा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

आ०—तदेवाह—निद्रेत्यादि । विश्लेषो=गात्रशैथिल्यं, हर्षो=रोमहर्षः, अन्नमदो=वेदनाविशेषः, एतानि वातकफजानि । तत इति पूर्वरूपादनन्तरम् । अन्नमदाविपाकाविति अन्ने भुक्ते मदो हर्षोऽन्नमदः, कार्तिकस्तु अन्नाविश्लेषणमन्नमदमाह, अन्नमदो रसाजीर्णमिति गदाधरः, अविपाकोऽन्नस्य पाकाभावः । पादकरप्रशोथमित्यादि पादे करे च प्रकृष्टं शोथं करोति । मूर्च्छा तथा छर्दिमथातिसारमित्यस्य स्थाने “प्रलेपकं छर्दिमथातिसारम्” इति पाठान्तरम् । तत्र प्रलेपकं पिच्छिलस्वेदप्रवृत्त्या गात्राणि, ज्वरविशेषं वा करोति ॥ ३० ॥ ३१ ॥

अथ नानाविधविषस्यानेकविकारकर्तृत्वम् ।

तदेव नानाप्रकारं यद्यत् करोति तत्तदाह—

उन्मादमन्यत् जनयेत् तथाऽन्यदानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम् ।  
गाद्वद्यमन्यत् जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ३२ ॥

( उ० क० अ० २ )

म०—उन्मादमन्यदित्यादि । क्षपयेच्च शुक्रमिति पाण्ड्यं करोतीत्यर्थः । तांस्तानिति विसर्पविस्फोटकादीन् ॥ ३२ ॥

आ०—तदेव नानाप्रकारं यद्यत्करोति तत्तदाह—उन्मादमित्यादि । गाद्वद्यं=गाद्वदवाक्यताम् । तांस्तानिति विस्फोटकादीन् ॥ ३२ ॥

अथ दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिः ।

दूषीविषस्य निरुक्तिमाह—

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।  
यस्मात् संदूषयेद् धातून् तस्माद् दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३३ ॥  
साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।  
दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥ ३४ ॥

( सु० क० अ० २ )

म०—दूषितमित्यादि । देशकालान्नदिवास्वप्नैरिति देशः=प्रचुरानिलशी-  
तवृष्टिरनूपादिः, कालः=शीतानिलदुर्दिनादिः, अन्नम्=सुरातिलकुलत्थादि,  
तैर्दूषितं=कोपितम्, अभीक्ष्णशः=पुनःपुनः । धातुदूषकत्वेन दूषीविषम् ।  
संयोगजं विषं द्विविधम्, एकम्,=सविषाविषसंयोगकृतम्, कृत्रिमसंज्ञं,  
अपरम्=निर्विषद्रव्यकृतं, गरसंज्ञम् । यदाह वृद्धकाश्यपः—“संयोगजं च  
द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ”  
इति । अत एव रसायने चरकः,—“दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे  
विषे”—इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

आ०—दूषीविषलक्षणमाह—दूषितमित्यादि । देशः प्रचुरानिलशीतवर्षातपः, कालः शीतानि-  
लदुर्दिनादिः, अन्नं यवतिलकुलत्थादि, अन्नस्योपलक्षणत्वाद्वायव्यायाम-क्रोधादयोऽपि प्राज्ञाः  
तैर्दूषितं कोपितम्, अभीक्ष्णशः पुनःपुनः । धातुदूषकत्वेन दूषीविषम् ॥ इदानीं साध्ययाप्यप्रत्याख्येयं  
च दर्शयन्नाह—साध्यमित्यादि । सुगमम् । संयोगजविषं द्विविधम्—एकं सविषाऽविषसंयोगकृतं  
कृत्रिमविषम्, अपरं निर्विषद्रव्यकृतं गरसंज्ञम् । यदाह वृद्धकाश्यपः—“संयोगजं च द्विविधं  
तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् ”—इति । अत एव रसायने  
चरकः—“दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे”—इति । आत्मवतः=पथ्याशिनः । क्षीणस्य=  
क्षीणधातोः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

अथ कृत्रिमविषस्य लक्षणानि ।

तद् द्वयमपि दर्शयितुमाह—

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान् !  
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥ ३५ ॥  
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।  
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥ ३६ ॥  
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।  
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ ३७ ॥

म०—सौभाग्यार्थमित्यादि ।—स्त्रियः सौभाग्यार्थं शत्रुप्रयुक्ता वा सविष-  
जन्तूनां स्वेदं, रजश्चूर्णं, नानाङ्गजान्=नानागरकरान् मलान् अन्नादौ ददति ।  
तैरिति स्वेदरजःप्रभृतिभिः । गरश्चास्येति अपाकाज्जठरावस्थितस्वेदादिरेव  
गरः, अत एव तस्योदरामयः; किंवा वक्ष्यमाणमर्मप्रधमनादिलक्षणो व्याधि-  
र्गरः । मर्मप्रधमनं=मर्मव्यथा । शोथलक्षणमिति शोथ एव लक्षणं,  
जठरमुदरम् । अन्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेदिति अन्यस्य विस्फोटादेर्लिङ्गं  
दर्शयति ॥ ३५—३७ ॥

आ०—एतच्च द्वयमपि दर्शयितुमाह--सौभाग्यार्थमित्यादि । स्त्रियः सौभाग्यार्थं शत्रुप्रयुक्त्या-  
वा सविपन्नतृणां स्वेदं, रजः=चूर्णं, नानाज्ञजान्मलान् अन्नादौ ददाति । तैरिति स्वेदरजःप्रभृतीभिः  
गर एवास्थोपजायत इति अपाकात् जठरावस्थितस्वेदादिरेव गरः, अत एव तस्योद्गमयः । मर्म-  
प्रथमनं मर्मव्याधिः । शोथलक्षणमिति शोथ एव लक्षणम् । जठरम्=उदरम् । अन्यस्य व्याधे रक्त-  
पित्तादेः ॥ ३५-३७ ॥

अथ लूताविषस्योत्पत्तिः ।

सम्प्रति लूतानां घोरविषत्वप्रतिपादनार्थमैतिह्यमाह--

यस्माद् लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदविन्दवः ।

तस्माद् लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥३८॥

( सु० क० अ० २ )

म०—यस्माल्लूनं तृणमित्यादि । इति किल श्रुतिः,—“विश्वामित्रो नर-  
पतिः कामधेनोर्वलात्कारपरिग्रहेण मुनिसत्तमं वशिष्ठं कोपयांचकार, कुपितेन  
तेनान्तर्ज्वलदविरलकोपानलज्वालितं कुकुलयुगलमिव बहलपाटलं लोचनद्वयं  
वहता भगवान् रविरवलोकितः । ततस्तस्य भृकुटिभयङ्करललाटतटप्रस्यन्दी  
स्वेदविन्दूत्करः प्रचण्डतरः प्रत्यासन्नलूनतृणे धेन्वर्थं संभृते निपतितो लूताऽ-  
भूत्”—इति । तास्तु षोडश । यदाह सुश्रुतः,—“त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला  
पीतिका तथा । लालामूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता । सौवर्णिका लाज-  
वर्णा जालिन्येकपदी तथा । कृष्णाऽत्रिवक्त्रा काण्डा च मालागुण्यष्टमी मता”  
( सु. क. स्था. अ. ८ )—इति ॥ ३८ ॥

आ०—संप्रति लूतानां घोरविषत्वप्रतिपादनार्थमैतिह्यमाह--यस्मादित्यादि । यस्मात् कारणात्  
मुनेः प्रस्वेदविन्दवो लूनं तृणं प्राप्ताः, तस्माल्लूता भाष्यन्ते, ता लूताः संख्यया षोडश भव-  
न्ति । इति किल श्रुतिः—“यत्कामधेनोर्वलात्कारपरिग्रहेण विश्वामित्रो नपतिर्वशिष्ठं कोपयामास, तेन  
च कुपितेनान्तर्ज्वलदविरलकोपानलज्वालितं कुकुलयुगलमिव बहलपाटलं नयनयुगलं वहता भगवान्  
रविरवलोकितः । ततस्तस्य भृकुटिभयङ्करललाटतटप्रस्यन्दी स्वेदविन्दूत्करः प्रचण्डतरः प्रत्यासन्नलून-  
तृणे धेन्वर्थं संभृते निपतितो लूताऽभूत्” इति । तास्तु षोडश । यदाह सुश्रुताचार्यः,—“त्रिमण्डला  
तथा श्वेता कपिला पीतिका तथा । लालामूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता ॥ सौवर्णिका  
लाजवर्णा जालिन्येकपदी तथा कृष्णा स्त्रिघमुखी काण्डा मालागुण्यष्टमी तथा ॥ तासामष्टौ  
हैचलसाध्या वर्ज्यास्तावत्य एव तु”—इति । मतान्तरेणोत्पत्तिरन्यथा वर्ण्यते—“अन्ये वदन्ति  
सुक्तस्य दुष्टस्यात्रस्य मूर्च्छनात् । सम्भवन्ति विषस्फोटा ये लूताकटिलक्षणाः ॥ यथास्वं धारय-  
न्तस्ते लूताकीटास्तु कीर्तिताः”—इति ॥ ३८ ॥



अथ लूतादंशस्य सामान्यलक्षणानि ।

तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—

ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।

ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च विदोषजाः ॥ ३९ ॥

पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।

शोथा महान्तो मृद्वो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ ४० ॥

सामान्यं सर्वलूतानामेतद् दंशस्य लक्षणम् ।

( सु० क० अ० २ )

म०—ताभिर्दष्ट इत्यादि । दंशकोथ इति दंशदेशे घृतिभाव इत्यर्थः । प्रवृत्तिः क्षतजस्येति रक्तस्य प्रवर्तनम् । सर्वलूतानामिति असाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेव सामान्यलक्षणं ज्ञेयम् । यतस्त्रिमण्डलादीनामष्टानां कृच्छ्रसाध्यत्वं, ताभिर्दष्टे शिरोदुःखमित्यादिना सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत् पठितवान् सुश्रुतः । माधवकरेण तु षोडशानां लूतानां सामान्यलक्षणमेतदित्याभिप्रायेण पठितमिति ॥ ३९ ॥ ४० ॥

आ०—तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—ताभिरित्यादि । दंशदेशे घृतिभाव इत्यर्थः । प्रवृत्तिः क्षतजस्येति रक्तप्रवर्तनम् । सर्वलूतानामित्यादि । असाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेतत्सामान्यलक्षणमिति प्रत्येतव्यम् । यतः कृच्छ्रसाध्यत्वमष्टविधत्रिमण्डलादिलूतानाम् । “ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं कण्डूदेशे च वेदना । भवन्ति च विशेषेण गदाः श्लैष्मिकवातिकाः”—इति । एवं सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत्, ताभिर्दष्टे ‘दंशकोथ’ इत्यादिकं पठितवान् सुश्रुतः । माधवकरेण तु षोडशलूतानां सामान्यलक्षणमेतदित्याभिप्रायेण पठितमिति ॥ ३९ ॥ ४० ॥

अथ दूषीविषाख्यलूतानां देशलक्षणानि ।

त्रिमण्डलादयोऽष्टौ दूषीविषास्तासां लक्षणमाह—

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥ ४१ ॥

ऊर्ध्वाकृति भृशं पाकं क्लेश-शोथ-ज्वरान्वितम् ।

दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद् दष्टमिति निर्दिशेत् ॥ ४२ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०—दंशमध्ये त्वित्यादि । ऊर्ध्वाकृतीति ऊर्ध्वगस्वरूपम्, अन्ये “दग्धाकृति” इति पठन्ति, तद् व्यक्तार्थम् । दूषीविषाभिरिति कालान्तरप्रकोपिविषाभिः । दष्टमिति दंशम् ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

आ०--त्रिमण्डलादयोऽष्टौ दूषीविपास्तासां लक्षणमाह--दंशमध्य इत्यादि । ऊर्ध्वाकृति=ऊर्ध्वः  
गस्वरूपम् । दूषीविपाभिरिति कालान्तरप्रकोपिविपाभिः, दष्टमिति दंशनम् ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अथ प्राणहरलूतानां दंशलक्षणानि ।

सौवर्णिकादीनामष्टात्राप्रसाध्यानां प्राणहराणां सामान्यलक्षणमाह-

शोथः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः ।

प्राणान्तिकाश्च जायन्ते श्वास-हिका-शिरोग्रहाः ॥ ४३ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०-शोथ इत्यादि । प्राणान्तिका इति प्राणहराः ॥ ४३ ॥

आ०-सौवर्णिकादयोऽष्टावसाध्याः प्राणहराः, तासां लक्षणमाह-शोथ इत्यादि । अन्ये “श्वेता  
सिता रक्ताः पीता च” इति पठन्ति । तत्र पिडका ज्वरश्च । प्राणान्तिकाः प्राणहराः ॥ ४३ ॥

अथासुदूषीविषस्य लक्षणानि ।

आसुदूषीविषलक्षणमाह-

आदंशात् शोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।

लोमहर्षश्च दाहश्चाप्यासुदूषीविपादिते ॥ ४४ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०-आदंशादित्यादि । आदंशात् शोणितमित्यत्र “गलति” इति शेषः ।  
आखवः=शुक्रविषाः । यदुक्तम्,—“शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रमृष्टैः स्पृशन्ति  
यत्” ( सु. क. स्था. अ. ७ )-इति ॥ ४४ ॥

आ०-आसुदूषीविषलक्षणमाह-आदंशादित्यादि । आदंशाच्छोणितमित्यत्र गलतीति शेषः ॥ ४४ ॥

अथ प्राणहरमूषकविषस्य लक्षणानि ।

प्राणहरमूषकलक्षणमाह-

मूर्च्छाङ्ग-ऽशोथ-वैवर्ण्य-क्लेद-शब्दाश्रुति-ज्वराः ।

शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥ ४५ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०-मूर्च्छेत्यादि । अङ्गशोथेति मूषिकाकार एवाङ्गशोथो ज्ञेयः । यदुक्त-  
मन्यत्र,—“चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः” ( सु. क. स्था. अ. ७ )-  
इति । शब्दाश्रुतिः=बाधिर्यम्, अन्ये “मन्दारुचिः” इति पठन्ति । असाध्यमू-  
षिकैः=मारणात्मकैः ॥ ४५ ॥

आ०—प्राणहरमूषकलक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । अङ्गशोथेति मूषिकाकारोऽङ्गशोथो बोद्धव्यः । यदुक्तमन्यत्र “चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुद्यावकसन्निभैः”—इति । मन्दश्रुतिरिति बाधिर्यम् । अन्ये “मन्दारुचिः” इति पठन्ति । असाध्यमूषिकैः मारणात्मकैः ॥ ४५ ॥

अथ कृकलासदष्टस्य लक्षणानि ।

कृकलासदष्टलिङ्गमाह—

काष्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा ।

मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥ ४६ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०—काष्ण्यमित्यादि । वर्चसो भेदोऽतिसारः ॥ ४६ ॥

आ०—कृकलासदष्टलक्षणमाह—वर्चसो भेद इत्यादि । वर्चसो भेदः=अतिसारः । कृकण्टकः कृकलासः ॥ ४६ ॥

अथ वृश्चिकविषस्य लक्षणानि ।

वृश्चिकविषलिङ्गमाह—

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च ।

वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ४७ ॥

दष्टोऽसाध्यश्च हृद्-व्राण-रसनोपहतो नरः ।

मांसः पतद्भिरत्यर्थं वेदनातो जहात्यसून् ॥ ४८ ॥

( च० चि० अ० २५ )

म०—दहत्यग्निरित्यादि । वृश्चिकः स्वनामख्यातः, स च आराविषः । दष्टोऽसाध्यश्च हृद्-व्राणरसनोपहतो नर इति यदा हृदय-नासा-जिह्वोपघातो भवति तदा तदष्टो न साध्यः । मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनातो जहात्यसूनित्यादिनाऽयमपरोऽसाध्यप्रकारः । “दष्टोऽसाध्यैस्तु” इति पाठपक्षेऽसाध्यैः सद्यःप्राणहरैर्वृश्चिकैर्दष्टो यथोक्तलिङ्गो भवति । चरकेऽप्ययमेव पाठः ॥ ४७ ॥ ॥ ४८ ॥

आ०—वृश्चिकदष्टलक्षणमाह—दहतीत्यादि । ऊर्ध्वमुपरिष्ठादाशु याति पश्चाच्च दंशे तिष्ठति । वृश्चिकदष्टासाध्यलक्षणमाह—हृद्-व्राणरसनोपहतो नर इत्यादि । यदा हृदयनासाजिह्वोपघातो भवति, तदा दष्टो न साध्यः । मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनातो जहात्यसूनित्ययमपरोऽसाध्यः । “दष्टोऽसाध्यैः” इति पाठे असाध्यैः सद्यःप्राणहरैर्वृश्चिकैर्दष्टो यथोक्तलिङ्गो भवति ॥ ४७ ॥ ॥ ४८ ॥

अथ कणभदष्टस्य लक्षणानि ।

कणभदष्टलिङ्गमाह—

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिस्थापि च ।

लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति ॥ ४९ ॥

म०—विसर्प इत्यादि । कणभः कीटविशेषः ॥ ४९ ॥

आ०—कणभदष्टलक्षणमाह—विसर्प इत्यादि । कणभः कीटविशेषः । विशीर्यते=गलति ॥ ४९ ॥

अथोच्चिटिङ्गदष्टस्य लक्षणम् ।

उच्चिटिङ्गदष्टलिङ्गमाह—

हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् ।

दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥ ५० ॥

म०—हृष्टरोमेत्यादि ॥ ५० ॥

आ०—उच्चिटिङ्गदष्टलिङ्गमाह—हृष्टरोमेति । उच्चिटिङ्गनाम्ना वृश्चिकेन दष्टः पुमान् हृष्टरोमा कण्टकितदेहः, स्तब्धमेहनः, तथा भृशार्तियुक्तः । शीतोदकेनेवाङ्गानि सिक्तानि मन्यते । सुश्रुतं स्तु उच्चिटिङ्गं कीटविशेषमाह ॥ ५० ॥

अथ सविषमण्डूकदष्टस्य लक्षणम् ।

सविषमण्डूकादिदष्टलिङ्गमाह—

एकदंष्ट्रादितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट् ।

छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥ ५१ ॥

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा ।

कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥ ५२ ॥

म०—एकदंष्ट्रादित इत्यादि ।—स्वभावादेकया दंष्ट्रया कृतो दंशो भवति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

आ०—सविषमण्डूकदष्टलक्षणमाह—एकेत्यादि । स्वभावादेकदंष्ट्रया कृतो दंशो भवति ॥ सविषमं त्वलक्षणमाह—मत्स्या इत्यादि । सुगमम् ॥ सविषजलौकादष्टलक्षणमाह—कण्डूमित्यादि । कुर्युरिति पूर्वक्रियया सम्बन्धः ॥ ५१—५२ ॥

अथ गृहगोधिकादष्टस्य लक्षणम् ।

गृहगोधिकादष्टलिङ्गमाह—

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका ।

म०--विदाहमित्यादि । गृहगोधिका ज्येष्ठी, अन्ये तु भ्रामरकमाहुः ।  
अत्र वक्ष्यमाणं कुर्यादिति संबन्धनीयम्, तेन विदहादीनां कर्मत्वम् ॥—

आ०--गृहगोधिकादष्टलक्षणमाह--विदाहमित्यादि । गृहगोधिका ब्राह्मणीति लोके, अन्ये  
भ्रामरकमाहुः । अत्र वक्ष्यमाणं 'कुर्यात्' इति सम्बन्धनीयम् ।—

अथ शतपदीदष्टस्य लक्षणम् ।

शतपदीदष्टलक्षणमाह—

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्यात् शतपदीविषम् ॥ ५३ ॥

म०--दंशेत्यादि । कुर्यात् शतपदीविषमिति शतपदी=कारुण्डिका ॥ ५३ ॥

आ०--शतपदीविषं दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्यात् । शतपदी कारुण्डि ॥ ५३ ॥

अथ मशकदष्टस्य लक्षणम् ।

मशकदष्टलिङ्गमाह—

कण्डूमान् मशकैरीषत् शोथः स्याद् मन्दवेदनः ।

असाध्यकीटसदृशमसाध्यं मशकक्षतम् ॥ ५४ ॥

कण्डूमानित्यादि । असाध्यकीटसदृशमिति असाध्यकीटैर्लूतादिभिः  
समलक्षणमिति असाध्यं मशकक्षतमिति पञ्चसु मशकेषु मध्ये पार्वतीयमश-  
कक्षतमसाध्यम् । यदाह सुश्रुतः,—"पार्वतीयैस्तु कीटैश्च प्राणघ्नैस्तुल्यलक्षणम्"  
( सु. क. स्था. अ. ८ )—इति ॥ ५४ ॥

आ०--मशकदष्टलक्षणमाह--कण्डूमानित्यादि । सुगमम् । असाध्यकीटसदृशमित्यादि असा-  
ध्यकीटैर्लूतादिभिः समवेदनमित्यर्थः । असाध्यं मशकक्षतमिति पञ्चसु मशकेषु पार्वतीयमशकक्षतमसा-  
ध्यम् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्--"पार्वतीयैस्तु कीटकैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणम्"—इति ॥ ५४ ॥

अथ सविषमक्षिकादष्टस्य लक्षणम् ।

मक्षिकादष्टलक्षणमाह—

सद्यः प्रसाविणी श्यावा दाह-मूर्च्छा-ज्वरान्विता ।

पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ५५ ॥

म०--सद्य इत्यादि । तासां च स्थगिकाऽसुहृदिति तासां सुश्रुतोक्तषण्म-  
क्षिकाणां मध्ये स्थगिका प्राणहरेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

आ०--मक्षिकादष्टलक्षणमाह--सद्य इत्यादि । तासां तु सुश्रुतोक्तानां मध्ये स्थगिकाख्या मक्षिका  
असुहृत् प्राणहरीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथ नख-दन्तयोः सामान्याविपलक्षणम् ।

चतुष्पदद्विपददष्टलक्षणमाह—

चतुष्पदभिर्द्विपदभिश्च नख-दन्त-विपं च यत् ।

शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ५६ ॥

म०—चतुष्पद्विरिति । चतुष्पादा=व्याघ्रादयः । द्विपादा=वनमानुष-वान-  
रादयः ॥ ५६ ॥

आ०—चतुष्पाद्विरित्यादि । चतुष्पदा व्याघ्रादयः, द्विपदा मानववानरादयः, तैर्यत् नखक्षतं  
दन्तक्षतं च, तच्छूयते=शोफयुक्तं भवति, तथा पच्यते, तथा स्रवति, तथा ज्वरयति ॥ ५६ ॥

अथ व्याघ्रादिहिंस्रजन्तूनां विपलक्षणानि ।

अत्र केचित् विपाधिकारसामान्यात् श्वादीनामपि व्याघ्रादीनां भल्लूकानां  
विपलक्षणं भणन्ति । तदाह—

श्व-शृगाल-तरक्ष्वर्क्ष-व्याघ्रादीनां यदाऽनिलः ॥

श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ ५७ ॥

तदा प्रस्रस्त-लाङ्गूल-हनु स्कन्धोऽतिलालवान् ।

अव्यक्तवधिरोन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ ५८ ॥

प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेपां खादन् विपरिधावति ॥

तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविपण तु ॥ ५९ ॥

सुप्तता जायते दंश कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ॥

दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥ ६० ॥

आ०—श्वेत्यादि । श्वा=कुक्कुरः, शृगालः प्रसिद्धः, तरक्षुर्मृगशत्रुर्व्याघ्रविशेषः, चरष(जरख)  
इति लोके; ऋक्षो=भल्लूकोऽतिलोमशः, ऋच्छ इति लोके प्रसिद्धः । आदिशब्दाद् वृक्चित्रा-  
दयो हिंसाः पशवो ग्राह्याः श्वादीनां यदा अनिलो वायुः श्लेष्मप्रदुष्टः सन् संज्ञावहाश्रितः=संज्ञा-  
वहस्रोतोगतः संज्ञां=सम्यग्ज्ञानं मुष्णाति=हरति । सम्यग्ज्ञानहरणाच्च हीदृशो भवतीत्याह-  
तदेत्यादि । प्रस्रस्तं=स्थानच्युतं, लाङ्गूलं=वालधिः, मेहनं=च । प्रस्रस्तशब्दो लाङ्गूलादिभिः  
प्रत्येकं संबन्धनीयः । अतिलालवान्=अतिशयेन लालस्रावयुक्तः । अव्यक्तवधिरोन्धश्च न  
व्यक्तो बधिरोऽन्धो वेत्यर्थः । अन्योन्यमभिधावति=परस्परं दष्टमभिधावति । हनुस्कन्धस्थाने  
“शूनस्कन्धः” इति केचित् पठन्ति । “प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेपां खादन्विपरिधावति” इत्यत्रोत्तरार्धं  
केचित् पठन्ति । एषां मध्येऽन्यतमः=एकतमः प्रमूढः सन् खादन् विशेषेण परिधावति । तेनेति  
दंष्ट्रिणा । सुप्तता=बाधिर्यम् । उपलक्षितो=युक्त इत्यर्थः ॥ ५७-६० ॥

अथालर्कादिदृष्टस्य मरणलक्षणानि ।

इदानीं श्वादिदृष्टस्य रिष्टमाह—

येन चापि भवेद् दृष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ॥

बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥ ६१ ॥

दंष्ट्रिणा येन दृष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ॥

अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद् रिष्टमादिशेत् ॥ ६२ ॥

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्षणं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम् ॥

जलत्रासं तु तं विद्याद् रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥ ६३ ॥

अदृष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति ॥

प्रसृतो वोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥ ६४ ॥

आ०—येनेत्यादि । चेष्टां=क्रियां, रुतं=शब्दं, बहुशः=अनेकवारं, प्रतिकुर्वाणः=अनुकुर्वन्, क्रियाहीनः=स्वकीयकायादिव्यापाररहितः । इदानीमपरमप्यरिष्टं निर्दिशन्नाह—दंष्ट्रिणे-  
त्यादि । तदंष्ट्रिरूपदर्शमनरिष्टं=मरणलक्षणम् । पुनरपरमरिष्टं निर्दिशन्नाह—त्रस्यतीत्यादि ।  
अकस्माज्जलत्रासहेतुं विना, अपिशब्दान् श्रुत्वाऽपि जलत्रासरोगं जानीयात्तस्येति सम्बन्धः ।  
रिष्टमित्यादि । तदपि जलत्रसनमारिष्टं=मरणं कीर्तितम् । एतच्चारिष्टं दृष्टस्य । अत्रार्थे तन्त्रा-  
न्तरे,—“व्याधितेन श्वादिना दृष्टस्य श्लेष्मा कुपितः स्रोतोवाहिनीर्धमनीरनुप्रविश्य संज्ञाना-  
शमापादयति । ततो नरः स्पृष्ट्वा श्रुत्वा च जलं त्रस्यति, तदिष्टं जानीयात्” —इति । एवम-  
दृष्टस्यापि जलत्रासो रिष्टमेवेति दर्शयन्नाह—अदृष्ट इत्यादि । अस्मिन्नर्थे तन्त्रान्तरे,—“अदृष्ट-  
स्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्वयदि । तस्यारिष्टं हि भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः ॥ जलं विना  
जलत्रासो जायते श्लेष्मसंचयात्” —इति । अथ चोक्तम्—“बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलः  
प्रतिपद्यते । तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाऽधिष्ठिता नरः ॥ जाग्रत्सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जन्त-  
मिव मन्यते । सलिलात् । त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः ॥ श्लेष्मघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं  
शमनानि च । आहारस्य विधानेन यावत् स प्रकृतिं ब्रजेत्” —इति । अयं जलत्रासः कुपित-  
कफस्य भवतीति रिष्टं न भवति । अत एवाऽत्र चिकित्सोपदेशः । दृष्टस्य तु रिष्टमेव, तथा  
स्वस्थस्य जाग्रतो वा जलमन्तरेण त्रासो रिष्टमेवेति दर्शयन्नाह—प्रसृत इति । सुगमम् ६१-६४ ॥

अथ निर्विषमनुष्यस्य लक्षणानि ।

विषातुरः कीदृशो निर्विषो भवतीति दर्शयितुमाह—

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्र-विट्कम् ।

प्रसन्न-वर्णेन्द्रिय-चित्त-चेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥ ६५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते भाष्यनिदाने विषनिदानं समाप्तम् ।



म०—प्रशान्तदोषमित्यादि । अत्रान्नाभिकामभित्यनेन प्रकृतिस्थामितोका । यदाह चरकः,—“प्रायेणोपहताभित्वात् सपिच्छमतिसार्यते । प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति”—इति । सममूत्रविट्कमिति अक्षीणानतिरिक्त-  
मूत्रपुरीषम् । अन्ये “सममूत्रजिह्वम्” इति पठन्ति, तदाऽयमर्थः,—सममविकृतं  
सूत्रं जिह्वा च यस्य स तथा एतेन विषजुष्टा जिह्वा न रसबोधिनी भवति,  
सूत्रमपि जिह्वायां विषप्रभावेण विकृतं भवतीति प्रतिपादयति । जिह्वाग्रहणेनैव  
सूत्रग्रहणे सिद्धे, तस्य च रसग्रहणे अनुगुणत्वप्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम् ।  
अनेन श्लोकेन “समदोषः समाग्निश्च ( सु. सू. स्था. अ. १५ )—इत्यादि-  
श्लोकस्य सकल एवार्थ उपबद्धः ॥ ६५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विपनिदानं समाप्तम् ।

सूक्तिसुक्तावलीग्रन्थे गुरुणा यन्न गुम्फितम्

मया समस्तमग्रन्थि तद्विरा शुद्धियुक्त्या ॥ १ ॥

गुणनिधिगुरुबद्धे दाम्नि वाङ्मालतीनां परमपरिमलश्रीधाम्नि लब्धावलम्बम् ।  
स्फुरति वचनकुन्दं मन्दसौरभ्यलेशाद् वचनमपि मदीयं किञ्चिदेतत् कदाचित् ॥ २ ॥

इति श्रीविजरक्षितश्रीकण्ठदत्ताभ्यां विरचिता मधुकोशव्याख्या समाप्ता ॥

आ०—अविपो नरः कीदृशो भवति तद्दर्शयितुमाह—प्रसन्नदोषमित्यादि । प्रसन्नदोष=  
स्वभावस्थितवातादिकम् । प्रकृतिस्थधातुमिति दधतीति धातवो रसादयो मलादयश्च । अन्ना-  
भिकामं भोजनाभिलापम्, अन्नाभिकामभित्यनेन प्रकृतिस्थामितोका । यदाह चरकः,—“प्रायेणोपह-  
ताभित्वात्सपिच्छमतिसार्यते । प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति”—इति । सममूत्रविट्कमिति  
अक्षीणानतिरिक्तमूत्रपुरीषम् । अन्ये “सममूलजिह्वम्” इति पठन्ति, तदायमर्थः,—सममविकृतं मूलं  
जिह्वा च यस्य स तथा । एतेन विषदुष्टजिह्वा रसबोधिनी न भवति, मूलमपि जिह्वावत् विषप्रभावेण  
विकृतं भवतीति प्रतिपादयति । जिह्वाग्रहणेनैव मूलग्रहणे सिद्धे, तस्य रसग्रहणेऽर्धगुणत्वप्रतिपाद-  
नार्थं पृथगुपादानम् । अनेन श्लोकेन “समदोषः समाग्निश्च” इत्यादेः श्लोकस्य सकल एवार्थो  
निबद्धः । वैद्योऽवगच्छेद्विषं मनष्यमिति उक्तलक्षणः पुरुषोऽविपो भवति, विपरीतलक्षणस्तु  
विपातुरः । तथाहि—“प्रवृद्धदोषाप्रकृतिस्थधातुमन्नकाङ्क्षं हतमूलजिह्वम् । विरुद्धवर्णेन्द्रिय-  
चित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेत् सविषं मनुष्यम्”—इति । इदं सविषाविपलक्षणमिति ॥ ५७ ॥

इति श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितायां माधवनिदानव्याख्यायामातङ्कदर्पणव्याख्यायां  
विपनिदानम् ।

## अथ विषयानुक्रमणिका ।

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चाशोऽजीर्णं विसूचिका ।  
 अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्-पाण्डु-कामलाः ॥ १ ॥  
 हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम् ।  
 कासो हिकका सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ॥ २ ॥  
 छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः ।  
 दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥ ३ ॥  
 वातरक्तमुरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक् ।  
 पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥ ४ ॥  
 हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी ।  
 प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥ ५ ॥  
 मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः ।  
 गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥  
 विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके ।  
 भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ॥ ७ ॥  
 शीतपित्तमुदरंश्च कोष्ठश्चैवाम्लपित्तकम् ।  
 विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिकाः ॥ ८ ॥  
 क्षुद्रा-ऽऽस्य-कर्ण-नासा-ऽक्षि-शिरः-स्त्री-बालकामयाः ।  
 विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥ ९ ॥

आ०—अस्मिन् ग्रन्थे रोगसंग्रहमाह—ज्वरातिसारइत्यादि । ग्रहण्यश्चतस्रः । एकस्मिन्-  
 जीर्णनिदाने विसूचिकाऽलसकविलम्बिका ज्ञेयाः । पानात्ययादयः=पानविभ्रमादयः ।  
 पिडकाः=प्रमेहोक्ताः । मेदोदोषो=मेदोरोगः । उपदंशो=मेदुरोगः, त्वगामयः=कुष्ठरोगः ।  
 रोमान्तो=मसूरिकाभेदः । आस्यं=मुखम् । रुग्विनिश्चये अयमुद्देशः ॥ १-९ ॥

सुभापितं यत्र यदस्ति किञ्चित् तत् सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् ।  
 विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ॥१०॥  
 यत् कृतं सुकृतं किञ्चित् कृत्वैवं रुग्निनिश्चयम् ।  
 मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ॥ ११ ॥

इति माधवकरविरचितं माधवनिदानं समाप्तम् ।

आ०—धन्वकारः स्वपक्षमाह—सुभापितमित्यादि । सुगमम् ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीबाल्यस्पर्तिवयविरचिता माधवनिदानटीकाऽऽन्तःकृद्दर्पणाख्या समाप्ता ॥



# माधवनिदान-परिशिष्टम् ।



## अथ शीतलानिदानम् ।

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः ।  
ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥ १ ॥  
ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान् प्रचक्ष्महे ।  
ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥ २ ॥  
सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात् पूर्णतां व्रजेत् ।  
ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥ ३ ॥  
वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः ।  
तां कश्चित् प्राह पक्वोति सा तु पाकं न गच्छति ॥ ४ ॥  
जलशूकवदङ्गानि सा विधायति विशेषतः ।  
सप्ताहाद् वा दशाहाद् वा शान्तिं याति विनौषधम् ॥ ५ ॥  
ऊष्मणा तूष्मजारूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया ।  
नाम्ना पाणिसहा ख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम् ॥ ६ ॥  
चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी ।  
नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत् ॥ ७ ॥  
किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः ।  
एषा भवति बालानां सुखं शुष्यति च स्वयम् ॥ ८ ॥  
कोष्ठवजायते षष्ठी लोहितोत्तमण्डला ।  
ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद् दिनत्रयम् ॥ ९ ॥  
स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटापि दृश्यते ।  
एकस्फोटे च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाभिधा ॥ १० ॥

इति शीतलानिदानम् ।

## अथ फिरङ्गरोगनिदानम् ।

फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद् भवेत् ।  
 तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिव्याधिविशारदैः ॥ १ ॥  
 गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम् ।  
 फिरङ्गिनोऽङ्गसंसर्गात् फिरङ्गिण्याः प्रसंगतः ॥ २ ॥  
 व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः ।  
 भवेत्, तल्लक्षयेत् तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः ॥ ३ ॥  
 फिरङ्गास्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा ।  
 बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च बुधे ॥ ४ ॥  
 तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद् विस्फोटसदृशोऽल्परूक् ।  
 स्फुटितो व्रणवद् वैद्यैः सुखसाध्योऽप्यसौ मतः ॥ ५ ॥  
 सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् ।  
 शोफं च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥ ६ ॥  
 काश्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता ।  
 अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥ ७ ॥  
 बाहिर्भवो भवेत् साध्यो नवीनो निरुपद्रवः ।  
 आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः ॥ ८ ॥  
 बाहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैर्युतः ।  
 व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा ॥ ९ ॥

इति फिरङ्गनिदानं समाप्तम् ।

## अथ क्लैब्यनिदानम् ।

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात् ।  
 क्लैब्यं संपद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥ १ ॥  
 संकल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।  
 न यातिलिङ्गशैथिल्यात् कदाचिद् याति वा यदि ॥ २ ॥  
 आसार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघ-संकल्प-चेष्टितः ।  
 म्लानशिशश्च निर्बीजः स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम् ॥  
 सामान्यलक्षणं ह्येतद् विस्तरेण प्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

शीत-रूक्षाल्प-संक्लिष्ट-विरुद्धाजीर्ण-भोजनात् ।  
 शोक-चिन्ता-भय-त्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ॥ ४ ॥  
 अभिचारादविस्रम्भाद् रसादीनां च संक्षयात् ॥  
 वातादीनाश्च वैषम्यात् तथैवानशनात् श्रमात् ॥ ५ ॥  
 नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारतः ।  
 बीजोपघाताद् भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ॥ ६ ॥  
 अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ॥  
 हृत्-पाण्डुरोग-तमक-कामला-श्रम-पीडितः ॥ ७ ॥  
 छर्द्यतीसार-शूला-ऽऽर्तः कास-ज्वर-निपीडितः ।  
 बीजोपघातजं क्लैब्यं ध्वजभङ्गकृतं शृणु ॥ ८ ॥  
 अत्यम्ल-लवण-क्षार-विरुद्धाजीर्ण-भोजनात् ।  
 अत्यम्बुपानाद् विषमात् पिष्टान्न-गुरु-भोजनात् ॥ ९ ॥  
 दाधिक्षीरानूपमांस-सेवनाद् व्याधिकर्षणात् ।  
 कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ॥ १० ॥  
 दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ।  
 दुर्गन्धां दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम् ॥ ११ ॥  
 ईदृशीं प्रमदां मोहाद् यो गच्छेत् कामहर्षितः ।  
 चतुष्पदाभिगमनात् शोफसश्चाभिघाततः ॥ १२ ॥  
 अधावनाद् वा मेढूंस्य शस्त्र-दन्त-नख-क्षतात् ।  
 काष्ठप्रहारनिष्पेषात् शूकानाश्चातिसेवनात् ।  
 रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ॥ १३ ॥  
 भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ।  
 श्वयथुर्वेदनां मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ।  
 स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ॥ १४ ॥  
 मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ।  
 पुलकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः ॥ १५ ॥  
 वलयकिुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ।  
 ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा छर्दिश्चास्योपजायते ॥ १६ ॥  
 रक्तं कृष्णं सवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ।  
 अग्निर्नैव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः ॥ १७ ॥

वस्तौ वृषणयोर्वापि सीदन्यां वडूक्षणेष्ु च ।  
 कदाचित् पिच्छिलो वापि पाण्डुसावश्च जायते ॥ १८ ॥  
 श्वयथुश्च भवेन्मन्दः स्निमितोऽल्पपरिस्रवः ।  
 चिराच्च पाकं व्रजते शीघ्रं वाथ प्रमुच्यते ॥ १९ ॥  
 जायन्ते कृमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ।  
 विशीर्यते मणिश्चास्य भेदमुष्कावथापि च ॥ २० ॥  
 ध्वजभङ्गकृतं क्लैव्यमित्येतत् समुदाहृतम् ।  
 एवं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्त्यपि ॥ २१ ॥  
 क्लैव्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तत् शृणु ।  
 जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते ॥ २२ ॥  
 अथ प्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ।  
 रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृण्यसेवनात् ॥ २३ ॥  
 बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ।  
 परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहारात् श्रमात् कृमात् ॥ २४ ॥  
 जरासम्भवजं क्लैव्यमित्येतैर्हेतुभिर्वृणाम् ।  
 जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः ॥ २५ ॥  
 विवर्णां विह्वलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ।  
 एतज्जरासंभवं हि चतुर्थं क्षयजं शृणु ॥ २६ ॥  
 अतिप्रचिन्तनाच्चैव शोकात् क्रोधाद् भयादपि ।  
 ईर्ष्यात्कण्ठादथोद्रेगात् सदा विशति यो नरः ॥ २७ ॥  
 कृशो वा सेवते सूक्ष्मन्नपानमथोषधम् ॥  
 दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद् यदि ॥ २८ ॥  
 असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥  
 रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयिताशु नरस्ततः ॥ २९ ॥  
 रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥  
 शुक्रावसानास्तेभ्यो हि शुक्रं धाम परं मतम् ॥ ३० ॥  
 चेतसो वातिहर्षेण व्यवायं सेवते तु यः ॥  
 शुक्रं तु क्षीयते तस्य ततः प्राप्नोति स क्षयम् ॥ ३१ ॥  
 योऽरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥



शुक्रं तस्माद् विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ॥  
 एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥ ३२ ॥  
 केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ॥  
 वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन वा ॥ ३३ ॥  
 मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ॥  
 गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः शिराः ॥  
 शोषयन्त्याशु तन्नाशाद् रेतश्चाप्युपहन्यते ॥ ३४ ॥  
 तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥  
 एतै त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ॥ ३५ ॥

इति क्लैब्यनिदानं समाप्तम् ॥

### अथ सोमरोगनिदानम् ।

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि ॥  
 अतिसारकयोगाद् वा गरयोगात् तथैव च ॥ १ ॥  
 आपः सर्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ॥  
 तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि ॥ २ ॥  
 प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजः सिताः ॥  
 स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला ॥ ३ ॥  
 वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् ॥  
 शिरःशिथिलता तस्या मुखं तालु च शुण्यति ॥ ४ ॥  
 मूच्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग् रूक्षा चातिमात्रतः ॥  
 भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च न तृप्तिं लभते क्वचित् ॥ ५ ॥  
 सन्धारणात् शरीरस्य ता आपः सोमसंज्ञिताः ॥  
 ततः सोमक्षयात् स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥ ६ ॥

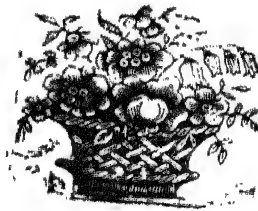
इति सोमरोगनिदानं समाप्तम् ।

## अथ स्नायुकनिदानम् ।

शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत् ॥  
 भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्म स्नायुं विशोष्य च ॥ १ ॥  
 कुर्यात् तन्तुनिभं जीवं वृत्तं श्वेतशुतिं बहिः ॥  
 शनैःशनैः क्षताद् याति छेदात् कोपमुपैति च ॥ २ ॥  
 तत्पातात् शोथशान्तिः स्यात् पुनः स्थानान्तरे भवेत् ॥  
 स स्नायुकोति विख्यातः क्रियोक्ताऽत्र विसर्पवत् ॥ ३ ॥  
 बाह्वोर्यदि प्रमादेन वुट्यते जङ्घयोरपि ॥  
 संकोचं खञ्जतां चैव च्छिन्नतन्तुः करोत्यसौ ॥ ४ ॥  
 वातेन श्यावरूक्षः सरुगथ दहनान्निलिपीतः सदाहो-  
 ऽथ श्वेतः श्लेष्मणा स्यात् पृथुगारिमयुतोऽथ द्विदोषो द्विलिङ्गी ।  
 रक्तेनारक्तकान्तिः समधिकदहनोऽथाखिलैः सर्वलिङ्गो  
 रोगोऽसावष्टधेत्थं मुनिभिरभिहितः स्नायुकस्तन्तुकीटः ॥ ५ ॥

इति स्नायुकनिदानं समाप्तम् ।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥



# क्रय्य पुस्तकानि ।

—००००००—

## वैद्यकग्रन्थ ।

नाम

की. रु. आ.

|  |      |
|--|------|
| कराबादीनइहसानी-भाषा यूनानी चिकित्सा नामी पुस्तक है ।   | १-८  |
| कोरुसार वैद्यक सचित्र-कौकापण्डित कृत वैद्यक ग्रन्थोंका सार यह उत्तम बृहद् वैद्यक ग्रन्थ तैयार हुआ है, आज-तक ऐसा और कहीं नहीं छपा था । ....   | २-०  |
| खूबचन्दचिकित्सा-( वैद्यकसार ) लाला खूबचन्द आनरेरी मजिस्ट्रेटके ४० वर्षकी अनुभव की हुई तत्काल गुणप्रद स्त्री, पुरुष और बच्चोंके लिये उपयोगी एकसे एक बढ़कर १२२ नुस्खोंकी पुस्तक । ....   | ०-१४ |
| चिकित्सासमूह-अर्थात् घरू और सफरी वैद्य । इसमें मनुष्य, घोड़े, ऊँट, हाथी, गाय, बैल और भैसियोंके रोग और उनकी अनुभूत औषधि लिखी हुई हैं । यह उपयोगी पुस्तक प्रत्येक गृहस्थके पास रहनी चाहिये । ....  | १-४  |
| चिकित्साचन्द्रोदय-अर्थात् कर/बादीनजुकाई ....   | २-८  |
| तिब्बइहसानी-यूनानी वैद्यकके मतसे नुस्खे और विषचिकित्साका वर्णन है । ....   | १-०  |
| शाक विलास-नृप जयदेवात्मज श्रीपञ्चमसिंह कृपापात्र श्रीसा-हृनिर्मित । नानाप्रकारके भोज्यवनानेकी विधि है । ....   | ०-८  |
| पारदसंहिता-भाषाटीका समेत । पारदके सिद्ध होजानेसे मनुष्य अजर अमर होसकता है । रोगनाश होकर नीरोग देह होना तो साधारण बात है, हजारों रुपयेके व्यय और अनेक वर्षोंके निरन्तर अनुभव करनेसे यह ग्रन्थ तैयार हुआ है, वैद्योंको तो सर्वस्व है, शीघ्र मँगाकर लाभ उठाइये .... | १२-० |
| फिरङ्गादर्श-आतशक रोग गर्मी, सुजाक इलाज ....  | ०-८  |
| भावप्रकाशनिघण्टु-टिप्पणीसहित । बड़ाप्रामाणिक ग्रन्थ है । अङ्ग-रेजी, हिन्दी, बँगला आदि भाषामें भी औषधियोंके नाम दिये हैं ....   | २-०  |

|  |       |       |       |      |
|--|-------|-------|-------|------|
| भावप्रकाश मूल-नूतनमुद्रित । इसबार बड़े बड़े वैद्योंसे शोधन कराकर छपा गया है  | ..... | ..... | ..... | ५-०  |
| माधवनिदान-मधुकोप और आतङ्कदर्पण दो टीका सहित  | ..... | ..... | ..... | ५-०  |
| रसेन्द्रसारसंग्रह-भाषाटीकासहित । तीन खण्डोंमें, १ खंडमें रस, उपरस, धातु उपधातुओंके मारण, शोधन, जारण आदि विधि है, द्वितीय तथा तृतीय खण्डोंमें उन्हीं रसादिसे सम्पूर्ण रोगोंकी चिकित्सा वर्णित है । यह ग्रन्थ बड़ा प्रामाणिक और वैद्योंकी परीक्षामें नियुक्त है । मूल्य  | ..... | ..... | ..... | ४-०  |
| वन्द्याकल्पद्रुम, अर्थात् स्त्रीचिकित्सा समूह चारोंभाग-जिसकी लोगोंको बहुत दिनोंसे उत्कण्ठा थी  | ..... | ..... | ..... | १२-० |
| विषतन्त्र चिकित्साप्रकाश भाषाटीका-प्रायः सभी विषोंकी चिकित्साओंका संग्रह   | ..... | ..... | ..... | ०-१४ |
| वैद्यमनोरमा और धाराकल्प-भाषाटीका सहित । सुलभ जड़ी वृद्धी आदि औषधों द्वारा बड़ी लाभप्रद चिकित्सा वर्णित है और धाराविधिसे सरल और उत्तम विधिसे चिकित्सा है  | ..... | ..... | ..... | १-०  |
| वैद्यविनोदमंहितामूल-( प्राचीन चिकित्साग्रन्थ ) परमोपयोगी है  | ..... | ..... | ..... | १-१२ |
| व्यञ्जनपाकप्रदीप-पांचो भाग । नाना प्रकारकी भिठाई, सुरब्बा, घृता, दाल, भात आदि बनानेकी उत्तम विधि ।   | ..... | ..... | ..... | १-८  |
| हितोपदेश वैद्यक भाषाटीका--( जैनाचार्य श्रीकण्ठजी रचित ) नाड़ी-विषय प्रायः सभी ग्रन्थोंसे विशेष वर्णित है ।   | ..... | ..... | ..... | १-१२ |
| अष्टाङ्गहृदय-( वाग्भट ) मूल मोटा अक्षर वाग्भट विरचित.  | ..... | ..... | ..... | ५-०  |
| अष्टाङ्गहृदय-( वाग्भट ) वाग्भटविरचित तथा पं० रविदत्तकृत भाषाटीकासहित और पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्र संशोधित । जिसमें-सूत्रस्थान, शरीरस्थान, निदानस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान, उत्तरस्थान, इत्यादिमें सम्पूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति, निदान लक्षण और काथ, चूर्ण, रस, घी, तैल आदिसे अच्छी प्रकार चिकित्सा वर्णित है. | ..... | ..... | ..... | १०-० |

पुस्तक मिलनेका पत्ता-

खेमराज-श्रीकृष्णदास,  
“लक्ष्मीवैद्येश्वर” स्टीम् प्रेस-  
कल्याण-मुंबई.

खेमराज-श्रीकृष्णदास,  
“श्रीवैद्येश्वर” स्टीम् प्रेस-  
मुंबई.





